राष्ट्रीयता के अनन्य साधक

महन्त अवेद्यनाथ

३

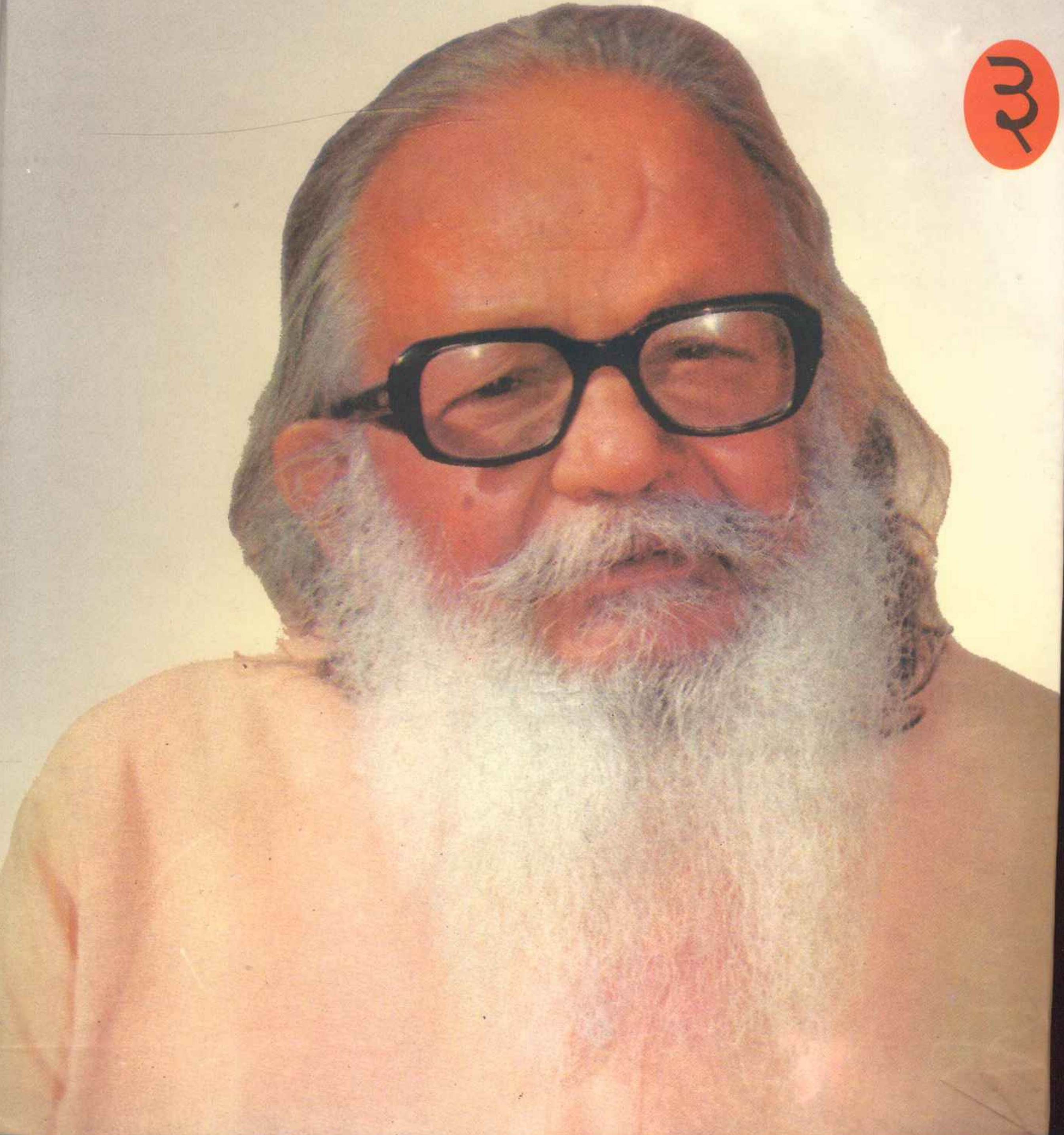

राष्ट्रीयता के अनन्य साधक

महन्त अवेद्यनाथ

(तृतीय खण्ड)

सम्पादक

सदानन्दप्रसाद गुप्त

प्रदीप कुमार राव

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

ISO 9001:2008 प्रकाशक

संरक्षक :

स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती

आचार्य धर्मेन्द्र

योगी आदित्यनाथ

परामर्श :

प्रो. शिवाजी सिंह, प्रो. यू.पी. सिंह

प्रो. प्रताप सिंह, डॉ. कन्हैया सिंह

श्री रण विजय सिंह, डॉ. राजेंद्र लाल कपूर

सम्पादक :

सदानन्दप्रसाद गुप्त

प्रदीप कुमार राव

सहयोग :

डॉ. मयाशंकर सिंह, डॉ. श्रीभगवान सिंह

डॉ. सत्येंद्र प्रताप सिंह, श्री रामजन्म सिंह

डॉ. श्यामनारायण मिश्र, श्री आर.एन. गुप्त

श्री बलवीर सिंह, श्री गोविन्द सिंह

श्री महेश नारायण त्रिगुणायत, श्री संजय कुमार शर्मा

प्रकाशक • प्रभात प्रकाशन
४/१९ आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-११०००२
© गोरखनाथ मन्दिर
संस्करण • प्रथम, सन् २०१२
मूल्य • सात सौ रुपए
मुद्रक • ग्राफिक वर्ल्ड, दिल्ली

RASHTRIYATA KE ANANYA SADHAK : MAHANT AVEDYANATH (VOL. 3)

Ed. Sadanand Prasad Gupta & Pradeep Kumar Rao

Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2

e-mail : prabhatbooks@gmail.com

ISBN 978-93-5048-190-5 (Vol. 3) Rs. 700.00

ISBN 978-93-5048-191-2 (Set of 3 Vols.) Rs. 2100.00

मंगलाचरण

रामश्यामवपुर्विधाय भुवने धर्मध्वजां स्थापय-
न्नार्त्तत्राणपरायणोऽस्य जगतस्त्राणार्थमत्रागतः ॥
यो लंकाधिप-कंस-वंशमखिलं हत्वाऽभवद्भूतये।
प्रत्यक्षो भगवान् स्वयं दिशतु नः सन्मंगलं भारते ॥

(हिन्दी अनुवाद)

बन, राम-श्याम के रूप, भुवन में धर्मध्वजा जो फहराये।
दुखियों के रक्षक जो जग की रक्षा के हेतु यहाँ आये ॥
जो रावण, कंस-वंश का वध कर, शुभद मूर्ति का भान धरें।
वह पूर्ण ब्रह्म भगवान् हमें सन्मंगल नित्य प्रदान करें ॥

सम्पादकीय

भारतीय धार्मिक-सांस्कृतिक चिन्तनधारा की अविच्छिन्न परम्परा में नाथपन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भारतीय इतिहास की वह प्रबल धारा है, जो भारतवर्ष में अखण्ड रूप से कई शताब्दियों तक प्रवाहित होती रही तथा जिसने विभिन्न साधना पद्धतियों और साहित्य की धाराओं को प्रभावित किया। इतिहासविदों ने नाथपन्थ को बौद्धों की वज्रयान शाखा से सम्बद्ध माना है; किन्तु योगिराज गोरखनाथ ने उसे वज्रयान शाखा से निकालकर एक परिष्कृत रूप दिया तथा उसे व्यवस्थित किया। नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ को शिव के अवतार के रूप में मान्यता है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका समय नवीं-दसवीं शताब्दी माना जाता है। योगिराज को नाथपन्थ के प्रवर्तक रूप में स्वीकार किया गया है। वे एक महान् ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—''शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और महिमान्वित व्यक्तित्व भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने-कोने में उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली आन्दोलन गोरखनाथ का भक्तिमार्ग ही था। गोरखनाथ अपने युग के सबसे बड़े धार्मिक नेता थे।'' योगिराज गोरखनाथ ने शंकराचार्य की तरह सम्पूर्ण देश की यात्रा की। पंजाब, गुजरात, काठियावाड़, उत्तर प्रदेश, नेपाल, असम, उड़ीसा आदि की यात्रा के क्रम में उन्होंने विभिन्न मतों के आचार्यों से शास्त्रार्थ भी किया। वे अत्यन्त मेधावी तथा चूडान्त शास्त्रज्ञ थे। शास्त्रार्थ के द्वारा लोगों को नाथपन्थ की ओर आकृष्ट करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। बौद्ध सिद्ध कण्हपा से उनका शास्त्रार्थ सर्वविदित है।

योगिराज गोरखनाथ की सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने अनेक मत-मतान्तरों में विभक्त भारतीय समाज को धार्मिक एकसूत्रता में बाँधा। उन्होंने बौद्ध, कापालिक, वैष्णव, जैन, शाक्त में समन्वय स्थापित किया। दूसरी महत्त्वपूर्ण देन यह है कि नाथपन्थ अपने सामाजिक आशय में अत्यन्त प्रगतिशील है; इसमें जातिवाद, वर्ण-व्यवस्था, बाह्याडम्बर, अन्धविश्वास आदि का प्रत्याख्यान बड़े ही प्रभावशाली ढंग से किया गया है। इसका वैयक्तिक साधनावाला पक्ष शास्त्रीय है, इसलिए जनसामान्य की रुचि उसमें उतनी नहीं बन पायी, पर जहाँ तक उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का प्रश्न है, वह लोकोन्मुख है और उसने समाज को बहुत अधिक प्रभावित किया। नाथपन्थ की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि इसमें उच्च नैतिक मूल्य को अनन्य स्थान दिया गया है। चित्त की शुद्धता एवं दृढ़ता को साधना के

लिए आवश्यक बताया गया है; इसमें ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक मानसिक पवित्रता को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। ''परवर्ती साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता, आचरण शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है, उसका सारा श्रेय नाथ-साहित्य को ही जाता है।'' यद्यपि नाथ-साहित्य में यौगिक क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है, तथापि सहज जीवन का आदर्श भी सामने रखा गया है, जो प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनुकरणीय है। नाथपन्थ में सहज शीलवान गृहस्थ को गंगाजल के समान पवित्र बताया गया है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि नाथ-साहित्य ने परवर्ती सन्त साहित्य की एक प्रकार से पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना को इतने गहरे स्तर पर प्रभावित करनेवाले नाथपन्थ के विभिन्न पक्षों पर अनेक विद्वानों ने गम्भीर रूप से विचार-विमर्श किया है। नाथपन्थ के महत्त्वपूर्ण पीठ गोरक्षपीठ के पीठाधीश्वर के व्यक्तित्व निरूपण के क्रम में नाथपन्थ के उद्‌भव और विकास, उसके महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य तथा भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में उसके स्थान पर प्रकाश डालना समीचीन था। इसलिए इस ग्रन्थमाला के तीसरे खण्ड में नाथपन्थ के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही भारतीय धर्म-दर्शन के अन्य विविध मतों का प्रतिपादन भी इसमें किया गया है। इसमें हमारे अनुरोध पर विभिन्न विद्वानों ने अपने आलेख दिये हैं, उनको तो इसमें सम्मिलित किया ही गया है, जिन विद्वानों ने अपने गम्भीर शोध एवं विवेचन से नाथपन्थ के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला है, उनके आलेख भी विभिन्न स्थानों से संकलित कर इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। पं. गोपीनाथ कविराज, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, डॉ. आर.के. नजुण्डन, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, प्रो. अंजली कुमार सिंह, प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय, श्री रणविजय सिंह, प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी, प्रो. शिव प्रकाश दूबे, प्रो. डी.एन. यादव, डॉ. शिवभानु सिंह, प्रो. अम्बिका दत्त शर्मा, डॉ. द्वारका नाथ, डॉ. कन्हैया सिंह, डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित, श्री शिवनाथ दुबे, कुँवर नरेन्द्र प्रताप सिंह, कुँवर बहादुर सिंह कौशिक, अनुज प्रताप सिंह, प्रो. माता प्रसाद त्रिपाठी, योगिराज चन्द्रमोहनजी, डॉ. वसन्त वल्लभ भट्ट, डॉ. विष्णु दत्त कुकरेती, डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय, योगी रामानन्दजी महाराज, श्री नरसिंह गणेश जोशी आदि के लेख उल्लेखनीय हैं। हम उन सभी विद्वानों के कृतज्ञ हैं, जिनके आलेख से ग्रन्थ को गरिमा प्राप्त हुई है। आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ नाथपन्थ और अन्य धर्म-दर्शन के महत्त्व के साक्षात्कार में सहायक होगा। सामान्य पाठकों के अतिरिक्त शोधकार्य में रुचि और गति रखने वाले जिज्ञासुओं को भी इस ग्रन्थ से सहायता मिलेगी। यदि ऐसा हुआ तो हम अपने को कृतार्थ समझेंगे।

—सदानन्दप्रसाद गुप्त

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय ५

१. नाथ सम्प्रदाय का उद्भव एवं गोरखनाथ का स्थान —डॉ. राघवेन्द्र प्रताप मिश्र ११
२. नाथ सम्प्रदाय : उद्भव और विकास —डॉ. के.आर. नजुण्डन १९
३. नाथयोग दर्शन और लोककल्याण —योगी आदित्यनाथ ६१
४. महायोगेश्वर आदिनाथ शिव —योगवाणी से ६७
५. योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ —योगवाणी से ७९
६. महायोगी गोरखनाथ —योगवाणी से ९६
७. योगीराज भर्तृहरि —योगवाणी से १३३
८. योगीराज बाबा गम्भीरनाथ —योगवाणी से १४७
९. योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथ —योगवाणी से १६०
१०. गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग —हजारीप्रसाद द्विवेदी १७१
११. महायोगी गोरखनाथ के संस्कृत ग्रन्थ —महन्त अवेद्यनाथ १९२
१२. गुरु गोरक्षनाथ एवं गोरक्षनाथ मन्दिर —डॉ. कुँवर नरेन्द्र प्रताप सिंह २०८
१३. गोरक्षनाथ मन्दिर का आध्यात्मिक वैशिष्ट्य —अक्षय कुमार बनर्जी २१३
१४. गुरु गोरखनाथ की सामाजिक उत्क्रान्ति —डॉ. कुँवर बहादुर कौशिक २२२
१५. गोरक्षनाथ का अक्षय कोष —प्रो. माता प्रसाद त्रिपाठी २३५
१६. सबद हमारा षरतर षांडा —स्वामी खुशालनाथ 'धीर' २४०
१७. नाथयोग में शिव-शक्ति-तत्त्व —प्रो. रामचन्द्र तिवारी २५०
१८. जोधपुर : नाथ-साहित्य का गढ़ —डॉ. अनुज प्रताप सिंह २५९
१९. नाथयोगियों का भारतीय अध्यात्म पर प्रभाव —डॉ. कन्हैया सिंह २६८
२०. योग दर्शन एवं साधना : पतञ्जलि और गोरखनाथ —डॉ. भारती सिंह २७८
२१. महायोगी गोरखनाथ और ज्वालादेवी तीर्थ —योगिराज चन्द्रमोहनजी ३०१
२२. गोरखनाथ सम्प्रदाय के कुछ पश्चिमी केन्द्र —डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित ३०३
२३. महायोगी गोरखनाथ की तप:स्थली-तोरणमाल —शिवनाथ दुबे ३०७

२४. नाथ-सम्प्रदाय के तीर्थ और कूर्माचल-कुमाऊँ	—डॉ. वसन्त वल्लभ भट्ट	३१०
२५. श्रीनाथतीर्थ शक्तिपीठ देवीपाटन	—डॉ. जगदीश नारायण सिंह 'निर्भीक'	३१३
२६. चौरंगीनाथ का तिसाला मेला	—डॉ. विष्णुदत्त कुकरेती	३१८
२७. उड़ीसा के जातीय धर्म में नाथतीर्थ स्थलों की भूमिका	—डॉ. सुधांशु कुमार नायक	३२३
२८. महाराष्ट्र और गुजरात के सन्तों पर नाथ-योग का प्रभाव	—योग के विविध आयाम से	३२८
२९. नाथपन्थी योग और आपा साहब की भक्ति साधना	—डॉ. उदय प्रताप सिंह	३३९
३०. पद्मावत में नाथ योग साधना	—सदानन्द प्रसाद 'गुप्त'	३४८
३१. नाथपन्थी साहित्य में हनुमद्भक्ति	—डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय	३५८
३२. नाथयोग : तत्त्व-चिन्तन और हठयोग	—योगी रामानन्दजी महाराज	३६२
३३. नाथयोग और भारतीय सन्त साहित्य	—योग के विविध आयाम से	३६६
३४. नाथपन्थ का सन्तमत पर प्रभाव	—योग के विविध आयाम से	३७३
३५. गोरखनाथ के निर्गुण मार्ग का बनादास पर प्रभाव	—डॉ. अनिरुद्ध सिंह	३८७
३६. नाथ परम्परा में दीक्षा	—डॉ. चन्द्रमौलि त्रिपाठी	४०४
३७. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में नाथपन्थ	—डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद	४२०
३८. 'पन्थराज' नाथपन्थ के पथद्रष्टा और भक्ति आन्दोलन···	—नरसिंह गणेश जोशी	४२८
३९. नाथ-परम्परा एवं गोरखनाथ	—वीणा सिंह	४४६
४०. गोरखनाथ और कबीर की दृष्टि में परमतत्त्व	—डॉ. कमलेश कुमार गुप्त	४५०
४१. गोरक्षनाथ उपदिष्ट अमनस्क योग	—डॉ. बलवान सिंह	४५६
४२. गोरक्षनाथ उपदिष्ट सिद्धि-मार्ग	—डॉ. अजय कुमार शुक्ल	४५९
४३. नाथपन्थ के प्रमुख सिद्धपुरुष	—इन्द्रजीत मौर्य	४६३
४४. गोरक्षनाथ के समय की धार्मिक परिस्थितियाँ	—स्वेजा त्रिपाठी	४६६
४५. गोरक्षनाथ के समय की धार्मिक और आध्यात्मिक···	—राम कुमार	४७१
४६. नाथपन्थ का उद्भव और गुरु गोरक्षनाथ	—डॉ. सुधा शुक्ल	४७७
४७. नाथपन्थ और भक्ति आन्दोलन	—डॉ. इन्दु पाण्डेय	४८१
४८. नाथपन्थ एवं शमप्रधानेषु तपोधनेषु	—बलविन्दर कुमार प्रजापति	४९१
४९. गोरखनाथ की साधना स्थलियाँ	—डॉ. अम्बरीश कुमार दूबे	४९४
५०. नाथपन्थ का राष्ट्रीय जीवन पर प्रभाव	—डॉ. बृज भूषण यादव	४९८
५१. दक्षिण भारत में नाथपन्थ का प्रसार	—राखी रावत	५०२
५२. नाथ परम्परा और गोरखनाथजी	—रत्ना सिंह	५०४
५३. नाथपन्थ के प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ	—हरेन्द्र कुमार	५०७
५४. तन्त्र-साधना में नाथपन्थ का योगदान	—भगवान सिंह	५०९
५५. महायोगी गुरु गोरक्षनाथ	—रणविजय सिंह	५१४
५६. महाद्रष्टा श्री गोरखनाथ	—प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय	५२०
५७. नाथपन्थ और भक्ति-आन्दोलन	—प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी	५२४

हिन्दू धर्म के विविध मत

५८. भारतीय दर्शन की परम्परा	—डॉ. श्रीप्रकाश दुबे	५३७
५९. भारतीय दर्शन परम्परा में योग-विचार	—प्रो. डी.एन. यादव	५५०
६०. वैष्णव मत में भक्ति मार्ग की महत्ता	—डॉ. शिवभानु सिंह	५६३
६१. बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा	—डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा	५६७
६२. भगवद्गीता में दैवी सम्पत्ति योग	—डॉ. द्वारका नाथ	५८५
६३. जैन दर्शन	—डॉ. रामप्रीत मिश्र	६०४
६४. श्रमण दर्शन में कर्म का स्वरूप	—डॉ. निर्मला कौशिक	६१८
६५. अनेकान्तवाद का तात्त्विक मूल्य	—डॉ. अंजनी कुमार सिंह	६२९
६६. वेदों में आगम-तन्त्र-परम्परा के सूत्र	—प्रो. माता प्रसाद त्रिपाठी	६३७
६७. श्री-सम्प्रदाय, रामानुज-मत या विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त	—पं. गोपीनाथ कविराज	६४६

नाथ सम्प्रदाय का उद्भव एवं गोरखनाथ का स्थान

—डॉ. राघवेन्द्र प्रताप मिश्र

'नाथ' शब्द का अर्थ—नाथ शब्द का प्रचलन अति प्राचीन है। यह वैदिक काल में अनके अर्थों में व्यवहृत होता था। ऋग्वेद के दशम् मण्डल के १३०वें सूक्त में यह शब्द सृष्टिकर्ता, ज्ञाता और सृष्टिकारक रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'नाथित' तथा 'नाथ' शब्दों का प्रयोग अथर्ववेद में हुआ है। राजगुह्य ने नाथ को अनादिरूप और भुवनत्रय की स्थिति का कारण माना है। शक्ति संगम तन्त्र के अनुसार नाथ तत्त्व मोक्ष दायक, ब्रह्म अनुबोधक और अज्ञान नाशक है। संस्कृत के भाष्यकार मुनिदत्त ने इसको सद्गुरुअर्थ में लिया है। विभिन्न बौद्ध ग्रन्थों में यह शब्द बुद्ध का पर्याय है। सहजयानी बौद्ध सिद्धों के बौद्धमानवों दोहा में शान्तिपाद के चर्यापाद में नाथ शब्द का उल्लेख हुआ है। जैन एवं वैष्णव ग्रन्थों में भी यह शब्द बड़े देवता का पर्याय है। परवर्तीकाल में शैवमत का विकास नाथ सम्प्रदाय के रूप में हुआ फिर यह शब्द शिव के लिए प्रचलित हो गया। हठयोग प्रदीपिका की टीका (१-५) में ब्रह्मानन्द ने सब नाथों में प्रथम आदिनाथ को माना है। यह आदिनाथ ही शिव है।

नाथ सम्प्रदाय वाले अपने मार्ग को सिद्ध मार्ग इसलिए कहते हैं कि उनके विचार से नाथ ही सिद्ध हैं। इनका प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति है। इसको काशी के वलभद्र पण्डित ने अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम काल में सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह नाम से संक्षिप्त किया था। इस ग्रन्थ से स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही यह मार्ग या मत सिद्ध मार्ग या सिद्ध मत के नाम से विख्यात हो चुका था। सिद्धों द्वारा निर्णीत तत्त्व ही सिद्धान्त है, इसीलिए ये अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को ही सिद्धान्त ग्रन्थ मानते हैं।

'नाथ' शब्द का शाब्दिक विश्लेषण करने पर इसके दो ध्वनि खण्ड बनते हैं—ना+थ। यहाँ 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है भुवनत्रय स्थापित होना। अर्थात् वह अनादि धर्म जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है, नाथ है। इसीलिए गोरक्ष को नाथ कहा गया है।

शक्ति संगम तन्त्र में 'ना' शब्द को नाथ ब्रह्म है जो मोक्षदान में दक्ष है—माना गया है और 'थ' को अज्ञान विनष्ट करने वाला। इस नाथ के द्वारा ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञानता का नाश होता है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह स्पष्ट है कि 'नाथ' शब्द में शाब्दिक और दार्शनिक दृष्टि से

कोई मौलिक अन्तर नहीं, दोनों दृष्टियों में नाथ शब्द परम तत्त्व के लिए व्यवहृत हुआ है। गोरखबानी में गोरखनाथ ने 'नाथ' शब्द का व्यवहार मुख्यत: ब्रह्म या परमतत्त्व के अर्थ में किया है, जैसे—'ते निश्छल सदा नाथ के संग।' परन्तु जहाँ भक्ति है वहाँ यह शब्द रचनाकारवाची रूप में प्रयुक्त है, जैसे—'नाथ कहे तुम राखी'। कबीर ने 'नाथ' शब्द का प्रयोग मायाजेता के अर्थ में किया है। नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित साधकों ने इसे परम तत्त्व का बोधक माना है। नाथ योगी इसकी प्राप्ति योग-साधना द्वारा करते थे। वे दीक्षित होने के बाद अपने नाम के अन्त में नाथ शब्द का प्रयोग करते थे। नाथ शब्द पहले कभी भले ही प्रभु, स्वामी जैसे कतिपय अर्थों का सूचक क्यों न समझा जाता रहा हो पर बाद में यह ऐसे महापुरुषों का बोधक मान लिया गया जिन्हें अति मानव तथा देवत्व तक भी प्रदान किया जा सकता था।

गोरखनाथ द्वारा संगठित और प्रचारित सम्प्रदाय के लिए नाथ सम्प्रदाय या नाथमत का अधिक प्रचलन हिन्दी भाषा में मिलता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैंने 'नाथ' शब्द का प्रयोग परम तत्त्व के अर्थ में किया है।

नाथ सम्प्रदाय का उद्भव—नाथ सम्प्रदाय के उद्भव को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। भारतीय विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न पौराणिक साहित्यों और उत्कीर्ण साक्ष्यों के आधार पर नाथ सम्प्रदाय के उद्भव पर विचार किया है।

नाथ सम्प्रदाय का मूल स्रोत अत्यन्त प्राचीन है। मत्स्येन्द्र रचित 'कौल ज्ञान निर्णय' ग्रन्थ का जो प्राचीन हस्तलेख मिलता है, वह ग्यारहवीं शती का है। अभिनव गुप्त का ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' भी है, जिसका रचनाकाल विद्वानों ने सन् १०५५ ई. निर्धारित किया है। इस ग्रन्थ में मत्स्येन्द्र नाथ का उल्लेख है। इसके पूर्व ९७१ ई. का एक लेख एक मन्दिर में ब्रिग्स महोदय को मिला, जिसके आधार पर यह अनुभव किया जाता है कि वह मन्दिर नाथ सम्प्रदाय का ही होगा। चीनी यात्री ह्वेनसांग ६३० ई. से ६४० ई. तक भारत में रहा। उसने अपने ग्रन्थ 'शियुकी' में नाथ धर्म की चर्चा की है। दक्षिण भारत के लिंगायत मत के प्रवर्तक अस्लन प्रभु का समय ११५० ई. निश्चित किया गया है। इनके साथ गोरखनाथ के सीधे सम्पर्क का साक्ष्य प्राप्त है। पाश्चात्य विद्वान टेसीटरी के अनुसार कनफटे योगी का अस्तित्व बौद्ध धर्म के आरम्भिक काल से ही मिलता है, मगर बौद्ध धर्म के पतन काल से ही उनका समुचित प्रभाव बढ़ने की सूचना तत्कालीन ग्रन्थों में मिलती है। कनफटा योगियों के विषय में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'नाथ सम्प्रदाय' में लिखा है कि कनफटा योगी कुण्डल धारण करते थे। सालसेटी, एलोरा, एलीफेण्टा की गुफाओं में ८वीं शताब्दी की शिव की अनेक योग मूर्तियाँ हैं जिनके कान में बड़े-बड़े कुण्डल हैं। ये कुण्डल ठीक उसी ढंग से पहनाये गये हैं जिस तरह से कनफटा योगी कुण्डल धारण करते हैं। मद्रास के उत्तरी आर्कत जिले में परशुरामेश्वर का जो मन्दिर है उसमें स्थापित लिंग पर शिव की मूर्ति के कानों में कनफटे योगियों जैसा ही कुण्डल है। टी.ए. गोपीनाथ राय ने इस लिंग को दूसरी या तीसरी शताब्दी का माना है। दूसरी और तीसरी शताब्दी के बाद भी अनेक मानव मूर्तियों के कनफटे कानों में विविध प्रकार के कुण्डल देखने को मिलते हैं। नाथ सम्प्रदाय का वास्तविक उत्स उसके दर्शन और साधना-पद्धति में सन्निहित है। मूलत: नाथ मार्ग योग प्रधान मार्ग है। फिर भी, यह भारतीय तत्त्व चिन्तन की मूलधारा से विकसित है।

नाथ योगी सर्व निरपेक्ष परम तत्त्व को शिव मानते हैं। यह गोचर जगत् के भेद-प्रभेद से सर्वथा भिन्न होता है। यह शिव स्वयं प्रकाश और चेतन तथा आनन्दस्वरूप है। उसकी शक्ति जगत् के नाम-रूपात्मक सत्ता के रूप में अभिव्यक्त उसकी शक्ति है। यह शिव और शक्ति शाश्वत रूप से एक-दूसरे से अभिन्न है। एक ही तत्त्व अपनी शाश्वत एवं निरपेक्ष दशा में शिव होता है और अपनी गत्यात्मक तथा सापेक्ष अवस्था में शक्ति, मानव में शिव तथा शक्ति दोनों अवस्थित होते हैं। साधक योग साधना द्वारा मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर की सीमाओं को पार कर परम तत्त्व शिव में एकाकार होता है। नाथयोगी अपनी कुण्डलिनी को जागृत कर स्थूल चेतना शक्ति को क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर सोपानों से आगे बढ़ाते हुए छन्दातीत स्थिति तक पहुँचकर परम तत्त्व शिव में अपने को लय कर देता है। इसी शिवत्व प्राप्ति हेतु आसन, प्राणायाम जैसे योग के आठ अंगों का विधान है। नाथयोगी विराट् ब्रह्माण्ड और मानव पिण्ड को तत्त्वतः एक मानते हैं। एक ही शक्ति इस ब्रह्माण्ड के मूलाधार में प्रसुप्त होकर इसकी स्थूल जगत् के व्यापारों तथा गतियों को बाँधती है। नाथयोग में कुण्डलिनी के जागृत होने का अर्थ है सुसुप्त स्थूल चेतना का सूक्ष्म शाश्वत, छन्दातीत, परम तत्त्व की ओर अग्रसरित होना। वेद और उपनिषद् में नाथयोग की साधना पद्धति के बीज हैं। ऋग्वेद में रुद्र उपासक ब्रात्य योगियों का उल्लेख है जो प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं को महत्त्व देते थे, साथ ही वे निरन्तर अमूर्त चिन्तन में रत रहा करते थे। वे अपनी साधना द्वारा मृत्यु पर विजय भी प्राप्त कर लेते थे। इसका उल्लेख परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'उत्तर भारत की सन्त परम्परा' में किया है। ऋग्वेद काल में ही यह विश्वास हो चुका था कि जगत् की रचना व्यवस्थित एवं उद्‌देश्यपरक है। यह व्यवस्थित एवं नियमित किसी अमूर्त परोक्ष शक्ति के द्वारा ही होती है। उपनिषदों ने इसी अमूर्त परोक्ष शक्ति को ब्रह्म कहा है। तैत्तरीयोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म ने अपने को जड़ चेतनात्मक रूप में व्यक्त किया है। मुण्डकोपनिषद् के विचार से परम तत्त्व की प्राप्ति मनुष्य निस्पृह रहकर तथा अन्तःकरण शुद्ध रखकर ही कर सकता है। कठोपनिषद् इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि की स्थिति धारण को ही योग मानता है। आगे चलकर उपनिषदों में वैदिकोत्तर साधनाएँ सन्निहित हो गईं। तान्त्रिक साधना-पद्धति का समावेश हो गया। श्वेताश्वतर उपनिषद् इसका ज्वलन्त साक्ष्य है। बहुत से विद्वान् उपनिषदों की इस परम्परा में आगमों की काल यदृच्छा और पुरुष सम्बन्धी धारणाओं का परिचय मिलता है। उपनिषदों के अलावा बौद्ध साहित्य में भी योग का उल्लेख है। गौतम बुद्ध अपने जीवनकाल में सिद्धियों और अलौकिक शक्तियों के प्राप्ति के विरोधी भले रहे हों मगर उनकी साधना और जीवन पद्धति में ऐसे अनेक रहस्यमय तत्त्व सम्मिलित थे जिनको आधार मानकर आगे चलकर लोकोत्तरवादियों ने तान्त्रिक योग का विकास किया। बौद्ध धर्म के हीनयानी शाखा में इस पद्धति का महत्त्वपूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। मंजुश्री मूलकल्प के अनुसार बौद्ध तन्त्र पर शैव प्रभाव था। सधर्म पुण्डरीक के अनुसार जिनेन्द्र का अवतार जीवों के सुख के लिए हुआ है। गड़व्यूह के प्रारम्भिक तान्त्रिक साधना के स्वरूप का आधार नागार्जुन, आर्यदेव, असंग तथा वसुबन्धु से मिला है। तथागत गुह्यक जिसका रचना काल छठवीं ओर सातवीं शताब्दी है, जैसे बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर डॉ. मलिक का यह विचार है कि बौद्ध तान्त्रिकों तथा कापालिकों का उदय हुआ। डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने बौद्ध तन्त्र का विकास तीसरी शताब्दी के बाद माना है। आचार्य विनतोष

भट्टाचार्य ने तथागत गुह्यक का रचनाकाल तीसरी शताब्दी स्वीकारा है। सच पूछा जाए तो सिद्धों को प्रात्य ब्रात्य मुनियों के क्षेत्र में संगठित होने की सुविधा राजनीतिक कारणों से मिली। यवन आक्रमणकारियों ने वैष्णव, शैव, शाक्त तथा बौद्धों सभी को प्रभावित किया। नाथमत में हिन्दुओं का तन्त्र एवं बौद्ध सहजिया के रहस्यवाद का अपूर्व सम्मिश्रण है। बौद्धों के बज्रयान और सहजयान में चर्चित शून्यता और करुणा हिन्दू सन्तों की चर्चित शिव और शक्ति है इसके सम्मिलन से महासुख की अनुभूति होती है। बौद्ध साधना में प्रज्ञा और उपाय का सम्मिलन नाद और बिन्दु का मिलन है। सहजिया बौद्ध की सहजावस्था एक तरह से नाथमत की समस्त साधना है। सहजिया मत के अनुसार गुरु के उपदेश से शुद्ध ज्ञान का आविर्भाव होता है जिसे ज्ञान मुद्रा कहते हैं। नाथमत में भी गुरु के उपदेश से ही परम पद मिलता है। नाथमत की बजरौली आदि साधनाओं का उत्स बौद्धों के बज्रयान और सहजयान में ही है। योग के व्यापक प्रभाव से बौद्ध भी अछूते नहीं रहे। तीसरी शताब्दी की गुह्य समाज तन्त्र में षडांग योग प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि का उल्लेख है। ललित विस्तार के अनुसार तपस्या की अनेक विधियाँ बुद्ध के समय प्रचलित थीं, ऐसा डॉ. राधाकृष्णन का विचार है। त्रिपिटिकों में भी योग प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन है। योग परम्परा कालान्तर में बौद्ध धर्म की ध्यान शाखा में सम्पोषित हुई। इस ध्यान सम्प्रदाय के संस्थापक आर्यबोधि एक विलक्षण योगी थे। वे नाथयोगियों की भाँति दोनों कानों में कुण्डल धारण करते थे। सूत पिटक में कई जगहों पर सूत ने ध्यान को विशेष महत्त्व दिया है। इस ध्यान योग का विस्तृत विवेचन आचार्य बुद्धघोष ने विशुद्धिमग्न में किया है। विनयपिटक तथा अंगुत्तर निकाय के अलावा मिलिन्दपन्हों में अवधूत मत की चर्चा है। भरहुत और साँची में उत्कीर्ण यक्ष मूर्तियाँ इसी अवधूत परम्परा की मानी जा सकती हैं।

जैन धर्म में योग का प्रारम्भ ऋषभदेव से माना गया है। वे देहोत्सर्ग में ध्यान करते थे। भागवतपुराण में उनका पूरा जीवन चरित्र अवधूत योगी के रूप में चित्रित है। इनमें और शिव में अद्‌भुत समानताएँ मिलती है। नाथयोगी मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र मीननाथ और पारसनाथ को जैन सन्त ही माना जाता है। नाथमत का मूलधारणा व्रत जैसे संस्कार जैन प्रभाव का ही संकेतक है। योग धर्म में एक तरह से सभी धर्म समाविष्ट हैं। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि योग साधना का अस्तित्व वैदिक युग से ही था। कहीं-कहीं तो नाथपन्थी साधुओं के लिए संन्यासी शब्द का व्यवहार हुआ है। श्री घुरे के विचार से नाथयोगी पुरातन माहेश्वर, पाशुपत, कापालिक संन्यासियों के विकसित स्वरूप हैं। घेरेण्ड संहिता भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध पाशुपतों, कापालिकों एवं अघोरियों से मानती है। साबरतन्त्र में प्रथम कापालिक आचार्य आदिनाथ की चर्चा है और उनके शिष्यों में से नाथमत के प्रधान आचार्य है। जार्ज ग्रियर्सन ने गोरखनाथ को शैव धर्म का श्रेष्ठ दीक्षा गुरु माना है। टेसीटरी ने तो कनफटा योगी सम्प्रदाय को शैव सम्प्रदाय का एक उपसम्प्रदाय माना है। नलिनी कान्त भहशाली के विचार से अथर्ववेद में तन्त्र-मन्त्र बाहुल्य शिव धर्म की जो प्रधानता दृष्टिगत होती है उसी से नाथ धर्म का उद्‌भव हुआ है। एक यह भी मत है कि ज्ञानाद के साथ तपोविद्या के संयोग से योग मार्ग प्रारम्भ हुआ। इसके आदि प्रवर्तक जैगीष्य कहे जाते हैं। योगी याज्ञवल्क्य ने योग का आदिवक्ता हिरण्यगर्भ को माना है—हिरण्यगर्भ, योगस्यवक्ता, नान्यपुरातन,

महाभारत, योगशिवोपनिषद् पूर्वक उन्हें आसन, प्राणायाम, नाड़ी शोधन, कुण्डली जागरण का विवेचन कर शिक्षित किया। इनके योगदान को गोरक्ष सिद्धान्त में सहज रूप में देखा जा सकता है। वायुपुराण और शैवपुराण में शिवोपासना के बारे में योगाभ्यास की एक विशेष विधि का उल्लेख है जिसे 'माहेश्वर योग' कहा गया है। महाभारत के कर्ण पर्व में पाशुपत व्रत का उल्लेख है। इस व्रत का समय १२ दिन से लेकर १२ वर्ष तक माना गया है। नाथ मार्ग का ग्रन्थ योगी सम्प्रदाय विष्कृति में १२ वर्ष तक तत्पर साधकों का उल्लेख है। शिव पुराणवायवीय संहिता के ९वें अध्याय में शंकर के २८ अवतारों की चर्चा योगाचार्य के रूप में है। प्रत्येक अवतार के साथ शान्त चित्त वाले चार-चार शिष्यों की चर्चा है। इन्हें सिद्ध पाशुपत कहा गया है। पाशुपत साधना और नाथपन्थी साधना में एकरूपता है। पाशुपतपन्थी पाशुपत या महेश्वर के उपासक हैं तो नाथपन्थी शिव अथवा आदि नाथ के उपासक। पाशुपत सम्प्रदाय के प्रवर्तक लकुलीश को माना है। ये शिव के अवतार थे। बाद में गोरक्षनाथ को लकुलीश का अवतार कहा गया। कुछेक ऐसे भी साक्ष्य प्राप्त हैं जिसके आधार पर यह माना जा सकता है कि नाथपन्थ का सम्बन्ध रसेश्वर सम्प्रदाय, कश्मीरी शैव मत और कापालिकों के साथ थोड़ा-बहुत है। गोरखनाथ की महार्थमंजरी ग्रन्थ कश्मीरी अपभ्रंश में है।

डॉ. शशिभूषणदास गुप्ता के अनुसार नाथ सम्प्रदाय रामेश्वर सम्प्रदाय का विकसित रूप है। उन्होंने इसकी स्थिति पतञ्जलि के पहले स्वीकार की है। घेरेण्ड संहिता की योग शिक्षा चण्ड नामक कापालिक को दी गई। शबर तन्त्र के २४ कापालिकों की सूची के कई नाम नाथों की सूची में भी मिलते हैं। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह मार्ग नाथमत से ही उद्भवित है।

नाथमत को योगमार्ग, सिद्धमार्ग, सिद्धमत, अवधूत सम्प्रदाय तथा अवधूत मत के भी नाम से जाना जाता है। इसकी पुष्टि गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह तथा योगबीज नामक ग्रन्थों से होती है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नाथ सम्प्रदाय में शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन, वैष्णव, आगमों के थोड़े बहुत तत्त्व किसी-न-किसी रूप में अवस्थित हैं। इसीलिए नाथ सम्प्रदाय में सभी धर्मों के तत्त्व दिखलायी पड़ते हैं। यह सच है कि गोरखनाथ से पहले नाथ सम्प्रदाय का अस्तित्व था मगर गोरखनाथ और उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने साधना एवं विचार पद्धति में कतिपय परिवर्तन कर विकसित किया है। इसके उद्‌भव का सम्बन्ध ऋग्वेद में उल्लिखित शैवोपासक व्रात्यों तक से जोड़ा जा सकता है। नाथपन्थी अपने धर्म के संस्थापक के रूप में स्वयं आदिनाथ शिव को पुकारते हैं। आगे चलकर गोरखनाथ ने अपने १२ सम्प्रदायों को विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित कर पूर्ण अखण्ड भारत में नाथपन्थ के प्रभाव को फैलाया है, यह निर्विवाद सत्य है।

गोरखनाथ का स्थान—नाथमत की परम्परा में नवनाथों का उल्लेख मिलता है। इन नवनाथों में आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, जालन्धरनाथ, चौरंगीनाथ, भर्तृहरिनाथ, गोपीचन्द काणेरी और कानिफनाथ, मूल नवनाथ हैं। इनके बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। अनेक अनुश्रुतियों, पौराणिक साहित्यों और मठों से प्राप्त साहित्य के आधार पर इनकी जीवनवृत्त को स्पष्ट करने का प्रयास विद्वानों ने किया है, फिर भी एक सामान्य निष्कर्ष नहीं दिया जा सकता है।

नवनाथों के क्रम में गोरखनाथ का तीसरा स्थान रहा है। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के बाद इन्होंने नाथमत को अखण्ड भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचाया है।

विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि गोरखनाथ का आविर्भाव नवीं शताब्दी में हुआ था। भगवान् बुद्ध के बाद नाथपन्थ को उनके माध्यम से एक समर्थ प्रवक्ता मिला था, साथ ही वे अद्‌भुत सांगठनिक क्षमता वाले पुरोधा पुरुष हुए जिनकी साधना चिन्तन और भावना ने जन-जन को प्रभावित किया। इस प्रभाव का ही परिणाम था कि भारत के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक उनके कृत्यों की अनेक जनश्रुतियाँ फैली थीं। लोक वार्ताओं के मिथक पुरुष बने अनेक अद्‌भुत चमत्कारों की चर्चा लोगों की प्रेरणा का कारण बनी।

गोरखनाथ महायोगी थे, उन्होंने योगानुभव के बल पर प्रत्येक तत्त्व का साक्षात्कार किया था। गोरखनाथ के विषय में अक्षय कुमार बनर्जी ने अपने ग्रन्थ फिलॉसफी ऑफ गोरखनाथ में सम्यक् रूप से विचार करते हुए लिखा है। 'तर्क और कल्पना के आधार परम तत्त्व की खोज करना उनका लक्ष्य न था। प्रापंचिक जगत के परे या पीछे यह उसके आधारस्वरूप किसी पारमार्थिक सत्ता के अस्तित्व का तर्क द्वारा खण्डन या मण्डन करना उन्हें अभीष्ट नहीं था।''विवादास्पद दार्शनिक समस्याओं के विश्लेषण में उन्होंने स्वयं को कभी नहीं उलझाया। किसी प्रतिस्पर्धी दार्शनिक सिद्धान्त के विरोध में किसी विशिष्ट सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में अपनी बौद्धिक क्षमता का प्रदर्शन नहीं किया। वे जानते थे कि परम सत्य के निरूपण में बौद्धिक स्तर पर मत-वैभिन्य स्वाभाविक है। उन्होंने दार्शनिक धारणाओं और विवादों को परम सत्य की अनुभूति के साधन रूप में कभी महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को बौद्धिक अनुशासन की पद्धतियों के रूप में मूल्यवान माना और सत्य के अन्वेषण में सहायक समझा, यह भी उस स्थिति में जबकि दार्शनिक चिन्तन नम्रतापूर्वक निष्ठा और सच्चाई के साथ किसी विशिष्ट दार्शनिक मत के प्रति पक्षपात रहित होकर किया जाए।

गोरखनाथ ने योग साधना की क्रियाओं के साथ-साथ अपने सम्प्रदाय के दर्शन का भी सहज रूप में प्रचार किया। उन्होंने अपनी समाधि अवस्था की अतिमानसिक तथा अतिबौद्धिक अनुभूतियों को अपने दर्शन का आधार बनाया। उनके दार्शनिक सिद्धान्त का भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में विशेष स्थान है। उनका अपना निजी महत्त्व एवं मूल्य भी है। उनके दार्शनिक विचारों पर उनके निजी व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव है जिसके कारण ही वे सर्वग्राह्य बने।

गोरखनाथ का नाथयोगी सम्प्रदाय भारत के सर्वाधिक प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों में से एक है। इसीलिए प्रो. ब्रिग्स ने लिखा है, 'कनफटा योगी भारत में सभी जगह पाये जाते हैं, वे किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय से अधिक विस्तृत हैं। वे दक्षिण के उत्तरी भाग, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, गंगा के मैदानी प्रान्तों, नेपाल में तपस्वियों और यतियों के रूप में कभी छिटपुट कभी दलों में संगठित मिलते हैं।'

गोरखनाथ का योगी सम्प्रदाय सिद्ध योगी, दर्शनी योगी या कनफटा योगी, नाथयोगी या नाथ सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। एक योगी को शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक विधियों का अनुपालन करना जरूरी है। इसके अभाव में योगी चेतना के उच्चस्थ शिखर पर आसीन नहीं हो सकता।

गोरखनाथ ने अपने नैतिक उपदेशों को लोक भाषा में दिया है। इनके नैतिक उपदेश विशेष रूप से लोक मंगलकारी रहे हैं। संस्कृत में योगियों के जो उपदेश मिलते हैं वे मात्र विशेष वर्ग की भाषा होने के कारण जन-जन के लिए ग्राह्य नहीं हो सके। गोरखनाथ ने योगियों के लिए मन की शुद्धता तथा दृढ़ता को जरूरी बताया है। योगियों के लिए ही नहीं वरन् साधारण मनुष्यों के लिए भी चित्त की दृढ़ता जरूरी बताया है। इसके चलते जिन्दगी में भटकाव नहीं आता। योगी को उन्होंने वाद-विवाद से दूर रहने का उपदेश दिया है, जल्दीबाजी से उसे सिद्धि नहीं मिल सकती। उसके लिए थोड़ी भी लालच घातक होती है। योगी विकारों के भीतर से अपनी साधना के बल पर निर्विकार तत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है। जैसे तिल के भीतर तेल। इनके विचार से गृहस्थ का ज्ञान, अमली/नशाबाज का ध्यान, बूचे का कान, वेश्या का मान तथा बैरागी का माया के प्रति ललक समानभाव से निरर्थक होते हैं।

गोरखनाथ अपने युग के महान् धार्मिक नेता थे। इनके युग में भारतीय धर्म साधना में काफी कुरीतियाँ आ गयी थीं। ये कुरीतियाँ अन्य समसामयिक अनेक सिद्धों में भी थीं। गोरखनाथ का आविर्भाव इन सबके लिए एक प्रतिद्वन्द्वी जैसा था। जब-जब उन्हें अवसर मिला तब-तब उन्होंने विकारग्रस्त सिद्धों को ललकारा। गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिए लोक भाषा का प्रयोग किया। गोरखनाथ के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने इनकी भाषा को पश्चिमी हिन्दी माना है। साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि पूर्वी बोलियों मगही, भोजपुरी, अवधी के शब्दों का भी सानुकूल प्रयोग किया है। डॉ. कमल सिंह ने उनकी मिश्रित भाषा को सान्ध्य भाषा कहा है। इस सान्ध्य भाषा के द्वारा गोरखनाथ के योगपरक तथ्यों को गोपनीय बनाने के लिए किया है, साथ ही अलौकिक तथ्यों के लौकिक तत्त्वों के सहारे स्पष्ट करने के लिए भी इसी भाषा का उपयोग किया है। जन साधारण को समझाने के लिए इन्होंने सांसारिक उपादानों का सहारा लिया है। इसलिए ये उपादान उनके इतने अपने हो गये थे कि इन्हें वे उपदेशों के दौरान योगपरक रूप को या आध्यात्मिक प्रतीकों की तरह प्रयोग करते थे। यही कारण है कि उनकी यह सान्ध्य भाषा रूपात्मक, प्रतीकात्मक, विचारात्मक और अद्भुत रसात्मक रूपों में मिलती है।

गुरु गोरखनाथ में सांगठनिक क्षमता अपूर्व थी। उन्होंने अपनी भरपूर क्षमता का उपयोग अपने सम्प्रदाय को संगठित करने में किया था। यही कारण है कि आज भी योगी सम्प्रदाय के लिए वे अविस्मरणीय हैं। नवनाथों की परम्परा में आदिनाथ से लेकर कानिफनाथ तक में गोरखनाथ जैसी सांगठनिक क्षमता नहीं थी। इसीलिए वे गोरखनाथ की तरह से योगी सम्प्रदाय के पर्याय न बन सके। वास्तव में गुरु गोरखनाथ के पास धर्मगुरु का व्यक्तित्व था। उनके चरित्र में दुर्बलता न थी। कुशाग्र बुद्धि वाले थे। उनके तत्कालीन धर्म समाज तथा गृहस्थ समाज में सात्विक दृष्टि और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना निम्नतर दशा में पहुँच चुकी थी। जन-जीवन में धार्मिक चेतना अपने पारमार्थिक भाव से विमुख हो रही थी ऐसे में उन्होंने दृढ़ता दिखाई और डटकर उनका विरोध किया। वे इस सत्य को अच्छी तरह जानते थे कि सत्उद्देश्य के लिए ग्रन्थ साधन बनता है, साक्ष्य नहीं। इसीलिए उन्होंने न वेद से समझौता किया और न तो लोक से। फिर भी उनमें श्रेष्ठ तत्त्व थे, उसको ग्रहण किया। ज्ञान के उपासक होने के नाते भावुकता उनमें कम थी। वे मानते थे कि जब एक अखण्ड सच्चिदानन्द ही सत्य हैं तो भावावेश को महत्त्व ही क्यों दिया जाए।

नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ के स्थान को निर्धारित करते हुए डॉ. अशोक प्रभाकर कामत ने लिखा है कि मध्य काल को अन्धकार युग कहा जाता है। इस अज्ञानकाल में भारतीय धर्म साधना को पुनः एक बार विशुद्ध रूप से सर्वव्यापक और प्रभावशाली बनाने का श्रेय अधिक-से-अधिक किसी को देना हो तो वह महान् सुधारक एवं प्रचारक गोरखनाथ को ही दिया जाना चाहिए।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि योग साधना और योगी साधक 'अथर्ववेद' के समय में ही विद्यमान थे। इसके बाद समय के प्रवाह में अन्य अनेक मतों और साधनाओं का विकास और प्रभाव-वृद्धि होने पर भी साधना किसी-न-किसी रूप में जीवित रही। बौद्ध धर्म के पतन के बाद इस साधना का प्रभाव पुनः बढ़ा। इसी समय गुरु गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ। उन्होंने तत्कालीन शैव और साधनाओं को परिष्कृत कर नाथ योग को पुनः प्रतिपादित और संघटित किया। नाथ योग का जो वर्तमान स्वरूप है उसके प्रवर्तक गोरखनाथ ही हैं। इस दृष्टि से वे एक युग निर्माता धर्म संस्थापक लोकोत्तर महापुरुष हैं।

□

नाथ सम्प्रदाय : उद्भव और विकास

—डॉ. के.आर. नजुण्डन

भारत के धार्मिक इतिहास में लगभग सन् २०० से सन् १२०० तक के हजार वर्ष तक का दीर्घ समय पौराणिक-आगमिक-तान्त्रिक युग कहा जा सकता है। कारण यह कि इस लम्बी अवधि में प्राय: सभी मुख्य पुराणों, उप-पुराणों, आगमों और तन्त्रों की रचना पूरी हो चुकी थी। जहाँ एक ओर विभिन्न वैदिक, अवैदिक मतों के बीच संघर्ष हो रहा था वहीं दूसरी ओर उनमें समन्वय लाने का प्रयत्न भी किया जा रहा था। महापुराणों के प्रणयन के द्वारा वैदिक धर्म एवं वर्णाश्रम की व्यवस्था का पुनर्गठन सिद्ध किया जा रहा था। साथ-ही-साथ प्राचीन काल से चली आ रही तन्त्र परम्परा से प्रभावित शैव, शाक्त और वैष्णव मतों का संघटन कार्य सम्पन्न होना आरम्भ हो गया था। वेद बाह्य एवं वेद-विरोधी जैन, बौद्ध, आजीवक और उन जैसे अन्य सम्प्रदाय जो व्यापक तान्त्रिक आचार विचारों से प्रभावित होने लगे थे, अपने मूल रूप से बहुत कुछ बदल भी चुके थे। उस युग के विभिन्न साधना-प्रधान मतों के अनुयायियों में पाषण्ड, अर्हत, तान्त्रिक और अन्य बौद्ध, भैरव, भिक्षु, भोजक (सूर्योपासक), चार्वाक, चीनमार्गरत, डामर, जैन, कापालिक, लांगल, लिंगधारी, मीन-केतन, नाकुल, नास्तिक, निर्ग्रन्थ, पांचरात्र, पाशुपत, पूर्व-पश्चिम, शैव, शाक्य, सांख्यक, सौगत, तप्त-मुद्रान्तिक, त्रिशूलधारी आदि थे। यह कहना उचित है कि वह युग धार्मिक संघर्ष और समन्वय का युग था।

इसी युग में योग-मार्गी शैव-सिद्धों ने अपना एक अलग साधनापरक सम्प्रदाय का संगठन किया। वही नाथ सम्प्रदाय नाम से भारत भर में विख्यात हुआ। इस सम्प्रदाय विशेष में प्राप्त साहित्य में बहुधा इसे आदिनाथ द्वारा अवतरित बताया गया है। उसके अनुसार आदिनाथ शिव ही हैं। उक्त साहित्य के निर्माताओं ने शिव को ही योग-मार्ग का प्रथम नाथ माना है। उससे प्रवृत्त होने से यह नाथ सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध हुआ। आदिनाथ शिव ही हैं अथवा कोई महान् मानव गुरु, यह एक जटिल समस्या बनी हुई है। वर्तमान स्थिति में इस समस्या का हल करना कठिन लगता है। अत: नाथ साहित्य का अनुकरण करते हुए शिव को आदिनाथ मानकर चलना ही उचित मालूम होता है।

आदिनाथ शिव द्वारा अवतरित योग-मार्ग का प्रथम मानव नाथ गुरु मत्स्येन्द्रनाथ माने जाते हैं। वे

शिव के शिष्य थे।[१] उन्होंने ही पहले पहल शिव से हठ-विद्या का उपदेश पाया और उनके सतत अभ्यास से दिव्य-काय होकर सिद्ध बने।[२] उनके विख्यात शिष्य महायोगी गोरक्षनाथ थे, जिन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा एवं असाधारण शक्ति से लाभ उठाकर नाथ सम्प्रदाय का संगठन किया। भारत के मध्य-कालीन धर्म-सम्प्रदायों में नाथ सम्प्रदाय का गौरवपूर्ण स्थान है। इस सम्प्रदाय के अन्य नाम सिद्ध-मत, सिद्ध-मार्ग, योग-मार्ग, योग-सम्प्रदाय, अवधूत-मत, अवधूत-सम्प्रदाय, नाथ-मार्ग आदि हैं।[३]

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब नाम सार्थक हैं। नीरस तर्क तथा शुष्क ज्ञान का अवलम्बन न करके भावना से पुष्ट साधना से जो नाथ या परमपद को इसी जीवन में सिद्ध कर लेते हैं, वे सिद्ध पुरुष कहलाते हैं। ऐसे सिद्धों से अवतरित, स्वानुभूति पर बल देने वाला मार्ग सिद्ध-मार्ग या सिद्ध-मत है। शैव नाथ सिद्धों और बौद्ध सहजयानी सिद्धों में कई बातों में मौलिक अन्तर है। नाथ सिद्धों का मुख्य धर्म योग के अंगों का अभ्यास निरन्तर करते रहना है। योग-साधना के द्वारा वे जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य अथवा अभेद को सिद्ध करते हैं।[४] अत: यह योग-मत या योग-मार्ग भी कहलाता है। जो प्रकृति के सब प्रकार के विकारों को जलाकर नष्ट कर देते हैं, वे अवधूत हैं।[५] उनका मार्ग अवधूत-मार्ग या अवधूत-मत नाम से जाना जाता है।

जिसका अथ अर्थात् आरम्भ नहीं वह आदि अन्तहीन परम तत्त्व ही नाथ शब्द से सूचित किया जाता है। इस शब्द का व्यवहार सम्प्रदाय में मुख्यत: दो अर्थों में किया गया है। विश्व के परम कारण जिसे ब्रह्म, शिव, परमपद, अनाम, अव्यक्त आदि शब्दों से सूचित किया जाता है, वही नाथ है। दूसरा, सम्प्रदाय के आचार्य-पुरुष या गुरु नाथ कहलाते हैं। इस अर्थ में नाथ गुरु का वाचक है। वस्तुत: इस सम्प्रदाय में गुरु और शिव में अन्तर नहीं माना जाता है।[६]

नाथ-सिद्ध का परम-लक्ष्य नाथ में अवस्थान की प्राप्ति है। नाथ वह अनिर्वचनीय परम तत्त्व है जो केवल अनुभवगम्य है। उसे दर्शन की भाषा में न द्वैत कहा जा सकता न अद्वैत ही। वह दोनों से परे द्वैताद्वैत विलक्षण अथवा लक्ष्यालक्ष्य विलक्षण है। वह अण्ड-पिण्ड सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु वह अलभ्य कदापि नहीं। अविरत-यत्न एवं गुरु-कृपा से उसकी उपलब्धि इसी जन्म और इसी देह में सम्भव है। अत: देह या काय को सिद्ध कर लेना जिससे साधक जरा-मरण से मुक्त हो जाए, परम आवश्यक है। कहा गया है कि बिन्दु ही रक्षित अवस्था में मोक्ष-दाता है और अरक्षित स्थिति में मरण-दाता है। यह बिन्दु स्वर्ग-दाता है और धर्माधर्म का विधायक है। उसके मध्य सूक्ष्म रूप से समस्त देवता वास करते हैं। बिन्दु ही बुद्ध, शिव, विष्णु एवं प्रजापति है। वह सर्वगत देव है, तीनों लोकों को प्रतिबिम्बित करने वाला दर्पण भी वही है।[७]

बिन्दु की रक्षा के लिए चित्त को नियन्त्रित करना आवश्यक है। निर्दोष चित्त या मन ही मनुष्य के बन्धन या मोक्ष का कारण है।[८] चित्त के चंचल होने पर संसार का भान होता है और निश्चल होने पर मोक्ष का उदय होता है। अत: परम उदासीन होकर चित्त को स्थिर करना चाहिए।[९]

चित्त की स्थिरता षडंग या अष्टांग योग के अनवरत अभ्यास से सुलभ होता है। इसीलिए नाथ सम्प्रदाय में अष्टांग योग, चित्तशुद्धि, बिन्दु-रक्षण आदि पर बल दिया जाता है, जिससे जीवात्मा का ऐक्य सिद्ध हो जाता है और इस तरह के स्वस्वरूप ज्ञान के उदय के साथ ही सुख-दुख रूपी सांसारिकता का

जाल सदा के लिए कट जाता है।

इस परम कल्याणकारी साधना-मार्ग का आरम्भ कब हुआ, सो तो निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता, परन्तु यह तो सर्वविदित है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ दोनों ने इस योग-मार्ग का पोषण और विकास किया। अत: नवीं शती से इसका ज्ञात इतिहास परिलक्षित होता है। तो भी इस मत के उद्‌भव के पीछे एक समृद्ध योग-परम्परा अति प्राचीन काल से अपने विविध रूपों में विकसित होती हुई चली आ रही है। नाथ सम्प्रदाय उसी पूर्व-परम्परा का एक सुविकसित एवं सुगठित रूप है जिसने मध्य-कालीन जीवन एवं साहित्य को बहुत प्रभावित किया। इसने पूर्व के वैदिक, अवैदिक, आगमिक, तान्त्रिक आदि सभी स्रोतों से आवश्यक व उपयोगी उपकरणों को जुटा लिया और उन्हें युगानुकूल ढाँचे में ढालकर समाज के सम्मुख उपस्थित हुआ। इस सन्दर्भ में, वैदिक युग से लेकर मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ के समय तक योग-परम्परा की समीक्षा कर लेना समीचीन होगा।

कुछ वर्ष पूर्व सिन्धु और रावी नदियों के तट पर स्थित मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाइयाँ हुईं, उनसे एक नयी सभ्यता एवं संस्कृति का परिचय मिला है, जिसका समय ई.पू. ३५०० से २००० तक का बताया जाता है। कुछ विद्वान् उस सिन्धु घाटी सभ्यता को आर्य सभ्यता का ही एक रूप मानते हैं जबकि कुछ विद्वान् उसे द्रविड़ सभ्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। पर वास्तविकता यह है कि जब तक वहाँ से प्राप्त मुद्राओं और अन्य सामग्रियों की सही पहचान नहीं हो पाती तब तक उसका निर्णय करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

जो हो, ये खुदाइयाँ भारत के धार्मिक इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जॉन मार्शल ने ठीक कहा है कि सिन्धु घाटी का धर्म ऐसी विशेषताओं को लिए हुए है कि उसमें और वर्तमान हिन्दू धर्म में तात्त्विक दृष्टि से कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं दीख पड़ता।[१०] दूसरे शब्दों में, वर्तमान सामासिक हिन्दू धर्म के बहुत से तत्त्व सिन्धु घाटी सभ्यता की देन हैं।

वहाँ से प्राप्त मुद्राओं और मृण्मूर्तियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहाँ शिव, देवी, के साथ पशु-पक्षी, जानवर, जल की अनेक प्राकृत-अप्राकृत वस्तुओं का पूजन और आराधन होता था। पशुपति शिव की उपासना भी उस सभ्यता की एक विशिष्ट अंग है। एक ताम्रपट्ट पर अंकित शिव की एक और आकृति वहीं से मिली है, जो योगासन साधे हुए दीखती है। शिव-पशुपति के दोनों ओर घुटनों के बल बैठे हुए दो भक्त हैं।[११] इसी तरह एक चतुर्भुज देवता की मुद्रा भी मिली है जिसे विद्वानों ने ऋग्वेदीय रुद्र कहा है।[१२] पत्थर पर अंकित एक और विग्रह है। यह पुरुषाकृति दाढ़ीयुक्त तथा शरीर पर चादर ओढ़े हुए दीखती है। उसके नयन अर्द्ध उन्मीलित हैं और नेत्रों की दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थित है। यह वस्तुत: योग-मुद्रा धारण किये हुए किसी योगी की ही मूर्ति है।[१३] ऐसी योग-मुद्राओं में मूर्तियों की प्राप्ति सिद्ध करती है कि उस काल में शिव-पशुपति योगियों के आराध्य माने जाते थे और ऐसे उपासक योगीजन समांज में थे परन्तु उस काल की योग-साधना का स्वरूप क्या था, इसकी कोई स्पष्ट रूप-रेखा नहीं मिलती। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के निवासी जनों के धर्म सम्बन्धी चर्चा को समाप्त करने से पहले यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सिन्धु घाटी के निवासी मिट्टी की पकी मूर्तियाँ बनाने में विशेष रुचि रखते थे और ये

मूर्तियाँ कई रंग व आकार-प्रकार के थे। जिन योगासनों में ये बैठे दिखायी देती हैं, उससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उस समय भौतिक तथा मानसिक अनुशासन को दृढ़ करने के लिए योगाभ्यास का आश्रय लिया जाता था। तब तो यह माना जा सकता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता की सबसे बड़ी तथा महती देन योग-विज्ञान है।[१४]

आज यह निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो गया है कि संस्कृत के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य ऋग्वेद में संग्रहीत १०२८ ऋचाओं एवं ऋग्वेद के मूल सूक्तों का प्रणयन ई.पू. २५००-२००० के आस-पास सिन्धु प्रदेश में हुआ यद्यपि याज्ञिक दृष्टि से उसका सम्पादन-निबन्धन-उपन्यास बाद में सप्तनद प्रदेश में हुआ।[१५] यजुर्वेद और अथर्ववेद उसके बाद बने। वे तीनों वेद वेदत्रयी नाम से गौरवान्वित हुए। कई विद्वानों के विचार में अथर्ववेद ही सबसे प्राचीन वेद है, परन्तु इस धारणा के पीछे पुष्ट प्रमाण नहीं। जो भी हो, इस वेद को अन्य वेदों के साथ चतुर्थ वेद होने का गौरव बहुत बाद ही प्राप्त हो सका। सभी वेदों के मन्त्रों का संकलन प्राय: ई.पू. १५०० तक पूरा हो चुका था।

वेदों के भाषात्मक स्वरूप पर विचार करते हुए एजर्टन ने लिखा है कि बाद के मन्त्रों के प्रणेता जिन्होंने वेदों का नवीन संस्करण प्रस्तुत किया था, पुरोहित वर्ग से सम्बन्धित थे और समाज में अपने स्थान का उन्हें बड़ा गर्व था। उन्होंने जान-बूझकर एक पुरानी कृत्रिम पुरोहिती भाषा का उपयोग किया जो उनकी मातृ-भाषा से भिन्न थी।[१६] इस संस्करण और सम्पादन की प्रक्रिया में बहुत सी अनार्य सामग्रियाँ वेदों में प्रवेश कर आयीं।[१७] अत: वैदिक विचार-धारा में आर्य, शामी और आस्ट्रो-एश्यायी—ये तीन भाव-धाराएँ दर्शित होती हैं।[१८]

कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक साहित्य में आर्येतर भावों का पर्याप्त मात्रा में समावेश हो चुका था। अत: यह अनुमान करना असंगत नहीं दीखता कि आत्म-विश्रान्ति के लिए योग की जो कल्पना की गयी उसमें आर्यों का ही नहीं आर्येतर जनों का चिन्तन भी समाविष्ट है।[१९]

भाव-धारा की दृष्टि से वेदों के तीन रूप परिलक्षित होते हैं। एक श्रद्धा समन्वित होने के नाते भक्तिभाव-सम्पन्न है; दूसरा तर्क प्रधान होने के कारण ज्ञानमूलक है और तीसरा आस्था-परक है जिसका सम्बन्ध बीज रूप में तन्त्र अथवा योग से है। उनकी साधना प्रणालियाँ भी भिन्न रही हैं। कालक्रम से जो साधना कभी उपासनादि के माध्यम से पूरी की जाती थी वह कालान्तर में यज्ञादि का अनुसरण करने लगी। प्राकृतिक देवता ईश्वरीय भाव के अंग बन गये। किन्तु तीसरा रूप इनसे भिन्न साधना प्रणाली अपनाकर चलता रहा जिसमें से कुछ लोग वायु-निरोध के लिए प्राणायामादि का अभ्यास किया करते थे तो कुछ दूसरे श्रमसाध्य तपोव्रत द्वारा मृत्यु तक पर विजय प्राप्त कर लिया करते थे।[२०]

इस तरह वेद-कालीन साधना प्रणाली में दो भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। पहला, वेदों में निर्दिष्ट विधि-विधानों का अनुसरण करते हुए अन्यान्य देवों की उपासना, यज्ञ-जिज्ञासा, सिद्धिदायक योगाभ्यासपूर्वक तान्त्रिक क्रिया-कर्म। इन दोनों में आर्यों का—जो प्रधानतया पशुपालक थे—सम्बन्ध उपासना तथा यज्ञ से रहा और आर्येतर जनों का—जिनमें व्रात्य आदि सम्मिलित थे—सम्बन्ध योग और तन्त्र से था।[२१] असुर, दानव, यक्ष आदि तन्त्रज्ञ वर्ग के थे जिनके गुरु शुक्राचार्य माने जाते हैं। कहा जाता है कि जादू-टोना आदि

से भरे हुए अथर्वण के मन्त्रों के निर्माता व्रात्यजन थे।

वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन तपस्वियों का उल्लेख होता है वे इसीलिए कठोर तप करते थे कि उन्हें ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हों जिनसे वे मित्रों पर अनुग्रह कर सकें और शाप द्वारा शत्रुओं पर निग्रह कर सकें। परन्तु योगी संसार से विरत होकर आत्म-लाभ के लिए तप किया करते थे। वे योगी न तो किसी से भयभीत होते थे, न किसी में भय उत्पन्न करते थे।[२२]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में सोम का सम्बोधन करते हुए ऋषि उस देवता से अनुरोध करते हैं—"हे सोम! व्रत आदि से जिसका शरीर तपाया हुआ और परिपक्व नहीं वह तुम्हारे सर्वत्र व्याप्त शोधक अंग को नहीं ग्रहण कर सकता।"[२३] व्रत में योग के यम, नियम का पालन अवश्य होता है, ध्यान, धारणा और प्रत्याहार का थोड़ा-बहुत स्थान रहता है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में केशिन मुनि का वर्णन करनेवाला एक सूक्त है। उसका हिन्दी रूपान्तर यों है—

(अ) केशी जल और द्यावा-पृथ्वी को धारण करते हैं। केशी ही सारे संसार को प्रकाश के द्वारा दर्शनीय बनाते हैं। इस ज्योति को ही केशी कहा जाता है।

(आ) वातरशन के वंशज मुनि लोग पीले वल्कल पहनते हैं। वे देवत्व को प्राप्त होकर वायु वेग से गमन करने में समर्थ हुए हैं।

(इ) समस्त लौकिक व्यवहारों का उत्सर्जन करके हम उन्मत्त परमहंस हो गये हैं। हम वायु से भी ऊपर चढ़ गये हैं। आप लोग केवल हमारा शरीर देखते हैं। हमारी प्राकृत आत्मा तो वायु रूपी हो गया।

(ई) मुनिगण आकाश में उड़ सकते हैं और सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। जहाँ कहीं भी जितने भी देवता हैं वे सबके प्रिय बन्धु हैं। वे सत्कर्म करने मात्र के लिए जीवित हैं। वे अमृतत्व को प्राप्त कर चुके हैं।

(उ) मुनिगण वायु मार्ग पर घूमने के लिए अश्वस्वरूप हो गये हैं। वे वायु के सहचर हैं। देवता उनसे मिलने के इच्छुक हैं। वे पूर्व और पश्चिम के दोनों समुद्रों में निवास करते हैं।

(ऊ) केशी, देवताओं, अप्सराओं, गन्धर्वों और हरिणों के बीच विचरण करते हैं। वे समस्त ज्ञातव्य विषयों को जानते हैं। वे इसके उत्पादक और आनन्ददाता मित्र हैं।

(ऋ) जिस समय केशी रुद्र के साथ जल पीते हैं, तब वायु उस जल को कम्पित कर देते हैं और कठिन माध्यमिकी वाक् को भंग कर देते हैं।[२४]

ऋग्वेद के इस प्रसिद्ध सूक्त पर अपना मन्तव्य देते हुए हाउर ने लिखा है कि इस ऋक् में रुद्रशिवोपासी योगी के लक्षण मालूम होते हैं।[२५] परन्तु इससे अपनी असम्मति व्यक्त करते हुए इलियड ने कहा है कि वस्तुतः इस ऋक् में किसी भावोन्मादी व्यक्ति का चित्रण है जिसमें योगी के कुछ लक्षण दीख पड़ते हैं।[२६]

उक्त ऋक् को ध्यान से पढ़ने पर ऐसा लगता है कि इसमें किसी वायु विजयी योगी का ही यथार्थ वर्णन है। तीसरे मन्त्र से यही ज्ञात होता है कि उसमें एक जीवन-मुक्त पुरुष का वर्णन किया गया है। आगे

के तीन मन्त्रों में अष्ट सिद्धि प्राप्त योगी का वर्णन है जो अपनी इच्छा से आकाश में गमन करने का सामर्थ्य रखता है। अत: कहा जा सकता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में से कुछ ऐसे भी थे जो योग के रहस्यों से परिचित थे। ऐसे ऋषिगण यह मानते थे कि योगी का चित्त जब सांसारिक विषयों या सुखों से विरक्त हो जाता और दोषरहित हो योग-समाधि के लिए पूर्णत: योग्य बन जाता है तब वह योगी श्रद्धा, वीर्य और प्रज्ञा के साथ निरन्तर अभ्यास द्वारा मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।[२६] इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि वेद मन्त्रों के निर्माण काल में योग-मार्ग विद्यमान था।[२७] यजुस् और साम में भी योग-सम्बन्धी उल्लेख है। स्मरण रहे कि इन दोनों वेदों में संकलित मन्त्र अधिकांशत: ऋग्वेद से लिए गये हैं।

अथर्व संहिता में आकर योग का स्वरूप और भी स्पष्ट दिखाई देता है। उक्त वेद में जिस एक व्रात्य का वर्णन है उसे जैमिनीय उपनिषद् ने व्रात्यों का मूल देवता कहा है। एक व्रात्य से ही योग-मूर्ति शिव की कल्पना की गयी मालूम होता है।[२८] व्रात्य खण्ड में वर्णित धार्मिक क्रियाओं में योग का प्रधान स्थान था।[२९] हाउर तो यहाँ तक दावा करते हैं कि व्रात्यों में ही योग मार्ग का उदय हुआ था।

अथर्ववेद में एक स्थल में प्राण के महत्त्व की बड़ी भव्य व्याख्या मिलती है।[३०] उस सूक्त का प्रणेता ऋषि घोषणा करते हैं—"जिस प्राण के वश में यह समस्त सचराचर जगत् रहता है मैं उस प्राण को नमस्कार करता हूँ।" इससे प्राण के सकल-जगत्-नियन्तृत्व सूचित किया जाता है।

एक और स्थान में उल्लेख है कि "परगमन जिसका स्वभाव अर्थात् जो देह के बाहर अवस्थित है, उस प्राण को मैं नमस्कार करता हूँ।" प्राण विराट् है, वह स्थूल पंचाभिमानी ईश्वर है, वह सबको अपने-अपने व्यापार में प्रेरित करने वाला परदेवता है। प्राण में यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है। जो इस प्राण के महत्त्व को जानता है और जिसमें यह प्राण प्रतिष्ठित है उसे स्वर्ग में सब उत्तम वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं।[३१] व्रात्य और प्राण के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अथर्व वेद प्राण, अपान, व्यान के साथ अन्य सप्त श्वासों के सम्पर्क से दस प्राणों की गणना करता है। ये विशेष नाड़ियों में प्रवहमान रहते हैं और इनके सम्मिलित रूप से सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। इस प्रकार, इस वेद में पूर्ण विकसित योग-प्रणाली का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है जिसका प्रधान आधार प्राण और अपान वायु है। प्राणायाम का मुख्य ध्येय प्राण और अपान को वश में लांना है।[३२]

इसी तरह अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य, व्रत और तप की महिमा एवं आवश्यकता की चर्चा कई स्थलों में पायी जाती है।[३३] सबसे बढ़कर रोचक बात यह है कि स्कम्भ की स्तुति करते हुए ऋषि कहते हैं कि जो मानव में स्कम्भ को प्रतिष्ठित जानता है वही सर्वश्रेष्ठ है।[३४] उक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि अथर्व संहिता में योग का अधिक सुस्पष्ट विवेचन मिलता है।

वेद के दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। मन्त्रों का संग्रह ही संहिता है। ब्राह्मण के अन्तर्गत विभिन्न ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् गिने जाते हैं। विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में तप का उल्लेख अनेक स्थलों में किया गया मिलता है। तपस्या के आध्यात्मिक मूल्य का महत्त्व परवर्ती योग सूत्र में स्वीकृत हुआ है।[३५] शांख्यायन ब्राह्मण में रुद्र की विशेष महिमा का वर्णन है। वह देवों में ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ माना गया है।

शिव के भव, शिव, पशुपति, उग्र, महादेव, रुद्र, ईशान तथा अशनि नाम देकर इन नामों की उत्पत्ति विचित्र रूप से बतायी गयी है तथा उनके विशिष्ट व्रत का भी यहाँ निर्देश किया गया है।[३६] योग के अधिदेवता शिव के इस वर्णन से प्रतीत होता है कि उक्त ब्राह्मण को योग का परिचय है। यद्यपि ब्राह्मणों का विषय-विवेचन यज्ञ-यागादि कर्म-काण्ड की क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है तो भी उनमें इस बात का संकेत मिलता है कि भौतिक योग एक प्रतीकात्मक व्यापार है और इसका पर्यवसान अन्तर्याग में होता है।

आरण्यक तथा उपनिषद् ब्राह्मणों के परिशिष्ट ग्रन्थ के समान हैं जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थों के सामान्य प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषयों का प्रतिपादन स्वतन्त्र दृष्टिगोचर होता है। आरण्यकों में यज्ञ-यागों के आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा एवं दार्शनिक विचारों के विश्लेषण करने के साथ-ही-साथ प्राण-विद्या की भी महत्ता का विशेष प्रतिपादन उपलब्ध होता है।[३७] प्राण की ही शक्ति के जैसे यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, वैसे ही सबसे बड़े प्राणी से लेकर छोटी-सी चींटी कीड़े तक समस्त जीव इस प्राण द्वारा ही विधृत हैं। यदि प्राण नहीं होता तो इस विश्व का जो यह मान-संस्थान हमारे नेत्रों के सामने सतत आश्चर्य पैदा किया करता है वह कहीं भी नहीं रहता। सर्वत्र व्याप्त प्राण ही विश्व का धारक एवं रक्षक है। वही आयु का कारण है।[३८] इस प्रकार प्राण की महिमा का वर्णन करते हुए ऐतरेय आरण्यक के रचयिता ने ध्यान करने के लिए घ्राण के भिन्न-भिन्न गुणों का उल्लेख विस्तृत रूप से किया है।[३९] आरण्यककार का कथन है कि जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राण को ही इन विविध रूपों में व्यक्त हुआ समझना चाहिए तथा उसकी उपासना करनी चाहिए।

आरण्यकों में व्यक्त प्राण सम्बन्धी उपर्युक्त विचार गोरक्षनाथ के समकालीन सिद्ध तथा शिष्य विरुपाक्ष द्वारा विरचित अमृत-सिद्धि-योग के निम्नलिखित श्लोक में प्रतिध्वनित होता-सा दीखता है।

जगताम् प्राणभूताय ज्ञानरूपाय देहिनाम्।
तत्त्वानाम् सारभूताय नमो नाथाय वायवे॥[४०]

उपनिषदों में पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद, नाड़ी-विज्ञान, प्राण-विद्या, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदि योग-मार्ग के तथ्यों का निरूपण अनेक स्थलों में किया गया है। उसमें आधिदैविक का अर्थ सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म का अर्थ पुरुष-शरीर अर्थात् पिण्ड से है। आधिदैविक और अध्यात्म, ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड इन दोनों में एक ही नियम काम कर रहा है—इस बात को उपनिषदों में स्थान-स्थान पर दुहराया गया है। अध्यात्म शब्द का अर्थ उपनिषदों में आत्मा सम्बन्धी नहीं, परन्तु आत्मा जिस शरीर में अधिष्ठित है उस शरीर से-पिण्ड से है। आधिदैविक (ब्रह्माण्ड) का वर्णन करते-करते अध्यात्म (ब्रह्माण्ड) का वर्णन करना उपनिषदों की अपनी विशेष शैली है।[४१]

योग शब्द का पारिभाषिक अर्थ प्रथम बार कठोपनिषद् और तैत्तिरीय में किया गया देखा जाता है।[४२] कठोपनिषद् के एक मन्त्र में अध्यात्म योग शब्द का प्रयोग हुआ है। उस मन्त्र के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि उस पुरातन देव की प्राप्ति का द्वार जानकर धीर पुरुष अपने उत्कर्ष-अपकर्ष का अभाव हो जाने के फलस्वरूप हर्ष-शोक परित्याग कर देता है। उस सन्दर्भ में उन्होंने बताया है कि चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में लीन कर देना अध्यात्म योग नाम से जाना जाता है।[४३]

प्राणायाम की विशिष्टता को बताते समय उपनिषद्‌कार का कथन है कि वह एकाग्रता का सबसे बड़ा साधन है। प्राणायाम से ही इन्द्रियों को मन के साथ और मन को आत्मा के साथ नियोजित किया जा सकता है। बिना प्राणायाम किये चंचल इन्द्रियाँ दुष्ट घोड़ों की भाँति इधर-उधर भागने लगती हैं। प्राणायाम करते समय कोई भी व्यक्ति दुश्चिन्तन में नहीं पड़ता।[४४]

जिस प्रबल मन्त्र की महिमा का वर्णन गोरक्षनाथ ने यह कहकर किया है कि ॐकार सारे संसार में व्याप्त रहता है, वही एकमात्र उपास्य देवता है।[४५] उसका परिचय उपनिषदों के महान् रचयिताओं ने इन शब्दों में दिया है—यह 'ए' एक अक्षर है परन्तु यही ब्रह्म है, सबसे परे है, इस एकाक्षर को जो जानता है वह जिस किसी वस्तु की कामना करता है उसे निश्चय ही प्राप्त कर लेता है।[४६]

इस उपनिषद् में एक अन्य स्थान में एक सौ नाड़ियों में से सुषुम्ना के भेदन से अमृतत्व की प्राप्ति का विवरण मिलता है।[४७] इस पर विचार करते हुए इलियड ने लिखा है कि कठ की यह उक्ति योग के विकास की दृष्टि से बहुत ही महत्त्व रखती है। कारण यह है कि योगोपनिषद् और तन्त्र साहित्य में जिस रहस्यात्मक शरीर विज्ञान का विवरण मिलता है उसका मूल रूप यहाँ पाया जाता है।[४८] यहाँ एक और बात का पता चलता है कि योग आत्म-ज्ञान तथा अमृतत्व-प्राप्ति का महान् साधन है।[४९]

प्रश्नोपनिषद् में भी प्राण की सर्वात्मकता एवं सर्वव्यापकता का विवरण दिया गया है। ऋषि का कथन है कि प्राण के विषय में यह जानता है कि उत्पत्ति कहाँ से होती है, इसके भिन्न-भिन्न उत्पत्ति स्थान कौन-कौन से हैं। यह किस प्रकार संसार में सब जगह स्थित रहा है, यह शरीर में तथा बाह्य जगत् में अर्थात् पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड से किस तरह तादात्म्य स्थापित किये हुए है—वह अमृत को पा लेता है।[५०] इसी तरह प्रणव जप के माहात्म्य पर प्रकाश डालते हुए पिप्पलाद ऋषि ने कहा है कि ॐकार की उपासना से उपासक शान्त, अजर, अमृत, अभय परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[५१]

छान्दोग्योपनिषद् बताता है कि अब इस ब्रह्मपुर के भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकर स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है और भीतर जो वस्तु है उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए। जितना यह (भौतिक) आकाश है उतना ही हृदय-आकाश है। द्युलोक और पृथ्वी—ये दोनों लोक सम्यक् प्रकार से भीतर ही स्थित हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु—ये दोनों, सूर्य और चन्द्रमा—ये दोनों तथा विद्युत और नक्षत्र एवं इस आत्मा का जो इस लोक में हैं और जो नहीं हैं, वह सब सम्यक् प्रकार से स्थित हैं।[५२]

स्पष्ट है कि यह उपनिषद् आत्म-तत्त्व की खोज मानव-शरीर को करने का आदेश देता है। यही नहीं ऋग्वेद के पिण्डान्वेषण व वाजसंनेयी के अण्डान्वेषण का एक प्रकार से समरसीकरण बतलाता है कि जो पिण्ड में है वह अण्ड में है और जो अण्ड में हैं वे सब पिण्ड में हैं। इस तरह अण्ड-पिण्ड का एकीकरण उक्त उपनिषद् की विशेषता है और यह योग-मत के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य है।[५३] 'मच्छन्दिनी नाथ मतम्' तथा 'अमृत सिद्धि योग' में इस विचार-धारा का विकसित रूप मिलता है।

आगे, नाड़ियों का उल्लेख करते हुए छान्दोग्य कहता है—'हृदय में एक सौ नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक मस्तक की ओर निकल गयी है। उसके द्वारा ऊपर की ओर जानेवाला जीव अमरत्व को प्राप्त करता

है। शेष इधर-उधर जानेवाली नाड़ियाँ केवल उत्क्रमण का कारण होती हैं।[५४] वृहदारण्यक, मुण्डक, तैत्तिरीय आदि भी इन नाड़ियों का यथास्थान उल्लेख करते हैं।[५५] तैत्तिरीय (१-६-१) पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि हृदय देश से ऊपर की ओर जानेवाली सुषुम्ना नाम की नाड़ी योग शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वह दोनों तालुओं के बीच में होकर जाती है।[५६] वाचस्पति मिश्र इसी को ब्रह्मनाड़ी संज्ञा देते हैं।[५७]

शैव योग के प्रतिपादक के रूप में श्वेताश्वतर का स्थान प्राचीन उपनिषदों में सर्वोपरि है। श्वेताश्वतर ऋषि के अनुसार ब्रह्मवेत्ताओं ने ध्यान-योग के अनुशीलन के द्वारा परम मूल कारण को स्वयं ही अनुभव कर लिया था। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में लिखा है कि ध्येय वस्तु के ग्रहण का उपाय ही योग है।[५८] ध्येय वस्तु परम पुरुष के ध्यान की विधि को बताते हुए ऋषि कहते हैं—"अपनी देह को अरणि और प्रणव को उत्तरारणि बनाकर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से स्वप्रकाश परमात्मा को छिपे हुए अग्नि के समान देखें।"[५९] आगे ध्यान योग की विधि तथा उसका महत्त्व यों बताया गया है—'सिर, ग्रीवा और वक्षस्थल इन तीनों को ऊँचा रखते हुए शरीर को सीधा रख मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट कर विद्वान् ॐकार रूप नौका के द्वारा सम्पूर्ण भयानक प्रवाहों को पार कर जाता है।'[६०] फिर प्राणायाम का क्रम तथा महत्त्व का विवरण प्रस्तुत करते हुए ऋषि कहते हैं कि साधक को चाहिए कि युक्त आहार-विहार हो प्राणों का निरोध कर जब प्राण शक्तिहीन हो जाए तब नासिकारन्ध्र के द्वारा उसे बाहर निकाल दें। फिर वह विद्वान् पुरुष अश्व से युक्त रथ के सारथी के समान सावधान होकर मन का नियन्त्रण करे।[६१] ऐसे प्राणजयी योगी को न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न उसकी असामयिक मृत्यु ही होती है। वह योगी आत्म-भाव से ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार करता है और सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[६२] उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्टत: ज्ञात होता है कि उपनिषद् में योगांगों में से आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान आदि का महत्त्व समझाया गया है।

योग के विकास-क्रम में अगला सोपान मैत्री उपनिषद् में दृष्टिगोचर होता है। इसकी रचना ई.पू. २०० और ई. सन् २०० के बीच में हुई थी।[६३] इसमें योग के आठ अंगों में से प्रथम तीन यानी यम, नियम और आसन का विवरण नहीं दिया गया है। शेष पाँच के साथ 'तर्क' को मिलाकर षडंग योग अर्थात् प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि की व्याख्या की गयी है। 'प्राणायाम, प्रत्याहारो, ध्यानम्, धारणा, तर्क, समाधि षडंग इत्युच्यते योग:।' इसमें कहा गया है कि षडंग योग के अभ्यास से योगी का स्वर्ण-वर्ण पुरुष जगदुत्पन्न कारण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। उस ब्रह्मविद् में दोष वैसे ही आश्रय नहीं पाते जैसे ज्वलित पर्वत पर पक्षी और मृग आश्रय नहीं ढूँढ़ते।[६४] इसमें खेचरी मुद्रा का परिचय भी दिया गया है। अन्त में साधकों को प्रणवजप करने का उपदेश दिया गया है जो चित्त की एकाग्रता के लिए उपयोगी एवं लाभप्रद है। इसमें यह भी आदेश है कि योग को गुरु-शिष्य परम्परा क्रम से जानना चाहिए।

मैत्री उपनिषद् के रचना काल में एक और उपनिषद् रचा गया जिसका नाम है चूलिकोपनिषद्। इसमें रसेश्वर योग का विवेचन है।[६५] लगभग इसी काल में संन्यास और योगोपनिषद् का निर्माण हुआ। संन्यास उपनिषदों में ब्रह्म, संन्यास, कठ, श्रुति, जाबाल, परमहंस आदि प्रमुख हैं। जाबाल और दर्शन में जीवन-मुक्ति प्रदान करने वाले आठ अंगों सहित योग-दर्शन का उपदेश है। उसमें दस यमों और दस

नियमों का विस्तृत वर्णन है। नौ प्रकार के आसनों, चौदह प्रधान नाड़ियों, दस वायुओं, प्रत्याहार के विविध भेदों, दो प्रकार के धारणा, ध्यान और समाधि आदि का विशद् परिचय देकर उपनिषदकार योग का परम लक्ष्य यों बताते हैं—'जब ज्ञानी महात्मा सब भूतों को अपने में और अपने को ही सब भूतों में प्रतिष्ठित देखता है तब वह साक्षात् ब्रह्म हो जाता है।'[६६]

परमहंस नामक उपनिषद् में प्रात:-सायं से बढ़कर जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य का ज्ञान श्रेष्ठ माना गया।[६७] वामाचार की कड़ी निन्दा करते हुए परमहंस बताता है कि जो ज्ञानहीन होकर चंचल इन्द्रियों के अधीन होते हैं वे महारौरव नामक नरक विशेष में जा गिरते हैं। सभी उपनिषदों में वैराग्य की अनिवार्यता पर जोर दिया गया है। कुछ उपनिषदों में पुरुष के विश्राम स्थान का विवरण है। जैसे ब्रह्म में कहा गया है कि पुरुष गुदा, हृदय, कण्ठ और सिर में रहता है। यह हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों में नाड़ी ग्रन्थियों के बारे में दिये विवरणों से भिन्न नहीं।

'योगोपनिषद्' नाम से अडयार(मद्रास) से महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित बीस उपनिषदों का एक संकलन ब्रह्मानन्द योगी (अठारहवीं शती) के टिप्पण के साथ कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ। उक्त संकलन के उपनिषदों के नाम हैं—अद्वय तारक, अमृतनाद, अमृत बिन्दु, क्षुरिक, तेजोबिन्दु, त्रिशिख ब्राह्मण, दर्शन ध्यान-बिन्दु, नाद-बिन्दु, पाषुपत ब्रह्म, ब्रह्मविद्या, मण्डल ब्राह्मण, महावाक्य, योग-कुण्डली, योग चूड़ामणि, योगतत्त्व, योगशिखा, वराह, शाण्डिल्य, और हंस। एक और योग ग्रन्थ राजोपनिषद् है जो अब तक अप्रकाशित है। ऊपर उल्लिखित उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहना कठिन है। इलियड के मतानुसार कुछ जैसे क्षुरिक, तेजोबिन्दु, नाद-बिन्दु, योगतत्त्व, ध्यान-बिन्दु, अमृत-बिन्दु, योगशिखा आदि महाभारत के अन्तिम संकलन काल अर्थात् ई.सन् २०० और ४०० के बीच में रचे गये और अन्य सब उसके बाद के काल में। परन्तु, इस मान्यता के पीछे कोई युक्तियुक्त तर्क उपस्थित नहीं किया गया है। फिर भी यह मानने में कोई आक्षेप नहीं हो सकता कि इन सबकी रचना ई. सन् आठवीं शती के पूर्व हो गयी थी। इन उपनिषदों का विवरण संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है।

अद्वय तारक—गद्य में निबद्ध इस छोटे से उपनिषद् में अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य एवं मध्य-लक्ष्य—इन विलक्ष्यों के लक्षण तथा उनके अभ्यास से उत्पन्न हो सकने वाले लाभों का वर्णन करके रचयिता ने तारक योग, उसके प्रकार और उससे प्राप्त सम्भव सिद्धियों का विवरण दिया है। शाम्भवी मुद्रा का परिचय संक्षेप में दिया गया है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरक्षनाथ ने उसी को योगी कहा है जो नवचक्र, षडाधार, त्रिलक्ष्य और व्योम पंचक को जानता है। 'पद्धति' में वर्णित विलक्ष्य तथा इस उपनिषद् में विवेचित विलक्ष्य समान हैं। अत: कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ ने विलक्ष्य के तत्त्वों को इससे लिया है।

अमृत नाद—अड़तीस श्लोकों के इस लघु आकारवाले उपनिषद् में षडंग योग का वर्णन है जो मैत्री में वर्णित षडंग योग से भिन्न नहीं है। कहा गया है—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामश्च धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगो योग उच्यते॥[६८]

इसके अनुसार तर्क का अर्थ है 'आगम से अविरद्ध ऊहन'।[६९] इससे पता चलता है कि इस

उपनिषद् के रचना काल तक आगम साहित्य और योग में सामंजस्य बैठा दिया गया था। एक और धारणा दृढ़ हो गयी थी कि योगाभ्यासी के लिए यम, नियम और आसन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिन मानसिक एवं कायिक दोषों को दूर करने के लिए इनकी जरूरत है, वे प्रणव या गायत्री के जप से ही दूर हो जाते हैं। इसलिए तान्त्रिक दृष्टिकोण को अपनानेवालों ने अष्टांग योग के स्थान पर षडंग को पर्याप्त समझा है।

ध्यान बिन्दु—यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है जिसमें केवल २२ श्लोक हैं। बन्धन और मोक्ष का मूल कारण मन ही है, यह बताकर लेखक ने योगाभ्यास के माध्यम से मन के निरोध को मोक्षप्राय सिद्ध किया है।

क्षुरिक—चौबीस श्लोकों वाले इस उपनिषद् में यम, नियम को छोड़कर अन्य योगांगों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसके अनुसार समाधि का फल यह है कि योगी योगाभ्यास रूपी तीक्ष्ण खड्ग से सांसारिक पाशों का छेदन करता है और समस्त पाप समूह को जलाकर लय को प्राप्त होता है।[७०]

तेजोबिन्दु—यह आकार में बड़ा है और छः अध्यायों में विभक्त है। पंचदशांग योग का विवरण इसकी विशेषता है। यम, नियम, त्याग, मौन, देशकाल, आसन, मूल बन्ध, देह साम्य, दृक्स्थिति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, आत्म-ध्यान, समाधि—ये ही पन्द्रह योगांग हैं। इनके लक्षण भी अन्य योग ग्रन्थों में दिये गये लक्षणों से विलक्षण हैं। उदाहरण के लिए यम का लक्षण यों बताया गया है—इस ज्ञान से कि यह सब ब्रह्म है, इन्द्रियों का संयम करना यम कहलाता है। इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए।[७१] इस उपनिषद् का झुकाव वेदान्त की ओर अधिक दीखता है।

त्रिशिखि ब्राह्मण—सतातन मुनि ने भगवान् आदित्य से इस उपनिषद् का उपदेश पाया था। इसके अनुसार यह समस्त विश्व शिव ही है जो नित्य, शुद्ध, निरञ्जन, विभु और अद्वयानन्द है। यह अपने तेज से इस विश्व की सृष्टि करता है और ऐक्य पाकर भी भिन्नवत् भासमान है। सृष्टि क्रम के विषद् वर्णन करने के बाद मुनि निर्विशेष ब्रह्मज्ञान के उपाय के रूप में अष्टांग योग की व्याख्या करते हैं। हठयोग रीति से आसन, दसविध यम-नियम, नाड़ी-शुद्धिपूर्वक प्राणायाम विधि, कुण्डलिनी का परिचय, धारणा, अठारह मर्मस्थान, देह के अवयवों में पंचभूत धारण का विवरण, खेचरी मुद्रा से प्राप्त योगफल इत्यादि का विवरण बताकर अन्त में कहते हैं कि योग के अभ्यास से साधक निर्वाण पद का आश्रय पाकर कैवल्य को उपलब्ध करता है। इस तरह देखा जा सकता है कि नाथ-मत के सिद्धान्त तथा व्यवहार पक्ष का निरूपण इस उपनिषद् में मिलता है।

दर्शन—इसमें अष्टांग योग के विभिन्न अंगों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने के बाद बताया गया है कि सब तीर्थ मानव देह में स्थित हैं। कहा गया है कि सिर में श्री पर्वत, ललाट में केदार, भ्रुव और नासिका के मध्य वाराणसी, कुच स्थान में कुरुक्षेत्र, हृदय सरोवर में प्रयाग, हृदय मध्य में चिदम्बरम और मूलाधार में कमलालय नामक पुण्यमय सरोवर है। जो इस आत्म-तीर्थ का परित्याग करके बाहर के तीर्थों में भटकता रहता है वह हाथ में रखे हुए बहुमूल्य रत्न को त्याग कर काँच को खोजता फिरता है।[७२] ऊपर उल्लिखित चिदम्बरम और तिरुआरूर (जहाँ के मन्दिर में कमलालय नामक सरोवर है) तमिलनाडु के

प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान ही नहीं योग-स्थान भी हैं। इस ग्रन्थ में प्रतिमा की कल्पना एवं पूजा के सम्बन्ध में बड़ी रोचक बात यह है कि योगी आत्मा में ही शिव के दर्शन करता है न कि प्रतिमा में। प्रतिमा की कल्पना केवल अज्ञानी के भावनार्थ होती है।[७३]

ध्यान-बिन्दु—योगोपनिषदों में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसमें योग सम्बन्धी प्रक्रियाओं और रहस्यात्मक अनुभूतियों की जो अभिव्यक्ति देखी जाती है वह बहुत ही अनुपम है।[७४] इस ग्रन्थ का आरम्भ ही कुछ विचित्र ढंग से होता है। इसका कथन है कि जितना भी बड़ा पाप कोई क्यों न करे, वह सारा-का-सारा ध्यान योग से विनष्ट हो जाता है।[७५] यह सचमुच अतिवादी तान्त्रिक दृष्टिकोण का परिचायक है। इसके लेखक का आदेश है कि साधक प्रणव को ब्रह्म मानकर सदा-सर्वदा उसी का जप करे। हृत्पद्म कर्णिका के मध्य अंगुष्ठ मात्र ईश्वर को ॐकार के रूप में ध्यान करते ही समस्त सिद्धियाँ मिल जाती हैं। ब्रह्म में लय प्राप्त करने का मार्ग नादानुसन्धान है।

इस उपनिषद् के अनेक श्लोक अक्षरश: अमनस्क, हठयोग प्रदीपिका आदि नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में पाये जाते हैं। यही नहीं, गोरक्षपद्धति नाम से जिस पुस्तक का सम्पादन हिन्दी अनुवाद सहित महीधर शर्मा ने किया था और जिसके प्रथम शतक को गोरक्षनाथ की प्रामाणिक रचना मानकर ब्रिग्स ने उसका अंग्रेजी अनुवाद अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में प्रस्तुत किया और जिसके आधार पर गोरक्षनाथ के विचारों का विश्लेषण एवं विवेचन किया, उसमें पचास से अधिक श्लोक इस उपनिषद् में प्राप्त होते हैं। ये श्लोक गोरक्ष कथित समझी जानेवाली योग-मार्तंड, योग-चूड़ामणि और भोगेश्वर योगी कृत योगरत्न-प्रदीपिका, योग-शास्त्र आदि में भी उद्धृत हैं। इन सबको देखने पर एक प्रश्न उठता है कि क्या गोरक्षनाथ के नाम पर प्रचलित नाथ-पन्थी संस्कृत ग्रन्थ ध्यान-बिन्दु आदि उपनिषदों से संकलित संकलन मात्र हैं अथवा इन उपनिषदों की रचना गोरक्षनाथ के परवर्तीकाल में हुई।

नाद-बिन्दु—योगोपनिषदों में इसका काफी महत्त्व है। इसमें प्रणवोपासन तथा नादानुसन्धान का बहुत ही सुन्दर स्वरूप अंकित किया गया है। सुपर्ण पक्षी के रूपक द्वारा ॐकार का गौरवपूर्ण वर्णन करते हुए लेखक ने कहा है कि 'अ' कार दक्षिण पक्ष है, 'उ' कार उत्तर पक्ष है, 'म' कार पुच्छ है और अर्ध मात्रा मस्तक है। निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म और उसके ध्यान का वर्णन करने के बाद लेखक बताते हैं कि ब्रह्मभाव में लीन होने में परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसके अनुसार ब्रह्मस्वरूप प्रणवनाद में सबका लय होता है। ऐसी विलय स्थिति को प्राप्त योगी सभी अवस्थाओं एवं चिन्ताओं से छूटकर मुक्त हो जाता है। ध्यान देने की बात है कि इस उपनिषद् के श्लोक अमनस्क योग और हठ योग प्रदीपिका में भी पाये जाते हैं।

पाशुपत ब्रह्म—यह पूर्व और उत्तर नाम से दो खण्डों में विभाजित है। इसमें ज्ञान योग का प्रतिपादन है। हंस के रूप में परमात्मा की भावना, अन्तर्याग, ज्ञान-यज्ञ और अश्वमेध आदि का भी विवरण इसमें मिलता है।

ब्रह्मविद्या—आधुनिक युग के एक विद्वान् के मत के अनुसार यह उपनिषद् महाभारतकालीन रचना है।[७६] प्रणव की चारों मात्राओं का वर्णन, सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की क्रिया का विवरण हंसविद्या का निरूपण इसकी खास विशेषताएँ हैं। चोदक, बोधक, मोक्षक नामक तीन प्रकार के आचार्यों का विवरण

इसमें दिया गया है।

मण्डल ब्राह्मण—ज्ञान सहित यम-नियम आदि अष्टांग योग का निरूपण इस उपनिषद् का प्रधान विषय है। इसमें चार प्रकार के यम, नौ तरह के नियम, आसन, पूरक, कुम्भक, रेचक प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की व्याख्या निराले ढंग से की गयी है। नवचक्र, षडाधार, विलक्ष्य और व्योम पंचक सम्बन्धी ज्ञान योगी बनने के लिए अनिवार्य बताया गया है। जिस श्लोक में इनका वर्णन सिद्धसिद्धान्तपद्धति में किया गया है वह इसमें भी है।[७७]

नाथ सम्प्रदाय के धर्म एवं दर्शन का विवेचन करने वाले ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तपद्धति के कई श्लोकों के भाव एवं उनकी व्याख्या इसमें पाये जाते हैं। तारक तथा अमनस्क योग के लक्षण इसमें विस्तार से दिये गये हैं। अमनस्क सिद्धि के सन्दर्भ में लेखक का कथन है कि चिर समाधि से उत्पन्न ब्रह्मामृत का पान करके संन्यासी योगी परमहंस अवधूत बन जाता है।[७८] ऐसे अवधूत के दर्शन मात्र से सारा जगत् पावन हो जाता है। उसकी सेवा करनेवाला मूढ़ भी मुक्त हो जाता है। उसके कुल की एक सौ पीढ़ियाँ संसार रूपी सागर को पार करने में समर्थ हो जाती हैं। उस साधु के माता-पिता, पत्नी और सन्तान सब-के-सब सांसारिक बन्धनों से छूट जाते हैं।[७९]

महावाक्य—यह एक छोटा-सा उपनिषद् है। इसमें हंसविद्या द्वारा परमात्मा के आविर्भाव की बात कही गयी है। कान्डान्तर में जो ज्योति-मण्डल स्वरूप आदित्य है वही विद्या है, अन्य कोई विद्या विद्या नहीं। यही आदित्य ब्रह्म है। उसका निर्देश 'हंसः सोहम्' इस अजपा मन्त्र से होता है। प्राण तथा अपान के अनुलोम-प्रतिलोम गति से वह विद्या पहचानी जा सकती है। इस विद्या के अभ्यास से साधक सच्चिदानन्द परमात्मा के दर्शन करता है और वह अनुभव करता है कि मैं ही अर्क, परम ज्योति, शिव हूँ, आत्म-ज्योति एवं सर्व--ज्योति हूँ। ऐसा अनुभूतिमान व्यक्ति ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त करता है।

योग कुण्डली—इसके तीन अध्याय हैं। प्रारम्भ में चित्त का विश्लेषण कर लेखक यह समझाते हैं कि चित्त के वासना तथा प्राणरूपी जो दो भेद हैं उनमें से किसी एक को नष्ट कर देने से दूसरा स्वतः विनष्ट हो जाता है। फिर भी प्राण-जय का ही प्राधान्य है जो तीन उपायों के द्वारा सहज सुलभ होता है। वे तीन उपाय हैं—मिताहार, आसन और शक्ति चालन।[८०] इसमें सूर्य, उज्जायी, शीतली और भस्त्र नामक चार प्रकार के प्राणायाम की विधि तथा उनके फल बताये गये हैं जो हठयोग प्रदीपिका में भी वर्णित है। मूल बन्ध, उड्डियान बन्ध के लक्षण तथा योगी के लिए उनकी उपयोगिता का विवरण प्रस्तुत किया गया है। कुण्डलिनी के तीनों ग्रन्थियों का भेदन करके सहस्रार में पहुँचने का तरीका भी स्पष्ट रूप से विवेचित किया गया है।

दूसरे अध्याय में सर्वसिद्धिप्रद खेचरी मुद्रा के अभ्यास की आवश्यकता तथा तीसरे में मेलन-मन्त्र, पूर्णिमा-दृष्टि-विधि, गुरूपदेश की महत्ता, जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति इत्यादि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

योग चूड़ामणि—तमिल तिरुमन्दिरम के आधुनिक व्याख्याकार दण्डपाणि देशिकर ने इसे गोरक्षनाथ कृत बताया है।[८१] महीधर शर्मा द्वारा सम्पादित और ब्रिग्स द्वारा अंगेजी में अनूदित गोरक्षशतक के प्रथम

शतक के श्लोकों में लगभग सभी श्लोक इस उपनिषद् में हैं। यम-नियमों का छोड़कर योग के अन्य छः अंग, शोडषाधार, षट्चक्र, विलक्ष्य, व्योम पंचक, नाड़ी-विज्ञान, अजपा मन्त्र की महिमा, कुण्डलिनी जागरण आदि का विवरण इसमें उपलब्ध होता है। नाथ योग के साधना पक्ष को समझने के लिए इसका अध्ययन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। उपनिषद् में कहीं लेखक के नाम का निर्देश नहीं, परन्तु परम्परा इसे गोरक्षनाथ की कृति मानती आ रही है। योग-मार्तंड और योग-शास्त्र आदि ग्रन्थों में इसके अनेक श्लोक ज्यों-के-त्यों मिलते हैं।

योग-तत्त्व—योगोपनिषदों में सब दृष्टियों से श्रेष्ठतम यही है। नाथ-योग के सभी तथ्यों का बड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है। इसके अनुसार मुमुक्षु के लिए ज्ञान और योग परम उपयोगी साधन है। योग के बिना ज्ञान ध्रुव मोक्षदायी नहीं हो सकता और बिना ज्ञान योग मोक्षप्रद नहीं।[८२] इसमें योग के मन्त्र, लय, हठ और राज आदि चारों भेदों के सलक्षण विवरण देकर फिर हठयोग के आठों अंग, महामुद्रा महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, उड्डियान, मूलबन्ध, वज्रोली, अम्रोली, सहजोली आदि का वैज्ञानिक विवेचन सूक्ष्मता के साथ किया गया है।[८३] योग-मार्गी साधक को चेतावनी दी गयी है कि अभ्यास काल में उत्पन्न हो सकने वाले आलस्य, कत्थन (अमित-भाषण), धूर्तों का संग, स्त्री-लोलुपता जैसी बाधाओं का निवारण कर लेना चाहिए।[८४] उपनिषदकार साधकों को उपदेश देते हैं कि योग-मार्ग के विघ्नों और प्रतिबन्धों को दूर करने के लिए प्रणव मन्त्र का जप सदा करते रहना बहुत आवश्यक है। इस ग्रन्थ के अनुसार सगुण तथा निर्गुण ध्यान के दो भेद होते हैं। इनके अभ्यासी सिद्ध योगी अणिमादि सिद्धियों से सम्पन्न होकर अपनी इच्छा के अनुसार आचरण कर सकता है। वह सब लोकों में विचरण करने के अतिरिक्त वह देव, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व जो चाहे सो बन सकता है। परन्तु इन शक्तियों की प्राप्ति ही योगी का लक्ष्य नहीं इनमें उलझ जाने से वह पथ-भ्रष्ट हो जाता है; पुरुषार्थ-साधन में वह असफल हो जाता है। साधक को चाहिए कि वह हृदय-पद्म में प्रणव की उपासना करके परमपद को प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य माने। ध्यान देने की बात है कि यह उपनिषद् नाथ-योग का मर्म बड़ी खूबी के साथ समझाता है।[८५]

योग शिखा—इसमें प्रायः योग तत्त्व में वर्णित सभी बातें दुहराई गयी हैं। किन्तु साथ ही कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्य उपनिषदों में नहीं मिलतीं। ग्रन्थ के आरम्भ में ही लेखक बताते हैं कि काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, तृष्णा, लज्जा, दुख, विषाद, हर्ष आदि से मुक्त जीव शिव कहलाता है। उपर्युक्त दोषों को समूल नष्ट करने के दो ही उपाय हैं—योग और ज्ञान। योगविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन योग दोनों व्यर्थ और निष्फल हैं। योग से ही चित्त के दोष मिटते हैं; अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए योग-मार्ग से बढ़कर श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं।[८६] योग की परिभाषा देते हुए इसमें कहा गया है कि अपान और प्राण, रज और रेतस, सूर्य और चन्द्र एवं जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य ही योग है।[८७] यह भी कहा गया है कि मन्त्र, लय, हठ और राजयोग ये चार भूमिकाएँ हैं जिनका सम्मिलित रूप महायोग कहलाता है। प्रत्येक का स्वरूप लक्षण कुछ भिन्न ढंग से किया गया है। मन्त्र योग का लक्षण यों है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैः जीवैश्च जप्यते॥
गुरुवाक्यात् सुषुम्नायाम् विपरीतो भवेज्जपः।
सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्र योगः स उच्यते॥

'ह' कार सूर्य और 'स' कार चन्द्र माना जाता है। सूर्य और चन्द्र का ऐक्य हठ कहलाता है।[८८] हठ से प्राण में स्थिरता आती है और उससे लय का उदय होता है। लय से सुख, स्वात्मानन्द एवं परमपद प्राप्त होते हैं।

रज और रेतस का योग राजयोग है। यही शक्ति-शिव योग है। राजयोगी अणिमादि सिद्धियों से शोभित होता है। शिव-शक्ति का निकेतन यह मानव-देह है, बिन्दु, नाद ही महालिंग है। अतः योगोपायों से देह और मन को शुद्ध एवं पवित्र कर लेने पर योगी शिव-शक्ति के दर्शन कर आत्मलाभ पाता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि शिव-शक्ति सामरस्य का तन्त्र-मत का भाव योगमत में बहुत पहले ही ग्रहीत हो चुका था।

वराह—पाँच अध्यायों में विभक्त इस उपनिषद् में तत्त्वों का विवरण दिया गया है। इनके अनुसार चौबीस तत्त्वों का ज्ञाता ब्रह्मविद् है। छत्तीस तत्त्वों का बोध जिसे हो गया है वह मुक्त है। समाधि साधन तथा नादानुसन्धान वाले प्रकरणों में क्रमशः कहा गया है कि जिस तरह सलिल में सैन्धव साम्य पाता है उसी तरह आत्मा में मन का विलीनीकरण समाधि है और समाधि-साम्राज्य के अभिलाषियों को नाद का अनुसन्धान करना अनिवार्य है।[८९] इसमें राजयोग का कहीं उल्लेख नहीं।

इस उपनिषद् का कहना है कि गुदा और लिंगमूल के मध्य त्रिकोण के रूप में मूलाधार चक्र है जो बिन्दु रूप शिव का स्थान है, वहीं कुण्डलिनी नामक पराशक्ति प्रतिष्ठित है। उसी स्थान से वायु, वह्नि, बिन्दु, नाद, हंस, मन आदि उत्पन्न होते हैं। मूलाधार आदि छः चक्र शक्ति स्थान कहलाते हैं। कण्ड के ऊपर मूर्धा तक का भाग शाम्भव स्थान है। योगाभ्यास काल में उत्पन्न हो सकने वाले विघ्नों के निवारण के लिए प्रणव जप का आदेश लेखक देते हैं। ऐसा लगता है कि वेदान्त के साथ योग-साधना को समन्वित करने का प्रयास इसके लेखक का अभिप्राय रहा है।

शाण्डिल्य—शाण्डिल्य के योग सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में अथर्वण ऋषि ने अंगों सहित योग की जो व्याख्या की है, वही इस उपनिषद् का विवेच्य विषय है। इसमें दस यम, दस नियम, आठ आसन, तीन तरह के प्राणायाम, पंचविध प्रत्याहार, पंचविध धारणाएँ, दो प्रकार के ध्यान और समाधि का वर्णन है। यह दत्तात्रेय परम्परा में विकसित विचारधारा का ग्रन्थ है जिसमें तान्त्रिक तथा वैदिक भावों का समन्वित स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

हंस—इसमें हंस-विद्या, अजपा जप, नादानुसन्धान आदि का संक्षेप में विवरण है।

योगज—शैव धर्म से सम्बन्धित इस अप्रकाशित उपनिषद् में मन्त्र, लय, हठ और राज आदि चारों प्रकार के योग का वर्णन मिलता है।

इनके अलावा और भी छोटे-मोटे योग ग्रन्थ हैं जो उपनिषद् के नाम से विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में

प्रचलित हैं। ऊपर जिन-जिन ग्रन्थों का परिचय दिया गया है उससे ज्ञात होगा कि गोरक्षनाथ के पूर्व ही योग, आगम, तन्त्र और वैदिक धर्म तथा दर्शन को समन्वित रूप देने का यत्न आरम्भ हो गया था। यह समन्वय भावना भारतीय धर्म-साधना का विशिष्टतम अंग है।

ऊपर उल्लिखित ग्रन्थों में नाद-बिन्दु, ध्यान-बिन्दु, योग-तत्त्व, योग-चूड़ामणि, योग कुण्डली और योगशिखा विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि उनमें प्रतिपादित विषय ही नहीं प्रत्युत् उनके अनेक श्लोक गोरक्षकथित योग ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। सम्भव है उनमें आए बहुत से श्लोक परवर्तीकालीन हो सकते हैं। जो भी हो, यह कहना सही होगा कि गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योग प्रणाली इन उपनिषदों में प्रतिपादित योग, समयानुकूल परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप मात्र है।

वैदिक युग में आर्येतर जन-समूह के निकट सम्पर्क में आने पर आर्यों में जादू-टोना, कृत्या, चमत्कार आदि में विश्वास धीरे-धीरे बढ़ने लगा था। अनेक वैदिक मन्त्रों का विशेषकर अथर्व संहिता के मन्त्रों का प्रयोग ऐसे कार्यों के लिए होने लगा था। वर्षा लाना, मनोवेग से संचरण करना, सन्तान पाना, शत्रुओं को पराजित करना इत्यादि काम्य कर्मों की सिद्धि के लिए विविध मन्त्र काम में लाये जाने लगे। साम विधान नामक सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ में ऐसे मन्त्र संकलित हैं जो किसी को ग्राम से भगाने, शत्रु को मिटाने, प्रचुर धन-सम्पत्ति पाने, नाना प्रकार के उपद्रवों के निवारण करने या शान्ति स्थापना करने के लिए कतिपय अनुष्ठानों के साथ गाये जाते हैं।[१०] इसी तरह अन्य वेदों में से भी इस तरह के आभिचारिक प्रयोगों के लिए मन्त्रों का संकलन किया गया। ऋग्विधान एक ऐसा संकलन है जिसमें इस तरह के कार्यों के लिए ऋग्वेदीय मन्त्र जुटाये गये हैं। ऋग्विधान में कुछ ऐसी भी बातें हैं जिनका सम्बन्ध योग से है। उसके अनुसार योगी को प्रतिदिन नियमित रूप से प्रणव-ध्यान सहित प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए और तुरीय सन्ध्या में अर्थात् आधी रात के समय भी योगाभ्यास करना परमावश्यक है। योगी किसी उपयुक्त एकान्त स्थान में अनुकूल आसन पर बैठकर, नयन मूँदे, हृदय-कमल में नारायण का आह्वान करके ॐकार का मौन जप करे। वह प्राणायाम द्वारा पवन को मूलाधार से सहस्रार को पहुँचाए, फिर मूलाधार में लाए। इस तरह के प्राण-योग द्वारा वह योगी परमतत्त्व से साक्षात्कार पाकर पावन बनता है।

योग सिद्धियों का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार बताते हैं कि होमादि करने से योगी वह दिव्य चक्षु प्राप्त करता है जिससे वह अनदेखे को भी देख लेता है। इसमें भक्ति पर भी बल दिया गया है क्योंकि भक्ति योग का ही एक भेद है, और भक्ति करने पर नारायण प्रसन्न होकर योगी को अपनाता है।

ऋग्विधान के रचना काल का ठीक पता नहीं लगता परन्तु इतना निश्चित है कि वह महाभारत काल के अनन्तर कालीन रचना नहीं। उसमें योग, मन्त्रोपासना एवं भक्ति का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है।

आगे चलकर सूत्र ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र योगियों का थोड़ा बहुत विवरण मिलता है। उनसे ज्ञात होता है कि योग-धारा अविच्छिन्न गति से प्रवहमान रहा। सूत्र साहित्य में एक वैखानस स्मार्त सूत्र है जिसका रचना काल ई.सन् ४०० के आस-पास माना जाता है। किन्तु इसमें प्राप्त आचार-विचारों एवं धर्म-सम्प्रदायों का विवरण उससे भी प्राचीन काल के रूप का द्योतक है।[११] इसमें ऐसे देव सायुज्यक तथा परकायप्रवेशी योगियों का उल्लेख है जिनका मृत्यु के बाद अग्निसंस्कार नहीं होता था।

उक्त सूत्र कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस नामक मुमुक्षु वर्गों का विवरण देते हुए बताता है कि कुटीचक वे लोग थे जो प्रतिदिन आठ-ग्रास अन्न भिक्षा के रूप में ग्रहण करते थे और तत्त्व ज्ञान के अन्वेषी योगी-जन थे। बहूदक विदण्ड और कमण्डल धारण करते थे, काषाय वस्त्र पहनते थे, ब्रह्म ऋषि और दूसरे साधु वृत्ति वाले सात जनों के गृह में मांस, लवण, पर्यशितान्न का वर्जन कर, अन्य खाद्य पदार्थों की भिक्षा लेते और सदा मोक्ष-कामी रहते थे। हंस कहाने वाले भिक्षु गाँव में एक दिन और एक रात और बड़े-बड़े नगरों में पाँच रातें ठहरते थे। वे गोमूत्र और गोमय का आहार करते थे या मास-मास भर उपवास करते थे या नित्य चान्द्रायण व्रत पालते थे। वे लोग सदा भ्रमणशील थे। परमहंस वृक्ष-मूल में, शून्यागार में या श्मशान में वास करते थे। उनका न कोई धर्म या न कोई अधर्म, न सत्य, न असत्य, न शुद्धि, न अशुद्धि था। वे अपने को द्वन्द्वों से परे मानते थे और सब प्राणी-वर्ग पर सम-भाव रखते थे। उन्हें न कंचन का मोह था न लोष्ठ से घृणा थी।

इन भिक्षुओं के जीवन-विधान के अवलोकन से प्रतीत होता है कि कुटीचक योग-मत के अनुयायी थे और परमहंस अवधूत तान्त्रिक थे; बहूदक तथा हंस रहस्यवादी साधक थे। एक विद्वान् ने लिखा है कि भ्रमणशील परमहंस भिक्षु प्राचीन काल के ब्राह्मण विरोधी भिक्षु-परम्परा के प्रतिनिधि थे जिनमें तान्त्रिक योग का प्रारम्भिक स्वरूप दिखाई देता है।[१२]

इसी सूत्र में अन्यत्र निवृत्ति-मार्गी योगियों में सारंग, एकार्ष्य और विस्मरण नामक योगी की जीवनचर्या का वर्णन मिलता है। इनके भी अनेक उपभेद थे। उनमें कुछ केवल भावोपासना करते थे कि मैं विष्णु हूँ तो अन्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—इन सोलहों का अभ्यास करते थे। भागंग नामक योगी आसनादि षडंग योग का अभ्यास करते थे तो विभागंग योगी अष्टांग योग का। एकार्ष्यों में दूरग कहलाने वाले नाड़ी साधन में निपुण थे। वे पिंगला नाड़ी के मार्ग से हृदय में स्थित सूर्यमण्डल में प्रविष्ट हो वहाँ तेजरूप पुरुष से संयोजित होने के बाद इड़ा नाड़ी से चन्द्रमण्डल में प्रवेश करके वहाँ विद्युल्लतावत् भासमान पुरुष से संस्पृक्त होते थे। यह नाड़ी वर्णन ध्यान देने योग्य है।

एक और प्रकार का भ्रूमध्यग संज्ञक योगी सुषुम्ना नाड़ी रन्ध्र से प्राण को भ्रूमध्य तक ले जाकर फिर उसे पादों के अँगूठे तक ले आता था। इस तरह प्राणों को अपने वश में करके कालजयी बनता था। कुछ और लोग इन सबको अनावश्यक समझते थे क्योंकि उनके विचार में आकाशवत स्थित सर्वव्यापक परमात्मा से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता विश्व में है ही नहीं अत: द्वैत नहीं। ऐसी अवस्था में अभेद स्वत: सिद्ध है। फिर तो ऐक्य स्थापन का प्रश्न ही नहीं उठता।

विविध सारणा या मुद्राओं के अभ्यास करने वाले योगी विसरण कहलाते थे। इनमें भी अनेक भेद थे। कोई काय-क्लेश से, कोई किसी-न-किसी तरह के ध्यान से, कोई वायु-जय से, आत्मा-परमात्मा के ऐक्य सम्भव करने के प्रयत्न में लगे थे। सूत्रकार ने उनकी आचारहीनता पर खीझकर उन्हें पशु कहा है और लोगों से कहा कि उन्हें उन अनाचारी योगियों से दूर रहना बहुत जरूरी है। पता नहीं ये विसरण कौन थे। सम्भवत: सूत्रकार ने अवधूत संन्यासियों को विसरण शब्द से याद किया हो।

वैखानस स्मार्त सूत्र से विदित होता है कि कुटीचक, परमहंस एवं विसरण उन योगियों के सम्प्रदाय के सदस्य थे जिनमें षडंग या अष्टांग योग की साधना चालू थी। वे शायद अवैदिक, वर्णाश्रम विरोधी एवं तान्त्रिक मत के थे। यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि वे लोग योग तथा तन्त्र साहित्य के उदय के पूर्व विद्यमान थे।

इतने विवरणों से बोध होगा कि सूत्र वाङ्मय के निर्माण के पूर्व ही तान्त्रिक योगियों की परम्परा पनप चुकी थी और उनमें कुछ ऐसे विश्वास बद्धमूल हो चुके थे जो वेदपूर्व वेदेतर जन-समुदाय में वर्तमान थे। धीरे-धीरे योग तत्त्वों का समावेश वैदिक, अवैदिक एवं वेदेतर साहित्य में होने लगा क्योंकि भारतीय विचार-धारा सदा विभिन्न विरोधी भावों में समन्वय बढ़ाने का प्रयत्न करती रहती है। घोर-से-घोर और अमंगल-से-अमंगल को सौम्य एवं मंगलमय रूप देने का सतत प्रयत्न यहाँ की मिट्टी की विशेषता है। अत: योग के विविध अभ्यासों में जो लोक-हित के विरुद्ध थे, सुधार और परिवर्तन द्वारा उन्हें अपनाने की प्रवृत्ति बलवती रही है।

वैदिक स्मृति-ग्रन्थों में योग का खण्डन-मण्डन दोनों देखा जाता है। मनु का विचार है कि यदि मनुष्य अपने इन्द्रियों और आत्मा पर यथोचित संयम रखे तो योगाभ्यास के कष्टदायक क्रिया-व्यापारों में लगे बिना लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। पर योग की प्रशंसा करते हुए वसिष्ठ ने कहा है कि मोक्ष की प्राप्ति न वेद-पारायण से होती है न यज्ञयागादि क्रियाओं से; परन्तु वह तो केवल योग से ही सम्भव है।[९३] विष्णु-स्मृति योग की महिमा का वर्णन करते हुए बताती है कि ध्यायी ध्यान-योग से सब कुछ पा सकता है। ध्यायी का लक्ष्य क्षुद्र सिद्धियों की प्राप्ति मात्र नहीं किन्तु उससे आगे की मुक्ति ही है। इसलिए वह क्षर को छोड़कर अक्षर का ही सदा ध्यान करता रहता है।

भारतीय साहित्य में वेद समान मान्यता प्राप्त इतिहास ग्रन्थ महाभारत है। यह पंचम वेद ही नहीं, उन वेदों से भी श्रेष्ठ है क्योंकि इसे पढ़ने के बाद वेदों के अध्ययन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।[९४] उसे वर्तमान रूप ई.सन् २०० और ई.सन् ४०० के बीच में मिला।[९५] इसी का एक अंग है 'श्रीमद्भगवद्गीता' जिसके ७०० श्लोकों में श्रीकृष्ण का अर्जुन को दिया गया जीवन-दर्शन सम्बन्धी अद्भुत सन्देश है। गीताकार ने उसे योग-शास्त्र संज्ञा दी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय जीवन को अत्यधिक प्रभावित करने वाले ग्रन्थों में गीता का कितना गौरवपूर्ण स्थान है। प्राय: सभी धर्माचार्य एवं मेधावी पुरुषों ने इसके आधार पर धर्म और दर्शन की व्याख्या की है। गीता के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि वह सभी मुख्य-मुख्य उपनिषदों की सारभूत रचना है। उसमें ब्रह्म विद्या का क्रमिक तथा बोधगम्य विवेचन है। गीता में अनेक स्थानों में सांख्य तथा योग का उल्लेख किया गया है। स्वयं भगवान् कृष्ण बताते हैं कि हमने विवस्वान को यह योग उपदेश रूप प्रदान किया। संजय की भी साक्षी है कि मैंने व्यासदेव की कृपा से यह योग पाया।[९६] इससे सिद्ध है कि गीता में विवेचित योग अत्यन्त प्राचीन है।

गीता के अनुसार 'कर्म की कुशलता', 'समत्व', 'कर्मफल का त्याग', 'भगवान् के चरणों में प्रपत्ति अथवा शरणागति' आदि योग शब्द से सूचित किये जाते हैं। गीता में योग शब्द किसी निश्चित पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है जैसे पातञ्जल में हुआ है। कर्मयोग (५-१) में सांख्य योग से भिन्न अर्थ में

प्रयुक्त हुआ है। बुद्धि योग, भक्ति योग आदि में योग का अर्थ है संग। इसी अर्थ में योग शब्द का व्यवहार गीता में सर्वत्र हुआ है। सम्भवतः गीताकार पतञ्जलि से पूर्व हुए थे अतः उनसे परिचित नहीं थे।[१७] अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भगवान् द्वारा उपदिष्ट योग न पतञ्जलि का चित्तवृत्ति निरोध वाला योग है न सिद्धिप्रद तान्त्रिक योग है, न जीव को शिवत्व प्रदान करने वाला है, किन्तु समन्वयवादी भगवत् चरणारविन्द में भक्ति सहित सर्वात्म समर्पण है। संसार में रहते हुए उसके सद्-असद् व्यापारों से अपने को अलग रखना ही गीता के निष्काम कर्मयोग का अन्तिम लक्ष्य है। सांख्य शास्त्र में ज्ञान के द्वारा प्रकृति एवं पुरुष के तत्त्वों को अलग करने का जो उपाय बताया गया है उसी के आधार पर गीता ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की है। जीवन के समस्त व्यापारों को यज्ञवत् समझकर उनके शुभाशुभ कर्म-फलों को भगवान् के चरणों में भक्ति भाव से अर्पण करने से व्यक्ति को कर्म-फल प्रभावित नहीं कर सकते और ईश्वर के अनुग्रह से जीव लोक माया में लिप्त होने से बच जाता है। इससे प्रतीत होता है कि गीता का योग षडंग या अष्टांग योग से भिन्न रहस्यानुभूतिपरक भक्ति-योग है।

महाभारत के मोक्ष-धर्म में दो प्रकार की योगचर्या की चर्चा मिलती है। दोनों में काफी अन्तर है। अनेक वर्षों तक एक पैर पर निश्चल खड़े रहना और ऐसा सहनशील होना कि पक्षी उनकी जटा पर भले ही नीड़ बनाये पर वह उन्हें कभी कष्ट नहीं देगा, इस प्राचीन योगानुशासन के अनुयायी एक वर्ग के थे। दूसरे, आसन और प्राणायाम को जीवनचर्या में स्थान देने वाले थे। प्रथम प्रकार के योगाभ्यासी की योग-साधना कालान्तर में असंस्कृत तथा असभ्य माना गया। दोनों तरह के योगाभ्यासियों के लक्ष्य में भेद था। एक पाद पर खड़े होने वाला तपस्वी अलौकिक शक्तियों के सम्पादन का आकांक्षी था जबकि प्राणायाम पर बल देने वाला योगी भवपाश के विच्छेदन को जीवन-लक्ष्य मानता था। उसके विचार में योग-सिद्धियाँ तुच्छ और क्षणिक होती हैं। दोनों ईश्वरवादी थे परन्तु प्रथम वर्ग का योगी भगवत् साक्षात्कार की अपेक्षा अलौकिक चमत्कारों को प्राप्त कर स्वर्गिक सुखों का अनुभव करना चाहता था। दोनों 'अपुनर्भव' की कामना करते थे, पर प्रथम वर्ग वाले योगी का सारा प्रयत्न योगैश्वर्यों से उपलब्ध करने के लिए होता था; परन्तु दूसरे प्रकार के योगी योगैश्वर्यों से विभूषित होने पर भी मुक्ति या केवलत्व को परम श्रेष्ठ एवं प्राप्य समझते थे। बुद्धि, मन, इन्द्रिय और विश्वात्मा में एकत्व की अनुभूति उसका लक्ष्य था।[१८]

योगी का ध्यान नित्य-पुरुष पर केन्द्रित रहता है। समाधि की स्थिति में वह निर्वात-दीप या पर्वतशिखर के समान स्थिर हो जाता और ब्रह्मानुभूति प्राप्त करता है। फिर जब शरीर का पात होता है तब वह केवल में प्रवेश कर अनन्त विश्राम पाता है। यही योग है जिससे बढ़कर दूसरा योग नहीं।[१९]

महाभारत के एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि जो योगी काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न—इन पाँच दोषों को मिटा देता है वह उसी तरह 'तत्पदम्' को प्राप्त करता है जिस तरह मीन जाल को काटकर बन्धन से मुक्त होता है। गुद, कण्ठ, सिर, हृदय, नयन, कान, नासिका आदि शरीर के अन्यान्य अवयवों में संवरण करने वाली आत्मा से युक्त योगी पर्वत सम सुकर्म या कुकर्म के फल राशि को विनष्ट करके मोक्ष-पद पाता है।

महाभारत में वर्णित पाशुपत योगी तथा पाँचरात्र वैष्णव योगी सात प्रकार की धारणाओं से पंच

महाभूतों, मन, अहंकार, और बुद्धि पर विजय पाकर अन्त में 'प्रतिभा' की अवस्था में पहुँचता है और इस स्थिति में वह गुणातीत हो कई प्रकार के चमत्कार साधने में निपुण बन जाता है। प्रतिभा, उपसर्ग, आसन, प्राणायाम, नाड़ी-शोधन, भ्रूमध्य में दृष्टि का स्थिरीकरण इत्यादि योग सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का व्यवहार देखकर यही लगता है कि पतञ्जलि के पूर्व ही योग-प्रक्रिया का काफी विकास हो चुका था।

फिर भी, योग को व्यवस्थित रूप प्रदान कर उसे विशिष्ट दर्शन के पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उस पतञ्जलि को प्राप्त है जिन्होंने योग-सूत्र की रचना की थी। निस्सन्देह योग-सूत्र इस विषय का प्रामाणिक शास्त्र-ग्रन्थ है। महर्षि पतञ्जलि के स्थिति-काल के सम्बन्ध में तरह-तरह के मत-मतान्तर हैं। तो भी यह मानना सही होगा कि वे शुंगवंशीय महाराजा पुष्यमित्र के समकालीन थे; अत: उनका समय ई.सन् दूसरी शती था।[१००] विद्वानों में यह मान्यता है कि सूत्रकार ने प्रथम तीन पाद ही लिखे थे, चौथा पाद पीछे किसी से लिखे जाकर जोड़ा गया।[१०१] जो हो, जिस रूप में योग-सूत्र आज हमें मिला है, वह एक समग्र ग्रन्थ प्रतीत होता है। उस पर अनेक मनीषी विद्वानों ने भाष्य, टीका, वृत्ति, वार्तिक आदि लिखकर उसकी गरिमा को बढ़ाया है।[१०२] योग-सूत्र में कुल मिलाकर १९५ सूत्र हैं जो क्रमश: समाधि-पाद, साधना-पाद, विभूति-पाद और कैवल्य-पाद नाम से चार पादों में विभक्त है।[१०३]

पतञ्जलि ने चित्त-वृत्ति के निरोध को योग माना है। अविद्या के कारण अनात्मा में आत्मा का आरोप किया जाता है। यदि आत्मा से अनात्मा का पृथक्करण हो जाए तो अविद्याजनित समस्त भ्रम-जाल टूट जाता है तथा दुख-समुदाय का विनाश हो जाता है। दुख-निवृत्ति ही योग का अन्तिम लक्ष्य है। इसी का अन्य नाम कैवल्य है।

कैवल्यावस्था में पहुँचने के लिए चित्त-शुद्धि अनिवार्य है। चित्त-शुद्धि की प्राप्ति के उपाय के रूप में सूत्रकार ने आठ योगांगों के अभ्यास का विधान किया है। ये आठ योगांग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें प्रथम पाँच बाह्य अनुष्ठान हैं और अन्तिम तीन आभ्यंतर हैं। इस योग के विवेचन में पतञ्जलि ने अपने पूर्वाचार्यों का अनुकरण किया है। यह स्पष्टत: विदित होता है कि सूत्रकार ने सांख्य के तत्त्व दर्शन की नींव पर योग दर्शन का महल खड़ा किया है।

पतञ्जलि ने अन्तिम पाद में पाँच प्रकार की सिद्धियों की चर्चा की है। शास्त्रकार पतञ्जलि ने उक्त सिद्धियों का विवरण देने के साथ-ही-साथ साधक को चेतावनी दी है कि जो इनमें उलझकर वास्तविक लक्ष्य से भटक जाता है वह लक्ष्य-भ्रष्ट अवश्य ही नष्ट हो जाता है। इस तरह देखा जाता है कि योग-दर्शन का लक्ष्य केवल-भाव में अवस्थित होना है। प्रणव जप के प्रसंग में सूत्रकार ने 'प्रणव: ईश्वर वाचक:' कहकर ईश्वर की जो कल्पना की है वह केवल साधना में सफलता पाने की ओर लक्ष्य करके की गयी है। इस ईश्वर शब्द के प्रयोग को देखकर कुछ विद्वान् लोग समझते हैं कि पातञ्जल दर्शन ईश्वरवादी आस्तिक दर्शन है किन्तु यह विचार भ्रामक है। कारण यह है कि योग-सूत्र का ईश्वर परमात्मा नहीं, न वह विश्व का शासक है न नियामक। वह विश्व के असंख्य पुरुषों में एक विशिष्ट पुरुष है जिसे क्लेश, अविद्या, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि अवगुण स्पर्श नहीं कर पाते। कर्म और उसका फल उस पुरुष को छू नहीं सकते। वह पुराण-पुरुष काल से बाधित नहीं। योग-दर्शन के ईश्वर में जीव न अनन्यता का अनुभव कर

सकता है न ऐक्य पा सकता है। इसलिए सांख्य-दर्शन की भाँति योग-दर्शन भी निरीश्वरवादी है। यह सांख्य के मुकाबले में ईश्वरवादी इसीलिए कहलाता है कि उसमें जिस ईश्वर का उल्लेख है वह साधक के हृदय में प्राणस्वरूप में विद्यमान है और उसके सतत जप एवं ध्यान करने से साधक को अपने अन्तरतम में उतरने में सहायता मिलती है। इस तरह साधक को आत्म-ज्ञान उपलब्ध होता है।[१०४]

पतञ्जलि के ग्रन्थ में नाड़ी-शोधन, योग-मुद्रा, कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण, शिव-शक्ति का सामरस्य आदि का कहीं उल्लेख तक नहीं। इस दृष्टि से पातञ्जलि-योग नाथ-योग से भिन्न है। केवल अष्टांग योग का विवेचन दोनों में समान है।

भारत में तान्त्रिक मत का उदय कब हुआ, इसके बारे में विश्वसनीय प्रमाण के अभाव में कुछ निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। पर, इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि तान्त्रिक साधना काफी पुरानी है। वैदिक युग में जादू-टोना मिश्रित आचार-विचारों का प्रभाव देश के नाना भागों में विशेषकर आर्येतर जन समूह में अधिक मात्रा में था। उस युग में ऐसे असंख्य रहस्य साधना-प्रधान सम्प्रदाय थे जिनमें विविध आर्येतर देव-देवियों की पूजा और उपासना विकसित हो चुकी थी। उनमें गहन तत्त्व-चिन्तन नगण्य था किन्तु बाह्याचार की प्रधानता थी। यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय का समाज विशेष अनुष्ठानपरक था।

विद्वानों की मान्यता यह है कि ऋग्वेद का रात्रि-सूक्त देवी की तान्त्रिक उपासना की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद में उन चमत्कारों का भी समुचित वर्णन पाया जाता है जिसका अत्यधिक प्रभाव तान्त्रिक युग के जन-जीवन पर पड़ा हुआ दीखता है, यद्यपि इन्हें आसुरी माया कहकर इस प्रवृत्ति के प्रति घृणा प्रकट की गयी थी।[१०५]

वैदिक यज्ञशालाओं की रचना में ब्रह्माण्ड का स्थल रूप ही कल्पित किया गया था। वेदी के नाना भागों में अन्यान्य संरक्षक देवों का आसन होता था। उसी से परवर्तीकाल में विकसित अण्ड-पिण्ड की भावना का आरम्भ माना जाता है। पुरुष-सूक्त इसका सबल प्रमाण है। उसमें कहा गया है कि इस पुरुष के मन से चन्द्र उत्पन्न हुआ, नयनों से सूर्य प्रकट हुआ, मुख से इन्द्र तथा अग्नि, तथा प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई। उसकी नाभि से अन्तरिक्ष निकला, पादों से पृथ्वी और कानों से दिशाएँ निकलीं।[१०६] इस प्रकार, समस्त लोकों के आविर्भाव का मूल कारण वह पुरुष ही था। वैदिक साहित्य में अन्य स्थलों में भी इस तरह के विचारों की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। बाह्य यज्ञ-यागादि से धीरे-धीरे एक और नया विधान जिसे मानस-पूजन कहते हैं, विकसित हुआ।

ऐसा लगता है कि उस समय के जन-समाज में यह विश्वास दृढ़ था कि यज्ञ-यागादियों के अतिरिक्त अन्य उपाय भी हैं जिनसे मनोवांछित देवता प्रत्यक्ष किया जा सकता है। अण्ड ही नहीं पिण्ड में भी देवताओं का आनन, पूजन आदि सम्पन्न हो सकता है। इस प्रकार के विचारों का फल यह निकला कि बाह्य याग-यज्ञ अन्तर्पूजा के रूप में बदलने लगा। इस परिवर्तन क्रम की मध्य-स्थिति को शतपथ ब्राह्मण इन शब्दों में व्यक्त करता है—'यह कहना चाहिए कि यह देवयाजी है और यह आत्मायाजी है। आत्मायाजी वह है जो जानता है कि मैं देवता को यह वस्तु अर्पण करता हूँ।'[१०७]

अण्ड-पिण्ड की एकता की सूचना वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है।[१०८] काम-तत्त्व, प्राण सिद्धान्त, मिथुन भावना, शब्द-साधन, आदि का विवेचन भी उक्त साहित्य में यत्र-तत्र मिलता है। यह आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि जैसे पहले भी बताया जा चुका है, वैदिक भाव-धारा में योग और तन्त्र का समावेश हो चुका था।

यद्यपि वेदों में इन्द्र, वरुण, अग्नि, सोम, सूर्य आदि भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुतियाँ पायी जाती हैं, तो भी इस बहुदेववाद के पीछे एक ही परम सत्ता का भान ऋषियों को था। इसे 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' घोषित कर सूचित किया था। बाद को ये देव समूह तीन प्रधान देव—शिव, विष्णु और ब्रह्मा में समीकृत हुए। अभिधान चाहे जो हो यह 'एक' ही सबमें निहित सत्ता बना। अत: मन्त्रों के रहस्यों को जानने वाला मन्त्र-वेत्ता इस सत्ता या शक्ति को जानता था। यही शक्ति अण्ड-पिण्ड सर्वत्र व्याप्त है। उसी के भय से वायु चलता है; उसी के भय से सूर्य का उदय-अस्त होता रहता है; उसी के भय से इन्द्र और अग्नि अपने-अपने कर्म में रत रहते हैं; और उसी के भय से यम सब का नियमन करता है।

इस प्रकार की उपासना पद्धति का विकास गुरु-शिष्य परम्परा में पल्लवित हुआ। इस पद्धति का विवरणात्मक साहित्य तन्त्र नाम से प्रख्यात हुआ। जिससे ज्ञान का विस्तार होता है वह तन्त्र है, इस तरह इस तन्त्र शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ निकाला गया। तन्त्र के अन्य अभिधान आगम और संहिता हैं। इस तन्त्र सम्प्रदाय के उन्नायकों ने अपनी साधना के तत्त्वों के निरूपण के लिए वैदिक वाङ्मय को अपूर्ण मानकर अपनी ओर से आत्मानुभूति के आधार पर नये शास्त्र-ग्रन्थों का निर्माण किया और उन्हें आगम संज्ञा दी। प्राय: सभी आगम शिव-पार्वती या पार्वती-शिव संवाद के रूप में रचे गये हैं। यद्यपि तन्त्र, आगम और संहिता पर्यायवाची शब्द हैं तो भी व्यवहार के क्षेत्र में बहुधा शैव तन्त्र आगम कहलाते हैं; वैष्णव तन्त्र संहिता कहलाते हैं और शाक्त तन्त्र 'तन्त्र' माने जाते हैं। इन शब्दों के प्रयोग में एकरूपता भी नहीं, क्योंकि शिव संहिता, वैष्णव आगम आदि शब्दों का प्रयोग भी देखा जाता है।

आगम साहित्य की रचना स्वतन्त्र रूप में हुई परन्तु कालान्तर में उन्हें वेदों से सम्बन्धित करने का प्रयास भी अवश्य हुआ। यद्यपि गौतम ऋषि ने घोषित किया है कि 'वेदो हि धर्ममूलम्' अर्थात् वेद ही धर्म का मूल उत्स है, तो भी हारीत मुनि ने कहा है कि 'श्रुति प्रमाणको धर्म:। श्रुतिश्च दुविधा। वैदिक तान्त्रिकी च' अर्थात् वेद ही धर्म के लिए प्रमाणभूत हैं; वेद भी दो प्रकार के हैं—एक वैदिक, दूसरा तान्त्रिक। इसका कारण है कि परमेश्वर ने ही इन दोनों को प्रकट किया। तान्त्रिक युग में तन्त्र-शास्त्र के आचार्यों ने अपौरुषेय वेदों को परमेश्वर द्वारा अभिव्यक्त माना और तद्नुसार प्रचार भी किया। तमिलनाडु के प्रसिद्ध शैवाचार्य हरदत्त शिवाचार्य ने बताया है कि 'वेदा: प्रमाणमिति संङ्गिरमाण एव दिव्यं तवागममुपैति जन: प्रमाणम्।' सूर्य भट्ट ने भी यह कहकर कि 'नहि वेदागमयोत्यन्त विरोध:, पर कर्तृकत्वाविशेषात्' उपर्युक्त विचार को पुष्ट किया है। अप्पैय दीक्षित का मत है कि वेदार्थ सार-संग्रहात्मकानां क्वचिदपि दोष-शंका-कलुषरहितानां शैवागमानामेव। तमिलनाडु के नाथ-सिद्ध तिरुमूलर ने कहा है कि वेद सामान्य और आगम विशेष ज्ञान के मूल हैं।[१०९] आचार्य यामुन ने आगम-प्रामाण्य नामक अपनी विशिष्ट रचना में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आगम वेद विरुद्ध नहीं, वेदानुसारी हैं।

माना जाता है कि प्रमुख शैव आगमों की संख्या बानवे है। वैष्णव संहिताओं की एक सौ आठ और शाक्त तन्त्रों की सत्तर। परन्तु आजकल की खोजों से पता चलता है कि इनकी संख्या इनसे बहुत अधिक है। इनके अतिरिक्त विभिन्न व्याख्या ग्रन्थों में कई ऐसे आगमों से उद्धरण दिये गये हैं जिनका सही पता नहीं मिलता। प्रत्येक आगम चार पादों में विभक्त है जो विवेक अथवा ज्ञान-पाद, योग-पाद, क्रिया-पाद और चर्या-पाद कहलाते हैं। आगमों में कहा गया है कि परमात्म-ज्ञान ही ज्ञान है, उसी से मुक्ति मिलती है।[११०] चंचल चित्त को स्थिर करके उसे ईश्वर से बाँधे रखना ही योग है।[१११] देवालय के लिए उपयुक्त भूमि का चुनाव, उसका शोधन और शुद्धीकरण, देवप्रतिमाओं का निर्माण, मूर्ति की प्रतिष्ठा आदि क्रिया है।[११२] नित्य-पूजा, पर्वोत्सव आदि के लिए उचित सामग्रियों को जुटाना, देवालय को साफ-सुथरा रखना, पुष्प-वन से पुष्पों का चयन करना, माला गूँथना आदि आवश्यक कर्म चर्या कहलाता है।[११३] आगम साहित्य में दीक्षा प्रदान करने वाले गुरु का स्थान और महत्त्व सर्वोपरि माना गया है। यहाँ तक कि गुरु और ईश्वर में भेद नहीं। ईश्वर साधक की परिपक्व अवस्था को जानकर गुरु रूप में आते हैं और साधक का पथ-प्रदर्शन करते हैं। आगम शास्त्र के योग प्रकरण में अष्टांग योग मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकृत हुआ है। कुण्डलिनी जागरण के उपायों का विवरण तन्त्र साहित्य की देन है। गुरु-शिष्य-वाद, कुण्डलिनी-जागरण, शिव-शक्ति सामरस्य सिद्धान्त आदि की विस्तारपूर्वक चर्चा इस वाङ्मय की विशेषता है।

भारत में वैष्णव-सम्प्रदाय के विकास में पाँचरात्र तथा वैखानस संहिताओं का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पंचरात्र मत से सम्बन्धित संहिताओं की कुल संख्या लगभग २०८ है। उनमें से अधिकतर रचनाएँ गोरक्षनाथ के परवर्तीकालीन हैं। किन्तु अहिर्बुध्न्य, ईश्वर, पौष्कर, जयाख्या, पद्म, हयशिरस् परम जैसी संहिताएँ गोरक्षनाथ के युग के पूर्व की हैं, अतः प्राचीन हैं।

परम संहिता के दसवें अध्याय में अष्टांग योग का विवरण प्राप्त होता है, इसके अनुसार योग दो प्रकार का होता है। एक ज्ञान योग है और दूसरा कर्म-योग। ज्ञान-योग प्रकरण में प्राणायाम, समाधि आदि योगांगों का विवेचन किया गया है। ब्रह्म ध्यान में लीन योगी अपने को निश्चित रूप से सांसारिक बन्धनों से छुड़ाकर मुक्त बन जाता है। अतः उक्त संहिता के अनुसार योग बन्धन-मुक्ति एवं ब्रह्म-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है।[११४] विहगेन्द्र संहिता के बारहवें अध्याय में प्राणायाम के महत्त्व और उपादेयता का विशद वर्णन किया गया है। इसी तरह विष्णु संहिता के तेरहवें अध्याय में यम-नियम को छोड़कर योग के अन्य छः अंगों का विवरण मिलता है। संहिताकार के विचार में योग के षडंगों के अभ्यास से साधक भगवद्भक्ति का पात्र बनता है। अतः इसे भगवद्-योग की संज्ञा दी गयी है। इन सबसे प्रतीत होता है कि वैष्णव मत के विकास के प्रारम्भिक काल में मन्त्र, तन्त्र के साथ षडंग अथवा अष्टांग योग परम-पुरुष नारायण की प्राप्ति का सबल साधन माना जाता था। जयाख्या संहिता योगी के लिए चार प्रकार के आसनों का विधान करती है जो पर्यंक, कमल, भद्र और स्वस्तिक नाम से जाने जाते हैं। इन योगासनों का विवरण भी वहाँ मिलता है। इसके अनुसार प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान एवं धारणा का प्रमुख प्रयोजन मन की एकाग्रता है। जयाख्या बताती है कि योग के तीन भेद हैं जो क्रमशः प्राकृत, पौरुष तथा ऐश्वर्य कहलाते हैं। इन तीन शब्दों का सही अर्थ ज्ञात नहीं होता।[११५] एक और प्रकार के योग का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में मिलता है जिसके तीन

भेद हैं; वे हैं—सकल, निष्कल और विष्णु। सकल अथवा सविग्रह योग में योगी परमात्मा की किसी कल्पित मूर्ति पर अपने ध्यान को केन्द्रित करता है। निष्कल योग में योगी परब्रह्म का ध्यान करता है। ऐसा करते-करते अन्त में वह आत्म-स्वरूप से भली-भाँति अवगत हो जाता है। इस तरह सकल-निष्कल योग द्वारा योगी ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होकर अपने स्थूल शरीर को तज कर परम-तत्त्व वासुदेव में लीन हो जाता है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि जयाख्या सशरीर जीवन-मुक्तावस्था को असम्भव बताता है। अहिर्बुध्न्य में विभिन्न नाड़ी संस्थान, कुण्डलिनी जागरण, यम-नियमादि योग के आठ अंग, नादानुसन्धान आदि का विस्तार से विवरण दिया गया है। इनसे स्पष्ट विदित होता है कि परम-तत्त्व वासुदेव में विलय पाने के लिए पाँचरात्र संहिताओं ने योगाभ्यास को एक अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार किया था।

वैखानस मत के उपलब्ध शास्त्र-ग्रन्थों में मरीचि प्रोक्त विभानार्चना कल्प महत्त्वपूर्ण है। उसके ९६ से १००वें पटल तक के अध्यायों में भगवद्प्राप्ति के मुख्य उपाय के रूप में यम नियमादि आठ योगांगों की व्याख्या की गयी है। योग शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए मरीचि का कथन है—

जीवात्म परमात्मनो योगोयोग इत्यामनन्ति।

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का योग ही योग कहा जाता है। यह ग्रन्थ योग के आठ अंगों का परिचय यों देता है: 'यम नियमऽऽसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारण समाधय इति योगांगानि।' मरीचि के अनुसार यम दस प्रकार के हैं; वे हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य गृहस्थ का स्वदार-निरति एवं अन्यों से मैथुन-त्याग, दया, आर्जव, क्षान्ति, धैर्य, मिताषन और शौच। तप, सन्तोष, आस्तिक्स, दान, विष्णु-पूजा, वेदार्थ श्रवण, कुत्सित-कर्म करने में लज्जा का अनुभव, गुरु के उपदेश में श्रद्धा, मन्त्राभ्यास, होम—ये ही दस नियम हैं। इस प्रकार के यम-नियम के पालनकर्ता ही योग का अधिकारी है। इस रचना में नौ प्रकार के आसनों का वर्णन है। उन नौ आसनों के नाम हैं—ब्राह्म, स्वस्तिक, पद्म, गोमुख, सिंह, मुक्त, वीर, भद्र और मयूर। इनमें प्रथम तीन उत्तम, मध्य तीन मध्यम और अन्तिम तीन अधम बताये गये हैं। व्याहृतियुक्त गायत्री मन्त्र के उच्चारण के साथ प्राणायाम करने का आदेश ऋषि देते हैं। साधक इस प्रकार के प्राणायाम द्वारा हृदय-कमल के ऊर्ध्व-मुख को विकसित करके परमात्मा नारायण के दर्शन करता है। विमानार्चा के अनुसार प्रत्याहार के पाँच भेद हैं। वह यह भी बताता है कि अठारह मर्म-स्थान हैं। प्रत्येक स्थान में प्रत्याहार करने की रीति तथा फल का भी वर्णन किया गया है।

तदनन्तर धारणा के आठ भेदों का विवरण देकर मरीचि उपदेश देते हैं कि परमात्मा नारायण की ध्यानपूर्वक धारणा करनी चाहिए। फिर ध्यान का परिचय देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जीवात्मा द्वारा परमात्मा का सतत चिन्तन ही ध्यान है। ध्यान के सकल, निष्कल नामक दो भेद हैं। सकल के भी सगुण, निर्गुण नाम से दो भेद होते हैं। इसमें ध्यान के प्रकार, रीति एवं फल का वर्णन है।

मरीचि के मत में जीवात्मा-परमात्मा की समावस्था समाधि है। आदित्य के दर्शन से जिस तरह अनुष्णोपल उष्णत्व का आश्रय पाता है उसी तरह प्रत्यगात्मा या जीवात्मा परमात्मा के दर्शन से नित्यशुद्धत्व एवं परमानन्दत्व को पाकर परमात्मा नारायण का सदा काल अनुभव करता है। अष्टांग योग के निरन्तर अभ्यास से साधक अणिमादि एश्वर्यों को प्राप्त करता है और जीवन-मुक्त भी बनता है। साधक जीवन के

अन्तिम समय में सब द्वारों का संयमन करके प्राण को अपान में संयोजित कर उसका शोधन करता है, फिर धीरे-धीरे प्राण के साथ सबको आत्मा में विलीन कर लेता है। तब वह परमात्मा के साथ वैकुण्ठ में वास करता है। इतने से स्पष्ट है कि वैखानस मत के अनुयायी अष्टांग योग को परमात्म प्राप्ति का प्रबलतम साधन मानते थे।

विद्वानों की सम्मति है कि तान्त्रिक साहित्य का निर्माण ई.सन् ४०० के आस-पास हुआ। भट्टाचार्य का विचार है कि तीसरी शती में गुह्य समाज तन्त्र की रचना पूरी हो चुकी थी।[११६] पर यह निर्विवाद नहीं। डॉ. हाजरा के मत में आचार्य शंकर के समय के पूर्व संकलित या सम्पादित आगमों का पता नहीं चलता।[११७] नेपाल से प्राप्त तन्त्र साहित्य ई.सन् ७०० से ९०० के बीच निर्मित हुआ। महाभारत में पुराण और इतिहास का बार-बार उल्लेख आता है, पर तन्त्रों का कहीं जिक्र नहीं। चीनी यात्रियों के यात्रा विवरण में तन्त्रों का नामोल्लेख नहीं। यह डॉ. हाजरा के मत को पुष्ट करता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि तन्त्रों में वर्णित कुत्सित आचार-विचार न उस समय के लोक-धर्म से गृहीत हैं न लोक प्रचलित आर्य या आर्येतर विश्वासों या परम्पराओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। परन्तु वे साम्प्रदायिक आचार्यों के चिन्तन की उपज हैं जिनमें योग के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों, शिवाद्वैत या शक्ति अद्वैत के दार्शनिक विचारों एवं तन्त्रवाद और प्रतीकवादों का मिश्रण है।[११८]

ई.सन् २०० के पूर्व के धर्म सम्प्रदायों को वैदिक, अर्ध-वैदिक, अवैदिक और वेद-विरोधी—इन चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जैन, बौद्ध, आजीवक और उन जैसे अनेक सम्प्रदाय वेद-विरोधी माने जाते हैं। तन्त्रवादी शक्ति मत तथा कुछ शैव सम्प्रदाय अवैदिक घोषित किये गये हैं। वेदों की निन्दा करते हुए कुछ तन्त्र कहते हैं कि वेद, शास्त्र और पुराण गणिका के समान सबके भोग्य हैं किन्तु शैवागम कुलवधू के समान हैं।[११९] कुलार्णव का कथन है कि वेद और पुराणों का प्रचार हो सकता है, पर शैव और शाक्त आगम रहस्यमय हैं। अदीक्षित को चाहे वह विष्णु या ब्रह्मा ही क्यों न हो उन्हें नहीं देना चाहिए।[१२०] भागवत् सम्प्रदाय, विष्णु सम्प्रदाय, वैदिक शैव आदि प्रधानत: आगमानुसारी होते हुए भी वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, इसलिए अर्ध-वैदिक कहलाते हैं। इन चारों के अलावा एक और धर्म-मत उस समय विकसित हो रहा था जिसे पौराणिक मत कहा जा सकता है। इसी मत में पुराणों का निर्माण हुआ।

पुराण उन संग्रह-ग्रन्थों को कहते हैं जिनमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित—इन पाँच विषयों का समावेश रहता है। पुराणों में भाषा-शैली की दृष्टि से सामंजस्य होने पर भी वर्ण्य विषय की विशेषता के कारण वैषम्य भी है। इन्हीं विशेषताओं के कारण पुराण, उपपुराण और महापुराण संज्ञाओं से वे तीन प्रकार से विभाजित हैं।[१२१]

पुराणों का रचना काल ई.सन् १३०० तक का समय माना जाता है। यद्यपि पुराणों का योग-मत से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं, तो भी शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों से सम्बन्धित होने से उनमें योग का थोड़ा बहुत विवरण इधर-उधर दिया गया है। प्राय: उनमें तीन प्रकार के योग का वर्णन मिलता है। वे हैं क्रिया-योग, भक्ति-योग और अष्टांग-योग।

वायु (ई. सन् २००-५००), विष्णु (ई. सन् २००-३००), मार्कण्डेय (ई. सन् २००-५००),

अग्नि (ई. सन् ९००), शिव (ई. सन् ८००-११००), स्कन्द (ई. सन् १०५०-१४००) आदि में उपर्युक्त योग प्रणालियों का वर्णन किया गया है। वायु पुराण के सात अध्यायों में शैव पाशुपत योग का सम्यक निरूपण-जिसमें प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण सम्मिलित हैं—किया गया है। प्राणायाम में प्राण का निरोध होता है; जिसके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और मन्द। मन्द प्राणायाम द्वादश मात्रात्मक होता है और उत्तम तिरसठ मात्रात्मक होता है। स्वेद कम्प और विषाद जिससे उत्पन्न हो, वह उत्तम प्राणायाम माना जाता है। कालान्तर में योगी के प्राण उसके वश में आ जाते हैं। प्राणायाम से शरीर और मन के दोष मिट जाते हैं। इसी तरह धारणा से पाप का, प्रत्याहार से विषय समूह का और ध्यान से अनीश्वर गुणों का समूल विनाश हो जाता है। इससे साधक योगी विशुद्धात्मा होकर ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेता है।[१२२]

इस पुराण में आसनों का भी विवरण मिलता है। कहा गया है कि योगी स्वस्तिक, पद्म, अर्ध-समजानु, एक जानु, उत्तान, सुस्थित—इनमें से किसी एक को चुनकर उसे दृढ़ करे।[१२३] यद्यपि इस पुराण में यम-नियम का अलग से उल्लेख नहीं हुआ है तो भी 'शैवाचार लक्षण निरूपण' में सत्य भाषण, अहिंसा व्रत पालन, दान, दया, आर्जव आदि के जिक्र से यम-नियम का प्रतिपादन हो जाता है। वायु पुराण के अनुसार योग का चरम लक्ष्य उस चेतनात्मक, नित्य, निर्गुण, अलक्ष्य परम पुर के सगुण, स्वर्ण-वर्ण, सर्व-व्यापी शुची और अचल प्रकाशमान वस्तु के दर्शन करना है जिससे योगी नित्य-ब्रह्म में लीन हो जाता है।[१२४]

वायु पुराण में विवेचित पाशुपत योग में यद्यपि पाँच ही धर्म स्वीकृत हैं तो भी योग के आठों अंगों की व्याख्या उसमें आ जाती है। अत: त्रिपाठी का कथन उपयुक्त-सा लगता है कि नाथ-पंथियों द्वारा स्वीकृत योग-मार्ग का प्रकृत स्वरूप वायु पुराण के रचना-काल में प्रचलित था ऐसा ज्ञात होता है। सम्भवत: बौद्ध परम्परा ने उसी को अपनाकर फिर उसको भ्रष्ट कर दिया था जिसका परिष्कृत रूप पुन: नाथ-पन्थ में देखने को मिला।[१२५]

मार्कण्डेय तथा अन्य शैव पुराणों में इसी प्रकार के अष्टांग योग का विवरण थोड़ा-बहुत परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया गया है।

विष्णु पुराण के पाँचवें और अन्तिम दो अध्यायों में बताया गया है कि जन्म-मरण के चक्र से छूटने के इच्छुकों को भगवान् के स्वरूप से परिचित होना नितान्त आवश्यक है। जिस ज्ञान से परमात्मा के दर्शन होते हैं वही सच्चा ज्ञान है, शेष सब अज्ञान ही है। ज्ञानोपलब्धि का प्रधान साधन योग है। अत: यह पुराण पाठकों को अष्टांग योग से परिचय कराते हुए उसके अभ्यास पर बल देता है।

पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में वर्णित क्रिया-योग-सार अष्टांग योग से भिन्न है। इसके अनुसार विष्णु ही आराध्य हैं अत: उनकी सेवा, ध्यान आदि से नहीं परन्तु तीर्थाटन, पूजा-उत्सव आदि धार्मिक क्रियाओं में सक्रिय भाग लेकर करनी चाहिए। इस तरह के स्थूल बाह्यानुष्ठान भी योग माना जाता था।

महापुराणों में शिव पुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका रचना काल नवीं-दसवीं सदी माना जाता है।[१२६] इस पुराण के रुद्र संहिता नामक खण्ड में भक्ति योग के प्रसंग में कहा गया है कि प्रणवजप, ध्यान,

पूजा आदि शिव भक्ति योग के मुख्य लक्षण हैं। इसके अभ्यास से साधक-भक्त की अविद्या का नाश होता है। फिर वह अहंकार के मिट जाने के कारण शुद्धात्मा बन जाता है। उसे परमशिव का अनुग्रह प्राप्त होता है जिससे वह स्वस्वरूप का बोध पाकर शिव बनता है। जिस तरह कोई व्यक्ति दर्पण में अपने को प्रतिबिम्बित पाता है उसी तरह निर्मल मन मुकुर में शिव दर्शित होते हैं। इसमें विवेचित शिवत्व की प्राप्ति में ध्यान को छोड़कर योग के शेष अंगों का वर्णन नहीं मिलता।

इसी पुराण के वायवीय संहिता के शैव-धर्म प्रकरण में ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग का परिचय दिया गया है। उससे अष्टांग योग का विवरण मिलता है। संहिता के अनुसार योग के पाँच भेद हैं। वे हैं— मन्त्र, स्पर्श, भाव, अभाव और महायोग। प्रणव, अजपा मन्त्र आदि के सतत जप द्वारा मन को स्थिर करने की क्रिया मन्त्र-योग कहलाता है। प्राणायाम के साथ किया जाने वाला मन्त्र जप स्पर्श-योग कहा जाता है। इसमें जब इतनी प्रगति हो जाती है कि किसी भी तरह के जप की आवश्यकता नहीं रह जाती तब वह भावयोग नाम पाता है। भाव योग में आगे बढ़ते हुए जब सांसारिक ज्ञान अशेष हो जाता है तब अभाव योग सिद्ध होता है। इस स्थिति में पहुँच कर संगविहीन योगी सब तरह के बन्धनों से मुक्त हो स्वयं को शिव रूप जानता है। महायोग में योगी को इन्द्रियजन्य अनुभव नहीं होता। वह गुणातीत शिवमय हो जाता है। वायवीय संहिता में वर्णित योग में नाथ योग के बहुत से तथ्य उपलब्ध हैं।

भारत के अवैदिक एवं नास्तिक धर्म-सम्प्रदायों में भगवान् बुद्ध द्वारा ई.पू. छठीं शती में संगठित धर्म या धम्म का आदरणीय स्थान है। बहुतों की राय है कि धम्म का उदय आर्यों के यज्ञ तथा वर्णाश्रम के विरोध में हुआ। इस अध्याय के आरम्भ में बताया जा चुका है कि वैदिक काल में ऐसे बहुत से स्वतन्त्र चिन्तक थे जो वेदों, वर्णों तथा आश्रम को मानते नहीं थे। वे तरह-तरह के तर्क प्रधान सिद्धान्तों का आविष्कार कर उनकी व्याख्या भी करते थे और इस तरह अपने-अपने मत अथवा दृष्टि का लोगों के बीच प्रचार करते हुए घूमते-फिरते थे। उन घुमक्कड़ों में गृहस्थ और परिव्राजक दोनों वर्गों के जन थे। वे स्वतन्त्र भी थे और किसी-न-किसी संघ से सम्बद्ध भी थे। व्याकरणकार पाणिनि ने अपने समय के दो प्रकार के भिक्षु वर्ग का नामोल्लेख किया है जो कामदि और पाराशरीपाः कहलाते थे। श्रमण मत के साहित्य में ३६३ तरह के साधु-सम्प्रदाय की गणना की गयी है। उनमें वैनायकवादी, अशनिकवादी, अक्रियावादी, क्रियावादी आदि सम्मिलित थे। उनके अलावा आजीवक, निगंठ, मुण्डसावक, मगण्डिक, तेडण्डिक, अविरुद्धक, गोतमक वगैरह भी थे। संयुत्त निकाय के अनुसार बुद्ध के समकालीन आचार्यों में पूरन कस्सप, मक्खलि गोसली, अजित केश कंवली, पकुद्ध कच्चायन, निगंठनाथपुत्त, संजय बेलट्ठिपुत्त आदि मत प्रवर्तक बहुत ही प्रसिद्ध थे। वे सब विभिन्न मतवादों के संस्थापक थे।[१२७] उन्हीं की तरह सिद्धार्थ ने वैराग्य के उदय हो जाने पर मानव-जीवन के रहस्यों को जानने की इच्छा से तरह-तरह के साधन किये और अन्त में आत्म-बोध पाकर बुद्ध बने।

सिद्धार्थ ने बोध पाकर अपने अनुभवों को तत्कालीन जन-समाज के सम्मुख रखा। उन्होंने जिस धम्म को मानव कल्याण के लिए उपयुक्त समझा उसका उन्होंने जनता में प्रचार किया। बुद्ध का धम्म उस समय के प्रचलित चिन्तन-धारा के एक सबल पक्ष का प्रतिपादन है जिसमें भोग और विराग के अतिवाद

का निराकरण एवं मध्यम मार्ग के अनुसरण का उपदेश था।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि बुद्ध के युग में योग-साधना का प्राबल्य था। इतिहास साक्षी है कि सिद्धार्थ गृह-त्याग के बाद बारह वर्ष गया के आस-पास के वन और पर्वतीय प्रदेशों में आस्फानक समाधि का अभ्यास करते हुए शरीर को इस तरह कसते हुए चले कि उनका आहार घटते-घटते चावल के एक दाने पर पहुँच गया। तब उन्हें सत्य का बोध हुआ। उन्हें तो आत्म-निरीक्षण एवं तपश्चर्या से ही सिद्धि प्राप्ति हुई और इसी का उन्होंने उपदेश दिया।[१२८] पर उनकी की गयी साधना का स्वरूप क्या था, इसे जानना कठिन है। बुद्ध ने ध्यान-योग को अपनाया और उसे अपने शिष्य महाकस्सप को दिया। महाकस्सप की शिष्य परम्परा में आने वाले अट्ठाइसवें योगी बोधिधर्म ने इस ध्यान-योग को चीन तक पहुँचाया जहाँ वह शान नाम से प्रसिद्ध हुआ और वहाँ से जापान गया जहाँ वह योग प्रक्रिया जेन नाम से विख्यात हुआ। आज जेन मत का बोलबाला संसार के अनेकानेक देशों में देखा जाता है।

भगवान् बुद्ध से उपदेश प्राप्त करके अनेक जिज्ञासु और श्रद्धालु अनुयायियों ने सिद्धियाँ पायीं जिनके कारण उन्हें बड़ी ख्याति मिली। उनके बाद तो बौद्ध धर्म ने योग के तथ्यों को ग्रहण कर लिया था, उनका जैसा प्रचार ई.सन् तीसरी शती से होने लगा वैसा उसके पहले नहीं हुआ।[१२९] उनमें एक ऐसा दल निकला जो छिपे-छिपे राजयोग और हठयोग दोनों तरह के योग की गुप्त साधना किया करता था। उन साधनाओं में जो अनुभव एवं सिद्धियाँ मिलीं उनके आधार पर शास्त्र ग्रन्थ रचे जाने लगे। इन्हीं की मूल भित्ति पर आगे चलकर बौद्ध तन्त्रों का निर्माण हुआ और तन्त्रों से सहायता पाकर बौद्ध योग-शास्त्र सर्वांगपूर्ण बन गया।[१३०]

बौद्ध तान्त्रिक योग का पहली बार दिग्दर्शन गुह्य-समाज-तन्त्र में होता है। इसके अठारहवें अध्याय में योग-साधनाओं का उद्देश्य एवं प्रयोजनों का विशद् परिचय मिलता है। इसमें सिद्धि लाभ के लिए प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति, और समाधि वगैरह योग के छ: अंगों के नियमित अभ्यास का आदेश है।

बौद्ध धर्म के वज्रयान ने देवताओं के साक्षात्कार के लिए धारणियों की परिकल्पना की। जब ऐसी धारणियों के द्वारा देवता का साक्षात्कार नहीं हो पाता तभी साधक हठयोग का आश्रय लेता था। धारणी मन्त्र-योग का ही दूसरा नाम है। बौद्ध वज्रयानी का विश्वास था कि मन्त्र-योग एवं हठयोग से राजयोग सिद्ध होता है और राजयोग से साधक को बोधिसत्व का पद प्राप्त होता है। हिन्दू तन्त्रों में जिस शिव-शक्ति सामरस्य का भाव अंगीकृत था उसे बौद्ध तान्त्रिकों ने भिन्न नाम से स्वीकार किया और बताया कि बोधिचित्त और शून्य के मिलन से महासुख मिलता है। यही महासुख बौद्ध तान्त्रिकों का युगनद्ध है। वज्रयान से मन्त्र-यान, सहज-यान, काल-चक्र-यान आदि अनेक यान उत्पन्न हुए और इन्हीं यानों में सैकड़ों बौद्ध तान्त्रिक सिद्धाचार्य हुए जिनके द्वारा निर्मित विपुल साहित्य सिद्धसाहित्य के नाम से विख्यात हुआ है। ये बौद्ध सिद्ध नाथ-सिद्धों से भिन्न श्रेणी के हैं। इनकी साधना-प्रणाली नाथों की साधना से प्रकार और लक्ष्य की दृष्टि से अलग रही यद्यपि कुछ बातों में समानता भी दीख पड़ती है। इन समानताओं की ओर लक्ष्य करके कुछ विद्वानों ने कहा है कि बौद्ध सिद्ध-परम्परा से ही नाथ-सिद्ध-परम्परा की उत्पत्ति और

विकास हुआ है। यह निर्विवाद नहीं है। अब तक इस पर गम्भीर विचार नहीं हुआ है। जो हो, नाथ-योग की विशिष्टताओं को समझने के लिए बौद्ध तान्त्रिक मत भूमिका प्रस्तुत कर सकता है।

बौद्ध धर्म की तरह जैन-धर्म भी अति प्राचीन है। वह प्रारम्भ से ही कठोर शुद्धाचारवादी रहा है। फिर भी उसमें अन्य मतों के प्रभाव से मन्त्र साधना और योगाभ्यास द्वारा चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति विकसित हुई।[१३१] फलस्वरूप मठवासियों और चैत्यवासियों का प्रादुर्भाव हुआ जो तान्त्रिक योग साधना करके तत्त्व का साक्षात्कार करते थे।

जैन मत के अनुसार जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है उन सबको योग कहा जाता है।[१३२] परन्तु जैन आगमों में मुख्य रूप से ध्यान को ही योग माना जाता है। ध्यान के चार भेद हैं जिन्हें क्रमश: आतं, रौद्र, धमं और शुक्ल कहते हैं। उनमें शुक्ल ध्यान ही अत्यन्त परिशुद्ध साधन समझा जाता है। इसके द्वारा दुख रूप काष्ठ क्षण मात्र में भस्म हो जाता है।[१३३]

जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन, सम्यक् श्रुति और सम्यक् चरित्र योग सिद्धि के परम आवश्यक अंग माने जाते हैं। योगाभ्यास से आत्मा स्वभाव से परिचित होती है और इस परिचय से आत्मा शुद्ध होकर सब तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाती है। यह बन्धन-मुक्ति ही मोक्ष कहलाता है।

परवर्ती जैन मत ने हठयोग और मन्त्रयोग दोनों को स्वीकार किया परन्तु हठयोग को सर्वथा अनिवार्य नहीं माना। षडंग या अष्टांग योग में प्राणायाम की प्रधानता है, किन्तु जैनाचार्यों ने इसे आवश्यक नहीं समझा। जैनाचार्य हरिभद्र सूरि (वि. ७५७-८२७) अपने युग के प्रसिद्ध दार्शनिक और योगी थे। उनके ग्रन्थों की सूची को देखने से पता चलता है कि उन्होंने जैनागमों की टीकाएँ लिखी हैं, उन आगमों को लेकर अनेक प्रकरण ग्रन्थ लिखे हैं; कथाएँ, दार्शनिक रचनाएँ, योग-शास्त्र आदि रचे हैं। ज्योतिष और स्तुति ग्रन्थ भी उनकी लेखनी से निकली हैं। सम्भव है कि आचार्य ने योग पर लिखने के साथ स्वयं योगाभ्यास भी किया हो उसी का परिणाम है कि उनके जीवन में कट्टर धार्मिकता का स्थान उदारता ने लिया है।[१३४] उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि ध्यान में बलात्कार से श्वासोच्छ्वास का निरोध नहीं करना चाहिए।[१३५] पर साथ ही आचार्य ने यह भी कहा है कि यदि किसी साधक को प्राणायाम से लाभ हो तो वह अवश्य करे, इसमें कोई निषेध नहीं, परन्तु सबके लिए प्राणायाम जरूरी नहीं।[१३६] जैन मत में शिव-शक्ति समरसता या युगनद्ध जैसी धारणा का सर्वथा अभाव है। उसमें प्राण के नियमन द्वारा कुण्डलिनी जागरण की संकल्पना भी नहीं। फिर भी इतना अवश्य है कि वह योग को मोक्ष प्राप्ति का प्रबल साधन के रूप में स्वीकार करता है। पहले ही संकेत किया जा चुका है कि नाथ मत प्रधानत: शिवोपासक सम्प्रदाय है। स्वयं गोरक्षनाथ शिव के अवतार माने जाते हैं। हाँ, ओझा नाथ सम्प्रदाय को पाशुपत मत की एक शाखा नकुलीश या लकुलीश पाशुपत मत का परवर्ती रूप मानते हैं।[१३७] फरकूहर का कथन है कि पाशुपतों में सर्वाधिक प्रभावशाली गोरक्षनाथ ही हैं।[१३८] ब्रिग्स का विचार है कि नाथ-योगी पाशुपतों की परम्परा से सम्बद्ध हैं।[१३९] इसी तरह अन्यान्य नाथ सम्प्रदाय के अध्येता विद्वानों ने नाथ सम्प्रदाय का सम्बन्ध पाशुपतों से जोड़ा है।

पाशुपत या माहेश्वर मत भारत के अति प्राचीन धर्म-सम्प्रदायों में एक है। इसी से परवर्तीकाल में

लकुलीश पाशुपत, कापालिक, कालामुख या कालानन, शैव, भैरव एवं वाम-पन्थ का आविर्भाव हुआ। इसके उद्‌भव के बारे में यह अनुश्रुति है कि महेश्वर कंक नाम से पहले पहल उत्पन्न हुए और उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार को शिष्य के रूप में ग्रहण किया। सनत्कुमार ने बाद को जिज्ञासु नारद को ध्यान योग द्वारा भूमा की उपलब्धि का उपदेश दिया। कुछ समय के अनन्तर महेश्वर ने दधिवाहन नाम से संसार में प्रकट होकर कपिल को शिष्य बनाया जो सांख्य दर्शन के आचार्य बने। फिर गुहावासिन नाम से संसार में उत्पन्न होकर वामदेव को, जिन्होंने माता के गर्भवास करते समय ही मानव शरीर के निर्माण सम्बन्धी तत्त्वों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था, अपने सिद्धान्तों का उपदेश दिया। इस प्रकार सत्रह बार शिव महेश्वर विभिन्न रूप धारण कर चुकने के बाद अठारहवीं बार शिखण्डिन नाम से धरती पर प्रकट हुए। ये ही श्रीकण्ठ नाम से विख्यात हुए। उन्होंने पाशुपत मत का संस्थापन करके शिवशासन का प्रवर्तन किया।

महाभारत, वायु पुराण, शिव पुराण, शिव-दृष्टि, पिंगला मत आदि ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि श्रीकण्ठ ने पाशुपत मत के सिद्धान्तों की व्याख्या की। डॉ. पाठक ने शिलालेखों के अध्ययन करके यह सिद्ध किया है कि श्रीकण्ठ ही पाशुपत मत के संस्थापक थे।[१४०] तन्त्रालोक के अनुसार कलियुग के आरम्भ होने पर जब शिवशासन विलुप्त हो गया तो कैलाश शिखर पर भ्रमण करते हुए शिव श्रीकण्ठ के रूप में भूतल में निकल आए और उन्होंने पंचश्रोत रूप शिवशासन का प्रवर्तन किया।[१४१] कहा जाता है कि श्रीकण्ठ ने दक्षिणामूर्ति के रूप में नंनिदेव को समस्त शैवागमों का उपदेश किया जिनमें दस भेदागम और अठारह भेदाभेदआगम सम्मिलित थे। अतः पाशुपताचार्य श्रीकण्ठ के ऐतिहासिक पुरुष होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

अनुश्रुति है कि आचार्य श्रीकण्ठ ने मांगल्य शास्त्र और श्रीकण्ठी नामक दो ग्रन्थ रचे थे। पहले में शक्ति और शक्तिमान के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा की गयी है, परन्तु दूसरे के प्रतिपाद्य विषय-वस्तु का ज्ञान नहीं मिलता क्योंकि अब तक यह अलभ्य है। इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर ही शिव धर्म या शिवशासन का विवेचन किया गया था। यद्यपि इस समय श्रीकण्ठ मत के मूल रूप को जान पाना कठिन मालूम पड़ता है तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लकुलीश ने पूर्व पाशुपत के प्रायः मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को आत्मसात कर लिया होगा।

पाशुपत मत की साधना में षडंग योग, भस्म-धारण, प्रणव जप आदि मुख्य अंग थे। इस शैव मत ने वैदिक वर्ण और आश्रम की व्यवस्था का तिरस्कार कर दिया था। यही नहीं, उसने व्यक्ति और व्यक्ति के बीच में किसी तरह के भेदभाव को नहीं माना। अतः भारत के आर्य, आर्येतर जन समूह ही नहीं, यवन, कुशान, शक जैसे विदेशों से आगत जन-समुदाय को भी सहज ही पाशुपत मत में दीक्षित होने की सुविधा मिल गयी थी। भिन्न-भिन्न आचार-विचार के लोगों द्वारा अपनाये जाने के कारण इस मत में कुछ अवांछनीय अनुष्ठानों का प्रवेश हो गया। फलस्वरूप इसमें वैदिक, अवैदिक और मिश्र—ये तीन भेद उत्पन्न हो गये। आगे चलकर इसमें प्रविष्ट दूषित आचार-विचारों को हटाकर, लकुलीश या नकुलीश (ई.सन् १७५) नामक शैव योगी ने एक नवीन सम्प्रदाय का संगठन किया जो उनके नाम से लकुलीश

पाशुपत कहलाया। नये मत के संगठन के बाद भी मूल पाशुपत चालू था जो दर्शन की दृष्टि से द्वैतवादी था। आगे चलकर इसमें द्वैताद्वैतवादी एवं अद्वैतवादी परम्पराएँ भी विकसित हुईं। कश्मीर के प्रत्याभिज्ञा दर्शन, नाथ दर्शन और गोलकी शैव दर्शन पाशुपत मत के क्रमशः अद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत परम्परा के प्रतिनिधित्व करते हैं, यह मानना अनुचित नहीं होगा।

लकुलीश पाशुपत मत के संस्थापक लकुलीश का आविर्भाव गुजरात के कायावरोहण नामक स्थान में (आज का कारवान) हुआ। उनका जीवन दन्त-कथाओं एवं अनैतिहासिक घटनाओं से भरा हुआ है। मथुरा स्तम्भ में उत्कीर्ण चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय के अभिलेख के सम्पादक डॉ. आर.डी. भण्डारकर के विचार में लकुलीश लगभग ई. सन् १२५ के आस-पास उत्पन्न हुए।[१४२] लकुलीश के अनेक शिष्यों में कुशिक, गार्ग्य, मित्र, कौरुष्य और पतञ्जलि नामक पाँच व्यक्ति प्रधान थे। कहा जाता है कि ये ही पतञ्जलि लकुलीश मत के प्रचार के लिए जावा, बाली आदि द्वीपों में गये थे और वहीं ठहर गये। पतञ्जलि के बारे में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने ही दक्षिण भारत में शैव-धर्म का प्रचार किया। चिदम्बरम के साथ पतञ्जलि का नाम जुड़ा हुआ है परन्तु निश्चित रूप से कुछ कहना आज की स्थिति में असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अन्य चारों भारत के विभिन्न भागों में अपने मत के प्रचार के लिये गये। उनमें कौरुष या कारुक या काठक सिद्धान्त के आचार्य माने जाते हैं। यही आगे चलकर कालामुख अथवा कालानन सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध हुआ।[१४३] लकुलीश पाशुपत मत में अठारह तीर्थेश हुए। हरिभद्र सूरि ने अपने षड्दर्शन समुच्चय में उन तीर्थेशों के नाम यों गिनाये है: नकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्रयः, कौरुष, ईशान, पारगर्ग्य, कपिलाण्ड, मनुष्यक, कुशिक, अत्रि, पिंगल, वृहदार्य, अगस्ति, सन्तान, राशीकर, और विद्यागुरु। भासर्वज्ञ ने (ई.सन् ९७५) भी गणकारिका की रत्नप्रभाटीका में उन तीर्थेशों का नाम लिया है। इससे स्पष्ट है कि लकुलीश द्वारा स्थापित नव पाशुपत मत का प्रचार उनके बाद सत्रह तीर्थेशों द्वारा सारे देश में किया गया। कम-से-कम छठीं शती से लकुलीश के आलय देश में बनने लगे थे। शैव-धर्म के प्रचार और प्रसार में इस मत का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस सम्प्रदाय की मुख्य रचनाओं में पशुपति रचित पंचार्थविद्या एवं लकुलीश कृत पंचार्थ सूत्र या पाशुपत सूत्र प्रमुख माने जाते हैं। वर्तमान स्थिति में यह निर्णय करना कठिन है कि पशुपति और लकुलीश दो भिन्न व्यक्ति थे अथवा एक ही आचार्य के दो नाम थे। यदि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हों तो सम्भव है कि उन्होंने दो ग्रन्थ रचे हों। यह भी असम्भव नहीं दीखता कि एक ही पोथी के दो अभिधान हो गये हों।

सत्य चाहे जो हो, पाशुपत सूत्र नाम से जिस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है वह सम्प्रदाय का अत्यन्त प्रामाणिक शास्त्र ग्रन्थ है। इस पर राशीकरा कौण्डिन्य ने (ई.सन् ४००-४७५) भाष्य लिखा है जिसका नाम पंचार्थ सूत्र भाष्य है। ये कौण्डिन्य गोत्रोत्पन्न तीर्थेश थे।

पाशुपत सूत्र में १६८ सूत्र हैं। यह रचना विषय की दृष्टि से पाँच अध्यायों में विभाजित है जो क्रमशः कार्य, कारण, विधि, योग और दुःखान्त कहलाते हैं। उक्त विभाजन का आधार सद्योजात, वामदेव, अघोर तत्पुरुष और ईशान मन्त्र मालूम पड़ते हैं।[१४४]

पाशुपत सूत्र के रचे जाने का उद्देश्य साधक को रुद्र सायुज्य का मार्ग बताना है। सूत्र की यह

विशेषता है कि इसमें कहीं न कैलास, वैकुण्ठ आदि का वर्णन है न कर्मवाद की व्याख्या। इसमें कहा गया है कि शिव सायुज्य की इच्छा करने वालों को विस्तृत विधि-विधानों का पालन करना अनिवार्य नहीं। पुनर्जन्म है या नहीं, 'परमात्मा सगुण है या निर्गुण इत्यादि सैद्धान्तिक बातों के उलझन में फँसने की भी आवश्यकता नहीं। साधक को सदा प्रणव जप या पंचाक्षर मन्त्र का जप करना पर्याप्त है, इसी से शिव सायुज्य की प्राप्ति सुलभ हो जाती है।[१४५]

लकुलीश पाशुपत मत का आचार पक्ष अत्यन्त सादा और सरल था। इसमें वर्ण और आश्रम के नियमों के पालन पर जोर दिया जाता था। इसमें योगी बनने का अधिकार केवल पाशुपत ब्राह्मणों को ही था। ऐसे योगी को निम्न जाति वाले और स्त्रियों का स्पर्श नहीं करना चाहिए। यदि ज्ञात या अज्ञात रूप से कभी छू गये तो प्राणायाम करके रुद्र गायत्री का या रुद्र के अघोर रूप का सूचक बहुरूपी मन्त्र का जप करना अनिवार्य था।

रुद्र सायुज्य की प्राप्ति के लिए पाशुपत सूत्र योगाभ्यास का विधान करता है। उसका प्रथम सूत्र है, इसके बाद पशुपति के पाशुपत योग विधि की व्याख्या आरम्भ करते हैं।[१४६] आगे कहा गया है कि परमशिव का ध्यान हृदयाकाश में करना चाहिए।[१४७] जब साधक यम नियम के अभ्यास में स्थिरता प्राप्त कर लेता है तथा दूसरों की निन्दा एवं प्रशंसा को समभाव से स्वीकार कर लेता है तो वह साधना-मार्ग में जमा हुआ माना जाता है। ऐसे साधक के लिए दिन में तीन बार भस्म-स्नान करना, गुहा, श्मशान, मठ आदि स्थानों में एकान्तवास करना, इन्द्रिय-निग्रह करना, भिक्षा से जीविका चलाना अनिवार्य धर्म है। मांस-भक्षण वर्जित नहीं यदि वह स्वयं जीव हत्या न करके दूसरों से पाता हो। उस एक वस्त्रधारी योगी को न पर-निन्दा करनी चाहिए न आत्म-स्तुति। सूत्र में एक स्थान पर कहा गया है कि योगी को लिंगधारी होना चाहिए। लिंगधारी शब्द का अर्थ समझाते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि योगी को दण्ड, कमण्डल आदि विशिष्ट चिह्नयुक्त होना चाहिए, पर यह सन्तोषजनक नहीं लगता। सम्भवतः पाशुपत योगी अपने सिर या कन्धे पर शिवलिंग का वहन करते थे। इस सन्दर्भ में यह स्मरण करने योग्य है कि पूर्व युग के शैव मतानुयायी भारशिव अपने कन्धों पर एक छोटा सा शिवलिंग रखा करते थे और ई.सन् ११-१२वीं शती में कर्नाटक प्रदेश में वीरशैव कहलाने वाले लोगों ने कण्ठ में लिंग को धारण करने की प्रथा शुरू की थी।[१४८]

पाशुपत सूत्र विभिन्न नामधारी रुद्र के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्पृक्त रहने को योग बताता है।[१४९] इसके लिए मन को अन्यान्य वस्तुओं के मोह से अलग कर महेश्वर में ही स्थिर रखना आवश्यक है।[१५०] संसार के प्रति निर्लिप्त भाव तभी उत्पन्न होगा जब मन, बुद्धि और अहंकार पर अंकुश रखा जाए। मन को अकुशल कार्यों में संचरण करने से रोक कर कुशल कृत्यों में नियोजित करना नितान्त आवश्यक है। शिव स्मरण में लीन मन पुण्य और पाप में नहीं लगता। वे भाव वैसे ही छूट जाते हैं जैसे केंचुली सर्प से छूटती है या पका फल वृक्ष से गिर जाता है। शिव से युक्त आत्मा केवलिन नहीं बनता, परन्तु दुख से मुक्त हो शिवानन्द में लीन हो जाता है।

कौण्डिन्य के अनुसार पाशुपत योगी का साधनामय जीवन चार विशिष्ट चरणों में विभक्त रहता है। सबसे पहले वह योगी नियमित अभ्यासों द्वारा अपनी इन्द्रियों पर अधिकार कर लेता है। फिर वह धीरे-धीरे

बाह्याडम्बरों को तज देता है और ऐसा जीवन व्यतीत करता है कि समाज की निन्दा-स्तुति के प्रति उदासीन होकर अन्तर्मुखी हो जाता है। वह जन-कोलाहल से दूर मठ, गुहा, श्मशान इत्यादि स्थानों में आश्रय लेता है जहाँ उसका ध्यान आदि यौगिक क्रियाएँ निर्विघ्न एवं निर्बाध रूप से चल सकें।

इस मठ में योग का उपदेश किसी योग्य तथा अनुभवी गुरु से प्राप्त करना चाहिए। गुरु-शिष्य-वाद, मन्त्र-जप, षडंग योग आदि इस सम्प्रदाय के साधना-पक्ष के मुख्य अंग थे और इसके उत्तराधिकारी होने से नाथ सम्प्रदाय इसका बहुत अंशों में ऋणी है।

छः शैव सम्प्रदायों में कालामुख शैव भी एक है। इसके अन्य नाम कालदमन, असितवक्त्र, कालानन, काठक सिद्धान्त आदि हैं। इसके संस्थापक कौरुषेय थे जो लकुलीश के प्रमुख शिष्यों में थे। आचार्य रामानुज तथा केशव कश्मीरी ने काठक सिद्धान्ती को कालानन कहा है। कालामुख लाकुलागम के अनुयायी थे।[१५१]

इस मत का प्रचार और प्रसार नर्मदा के दक्षिण में करहाड से लेकर मदुरै तक था और वह लगभग चौदहवीं शताब्दी तक अत्यन्त प्रभावशाली था। चालुक्य वंश के शासकों ने इस मत के प्रसार में खूब सहयोग दिया था। उनके शासनकाल में राज्य के विभिन्न भागों में कालामुख आचार्यों के अनेक मठ बने थे। इन मठों में ठहरने वाले आचार्य पुरुषों ने साधारण जनता के लिए अनेक शिवालयों का निर्माण कराया और उनमें पूजा, उत्सव आदि के लिए उचित और आवश्यक प्रबन्ध भी किये थे। ऐसे आचार्य चालुक्य तथा अन्य राजवंशों के धर्मगुरु और राजगुरु रहे। षड्दर्शन समुच्चय के लेखक हरिभद्र सूरि, भामतिकार वाचस्पति मिश्र, यशस्तिलक चन्पु के रचयिता सोमदेव सूरि जैसे विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इस सम्प्रदाय पर प्रकाश डाला है। आचार्य यामुन तथा आचार्य रामानुज दोनों वैष्णव आचार्य पुरुषों ने आगम प्रामाण्य तथा श्रीभाष्य में कालामुखों को कापालिकों के समकक्ष मानकर उनके आचारों की निन्दा की है, परन्तु उनका मत सही नहीं लगता। आचार्य सायण और माधव के गुरुओं में एक क्रियाशक्ति पण्डित थे जो कालामुख मत के आचार्य थे। शिलालेखों से विदित होता है कि प्राय: सभी कालामुख आचार्य पुरुष वेद, वेदांग, धर्म-शास्त्र, गुह्य सूत्र, तर्क, न्याय, संगीत आदि के मर्मज्ञ तथा निष्णात पण्डित थे और शुद्ध आचार-विचार वाले थे। धार्मिक साहित्य के अलावा तमिल और कर्नाटक प्रदेश के सैकड़ों शिलालेखों से कालामुखों के बारे में प्रामाणिक विवरण मिलते हैं किन्तु उत्तर भारत से प्राप्त शिलालेखों में इस सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं।[१५२]

गोरक्षनाथ इस शैव मत से परिचित थे, यह बात उनकी बानी से मालूम होती है।[१५३] कालामुख मठाधीश योग-विद्या में भी बड़े निपुण थे और शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वे अष्टांग योग के अभ्यासी थे। कपटराल कृष्णराव का विचार है कि जब कालामुखों का प्रभाव घटने लगा तब उनमें अधिकांश नाथ सम्प्रदाय में आए, कुछ लोगों ने स्मार्त आचार-विचारों को अपनाया और शेष जन वीर शैव बने। इन्हीं कारणों से चौदहवीं शती के बाद इनका अलग अस्तित्व नहीं रहा।

गोरक्षनाथ ने कापालिकों का वर्णन सिद्धसिद्धान्तपद्धति में किया है।[१५४] कापालिकों का शिवशासन और सोमसिद्धान्त से निकटतम सम्बन्ध रहा है। ये शिव के कपाली रूप के उपासक थे। अत: उनकी

साधना में उग्रता का आना स्वाभाविक था। परवर्तीकाल के अघोरी जो नाथपन्थी माने जाते हैं, कापालिकों के ही वंशज हैं। कापालिकों का प्रथम बार उल्लेख मैत्री उपनिषद् में पाया जाता है।[१५५] शिव महापुराण के वायवीय संहिता, तान्त्रिक साहित्य, महेन्द्रवर्मन प्रथम कृत मत्तविलास प्रहसन, भवभूति विरचित मालती-माधव, राजशेखर की कर्पूर-मञ्जरी, कृष्णमिश्र का प्रबोध-चन्द्रोदय आदि में कापालिकों का यथेष्ट वर्णन मिलता है। लोरेत्पन लिखित अंग्रेजी पुस्तक 'दि कापालिकास् एण्ड दि कालामुखास्' में दोनों शैव मतों का विस्तृत विवरण मिलता है जो सुधी पाठक के लिए लाभप्रद है। आचार्य रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में कापालिकों के कुत्सित आचार-विचारों की कड़ी निन्दा की है। कापालिक वस्तुतः श्रीकण्ठ द्वारा प्रवर्तित शिवशासन के अनुयायी थे परन्तु तान्त्रिक आचार-विचारों के प्रभाव से पथभ्रष्ट हो गये थे। प्रबोध-चन्द्रोदय के अनुसार कापालिक मत परमेश्वर सिद्धान्त कहलाता था जो शिवशासन से भिन्न नहीं था।[१५६] डॉ. पाठक की राय में चालुक्यों के शिवशासनों में वर्णित महाव्रती कापालिक ही थे।[१५७] वे महाभैरव के उपासक थे। तमिलनाडु में प्राप्त शिलालेख छः शैव सम्प्रदायों के नाम बताते हैं और उनके अनुसार महाव्रती कापालिक से अलग एक स्वतन्त्र शैव सम्प्रदाय था।

कापालिक मत में योग का विशेष स्थान था। उनकी साधना में शिवशक्ति समरसता पर जोर दिया जाता था। नाड़ी-शोधन, कुण्डलिनी जागण, वायु-निरोध आदि इस मत में स्वीकृत तथ्य थे। हठयोग में सम्मिलित वज्रोली, सहजोली आदि का विकास इस मत में ही हुआ। पर्यंक योग इस मत का एक विशेष योग-प्रणाली है। जालन्धरपाद और कृष्णपाद का परिचय देते हुए डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस सम्प्रदाय के साधना और दर्शन पक्ष पर काफी प्रकाश डाला है जो मननीय है।[१५८]

कौल मत कश्मीर शिवाद्वैत मत की एक प्रमुख धारा विशेष है। आगमों में इसका उल्लेख कौल तथा कुल दोनों नामों से मिलता है तथा इसके सिद्धान्त को सर्वोत्कृष्ट कहा गया है।[१५९] यह सिद्धान्त काफी प्राचीन बताया जाता है। इसकी प्राचीनता का पता इस बात से लगता है कि मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा विरचित कहे जाने वाले कौलज्ञान-निर्णय में ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे विदित होता है कि यह कौल ज्ञान एक कान से दूसरे कान तक चलता हुआ दीर्घकाल और परम्परा-क्रम से चला आ रहा था। मत्स्येन्द्र द्वारा अवतरित योगिनी कौल मत एवं वसुगुप्त तथा उनके शिष्य कल्लट द्वारा अवतरित कश्मीर शैव मत जिसे प्रत्यभिज्ञा तथा त्रिक-दर्शन भी कहा जाता है—कौल मत के रूपान्तर मात्र हैं। दोनों मत वाले सिद्धान्त तथा साधना के विवेचन में मूल कौल-मत की बहुत सी बातों का उपयोग करते हैं। शिलालेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पाशुपत मत के कुल सम्प्रदाय के आचार्य विश्वरूप के शिष्य अल्लट ने जिसका दूसरा नाम भावरक्त था, कौल सम्प्रदाय के उन्नायकों में एक थे।[१६०] इससे जाना जा सकता है कि लाकुलागम तथा तान्त्रिक शक्तिवाद के सम्मिश्रण से इस मत का उदय हुआ। अतः कौल-सम्प्रदाय का उदयकाल छठीं शताब्दी के बाद और आठवीं शती के पूर्व मानना अनुचित न होगा।

कौल-मत का प्रचार और प्रसार उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में तमिलनाडु तथा पश्चिम में सिन्ध और पंजाब से लेकर असम तक हुआ था। दसवीं शती के कर्नाटक के जैन कवि सोमदेव सूरि और कन्नड़ के प्रमुख कवि ब्रह्मशिव (ई.सन् १२वीं शती) दोनों ने अपनी-अपनी रचना यशस्तिलक चन्पु तथा

समयपरीक्षे में कौलों का आँखों देखा वर्णन किया है।

इस मत के सिद्धान्तों का विवेचन विविध कौलागमों, कौलोपनिषदों, कौल-ज्ञान-निर्णय आदि ग्रन्थों में किया गया है। परात्रिंशिका इस मत के प्राचीनतम साहित्य में एक माना जाता है, और इस पर प्रत्यभिज्ञा के संस्थापक सोमानन्द का भाष्य मिलता है। कुल या कौल शास्त्र का विवेचन परात्रिंशिका का मुख्य विषय है। इसको कुल इसलिए कहते हैं कि यह कुल ही परमतत्त्व है और यही कुल विश्व के पूर्व की स्थिति है।[१६१] कुल की शक्ति को कुल प्रसारशायिनी कौलिको शक्तिः कहा गया है।[१६२] इसलिए कुल और अकुल को मिलाकर समरसता की स्थिति पर लाना ही कौल साधना का लक्ष्य है और कुल और अकुल की सामरस्य का ज्ञान ही कौल ज्ञान है।[१६३]

कौल मत की साधना में कुण्डलिनी उद्‌बोधन का बड़ा महत्त्व है। जीवात्मा परमशिव से चैतन्य और कुण्डलिनी से शक्ति प्राप्त करता है, इसीलिए कुण्डलिनी जीव-शक्ति है। उचित साधना द्वारा प्रसुप्ता कुण्डलिनी को जगाकर, मेरुदण्ड की मध्यस्थिता नाड़ी सुषुम्ना के मार्ग से सहस्रार में स्थित परमशिव तक उत्थापन करना ही कौल साधक का कर्तव्य है। वहीं शिव-शक्ति का मिलन होता है। शिव-शक्ति का यह सामरस्य ही परम आनन्द है। जिस क्षण इस अवर्णनीय आनन्द की अवस्था में साधक पहुँच पाता है उस क्षण से फिर उसे कुछ भी करना नहीं रहता।

ऊपर की बातों से स्पष्ट है कि कौल-मत में नाथ-योग का एक प्रमुख अंग कुण्डलिनी जागरण का समुचित विकास हो गया था। इसके अतिरिक्त कौल-मत में मानव-देह के भीतर स्थित अन्यान्य चक्रों का विवरण भी दिया गया है यद्यपि उनके तथा गोरक्षनाथ के दिये गये विवरणों में थोड़ा-सा अन्तर है, परन्तु दोनों के अन्तिम लक्ष्य में कोई भेद नहीं।

प्रत्यभिज्ञा शैवागमों के आधार पर निर्मित अद्वयवादी दर्शन है जिसका विकास कश्मीर में हुआ और इसके उपलब्ध साहित्य के महान् रचयिता अधिकतर कश्मीर के ही निवासी थे। अतः कश्मीर के बाहर देश विशेष के नाम पर इसे कश्मीर शैव मत तथा दर्शन नाम से अभिहित किया गया है।[१६४] प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त के आधार पर विकसित होने के कारण इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहा जाता है। सिद्धा, नामक तथा मालिनी इन तीनों तन्त्रों को सर्वाधिक प्रधानता देने के कारण यह विकमत नाम से भी प्रसिद्ध बना।

वास्तव में इसका मूल उद्‌गम स्थान कश्मीर नहीं, कश्मीर के बाहर था जो बहुत करके गंगा, यमुना तथा ताप्ती-नर्मदा के मध्यवर्ती प्रदेश में कहीं था। आचार्य अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक से मालूम होता है कि कश्मीर के नृपति ललितादित्य (ई. सन् ७३५-७६१) आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्व-पुरुष अत्रिगुप्त की विद्वत्ता से अत्यधिक प्रभावित होकर उन्हें अपने राज्य कश्मीर में ले आया था।[१६५] अत्रिगुप्त की ही तरह आचार्य सोमानन्द के पूर्व-पुरुष संगमादित्य जो अन्तर्वेदी या मध्यदेश के निवासी पण्डित थे, घूमते-घामते ईस्वी सातवीं शती के अन्तिम चरण में कश्मीर में आ पहुँचे।[१६६] एक समय गंगा, यमुना एवं ताप्ती-नर्मदा के मध्यवर्ती प्रदेश अनेक प्रकार के शैव-मतों का जन्म-स्थान रहा। राजा अवन्ती वर्मन (ई. सन् ८२५) के, जिसकी राजधानी मत्तमयूर नामक नगर था, दीक्षा-गुरु पुरन्धर थे जो उपेन्द्रपुरी के सम्मान्य निवासी थे। उन्होंने शैव-मत की एक शाखा मत्तमयूरी शैव मत का संस्थापन नवीं शती में किया था जो देश

के नाना भागों में पहुँचा और उसके आचार्य मठ बनवाकर उक्त मत का प्रचार करने में लगे। युवराजदेव द्वितीय (ई. सन् ९८०-९९०) के बिलहरी शिलालेख में जिन शैवाचार्यों का वंशवृक्ष दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि चेदिराज राजा लक्ष्मण (ई. ९५०) के गुरु हृदय शिव के पूर्व पाँचवीं पीढ़ी में रुद्रशम्भु नामक सिद्ध-पुरुष हो गये थे। रुद्रशम्भु का समय लगभग ई. ८२५ बताया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आठवीं-नवीं शताब्दी में कई शैव मतों का जन्म-स्थान इस प्रदेश में था। अत: प्रत्यभिज्ञा के पूर्वाचार्य इसी भूभाग से कश्मीर में आए, यह कहना अनुचित नहीं होगा। एक तरह से, कौल मत का रूपान्तर ही प्रत्यभिज्ञा है, क्योंकि पूर्व मत के अनेक तथ्य दूसरे में पहचाने जा सकते हैं।

गोरक्षनाथ कृत सिद्धसिद्धान्तपद्धति में ललित, स्वच्छन्द, प्रत्यभिज्ञा, वामकेश्वर तन्त्र, तत्त्वसार आदि कश्मीर शैव तन्त्रों से उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। अत: यह स्पष्ट है कि नाथ-मत और प्रत्यभिज्ञा में निकट का सम्बन्ध है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में मच्छघ्न विभु का अभिवादन किया है। इससे सहज ही बोध होता है कि दोनों मतों में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा।

प्रत्यभिज्ञा में शिवाद्वय का सांगोपांग विवेचन है। उसके अनुसार कुण्डलिनी उद्‌बोधन द्वारा मानव शरीर के भीतर स्थित शिव और शक्ति के बीच सामरस्य स्थापित करना ही साधक का चरम लक्ष्य है और उसके द्वारा एकात्मकता की अनुभूति प्राप्त करनी चाहिए। अनुभूति की यही अवस्था जीवन-मुक्ति है। इस पर प्रकाश डालते हुए प्रत्यभिज्ञा हृदयम् में कहा गया है कि विश्व को आत्मसात करने वाले समावेश स्वरूप चिदानन्द की प्राप्ति हो जाने पर व्युत्थान दशा में देह, प्राण, नील तथा सुख आदि के विभागत: भास्यमान रहते हुए भी समावेशजन्य संस्कार की शक्ति द्वारा, यौगिक क्रियाओं के क्रमिक अभ्यास के द्वारा चित् के एकत्व की अभिव्यक्ति है, वही है जीवन-मुक्ति-जीवित रहते, प्राणों के धारण करते हुए भी, मुक्ति; क्योंकि (जीव) अपने स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान से सारा बन्धनजाल तोड़ डालता है।[१६७]

यह चिदानन्द मध्य के विकसित होने पर होता है। यहाँ मध्य या मध्यनाड़ी से तात्पर्य सम्वित् है। नाथ योगी की मध्यनाड़ी सुषुम्ना और कश्मीर शैव मत के मध्यनाड़ी के वस्तु निरूपण में अन्तर है। सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर सुषुम्ना के सम्बन्ध में है जो केवल नाड़ी विशेष मात्र नहीं है जिससे श्वासक्रिया आदि का ही सम्बन्ध हो, वरन् इसके विपरीत वह सम्वित् अथवा चिति-शक्ति की निवास-भूमि है। यह लक्ष्य का मार्ग नहीं अपितु स्वयं लक्ष्य है।[१६८]

मध्य स्वरूपा सम्वित् के विकास के लिए अन्य उपायों के रूप में प्राणायाम तथा मुद्रा-बन्ध आदि भी स्वीकार किये गये हैं। इसमें ध्यान एवं समाधि का भी विवेचन अपने ढंग से किया गया है। उदाहरण के लिए ध्यान के पर्याय के रूप में निभालन शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे कि विज्ञान भैरव में कहा गया है कि निभालनं चित्त निवेशने परिशीलनम्।[१६९] समाधि को समझाते हुए कहा गया है कि मध्य विकास से चिदानन्द की प्राप्ति होती है और वही परमयोगियों की समाधि है जिसको समापत्ति आदि भी कह सकते हैं।[१७०]

यद्यपि प्रत्यभिज्ञा मत में योग के बारे में भिन्न शब्दावली का प्रयोग किया गया है तो भी उसका वही लक्ष्य है जो नाथ-योग का है।

सिद्धान्त शैव के प्रवर्तक दारुवन के निवासी गुहावासी थे। स्कन्द एवं लिंग पुराण के अनुसार भगवान् शंकर दारुवन में गुहावासी के रूप में प्रकट हुए थे। लिंग तथा कूर्म पुराण में बताया गया है कि शंकर के अट्ठाइस अवतारों में गुहावासी भी एक थे। शिलालेखों से भी मालूम होता है कि शैव सिद्धान्त के संस्थापक गुहावासी थे।[१७१] लकुलीश पाशुपत मत के स्थापक लकुलीश के समान ये भी परम पूजनीय थे। इनका समय आठवीं शती कहा जाता है। गुहावासी की परम्परा में तीन मुख्य शाखाओं का उदय हुआ था जो क्रमश: आमदर्दक, मत्तमयूरी और मधुमतेय शैव मत नाम से विख्यात हुए। ये द्वैतवादी मत देश के नाना भागों में फैले, उन्हें अनेक राजाओं का आश्रय प्राप्त था। उन्होंने अपने वास के लिए मठ बनवा लिये थे जहाँ वैदिक तथा लौकिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की अच्छी व्यवस्था थी।

इस मत विशेष के आचार्य महान् पण्डित, गुणवान, सदाचारी, तथा पहुँचे हुए योगी थे। इन आचार्यों ने आगमों पर भाष्य के अतिरिक्त अनेक प्रकरण ग्रन्थ भी रचे थे जिनमें अपने सिद्धान्त के धार्मिक तथा आध्यात्मिक पक्षों पर प्रकाश डाला। शैव आगमों के चार पाद होते हैं जो चर्या, क्रिया, योग तथा विद्या या ज्ञान पाद कहलाते हैं। योग-पाद में अष्टांग योग का विवेचन है। शिव ज्ञान की प्राप्ति के उपाय के रूप में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्यगण योगाभ्यास द्वारा चित्त को निर्मल करके आत्म-ज्योति स्वरूप शिव के चरण दर्शन किया करते थे।

प्रागैतिहासिक काल से गोरक्षनाथ के युग तक के योग-धारा के विकास के इस सर्वेक्षण से जो निष्कर्ष निकलते हैं उन्हें यों सूचित कर सकते हैं—

१. योग-साधना अत्यन्त प्राचीन है। उसने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के साधन-पक्ष को प्रभावित किया है। उसके अनेकानेक रूप वैदिक तथा परवर्ती धार्मिक साहित्य में दिखाई पड़ते हैं।

२. योग-शास्त्र का इतना गौरव बढ़ा था कि षड्दर्शन में वह सांख्य के साथ गिना जाने लगा और पूर्वकालीन योगाचार्यों के विचारों का मंथन करके महर्षि पतञ्जलि ने योग-सूत्र का प्रणयन किया। योग-सूत्र इस क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

३. आगम और तन्त्र साहित्य में साधना के रूप में योग स्वीकृत हुआ। यही नहीं, अण्ड-पिण्डवाद, कुण्डलिनीवाद आदि के विवेचन कर उसने योग के विषय की सीमाओं को विस्तार प्रदान किया।

४. ई.सन् तीसरी शती के बाद बौद्ध और जैन धर्मों में भी योग के अंगों का समावेश प्रचुर मात्रा में हुआ। उन्होंने अपने ढंग से योग की व्याख्या की, परन्तु मूल तत्त्व वही रहा। बौद्ध और हिन्दू तन्त्रवाद के प्रभाव से योग के क्षेत्र में कुछ निन्द्य आचार-विचार प्रवेश कर गये और योग को खण्डन का पात्र बनना पड़ा।

सन्दर्भ :

१. हठ प्रदीपिका, पृ. ९

२. वही, पृ. ९

३. नाथ सम्प्रदाय, पृ. १

४. हठ रत्नावली, पृ. २
५. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, पृ. ३२
६. नाथ और सन्त साहित्य, पृ. २-४
७. अमृत सिद्धि योग, श्लोक सं. ८४-८५
८. अमनस्क योग, पृ. ४४
९. वही, पृ. ४७
१०. Mohan-Jo-Daro and the Indus Culture, पृ. ७
११. वैदिक साहित्य, पृ. ६४७
१२. वही, पृ. ६५२
१३. Early Indus Civilization, पृ. ५३
१४. Lothal and the Indus Civilization, पृ. १४२-१४३
१५. Proceedings of the Indian History Congress-1947, पृ. ४९
१६. Language, Vol. 19, No. 2
१७. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६३, अंक ३-४, पृ. ३५५
१८. Indian Culture, Part I, पृ. ३७५
१९. Yoga, पृ. १०१
२०. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६३, अंक ३-४, पृ. ३४७
२१. वही
२२. Some Problems of Indian Culture, पृ. २२-२३
२३. हिन्दी ऋग्वेद, पृ. ५१०
२४. वही, पृ. १४२८-२९
२५. Der Yoga, पृ. १२
२६. Yoga, पृ. १०२
२७. मध्यकालीन धर्म-साधना (1952 End.), पृ. ५८
२८. Vratyas in Ancient India, पृ. ९७
२९. वही, पृ. ९६
३०. अथर्व संहिता, पृ. ११, ३
३१. वही
३२. वही, पृ. १, १०२, ११८, १३७
३३. वही, पृ. १, ११८
३४. वही, पृ. १०-७-१७
३५. Yoga, पृ. १०७
३६. वैदिक साहित्य, पृ. २७५
३७. वही, पृ. ३०८
३८. वही, पृ. ३१०
३९. वही, पृ. ३११
४०. अमृत सिद्धि योग, श्लोक सं. ५२

४१. एकादशोपनिषद्, पृ. १९
४२. Yoga, पृ. ११७
४३. उपनिषद्-भाष्य -१, पृ. ६४-६५
४४. एकादशोपनिषद्, पृ. ४७
४५. गोरखबानी, पृ. ९९
४६. एकादशोपनिषद्, पृ. ३६-३७
४७. वही, पृ. ५९
४८. Yoga, पृ. १२०
४९. वही
५०. एकादशोपनिषद्, पृ. ७८
५१. वही, पृ. ८७
५२. कल्याण-उपनिषद् अंक, पृ. ४५३
५३. Philosophy of the Srimad Bhagwat, पृ. ४१-४२
५४. कल्याण-उपनिषद् अंक, पृ. ४५५
५५. वृहदारण्यक ४:३:२०; मुण्डक २:२:६; तैत्तिरीय १:६:१
५६. उपनिषद्-भाष्य खण्ड-१, पृ. ५०
५७. योग-सूत्र भाष्य, पृ. १-३०
५८. श्वेताश्वतरोपनिषद्, पृ. ७४
५९. वही, पृ. १३२
६०. वही, पृ. १४७
६१. वही, पृ. १६३-६४
६२. वही, पृ. १६०
६३. Yoga, पृ. १२४
६४. मैत्री उपनिषद्, पृ. ३२
६५. Yoga, पृ. १२७
६६. कल्याण-उपनिषद् अंक, पृ. ७०९
६७. Yoga, पृ. १२७
६८. योग-उपनिषद्, पृ. १६
६९. वही, पृ. १७
७०. वही, पृ. ४४
७१. वही, पृ. १७
७२. वही, पृ. ६८; १३७
७३. वही, पृ. १६९
७४. Yoga, पृ. १३३
७५. योग-उपनिषद्, पृ. १८६
७६. Yoga, पृ. १२८
७७. योग-उपनिषद्, पृ. १२

७८. वही, पृ. ३००
७९. वही
८०. वही, पृ. ३०७
८१. तिरुमन्तिरम्-पंचाक्षर दीपिका-तीसरा तन्त्र, पृ. ३१
८२. योग-उपनिषद्, पृ. ३६६
८३. वही, पृ. ३६८
८४. वही, पृ. ३६९
८५. वही, वही
८६. वही, पृ. ४०१
८७. वही, पृ. ४०४
८८. वही, पृ. ४१६
८९. वही, पृ. ४८५
९०. वैदिक साहित्य, पृ. २९८
९१. Yoga, पृ. १२०
९२. वही, पृ. १४०
९३. वही, पृ. १४५
९४. The Great Epic of India, पृ. ३६१
९५. वही, पृ. ३८९
९६. कल्याण-योगांक, पृ. ६५
९७. A History of Indian Philosophy-II, पृ. ४५१-५५
९८. The Great Epic of India, पृ. १०७
९९. महाभारतम्, १२-१३७-२७
१००. कल्याण-योगांक, पृ. २८०
१०१. Yoga, पृ. ३७१
१०२. नाथ सम्प्रदाय, पृ. १२७
१०३. वही
१०४. Outlines of Indian Philosophy, पृ. १२५
१०५. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ. ९
१०६. हिन्दी ऋग्वेद, पृ. १३५८
१०७. शतपथ ब्राह्मण, ११-२-६-१३
१०८. बृहदारण्यक, १-५-६
१०९. तिरुमंतिरम, पृ.६६
११०. पद्म संहिता, १-२-६
१११. वही, २-१-३
११२. वही, ३-१-६
११३. वही, ४-१-१
११४. History of Indian Philosophy-III, पृ. २२

११५. वही, पृ. ३०
११६. कल्याण-योगांक, पृ. २८२
११७. Puranic Records of the Hindus, पृ. २१०
११८. History of Indian Literature, पृ. ६०६
११९. Principles of The Tantra, पृ. ९
१२०. कुलार्णव तन्त्र, पृ. ३-४
१२१. वायु पुराण, पृ. १
१२२. वही, पृ. ४२-४३
१२३. वही, पृ. ४३
१२४. वही, पृ. ४७
१२५. वही-आमुख, पृ. ११
१२६. A History of Indian Literature, पृ. १०२
१२७. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पृ. ३४२
१२८. कल्याण-योगांक, पृ. २८०
१२९. वही, पृ. २८१
१३०. वही, पृ. २८२
१३१. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि, पृ. ३३१
१३२. कल्याण-योगांक, पृ. २९०
१३३. वही, वही
१३४. षड्दर्शन समुच्चय-प्रस्तावना, पृ. १६
१३५. कल्याण-योगांक, पृ. २९२
१३६. वही, वही
१३७. निबन्ध संग्रह—भाग-१, पृ. २१२
१३८. Outlines of Religious Literature of India, पृ. २४७-४८
१३९. Gorakhnath and the Kanphata Yogis, पृ. २१८
१४०. Saiva Cults in Northern India, पृ. ८
१४१. तन्त्रालोक, पृ. २२-२३;२७
१४२. Epigraphica Indica-Part 21, पृ. १
१४३. Saiva Cults in Northern India, पृ. १०
१४४. Evolution of Hindu Sects, पृ. ११४
१४५. वही, पृ. ११५
१४६. Pasupata Sutram, पृ. १
१४७. वही, पृ. २५
१४८. Evolution of Hindu Sects, पृ. ११४
१४९. History of Indian Philosophy-V, पृ. १३८
१५०. Pasupata Sutram, पृ. ५-१
१५१. Saiva Cults in Northern India, पृ. १०

१५२. वही, पृ. २८
१५३. गोरखबानी, पृ. ३६
१५४. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, पृ. ३६
१५५. मैत्री उपनिषद्, पृ. ५२
१५६. Saiva Cults in Northern India, पृ. २२
१५७. वही, पृ. २३
१५८. नाथ सम्प्रदाय, पृ. ९०-१०५
१५९. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ. १०२-१०३
१६०. वही, पृ. १०२
१६१. वही, पृ. १३९
१६२. नाथ सम्प्रदाय, पृ. ६७
१६३. वही, वही
१६४. कश्मीर शैवमत और कामायनी, पृ. ११
१६५. वही, वही
१६६. वही, वही
१६७. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ. १२४-२५
१६८. वही, पृ. १२८
१६९. वही, पृ. १३४
१७०. वही, पृ. १३५
१७१. Saiva Cults in Northern India, पृ. २८-२९

□

नाथयोग दर्शन और लोककल्याण

—योगी आदित्यनाथ

भारत का यथार्थ इतिहास महाज्ञानी, महाभक्तों, महायोगियों और महापुरुषों का जीवनवृत्त रहा है। उनके प्रभाव से अति प्राचीनकाल से ही भारतीय जनता के स्वभाव में सुदृढ़ आध्यात्मिक-योग-प्रधान दृष्टिकोण गठित हुआ है। ऐसे महात्माओं का इस पवित्र भारत-भूमि में कभी अभाव नहीं रहा। वे सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन को सदैव ज्योतिर्मय दिशा से उद्‌बोधित करते चले आ रहे हैं। महायोगी गोरखनाथजी उन्हीं महापुरुषों की श्रेणी में विशेष रूप से सम्मानित हैं, जिनके शान्त, शीतल तथा आध्यात्मिक प्रभाव से भारत की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा सर्वधर्मसमभावमयी एकता सुगठित रही। महायोगी गोरखनाथ नाथयोग के प्रवर्तकरूप में शिवगोरक्षस्वरूप हैं। उन्होंने नाथपन्थ को सुगठित कर सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। उनका योगमार्ग-दर्शन सम्पूर्ण भारत में एक महान्, शक्तिशाली आन्दोलन अथवा विचार क्रान्ति का उदय था।

महायोगी गोरखनाथ को भगवान् शिव के अवतार और अयोनिज स्वरूप में प्रतिष्ठित किया गया है। सत्ययुग में उन्हें कैलाश, त्रेता में गोरखपुर, द्वापर में जूनागढ़ स्थित गोरखमढ़ी और कलियुग में पेशावर स्थित गोरखहट्टी में अधिष्ठित कहा गया है। अनेक सिद्ध, सन्त महात्मा गोरखनाथजी के सत्सिद्धान्त से प्रभावित होते आए हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने उनका महायोगी के रूप में उल्लेख किया है—

'गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु'

इसी तरह सन्त कबीर, गुरु नानकदेव आदि ने अपनी वाणियों में उनके नाम, व्यक्तित्व और कृतित्व का उल्लेख कर नाथयोग की गरिमा स्वीकार की है। समग्र भारत में उनका व्यापक प्रभाव था।

नाथमत शैव सिद्धान्त का प्रचारक कहा गया है, स्वरूपतः यह नाथयोगपरक शैव सम्प्रदाय ही कहा जा सकता है। उन्होंने प्रचलित शैव सम्प्रदायों और शैव दर्शन को परिमार्जित किया। विभिन्न शैव सम्प्रदायों की साधनात्मक, दार्शनिक और धार्मिक समस्याओं का उन्होंने समाधान प्रस्तुत कर धार्मिक और सामाजिक एकता का शक्तिसम्पन्न और प्रभावी रूप प्रदान किया। गोरखनाथजी का उद्‌देश्य संयमित और सदाचार सम्पन्न था। सिद्धसिद्धान्त, सिद्धमत तथा नाथसम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में हठयोग की प्राण-अपान ऐक्यस्वरूप

योगसिद्धि की, नादानुसन्धान, कुण्डलिनीजागरण और शिव-शक्ति सामरस्य के अनुरूप साधन सिद्धि की वरीयता स्वीकार की गयी है। सम्पूर्ण भारत में नाथयोगियों के संस्थापित मठ, मन्दिर, पीठ आदि नाथयोग की साधन-समृद्धि के परिचायक हैं। गोरखनाथजी ने प्राणीमात्र के प्रति मानवता से अनुप्राणित समभाव-समदृष्टि का परिपोषण किया। सभी धर्मावलम्बियों और प्रचलित मत-मतान्तरों के अनुयायियों के प्रति उनकी उदारतापूर्ण साम्यदृष्टि का प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने जैनों, बौद्धों, यवनों, सभी के प्रति सद्भाव बनाये रखा, इस तरह उन्होंने भारत की संस्कृति और राष्ट्रीयता की पवित्रता का निष्पक्ष संरक्षण किया। गोरखपन्थ भारतीय इतिहास की वह प्रबल धारा है जिसने लम्बे अरसे से बिखरे विश्वासों को एकसूत्र में निबद्धकर सामाजिक व्यवस्था के सुचारुटकसाल-यन्त्र में ढालकर नित्य-नवीन प्राणशक्ति प्रदान की।

गोरखनाथजी ने लोक भाषा तथा संस्कृत में अनेक योगग्रन्थों की रचना की। 'गोरखबानी' और उनमें संकलित अन्यान्य कृतियों में नाथयोगसिद्धान्त का विवेचन उपलब्ध होता है। इसी तरह संस्कृत में रचे गये योगबीज, गोरक्षपद्धति, गोरक्षशतक, अमरौघशासन, अमनस्कयोग, महार्थमंजरी विशेष रूप से 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ग्रन्थ में नाथ-सिद्धान्त और नाथयोग अत्यन्त उजागर हैं। गोरखनाथजी महान् योगाचार्य थे। सिद्धसिद्धान्तपद्धति के एक से छः तक के उपदेशों (अध्यायों) में नाथयोगसिद्धान्त के विवेचन में विभिन्न शक्तियों की उत्पत्ति, उनके गुण, पिण्डों की उत्पत्ति आदि, महाकाश, महातेज, महावायु, महासलिल और महापृथ्वीतत्त्व, पिण्डस्थ नवचक्र, अष्टांगयोग, गुरुकृपा, सिद्धअवधूत लक्षण आदि का विवेचन प्रामाणिक रूप में उपलब्ध होता है। महार्थमञ्जरी, अमरौघशासन आदि रचनाओं में नाथयोग के तात्त्विक स्वरूप का दिग्दर्शन उपलब्ध है।

गोरक्षवाङ्मय में नाथयोग के सैद्धान्तिक और साधनात्मक अथवा व्यावहारिक प्रक्रिया का सहज दर्शन होता है। गोरक्षनाथ ने सिद्धदेह की प्राप्तिपूर्वक जीवन्मुक्ति पर विशेष बल दिया। द्वैताद्वैतविवर्जित-स्वरूप में अवस्थितिपूर्वक शिवशक्ति के सामरस्य की अनुभूति ही नाथयोग की सहजसिद्धि है।

महायोगी गोरखनाथ एवं नाथ सन्तों का सन्त-साहित्य और समाज पर प्रभाव

मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा।
तिस मरणी मरौ, जिस मरणी गोरख मरि दीठा॥

भारतीय धर्म-संस्कृति की साधना पद्धतियों में नाथपन्थ और इसके प्रवर्तक महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी तथा अन्य नाथ सिद्धों का प्रमुख स्थान है। महायोगी गोरखनाथ ने योग-साधना के सैद्धान्तिक पक्ष को व्यावहारिक रूप प्रदान कर जन सामान्य तक पहुँचाया। समग्र भारत ही नहीं, अपितु सीमावर्ती देशों को अपनी योग-विभूति से तथा चरित्र, चिन्तन एवं व्यवहार से बड़ी गहराई तक प्रभावित करने वाले अग्रगण्य महायोगी गोरक्षनाथजी ही थे। धार्मिक मानव उन्हें साक्षात् शिव स्वरूप ही स्वीकार करता है। सच्चा आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देने वाला महायोगी गोरखनाथ का जीवन-चरित्र प्राचीन काल से ही प्रचलित किंवदन्तियों, कथाओं, चमत्कारों, विश्वासों तथा उनकी रचनाओं के माध्यम से प्राप्त होता है।

भारतीय धर्म-साधक-सम्प्रदायों की पतनोन्मुख तथा विकृत स्थिति के समय वामाचारी तान्त्रिक साधना

जोरों पर थी। पंचमकारों का खुलकर प्रयोग हो रहा था। भोगवाद अपनी चरम सीमा पर था। साधक सम्प्रदायों में आचार सम्बन्धी नियमों का पालन नहीं हो पा रहा था। वामाचार-पंचमकार के परम परिशुद्ध और साधनाहितकारी तत्त्वों का दुरुपयोग हो रहा था। ऐसे संकटापन्न समय में महायोगी गोरखनाथ ने भारतीय संस्कृति, धर्म, समाज एवं साधकों के उद्धार हेतु साधना की पवित्रता, संयमपूर्ण जीवन की शक्तिमत्ता, चारित्रिक श्रेष्ठता और आडम्बररहित जीवन का उद्घोष किया। उनकी संस्कृत और हिन्दी रचनाओं से प्रमाणित होता है कि प्राचीन तान्त्रिक साधना-परम्परा और उसके अवस्थागत क्रमिक विकास के महत्त्व की पुनर्प्रतिष्ठा का सम्पूर्ण श्रेय महायोगी गोरखनाथजी को ही दिया जा सकता है। ''धन जीवन की करें न आस, चित्त न राखै कामिनी पास'' जैसे कथनों से स्पष्ट होता है कि कंचन एवं कामिनी के प्रति निर्लोभी एवं निर्मोही पवित्र मानसिकता उनके व्यक्तित्व के विशिष्ट अंग हैं। विभिन्न प्रकार की सिद्धियों के विषय में उनका अभिमत था कि सिद्धियों का प्रयोग सर्वजन हिताय होना ही श्रेयस्कर है। महायोगी गोरखनाथजी के अन्त:करण में सबके प्रति समभाव था। उनके आचार सम्बन्धी उपदेश योग के सैद्धान्तिक अष्टांग योग की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक थे। उनके व्यक्तित्व की सभी विशिष्टताएँ सार्वभौम चारित्रिक आदर्श की सर्वमान्य विशेषताएँ हैं। इन सद्प्रवृत्तियों एवं आदर्शों की उस समय सर्वत्र और सर्वाधिक उपेक्षा हो रही थी। इस सन्दर्भ में महायोगी गोरखनाथ और नाथ-पन्थ के चारित्रिक उच्चादर्श के योगदान की सामाजिक उपयोगिता एवं महत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। हिन्दी साहित्य के कतिपय विद्वानों ने महायोगी गोरखनाथ एवं नाथ-पन्थ की रचनाओं का उल्लेख करते हुए बाह्य पूजा, तीर्थाटन, जाति-पाति इत्यादि के प्रति उपेक्षा, बुद्धि का प्रचार रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूप द्वारा अटपटी वाणी में पहेलियाँ बुझाना, घट के भीतर चक्र, नदियाँ, शून्यदेश आदि मानकर साधना का प्रचार, नाद-बिन्दु, सुरति-निरति जैसे शब्दों, उपदेशों की विशेषताओं का वर्णन तो किया है किन्तु महायोगी गोरखनाथ एवं नाथ-पन्थ की चारित्रिक संयम और सदाचार की विशेषता पर ध्यान नहीं दिया। सम्पूर्ण सन्त-साहित्य के चिन्तन, मनन से यह स्पष्ट होता है कि गोरखनाथजी ने अपने सम्प्रदाय से ही नहीं, इतर सम्प्रदायों से भी आचार एवं संयम को लेकर लोहा लिया। तभी तो इन्द्रिय निग्रह तथा ''यहु मन सकती, यहु मन सीव, यहु मन पंच तत्त्व का जीव। यह मन लै जै उन्मन रहै, तीनि लोक की बाता कहै।'' के रूप में सर्वान्तर्यामी आगत-अनागत बिन्दु स्वरूप में तथा संयम एवं सदाचार के आदर्श के रूप में महायोगी गोरखनाथ के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा सम्भव हो सकी।

यद्यपि वैदिक साधना के साथ समानान्तर रूप से प्रवाहित तान्त्रिक साधना का समान रूप से शैव, शाक्तों, जैनों, वैष्णवों आदि पर प्रभाव पड़ा, तथापि उनसे सदाचार के नियमों का पालन यथाविधि नहीं हो सका। इसलिए महायोगी गोरखनाथजी को कहना पड़ा—

अजपा जपै सुनि मन धरै, पाँचो इन्द्री निग्रह करै।
ब्रह्म अगनि में हौमे काया, तास महादेव बन्दै पाया॥

चतुर्दिक फैले हुए अनाचार को देखकर महायोगी गोरखनाथजी ने ब्रह्मचर्य प्रधान योगयुक्त ज्ञान का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। भक्ति आन्दोलन से पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन महायोगी गोरखनाथजी का योगमार्ग ही था। भारत की कोई ऐसी भाषा नहीं जिसमें महायोगी गोरखनाथजी से सम्बन्धित साहित्य न

पाया जाता हो। इसीलिए तो तुलसीदासजी बोल पड़े—"गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु।" भक्ति को भगाने वाला सम्बोधन से तात्पर्य कदाचित साकारोपासना से है। गुरु गोरखनाथजी की भक्ति मुख्य रूप से केवल गुरु तक ही सीमित है। महायोगी गोरखनाथ ने भक्ति का कहीं भी विरोध नहीं किया है। तुलसीदासजी के कथन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि महायोगी गोरखनाथ न होते तो सन्त साहित्य नहीं होता। गुरु गोरखनाथ और नाथपन्थ की योग-साधना एवं क्रिया-कलापों की प्रतिक्रिया ही सभी निर्गुण एवं सगुणमार्गी सन्तों के साहित्य में स्पष्ट होती है। उस प्रतिक्रिया के प्रवाह में प्राचीन जातिवाद, वर्णाश्रम धर्म, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच के सभी भेदभाव मिट गये। योग मार्ग के गूढ़ एवं गुह्य सिद्धान्तों को साकार करके जन भाषा में व्यक्त एवं प्रचलित करना गोरखनाथजी का समाज के प्रति सबसे बड़ा योगदान था। महायोगी गोरखनाथ के विराट् व्यक्तित्व के कारण ही अनेक भारतीय तथा अभारतीय सम्प्रदाय नाथपन्थ में अन्तर्भुक्त हो गये। गोरखनाथजी के योग द्वारा सिद्धि की प्राप्ति संयमित जीवन और प्राणायाम से परिपक्व देह की प्राप्ति, अन्त में नादावस्था की स्थिति में दिव्य अनुभूति और सबसे समत्व का भाव इत्यादि विशिष्टताओं ने तत्कालीन समाज एवं साधना पद्धतियों को अपने में लपेट लिया। तभी तो मलिक मोहम्मद जायसी ने पद्मावत में महायोगी गोरखनाथजी की महिमा के बारे में कहा है कि—

बिन गुरु पन्थ न पाइये, भूले सो जो भेंट।
जोगी सिद्ध होई तब, जब गोरख सौ भेंट॥

तथा कबीरदासजी ने भी महायोगी गोरखनाथजी की अमरता का वर्णन इस प्रकार किया है—

कांमणि अंग विरकत भया, रत भया हरि नाहि।
साषी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि माहि॥

आगे कबीर कहते हैं—

मन गोरख मन गोविन्दो मन ही ओघड़ होय।
जो मन राखे जतन कर तो आपै करता होय॥ (कबीर ग्रन्थावली)

कबीरदासजी ने यहाँ मन को गुरु गोरखनाथ और गोविन्द के समान बताया है। जो मन को वश में कर ले तो अपने आप ही महायोगी गोरखनाथ और गोविन्द के समान हो जाता है। इसी प्रकार बीजक में सन्त कबीरदासजी कहते हैं—

गोरख रसिया योग के..........कोरो भांजी देह।

अर्थात् महायोगी गोरखनाथजी तो योग के रसिया हैं। कबीर की दृष्टि में महायोगी गोरखनाथजी सदा योग में निमग्न रहने वाले योगी हैं।

सन्त कबीर के अनगिनत साखियों, सबदियों में योगपरक रहस्य पदों का दिग्दर्शन है जिसमें प्राणायाम, षट्चक्र भेदन, कुण्डलिनी जागरण, सहज समाधि, उन्मनी स्थिति इत्यादि योग-साधना के अन्तरंग रहस्यों का लोक जीवन के प्रतीकों के माध्यम से लोक भाषा में ही आकर्षण एवं सजीव वर्णन किया है। नाथ सन्तों की गुरुभक्ति को कबीर ने सर्वात्मना स्वीकार किया और कहा कि—

सब धरती कागद करूँ, लेखनी सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाए॥
और
गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बतांय॥

वस्तुतः समग्र हिन्दी साहित्य की मूल चेतना समृद्ध लोकानुभव है। महायोगी गोरखनाथ एवं नाथ सन्तों का ज्ञान वह किसी शास्त्र ही नहीं, पुराण का ही नहीं, अपितु वह सहज लोकानुभव और लोक व्यवहार का था जिसे वे जी रहे थे, भोग रहे थे। क्योंकि ब्रह्मचर्य, आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध, सिद्धावस्था के विविध अनुभव ऐसा कुछ भी नहीं, जिसके व्यवहार को छोड़कर शास्त्र का आधार लेना पड़े। उनका लोकानुभव यज्ञ और पण्डित, ऊँच-नीच इत्यादि की विभाजक रेखा नहीं खींचता वह मनुष्य मात्र के लिए है। लोक जीवन की विविधता का अनुभव सही मार्ग की पहचान इस लोक को संकट से उबारने तथा स्वानुभूत सत्य को जन-जन तक सम्प्रेषित करना ही महायोगी गोरखनाथजी और नाथ सन्तों का मुख्य ध्येय था।

महायोगी गोरखनाथ तथा अन्य नाथ सन्तों की योग-साधना का प्रभाव हिन्दी साहित्य के साथ-साथ मराठी साहित्य, तेलुगु, उड़िया, बंगाली, तमिल, कन्नड़, तिब्बती, चीनी साहित्य पर भी पड़ा। बंगला काव्य 'गोरक्ष विजय' में महायोगी गोरक्षनाथजी के अयोनिज प्राकट्य पर प्रकाश पड़ता है। तमिल के तिरुमूलर १८ सिद्धों में प्रथम सिद्ध कवि हैं। यह ईसा से ६००० वर्ष पूर्व हुए थे। तिरुमूलर की परम्परा में महासिद्ध कोरवकर ही महायोगी गोरक्षनाथ थे। कन्नड़-कर्नाटक की परम्परा में मंजूनाथ ही महायोगी गोरखनाथ के रूप में पूजनीय हैं। भारद्वाज संहिता में कहा गया है—मंजुनाथो हि गोरक्षं मंजुनाथ मवैक्षत।

इसी प्रकार मलयालम साहित्य में भी नाथपन्थ का प्रभाव स्पष्ट है। उड़िया भाषा में तो नाथ साहित्य प्रचुर मात्रा में है। 'शिशुवेद' महायोगी गोरक्षनाथ प्रणीत ग्रन्थ उड़िया में है। चन्द्रशेखरनाथ प्रणीत 'गोरक्ष संहिता' १६वीं सदी की रचना है। उड़ीसा की लोक परम्पराओं में महायोगी गुरु गोरक्षनाथ और योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख आता है। उड़ीसा के मल्लिकानाथ राजा थे जो महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी से दीक्षित हुए और उनके शिष्य बने। मराठी साहित्य में ज्ञानदेवजी अपनी ज्ञानेश्वरी में कहते हैं कि 'मुझे यह ज्ञान परम्परागत प्राप्त हुआ। गुरु गोरक्षनाथजी से यह ज्ञान गहनीनाथजी को तथा गहनीनाथजी से निवृत्तिनाथ और निवृत्तिनाथ से मुझे प्राप्त हुआ।' इसी प्रकार तेलुगु के सन्त बेमन, वीर ब्रह्म आदि ने भी गुरु गोरक्षनाथजी के भावों का अनुकरण किया।

उत्तरांचल का लोक साहित्य भी महायोगी गुरु गोरखनाथ तथा नाथ-सन्तों की गाथाओं के लिए बड़ा समृद्ध है। यहाँ न केवल स्थानीय मन्दिर एवं पर्वत शिखरों के नाम भी नाथ सिद्धों के नाम से प्रसिद्ध हैं अपितु बदरीनाथ, केदारनाथ आदि के साथ नाथ शब्द नाथ-सन्तों के प्रभाव के कारण ही जुड़े। गढ़वाली लोकगीतों में गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सत्यनाथ, चौरंगीनाथ, नृसिंहनाथ, बटुकनाथ आदि नाथ सन्तों का बार-बार उल्लेख मिलता है जो तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, झाड़-फूँक के लिए प्रसिद्ध थे। लोकगाथाओं में यहाँ जागर गाथाएँ प्रसिद्ध हैं और उन सिद्धों के अवतरण के लिए गाये जाते हैं।

गुरु गोरखनाथजी तथा नाथ सन्तों का प्रभाव सन्त साहित्य के साथ-साथ तत्कालीन राजवंशों पर भी था। ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं जहाँ नाथ सन्तों ने राजा के अयोग्य तथा निरंकुश होने पर राज्य की बागडोर अपने हाथों में ली। बहुत से ऐसे स्थान भी हैं जो नाथ सन्तों के आशीर्वाद से प्राप्त हुए। मेवाड़ का राजवंश बप्पा रावल को गुरु गोरखनाथजी से ही प्राप्त हुआ था। उज्जैन के राजा भर्तृहरि, बंगाल के राजा गोपीचन्द्र और उनकी माता मैनावती, नेपाल के दांग रियासत के युवराज रत्न परीक्षित आदि तमाम राजाओं ने महायोगी गोरक्षनाथजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। नेपाल का शाह राजवंश महायोगी गुरु गोरखनाथजी के आशीर्वाद से ही एकीकृत नेपाल की स्थापना में सफल हुआ।

महायोगी गोरखनाथजी द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वविचार तथा योग-साधना को आज भी उसी रूप में समझा जा सकता है। नाथ सम्प्रदाय को महायोगी गुरु गोरखनाथजी ने भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल बनाया। उसमें जहाँ एक ओर धर्म को विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रुढ़ियों पर कठोरता से विरोध किया, वहीं सामान्य जन को अधिकाधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए योग मार्ग का प्रचार-प्रसार किया। इसीलिए तो गोरखवाणी में स्पष्ट है—

अवधू पूरब दिसि व्याधि का रोग, पछिम दिसि मिर्तु का सौग।
दक्षिण दिसि माया का भोग, उत्थर दिसि सिध का जोग॥

तथा

अवधू अहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ कबहुं न होइगा रोगी।
छठै छमासै काया पलटिबा ज्यूँ को को बिरला वियोगी॥

महायोगी गोरखनाथजी एवं उनकी साधना-पद्धति का संयम एवं सदाचार से सम्बन्धित व्यावहारिक स्वरूप जन-जन में इतना लोकप्रिय हो गया था कि विभिन्न धर्मावलम्बियों, मतावलम्बियों के अपने-अपने धर्म एवं मत को लोकप्रिय बनाने तथा जन सामान्य को अपने कर्म पन्थ में सम्मिलित कर लेने के लिए नाथपन्थ की साधना का मनचाहा प्रयोग किया। इसीलिए गोरखनाथजी ने कहा—

गगन मण्डल में ऊँधा कूवा तहां अमृत का बासा।
सगुरा होई सु भरि भरि पीवै निगुरा जाई पियासा॥

सम्प्रति समाज में नाना प्रकार की कुरीतियाँ, कुप्रभाव, अवांछनीयताएँ परिव्याप्त हैं जो समाज को विखण्डित कर राष्ट्र को कमजोर कर रही हैं। यदि विभिन्न प्रकार की सामाजिक, शारीरिक समस्याओं से मुक्ति प्राप्त करना ही हमारा अभीष्ट है तो नाथ-पन्थ की योग-साधना हमें इन समस्याओं से मुक्ति दिलाने में सहायक हो सकती है। महायोगी गोरखनाथ तथा नाथसन्तों की यह साधना आज भी मनुष्य को सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक और सामाजिक रूप से समुन्नत और स्वस्थ बनाने में निरन्तर क्रियाशील है। महायोगी गोरक्षनाथजी के ही शब्दों में—

पाप पुंन करम का बासां। मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा।
जोगयुक्त जब पाओ ग्यांन। काया षोजौ पद नृबांन। (प्राण संकली-२)

□

महायोगेश्वर आदिनाथ शिव

नाथयोग ही नहीं, सम्पूर्ण योगदर्शन के प्राणस्रोत आदिनाथ महायोगेश्वर शक्तिमान् पार्वतीवल्लभ भगवान् शिव हैं। योगोपदेशामृत उनके सहज कृपा साम्राज्य की अक्षय श्रीनिधि है। यद्यपि योगीसम्प्रदायाविष्कृति ग्रन्थ में नेपाल परम्परा, वर्णरत्नाकर आदि में नवनाथों के उल्लेख में उनके सम्बन्ध में विभिन्न संकल्पनाएँ मिलती हैं और किसी-किसी सूची में वर्णित नागनाथ के नाम को गोरक्षनाथ के नाम का पर्याय तक स्वीकार कर लिया गया है, तथापि यह निर्विवाद है कि आदिनाथ के रूप में शिव ही नाथ सम्प्रदाय की परम्परा में महायोगज्ञान के आदि उपदेष्टा हैं। महायोगी गोरखनाथजी ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'गोरक्षपद्धति' में यह मत व्यक्त किया है कि योगशास्त्र आदिनाथ (शिव) के मुखकमल से निःसृत (वचनामृत) है। उनका कथन है कि योगशास्त्र का ही नित्यपाठ करना चाहिए, अन्य (दर्शन-) शास्त्रों के विवेचन से क्या प्रयोजन है। यह योगशास्त्र आदिनाथ के मुखकमल से निर्गत (प्रकट) है—

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्॥ (गोरक्षपद्धति २। १००)

नाथ सम्प्रदाय के विश्वकोश 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' के मंगलाचरण में नाथ की स्थिति के निरूपण में कहा गया है—

निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा।
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः॥
वामभागे स्थितः शम्भुः सव्ये विष्णुस्तथैव च।
मध्ये नाथः परं ज्योतिस्तज्ज्योतिर्मे तमोहरम्॥ (गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह)

जिनकी बायीं ओर निर्गुण स्वरूप (ब्रह्म-शिव) और दाहिनी ओर अद्भुत निज शक्ति-इच्छा शक्ति (परमेश्वरी पराम्बा महामाया) विराजमान हैं, और बीच में जो स्वयं पूर्ण अखण्ड (परमशिव) सर्वाधार, द्वन्द्वातीत (अलख निरञ्जन, द्वैताद्वैतविवर्जित स्वरूप) विद्यमान हैं, उन श्रीनाथ (आदिनाथ, आदिनाथ परमेश्वर) को नमस्कार है। जिसकी बायीं ओर (कल्याणस्वरूप शिव) शम्भु और दाहिनी ओर विष्णु विराजमान हैं और मध्य भाग में परम ज्योति-स्वरूप वे (अलख निरञ्जन परमेश्वर) श्रीनाथ ही विद्यमान हैं, वही श्रीनाथस्वरूप ज्योति (हमारे हृदय में स्थित अज्ञान-) अन्धकार का नाश (हरण) करती है अथवा

करने वाली है, हमारे आत्म-स्वरूप की प्रकाशिका है।

आदिनाथ शिव ही नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक हैं, और उन्हीं के योग-ज्ञानामृत का कल्पवृक्ष नाथयोग है। सिद्धपुरुष योगीराज गम्भीरनाथजी महाराज ने शिव की योगीश्वरता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—'शिव योगीश्वर हैं। वे योगी, ज्ञानी, संन्यासी और मुमुक्षुओं के आदर्श हैं। वे नित्य एकरूप रहते हैं। महायोगीश्वर शिव के तत्त्वज्ञानदीप्त और परमानन्दमय, परवैराग्यप्रतिष्ठ और परम प्रेममण्डित, आत्मसमाहित और जीवानुग्रहतत्पर, प्रशान्त, मधुर और ज्योतिर्मय महामूर्ति का ध्यान करते-करते तन्मयता प्राप्त हो जाने पर संसारासक्ति अपने अनजान में ही विनष्ट हो जाती है, अन्त:करण अनायास ही सब संकीर्णता, रागद्वेष और अभिमान से अव्याहति पा जाता है, सहज ही अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द की स्फुरणा होती है और विश्वहित में स्वार्थ-त्याग की प्रवृत्ति स्वभाव बन जाती है।' (योगरहस्य, पृष्ठ ६४)

शिवोपदिष्ट नाथयोग पर प्रकाश डालते हुए भगवती पार्वती ने योगबीज के आरम्भ में शिव की आदिनाथ के रूप में जो वन्दना की है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि योगज्ञान आदिनाथ शिव की ही देन है तथा शिव ही आदिनाथ हैं।

देवी पार्वती के वचन हैं—

नमस्ते आदिनाथाय विश्वनाथाय ते नमः।
नमस्ते विश्वरूपाय विश्वातीताय ते नमः॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणे क्लेशहारिणे।
नमस्ते देवदेवेश! नमस्ते परमात्मने॥
योगमार्गकृते तुभ्यं महायोगीश्वराय ते।
नमस्ते परिपूर्णाय जगदानन्दहेतवे॥ (योगबीज १-३)

हे आदिनाथ (अलख निरञ्जन, स्वस्वरूप परमेश्वर)! समस्त विश्व के पालक विश्वनाथ! आप को नमस्कार है। हे विश्व में व्यापक विश्वरूप! आप को नमस्कार है। हे विश्वातीत, (द्वैताद्वैतविवर्जित) अखण्ड परमात्मस्वरूप, निराकार, निर्विकार स्वसंवेद्य महेश्वर! आप को नमस्कार है। उत्पत्ति (सृष्टि), स्थिति (पालन और रक्षण) तथा संहार (लय) करने वाले, क्लेश-दैहिक, दैविक, भौतिक तापों का तथा जन्म-मरणस्वरूप दु:खों का नाश करने वाले, देवों के देव (महादेव)! आप को नमस्कार है। परमात्मा परमेश्वर! आपको नमस्कार है। (जीवात्मा-परमात्मा के सामरस्यरूप) योग-मार्ग के प्रवर्तक, महायोगियों के ईश्वर (महायोगीश्वर) परात्पर-अखण्ड बोधस्वरूप, परिपूर्ण, समस्त जगत् में आनन्दरूप में अभिव्यक्त-जगदानन्दकारण परमेश्वर! आप को नमस्कार है। गोरखनाथजी की दृष्टि में नाथ-योग के प्रवर्तक-उपदेष्टा साक्षात् आदिनाथ शिव ही हैं—इसकी पुष्टि पार्वतीकृत उपर्युक्त आदिनाथ वन्दना में परिलक्षित है। पार्वती ने 'योगबीज' रचना के अन्त में शिव की योग राज के रूप में पुन: वन्दना की है।

नमस्ते योगराजाय सर्वज्ञाय नमो नमः। (योगबीज १९०)

महायोगी जालन्धरनाथ ने द्वैताद्वैतविलक्षण नाथ तेज की वन्दना में श्रीशिव के सहज रूप और स्वरूप का जो समन्वयात्मक वर्णन किया है, उससे भी यही सिद्ध होता है कि नाथ-योग के आदि उपदेष्टा

आदिनाथ भगवान् शिव ही हैं, जिनका अनुग्रहमय विग्रह योगमुद्राओं, त्रिशूल, नाद तथा भस्म आदि से समलंकृत है। जालन्धर नाथ का कथन है—

वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहरं भानुतेजस्करं वा
सत्कर्तृव्यापकं वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उतपरं योगिनं शंकरं वा। (सिद्धान्तवाक्य)

जो संसार के अन्धकार का नाश करने के लिए साक्षात् सूर्य के प्रकाश के समान है, जो सत्कर्मों में परिव्याप्त है, जो प्राणवायु का संचालक है, जो आकाश के समान निर्झर है, जो मुद्रानादत्रिशूल से परिशोभित है, जो भस्मयुक्त खप्पर धारण करता है, जो द्वैत (सकल) और अद्वैत (निष्कल) है, अथवा द्वैत और अद्वैत दोनों से परे महायोगी शंकर है, मैं उस नाथतेज की वन्दना करता हूँ। निस्सन्देह यह नाथतेज अनिर्वचनीय पद है, इस पद का वर्णन किस तरह किया जाए, यह चिन्त्य है, इसका चिन्तन किस तरह किया जाए। इसलिए यह पद जो है, वैसा ही है। मेरा तो उस नाथतेज को नमस्कार है—

अवाच्यमुच्येत कथं पदं तद
चिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तयेत्।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै
नमोऽस्तु कस्मै वत नाथतेजसे। (गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह)

यह युक्तिसंगत है कि नाथसिद्ध भगवान् आदिसिद्ध-आदिनाथ शिव की ही योगपरम्परा के अनुवर्ती हैं। नाथ शब्द उन लोगों का बोध कराता है, जिन्होंने न केवल परमात्मतत्त्व का अपनी साधना द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया हो, प्रत्युत जो इस प्रकार पूर्ण सफल बनकर उसके तद्रूप तक भी हो चुके हों और जो दूसरों के लिए आदर्श कहे जा सकते हों। नाथसिद्ध शब्द का एक पर्यायवाची शब्द नाथयोगी भी है, जिसमें जुड़े 'योगी' को 'सिद्ध' से भिन्न नहीं कहा जा सकता। शिव आदिनाथयोगी अथवा आदिनाथसिद्ध हैं।

परम तत्त्व निस्सन्देह नाथस्वरूप तत्त्व है, यह योगतत्त्व है। इस योगतत्त्व के प्रकाशक साक्षात् भगवान् शिव आदिनाथ ही हैं। महायोगी गोरक्षनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में स्वीकार किया है कि देदीप्यमान शिव ही तत्त्वकर्ता हैं—

देदीप्यमानस्तत्वस्य कर्ता साक्षात् स्वयं शिवः। (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

योगतत्त्व शिवत्व का ही वाचक अथवा पर्याय है। नाथस्वरूप अथवा नाथतत्त्व का अत्यन्त मार्मिक विवेचन 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में उपलब्ध होता है। कहा गया है कि जो अद्वैत के ऊपर वर्तमान हैं तथा साकार-निराकार से परे हैं, उन नाथ से निराकार ज्योतिस्वरूप नाथ उत्पन्न हुए। उनसे साकार नाथ (योगोपदेष्टा पार्वतीपति शंकर) की उत्पत्ति हुई—

'अद्वैतोपरिवर्त्तिनिराकारसाकारातीतनाथान्निराकारज्योतिर्नाथो
जातस्ततः साकारनाथो जातः।' (गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह)

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में उद्धृत 'राजगुह्य' पुस्तक के एक श्लोक के पहले चरण में नाथ शब्द की

व्याख्या है—

'नाकारो नादरूपं च थकारः स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवैकः......................।'

ना का अर्थ है नादरूप-अनादिरूप और 'थ' का अर्थ है स्थापित होना। नाथ घट-घट में व्याप्त परमशिव परमात्मा अलख निरञ्जन है। थकार सदा तीनों भुवनों को स्थापित करता रहता है—

जोगारम्भ की याही वाणी।
सब घटि नाथ एकै करि जाणी। (गोरखबानी दयाबोध १)

नाथसम्प्रदाय में नाथ-परमेश्वर शिव ही परम उपास्य तत्त्व हैं, वे देवताओं के लिए भी अगोचर अविनाशी तत्त्व हैं, योगस्थ योगी ही उनके चरणों का ध्यान करता है—

श्रीनाथश्चाक्षयो देवो देवानामप्यगोचरः।
तत्पादौ चिन्तयेद् योगी अक्षयो योगनिश्छलः। (गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह-राजगुह्य)

गिरिजारमण भगवान् शिव के चरितसमुद्र का पार पाना वेदों के लिए भी कठिन है, क्योंकि वे वेदातीत स्वसंवेद्य महेश्वर हैं। 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में 'अथनाथ सिद्धवन्दना लिष्यत' के अन्तर्गत प्रेमदास ने आदिनाथ की वन्दना के क्रम में मत्स्येन्द्र और गोरखनाथजी का जो नामोल्लेख किया है, उससे भी स्पष्ट हो जाता है कि आदिनाथ ही शिव हैं—

नमो आदिनाथं भए है सुनाथं।
नमो सिध मछिन्द्रं बड़ो जोगीन्द्रं।
नमो गोरषसिधं जोगजुगति विधं। (नाथसिद्धों की बानियाँ २-३)

गुजरात प्रदेश में बड़ौदा के सन्निकट दर्भावती (डभोई) के किले में नाथसिद्धों की मूर्तियों के साथ आदिनाथ की मूर्ति उपलब्ध है, जो उनके शिव-स्वरूप का परिचायक है। महायोगी गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में शिव की व्यापक महिमा का विवेचन करते हुए आदिनाथ का तात्त्विक चिन्तन किया है। नाथयोग के मूल पुरुष के रूप में शिवतत्त्व की व्याख्या में गोरखनाथजी का कथन है कि सर्वशक्तिमान् होने से ही आदिनाथ शिव सूक्ष्म, स्थूल, समस्त भौतिक पदार्थों के परमकारण परमेश्वर हैं। वे अपने स्वरूप में परात्पर हैं, चैतन्यस्वरूप सबमें व्यापक हैं, रुद्र, विष्णु आदि रूपों में अवतरित होने में समर्थ हैं। शक्तियुक्त होने पर ही वे सर्वसमर्थ हैं, शक्तिरहित होने पर कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। अपनी निजाशक्ति से युक्त होने पर ही वे विश्व के साक्षी-आभासक हैं—

'अतएव परमकारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्वस्वरूपतया सर्वतो मुखः सर्वाकारतया स्फुरितं शक्नोतीत्यतः शक्तिमान्, शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन। स्वशक्त्यासहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत्।' (सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४। १३)

नाथयोग की अभिव्यक्ति आदिनाथ शिव के ही अनुग्रह का फल है। 'योगबीज' में वर्णन है कि भगवती पार्वती ने शंकर से पूछा कि सभी जीव सुख-दुःख रूप मायाजाल से वेष्टित हैं, उनकी मुक्ति किस तरह हो। आप मोक्षप्रद मार्ग-योगमार्ग का वर्णन कीजिये। शंकर ने कहा कि हे देवताओं की अधीश्वरी

पार्वती! मैं नाथमार्ग, सिद्धामृतमार्ग का वर्णन करता हूँ, इसका आश्रय ग्रहण करने पर सभी जीव, जो संसार-बन्धन में ग्रस्त हैं, मुक्त हो जाते हैं। यह सर्व सिद्धिकर मार्ग है।

बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतः परम्।
नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम्॥ (योगबीज ७-८)

पार्वतीजी ने अपने बार-बार अवतार-ग्रहण को ध्यान में रखकर पूछा कि अज्ञान के कारण ही संसाररूप जीव की उत्पत्ति है और सत्स्वरूप का ज्ञान होने पर वह मुक्ति-पद प्राप्त करता है। योगी की साधना से उनका क्या कार्य सिद्ध होता है। शंकर ने समाधान किया कि चाहे कोई ज्ञाननिष्ठ हो, चाहे विरक्त, धर्मज्ञ और विजितेन्द्रिय हो, बिना योग के कोई-देवता भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

बिना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये। (योगबीज ३२)

यद्यपि शिव (शक्तिमान्) और पार्वती (शक्ति) में रंचमात्र भी भेद नहीं है, दोनों-के-दोनों चन्द्रमा और चन्द्रिका के समान अभिन्न हैं, तथापि योगज्ञान प्राप्त करने की पात्रता शिव ने शक्ति में ही सुरक्षित रखी और यही कारण है कि नाथयोग का उपदेश शंकर ने पार्वती को प्रदान किया।

अपने भक्त में अनुरक्त-अनुग्रहयुक्त होने पर ही शिवजी योगानुशासन का सदुपदेश प्रकाशित करते हैं। उनकी स्वीकृति है—

अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ष्ये योगानुशासनम्। (शिवसंहिता १।२)

शिवजी ने जब भगवती पार्वती को योगोपदेश-नाथयोगज्ञान प्रदान किया, तब दैवयोग से उसका श्रवण योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने किया और उनके द्वारा महायोगी गोरखनाथ ने उसे ग्रहण किया। इस तरह आदिनाथ भगवान् शंकर द्वारा उपदिष्ट योगज्ञान-परम्परा अद्यपर्यन्त नाथसम्प्रदाय में ग्रहीत होती आ रही है। इस परम्परा का आधार अन्य योगशास्त्रों के अतिरिक्त नारदपुराण में उपलब्ध होता है। आदिनाथ भगवान् महेश्वर ने मणिप्रदीप्त सप्तश्रृंग पर भगवती उमा से योगतत्त्वोपदेश-महाज्ञान का वर्णन आरम्भ किया। भगवती के निद्राभिभूत होने पर मत्स्य के उदर से निकल कर मत्स्येन्द्रनाथ ने यह योगतत्त्वोपदेश सुना। उन्होंने भगवान् शंकर को देवीसहित नमस्कार कर समस्त वृत्तान्त का वर्णन किया। महेश्वर शिव ने प्रसन्नतापूर्वक अपनी गोद में बैठा कर उनका मुख चूमा और उनको अपना पुत्र सिद्धनाथ मत्स्यनाथ कहा—

तत्वोपदेशाय जगाम भद्रे स लोकलोकाचलमप्रमेयः।
तत्सौम्यशृंगे मणिभिः प्रदीप्ते स्थित्वा क्षणार्धं हरिमग्नचेता।
देवीमुमां सम्प्रतिबोध्यशक्त्या तालत्रयेणाप्यभिभूय सत्ववान्॥
उवाच तत्त्वं सुरहस्यभूंत यद्वा दशाणार्थनिजस्वरूपम्।
ततस्तु सा शैलसुता महेशं मारान्तकं यावदभिप्रणम्य॥
अज्ञायतत्वं समवस्थिताऽभूत्तावत्स मत्स्यस्तु महार्णवस्थः।
द्रुतं समुत्प्लुत्यजगामशृंगं यो विप्रवासो ह्युदरेस्थितोऽस्य
स तत्त्वसिद्धोऽखिलबन्धमुक्तः॥

निर्गम्य मत्स्योदरतः शुभास्ये नमः प्रचक्रेभवयोः पुरस्तात्।
विज्ञाततत्त्वोऽपि महेश्वरस्तं पप्रच्छ तद्गर्भगतेर्निदानम्॥
सवर्णयामास यथार्थमेव तयोः पुरः सर्वमपि प्रवृत्तम्।
आर्कण्यतद्वृत्तमनुप्रसन्ना सोमामहेशानुमतिं च कृत्वा॥
तं कल्पयामास सुतं शुभांगं सोत्संग आस्थाय चुचुम्बवक्त्रम्।
सुतोममायं किलमत्स्यनाथो विज्ञाततत्वोऽखिलसिद्धनाथः॥

(नारदपुराण उत्तर. ६९।१७-२३)

महाराष्ट्रीय नाथसम्प्रदायपरक गुरु-परम्परा में सबसे पहले आदिनाथ के ही नाम का उल्लेख है। सन्त योगी ज्ञानेश्वर ने नारदपुराण की सप्तश्रृंग पर पार्वती के प्रति शिवोपदिष्ट योगपरम्परा की पुष्टि अपने गीताभाष्य ज्ञानेश्वरी में की है। ज्ञानेश्वर महाराज का कथन है—

क्षीरसिन्धु परिसरीं। शक्ति च्या कर्णकुहरीं।
नैणां कें श्रीत्रिपुरारी। सांगितले जें।
ते क्षीरकल्लोला आन्तु। मकरोदरीं गुप्तु।
होता तया चाहातु। पैहे जालें।
तो मत्स्येन्द्र सप्तश्रृंगीं भग्नावयवा चौरंगीं।
भेटावा कीं तो सर्वांगीं। सम्पूर्ण जाला।
मग समाधि अव्यत्यया। भोगावीं वासना यया।
ते मुद्रा श्रीगोरक्षराया। दिघलीं मीनीं।
तेणें योगाब्जिनी सरोवरु। विशयविध्वंसैक वीरु।
तिये पदरीं का सर्वेश्वरु। अभिषेकिले।
मग तिहीं ते शाम्भव। अद्वयानन्दवैभव।
सम्पादिलें सभ्रमव। श्रीगहिनीनाथा।
तेणे कलिकलितु भूतां। आलां देखोनि निरुता।
ते आज्ञा श्रीनिवृत्तिनाथा। दिघलीं ऐसी।
ना आदिगुरु शंकरा। लागोनि शिष्यपरम्परा।
बोधा चा हा संसारा। जाला जो आमुते। (ज्ञानेश्वरी १८ । ओबी १७५१-५८)

क्षीरसमुद्र के तट पर श्रीशंकर ने, न जाने, कब एक बार शक्ति-पार्वती के कान में जो उपदेश दिया था, वह क्षीरसमुद्र की लहरी में किसी मत्स्य के पेट में गुप्त मत्स्येन्द्रनाथ के हाथ लगा। मत्स्येन्द्रनाथ सप्तश्रृंग पर्वत पर चौरंगीनाथ से मिले, जिनके हाथ-पाँव लूले थे। मिलते ही चौरंगीनाथ पूर्णांग हो गये। अचल समाधि का उपभोग लेने की इच्छा से मत्स्येन्द्रनाथ ने उपदेश गोरखनाथ को दिया। इस तरह उन्होंने योगरूपी कमलिनी के सरोवर, विषयों को विध्वंस करने वाले एक ही वीर शंकर के रूप में उस पद पर अभिषिक्त किया। शंकर से प्राप्त वह अद्वैतानन्द-वैभव गोरखनाथ से गहिनीनाथ ने ग्रहण किया। वे सब

प्राणियों को कलिकाल से ग्रस्त देखकर दौड़ आए और निवृत्तिनाथ को यह आज्ञा दी कि आदिगुरु शंकर के शिष्य-परम्परानुसार हमें जो ज्ञाननिधि प्राप्त हुई है, उसे लेकर कलि के जीवों की रक्षा करो। इस तरह सन्त ज्ञानेश्वर ने स्वीकार किया है कि नाथ सम्प्रदाय में योगज्ञान-निधि के आदि उपदेष्टा भगवान् आदिनाथ शंकर हैं।

महाराष्ट्रीय परम्परा की ही तरह बंगीय परम्परा में भी आदिनाथ को ही योगज्ञान का आदि उपदेष्टा स्वीकार किया गया है। फैजुल्लाकृत 'गोरक्षविजय' और श्यामदास कृत 'मीन चेतन' की कथा में वर्णन है (बंगला साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९३७, लेखक सुकुमारसेन)—आद्य और आद्या ने पहले देवताओं की सृष्टि की। बाद में चार सिद्धों की उत्पत्ति हुई। एक कन्या भी हुई—गौरी। आद्य के आदेश से शिव ने गौरी से विवाह किया। चार सिद्ध थे मीननाथ, गोरक्षनाथ, हाडिफा (जालन्धरनाथ) और कानफा (कृष्णपाद)। गौरी ने शिव के गले में मुण्डमाला देखकर उसका कारण पूछा। शिव ने बताया कि ये मुण्ड गौरी के ही हैं। गौरी ने कहा कि क्या कारण है कि आप मरते नहीं और गौरी मरती रहती है। शिव ने कहा कि यह गुप्त रहस्य है। चलो, हम लोग क्षीर-सागर में डोंगी पर बैठ कर वार्तालाप करें, इस सम्बन्ध में जानकारी होगी। दोनों क्षीरसागर में पहुँचे और इधर मीननाथ मछली के रूप में डोंगी के नीचे बैठ गये। देवी को शिव का ज्ञानोपदेश सुनते-सुनते जब नींद आ गयी, तब भी मीननाथ हुँकारी भरते रहे। इस आवाज से जब देवी की नींद टूट गयी, तो उन्होंने कहा कि मैंने महाज्ञान सुना ही नहीं। शिव ने डोंगी के नीचे मीननाथ को देखा। उन्होंने शाप दिया कि एक समय तुम यह महाज्ञान भूल जाओगे। आदिगुरु शिव कैलाश पर चले गये। इस तरह आदिनाथ से मीननाथ ने (नाथ-) योगज्ञान प्राप्त किया।

महाराष्ट्रीय-मराठी साहित्य में मध्यकालीन शैव-वैष्णव परम्परा की समन्वयवादी भागवतधर्मपरक दृष्टि से 'योगिसम्प्रदायाविष्कृत' रचना अत्यन्त महनीय है। यह कृति सन्त ज्ञानेश्वर की कही जाती है। जो भी हो, इस ग्रन्थ में श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में नवयोगीश्वरों के सन्दर्भ-प्रस्तुतीकरण के माध्यम से नवनारायणों को नवनाथों की संज्ञा प्रदान की गयी है। वे ऋषभदेव के उनकी पत्नी इन्द्रकन्या जयन्ती से उत्पन्न नवपुत्र कविनारायण हरिनारायण, अन्तरिक्ष नारायण, प्रबुद्धनारायण, पिप्पलायन नारायण, आविर्हेत्र नारायण, दुमिल नारायण, चमस नारायण और करभाजन नारायण हैं। ऋषभदेव को आदिनाथ कहा गया है। इन नवों नारायणों को 'भागवत धर्मदर्शना' (श्रीमद्भा. ४। ४ । १२) कहा गया है। कहा जाता है कि दिगम्बर संन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिए शुद्ध सत्वमय विग्रह स्वयं भगवान् ऋषभदेव के रूप में प्रकट हुए—

'धर्मान्दर्शियुतकामो वातारशनानां श्रमणानामृषोणमूर्ध्व मन्थिनां शुक्लया तनुवावततार।
(श्रीमद्भा. ५। ३। ०२०)

नवों नारायण-नवों योगेश्वर आत्म-विद्यासम्पन्न दिगम्बर (योगी) थे।

'श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः।'(श्रीमद्भा. ११। २। २०)

नामदेव, निवृत्तिनाथ, सन्तयोगी ज्ञानेश्वर से लेकर परम भागवत सन्त तुकारामजी महाराज, आदिपर्यन्त सन्त-महात्माओं की अचल निष्ठा भगवान् पण्ढरीनाथ-रुक्मिणीवल्लभ श्रीकृष्ण में थी और साक्षात् गहिनीनाथ

ने निवृत्तिनाथ को श्रीकृष्ण मन्त्र प्रदान कर कृतार्थ किया था। मत्स्येन्द्रनाथ से गोरखनाथजी ने और गोरखनाथजी से गहिनीनाथ ने नाथयोग का उपदेश ग्रहण किया, जिसका प्रवर्तन आदिनाथ ने किया था। अतएव यह स्पष्ट है कि भागवत धर्म-वारकरीमत और शैवनाथ योग के समन्वय के मूलाधार आदिनाथ शिव का ही योगोपदेश है।

'हठयोगप्रदीपिका' की नाथ सम्प्रदाय में अमित मान्यता है। उसके रचयिता ने हठयोगप्रदीपिका १। ५ में आदिनाथ और तत्पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ से ही योगज्ञान की उपदेश-परम्परा का पोषण किया है—

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशबिरानन्दभैरवाः।
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षविलेशयाः। (हठयोगप्रदीपिका १। ५।)

उपर्युक्त श्लोक के भाष्य में महामति ब्रह्मानन्द ने अपनी 'ज्योत्स्ना' टीका में भगवान् आदिनाथ शिव द्वारा पार्वती के प्रति उपदिष्ट योगज्ञान और मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा उसके श्रवण का महत्त्व व्यक्त किया है। ब्रह्मानन्द का कथन है—'आदिनाथ शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमों नाथः। ततो नाथसम्प्रदायः प्रवृत्त इति नाथसम्प्रदायिनो वदन्ति। मत्स्येन्द्राख्यश्च आदिनाथंशिष्यः। अत्रैवं किंवदन्ती-कदाचिदादिनाथ कस्मिंश्चिद् द्वीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदिष्टवान्। तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः संयोगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्छलकायोऽवतस्थे। तं तादृशं दृष्ट्वानेन योगः श्रुतः इति तं मत्वा कृपालुरादिनाथो जलेन प्रोक्षितवान्। स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येन्द्रः सिद्धोऽभूत। तमेव मत्स्येन्द्रनाथ इतिवदन्ति।' इसका आशय यह है कि आदिनाथ शिव ही समस्त नाथों में आदिनाथ हैं। नाथसम्प्रदायी कहते हैं कि इन्हीं नाथ से नाथसम्प्रदाय प्रवर्तित है। मत्स्येन्द्र आदिनाथ के शिष्य हैं। इस सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि एक बार आदिनाथ किसी द्वीप में स्थित थे, उस स्थान को निर्जन और एकान्त मानकर उन्होंने भगवती गिरिजा (पार्वती) को योगज्ञान का उपदेश दिया। तीर के समीप नीर में स्थित एक मत्स्य ने उस उपदेश का श्रवण किया और वहाँ एकाग्रचित तथा निश्छलकाय-स्थिर होकर स्थित था। उसको उस हालत में देखकर कृपालु आदिनाथ ने सोचा कि इसने योगज्ञान का श्रवण कर लिया है। उन्होंने उस पर जल छिड़का। जल के छिड़कने मात्र से वह दिव्यकाय मत्स्येन्द्र सिद्ध हो गया। उन्हीं मत्स्येन्द्र सिद्ध को मत्स्येन्द्रनाथ कहा जाता है। ज्योत्स्ना टीकाकार ब्रह्मानन्द के इस मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व समय में आदिनाथ की यह योग परम्परा अत्यन्त प्रसिद्ध थी।

यह नितान्त निर्विवाद है कि भगवान् आदिनाथ शिव ने नाथयोगज्ञान का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया तथा गोरक्षरूप में साक्षात् अभिव्यक्त होकर उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा स्थापित परम्परा का संरक्षण किया। इस तथ्य का रहस्योद्घाटन स्वयं महायोगी गोरखनाथजी ने अपनी 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' रचना में किया है।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा॥ (सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५। २२)

वेद, स्मृति और अन्य सभी शास्त्रों में योगमार्ग से श्रेष्ठ अन्य मार्ग है ही नहीं, इस योगमार्ग का निर्वचन साक्षात् शिव ने प्राचीन काल में किया है। तन्त्र और योग के महाज्ञान के समन्वय के धरातल पर आदिनाथ शिव की षोडशनित्यातन्त्र में वन्दना की मान्यता 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में प्रस्तुत कर संग्रहकर्ता ने

आदिनाथ शिव की योगोपदेष्टा के रूप में महिमा स्वीकार की है—

नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रह॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनायते॥
स्वतन्त्राय दयाशक्तिविग्रहाय रसात्मने। (गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह)

हे नाथ! आप गुरुरूपधारी शिव हैं, आप विद्या के अवतार की सिद्धि के लिए अनेक शरीर धारण करते हैं, आप सदा नित्यनवीन बने रहते हैं। नौ नाथ आप के ही रूप हैं, एकमात्र परमार्थ ही आपका स्वरूप है। आप सम्पूर्ण अज्ञान-अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य हैं, आप सच्चिदानन्दब्रह्मस्वरूप परमात्मा और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। आप साक्षात् दयास्वरूप हैं, आप रस हैं। भगवन्! आप को नमस्कार है।

महायोगी गोरखनाथजी कृत 'योगबीज' में शिव ने योग-क्रम पर प्रकाश डालते हुए भगवती पार्वती से कहा है कि योग ही परम पुण्य है, योग ही परम सूक्ष्म ज्ञान है, योग ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है—

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं सुखम्।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगमार्गात्परं न हि॥ (योगबीज ८७)

आदिनाथ-प्रवर्तित महायोगमार्ग एक है। जन्मान्तर के भेद से यह दो प्रतीत होता है। यह क्रम से प्राणवायु के अभ्यास से प्राप्त होता है। एक ही शरीर से निरन्तर धीरे-धीरे योगाभ्यास से चिरकाल में सिद्धि प्राप्त होती है। यह मर्कटक्रम है—

आदिनाथमहामार्ग एक एव हि नान्यथा॥
द्विधेव सम्प्रतीयेत तज्जन्मान्तरभेदतः॥
क्रमेण प्राप्यते प्राणो सोऽभ्यासादेव नान्यथा॥
एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छनैः शनैः।
चिरात् सम्प्राप्यते सिद्धिः मर्कटक्रम एव सः। (योगबीज १५४-१५७)

यदि बिना योगसिद्धि के ही प्रमाद से शरीर नष्ट होता है तो पहले ही वासना से युक्त होने पर साधक दूसरा शरीर पाता है। तदन्तर पुण्य से सद्गुरु के संग से पश्चिम सुषुम्ना-द्वार के मार्ग से सिद्धि-फल मिलता है। पहले जन्म के अभ्यास से तत्काल फल मिलता है। यह काकमत है—

एतदेव हि विज्ञेयं तत्काकमतमुच्यते। (योगबीज १६०)

योग-साधन प्रक्रिया के समस्त प्रधान अंग-आसन, मुद्रा, बन्ध, प्राणायाम नादानुसन्धान, कुण्डलिनी-जागरण, अमनस्कता आदि का प्रकाशन नाथयोग के परिक्षेत्र में भगवान् आदिनाथ की ही देन है, इन अंगों पर महायोगेश्वर आदिनाथ के सांगोपांग निर्देशन योगशास्त्र में उपलब्ध होते हैं। स्वसंवेद्य परमात्म तत्त्व अलख-निरञ्जन का अन्तर्साक्षात्कार ही आदिनाथ द्वारा प्रतिपादित योग का विशिष्ट प्राप्तव्य-प्रतिपाद्य है। योगासन के सम्बन्ध में उल्लेख है—

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजातयः।
एतेशामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः॥
चतुरशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम्।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कुतम्॥ (गोरक्षशतक ८-९)

जितने प्रकार के जीव हैं, उतने ही प्रकार के योगासन हैं, उनके समस्त भेद शिवजी ने चौरासी लाख आसनों में से प्रत्येक का अच्छी तरह वर्णन किया है। चौरासी आसनों को उनमें मुख्य बताया है।

इसी तरह शैव अथवा नाथयोग के मुख्य अंग मुद्राबन्ध-साधना पर कहा गया है कि श्रीआदिनाथ द्वारा (महामुद्रा, महावेध, महाबन्ध, खेचरी, उड्डियानबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, बज्रोली, शक्तिचालिनी आदि सम्बन्धी योगमहाज्ञान) उपदिष्ट आठ ऐश्वर्यों वाला योगवाङ्मय सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं के लिए दुर्लभ है—

आदिनाथोदितं सर्वम् एश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि॥ (हठयोगप्रदीपिका ३। ८)

आदिनाथ शम्भु ने ही दस प्रमुख मुद्राओं का प्रकाशन किया है—

'इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना' (हठयोगप्रदीपिका ३। १२८)

हठयोगप्रदीपिका के रचयिता ने कहा है कि श्रीआदिनाथ शिव ने चित्त को आत्मस्वरूप में लय करने की सवा करोड़ विधियाँ बतायी हैं। वे सभी सिद्धिदायिनी हैं—

श्रीआदिनाथेन सपादकोटि
लयप्रकाराः कथिता जयन्ति। (हठयोगप्रदीपिका ४। ६६)

आशय यह है कि सम्पूर्ण हठयोगविद्या ही भगवान् आदिनाथ शिव की देन है। हठयोगविद्या को नाथयोग-साधना में अमित महत्त्व दिया गया है। हठयोगप्रदीपिका के रचयिता ने ग्रन्थ के मंगलाचरण में हठयोग के प्रकाशक आदिनाथ शिव की वन्दना की है—

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै
येनोपदिष्टा हठयोग विद्या। (हठयोगप्रदीपका १। १)

नाथयोग का चरम साधन अमनस्कयोग-तारकयोग स्वीकृत है। वामदेव और शिव के सम्वाद के रूप में महायोगी गोरखनाथ ने इस सम्वाद का अपने 'अमनस्कयोग' ग्रन्थ में प्रकाशन किया है। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि कैलाश के शिखर पर आसीन सर्वज्ञ शिव से वामदेव ने मुक्तिप्रद उपाय पूछा था। शिव ने कृपापूर्वक कहा था—

शृणु वत्स महाप्राज्ञ संसारार्णवतारकम्।
अगम्यं सर्ववेदानां गोपितं सकलागमे॥
तमहं सम्प्रवक्ष्यामि................।
अस्त्येकस्तारको योगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः।
स एव द्विविधः प्रोक्तः पूर्वापरविभागतः॥ (अमनस्कयोग १ । ३-५)

भगवान् आदिनाथ ने पार्वती को सावधान किया है कि मेरे द्वारा उपदिष्ट नाथयोगज्ञान शिवभक्तों-शैव (योगियों) को ही देना चाहिए। यह परम गोपनीय है—

दातव्यं शिवभक्तेषु नाथमार्गपरेषु च।
योगबीज महागुह्यं यन्मया प्रकटीकृतम्॥ (योगबीज १८९)

यह सिद्ध हो गया कि नाथयोगमार्ग शैवयोग-मार्ग है और आदिनाथ शिव द्वारा उपदिष्ट योगज्ञान के अनुवर्ती नाथसिद्धों और नवनाथों द्वारा रससिक्त योगामृत का समुद्र है।

भगवान् आदिनाथ के उपदेश का सारतत्त्व यह है कि ईश्वर आदि जितने भी देवता हैं, वे सब एक ही परमात्मा में देखे जा सकते हैं। शरीर आदि सभी जड़ पदार्थ उसी एक विद्या (महाशक्ति) में निहित होने के कारण आत्मा से भिन्न प्रतीत होते हैं। आत्मा से भिन्न जो कुछ भी है, वह कल्पना मात्र है, उसे किसी ने भी सत्य नहीं माना। एक सत्ता से परिपूर्ण यह आत्मा ही सर्वत्र आनन्दस्वरूप विद्यमान रहता है। उससे भिन्न कोई नहीं है। जिसने ऐसा ज्ञान प्राप्त करके उसी में चित्त रमा लिया है, वही पुरुष जन्म-मरणरूपी सांसारिक दु:खों से मुक्त हो गया, मन को आत्मा में लगाकर उसी का चिन्तन करना ही श्रेयस्कर योग है—

एकः सत्तापूरितानन्दरूपः
पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किंचित्।
एतज्ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं
मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुःखात्। (शिवसंहिता १। ९५)

महायोगी गोरखनाथ ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के मंगलाचरण में आदिनाथ शक्तियुक्त जगद्गुरु महायोगोपदेष्टा शिव की वन्दना की है, जिसमें यह परिलक्षित होता है कि सिद्धसिद्धान्तपद्धति-नाथसिद्धपरम्परागत महायोगज्ञान पार्वती के प्रति शिवोपदिष्ट योगामृत का ही पर्याय है—

आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगदगुरुम्।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम्। (सिद्धसिद्धान्तपद्धति १। १)

इस कथन की सटीक संगति सन्त कबीर की बानी में भी उपलब्ध होती है, जिससे पता चलता है कि सन्त कबीर ने भी नाथयोग को आदिनाथ की योगपरम्परागत स्वीकार किया है—

गोरख सोई ग्यान गमिगहै,
महादेव सोई मन की लहै।
सिध सोई जो साधै इती,
नाथ सोई जो त्रिभुवन जती। (कबीरग्रन्थावली-पद ३२७)

सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने भी शिव-शंकर की वन्दना में स्वीकार किया है कि शिव और पार्वती की कृपा से ही सिद्ध-नाथयोगी स्वान्तस्थ परमेश्वर-स्वसंवेद्य तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। रामचरितमानस के इस मंगलाचरण में यह स्पष्ट है कि नाथयोग आदिनाथ शिव और उनकी प्राणवल्लभा पार्वती की कृपा का महाज्ञान है—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

(रामचरितमानस, मंगलाचरण २)

निस्सन्देह महायोगीश्वर भगवान् आदिनाथ शिव शाश्वत चैतन्यस्वरूप अक्षय, शान्त महत्पद हैं, योगीजन उनकी ही कृपा से उनका साक्षात्कार करते हैं तथा उनके द्वारा उपदिष्ट योगज्ञानामृत का रसास्वादन कर संसार-सागर से तर कर परम पद में समाहित हो जाते हैं। जीव का शिव में सामरस्य ही—अन्तर्लीनता ही आदिनाथप्रतिपादित योगज्ञानकल्पवृक्ष का अमृत फल है।

योगवाणी, 'नाथसिद्धचरित' विशेषांक, जनवरी, १९८४ से संकलित।

□

योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ

अभिनव शिव योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ की महिमा अचिन्त्य, अविनश्वर, परमयोगसिद्धि की सम्पूर्ण प्रतीक है, उनकी योगविभूति शिवमयी परमात्म ज्योति-साक्षात्कार की प्राणामृत-संजीवनी है। महामति मत्स्येन्द्रनाथ ने आत्मा के योग के माध्यम से परमात्म बोध अथवा शिवैक्य अथवा स्वरूपानुभव की प्राणप्रतिष्ठा संस्कारित की। वे शैव योग के परमाचार्य-महत्तम गुरु थे। वे आदिनाथ के सिद्ध यौगिक संस्करण थे। उन्होंने निगमागमसम्मत योगदर्शन का जगत् को निगूढ़ातिगूढ़ तात्पर्य समझा कर श्रुतिप्रतिपादित आस्तिकता-ईश्वर की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन किया। करुणामय महायोगिराजेन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से योगविज्ञान अनन्त काल तक अक्षय रहेगा।

परम योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने तान्त्रिक साधना-पद्धति का यौगिककरण कर शक्ति-उपासनापरक योगिनी कौल मत का प्रवर्तन कर योग-साधना में शिव (अकुल) और शक्ति (कुल) के सामरस्य का सिद्धान्त समझाया और इसके फलस्वरूप उन्होंने योग-दर्शन के प्रकाश में सिद्धमत का पोषण किया, योगाचार सिखाया। उनके अनुवर्ती गोरखनाथ ने षडंगयोग, किंवा हठयोग-आसन, मुद्राबन्ध, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को नाथसम्प्रदाय की साधना की आधारशिला स्वीकार की। मत्स्येन्द्रनाथ ने बौद्ध अनात्मवाद के विवर्त में ग्रस्त वैदिक विचार और आध्यात्मिक चिन्तन का अपने सिद्धमत-सिद्धामृतमार्ग से समुद्धार कर आत्मा से परमात्मा का, जीव से शिव का शाश्वत योग सिद्ध किया।

योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ अकाल योगपुरुष हैं, उनका महाज्ञान-सिद्धाचार अव्यय है। वे महासिद्ध हैं, कालदण्ड का खण्डन कर वे सिद्धदेह में स्थित होकर निरन्तर ब्रह्माण्ड में विचरण करते रहते हैं। हठयोग के अप्रतिम प्रभाव से उन्होंने स्वशरीर का आत्मीकरण-चिन्मय परमात्म तत्त्व से रसायनीकरण कर लिया है। हठयोगप्रदीपिका में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथसिद्धों के सम्बन्ध में उपर्युक्त आशय का उल्लेख है—

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते॥ (हठयोगप्रदीपिका १।९)

महायोगी गोरखनाथ ने अपने गुरुदेव मत्स्येन्द्रनाथ के पादपद्म में प्रशस्ति समर्पित की है कि उन्होंने मूलाधार बन्ध, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध आदि योगाभ्यास से हृदय-कमल में निश्छल दीप की ज्योति

सरीखी परमात्मा की कला का साक्षात्कार करके युग-कल्प आदि के रूप में चक्कर काटने वाले काल के रहस्यों तथा समस्त तत्त्वों को (योगाभ्यास से) जीत लिया था, अपने वश में कर लिया था और स्वयं ज्ञानानन्द के महासागर आदिनाथ (शिव के स्वरूप) हो गये थे, श्रीमीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) का हम ध्यान करते हैं, प्रणाम करते हैं—

अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारवेधादिभि
र्यो योगी युगकल्पकालकलनात्तत्वं च जोगीयते।
ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद् यत्रादिनाथः स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे। (गोरक्षशतक २)

मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से गोरखनाथजी ने आत्मब्रह्म-स्वसंवेद्य परमतत्त्व का साक्षात्कार किया। सद्‌गुरु के शब्द-श्रवण से ज्ञानस्वरूप मणिदीप की प्राप्ति होती है, ज्ञानदीप के प्रकाश में तीनों लोकों का ज्ञान होने लगता है।

प्रथमे प्रणऊँगुरु के पाया। जिन मोहि आत्मब्रह्म लखाया।
सतगुरु सबद कह्याँ तैं बूझ्या। तृहूँलोक दीपकमनि सूझ्या॥

(गोरखबानी-प्राण संकली १)

गोरखनाथजी ने कहा है कि मैं गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसाद से गंगा (इडा) और यमुना (पिंगला) के बीच (सुषुम्ना) में विहार कर रहा हूँ। समाधिस्थ होकर आत्मसाक्षात्कार कर रहा हूँ।

गंगजमुन बिच षेलै गोरष गुरु मछिन्द्र प्रसादं। (गोरखबानी-पद १८)

एक प्रशस्ति में गोरखनाथजी ने बड़ी श्रद्धा और भक्तिभावना से मत्स्येन्द्रनाथजी की महिमा का वर्णन किया है।

'श्रीगुरु परमानंद तिनको दंडवत् है। है कैसे परमानंद आनन्दस्वरूप है सरीर जिन्हि को। जिन्हिकै नित्यगाथै ते सरीर चेतन्नि और आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछन्दरनाथ को दण्डवत् करत हौं, हैं कैसे वै मछन्दरनाथ। आत्मा जोति निस्चल है अन्त:करन जिनि कौ अरुमूल द्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै अरुजुग काल कल्प इनिकी रचना तत्त्व जिनि गायो। सुगन्ध को समुद्र तिनि को मेरी दण्डवत। स्वामी तुमे तो

सतगुरु अम्है तो सिष सबद एक पुछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोष।'

(मिश्रबन्धुविनोद, पृ. २११-२१२)

गोरखनाथजी ने मत्स्येन्द्रनाथ से अपने सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए बताया है कि मैं आदिनाथ (शिव) का नाती, शिष्य और मच्छेन्द्रनाथ का पुत्र-शिष्य हूँ और इस तरह केवल निज तत्त्व (आत्मा) का दर्शन करता हूँ—

आदिनाथ नाती मछीन्द्रनाथ पूता।
निज तत निहारै गोरष अवधूता॥ (गोरखबानी-पद ३७)

मत्स्येन्द्रनाथ आदि सिद्धों को ऐतिहासिक समय-बन्धन में रखना कदापि उचित नहीं है। यह कहना

अथवा निश्चित करना कि उन्होंने किस शताब्दी को अपनी उपस्थिति से गौरवान्वित किया, कठिन है; वे काल की सीमा से परे अमरपद में संस्थित सिद्ध योगात्मापुरुष हैं। नाथयोगमत अत्यन्त प्राचीन है, इस दृष्टि से नाथमत अथवा शैव योगमत-सिद्धमत के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ और उसके पोषक महायोगी गोरखनाथ निस्सन्देह नाथसिद्धपरम्परा में अत्यन्त पूर्ववर्ती ठहरते हैं। तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक में माहेश्वर अभिनवगुप्त ने मत्स्येन्द्रनाथ को 'मच्छन्दविभु' कह कर उनके प्रति श्रद्धा समर्पित की है। इससे मत्स्येन्द्रनाथ की पूर्ववर्तिता और प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। माहेश्वर अभिनव गुप्त ईसा की दसवीं शती में विद्यमान थे। मच्छन्द का अर्थ है आतान-वितान-वृत्यात्मक जाल को छिन्न करने वाले। अभिनवगुप्त का कथन है—

रागारुणं ग्रन्थिविलावकीर्णं यो जालमातानवितानवृत्ति।
कलोम्भित बाह्यपथे चकारस्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः॥ (तन्त्रालोक १।७)

जिन्होंने राग-गैरिकादि द्रव्य अथवा रागतत्त्व के अरुण-लाल अथवा भेद दशा के प्रसार से युक्त गाँठों और सलिल के निर्गम-स्थान बिलों से अथवा ग्रन्थिमाया एवं बिल-भोगभूमियों से व्याप्त लम्बाई और चौड़ाई के मान से युक्त अथवा सर्वत्र फैले हुए तथा कला से अथवा शान्त प्रतिष्ठा, विद्या और निवृत्ति-कला से निर्मित जाल, मत्स्यबन्धन अथवा इन्द्रजालमयी माया को दूर कर दिया, चपल चित्तवृत्तिरूप पाशों का खण्डन करने वाले वे मच्छन्दविभु (गुरु) मुझ पर प्रसन्न हों। अभिनव गुप्त ने इस तरह शैव (नाथ) योग की गुरु-परम्परा में मीननाथ-मत्स्येन्द्रनाथ का स्तवन किया। उपर्युक्त श्लोक पर जयरथ की टीका से स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा मच्छन्द ही मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) थे और भुवनेश्वरी स्तोत्र (३७) में उसके रचयिता पृथ्वीधराचार्य ने इन्हीं को सिद्धनाथ कहा है, सकलागम-चक्रवर्ती बताया है। यह नितान्त असन्दिग्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ अभिनव गुप्त से कहीं पहले नाथयोग के तथा महायोगी गोरखनाथ के गुरुरूप में प्रतिष्ठित थे।

मत्स्येन्द्रनाथजी की विशिष्टता यह है कि नाथ-परम्परा में आदिनाथ शिव के उत्तराधिकारी के रूप में वे नाथ सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य हैं। नाथ सम्प्रदाय के वे इस तरह आदिगुरु हैं और कौलाचार के सिद्ध पुरुष हैं। नेपाल की जनश्रुति में वे अवलोकितेश्वर के अवतार स्वीकार किए गये हैं। नवनाथपरम्परा में मत्स्येन्द्रनाथजी को मायास्वरूप करुणामय कहा गया है। मत्स्येन्द्रनाथ सिद्धमार्ग अथवा सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे। श्रीगोरखनाथजी ने उन्हें भवसागर से पार उतारने वाले नाविक विशेषण से सम्मानित किया है। उनकी उक्ति है—

पूरब देस पछाहीं घाटी (जनम) लिष्या हमारा जोगं।
गुरु हमारा नावगर कहिए, मैटे भरम विरोगं। (गोरखबानी ज्ञानतिलक १९)

इसका आशय यह है कि प्राण (पूर्व) हमारा देश है और सुषुम्ना (पछाहीं घाटी) आने-जाने का मार्ग है। जन्म से ही हमारे भाग्य में योग लिखा है। हमारे गुरु (हमारे भवसागर से तारने वाले) नाविक के समान हैं, वे हमारे भ्रमादि रोगों को मिटाते हैं।

योगपुरुष मत्स्येन्द्रनाथ के जीवन और चरित्र पर उनके सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुतियों, किंवदन्तियों तथा नाथसम्प्रदाय में समय-समय पर प्रणीत यौगिक साहित्य और दशवीं शती से पूर्व के रचित अनेकानेक

तन्त्रग्रन्थों और दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक रचनाओं से निर्विवाद है कि उन्होंने हिमालय की उपत्यका तथा कामरूप में योगाभ्यास और कौल योगिनी मत के अनुसार साधना की थी। कौलाचार से प्रभावित कामरूप के तान्त्रिक वातावरण में उन्होंने तपस्या कर श्रीगोरखनाथ की सहायता से सिद्धामृत मार्ग के सिद्धान्तों से जनचेतना को सम्पन्न किया था। ऐसा कहा जाता है और प्राय: इस कथन में सत्यता का यथेष्ट आभास भी मिलता है कि उन्होंने बंगदेश के वारणा स्थान के एक ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया था। 'नित्याह्निक तिलकम्' पुस्तक में उल्लेख है कि 'मत्स्येन्द्रनाथ का पूर्वनाम विष्णु शर्मा था, वे ब्राह्मण थे और वारणा उनकी जन्मभूमि थी। उनका चर्यानाम गौड़ीशदेव, पूजानाम पिप्पलीश देव, गुप्तनाम भैरवानन्दनाथ था। उनके कीर्तिनाम तीन थे—वीरानन्दनाथ, इन्द्रानन्द देव और मत्स्येन्द्रनाथ। इनकी शक्ति का नाम ललिता भैरवी अम्बा पापू था।' यह उल्लेख योगीन्द्र मत्स्येन्द्र के कौलाचारपरक जीवन की ओर संकेत करता है। महत्त्व की बात तो यह है कि वे कौल नहीं, सिद्धमत के योगी थे, उनका कुलाचार शक्ति (कुल) से शिव (अकुल) के सामरस्य-सिद्धान्त का पोषक था। उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका नाम चन्द्रगिरि था, जो द्वीपाकार था और बंगाल-आसाम का सन्धिवर्ती था अथवा कामरूप के सन्निकट था। चन्द्रद्वीप को सुन्दर वन कहा जाता है। उसे आसाम का पहाड़ी प्रदेश भी कहा गया है। यह नदी के बहाव से घिर कर द्वीप-जैसा हो गया है। 'कौलज्ञान निर्णय' से पता चलता है कि चन्द्रद्वीप समुद्र के आस-पास था। मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में साधना की थी, इसलिए उनके जन्म-स्थान चन्द्रद्वीप या चन्द्रगिरि का कामरूप के सन्निकट होना युक्तिसंगत लगता है। ऐसा लगता है कि 'नित्याह्निक तिलकम्' में उल्लिखित वारणा ही चन्द्रद्वीप अथवा चन्द्रगिरि है। स्पष्ट है कि यह चन्द्रगिरि या चन्द्रद्वीप ब्रह्मपुत्र नदी से घिरे किसी द्वीपाकार भूमि पर कामरूप के सन्निकट अवस्थित था। इस बात को स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं है कि योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ ने चन्द्रद्वीप या चन्द्रगिरि नामक स्थान में जन्म लिया था। यह बात तो नितान्त असन्दिग्ध ही है कि शक्तिपीठ कामरूप में वातावरण में प्राणान्वित तान्त्रिक आचार-विचार और परम्परा से मत्स्येन्द्रनाथ की योगसाधना अछूती नहीं रह सकी। यही कारण है कि मत्स्येन्द्रनाथ का योगाचार कुल (शक्ति)—साधना-परक है। शक्ति से ही शिव प्राणवान् हैं, मत्स्येन्द्रनाथ के सिद्धमत में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है।

तपस्या में तत्पर होने के पहले श्रीमत्स्येन्द्रनाथ ने भगवान् शिव से महाज्ञान प्राप्त किया। कुलागम शास्त्र के समुद्धार में उनका योगदान अमित महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद तपस्या से महेश्वर को प्रसन्न कर उन्होंने शिवस्वरूप की प्राप्ति की और सिद्धामृत मार्ग का प्रवर्तन और पोषण किया। उनके पवित्र चरित्र-चिन्तन की यही ऐतिहासिक गरिमा है।

श्रीमत्स्येन्द्रनाथ के चरित्र-चिन्तन का एक विशिष्ट अंग है उनके द्वारा कुलागम शास्त्र का उद्धार। इस विषय के प्रतिपादन में अनेक उपाख्यान मिलते हैं, जिनके घटनाक्रम-वर्णन में थोड़ा-बहुत अन्तर उपलब्ध होता है। ऐसा कहा जाता है कि कार्तिकेय ने कुलागम शास्त्र समुद्र में फेंक दिया था। साक्षात् भैरव अर्थात् शिव ने मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में अवतरित होकर उस शास्त्र का भक्षण करने वाले मत्स्य का उदर विदीर्ण कर उद्धार किया था। इसका आशय यह है कि उन्होंने वामाचारी अमर्यादित साधकों द्वारा कुलागम शास्त्र को लांछित अथवा कलंकित होने से बचा लिया। यह घटनां चन्द्रद्वीप में घटित बतायी जाती है। उपर्युक्त आख्यान

का रूपान्तर है कि भगवती पार्वती को भगवान् शिव के गले में मुण्डमाला देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। देवर्षि नारद ने देवी को बताया कि वे (मुण्ड) उन्हीं (देवी) के पूर्व जन्मों के हैं। भगवती गौरी ने महादेव से कारण पूछा तो उन्होंने एकान्त में इस रहस्य-महाज्ञान को बताने के लिए निर्जन स्थान चुना। वे गौरी के साथ समुद्र में गये और एक डोंगी पर बैठकर अपनी अमरता और देवी के अनेक बार शरीर धारण करने की कथा का बखान करने लगे।

महाज्ञान का श्रवण करते-करते देवी को नींद आ गयी। उनके बदले डोंगी के नीचे छिपे मत्स्येन्द्रनाथ हुँकारी भरने लगे। नींद भंग होने पर देवी ने कहा कि मैंने तो महाज्ञान पूर्णरूप से सुना ही नहीं। भगवान् शिव ने मत्स्येन्द्रनाथ को शाप दिया कि तुम कुछ समय के लिए योगज्ञान (महाज्ञान) भूल जाओगे। इस सम्बन्ध में यह भी अनुश्रुति है कि कविनारायण ने मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में एक ब्राह्मण के घर गण्डन्त योग में जन्म लिया था। ब्राह्मण ने उनको समुद्र में फेंक दिया था। एक मछली बारह साल तक उन्हें अपने उदर में लिए रही। मत्स्येन्द्रनाथ ने मत्स्य के उदर में रहकर महाज्ञान-श्रवण किया था। (श्रीमद्भागवत के ऋषभदेव के पुत्र कविनारायण को ही योगिसम्प्रदायाविष्कृति ग्रन्थ के मत से मत्स्येन्द्रनाथ कहा गया है।) उपर्युक्त आख्यान का तात्पर्य यह है कि भगवान् शिव के अनुग्रह से वे महासिद्ध हुए। उन्होंने महाज्ञान अवश्य सुना, शाप के कारण उन्हें उसकी विस्मृति हुई और वे कौलाचार को अपनाकर कदलीवन में विहार करने लगे। शिव के ही अनुग्रह से महाज्ञान की स्मृति कराये जाने पर वे सिद्धामृत मार्ग के योगाचार-विचार से सम्पन्न हो उठे। उन्होंने कौलज्ञान से योगमहाज्ञान का समन्वय किया, योग-साधना में अकुल (शिव) और कुल (शक्ति) का सामरस्य स्थापित किया।

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा महाज्ञान के श्रवण का उपर्युक्त वृत्तान्त नारद पुराण के उत्तर भाग के ६९वें अध्याय के छठे से २५वें श्लोक तक में वर्णित है। भगवान् महेश्वर ने मणिप्रदीप्त सप्तशृंग पर भगवती उमा के प्रति तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। भगवती के निद्राभिभूत होने पर मत्स्य की गोद से निकलकर मत्स्येन्द्रनाथ ने यह तत्त्वोपदेश सुना। महेश्वर शिव ने प्रसन्नतापूर्वक अपनी गोद में बैठा कर उनका मुख चूमा और अपना पुत्र कहा। उनका नाम सिद्धनाथ बताया। उस सिद्धनाथ मत्स्येन्द्रनाथ का ध्यान कर मनुष्य सफल मनोरथ होता है—

सुतो ममायं किलमत्स्यनाथो विज्ञाततत्वोऽखिल सिद्धनाथः। (नारदपुराण उत्तर. ६९। २५)

नारद पुराण के ही उत्तर भाग के ६९वें अध्याय में कहा गया है कि कामाक्षा में पार्वती जी के पुत्र सिद्धनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) रहते हैं। वे तपस्या में स्थित हैं। सत्युग, त्रेता और द्वापर में लोग उन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं, पर कलियुग में वे अन्तर्धान रहते हैं और कामाक्षा में उग्र तपस्या करने से लोग उनका दर्शन कर पाते हैं। वे विज्ञान में पारंगत योगी हैं।

तत्रास्ते पार्वतीपुत्रः सिद्धनाथो वरानने। ६।
उग्रेतपसि लोके सः प्रेक्ष्यते न कदाचन।
कृतत्रेताद्वापरेषु प्रत्यक्ष दृश्यतेऽखिलैः॥

\+ + + + +

स मत्स्यनाथः किलतत्र संस्थो
विज्ञानपारंगत एव भद्रे॥ (नारदपुराण उत्तर. ६९। ६, ७, १३)

सन्त योगी ज्ञानेश्वर ने गीता के ज्ञानेश्वरी भाष्य में १८वें अध्याय में १७२१ ओबी से १७६५ ओबियों में नारदपुराण के आख्यान का समर्थन करते हुए लिखा है कि क्षीरसमुद्र के तट पर भगवान् शंकर ने भगवती पार्वती के कानों में जो उपदेश दिया था, वह क्षीरसमुद्र की लहरी में किसी मत्स्य के पेट में गुप्त मत्स्येन्द्रनाथजी के हाथ लगा।...अचल समाधि का उपभोग करने की इच्छा से उसका उपदेश मत्स्येन्द्रनाथजी ने गोरखनाथ को दिया।

क्षीरसिन्धु परिसरीं। शक्तिच्यां कर्णकुहरीं।
नैणां के श्रीत्रिपुरारी। सांगितलें जें।
ते क्षीर कल्लोला आन्तु। मकरोंदरीं गुप्तु।
होता तया चा हातु।

\+ + + + +

मग समाधि अव्यत्यया भोगावी वासना यया।
ते मुद्रा श्रीगोरक्षराया। दिघलीं मीनीं। (ज्ञानेश्वरी, अध्याय १८)

महाज्ञानश्रवण के उपरान्त श्रीमत्स्येन्द्रनाथ ने योगाभ्यास और साधना में प्रवेश किया। उन्होंने तपस्या का जीवन अपनाया। भगवान् शिव ने प्रसन्न होकर उन्हें साक्षात् स्वरूप प्रदान किया और उसकी यौगिक-तात्त्विक महत्ता समझायी। मत्स्येन्द्रनाथ ने शिव के कान में कुण्डल देखकर उन्हें प्राप्त करने के लिए कठोर तप किया। इस तपश्चर्या से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कान फाड़कर कुण्डल पहनने की प्रथा का प्रवर्तन नाथ सम्प्रदाय अथवा योगसम्प्रदाय में परमाचार्य मत्स्येन्द्रनाथ ने किया। मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप-सिद्ध शक्तिपीठ में विकट तपस्या की। तन्त्रालोक की टीका में टीकाकार जयरथ ने दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनसे पता चलता है कि सकलशास्त्रावतारक मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप महापीठ में, जो मच्छन्दनाम से प्रसिद्ध थे, शिव से योग पाया था। शिव की स्वीकृति है—

भैख्या भैखात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।
कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना॥ (तन्त्रालोक टीका, पृ. २४)

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी पता चलता है कि मीननाथ, मच्छन्द दो नहीं, एक ही व्यक्ति थे। जयरथ (जयद्रथ) की स्वीकृति है कि 'स च (मच्छन्दः) सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः।' कौलज्ञानिर्णय की पुष्पिका में मच्छन्द या मत्स्येन्द्रनाथ को 'योगिनी कौलज्ञान' का अवतारक कहा गया है।

यदावतारितं ज्ञानं कामरूपी त्वया मया। (कौलज्ञाननिर्णय १६ । २१)

यह बात निश्चित है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप महाशक्ति पीठ में तप कर शिव से योगज्ञान प्राप्त किया। महादेवजी ने उनको निजस्वरूप का महत्त्व समझाया। योगिसम्प्रदायाविष्कृति ग्रन्थ में वर्णन है कि महादेवजी बालतपस्वी (मत्स्येन्द्रनाथ) के साथ (कामरूप से) कैलास आए, प्रसन्न होकर कहा कि वरदान

माँगो। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा निजस्वरूप की याचना करने पर पहले महादेवजी ने उनके सिर पर विभूति डाल कर भस्म-स्नान कराया। कहा कि यह भस्म अर्थात् मृत्तिका है, इसके धारण का अभिप्राय यह है कि योगी अपने को मानापमान से परे, धरती के समान जड़ समझे, अग्नि के संयोग से भस्मरूप में परिणत हुए काठ की तरह ज्ञानाग्नि से दग्ध होकर अपनी कठोरता छोड़ दे। इसके बाद शिव ने मत्स्येन्द्रनाथ को जलस्नान कराया, बताया कि जिस प्रकार मेघ समानरूप से निष्पक्ष होकर सबके लिए जल बरसाता है, उसी प्रकार तुम्हें समस्त प्राणियों से समान व्यवहार करना चाहिए और जिस प्रकार पानी तप्त होने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, उसी प्रकार तुम्हें भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ना चाहिए। महादेवजी ने नाद जनेऊ पहनाया। उन्होंने समझाया कि काष्ठादि से बना यह नाद है, नाद का तात्पर्य शब्द है। आशय है कि तुम्हें अपनी उत्पत्ति नाद से समझनी चाहिए। यह ऊर्णादि से निर्मित जनेऊ संसार के लोगों द्वारा धारण किए जाने वाले जनेऊ से भिन्न है। इस नाद को धारण कर तुम्हें अपने आप को संसार के लोगों से भिन्न समझना चाहिए अन्यथा पतन की आशंका है। इसके बाद महादेवजी ने मत्स्येन्द्रनाथ को कुण्डलादि यौगिक चिह्न प्रदान किए।

शिव द्वारा मत्स्येन्द्रनाथ को निज स्वरूपदान का अभिप्राय यह है कि वे शैव योगी थे, उनका योगसम्प्रदाय अथवा सिद्धामृत मार्ग या सिद्धमत योगज्ञान प्रधान है। तपस्या के परिणामस्वरूप शैव योग के वरण के बाद भी वे अपने आप को कामरूप शक्तिपीठ के तान्त्रिक साधनामत प्रभाव से अलग नहीं कर सके। उन्होंने अकुल योग में सकुल मार्ग का-शक्ति-उपासना तथा कुल कुण्डलिनी को जगाने की साधना का आश्रय ग्रहण कर योगिनी कौलमत का पक्ष लिया तथा अपने अकुल-कुल-सामरस्य के सिद्धान्त के प्रतिपादन में 'कौल ज्ञान निर्णय' ग्रन्थ की रचना की। वे सिद्धयोगी-योगाचार्य के रूप में प्रख्यात हो गये। उन्होंने समस्त भरतखण्ड, भारतवर्ष में शैव योग ज्ञान का शंख निनादित कर सिद्धामृत मार्ग का प्रवर्तन किया, जो नितान्त निगमागमसम्मत है। योगाचार्य मत्स्येन्द्रनाथ सिद्ध पुरुष थे, उनका मत सिद्ध मत था। वे योगगुरु थे। उन्होंने हठयोग विद्या से जनमानस को सम्पन्न किया। उन्हें सद्शिष्य के रूप में हठयोग में पारंगत गोरखनाथ की प्राप्ति हुई। मत्स्येन्द्रनाथ और उनकी योगपरम्परा के गोरखनाथ आदि ही हठयोग के वास्तविक जानकर कहे गये हैं।

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते। (हठयोगप्रदीपिका १।४)

श्रीमत्स्येन्द्रनाथ नित्य एकरस, एकरूप और चिन्मय योगज्ञान से चिर सम्पन्न महासिद्ध हैं।

शिव की कृपा से योगज्ञान से सम्पन्न होने पर मत्स्येन्द्रनाथ की योगसिद्धि और प्रसिद्धि तथा यौगिक चमत्कारों से जन-मानस में आध्यात्मिक विचार क्रान्ति की तरंगें उच्छलित हो उठीं। वे शिव के पूर्व वर्णित शाप के फलस्वरूप महाज्ञान-योगज्ञान को भूल कर भोगमय जीवन की ओर उन्मुख हो चले। उनके त्रियाराज्य में प्रवेश तथा कदलीवन में रमणीराज्य में विहार करने के सम्बन्ध में थोड़े-बहुत अन्तर से अनेक उपाख्यान उपलब्ध होते हैं, पर उनका मूल उद्देश्य है मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा महाज्ञान का विस्मरण और उनके शिष्य तथा अनुवर्ती महायोगी गोरखनाथ द्वारा उन्हें योगमार्ग पर पुनः संस्थित करना। योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ ने भोग में योग का संरक्षण कर योगिनी कौलमत का पोषण किया। रमणी-राज्य में विहार के सन्दर्भ में उन्हें कौल नहीं, कौलयोगी कहना संगत है। दन्त कथाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मत्स्येन्द्रनाथ सिद्धमत का त्याग

कर कदलीवन अथवा रमणी-राज्य की योगिनियों की माया में कुछ समय के लिए आसक्त हो गये थे। उसके कौलज्ञान निर्णय में जिस साधनापरक शास्त्र की चर्चा है, वह कामरूप की योगिनियों के घर में विद्यमान थी। मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में कौलज्ञान अवतरित किया था।

मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ की प्राचीनता, मत्स्येन्द्र द्वारा परकाया प्रवेश कर रमणीराज्य के भोगों में आसक्ति तथा गोरखनाथजी द्वारा नर्तकी वेश अपना कर उनके समुद्धार पर शंकर दिग्विजय के एक श्लोक से अमित प्रकाश पड़ता है। 'शंकर दिग्विजय' महामति विद्यारण्य (सायणाचार्य) जो विक्रमीय १४वीं शती में विद्यमान थे, की रचना है। शंकराचार्य उनसे कहीं पहले थे, और उन शंकराचार्य के श्रीमुख से अपने शिष्य के प्रति शंकर दिग्विजय में रचयिता ने कहलवाया है कि प्राचीनकाल में जिस प्रकार मत्स्येन्द्र नाम के महात्मा योगी ने परकाया-प्रवेश कर अपने शरीर की रक्षा का भार अपने शिष्य गोरखनाथ को सौंपा था, उसी तरह मैं तुम्हें परकाया प्रवेश के पहले अपनी शरीर-रक्षा का भार सौंपता हूँ।

मत्स्येन्द्रनामा हि पुरा महात्मा गोरक्षमादिश्य निजांगगुप्तये।
नृपस्य कस्यापि तनुं परासो प्रविश्य तत्पत्तनमाससाद॥
गोरक्ष एषोऽथ गुरोः प्रवृत्तिं विदाय रक्षन्बहुधाऽस्य देहम्।
निशान्तकान्तानटनोपदेष्टा नितान्तमस्याभवदन्तरंगः॥ (शंकर दिग्विजय ९ । ८०, ८४)

कहा जाता है कि प्रयागराज के राजा के शरीरान्त होने पर श्रीगोरक्षनाथ ने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से राजा के मृत शरीर में प्रवेश कर लोगों को सुख और अभय देने की प्रार्थना की। मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने प्राणशून्य शरीर-रक्षा का भार गोरखनाथजी को सौंप कर राजा के मृत शरीर में बारह साल के लिए प्रवेश किया। जब रानियों को पता चला तो उन्होंने शरीर को नष्ट कर देना चाहा पर श्रीगोरखनाथ ने उसे नष्ट होने से बचा लिया। नाथचरित्र की कथा में भी परकायाप्रवेश का सन्दर्भ मिलता है, राजा के मृत शरीर में प्रवेश कर महारानी परिमला के साथ उनके विहार करने का विवरण उपलब्ध होता है। गोरखनाथजी ने मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार किया था।

कहा जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कदलीवन में महारानी मंगला और कमला के राज्य में प्रवेश कर महाज्ञान को भूल कर विहार किया था, श्रीगोरखनाथ एक वकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे। आकाश मार्ग से सिद्ध कृष्णपाद कहीं जा रहे थे। श्रीगोरखनाथ ने खड़ाऊँ आकाश-मार्ग में प्रेषित कर अपने योगबल से उन्हें पृथ्वी पर उतारा। कृष्णपाद ने कहा कि तुम्हारे गुरु कदलीवन में सोलह सौ सेविकाओं द्वारा सेवित महारानी कमला और मंगला के साथ महाज्ञान भूल कर कामभोग में व्यस्त हैं। आयु के केवल तीन दिन शेष हैं। गोरखनाथजी ने कहा कि तुम्हारे गुरु जालन्धरपाद को गौड़ बंगाल के अधीश्वर गोपीचन्द ने मिट्टी में गड़वा दिया है। दोनों अपने-अपने गुरु को मुक्त करने चल पड़े। गोरखनाथ ने लंग और महालंग, दो शिष्यों को लेकर ब्राह्मणवेश में कदली वन से प्रवेश किया। उन्होंने कार्यसिद्धि के लिए योगी का वेश धारण किया। एक रमणी ने उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का पता बता कर कहा कि मंगला और कमला के राज्य में योगी का प्रवेश निषिद्ध है। केवल नर्तकी ही जा सकती है। कलिंगा नाम की नर्तकी अन्तःपुर में नाचने जा रही थी। गोरखनाथ ने नर्तकी वेश धारण कर उसके साथ प्रवेश कर राजद्वार पर मर्दलध्वनि की। उन्होंने सिद्धमतमूलक महाज्ञान का

स्मरण दिलाया। 'जाग मछीन्द्र गोरख आया' नाद मर्दल में ध्वनित हो उठा। गोरखनाथजी ने कहा कि हे गुरुदेव! आत्मा के ज्ञान का विस्मरण न कीजिए। ऐसा करने से कमनीय काया स्वस्थ और सुरक्षित रहेगी। विद्यानगर से आए हुए कान्हापाव (कृष्णपाद) से भेंट हुई थी। उन्हीं से आप की इस दशा का पता लगा कि आप कामिनियों के जाल में पड़े हुए हैं। आप का यह पतन भ्रम के कारण हुआ है। आपने अमृतरस को बाघनी (माया) की गोद में खो दिया है। माया के घुँघरू के बजने से स्वर के साथ तालयुक्त नृत्यमग्न माया के व्यामोह से आपने आध्यात्मिक पूँजी खो दी है—

छाँटें तजौ गुरु छाँटे तजौ तजौ लोभ मोह माया।
आत्मा परचै राषौ गुरुदेव सुन्दर काया। टेक।
कान्हीं पाव भेटीला गुरु, विद्यानग्र सैं।
ताथैं मैं पाइला गुरु, तुम्हारा उपदेसैं॥ ॥
एतैं कछू कथीला गुरु, सर्वै भैला भोलै।
सर्व रस षोईला गुरु, बान्धनी के शोलै॥ २ ॥
नाचत गोरषनाथ घूँधरी चें घातैं।
सबै कमाई षोई गुरु बाघनी चै राचै॥ ३ ॥
रस-कुस बहि गईला, रहि गई छोई।
भगत मछिन्दनाथ पूता जोग न होई॥ ४ ॥
रस-कुस बहि गईला रहि गईला सारं।
बदन्त गोरषनाथ गुर जाग अपारं॥ ५ ॥
आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता।
षटपदी भणींलै गोरष अवधूता॥ ६ ॥ (गोरखबानी पद—२)

गोरखनाथजी ने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के चरण-देश में निवेदन किया कि हे गुरुदेव! ऐसा कर्म न कीजिए, इससे महारस अमृत क्षीण होता है। स्त्री के साथ रहने वाले पुरुष की अवस्था नदी-तट के वृक्ष के समान है। जीवन की कम आशा रहती है। मायानगरी मन मोहती है, शुक्रस्खलन से अमृत का सरोवर सूख जाता है। मन में काम-विकार होते ही सुषुम्ना के ऊर्ध्वमुख ब्रह्मरन्ध्र से अमृत नीचे गिर पड़ता है, शरीर क्षीण हो जाता है। मन का घोर मन्थन करने वाली माया बाघिनी जब महारस को सोख लेती है, तब पैर डगमगाने लगते हैं, पेट ढीला हो जाता है और सिर के बाल बगुले के पंख के समान श्वेत हो जाते हैं। आप मुक्त होकर, योगयुक्त होकर बन्धन में पड़ गये। हे मत्स्येन्द्रनाथ! आप आदिनाथ शिव के ही रूप हैं, उनके शिष्य हैं, कामनिद्रा से जागिये। बिन्दु की रक्षा करने वाला ही सच्चा अवधूत होता है—

गुरु जी ऐसा करम न कीजै, ताथैं अमी महारस छीजै। टेक।
दिवसै बाँघणि मनमोहै राति सरोवर सोषै।
जागि बूझि रे मूरिष लोया, घरि घरि बाघणि पोषै।
नदी तीरै बिरषा नारी संगै पुरषा अलप जीवन की आसा।

मन थैं उपज मेर षिसि पड़ई ताथैं कन्ध बिनासा॥ १ ॥
गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला, सिर बगुला की पंषिया।
अमी महारस बांघणी सोष्या घोर मथन जैसी अषियाँ॥ २ ॥
बाघनीं कौ निदिलै बाघनी को बिन्दिलै बाघनीं हमारी काया।
बाघनीं घोषि घोषि सुरनर षाये भणतं गोरष राया॥ ३ ॥ (गोरखबानी-पद-४३)

मैथिल कोकिल विद्यापति ने राजा शिवसिंह की आज्ञा से १४१०-१४१४ ई. के बीच में 'गोरक्षविजय' नाटक की रचना की। इस नाटक में गोरखनाथजी से विद्यापति ने मत्स्येन्द्रनाथ के प्रति कहलवाया है कि आप गुरुमुख की वाणी भूल गये, जिससे बढ़कर और कुछ नहीं। त्रिया की नयन-ज्योति के सामने (ज्ञान के) माणिक और मोती भूल गये। ऐ मीननाथ! अब मोह सम्भव नहीं। जाग जाइये। लौकिक प्रेम और आध्यात्मिक ज्ञान में परम विरोध है—

विसरल गुरु मुखे वाच। ताहि परे अवर कि साच।
विसरल माणिक मोति। तिरिअ-नयन के जोति॥
अबहु न सम्भव मोहे। रे मिननाथ।
भनई विद्यापति बोध। एहि ओहि परम विरोध॥ (गोरक्षविजय)

परिणामतः मत्स्येन्द्रनाथ का भ्रमजाल टूट जाता है। वे गोरखनाथजी को गले लगा कर उन्हें अपना प्राण कहते हैं।

तर्व्यें मोर गोरख प्रथम क सीष। सेवा अएलाहु देह असीष।
सब आ गुरु भगति पए जान। तोहे मोर गोरख प्राण समान। (गोरक्षविजय)

गोरखनाथजी के साथ महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ त्रिया-राज्य से बाहर निकल पड़े। जोधपुराधीश्वर मानसिंहकृत 'नाथ-चरित्र' में वर्णन है कि यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथजी कामिनी के रूपजाल से मुक्त हो चुके थे, तथापि उनके मन में आसक्ति शेष रह गयी थी। योगसिद्ध गोरखनाथजी ने अपने जलपात्र से जल छिड़क कर एक पर्वत को स्वर्णमय बना दिया, मत्स्येन्द्रनाथ के मन में इस घटना से स्वर्ण के प्रति उपेक्षा का भाव उत्पन्न हुआ, उन्होंने सुनहले आभूषण शरीर से उतार कर फेंक दिये। ज्ञानसिद्ध महायोगी गोरखनाथजी ने स्वर्ण को कलह का कारण समझ कर स्वर्ण के पर्वत को स्फटिक पर्वत बना दिया, जब इससे भी उनको सन्तोष न हुआ, तो उन्होंने उस पर्वत को गेरूका बना दिया।

नेपाल में योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ को अमित महत्त्व और समादर प्राप्त है। मत्स्येन्द्र-यात्रा-उत्सव नेपाली जनजीवन-परम्परा का एक विशिष्ट पर्व है। योगेन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने नेपाल को शैव योगामृत प्रदान किया। नेपाल का गोरखा राज्य योगाचार्य मत्स्येन्द्रनाथ और उनके अनुवर्ती महायोगी गोरखनाथ के प्रति प्रगाढ़ भक्ति और श्रद्धा का प्रतीक है। कहा जाता है कि नेपाल-नरेश ने मत्स्येन्द्रनाथ के अनुयायियों पर अत्याचार किया था, इससे अप्रसन्न होकर श्रीगोरखनाथ नवनागों को समेट कर बैठ गये और बारह साल का अकाल उत्पन्न किया। नेपाल-नरेश ने श्रीमत्स्येन्द्रनाथ के सम्मान में यात्रा-उत्सव किया, उनकी कृपा से श्रीगोरखनाथ ने नेपाल को अकालमुक्त कर दिया। उपर्युक्त यात्रा-उत्सव के सन्दर्भ में नेपाल में अनेक जन-श्रुतियाँ और

किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, पर उनका मुख्य तात्पर्य है नेपाली जीवन में श्रीमत्स्येन्द्रनाथ के योगज्ञान का महत्त्व और प्रभाव प्रकट करना। नेपाल में वे अवलोकितेश्वर के रूप में पूज्य हैं।

नेपाली बौद्ध कथा में मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर कहा गया है। मत्स्येन्द्रनाथ एक पर्वत पर रहते थे। गोरखनाथ उनके दर्शन के लिए गये, पर्वत पर चढ़ना दुष्कर समझ कर नवनागों को बाँध कर वे बैठ गये, इससे नेपाल में बारह साल तक वर्षा नहीं हुई। राजा नरेन्द्रदेव के गुरु बुद्धदत्त (बन्धुदत्त) अकाल का कारण समझ गये और अवलोकितेश्वर को ले जाने का संकल्प कर वे कपोतक पर्वत पर गये। अवलोकितेश्वर ने उनकी सेवा से प्रसन्न होकर एक मन्त्र दिया और कहा कि इसके जप से आकृष्ट होकर मैं जपकर्ता के पास उपस्थित हो जाऊँगा। लौटकर बुद्धदत्त (बन्धुदत्त) ने मन्त्र-जप का अनुष्ठान किया, मन्त्र-शक्ति के प्रभाव से अवलोकितेश्वर ने भृंग के रूप में कमण्डलु में प्रवेश किया। उस समय राजा नरेन्द्रदेव सो रहे थे। बुद्धदत्त (बन्धुदत्त) ने उन्हें जगा कर कमण्डलु का मुख बन्द कर देने का संकेत किया। ऐसा करने से अवलोकितेश्वर कमण्डलु में बँधे रह गये और नेपाल में प्रचुर वर्षा होने से अकाल समाप्त हो गया। तभी से बुगम नामक स्थान में आज भी मत्स्येन्द्रनाथ का यात्रा-उत्सव सम्पन्न होता है।

उपर्युक्त आख्यान का ऐसा भी वर्णन मिलता है कि गोरखनाथजी ने एक पर्वत पर वर्षा के देवता कर्कोटक नाग को दबाया, नेपाल में वर्षा न होने से अकाल पड़ गया। राजा ने आचार्य बुद्धदत्त को मत्स्येन्द्रनाथ को लाने के लिए भेजा, वे आए, गुरु के सम्मान में गोरखनाथ उठ खड़े हुए, उठते ही बादल छूट गये, वर्षा हुई। मत्स्येन्द्रनाथजी द्वारा किए गये इस उपकार की स्मृति में उत्सव-यात्रा प्रवर्तित हुई। नेपाल का मृगस्थली स्थान नाथ-परम्परा में एक पवित्र तीर्थ-स्थल माना गया है, कहा जाता है कि मृग-स्थली में गोरखनाथजी किसी कारण से छानबे करोड़ मेघमालाओं को अपने आसन में दबा कर बैठ गये थे। वर्षा बन्द हो गयी। राजा ने शास्त्रज्ञान के विचार से उपाय स्थिर किया कि जब सिंहल से गोरखनाथजी के गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी पधारेंगे, तब वे उन्हें प्रणाम करने उठेंगे और मेघमालाएँ मुक्त होकर वृष्टि करेंगी। यथोचित अनुष्ठान द्वारा सिंहल से मत्स्येन्द्रनाथजी मृग-स्थली में गोरखनाथजी के समक्ष लाये गये। श्री गोरक्षनाथ उठे नहीं, केवल मानसिक प्रणाम किया। मानसिक प्रणाम की क्रिया से उनका बायाँ घुटना कुछ हिल गया, जिसके परिणामस्वरूप एक मेघमाला मुक्त हो गयी और वर्षा हुई। उसी समय से यह स्थान नाथसम्प्रदाय और गोरखा राज्य नेपाल के लिए पूज्य पीठ हो गया। काठमाण्डू से तीन मील की दूरी पर वागमती गंगा के किनारे मत्स्येन्द्रनाथ का मन्दिर है। भोग पत्तन में मत्स्येन्द्रनाथजी की मंजूषा की पूजा होती है। नेपाल नरेश के कमण्डलु में भृंगरूप से प्रवेश करने के कारण मत्स्येन्द्रनाथ को भृंगपाद कहा गया है।

मत्स्येन्द्रनाथ की प्रशस्ति में श्रीमद्आचार्य नीलकण्ठाचार्य ने मत्स्येन्द्रपद्य शतक की संस्कृत भाषा में सम्वत् १७३३ वि. में रचना की, जिसमें उन्होंने श्रीमत्स्येन्द्र के चरणदेश में महती श्रद्धा व्यक्त करते हुए नेपाल-नरेश के लिए उनसे आशीर्वाद की याचना की है, इसमें नेपाल के अनेक शासकों के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं और इसे ऐतिहासिक काव्यात्मक प्रशस्ति कहने में कोई आपत्ति नहीं है। इसके रचयिता नीलकण्ठ भट्ट ललितपत्तन के महाराजा श्रीनिवास मल्ल के आश्रित थे। वे महान् विद्वान् थे। उन्होंने इस शतक में नेपाल सम्बन्धी मत्स्येन्द्रचरित का बड़ी पटुता से समावेश कर दिया है। इसमें मत्स्येन्द्रनाथ को नेपाल लाने वाले

और उनके यात्रा-उत्सव का आयोजन करने वाले महाराज नरेन्द्रदेव का ऐतिहासिक विवरण भी उपलब्ध होता है। आचार्य नीलकण्ठ की मार्मिक उक्ति है—

नमद्देव मौलिस्थ चञ्चत्किरीटस्थितानन्तरत्नप्रभासंगमेन
नरवेन्दुप्रभाणां विचित्राविरासीदभिख्या कथं तां वयं वर्णयामः। (मत्स्येन्द्रपद्य शतक ३९)

हे मत्स्येन्द्र! आपको नमस्कार करते हुए देवताओं के मस्तक पर विराजमान उज्ज्वल मुकुट में जड़े रत्नों की प्रभा से युक्त आपके चरण-कमल के नरवचन्द्र की कान्तियों से उत्पन्न शोभा का हम क्या, शेष भी वर्णन करने में असमर्थ हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ अकारण करुण हैं, उनकी सभी धर्मवालों और विभिन्न अध्यात्ममार्ग पर चलने वालों पर करुणा एक समान है। महामति नीलकण्ठ का उद्गार है—

परे बौद्धमार्गैः परे श्रौतमार्गैः परे शैवशाक्तार्कवैनायकाद्यैः।
भवन्तं भजन्तेऽयनैः किन्तु तेषां प्रसादं करोष्येव मत्स्येन्द्रनाथ॥ (मत्स्येन्द्रपद्य शतक-६७)

हे मत्स्येन्द्रनाथ! कुछ लोग बौद्धमार्ग (धर्म), कुछ लोग वैदिक, कुछ लोग शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य मार्ग आदि का आश्रय लेकर आपका भजन करते हैं। हे देव! आप उन सभी पर प्रसन्न रहते हैं।

समस्त नेपाल देश में मत्स्येन्द्रनाथ को अप्रतिम सम्मान प्राप्त है। बारह साल के भयंकर अकाल और अनावृष्टि से उत्पीड़ित नेपाल को जलवृष्टि से प्राणान्वित करने का जो श्रेय उन्हें प्राप्त है, वह नेपाल के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में चिरकाल तक अंकित रहेगा। योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ का चरित्र परमपवित्र और महाप्रासादिक है।

नेपाल-नरेश नरेन्द्रदेव ने मत्स्येन्द्रनाथ के कामरूप पीठ से आकर नेपाल को अकालमुक्त करने की स्मृति में उनकी यात्रा का संयोजन किया था। उन्होंने रथयात्रा, महास्नानयात्रा-उत्सव से मत्स्येन्द्रनाथ की पवित्र स्मृति को नेपाली जनजीवन की सांस्कृतिक सम्पति बना लिया। नेपाल में लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्र की यात्रा के समान ब्रह्माण्ड-मण्डल में दूसरी कोई यात्रा नहीं है—

मत्स्येन्द्रस्य समा यात्रा नास्ति ब्रह्माण्डमण्डले।

नेपाल-नरेश नरेन्द्रदेव ने मत्स्येन्द्रनाथ का राष्ट्र-अधिष्ठाता के रूप में राजकीय मुद्रा पर नामांकन करवाया। श्रीमत्स्येन्द्रनाथ की नामांकित मुद्रा कहीं-कहीं नेपाल में देखने को मिल जाती है। मत्स्येन्द्रनाथ की मुद्राओं पर 'श्रीश्रीलोकनाथाय' 'श्रीश्रीलोकनाथः' तथा 'श्रीश्रीकरुणामयः' शब्द अंकित हैं।

योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ नेपाल तथा भारत के लिए ही नहीं, समस्त विश्व के लिए परम पूज्य है। उनका योगज्ञान महाज्ञान विश्वमंगलकारी है। उनका योगदर्शन-सिद्धामृतमार्ग का सिद्धान्त सार्वभौम और सार्वजनिक है।

श्रीमत्स्येन्द्रनाथ अपनी रहनी और करनी में समान थे। उनके दार्शनिक सिद्धान्त अथवा योगसाधना और योगज्ञान के सन्दर्भ में यह कहना युक्तिसंगत है कि उन्होंने शैव योगाचारपरक विचार को अपनी साधना की प्रारम्भिक अवस्था में कौल चिन्तन से प्राणित कर योग और तन्त्रगत शाक्ताचार का समन्वय कर 'योगिनी कौलमत' का पोषण किया। उनका 'कौलज्ञान-निर्णय' ग्रन्थ योगिनी कौलमत का सिद्धान्तवाङ्मय है और

तदुपरान्त श्रीगोरक्षनाथ के सत्प्रयास से उन्होंने महाज्ञान-शैवयोगचिन्तन अथवा योगज्ञान-षडंगयोग का वरण कर सिद्धमत-सिद्धामृतमार्ग अथवा नाथ सम्प्रदाय को अनुप्राणित कर नाथयोग की परम्परा की सम्पुष्टि की। 'कौलज्ञान निर्णय' ग्रन्थ के अनुसार श्रीमत्स्येन्द्रनाथ कौलज्ञान-सिद्धान्त के आदिप्रवर्तक हैं। उन्हें सकल कुलशास्त्र का अवतारक कहा गया है, कुलशास्त्र का तात्पर्य कौलज्ञान से है। 'कौलज्ञाननिर्णय' के चौदहवें पटल से परिलक्षित होता है कि भैरव (शिव) ऐसे ध्यान की बात बता रहे हैं, जिसमें मन्त्र, प्राणायाम और चक्र-ध्यान की आवश्यकता नहीं होती है। शिवप्रोक्त यह ध्यान इस स्थिति में भी परम सिद्धिदायक होता है। 'कौलज्ञाननिर्णय' में उल्लेख है—

भक्तियुक्ताः समत्वेन सर्वे शृण्वन्तु कौलिकम्।
महाकौलात् सिद्धकौलं सिद्धकौलात् मसादरम्।
चतुर्युगविभागेन अवतारं चोदितं मया॥
ज्ञानादौ निर्णितिः कौलं द्वितीये महत्संज्ञकम्।
तृतीये सिद्धामृतं नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये॥
ये चास्मिन्निर्गता देवि वर्णयिष्यामि तेऽखिलम्।
एतस्माद् योगिनीकौलात् नाम्ना ज्ञानस्य निर्णीतौ॥ (कौलज्ञाननिर्णय १६ । ४६-४९)

उपर्युक्त उद्धरण में शिव के चारों युगों में चार अवतारों पर प्रकाश पड़ता है। कहा गया है कि सब लोग भक्तिपूर्वक श्रवण करें कि महाकौल के बाद सिद्ध कौल और सिद्ध कौल के बाद मसादर (मत्स्योदर-मत्स्येन्द्र) का अवतार हुआ। प्रथम सत्युग में शिवद्वारा निर्णीत ज्ञान का नाम कौल-ज्ञान था। दूसरे युग त्रेता में उसका सिद्धकौल और तीसरे द्वापर युग में सिद्धमूल और चौथे कलियुग में मत्स्योदर था। मत्स्योदरविनिर्गत ज्ञान ही योगिनी-कौल-ज्ञान कहा जाता है। योगिनी कौलमार्ग-अनुवर्तन के पहले मत्स्येन्द्रनाथ सिद्धकौलमत के पोषक थे। नाथ-परम्परा में सिद्धकौलमत ही मान्य है। यह निर्विवाद है कि गोरक्षसम्प्रदाय के योगमार्ग और मत्स्येन्द्र प्रवर्तित कौलमार्ग के चरम लक्ष्य में कोई भेद नहीं है। विशेष बात यह है कि योगी पहले से ही अन्तरंग उपासना करने लगता है पर कौल मतानुयायी (तान्त्रिक) बहिरंग उपासना करने के बाद क्रमशः अन्तरंग साधना-कुण्डलिनीजागृति की दिशा में प्रवृत्त होता है।

कौलज्ञान के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश है, भिन्न-भिन्न द्रव्य को प्रकाशित करने के लिए दीप की आवश्यकता होती है पर दीप स्वप्रकाश है। ज्ञान अपने को आप ही प्रकाशित करता है। यह जगत् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप में त्रिपुटीकृत है। इस त्रिपुटीकृत जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञानरूप धर्म के एक होने के कारण सजातीय हैं, इसीलिए वे कुल-जाति कहे जाते हैं। कुल सम्बन्धी यह ज्ञान ही कौलज्ञान है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, जगत् ब्रह्ममय है, ब्रह्म से अभिन्न है, यह अद्वैत ज्ञान ही मत्स्येन्द्र के कौलमत में कौलज्ञान है। 'कुल' शब्द का एक योगपरक अर्थ बताया जाता है कि 'कु' का अर्थ पृथ्वी है, 'ल' का अर्थ लीन होना है, पृथ्वी-तत्त्व मूलाधार चक्र में अवस्थित है, मूलाधार चक्र ही वास्तव में कुल कहा जाता है, इस मूलाधार से सुषुम्ना नाड़ी मिली है, जिसके भीतर से उठकर कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में परम शिव से सामरस्य प्राप्त करती है। मत्स्येन्द्रनाथ के योगिनी कौलमत में उपर्युक्त अकुल-कुल-सामरस्य का अभ्यास स्पष्ट रूप से मिलता

है। कुल का अर्थ शक्ति है, अकुल शिव का वाचक है। कुल से अकुल की सम्बन्ध-स्थापना ही कौलमार्ग है। दोनों का सामरस्य ही कौल ज्ञान है। शिव नाम-गोत्र से परे होने के नाते अकुल हैं, शिव की सिसृक्षा-सृष्टि करने की इच्छा ही शक्ति है। शिव और शक्ति चन्द्रमा और चन्द्रिका की भाँति अभिन्न हैं। कहा जाता है कि जिस प्रकार वृक्ष के बिना छाया नहीं रह सकती, अग्नि के बिना धूम अस्तित्वहीन है, उसी प्रकार शक्ति और शिव अविच्छेद्य हैं। महामति मत्स्येन्द्रनाथ की विज्ञप्ति है—

न शिवेन बिना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अन्योन्यं च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये।
न वृक्षरहिता छाया नच्छायारहितो द्रुमः॥ (कौलज्ञाननिर्णय १७ । ८-९)

'कौलज्ञाननिर्णय' में योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ की उक्ति है कि वस्तुतः जगत् जीव से ही सृष्ट है। जीव ही समस्त तत्त्वों का नायक है, यही हंस है, यही शिव है, यही व्यापक परशिव है। यही मन भी है और यही जगत् में व्याप्त है। शिवस्वरूप जीव ही अपने आप को मुक्ति और भुक्ति प्रदान करता है। आत्मा ही परम गुरु है, प्रभु है और मुक्तिदाता है। जिसने यह आत्मतत्त्व समझ लिया है, वही योगिराट् है। वह साक्षात् शिवस्वरूप है और दूसरे को मुक्त करने में समर्थ है—

जीवेन च जगत्सृष्टं स जीवस्तत्वनायकः।
स जीवः पुद्गलोहंसः सशिवो व्यापकः परः॥
स मनस्तूच्यते भदे व्यापकः स चराचरे।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा मुक्तिभुक्तिप्रदायकः॥
प्रथमस्तु गुरुर्ह्यात्मा आत्मानं बन्धयेत् पुनः।
बन्धस्तु मोचयेद्ध्यात्मा आत्मा वै कायरूपिणः॥
आत्मनश्चापरो देवि येन ज्ञातः स योगिराट्।
स शिवः प्रोच्यतं साक्षात् स मुक्तो मोचयेत् परः॥ (कौलज्ञाननिर्णय १७ । ३३-३७)

मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलमार्ग में अकुल (शिव) और कुल (शक्ति) का समरसीकरण कर नाथयोग में शिवमयी शक्ति का समावेश किया। गोरखनाथजी ने अपने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ग्रन्थ में शक्तियुक्त जगद्गुरु आदिनाथ शिव को नमस्कार कर गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के योगिनी कौलमत की सिद्धमत में मान्यता समर्पित की है। उनकी उक्ति है—

आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम्।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम्॥ (सिद्धसिद्धान्तपद्धति १ । १)

कौल साधना में सामरस्य का सिद्धान्त है निद्रित कुण्डलिनी को जगा कर शिव में उत्थापित करना। पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता है, वहाँ एक स्वयंभू लिंग है। यह त्रिकोण चक्र में स्थित है, यह अग्नि चक्र है। इस त्रिकोण में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों में या वृत्तों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है, इसके ऊपर चार दलों का एक कमल है, जो मूलाधार चक्र कहलाता है, इसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है; यह छः दलों के कमल के

आकार का है; इसके ऊपर मणिपुर चक्र है, इसके ऊपर हृदय के पास अनाहत चक्र है, ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्मों के आकार के हैं। इनके भी ऊपर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है, यह सोलह दल के पद्म के आकार का है। ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र है, इसके दो ही दल हैं। इन षट्चक्रों को पार करती हुई उद्बुद्ध कुण्डली शक्ति सबके ऊपर वाले सातवें चक्र (सहस्रार) में परमशिव से मिलती है, इस चक्र में सहस्र दल हैं, इसलिए यह सहस्रार कहलाता है। यह परमशिव का निवास होने के नाते कैलाश कहलाता है। इस तरह सहस्रार में परमशिव, हृदय-पद्म में जीवात्मा और मूलाधार में कुण्डलिनी की स्थिति है। जीवात्मा परमशिव से चैतन्य और कुण्डलिनी से शक्ति प्राप्त करता है। कुण्डलिनी जीवशक्ति है। कौलसाधक कुण्डलिनी को जगा कर मेरुदण्ड की मध्यस्थिता नाड़ी सुषुम्ना के मार्ग से सहस्रार में स्थित परमशिव में उत्थापित करता है। शिव का शक्ति से यह सामरस्य ही परमानन्ददायक है। निर्विकार निष्कल शिव को जान लेने पर जीवात्मा सर्वबन्धविनिर्मुक्त हो जाता है। नाथमत में श्रीमत्स्येन्द्रनाथजी की कृपा से यह षट्चक्रगत कुण्डलिनी उद्बोधन षडंगयोग अथवा हठयोग का एक विशिष्ट अंग है। नाथयोग-साधना में मुक्ति नाथस्वरूप में अवस्थित है। इससे सदानन्दावस्था की समुपलब्धि होती है। नाथतत्त्व मत्स्येन्द्रनाथ के योगज्ञानप्रकाश में अनादि (शिव) तत्त्व है, भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। नाथयोगी अपने स्वरूप में परमेश्वर शिव को अभिन्न देखता है।

नाथसम्प्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ के पथप्रदर्शन में महायोगी गोरखनाथ द्वारा योगसिद्धान्त का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। मत्स्येन्द्रनाथ का नाम महाप्रकाश भी कहा जाता है। कश्मीरी अपभ्रंश में एक 'महार्थमंजरी' नाम की रचना है, उसके रचयिता गोरखनाथ (महेश्वरानन्द) हैं। उन्होंने उपर्युक्त रचना के प्रारम्भ में अपने गुरु महाप्रकाश का स्मरण किया है। गोरखनाथजी के यह पूछने पर कि अविगत का सुख किस प्रकार प्राप्त किया जाता है, मत्स्येन्द्रनाथ ने बताया कि गुरुमुख से ही इसकी प्राप्ति होती है।

गुरुमुख अविगत का सुख लहै। ऐसा विचार मछिंद कहै॥ (गोरखबानी-मछीन्द्रबोध ८६)

गोरखनाथजी अपने अविगत आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए मत्स्येन्द्रनाथ को अपना पथ-प्रदर्शक चुनने के सम्बन्ध में विलक्षण बात कहते हैं, जिससे गुरुतत्त्व पर विशिष्ट प्रकाश पड़ता है। उनका कथन है कि शिव हमारे शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ प्रशिष्य हैं। हमें गुरु की आवश्यकता नहीं थी, हम साक्षात् शिवस्वरूप अलखनिरञ्जन परमेश्वर हैं पर इस भय से कि हमारा अनुकरण कर अज्ञानी लोग बिना गुरु के ही योगी बनने का दम न भरें, हमें मत्स्येन्द्रनाथजी को अपना गुरु बनाना पड़ा। यह उलटी स्थापना अथवा क्रम है। यदि हम ऐसा नहीं करते तो गुरुहीन पृथ्वी प्रलय में समा जाती।

अवधू ईश्वर हमारैं चेला भणीजै मछीन्द बोलिए नाती।
निगुरी पिरथी परलै जाती ताथैं हम उल्टी थापना थापी॥ (गोरखबानी सबदी १४४)

यही कारण है कि उन्होंने सद्गुरु की खोज की बात पर जोर दिया है कि अहंकार को तोड़ना चाहिए, सद्गुरुकी खोज करनी चाहिए, योगपन्थ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। नाथयोग में गुरु की प्राप्ति योगसाधना का प्राण है—

आपा भाँजिबा सतगुर खोजिबा जोगपन्थ न करिबा हेला। (गोरखबानी सबदी २०३)

'गोरखबानी' में संकलित 'मछीन्द्र-गोरखबोध' रचना में महायोगी गोरखनाथ की अनेक यौगिक समस्याओं के समाधान में मत्स्येन्द्रनाथ ने योगज्ञान का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है। मत्स्येन्द्रनाथजी का कथन है कि योगी को हाट-बाट में और वृक्ष आदि के तले अल्प समय तक रहकर भ्रमण करते रहना चाहिए, एक ही स्थान पर घर बनाकर नहीं रहना चाहिए। काम, क्रोध तृष्णा और सांसारिक माया का परित्याग कर देना चाहिए। आत्मज्ञान में स्थित रहकर अनन्त परमात्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिए। थोड़े ही समय तक सोना और अल्प-सूक्ष्म आहार ग्रहण करना चाहिए—

अवधू रहिबा हाटै बाटै रूख वृक्ष की छाया।
तजिबा काम क्रोध तृष्णा संसार की माया।
आप सौं गोष्ठी अनन्त विचार।
खण्डित निद्रा सुछिम अहार। (मछीन्द्रगोरखबोध-२)

मत्स्येन्द्रनाथजी ने गोरखनाथजी को परमतत्त्व का ज्ञान समझाया कि साधक की सहज शून्य में उत्पत्ति होती है। वह समशून्य में सद्गुरुपरमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है और अतीत शून्य में समाहित रहता है—

अवधू सहज सुंनि उत्पनां आइ। सम सुंनि सतगुरु बुझाइ।
अतीत सुंनि मैं रह्या समाइ। परम तत्त्व मैं कहूँ समझाइ॥

(गो.बा. मछीन्द्रगोरखबोध ६२)

मत्स्येन्द्रनाथजी ने बताया कि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी की जागृति सुषुम्ना में स्थित पवन तथा हृत्कमल में स्थित जीव और सहस्रार में विराजमान शिव का ही सदा साधक को चिन्तन करते रहना चाहिए। यही महाज्ञान-प्राप्ति का सहजमार्ग है—

अवधू अरधै बसै सक्ती उरधै बसै सीव।
भीतरि बसै पवना अन्तरी बसै जीव॥
निरन्तर इनका परचा लहै। ऐसा विचार मछीन्द्र कहै। (गो.बा. मछीन्द्रगोरखबोध ८०)

मत्स्येन्द्रनाथ की जनसाधारण के प्रति लोकभाषा में वाणियों का संकलन नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में अल्पमात्रा में ही उपलब्ध है। मत्स्येन्द्र की लोकवाणी है—

पंषेरु उड़ि सी। आप लीयौ बीसराम ।
ज्यों-ज्यों नर स्वारथ करैं कोइ न सवार्यो काम॥
जल कुं चाहै माछली। घण कु चाहै मोर।
सेवग चाहै राम कूं। ज्यों च्यंवत चन्द चकोर॥
परमारथ को जीवड़ौ। स्वारथ छाड़ि न जाइ।
जब गोप कीरया करी। म्हारो मनवो समग्यौ आय॥
जोगी सोइ जांणी रै। जगतै रहै उदास।
तत नीरंजण पाइया। यों कहै मछन्दर नाथ॥ (नाथसिद्धों की बानियाँ ६८१)

पक्षी (एक दिन) उड़ जाएगा। जन्म-मृत्यु का चक्कर लगाने से श्रान्त होकर विश्राम करने के लिए

उसने शरीर धारण कर लिया। मनुष्य ज्यों-ज्यों स्वार्थ में उलझता है, त्यों-त्यों उसका कार्य बिगड़ जाता है। जिस तरह जल को मछली चाहती है, मोर घन को चाहता है और चकोर चन्द्रमा को देखता है, उसी तरह सेवक-प्रेमी भक्त राम को चाहता है। जीवात्मा का परम उद्देश्य परमार्थ-साधन है, पर वह स्वार्थ का त्याग नहीं कर पाता, गुप्त योग—साधना से मन को तत्त्व का पता चल जाता है। जो जगत् से अनासक्त-उदास रहता है, वही वास्तविक योगी है। मत्स्येन्द्रनाथ का कथन है कि ऐसा योगी ही निरञ्जन परमशिव का साक्षात्कार करता है।

योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ की योगपरम्परा अक्षुण्ण है। गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, गहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ, सन्तयोगी ज्ञानेश्वर (ज्ञाननाथ), सिद्धपुरुष बाबा गम्भीरनाथ, आदि ने उनके यौगिक महाज्ञान से असंख्य जीवात्माओं को आत्मामृत प्रदान किया। चौरंगीनाथजी की अपनी रचना 'प्राणसंकली' में स्वीकृति है—

ग्यानरा गुर अम्हारा सिध मछीन्द्रनाथ,
ता प्रसादै भइला पग हाथ।
त्रिभवने करत थाकली अम्हारी,
अनदाता श्रीगोरखनाथ॥ (प्राणसंकली १२)

'प्राणसंकली' में मत्स्येन्द्रनाथजी के चरणकमल में योगीराज चौरंगीनाथजी ने महती श्रद्धा प्रकट कर उनकी महत्ता का दर्शन कराया है।

'सनमुख देखीला श्रीमच्छन्द्रनाथ गुरुदेव नमसकार करीला नमाइला माथा। आसीरबाद पाइला अम्हे मने भइला हरषित होठ कण्ठ तालुकारे सुकाइला धर्मना रूप मच्छन्द्रनाथ स्वामी।' (प्राणसंकली)

महायोगी गोरखनाथजी ने अपनी 'रोमावली' रचना में समन्वयवादी दृष्टिकोण से कहा है कि घट के भीतर चार पीर (देव) हैं, मन मत्स्येन्द्रनाथ, पवन ईश्वरनाथ, चेतना चौरंगीनाथ और ज्ञान गोरखनाथ हैं।

'चारी पीर बोलिजै घट भीतरि। ते कोंण कोंणमन मन्छिद्रनाथ पवन ईश्वरनाथ चेतंना चौरंगी नाथ ग्यान गोरखनाथ।' (गो.बा. रोमावली)

योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ का योगज्ञान अध्यात्मसागर का अचल-निर्मल प्रकाशस्तम्भ है। श्रीमत्स्येन्द्रनाथ की रचनाओं में 'कौलज्ञान निर्णय' एक श्रेष्ठ कृति है। उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें कुलवीरतन्त्र, कुलानन्द और ज्ञानकारिका विशिष्ट हैं।

योगेश्वर परमगुरु मत्स्येन्द्रनाथजी ने योगियों के सर्वश्रेष्ठ मत-सिद्धमत के प्रवर्तक के रूप में जगत् के असंख्य प्राणियों को गुरुज्ञान-योगबोध अथवा महाज्ञान का तत्त्वोपदेश कर उन्हें मुक्ति प्रदान की, संसार-सागर से पार उतरने के लिए योगामृत ज्ञान की नौका दी। यदि वे महाकारुणिक योगश्वर परम गुरु परमात्मा योग का विधा न प्रस्तुत करते तो असंख्य जीव योगाभ्यास में तत्पर होकर किस तरह आत्मकल्याण करते। श्रीमत्स्येन्द्रनाथ योगदर्शन के महनीय आचार्य थे, वे अमर हैं।

योगवाणी, 'नाथसिद्धचरित' विशेषांक, जनवरी, १९८४ से संकलित।

□

महायोगी गोरखनाथ

स्वानन्दविग्रह परमानन्दस्वरूप परमगुरु (मत्स्येन्द्रनाथ) की कृपा से चिदानन्दायित योगविग्रह शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथजी भवतापशमनरूप योगामृत प्रदान करने के लिए कालदण्ड का खण्डन-वंचन कर चारों युग में विद्यमान रह कर प्राणिमात्र को मोक्षपद-कैवल्यस्वरूप में अवस्थित करते रहते हैं। वे साक्षात् शिव-रूप में निरन्तर अभिव्यक्त रहते हैं और बड़े सौभाग्य से किसी-किसी सिद्ध पुरुष अथवा युक्तात्मा को उनका दर्शन होना होता है तो हो जाता है। यह दर्शन उन्हीं की परमकारुणिकता का अमर फल है। गोरखनाथजी ने अपने महायोग-ज्ञान के प्रकाश में जीवात्मा और परमात्मा की अभिन्नता सिद्ध की। उन्होंने अपने योगसिद्धान्त, विशेषतया हठयोग के माध्यम से सच्चिदानन्द ब्रह्म के शिवस्वरूप का आत्मा से एकात्मबोध सिद्ध किया। वे अप्रतिम योगतत्त्वज्ञ और महाज्ञानी सिद्ध पुरुष थे, वे असाधारण नाथसिद्ध थे। नेपाल से सिंहल और कश्मीर से कामरूप तथा द्वारिका क्षेत्र-आसेतु हिमाचल के भूमिखण्ड को उन्होंने अपनी महती योगसाधना से प्रभावित किया। निस्सन्देह वे नाथपन्थ के प्रवर्तक थे। उन्होंने बौद्धमार्गीय योगसिद्धान्तों को भी अपनी साधना से प्रभावित किया और उनमें से अधिकांश अंगों को शैव रूप प्रदान किया। यह उनकी योग-साधना-पद्धति की मौलिकता थी। उन्होंने अपने योग दर्शन और योग सिद्धान्तों से भारतीय संस्कृति और साहित्य को चिर समृद्ध किया। उन्होंने शास्त्रसम्मत योगपद्धति के ज्ञान-प्रकाश से जन-चेतना-लोकमानस को जागृत कर सत्य और शिव के महाज्ञान से समृद्ध और समलंकृत किया। यही उनकी अमरता की आधारशिला है। यही उनकी योगरसिकता है। कल्पद्रुमतन्त्रान्तर्गत गोरक्षस्तोत्रराज में योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने महायोगी गोरखनाथ को प्रणाम करते हुए अपनी हार्दिक श्रद्धा-भक्ति समर्पित कर उनकी महिमा ज्ञापित की है।

निरञ्जनो निराकारो निर्विकल्पो निरामयः।
अगम्योऽगोचरोऽलक्ष्यो गोरक्षः सिद्धवन्दितः॥
समस्तरसभोक्ता यो, यः सदा भोगवर्जितः।
सदा समरसो यश्च, श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते॥
हठयोगविधाता च, मत्स्यकीर्तिविवर्धनः।
योगिभिर्मनसा गम्यः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते।

सिद्धानाञ्च महासिद्धः ऋषीणां च ऋषीश्वरः।
योगिनाञ्चैव योगीन्द्रः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते॥
विश्वतेजो विश्वरूपं विश्ववन्द्यः सदाशिवः।
विश्वनामा विश्वनाथः श्रीगोरक्षनमोऽस्तु ते॥
अनन्तलोकनाथश्च नाथनाथशिरोमणिः।
सर्वनाथसमाराध्यः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते॥
शून्यानां च परं शून्यं परेषां परमेश्वरः।
ध्यायताञ्च परं धाम श्रीगोरक्षनमोऽस्तुते॥

(कल्पद्रुमतन्त्र-गोरक्षस्तोत्रराज)

हे गोरक्ष (गोरखनाथ)! आप निरञ्जन, निराकार, निर्विकल्प, निरामय, अगम्य, अगोचर, अलक्ष्य हैं, सिद्ध आप की वन्दना करते हैं, आपको नमस्कार है। आप समस्त रसों के भोक्ता हैं तो सदा भोगों से विरक्त हैं। आप समरस हैं, आपको नमस्कार है। आप हठयोग के प्रवर्तक शिव हैं, अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की कीर्ति को बढ़ाने वाले हैं, योगी मन में आप का ध्यान करते हैं, आपको नमस्कार है। आप सिद्धों में महासिद्ध हैं, ऋषियों में ऋषीश्वर हैं, योगियों में योगेन्द्र हैं, आपको नमस्कार है। आप विश्व के प्रकाशक हैं, विश्वरूप हैं, विश्व द्वारा वन्द्य सदाशिव हैं, आप विश्वनामधारी हैं, विश्वनाथ हैं, आपको नमस्कार है। आप असंख्य लोकों के स्वामी हैं, नाथों के नाथ-शिरोमणि हैं, समस्त नाथों द्वारा पूज्य (शिव) हैं, आपको नमस्कार है। आप शून्यों में भी परम शून्य हैं, परमेश्वरों के परमेश्वर हैं, ध्यानियों के ध्येय धाम (पद) हैं, आपको नमस्कार है।

गोरखनाथजी की अमरता और उनके समय-समय पर प्राकट्य-साक्षात् दर्शन का प्रतिपादन 'श्रीवल्लभदिग्विजय' ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। गोस्वामी यदुनाथ ने महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्बन्ध में 'वल्लभदिग्विजय' ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें महाप्रभु की पश्चिम यात्रा के सम्बन्ध मे रैवतक पर्वत पर गोरखनाथजी के श्रीविग्रहदर्शन का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि महायोगी गोरखनाथजी सब समय यथास्थान सिद्धदेह में प्रकट होते हैं, वे अमर काय और अकाल हैं।

'ततो रैवतोपरि गतास्तत्र गोरख्यशिखराद्या गोरख्यशिष्याः प्रोचुः यदि यूयं सिद्धास्तर्हि वदत गोरख्य कुत्र तदा कृष्ण प्राह सर्वत्रा सौ। तेभ्यो गोरख्यकोटीस्ते प्रदर्श्य चलिताः।' (वल्लभदिग्विजय)

जोधपुराधीश्वर महाराजा मानसिंह ने 'श्रीनाथतीर्थावली' रचना में वर्णन किया है कि श्रीरुक्मिणी और श्रीकृष्ण को उनके विवाह के अवसर पर द्वापर युग में गोरखनाथजी ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर आशीर्वाद प्रदान किया था। महाराजा ने प्रभास क्षेत्र का वर्णन करते हुए लिखा है—

इतः पश्चात्तत्रदेशे प्रभासः क्षेत्रसत्तमम्।
तत्र गोरक्षमठिका नाम धामास्ति पावनम्॥
रुक्मिणीकृष्णयोस्तत्राभूत्पुरा पाणिपीडनम्।
रुक्मिणीरूपलावण्यान्मोहिताः सकलाः सुराः॥

बभूवुः शक्तिरहितास्तस्याः कंकणबन्धने।
तदा देवाः सगषयः प्रजग्मुर्मिलिताः परे॥
गोरक्षनाथं राजन्तं गुप्तभावेन तत्र तम्।
स्तुवन्तः प्रार्थयामासुर्दर्शनं तस्य शूलिनः॥
स्तुत्यातितुष्टो योगीन्द्रस्तेभ्यः सन्दर्शनं ददौ।
साधितं प्रार्थितस्तेन तस्याः कंकणबन्धनम्॥
ततस्तुष्टुवतुर्नाथं रुक्मिणीदेवकीसुतौ।
भक्त्या परमया सा तु प्रसिद्धा जगती तले॥
ततोऽतितुष्टो योगीन्द्रो वरदानोन्मुखोऽभवत्।
उवाच स वरं वृतं युवां यन्मनसीप्सितम्॥
ततस्तौ ववृतुर्नाथ भवानत्रैव तिष्ठतु।
तथास्त्विति वरं दत्वा नाथस्तत्रैव तस्थिवान्॥

(श्रीनाथतीर्थावली ३१-३८)

(रैवतक पर्वत से) पश्चिम देश में क्षेत्रों में श्रेष्ठ प्रभास क्षेत्र है। वहाँ गोरक्षमठिका नाम का परम धाम है। वहीं रुक्मिणी और श्रीकृष्णजी का परिणय (विवाह) हुआ था। श्रीरुक्मिणीजी के रूप-लावण्य से देवता मोहित हो गये और उनका कंकण बाँधने में असमर्थ हो गये। तब ऋषियों तथा अन्य लोगों ने वहाँ विराजमान गोरक्षनाथजी की स्तुति की कि आप दर्शन दीजिए। स्तुति से सन्तुष्ट होकर योगीन्द्र गोरखनाथजी ने उन लोगों को दर्शन दिया। उनकी प्रार्थना से कंकणबन्धन सिद्ध हुआ। उसके बाद भगवान् कृष्ण और श्रीरुक्मिणीजी ने परम भक्ति से उनकी स्तुति की, जो संसार में प्रसिद्ध है। गोरखनाथजी योगीन्द्र ने स्तुति से प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। दोनों ने निवेदन किया कि हे नाथ! आप यहीं निवास कीजिए। नाथजी ने तथास्तु कहा और वहीं प्रतिष्ठित हो गये।

महायोगी गोरखनाथ देश, काल से परे योगपुरुष हैं, उनका अस्तित्व सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है। वे मध्य एशिया में अपनी सिद्धि के लिए सम्मानित हैं तो भारत में भी अमित लब्धप्रतिष्ठ हैं। उनकी शिष्य-परम्परा तिब्बत, नेपाल, अफगानिस्तान आदि प्रदेशों में प्रभावकारी है तो भारत के विभिन्न प्रदेश-बंगाल, उड़ीसा, कर्नाटक, गुजरात, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, सौराष्ट्र और हिमालयस्थ देश भी उनकी योगसाधना से कृतार्थ हैं, वे सत्युग में हैं तो त्रेता, द्वापर, कलियुग में भी उनकी प्रसिद्धि अक्षुण्ण है। सन्तकबीर महायोगी गोरखनाथ के चरित्र-व्यक्तित्व और योगसिद्धि से इतने प्रभावित थे कि उन्हें कलि में गोरखनाथजी की अमरता का वर्णन करना पड़ा। सन्त कबीर की बड़ी मार्मिक उक्ति है—

काँमाणि अंग बिरकत भया, रत भया हरि नाहिं।
साषी गोरखनाथ ज्यूँ, अमर भए कलि माहि॥

महायोगी गोरखनाथजी के जीवन से सम्बन्धित प्रायः समस्त आख्यानों तथा तत्सम्बन्धी अनेक तथ्यों का मौलिक तात्पर्य एक मात्र यह है कि वे शिवस्वरूप हैं, अयोनिज और अमर हैं। वे कायसिद्ध

योगेश्वर हैं। साक्षात् भगवान् शिव ने महाकालयोगशास्त्र में कहा है कि मैंने योगमार्ग के प्रचार के लिए गोरक्षरूप धारण किया है।

अहमेवास्मि गोरक्षो मद्रूपं तन्निबोधत।
योगमार्गप्रचाराय मया रूपमिदं धृतम्॥

शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ का बड़ा मौलिक ध्यान नेपाल के कवि चक्रपाणि ने अत्यन्त मार्मिक वाणी में प्रस्तुत करते हुए कहा है—

भजे श्रीगोरक्षं भुवि सकलसिद्ध्येकभवनं
विरंचिश्रीवत्सिस्मरहरमहो विग्रहंधरम्।
धरापुत्रं लोकोद्धरणधिषणाध्यासित तनुं
महासामर्थ्याब्धिं भवजलधिपारी भवधियम्॥
विराजत्सिद्धौघप्रणतचरणं चण्डभुजगो।
परिष्टादासीनं भसितनिचयोद्भासितरुचिम्।
स्फुरज्ज्योत्स्नाचंचत्स्फटिकगिरिशोभाकररुचिं।
विराजन्तं पीनायतविपुलभव्याकृतिरुचा॥
महारण्यभ्राजद्वटविटपिमूलावनितल
प्रदीप्यद्रत्नौघस्फुरितमणिमञ्चासनगतम्।
महाश्वेतच्छत्राधरतलगमद्वैतहृदयं
समाधावासीनं परममहिमब्रह्मणि विभुम्॥

हे गोरक्षनाथ! मैं आपका ध्यान करता हूँ, जो समस्त सिद्धियों के एक मात्र परमाश्रय हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में शोभित हैं, जो पृथ्वी के भीतर कन्दरा में तप में तत्पर होने के कारण धरापुत्र कहलाते हैं, जो लोक के उद्धार के लिए अनेक रूपों में अभिव्यक्त होते हैं, जो परम शक्ति से युक्त हैं, जो भवसागर से पार उतारने वाले हैं, जो मेघमालामय प्रचण्ड भुजगों के ऊपर सिद्धासन से विराजमान हैं, योगशक्ति से देदीप्यमान सिद्धों का समूह जिनके चरणों पर प्रणत है, जिनके चन्द्रकलोपम गात्र में अखण्ड विभूति शोभित है, मानो शरद् पूर्णिमा की रात में स्फटिक पर्वत कैलाश ही विभ्राजित है, जिनका मुखमण्डल प्रकाण्ड भव्य तेजोमण्डल से समलंकृत है, मैं उन आप के स्वरूप का ध्यान करता हूँ। जो विशाल वनस्थली के मध्य में वटवृक्ष के मूल की प्रतिष्ठित वेदी पर दिव्य रत्नों से खचित स्फटिक मणि के भव्य आसन पर विराजमान हैं, जिनके ऊपर विशाल छत्र शोभित है, जो परममहिमामयी अद्वैतानन्दस्वरूप ब्रह्म-समाधि में लीन हैं, उन आप विभु का मैं ध्यान करता हूँ। नेपाल के ही कविवर लक्ष्मीश्वसूरि ने महायोगी गोरखनाथ के उपास्य और परम आराध्य व्यक्तित्व का चित्रण किया है—

जगत्त्राणदक्षं नमत्प्राणपक्षं हठाकृष्टयोगं सदात्यक्तभोगम्।
वियच्चारिसंचारिवर्त्मन्युदारं सुगोरक्षगोरक्षनाथं नताःस्म॥

जो जगत् के प्राणियों की (कृपापूर्वक) रक्षा करने में परम समर्थ हैं, अपने भक्तों को प्राणमयी

शक्ति से सम्पन्न करते हैं, जिन्होंने हठपूर्वक (कठोर) योगाभ्यास कर सिद्धि प्राप्त की है, जिन्होंने सदा के लिए जीवन के विषयभोग (-सुख) का त्याग कर दिया है, जो खेचरी मुद्रा में निरन्तर तत्पर रहते हैं, जो परम उदार (कारुणिक) हैं, उन इन्द्रियजयी गोरखनाथ को हम प्रणाम करते हैं।

'गोरखबानी' में संग्रहीत 'महादेवगोरखगुष्टि' रचना में भगवान् शिव ने गोरखनाथ को 'परमयोगसम्प्राप्त योगी' के सम्बोधन से अलंकृत किया है। तत्त्वज्ञान का उपदेश देते हुए उपर्युक्त रचना में कहा गया है—

आत्मा परमात्मा भवति। जोगेस्वर जीव एकं भवति। परम सून्य भाव स्थिति। पारब्रह्म भवे लीनं। सत्यं सत्यं च वदाम्यहं। तत्वग्यान श्रीशम्भूनाथ अकथ कथितं सुनो हो गोरष अवधूतं परमजोग सम्प्रापितं जोगी।

नाथसिद्ध घोड़ा चौली ने अपनी दो सबदियों में गोरखनाथजी की महिमा और योगगरिमा प्रकाशित की है कि गोरखनाथजी के योगमार्ग का मर्म अनन्त-असंख्य सिद्धों ने जानने की साधना की और उन्हें यह विश्वास हो गया कि गोरखनाथजी उन अनन्त सिद्धों में अतीत-अनुपम और स्वस्वरूप में ही अभिव्यक्त महायोगी हैं। घोड़ा चौली की दृष्टि में गोरखनाथ वे हैं, जो अपने स्वरूप में ही अवस्थित हैं, मन से माया को जिन्होंने पूरी तरह निष्कासित कर दिया है, जो सदा सहज स्वरूप आत्मा में ही तत्पर रहकर जगत् के प्रति सम्पूर्ण तटस्थ-उदासी हैं, साक्षात् शिवगोरक्ष हैं।

श्रीगोरखनाथ पन्थ को भेव।
अनन्त सिधा मिलिपायौ भेव॥
पाया भेव भयी प्रतीत।
अनन्त सिधा मैं गोरख अतीत।
गोरख तेजे राखै गोई। माया मनसा करै न मोही॥
सदा अकलपत रहै उदासा। परचै जोगी सिंभ निवासा।

(नाथसिद्धों की बानियाँ, १२६, १३७)

महायोगी गोरखनाथ को प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् श्री जी.ए. ग्रियर्सन ने शैवधर्म का प्रतिष्ठापक बताया है। ग्रियर्सन का कथन है कि 'गोरक्षनाथ कनफटा योगी-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता थे। वे शैव धर्म के श्रेष्ठ शिक्षागुरु थे। उन्होंने नेपाल को महायान बौद्ध धर्म के प्रभाव से मुक्त कर वहाँ शैव (योग) धर्म को प्रतिष्ठित किया।' भगवान् गोरक्षनाथ योगिराजराजेश्वर हैं, साक्षात् शिवस्वरूप महायोगविज्ञानी योगी अमरकाया योगसिद्ध हैं। उनका योगज्ञानामृत अक्षय, निर्विकार तथा निरञ्जन-अमायिक है।

महायोगी गोरखनाथ का व्यक्तित्वदर्शन साक्षात् नाथयोग का स्वरूपदर्शन है। नाथसम्प्रदायगत परम्परा और अनुश्रुति के अनुसार अभिनवशिव गोरखनाथजी को चारों युगों में विद्यमान कहा गया है। इस तरह उनका देहसिद्ध अथवा अमर होना युक्तिसंगत ठहराया जाता है। महामति ब्रिग्स ने अपनी 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' पुस्तक में एक ऐसी ही परम्परा के उल्लेख में यह निरूपित किया है कि गोरखनाथजी सत्ययुग में पंजाब में प्रकट हुए। त्रेतायुग में वे गोरखपुर में अधिष्ठित थे, द्वापर में वे द्वारिका (हरमुज) में थे और कलियुग में उनका प्राकट्य सौराष्ट्र में काठियावाड़ के गोरखमढ़ी स्थान में हुआ। इसका तात्पर्य यह है

कि गोरखनाथजी अमर हैं और चारों युगों को अपनी योगसिद्धि से उन्होंने कृतार्थ और प्रभावित किया है। उपर्युक्त स्थल उनकी तप-स्थली हैं, समाधि नहीं।

नाथ सम्प्रदाय की प्राचीनता और गोरखनाथजी की अयोनिज उत्पत्ति का एक अनुश्रुति से पता चलता है। इसमें कहा गया है कि जब विष्णु कमल में प्रकट हुए, तब गोरखनाथजी पाताल में तपस्या कर रहे थे। सृष्टि-कार्य के लिए उन्होंने अपनी धूनी से विभूति दी; क्योंकि विष्णु चारों ओर जल-ही-जल की समस्या से चिन्तित थे। सृष्टिकार्य सुगम हो गया। ब्रिग्स महोदय ने अपने ग्रन्थ में ('गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' में पृष्ठ २२८ पर) इस अनुश्रुति का उल्लेख किया है। गोरखनाथजी की उत्पत्ति की कथा फैजुल्लारचित 'गोरखविजय' बंगला काव्य में भी वर्णित है, जिसमें उनके अयोनिज स्वरूप-प्राकट्य पर प्रकाश पड़ता है। इसमें कहा गया है कि शिव की नाभि से मत्स्येन्द्रनाथ, हाड़ से हाडिपा, कान से कानपा (कृष्णपाद) और जटा (ललाट) से गोरखनाथ की उत्पत्ति हुई।

नाभि ते जन्मिल मीन गुरु मच्छन्दर
साक्षाते सिद्धारवेश धरे कलेवर।
हाड़इते हाड़िफा जन्मिया निकलिल,
सर्वांग सिद्धारवेश ताइते आछिल।
कर्ण हइते जन्मिल कानफा जुगाइ
अति खरतर हइल सिधाइ।
जटा भेद निकलिल जति गोरखनाथ॥ (गोरखविजय)

यद्यपि यह बंगीय कथा एक रूपक मात्र है, तथापि लोकमानस में ये चारों नाथसिद्ध अयोनिज हैं। गोरखनाथजी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारत के विभिन्न प्रदेशों में अनेक परम्पराएँ मान्य हैं। नेपाल में तथा अन्य परम्पराओं में यह बात पुष्ट होती है कि उनका प्राकट्य अभिमन्त्रित था। 'कौलज्ञान निर्णय' की भूमिका में (पृष्ठ ६४ पर) कहा गया है—**'अस्ति याम्यां पश्चिमायां दिशि कश्चिद्देशः बड़वसंज्ञकः तत्राजनि महाबुद्धिंमहामन्त्रप्रसादतः।'**

यह कथन नेपाल दरबार-ग्रन्थमाला से प्राप्त 'गोरक्षसहस्रनाम' से उद्धृत है। स्पष्ट होता है कि गोरखनाथजी दक्षिण दिशा में बड़व नामक देश में महामन्त्र के प्रसाद से प्रकट हुए थे। महाराष्ट्रीय परम्परा में गोरखनाथजी को गोदावरी के तटवर्ती चन्द्रगिरि नामक स्थान का बताया जाता है। इस परम्परा का उद्गम सन्त ज्ञानेश्वर कृत 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' ग्रन्थ है। नेपाल दरबार के गोरक्षसहस्रनाम में निर्दिष्ट बड़व और 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में निरूपित चन्द्रगिरि स्थान एक-दूसरे के पर्याय हो सकते हैं। महार्थमञ्जरी गोरखनाथजी की रचना कही गयी है। उसके त्रिवेन्द्रम् संस्करण से पता चलता है कि वे चोल देश के निवासी थे। उनके पिता का नाम माधव और गुरु का नाम महाप्रकाश था। उनके गुरु ने उनका (गोरखनाथ का) नाम महेश्वरानन्द रखा था, उनका लोकप्रचलित नाम गोरक्ष था।

चोलास्ते सततोत्सवाः जनपदाः श्लाघ्यो गुणैमधिवौरेताधाः
नमो निखिलमालिन्यविलापनपटीयसे।

महाप्रकाशपादाब्जपरमाणवे।
गोरक्षो लोकधिया देशिकदृष्टया महेश्वरानन्दः।
उन्मीलियामि परिमलमन्तर्ग्राह्यं महार्थमञ्जर्याम्॥ (महार्थमञ्जरी : त्रिवेन्द्रम् संस्करण)

सतत उत्सवों से सम्पन्न चोलनाम का जनपद है। अपने गुणों से श्लाघ्य माधव मेरे जनक (पिता) हैं। समस्त सांसारिक मलिनता को दूर करने में निपुण महाप्रकाश (मत्स्येन्द्रनाथ) के चरण-कमल-पराग के परमाणु को नमस्कार है। लोकदृष्टि से गोरक्षनामवाला तथा गुरुदृष्टि से महेश्वरानन्द, मैं महार्थमञ्जरी के आन्तरिक परिमल का उन्मीलन करता हूँ।

अवध की परम्परा के अनुसार गोरखनाथजी जायस नामक नगर में एक परम पवित्र ब्राह्मणकुल में प्रकट हुए थे। यह मत 'दि साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया एण्ड ऑफ ईस्टर्न सदर्न एशिया' के पृष्ठ १३३५ पर बालफर एडवर्ड का है, जिसका उल्लेख ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' (जैनेन्द्र प्रेस देलही द्वारा १९७३ में पुनर्मुद्रित) के पृष्ठ २११ पर किया है। जनश्रुति है कि अयोध्या के निकट भगवती सरयू के तट से थोड़ी दूर पर जयश्री अथवा जायस नामक स्थान में अलख जगाते समय तथा भिक्षाटन करते हुए महायोगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ की दृष्टि एक निस्सन्तान ब्राह्मणी पर पड़ी, उन्होंने अपनी झोली से विभूति दी और आशीर्वाद दिया कि तुम पुत्रवती होगी। लोकलज्जा के भय से ब्राह्मणी ने विभूति सूखे गोबर के ढेर (भिटउर) में छोड़ दी। ठीक बारह साल के बाद मत्स्येन्द्र जायस आए। ब्राह्मणी ने उनके पूछने पर सही बात कह दी। वे भिटउर के पास गये, अभिमन्त्रित विभूति ने बारह साल के तेजपूर्ण दिव्य बालक का आकार धारण कर लिया था। वे बालक को अपने साथ ले आए और उसका नाम गोरक्षनाथ रखा तथा अपने अत्यन्त प्रिय शिष्य के रूप में स्वीकार कर योगमन्त्र की दीक्षा दी। यह घटना उनकी अयोनिज उत्पत्ति का अत्यन्त लोकप्रचलित प्रमाण है। यह घटना इतनी प्रसिद्ध और सम्मानित है कि इसी को आधार बनाकर महाराष्ट्रीय परम्परागत 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' ग्रन्थ के सन्दर्भ में मत व्यक्त हुआ कि मत्स्येन्द्रनाथ ने भ्रमण करते हुए गोदावरी नदी के किनारे बसे चन्द्रगिरि नामक गाँव में निस्सन्तान ब्राह्मणी को अपनी विभूति दी और उसने उसे गोबर में फेंक दिया, जिसमें से बारह साल के बाद दिव्य बालक के रूप में गोरखनाथ प्रकट हुए। गम्भीरता से विचार करने पर यही मत प्रमाणित प्रतीत होता है कि गोरखनाथजी मत्स्येन्द्रनाथजी की विभूति से बारह साल के बाद दिव्य बालक के रूप में आकारित होकर जायस में निस्सन्तान ब्राह्मणी के अयोनिज पुत्र रूप में लोकप्रसिद्ध हुए। जायस (जयश्री) प्राचीन काल से ही धर्मस्थान के रूप में सम्मानित होने के नाते गोरक्षनाथजी के प्राकट्य से गौरवान्वित हो उठा। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी प्रसिद्ध काव्यकृति पद्मावत में स्वीकार किया है कि जायस नगर धर्मस्थान था।

योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथजी को सिद्धामृत-नाथपन्थ में दीक्षित कर उन्हें शिवोपदिष्ट योगज्ञान प्रदान किया, जिसका उन्होंने उस समय क्षीरसागर में डोंगी के नीचे मत्स्य के उदर से निकलकर श्रवण किया था, जब शिवजी पार्वतीजी के प्रति उसका व्याख्यान कर रहे थे। इस आख्यान का वर्णन नारदपुराण के उत्तर भाग के ६९वें अध्याय में उपलब्ध होता है और इस महाज्ञान श्रवण की परम्परा को ज्ञानेश्वरी टीका में सन्त योगी ज्ञानेश्वर ने प्रतिपादित करते हुए कहा है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने यह ज्ञान गोरखनाथजी को प्रदान

किया और गोरखनाथजी से इसे गैनी (गहिनी) नाथ ने प्राप्त कर निवृत्तिनाथ को दिया। नारदपुराण के उत्तर भाग के ६९वें अध्याय में कामोदा (कामाक्षा) माहात्म्य में मत्स्येन्द्रनाथ को भगवती पार्वती का पुत्र कहा गया है। उन्हें सिद्धनाथ नाम प्रदान किया गया है। सत्युग, त्रेता, द्वापर में लोग उन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं, कलियुग में वे अन्तर्धान रहते हैं।

तत्रास्ते पार्वतीपुत्रः सिद्धनाथो वरानने।
उग्रे तपसिलोके संपेक्ष्यते कदाचन।
कृतत्रेताद्वापरेषु प्रत्यक्ष दृश्यतेऽखिलैः।
स मत्स्यनाथः किल तत्र संस्थो
विज्ञानपारंगम एव भद्रे। (नारदपुराण उत्तर ६९ । ६, ७, १३)

भगवान् महेश्वर ने मणिप्रदीप्त शृंग पर भगवती उमा के प्रति तत्त्वज्ञान का वर्णन किया। भगवती पार्वती के निद्राभिभूत होने पर मत्स्य के उदर से निकल कर मत्स्येन्द्रनाथजी ने वह तत्त्वोपदेश सुना। सिद्धनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) का चिन्तन कर मनुष्य सफलमनोरथ हो जाता है।

तत्वोपदेशाय जगाम भद्रे स लोकलोकाचलमप्रमेयः॥
तत्सौम्यशृंगे मणिभिः प्रदीप्ते स्थित्वा क्षणार्धं हरिमग्नचेता॥
देवीमुमां सम्प्रतिबोध्य शक्त्यातालत्रयेणाप्यभिभूय सत्त्वान्॥
उवाच तत्वं सुरहस्यभूतं यद्वादशाणार्थनिजस्वरूपम्॥
ततस्तु सा शैलसुता महेशं मारान्तकं यावदभिप्रणम्य॥
अज्ञाय तत्वं समवस्थिताऽभूत्तावत्स मत्स्यस्तु महार्णवस्थः॥
द्रुतं समुत्प्लुत्यजगाम शृंगं या विप्रबालो ह्युदरे स्थितोस्य॥
स तत्वसिद्धोऽखिलबन्धमुक्तः।
\+ + + + +
तं सिद्धनाथं मनसा विचिन्त्य नरो भवेत् सिद्ध समस्तकामः।
(नारदपुराण उत्तर ६९ । १७-२०, २५)

सन्त योगी ज्ञानेश्वर ने इसी पौराणिक प्रसंग का अपने गीताभाष्य-ज्ञानेश्वरी में पोषण किया है। महाराज ने ज्ञानेश्वरी के अठारहवें अध्याय की १७२१-१७६५ ओबियों में कहा है कि क्षीरसमुद्र के तट पर श्रीशंकर ने भगवती पार्वती के कानों में, न जाने, कब एक बार जो उपदेश दिया, वह क्षीर समुद्र की लहरों में किसी मत्स्य के पेट में गुप्त मत्स्येन्द्रनाथजी के हाथ लगा। अचल समाधि के उपभोग की इच्छा से मत्स्येन्द्रनाथ ने उसका उपदेश गोरखनाथजी को दिया। श्रीशंकर से प्राप्त वह अद्वैतानन्द श्रीगैनीनाथ (गहिनीनाथ) ने सम्पादित किया। उन्होंने निवृत्तिनाथ को आज्ञा दी कि आदि गुरु शंकर से प्राप्त उपदेश से तुम कलिकाल के जीवों की रक्षा करो।

क्षीरसिन्धु परिसरीं। शक्ति च्या कर्णकुहरीं।
नैणांकें श्रीत्रिपुरारी। सांगितलें जें।

ते क्षीर कल्लोला आन्तु। मकरोदरीं गुप्तु।
होता तया चा हातु। पैहे जालें।
मग समाधि अव्यत्यया। भोगावी वासना यया।
ते मुद्रा श्रीगोरक्षराया। दिधलीं मीनीं।
मग तिहीं ते शाम्भव। अद्वयानन्दवैभव।
सम्पादिलें सभ्रभव। श्रीगहिनीनाथा।
ते आज्ञा श्रीनिवृत्तिनाथा। दिधलीं ऐसी।
ना आदि गुरु शंकरा। लागोनि शिष्यपरम्परा।
बोधा चा हा संसारा। जाला जो आमुतें। (ज्ञानेश्वरी १८। ओबी १७५१-५८)

माहेश्वर अभिनव गुप्त ने अपनी रचना तन्त्रालोक में सिद्धनाथ के रूप में नारदपुराण के ही उत्तर भाग के ६९वें अध्याय में प्रख्यात मीननाथ को मच्छन्द विभु कह कर प्रणाम किया है। अभिनव गुप्त का कथन है—

रागारुणं ग्रन्थिविलावकीर्णं यो जालमातानवितानवृत्ति।
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार स्तान्मेस मच्छन्दविभुः प्रसन्नः॥ (तन्त्रालोक १ । ७।)

जिन्होंने राग-गैरिकादि द्रव्य अथवा रागतत्त्व से अरुण-लाल अथवा भेददशा के प्रसार से युक्त गाँठों और सलिल के निर्गम स्थान, बिलों से अथवा ग्रन्थिमाया एवं बिल-भोगभूमियों से व्याप्त लम्बाई और चौड़ाई के मान से युक्त अथवा सर्वत्र फैले हुए तथा कला से अथवा शान्त प्रतिष्ठा, विद्या और निवृत्ति-कला से निर्मित जाल, मत्स्यबन्धन अथवा इन्द्रजालमयी माया को दूर कर दिया, चपल चित्तवृत्तिरूप पाशों का खण्डन करने वाले वे मच्छन्द विभु (गुरु) मुझ पर प्रसन्न हों। अभिनव गुप्त द्वारा प्रतिपादित इस तरह नाथयोग अथवा शैव योग की परम्परा में मीननाथ (सिद्धनाथ)-मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य शिवगोरक्ष गोरखनाथ की प्राचीनता, योगपद्धति और व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त श्लोक पर जयरथ की टीका से स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा मच्छन्द ही मीननाथ-मत्स्येन्द्रनाथ थे और पृथ्वीधराचार्य ने अपनी रचना भुवनेश्वरी स्तोत्र (३७) में इन्हीं को सिद्धनाथ कहा है, सकलागमचक्रवर्ती बताया है। अतएव यह निर्विवाद है कि नारदपुराण के उत्तर भाग के ६९वें अध्याय में वर्णित सिद्धनाथ ही मत्स्येन्द्रनाथ हैं, जिन्होंने गोरखनाथ को क्षीर सागर के मणिप्रदीप्त सप्तशृंग पर शिवोपदिष्ट योगज्ञान प्रदान किया।

यद्यपि शिवगोरक्ष (गोरखनाथ) ही श्रीनाथ हैं और उन्हें गुरु बनाने की आवश्यकता नहीं-सी थी तथापि लोक-व्यवहार में गुरु की मर्यादा अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने योगीन्द्र मत्स्येन्द्र को अपना पथ-प्रदर्शक बना कर योग ज्ञान प्राप्त किया था। एक सबदी में उन्होंने गुरु की मर्यादा के संरक्षण पर प्रकाश डाला है—

अवधू ईश्वर हमारे चेला भणीजै, मछीन्द्र बोलिए नाती।
निगुरी पिरथी परलै जाती ताथै हम उल्टी थापना थापी॥

(गोरखबानी-सबदी १४४)

ऐसे तो गोरखनाथजी साक्षात् शिवस्वरूप ही हैं, पर उन्होंने समय-समय पर भारत के विभिन्न स्थानों में तपस्या की, जिसका प्रामाणिक विवरण जोधपुराधीश महाराज मानसिंह द्वारा संग्रहीत 'श्रीनाथतीर्थावली ग्रन्थ' में यथाक्रम उपलब्ध होता है। सौराष्ट्र, पंजाब, उत्तराखण्ड में हिमालय के अनेक स्थान, कर्नाटक तथा बंगाल आदि में उनके साधनापीठ-योगकेन्द्र विद्यमान हैं, उत्तर प्रदेश का प्रसिद्ध नगर गोरखपुर तो उन्हीं के नाम से गौरवान्वित है और यह नगर उनकी तप:स्थली है। मत्स्येन्द्रनाथजी के सन्मार्ग दर्शन में उन्होंने कठोर तप का पवित्र आचरण अपनाया। मत्स्येन्द्रनाथजी ने कहा कि अपने आप को देखना चाहिए और अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य से सम्पन्न चिन्मय शिव तत्त्व का विचार करना चाहिए। आत्मज्ञान की प्राप्ति से ही चेतना का रहस्य जाना जाता है। परम ज्योति-परब्रह्म परमात्मा में ही जीव सदा निवास करता है। शिव और शक्ति की कृपा-प्राप्ति ही योगी की पूर्ण सिद्धि है। गोरखनाथजी ने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी के योगसिद्धान्त और उपदेशों के अनुरूप ही अपना जीवन परिष्कृत किया। उन्होंने माया पर विजय पायी। सांसारिक जीवन के बन्धन से अपने आप को मुक्त कर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। उन्होंने आशा, तृष्णा और इच्छा का परित्याग कर दिया। देवलोक की अप्सराओं, मृत्युलोक की नवरत्नमणियों और पाताल की नागकन्याओं का उन्होंने विस्मरण कर दिया। वे पहाड़ी गुफाओं और सघन वनों में तथा हिमालय की शीतल निर्जन कन्दराओं में तप करने लगे। उन्होंने उस जीवात्मा के स्वरूप की गहरी खोज की, जो जगत् में शरीर के साथ आता है और उसका त्याग कर चला जाता है। उन्होंने अनुभव व्यक्त किया—

आवै संगै जाइ अकेला। ताथैं गोरख राम रमेला।
काया हंस सगि । आवा। जाता जोगी किनहूँ न पावा।
जीवत जग मैं मूवा मसाणं। प्राण पुरिस कत कीया पयाणं।
जामण मरणां बहुरि बिओगी। ताथैं गोरख भैला जोगी॥

(गोरखनाथ-पद ५२)

जीव के स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त कर गोरखनाथ ने योगी का रूप अपनाया। उन्होंने प्राणपुरुष का अन्वेषण कर जगत् में जन्म-मरण के बन्धन से छूटने का रास्ता समझ लिया। उनकी वाणी है कि ज्ञान ही सबसे बड़ा गुरु है, चित्त ही सबसे बड़ा चेला है। ज्ञान और चित्त का योग सिद्ध कर जीव को जगत् में अकेला रहना चाहिए। यही श्रेय अथवा आत्म-कल्याण का पथ है—

ग्यान सरीखा गुरु न मिलिया, चित्त सरीखा चेला।
मन सरीखा मेलू न मिलिया, तीथैं गोरख फिरै अकेला॥

(गोरखबानी सबदी १०८९)

महायोगी गोरखनाथ को एकान्तवास का जीवन परम प्रिय था। उन्होंने घट-घट में अपने आप को ही व्याप्त पाया। मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसाद से उन्हें कैवल्य पद-स्वरूपावस्थान की प्राप्ति हुई। वे निन्दा-स्तुति से ऊपर उठ गये और उनकी समस्त वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयीं। उन्होंने आत्मसाक्षात्कार की भाषा में कहा कि मैंने पिण्ड में ब्रह्माण्ड को ढूँढ़ कर सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली है। देव, देवालय, तीर्थ आदि इसी शरीर में

हैं। मैंने शरीर के भीतर अविनाशी परमात्मा अलख निरञ्जन की अनुभूति प्राप्त कर ली है, कायागढ़ को जीतना किसी वीर का काम है। उनका कथन है—

आऊँ नहीं जाऊँ निरञ्जन नाथ की दुहाई।
प्यण्ड ब्रह्मण्ड खोजतां अम्हे सब सिधि पाई॥
काया गढ़ भीतरि नव लख खाई।
दसवैं द्वारि अवधू ताली लाई॥
काया गढ़ भीतरि देव देहुरा कासी।
सहज सुभाइ मिले अविनासी॥
बदन्त गोरखनाथ सुणौ नर लोई।
कायागढ़ जीतेगा बिरला कोई॥ (गोरखबानी-पद २३)

गोरखनाथजी ने नेपाल, गिरिनार, ज्वालादेवी की स्थली आदि में अमित समय तक तपस्या की। उन्होंने सतयुग में झेलम नदी के किनारे गोरखटिल्ला में तपस्या की। त्रेतायुग में उन्होंने भगवती इरावती (राप्ती) के तट पर गोरखपुर में तपस्या की। कहा जाता है कि गोरखपुर तपःस्थली में रघुवंशी नरेश रघु, अज और राम ने उनका दर्शन कर अपने आप को कृतार्थ किया था। द्वापर युग में जूनागढ़ राज्य में प्रभास पट्टन के समीप गोरखमढ़ी में उन्होंने तप किया। कलि में पेशावर के किले में गोरखहट्टी उनकी तपस्या से समलंकृत है। यहाँ प्रत्येक वर्ष असंख्य श्रद्धालु इस स्थान पर एकत्र होकर उनको अपनी श्रद्धा-भक्ति समर्पित करते हैं।

नेपाल में गोरखनाथजी शिवगोरक्ष के रूप में पूज्य हैं। निस्सन्देह उन्होंने अपनी साधना और तपस्या से नेपाल के जनजीवन को प्रभावित किया। नेपाल में मृगस्थली उनकी योगसाधना की भौमप्रतीक है। नेपाल में वागमती नदी के तटवर्ती सिद्धांचल पर मृगस्थली में गोरखनाथजी ने विकट तप किया था।

गोरखनाथजी ने नेपाल और भारत की सीमा पर स्थित प्रसिद्ध शक्ति पीठ पाटन में भगवान् शिव की इच्छा की पूर्ति के रूप में तपस्या की थी। दक्ष के यज्ञ के विनाश के बाद सती के प्राणरहित शरीर को लेकर महादेवजी के भ्रमण करते समय देवी का पट वामस्कन्ध के सहित इसी पुण्यक्षेत्र पाटन में गिरा था। इस सम्बन्ध में श्लोक प्रसिद्ध है—

पटेन सहितः स्कन्धः पपात यत्र भूतले।
तत्र पाटेश्वरी नाम्ना ख्यातिमाप्ता महेश्वरी॥

पाटेश्वरी पीठ की स्थापना का श्रेय गोरखनाथजी को ही है। उन्होंने भगवान् शिव की आज्ञा से पीठ स्थापित कर भगवती की आराधना और योग की साधना की थी। देवीपाटन में उपलब्ध १८७४ ई. के शिलालेख में उल्लेख है—

महादेवसमाज्ञप्तः सतीस्कन्धविभूषितम्।
गोरखनाथ योगीन्द्रस्तेन पाटेश्वरीमठम्॥

गोरखनाथजी ने अपनी तपस्या से पाटन के पुण्यक्षेत्र की महिमा बढ़ायी। इस तरह समग्र भारत में

अनेक स्थान उनकी तपस्या के स्मारकरूप में पूज्य हैं। पंजाब, राजस्थान, सौराष्ट्र, कर्नाटक, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश में और उत्तराचंल के अनेक प्रखण्डों और नेपाल आदि में उनके श्रीविग्रह प्रस्थापित हैं तथा चरणयुगल-प्रतिमाएँ अंकित हैं और उनकी पूजा सम्पन्न होती है। गोरखनाथजी ने झोपड़ी से महल, रंक से राजा, सभी को अपनी योगसाधना और तपस्या से प्रभावित किया।

महायोगी गोरखनाथजी के कांगड़ा के ज्वाला देवी स्थान से गोरखपुर आने तथा तपस्या और योगसाधना करने के सन्दर्भ में नाथसम्प्रदाय में ही नहीं, लोकमानस में भी एक ऐतिहासिक परम्परा सम्मानित है। महायोगी गोरखनाथ एक बार हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा स्थान में ज्वालादेवी का दर्शन करने पहुँचे। देवी ने उन्हें वहाँ ठहरने की प्रेरणा दी, इस पर उन्होंने कहा कि आपके स्थान पर तामसी पदार्थों का भोग लगता है, हमारे लिए यहाँ आहारग्रहण की उचित व्यवस्था नहीं हो सकती है। विशेष आग्रह पर गोरखनाथ ने कहा कि अच्छा, आप चूल्हा जला कर खिचड़ी के लिए पात्र में जल गरम करने हेतु रख दें, मैं भिक्षा माँग कर (खिचड़ी का) अन्न स्वयं लाता हूँ। इस पर देवी ने पात्र में जल भर कर आग पर चढ़ा दिया, देवी का चूल्हा आज भी जल रहा है, परन्तु गोरखनाथजी उस स्थान पर आज तक नहीं पहुँच सके। वे भ्रमण करते हुए गोरखपुर आ पड़े, जो उन्हीं के नाम से विश्रुत है। यहाँ की हरीतिमा और प्राकृतिक रमणीयता पर विमुग्ध होकर गोरखनाथ इस स्थान को अपनी तप:स्थली का रूप प्रदान कर तपस्या में तत्पर हो गये। श्रद्धालु जनता ने उनके खप्पर को खिचड़ी से भरने का प्रयत्न किया, पर वह नहीं भरा जा सका। इस तपोमयी घटना की स्मृति में गोरखनाथ-मन्दिर में प्रत्येक वर्ष मकरसंक्रान्ति के महापर्व पर विशाल खिचड़ी मेला का आयोजन होता है। गोरखपुर में गोरखनाथ-मन्दिर में महायोमी गोरखनाथ की भव्य प्रतिमा प्रतिष्ठित है, जिसकी नित्य यथासमय, यथाक्रम पूजा सम्पन्न होती है। महायोगी गोरखनाथजी की तपोभूमि होने के नाते यह मन्दिर नाथयोगियों, सिद्धों, सन्त-महात्माओं एवं जनसामान्य के सतत आकर्षण का केन्द्र होने का गौरव प्राप्त करता आ रहा है। यह सिद्ध योगीपीठ के रूप में परिगणित है। गोरखनाथजी की दिव्य तपोभूमि में, अक्षयसलिला भगवती राप्ती के तट पर स्थित गोरखपुर का गोरखनाथ-मन्दिर अपनी समस्त गरिमा और महिमा से अलंकृत होकर चिरकाल से त्रयताप से सन्तप्त प्राणिमात्र को योगामृत प्रदान करता आ रहा है। इस मन्दिर में गोरखनाथ का व्यक्तित्व अभिव्यक्त है। गोरखनाथजी ने त्रेतायुग में तपस्या करते समय अखण्ड ज्योति प्रज्वलित की थी, आज भी मन्दिर के गर्भगृह में अनवरत अनेक झंझावातों एवं प्रलयंकारी परिस्थितियों के आघात-प्रतिघात का प्रतिरोध करती हुई यह अखण्ड रूप से जल रही है। त्रेतायुग में ही गोरखनाथजी ने अखण्ड धूना भी जलाया था, जो आज भी दर्शनीय है। कहा जाता है कि भगवान् राम के राज्याभिषेक-उत्सव में पधारने के लिए गोरखनाथजी से प्रार्थना की गयी थी, तप में तत्पर होने के कारण केवल उनका आशीर्वाद ही प्रेषित किया जा सका। ठीक इसी तरह यह अनुश्रुति गोरखनाथजी के व्यक्तित्व से युक्त है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पधारने के लिए पाण्डववीर भीमसेन गोरखनाथजी के चरण में निमन्त्रण समर्पित करने आए थे। उस समय महायोगी गोरखनाथजी गहन समाधि में तल्लीन थे, इसलिए भीमसेन ने कुछ समय तक यहाँ विश्राम किया था। कहा जाता है कि उनके शरीर के भार से एक सरोवर बन गया। यह सरोवर मन्दिर के प्रांगण में दर्शनीय है। भीमसेन की शयनमुद्रा में विश्राम करती एक

विशाल प्रतिमा भी दर्शनीय है। महायोगी गोरखनाथ के अमर, अखण्ड और अमृतमय व्यक्तित्व का प्राण उनका तपोमय जीवन है। उन्होंने योग का तप स्वरूप अभिव्यक्त कर उसे आचार-सदाचार अथवा रहनी से समृद्ध किया। अपनी तपस्या से उन्होंने शुद्ध शैवयोगशास्त्रसम्मत नाथयोग को प्राणशक्ति प्रदान की।

महायोगी गोरखनाथ के जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों में एक प्रसंग है उनके द्वारा गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का विषयभोगपरक तान्त्रिक साधना से समुद्धार। उन्होंने तान्त्रिक वातावरण से उन्हें बाहर निकाल कर शुद्ध सिद्धामृतमार्ग-नाथयोग की पवित्र स्मृति और साधना से सम्बोधित कर शिवोपदिष्ट महायोगज्ञान में प्रतिष्ठित किया। कौलयोगिनी मत-कौलाचार की पद्धति के स्थान पर सिद्धसिद्धान्त का स्मरण दिलाया।

सन्तयोगी, ज्ञानेश्वरकृत 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में वर्णित है कि परकाय-प्रवेश के द्वारा मत्स्येन्द्रनाथ ने प्रयागराज के राजा के मृत शरीर में प्रवेश कर राजसुखोपभोग किया। बारह साल के बाद रानियों को पता चला तो उन्होंने उनका शरीर नष्ट कर देना चाहा पर गोरखनाथजी के प्रयत्न से उन्हें अपना पहला शरीर फिर प्राप्त हो गया। जोधपुर के महाराजा सिद्धसिद्धान्ततत्त्वज्ञ मानसिंह के द्वारा संग्रहीत नाथचरित्र में मत्स्येन्द्रनाथ के परकाय-प्रवेश की बात पुष्ट होती है। एक समय तीर्थयात्राकाल में उन्होंने एक मृत राजा के शरीर में प्रवेश किया। हरिद्वार में योगी-सम्मेलन में कृष्णपाद ने गोरखनाथजी को सूचना दी कि मत्स्येन्द्रनाथजी सुखोपभोग में आसक्त हैं, गोरखनाथजी ने विमला देवी के अवतार रानी परिमला के हाथ से गुरु का उद्धार किया, जिसने अग्नि में प्रवेश कर शरीर का त्याग किया और एक राजा के घर जयन्ती नाम से जन्म लिया। उसके पहले जन्म में मत्स्येन्द्रनाथ ने उससे फिर मिलने की प्रतिज्ञा की थी, इसीलिए उसकी तरुणावस्था में उसके साथ कदलीवन में विहार किया। देवताओं और सिद्धों ने उनकी स्तुति की।

फैजुल्लाकृत बंगला भाषा के 'गोरखविजय' काव्य में शिवोपदिष्ट महायोगज्ञान का विस्मरण कर कदली देश में महारानी के साथ भोगविलास में तत्पर होने का मत्स्येन्द्र-प्रसंग और नर्तकी-वेश अपना कर गोरखनाथजी द्वारा उनका उद्धार वर्णित है। इस आख्यान का पूर्ण रूप यह है कि योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप में तप कर रहे थे कि वहाँ के राजा का प्राणान्त होने पर उसके मृत शरीर में प्रवेश किया और महारानी मंगला के साथ विहार में तत्पर हो गये। सिंहल देश में मंगला और कमला के रमणी-राज्य में पहुँचने पर उन्हें शिवोपदिष्ट ज्ञान का विस्मरण हो गया, मत्स्योदर से निकल कर क्षीर-सागर में डोंगी के नीचे छिपकर पार्वती के निद्रामग्न होने पर हुँकारी भरते हुए उन्होंने योगज्ञान सुना था, पता चलने पर शिव पार्वती ने ज्ञानविस्मृति का उन्हें शाप दिया। इस घटना की मौलिकता और प्राचीनता पर विद्यारण्यकृत 'शंकर दिग्विजय' में प्रकाश डाला गया है। यह ग्रन्थ चौदहवीं शती की रचना है, क्योंकि इसके रचयिता विद्यारण्य (महामति-सायणाचार्य) का जन्म सम्वत् १३२४ वि. निर्धारित किया गया है। आदि शंकराचार्य विद्यारण्य से कहीं पहले थे। उन शंकराचार्य के श्रीमुख से अपने शिष्य के प्रति 'शंकर-दिग्विजय' ग्रन्थ में कहलवाया गया है कि प्राचीनकाल में जिस प्रकार मत्स्येन्द्र नाम के महात्मा योगी ने परकाय-प्रवेश कर अपने शरीर की रक्षा का भार अपने शिष्य गोरखनाथ को सौंपा था, उसी तरह मैं तुम्हें परकाय-प्रवेश के पहले अपनी शरीर-रक्षा का भार सौंपता हूँ।

मत्स्येन्द्र नामाहि पुरा महात्मा गोरक्षमादिश्य निजांगगुप्त्यै।
नृपस्य कस्यापि तनुं परासो प्रविश्य तत्पत्तनमाससाद॥
गोरक्ष एषोऽथ गुरोः प्रवृत्तिं विदाय रक्षन्बहुधास्य देहम्।
निशान्तकान्तानटनोपदेष्टा नितान्तमस्याभवदन्तरंगः।

(शंकरदिग्विजय ९ । ८०, ८४)

दिण्डिमभाष्यकार धनपति सूरि ने उपर्युक्त श्लोक के भाष्य में गोरखनाथ द्वारा नर्तकी वेश अपनाकर गुरु के उद्धार की बात का बड़ा ऐतिहासिक पोषण किया है। उनकी पवित्र वाणी है—एवं पुरावृत्तं वृत्तान्तं श्रावयितुमभिमुखी कृत्य तं श्रावयति हि प्रसिद्धम्। पुरा मत्स्येन्द्र नामा महात्मा स्वशरीरक्षणाय गोरक्षसंज्ञशिष्यमाज्ञाप्य कस्यचिन्मृतकस्य राज्ञः शरीरं प्रविश्य तस्य नगरं प्राप्तवान् अथानन्तरेण गोरक्षगुरोः प्रवृत्तिं विज्ञाय बहुप्रकारेणास्य गुरोर्देहं रक्षन्सन्निशान्तास्यान्तः पुरस्य कान्तानर्तनोपदेष्टा सन्नस्य गुरोरत्यन्तमन्तरंगोबभूव।

कहा जाता है कि गोरक्षनाथजी एक बकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे। आकाश-मार्ग से सिद्ध कृष्णपाद कहीं जा रहे थे। गोरखनाथजी ने उन्हें योग बल से नीचे उतारा। कृष्णपाद (कान्हीपात्र-कानिपा) ने कहा कि आप के गुरु कदली वन में सोलह सौ सेविकाओं द्वारा सेवित महारानी कमला और मंगला के साथ महाज्ञान भूलकर कामोपभोग में व्यस्त हैं, उनकी आयु के केवल तीन दिन शेष हैं। गोरखनाथजी मत्स्येन्द्रनाथ को स्त्रीराज्य से मुक्त करने चल पड़े। गोरखनाथजी ने लंग और महालंग नामक दो शिष्यों को लेकर कदली वन में प्रवेश किया। लोगों ने उनसे आशीष माँगे। सिद्ध की वाणी थी, फलवती होने लगी। उन्होंने योगी का वेश धारण किया। कदलीवन के एक सरोवर के किनारे बैठी एक नवरमणी उनके दिव्य सौन्दर्य से मुग्ध हो गयी। उसने उन्हें मत्स्येन्द्रनाथजी का पता बता कर कहा कि महारानी मंगला और कमला के राज्य में योगी का प्रवेश निषिद्ध है, केवल नर्तकी जा सकती है। गोरखनाथजी ने नर्तकी का वेश धारण किया। वे राज-द्वार पर जाकर मर्दल-ध्वनि करने लगे। मर्दल से शब्द निकले—

छाटै तजौ गुरु छाटै तजौ, तजौ लोभ मोह माया।
आत्मा परचैं राखौ गुरुदेव, सुन्दर काया।
कान्हीं पाव भेंटीला गुरु, विद्यानग्र सैं।
ताथैं मैं पाइला गुरु, तुम्हारा उपदेसैं॥
एतैं कछु कथीला गुरु, सर्वे भैला भौलै।
सर्व रस खोइला गुरु बाँधनी के शोलै॥
नाचत गोरखनाथ घूंघरी चे घातैं।
सबै कमाई खोई गुरु बाघनीं चै राचैं॥
रस कुस बहि गईला रहि गई छोई॥
भणत मच्छिन्द्रनाथ पूता, जोग न होई॥
रस कुस बहि गईला रहि गईला सारं।

बदन्त गोरखनाथ गुर जोग अपारं॥
आदिनाथ नाती मच्छिन्द्रनाथ पूता।
षटपदी भणीं लै गोरष अवधूता॥ (गोरखबानी-पद २)

हे गुरुदेव! आप महायोग-ज्ञान के स्वामी हैं, आप का कौलाचार में उलझ कर (कामरूप में स्त्रीराज्य में) सम्भोगसुख के लोभ, कामिनी के रूप और माया में आसक्त रहना कदापि उचित नहीं है। आप इनका त्याग कीजिए। आप आत्मा के योगी हैं, गुरुपद पर प्रतिष्ठित योगेश्वर हैं। विद्यानगर (विजय नगर) के योगिराजेन्द्र सम्मान्य कृष्णपाद (कान्हींपाव-कानिपा) से मुझे यह उपदेश (सन्देश) मिला है कि आपने कामरूप के रमणीराज्य में योगिनी कौलमत की साधना में आसक्त होकर सिद्धामृत ज्ञान का विस्मरण कर दिया है। आपने माया बाघिनी को अंक में आलिंगित कर अमृतरस नष्ट कर दिया है। आपने माया नर्तकी के नृत्य पर उसकी नूपुरध्वनि से मूर्च्छित होकर महायोग ज्ञान-साधना की सिद्धिरूपिणी कमाई (सम्पत्ति) खो दी है। आप का वीर्यरस शरीर से बाहर निकल गया। मैं अवधूत गोरखनाथ इस षटपदी में नाथयोग मत का प्रतिपादन कर आप को साधना-सिद्धि का स्मरण दिलाता हूँ।

गुरु जी ऐसा करम न कीजै, ताथैं अमी महारस छीजै।
दिवसै बांधणि मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया घरि घरि बाघणि पोषै।
नदी तीरै बिरषा नारी संगै पुरषा अलप जीवन की आसा।
मन थैं उपज मेर षिसि पड़ई ताथैं कंध बिनासा॥
गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला, सिर बगुला की पंषिया।
अमी महारस बांघणी सोष्या घोर मथन जैसी अषियां॥
बाघनी को निंदिलै बाघनी को बिन्दिलै बाघनी हमारी काया।
बाघनीं घोषि घोषि सुरनरषाये भणन्त गोरख राया॥ (गोरखबानी पद, ४३)

हे गुरुदेव! स्त्री के सहवास में योगी को नहीं रहना चाहिए। इससे शरीर में विद्यमान जीवन-रस-प्राणामृत (वीर्य) क्षीण हो जाता है और शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है। हे गुरुदेव! स्त्री योग की साधना में विघ्न डालती है। वह दिन में अपने हावभाव, कामुक प्रवृत्ति और साजशृंगारयुक्त सुन्दर शरीर के प्रति मन में आकर्षण पैदा करती है और रात में अपने आलिंगन परिरम्भण से सद्विवेक का अपहरण कर अमृत के सरोवर को सोख लेती है। उसके साथ पुरुष के जीवन का रस नष्ट हो जाता है। वह स्त्री बाघिन है। लोग इसे घर-घर में पालते-पोषते हैं। जिस तरह नदी के किनारे का वृक्ष कभी भी गिर सकता है, इसी तरह स्त्री में कामासक्त पुरुष होता है, शरीर अब ढहे, तब ढहे। मेरु-शिखर (सुषुम्ना के ऊर्ध्वमुख ब्रह्मरन्ध्र) से अमृत का स्राव रुक जाने पर शरीर ढीला हो जाता है, पैर डगमगाने लगते हैं, बुढ़ापा आ जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है। उसके केश बगुला के पंख की तरह सफेद हो जाते हैं। इस रमणी से सदा दूर रहना चाहिए।

महाकवि विद्यापति ने मिथिलानरेश महाराजा शिवसिंह की आज्ञा से रचित अपने 'गोरक्षविजय'

नाटक में उपर्युक्त प्रसंग के विवरण में गोरखनाथजी की अपने गुरु की समुद्धार-दिशा में महनीय भूमिका प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि मत्स्येन्द्रनाथजी १६०० सेविकाओं द्वारा आवृत्त सुन्दरी रानियों के माया-जाल में फँस गये। कदलीवन में योगियों का प्रवेश वर्जित था। गोरखनाथ ने अपूर्व सुन्दरी नर्तकी का रूप धारण कर कदलीवन में प्रवेश किया। गोरखनाथजी ने देखा—'चारों दिशाओं में नारियाँ चँवर डुला रही हैं, चार सौ नारियाँ चरणों का प्रसाधन कर रही हैं। राजा मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) को गोरखनाथजी के वचनों से धीरे-धीरे आत्मज्ञान का स्मरण होने लगा। गोरखनाथजी ने सम्बोधित किया—

विरल गुरु मुख वाच। ताहि परे अवर कि साच।
विसरल माणिक मोति। तिरिअ-नयन के जोति॥
अबहु न सम्भव मोहे। रे मीननाथ।
भनइ विद्यापति बोध। एहि ओहि परम विरोध। (गोरक्षविजय)

हे गुरुदेव! हे मीननाथ! आप गुरुमुख की वाणी भूल गये। उस वाणी से परे और कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्त्री की नयन-ज्योति के सामने (ज्ञान के) माणिक और मोती भूल गये। हे मीननाथ! अब मोह सम्भव नहीं है। आप प्रबुद्ध हो जाइये। इसमें (लौकिक पेम में) और उसमें (आध्यात्मिक ज्ञान में) परम विरोध है।

कदलीवन के विहार से उत्पन्न मत्स्येन्द्रनाथ का मोहजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है। वे गोरखनाथ को गले लगा कर उन्हें अपना प्राण स्वीकार करते है—

तत्र्यें मोर गोरख प्रथमक सीषासेवा अएलाहु देह असीष।
सब आ गुरु भगति पाए जान। तोहे मोर गोरख प्राण समान। (गोरक्षविजय)

गोरखनाथजी ने कहा कि हे गुरु मत्स्येन्द्रनाथ! कोदण्ड (धनुष) और दण्ड (राजदण्ड), दोनों के बीच करोड़ों सूर्य के समान प्रभापूर्ण राज्य को छोड़कर, हे राजेन्द्र! उस ब्रह्मज्योति का चिन्तन कीजिए।

कोदण्डदण्डयोर्मध्ये सूर्यकोटिसमप्रभम्।
राज्यं विहाय राजेन्द्र! तज्ज्योतिः परिचिन्त्यताम्। (गोरक्षविजय)

गोरखनाथजी ने महारानी कमला और मंगला के भोगराज्य से मत्स्येन्द्रनाथ को बाहर निकालने में विजय प्राप्त की। सिद्धसिद्धान्ततत्त्वज्ञ जोधपुराधीश्वर महाराजा मानसिंह द्वारा संग्रहीत 'नाथचरित्र' में वर्णन है कि गोरखनाथजी कामरूप के रमणीराज्य से मत्स्येन्द्रनाथ को मुक्त कर चल पड़े। वे मत्स्येन्द्रनाथजी के पीछे-पीछे चल रहे थे। यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथजी कामिनी के रूपजाल से मुक्त हो चुके थे तथापि उनके मन में भोगविषयक सामग्रियों के प्रति अनुराग क्षीण नहीं हो सका था। यह देख कर योगसिद्ध महायोगी गोरखनाथ ने अपने जलपात्र से जल छिड़क कर एक पर्वत को स्वर्णमय बना दिया। योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के मन में इस घटना से स्वर्ण के प्रति उपेक्षा का भाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपने स्वर्ण के आभूषण आदि शरीर पर से उतार कर फेंक दिये। ज्ञानसिद्ध गोरखनाथजी ने स्वर्ण को कलह का कारण समझ कर स्वर्ण के पर्वत को स्फटिक पर्वत बना दिया पर जब इससे भी उन्हें सन्तोष न हुआ तो उन्होंने उस पर्वत को गेरुका पर्वत बना दिया।

नेपाल की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परम्परा और लोक जीवन को महायोगी गोरखनाथ के व्यक्तित्व ने अमित प्रभावित किया। नेपाल के लोकमानस में शैवयोग-नाथयोग के साथ-ही-साथ बौद्धधर्म, बौद्धदर्शन और बौद्धयोग-साधना का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि नेपाल की जनश्रुति में उन्हें बौद्ध साधक अनंगवज्र अथवा रमणवज्र कहा गया है तथापि वे शिव के अवतार स्वीकार किए जाते हैं और नेपाल का गोरखाराज्य उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति का प्रतीक है।

शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथजी ने नेपाल में वागमती नदी के तट पर स्थित सिद्धाचल पर मृगस्थली में कठोर तप किया था। मृगस्थली में उनका मन्दिर उनकी तपस्या का भौम स्मारक है। नेपाली बौद्ध कथा में उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी को अवलोकितेश्वर समझा गया है। मत्स्येन्द्रनाथजी एक पर्वत पर रहते थे। गोरखनाथजी उनके दर्शन के लिए गये। पर्वत पर चढ़ना दुष्कर समझकर नवनागों को बाँधकर तथा अपने आसन के नीचे छानबे करोड़ मेघमालाओं को दबाकर बैठ गये। उपर्युक्त आख्यान का ऐसा भी वर्णन मिलता है कि गोरखनाथजी पर्वत पर वर्षा के देवता कर्कोटक नाग को दबाकर आसनस्थ हो गये। नेपाल में कर्कोटक नाग अथवा नवनागों अथवा छानबे करोड़ मेघमाला को दबाने का परिणाम यह हुआ कि बारह साल तक वर्षा नहीं हुई और भीषण अकाल पड़ गया। सारे नेपाल में हाहाकार मच गया। राजा नरेन्द्रदेव के गुरु बुद्धदत्त (बन्धुदत्त) ने अकाल का कारण समझ लिया। गोरखनाथजी के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को गोरखनाथजी के सामने लाने का निश्चय किया गया। यह विचार किया गया कि जब अपने गुरुदेव को प्रणाम करने के लिए आसन से गोरखनाथजी उठेंगे, तब मेघमालाएँ स्वतः मुक्त हो जाएँगी। यथोचित अनुष्ठान द्वारा अवलोकितेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथजी के समक्ष मृगस्थली में लाये गये। वे आसन से उँठे नहीं, गुरु को मानसिक प्रणाम करते समय उनका बायाँ घुटना कुछ हिल गया और मेघमालाएँ मुक्त हो गयीं। जलवृष्टि हुई और अकाल का संकट टल गया। मत्स्येन्द्रनाथजी के आगमन के स्मरण में प्रत्येक वर्ष रथयात्रा-उत्सव मनाया जाता है। गोरखनाथजी के मेघमालासनीकृत रूप के संस्तवन में उनके शिवगोरक्षरूप की रमणीय झाँकी मिलती है

चन्द्रार्कद्रुहिणाच्युताम्बुजलसल्लोकेशकंसारिभिः
काली भैरव सिन्धुरास्यहनुमत्क्रोडैः परीवारितम्।
वन्दे तं नवनाथसिद्धमहितं मेघाहिमालासनं
मालापुस्तकशूलडिण्डिमधरं गोरक्षमृत्युञ्जयम्॥

नेपाल के ही एक प्रखण्ड दांग् के राजकुमार रतनपरीक्षक को गोरखनाथ ने नाथयोग में दीक्षित किया था। रतनपरीक्षक नाथसम्प्रदाय में सिद्ध हाजी रतननाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं और वे सात सौ साल की आयु का भोग करते हुए पृथ्वी पर विचरण करते रहे। हजरत मुहम्मद साहब से भी बाबा रतननाथ का सत्संग हुआ था। एक दिन वे वन में युवावस्था में शिकार खेलने गये थे कि उन्हें जटाविभूषित, भस्म के अंगराग से शोभित महायोगी गोरखनाथजी ने दर्शन दिया। उन्होंने कहा कि अहिंसा ही परम धर्म है, प्रत्येक प्राणी परमात्मा की सृष्टि है। उसके प्राण पर एकमात्र परमात्मा का नियन्त्रण है, जीव-हत्या नहीं करनी चाहिए। महाकारुणिक गोरखनाथजी ने कहा कि हे राजा! यदि शिकार ही खेलना है, तो मनरूपी मृग का

वध करो, जो अत्यन्त चंचल है; न उसके वक्ष:स्थल है, न उसके रक्त-मांस है; न चोंच है, न पंख है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए मन को मारना चाहिए।

गोरखनाथजी ने कहा—

जीव सीव संगे बासा। बधि न षाइबा रुध्र मासा।
हंस घात न करिबा गोतं कथन्त गोरख निहारि पोतं॥
जीव क्या हतिये रे प्यंड धारी। मारि लै पंच भू म्नगला।
चरै थारी बुधि बाड़ी। जोग का मूल है दयादाण॥
कथन्त गोरष मुकिति लै मानवा मारि लै रे मन द्रोही।
जाके ब्रप बरण मांस नहि लोही॥
जिनि मन ग्रसे देव दाण।
सो मन मारि लै गहि गुरु ग्यांन वांण। (गोरखबानी सबदी २२७-२२८)

गोरखनाथजी ने रतनपरीक्षक को दीक्षित कर अमृतपात्र प्रदान किया, रतननाथजी ने दांग् में विशाल मन्दिर का निर्माण करा कर अमृतपात्र की पूजा कर उपक्रम व्यस्थित किया। नेपाल के शाह राजवंश पर, जो आज भी उस महान् राष्ट्र तथा देश का शासक है, महायोगी गोरखनाथ का आशीर्वाद प्रत्यक्ष दर्शनीय है और इस वंश के नरेश द्रव्यशाह, रामशाह और विशेष रूप से महाराजा पृथ्वी नारायण शाह पर गोरखनाथजी का असीम अनुग्रह रहा है। नेपाल के इतिहास में यशोवर्मा का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। उनके तीन पुत्र थे—नरहरिशाह, नरपतिशाह और द्रव्यशाह। द्रव्यशाह माता की आज्ञा से गोसेवा में नियुक्त थे। एक बार वे दूध गरम कर रहे थे कि बारह साल के तरुण योगी के वेश में गोरखनाथजी ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया, द्रव्यशाह के अतिथि-सत्कार से प्रसन्न होकर गोरखनाथजी ने आशीर्वाद दिया कि आप के वंश के नरेश सम्पूर्ण नेपाल के शासक होने का गौरव प्राप्त करते रहेंगे। द्रव्यशाह के पुत्र रामशाह को यह बात विदित थी कि हमारे वंश का राज्य भगवान् गोरक्षनाथ के आशीर्वाद से गो-सेवा करने के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। वे सदा गो-सेवा में लगे रहते थे। शाह राजवंश के महान् शासक पृथ्वी नारायणशाह पर गोरखनाथ ने विशेष अनुग्रह किया था। एक दिन जब पृथ्वी नारायणशाह छोटे बालक थे, वे साथियों में खेलते हुए छिपकर एक गुफा में चले गये, गुफा के भीतर प्रवेश करते हुए उन्होंने देखा कि व्याघ्र चर्म पर गले में सर्प धारण किये हुए, कोटि-कोटि कामदेव से भी सुन्दर, जटाजूट से शोभित, रुद्राक्ष माला से समलंकृत, कर्णकुण्डल पहने हुए महायोगी गोरखनाथ विराजमान हैं। गोरखनाथजी ने कहा कि घर जाकर मेरे लिए दही माँग लाओ। पृथ्वीनारायणशाह माता से दही माँगकर गुफा में ले आए। गोरखनाथजी ने दही पीकर बालक से कहा कि तुम अंजलि बाँधो, उसके ऐसा करने पर दही उलटकर उसे पीने का आदेश दिया, बालक ने अनिच्छा प्रकट की, दही अंजलि खुल जाने पर उसके पैर पर गिरा। गोरखनाथजी ने कहा कि यदि यह दही प्रसाद के रूप में तुम खा लेते तो तुम्हारा वंश समस्त भूमण्डल का चक्रवर्ती राजा होता, पर दही की बूँदें तुम्हारे पैर पर पड़ी हैं, इसलिए तुम जिस भूखण्ड को जीतने के लिए युद्ध-यात्रा करोगे, उस पर तुम्हारा अनायास अधिकार होगा। कुछ

समय के बाद एक महात्मा के वेश में गोरखनाथजी ने उन्हें फिर दर्शन दिया और तलवार प्रदान की। नेपाल पर पृथ्वी नारायणशाह के वंश का ही आधिपत्य है। सभी शाह वंश के नरेशों ने गोरखनाथजी को अपना इष्टदेव स्वीकार किया है। नेपाल के सिक्कों पर गोरखनाथजी की चरणपादुकाओं का चिह्न अंकित रहता है। सिक्कों पर 'श्रीश्रीगोरक्षनाथ' अंकित रहता है। शाहवंश के राजाओं का राजतिलक गोरखनाथजी की तपोभूमि, मृगस्थली के महन्त द्वारा सम्पन्न होता है। गोरखनाथजी नेपाल के राष्ट्रगुरु के रूप में परम पूज्य हैं।

उज्जैन के अधीश्वर योगीराज भर्तृहरि और उनकी बहन मैनावती पर गोरखनाथ ने बड़ा अनुग्रह किया। उज्जैन के विशाल राज्य पर लात मार कर और पिंगला-जैसी अनिन्द्य सुन्दरी रमणी के विश्वासघात से दु:खी होकर भर्तृहरि ने महायोगी गोरखनाथ से दीक्षा लेकर उनके सन्मार्गदर्शन में जीवन सफल किया। महाराज भर्तृहरि एक बार मृग मार कर लौट रहे थे। मृगी करुण विलाप कर रही थी। राजा के कोमल हृदय से उसका विलाप नहीं सहा गया। उनका चित्त चंचल हो उठा। योगसिद्ध गोरखनाथजी ने अपने योगबल से मृग को जीवित कर दिया, भर्तृहरि उनके शिष्य हो गये।

गौड़ बंगाल के शासक गोपीचन्द की माता मैनावती भर्तृहरि की बहन थी। मैनावती पर गोरखनाथ की बड़ी कृपा रहती थी। उसके पुत्र गोपीचन्द की दीक्षा के अवसर पर गोरक्षनाथजी राजमहल में पुष्परथ पर विराजमान होकर गौड़ बंगाल की राजधानी में राजमहल में उपस्थित थे। (इसका उल्लेख ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' में किया है।) गोपीचन्द को सिन्ध में पीर पटाव कहा जाता है। वहाँ वे एक पहाड़ी पर रहते थे। उस पर पहले दयानाथ योगी का अधिकार था। उसके पास एक टोकरी थी, जिससे सवालाख फकीरों के लिए वह आग जलाया करता था। उसके पास एक बैल था, जो उसके योगबल से नदी से पानी के थैले को खींचा करता था। उसके पास एक रस्सी व सोटा था। वह किसी को भी उस रस्सी से खिंचवा कर सोटे से पिटवा सकता था। उन दिनों गोरखनाथजी गिरनार पर तप कर रहे थे। उनके योगबल से वातावरण में शान्ति छा गयी। दयानाथ ने यौगिक शक्ति से इस बात को जान लिया। वह एक फूँक से पहाड़ी पर आग प्रकट कर उसको छोड़कर धीणोधर की पहाड़ी पर आ गया। गोपीचन्द ने गोरखनाथजी से आग बुझाने की प्रार्थना की। आग का वेग शान्त हो गया। उन्होंने योगी दयानाथ और उसके अनुयायियों को अपना शिष्य बना लिया। गोपीचन्द ने परम कारुणिक गोरखनाथजी की कृपा से सिन्ध की उपर्युक्त पहाड़ी पर निवास किया। (यह वृतान्त ब्रिग्स कृत 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' ग्रन्थ में वर्णित है।) योगीराज गोपीचन्द पर महायोगी गोरखनाथ का अतुल प्रभाव था। गोपीचन्द को गोरखपन्थ के मीननाथी सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा जाता है। जोधपुर का महामन्दिर गोरखपन्थ के मीननाथी-सम्प्रदाय का प्रधान स्थान कहा गया है।

महाराष्ट्र की नाथसम्प्रदायगत परम्परा में गोरखनाथ को शिव का अवतार समझा गया है, क्योंकि इस परम्परा के अन्तर्गत (श्रीमद्भागवत ११। २। २१-२३ के अनुसार) नवयोगीश्वर-कविनारायण (मत्स्येन्द्रनाथ), करभाजन नारायण (गहिनीनाथ), अन्तरिक्ष नारायण (ज्वालेन्द्रनाथ), प्रबुद्धनारायण (करणिपानाथ), आविर्होत्र नारायण (नागनाथ), पिप्लायन नारायण (चर्पटीनाथ), चमसनारायण (रेवानाथ),

हरिनारायण (भर्तृनाथ) और द्रुमिल नारायण (गोपीचन्दनाथ) के नाम के साथ गोरखनाथ का नाम न आना उनका शिवावतार सिद्ध करता है। सन्त ज्ञानेश्वर ने गीताभाष्य-ज्ञानेश्वरी के अठारहवें अध्याय में स्वीकार किया है कि क्षीरसागर में सप्तशृंग पर शिवोपदिष्ट ज्ञान मत्स्येन्द्रनाथ ने श्रवण कर उसे गोरखनाथजी को प्रदान किया और गोरखनाथजी से उसे गहिनीनाथ ने ग्रहण किया। गहिनीनाथ ने उसको निवृत्तिनाथ को प्रदान किया। गहिनीनाथ ने निवृत्तिनाथ को 'कृष्ण' मन्त्र प्रदान कर नाथयोग के शैवरूप का वैष्णवीकरण किया। सन्त ज्ञानेश्वर का कथन है—

मग तिहीतें शाम्भव। अद्वयानन्द वैभव।
सम्पादिलें सभ्रभव। श्रीगहिनी नाथा॥
ते आज्ञा निवृत्तिनाथा। दिघली ऐसी।
ना आदि गुरु शंकरा। लागोनि शिष्यपरम्परा।
बोधा चा हा संसारा। जाला जो आमुतें॥

(ज्ञानेश्वरी १८ । १७५६-५८)

निवृत्तिनाथ का कथन है कि गहिनीनाथ ने मुझ पर कृपा की और मेरा कुल भगवान् कृष्ण के नाम-मन्त्र से पवित्र हो गया—

निवृतीं गयनीं कृपा केली पूर्णं।
कुल हें पावन कृष्ण नामे।

सन्त तुकाराम के शिष्य निलोबा राय का कथन है कि जो गुह्यज्ञान शंकरजी ने पार्वती के प्रति कहा, उसे मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) ने प्राप्त किया। मीननाथ ने उसे गोरखनाथ को प्रदान किया। उनसे गहिनीनाथ ने पाया। गहिनीनाथ ने दीन जनों के उद्धार के लिए उसे निवृत्तिनाथ को दिया। निवृत्तिनाथ ने ज्ञानेश्वर को प्रदान किया।

शिवशक्ति निमित्त दाऊन। उपदेशिलें निज गुह्यज्ञान।
तेणें देवो देवी सुखसम्पन्न। पावला मीन तो लाभा।
तेणें गोरक्ष उपदेशिला। निजात्म ज्ञानी प्रबोधिला।
\+ + + + +
गुह्यागुह्य ज्ञान कथन। तेणें गहिनी तें उपदेशून।
उद्धरावया दीन जन। तेणें निवृत्ति शिक्षायिला।
तेचि हातवटी ज्ञानेश्वरा। दीघली आदि परम्परा।

साध्वी बहिणाबाई ने अपने एक अभंग में कहा है—

आदिनाथें उपेदश पार्वती सी केला। मत्स्येन्द्रें ऐकिला मच्छगर्भी।
शिव हृदयीं च मन्त्र पै अगाध। जाला से प्रसिद्ध भक्ति योगें॥
तेणें त्वां गोरक्ष केलें कृपादान। तेथो नी प्रकट जाण गहिनी प्रती।
गहिनी ने दया केलो निवृत्तिनाथा। बालक असतां योग रूप।

तेथूनी ज्ञानेश पावले प्रसाद। एकनिष्ठ भाव तुकोवा चरणों।
म्हणोनीं बहिणी लाघली से।

यह निर्विवाद है कि मध्यकालीन भारतीय उपासना-परम्परा के प्रधान स्रोत शैवधर्म और वैष्णवधर्म का समन्वय महाराष्ट्र के नाथयोगियों और विट्ठल के चरण में समर्पित सन्तों की महनीय देन है। यह वारकरी शैववैष्णव समन्वयात्मक भक्तिपरम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है।

स्यालकोट के पूरण भगत-योगीराज चौरंगीनाथ की गणना नवनाथ सिद्धों में की गयी है। वे गोरखनाथजी के विशेष कृपापात्र थे। विमाता रानी लूना उनकी सुन्दरता से आकृष्ट होकर कामोपभोग का प्रस्ताव कर बैठी। पूरण भगत ने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। उसने उन पर मिथ्या दोषारोपण किया, जिसके परिणामस्वरूप राजा शालिवाहन ने उनके हाथ-पाँव कटवा कर वन में एक कुएँ में छुड़वा दिया। उन्हें नेत्रहीन कर दिया गया। जंगल में दैव योग से कुएँ के निकट योगीन्द्र मत्स्येन्द्र का आगमन हुआ। उनके साथ महायोगी गोरखनाथ भी थे। चौरंगीनाथ को कुएँ से बाहर निकाला गया। गोरखनाथजी की कृपा और प्रसन्नता से वे पूर्णांग हो गये। उनकी नेत्र-ज्योति वापस आ गयी। चौरंगीनाथजी गोरखनाथजी का बड़ा आदर करते थे। उन्होंने अपनी प्राणसंकली रचना में कहा है कि हमारे योगज्ञान के गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी हैं, उनकी कृपा से मेरे हाथ-पैर पूरे हो गये। मेरे अन्नदाता श्रीगोरखनाथ हैं।

ग्यानरा गुरु अम्हारा सिद्ध मछीन्द्रनाथ
ता प्रसादैं भइला पगहाथ।
त्रिभुवने किरत थाकली अम्हारी, अनदाता श्रीगोरखनाथ॥

(प्राणसंकली-१२ (नाथिसिद्धों की बानियाँ-२१७))

पंजाबी प्रेम-कथा में योगी राँझा का नाम अमर है। राँझा की योग साधना का प्रतीक झेलम नदी के पवित्र तट पर स्थित गोरखटिल्ला है। राँझा तख्त हजारा के चौधरी के सबसे छोटे लड़के थे। झंग के चौधरी मेहरचोचक की रूपमती कन्या हीर से वह प्यार करता था, पर हीर का विवाह उसके माता-पिता ने दूसरे से कर दिया। राँझा ने निराश होकर योगीश्वर गोरखनाथ की शरण ग्रहण की। एक दिन राँझा गोरखनाथजी के तप:स्थल झेलम नदी के तट पर स्थित गोरखटिल्ला पर आ पहुँचे। उनका मुख म्लान था, नेत्रों में निराशा थी, अधरों पर बाँसुरी करुण राग में विरह-वेदना के स्वर उड़ेल रही थी। उन्होंने योगमूर्ति गोरखनाथजी के चरणों पर पाँच पैसे और सुपाड़ी समर्पित कर योग दीक्षा की याचना की। उन्होंने योगेन्द्र गोरखनाथजी से कहा कि मुझे आशीष दीजिए कि मैं हीर का प्रेम प्राप्त करूँ। गोरखनाथजी ने कहा कि योगी होना आसान काम नहीं है। प्रेमास्पद तो एक मात्र परमात्मा हैं। योगी को शरीर पर राख मल कर शरीर को राख समझना होता है, नारी वर्ग को माँ-बहन के रूप में देखना होता है। आजीवन भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करना होता है। संसार को सपना समझना होता है। राँझा ने कहा कि मेरा प्रेमास्पद ही परमात्मा है। मैं योगी बनूँगा। करुणामूर्ति गोरखनाथजी ने उनके कान फाड़कर उनमें कुण्डल पहना कर नाथयोग की दीक्षा दी और अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। गोरखनाथजी के आशीर्वाद और अनुग्रह से वे नाथ सम्प्रदाय में प्रेम योगी के रूप में प्रसिद्ध हो गये। पंजाब के बड़े-बड़े कवियों और सन्त-महात्माओं ने उनके प्रेमयोग का रसास्वादन किया।

राजस्थान के मेवाड़, मारवाड़ तथा बीकानेर आदि के राजवंश, राज-परिवार और राजस्थान की सामान्य जनता में महायोगी गोरखनाथजी के प्रति लम्बे समय से श्रद्धाभक्ति और सम्मान की भावना अक्षुण्ण रहती चली आ रही है। मेवाड़ का राजवंश गोरखनाथजी की अकारण कृपा और आशीर्वाद से अनुगृहीत है। गोरखनाथजी ने मेवाड़ के सिसोदिया वंश के राज्य-संस्थापक बापा रावल को दुधारा खाँड़ा प्रदान कर उनका अपने योगबल से संरक्षण किया था। गोरखनाथजी द्वारा प्रदत्त खांड़े की मेवाड़ के महाराणा, भगवान् एकलिंग शिव के दीवान द्वारा विशिष्ट अवसरों पर पूजा की जाती है। नाथसम्प्रदाय के योगी ही मेवाड़ तथा अन्य राजवंशों में कुलगुरुपद पर प्रतिष्ठित होते रहते हैं। बचपन में नागदा नाम की पहाड़ी की तलहटी में बापा रावल एक ब्राह्मण परिवार की गायें चराया करते थे। नागदा ग्राम के पहाड़ों में ही गोरखनाथजी तपस्या कर रहे थे। उन्होंने स्फटिक शिवलिंग की प्रतिष्ठा की थी। जिन गायों को बापा चराया करते थे, शाम को उनमें से नित्य एक गाय टोली से निकल कर उस शिवलिंग का अपने दूध से स्वत: अभिषेक करती, दूध बिना किसी के दूहे शिवलिंग पर गिरता था और साथ-ही-साथ गोरखनाथजी का कमण्डलु भी दूध से भर जाता था। एक दिन छिप कर बापा ने यह घटना जान ली। गोरखनाथजी ने कहा कि तुम हमारे आश्रम पर आ जाओ। बापा को आने में थोड़ा विलम्ब हुआ। वह देखता है कि योगेश्वर गोरखनाथजी सदेह आकाश में गमन कर रहे हैं, गोरखनाथ ने बापा को दुधारा खाँड़ा प्रदान कर मेवाड़ राज्य की स्थापना का वरदान दिया। उनके आशीर्वाद से बापा ने मेवाड़ राज्य की स्थापना की और वे इतिहास में बापा रावल के नाम से प्रसिद्ध हैं।

जोधपुर के महाराजा मानसिंह श्रीनाथ सम्प्रदाय के बहुत बड़े अनुयायी थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध संग्रह-ग्रन्थ 'श्रीनाथतीर्थावली' में तथा अन्यान्य प्रकीर्ण रचनाओं में महायोगी गोरखनाथ की यौगिक शक्ति, तपस्या और उनके चरणयुगल की उपासना पर प्रकाश डाला है। उनकी पेरणा से भीष्म भट्ट ने गोरखनाथजी के प्रसिद्ध योग ग्रन्थ 'विवेकमार्तण्ड' की मौलिक टीका संस्कृत भाषा में प्रस्तुत की है, भीष्म भट्ट ने उन्हें सिद्धसिद्धान्ततत्त्वज्ञ और श्रीनाथपादाम्भोजमधुपायित मानस कह कर सम्मानित किया है। महाराजा मानसिंह ने जोधपुर में महामन्दिर का निर्माण करा कर नाथसम्प्रदाय की श्रीवृद्धि की।

महायोगी गोरखनाथजी द्वारा दीक्षित राजस्थान के विशिष्ट नाथयोगी जम्भनाथ, जसनाथ और हरिदास निरंजनी अत्यन्त लब्धप्रतिष्ठ सन्त हैं। जम्भोनाथ-जम्भनाथजी का जन्म सं. १५०८ वि. में पीपासर (नागौर-राजस्थान) में एक सम्पन्न राजपूत परिवार में हुआ था। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति का त्याग कर 'सम्भराथल' नामक स्थान में अपना निवास बनाकर वहाँ विश्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उनका देहावसान १५९३ वि. में सम्भराथन में ही हुआ। जम्भोनाथजी कहा करते थे—'गोरख गुरु अपाण।' उन्होंने अपनी वाणियों में ॐकार-जप, निरञ्जन की उपासना और योगाभ्यास द्वारा अमृतपान से जरामरण से मुक्ति प्राप्त करने पर बल दिया है। गोरखनाथजी ने स्वप्न में उन्हें दीक्षा प्रदान की।

सन्तयोगी जसनाथ सोलहवीं-सत्रहवीं विक्रमीय शताब्दी में विद्यमान थे। जसनाथ को अमरकाय देहसिद्ध योगेश्वर गोरखनाथजी ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर धन्य किया था। वे बाल्यावस्था में ऊँटनियों को चराया करते थे। एक दिन प्रात: काल गोरखनाथजी ने उन्हें दर्शन देकर दीक्षित किया। जसनाथजी ने

गोरखनाथजी की आज्ञा से अपनी छड़ी जमीन में गाड़ दी और वहीं साधना करने लगे। यह स्थान नाथतीर्थों में अति महत्त्वपूर्ण है, इसे गोरखमालिया कहा जाता है। सिद्ध जसनाथ का उपदेश है कि सत्यमय संयमित जीवन अपनाना चाहिए। असत्य नहीं बोलना चाहिए। अपनी शरीररूपी पुस्तक में मनरूपी लेखनी से परमात्मा का चरित अंकित करना चाहिए।

उनकी वाणी है—

जत सत रैणा कूड़न केणा जोग तणी सहनाणी।
मन कर लेखण तण कर पोथी हर गुण लिखौ पिराणी॥
अभी चवै मुख इमरत बोलै, हालो गुरु फरमाणी॥

जसनाथ ने अपने आपको निरञ्जन जोगी कहा है। उनका जन्म बीकानेर में कतरियासर स्थान में सम्वत् १५३९ वि. में हुआ था और तिरोभाव सम्वत् १५६३ वि. में हुआ। उन्होंने प्रायः अनेक पदों के अन्त में गोरखनाथजी की प्रसन्नता का स्मरण करते हुए—'गुरु परसादे गोरख बचने सिध जसनाथ उचारे' कहा है।

सन्तयोगी हरिदास निरंजनी गोरखनाथजी की साधना और व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित थे। सोलहवीं विक्रमीय शती के अन्त में या विक्रमीय सत्रहवीं शती के आरम्भ में उनका जन्म मारवाड़ के डीडवाड़ा स्थान के कापड़ोद ग्राम में हुआ था। उनके द्वारा स्थापित निरंजनी पन्थ में अन्तःसाधना पर विशेष बल दिया जाता है। हरिदास निरंजनी ने स्वीकार किया है कि गोरखनाथजी मेरे गुरु हैं, मैं उनका बालक हूँ, मेरे उपास्य अलख निरञ्जन परमात्मा हैं।

जगनिक के आल्हखण्ड में चन्देल राजा परमर्दि-परमाल को मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्य कहा गया है। महोबा के वीर आल्हा गोरखनाथ की आज्ञा से कदलीवन में तपस्या करने गये। उन्हें अमर कहा जाता है। महोबा का गोरखगिरि पर्वत भी इसका साक्षी है।

महायोगी गोरखनाथजी ने उड़ीसा के योगी मल्लिकानाथ को अपने व्यक्तित्व और प्रत्यक्ष दर्शन से कृतार्थ किया था। योगीराज मल्लिकानाथ उड़ीसा के निवासी थे, उनका पूर्व नाम विबुधेन्द्रमल्ल था। वे क्षत्रिय योद्धा थे। एक बार आखेट के समय कृपामूर्ति गोरखनाथजी का उन्हें दर्शन हुआ। उन्होंने योगेश्वर के चरणदेश में प्रणाम किया। आशीर्वाद न पाकर उन्होंने गोरखनाथजी के मस्तक पर खड्ग से प्रहार किया। जटाजूट से टकराकर खड्ग के टूट जाने पर राजा को पश्चाताप हुआ। उन्होंने योगबल से प्रभावित होकर गोरखनाथजी से योगदीक्षा ली। शिष्य बन गये। उन्होंने चक्रार्चन में उत्तरसाधिका के रूप में एक कन्या का वरण कर सिद्धिलाभ किया था। उसका नाम मल्लिका था। इसलिए वे मल्लिकानाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। गोरखनाथजी ने उन्हें पिण्ड में आत्मा की स्थिरता, जन्म-मृत्यु से परे होने की अवस्था, शरीर की अमृतपान द्वारा अमरता-देहसिद्धि और मन-पवन की साधना का उपदेश दिया। मल्लिकानाथ यद्यपि तान्त्रिक थे पर गोरखनाथ के प्रभाव से वे महान् नाथ योगी के रूप में प्रसिद्ध हुए।

महामति ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' में गोरखनाथ के व्यक्तित्व तथा विलक्षण और यौगिक सिद्धियों पर प्रकाश डाला है। गोरखनाथजी का प्रकृति की शक्तियों और

पंचभूतों पर अद्‌भुत नियन्त्रण था। उन्होंने गोपीचन्द की माता और योगीराज भर्तृहरि की बहन मैनावती को वरदान दिया था कि तुम पानी में नहीं डूब सकती। ब्रिग्स ने लिखा है—कहा जाता है कि धर्मराज युधिष्ठिर के महाप्रस्थान के समय हिमाचल के भयानक हिमपात से भीमसेन आगे बढ़ने में असमर्थ और संज्ञाशून्य हो गये। गोरखनाथजी ने उन्हें दर्शन दिया और गंगोत्तरी से भूटान तक विस्तृत भूमिभाग का राजा बना दिया। 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' ग्रन्थ में ही उनकी सिद्धियों की झोली का वर्णन है। वह अद्‌भुत शक्तिमयी थी। गोरखनाथजी उसमें से सेव, अंगूर, पुष्प, रत्न तथा अनेक दुर्लभ पदार्थ प्रकट कर लोगों को देते थे। उनकी झोली की विभूति से असंख्य स्त्रियों ने पुत्रप्राप्ति की, गरीब धनी हो गये, असहाय और विपन्न सम्पन्न हो गये। कहा जाता है कि गोरखनाथजी ने अपनी झोली से कीमती साड़ियाँ, बहुमूल्य आभूषण आदि प्रकट कर अपने शिष्य गूँगा का विवाह कराया था। चौरंगीनाथजी को योगदीक्षा के समय उसी झोली से कुण्डल प्रकट कर उनके कान में पहनाये गये थे। इसी झोली से चावल और अंगूर निकाल कर गोरखनाथजी ने चौरंगीनाथ की विमाता लूना को सन्तानप्राप्ति के लिए खाने को दिया था। इसी झोली की विभूति से उन्होंने एक उजड़े बगीचे को हरा-भरा कर दिया था। गोरखनाथजी योग सिद्धियों के स्वामी थे। ब्रिग्स ने 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' में उल्लेख किया है कि 'गोरखनाथजी के शिष्यों ने चौरंगीनाथजी से निवेदन किया था कि गोरखनाथजी शिव के परम प्रिय हैं, उनकी कृपा से सारे मनोरथ पूरे होते हैं, वे बड़े सुन्दर हैं, भारतभूमि में उनसे सुन्दर कोई नहीं है, वे मानसरोवर के राजहंस हैं।' गोरखनाथजी मूर्तिमान योग हैं, महायोगज्ञान के परम तत्त्वज्ञ योगिराजेश्वर हैं। उन्होंने अपने योगसिद्धान्त-हठयोग की साधना और सिद्धि के माध्यम से सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा शिव का आत्मा से एकात्मबोध सिद्ध किया। उन्होंने शास्त्रसम्मत योगज्ञान से जनचेतना को जागृत कर सत्य और शिव के तत्त्व से उसे समृद्ध किया, यही उनकी अमरता की आधारशिला है।

मलिक मुहम्मद जायसी ने मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, भर्तृहरि (भरथरी) और गोपीचन्द आदि की योगसिद्धि और योगपरक व्यक्तित्व के प्रति अपनी रचना 'पद्‌मावत' में सुदृढ़ धारणाएँ व्यक्त कर नाथयोग में अपनी प्रगाढ़ रुचि प्रकट की है। जायसी नाथसम्प्रदाय-नाथपन्थ की योगसाधना-पद्धति से प्रभावित थे, इस निष्पक्ष विचारधारा-नाथयोगपरक साधनापद्धति का सूफी दृष्टिकोण से सहज समन्वय 'पद्‌मावत' की सफलता का प्राण है। पद्‌मावत में गोरखनाथजी का प्रभाव रत्नसेन एवं पद्‌मावती के व्यक्तित्व को समझने का महत्त्वपूर्ण अंग है। 'पद्‌मावत' में वर्णन है कि राजा रत्नसेन ने पद्‌मावती का सौन्दर्य-वृत्तान्त सुनकर राजपाट छोड़कर योगी का रूप धारण कर सिद्ध होने के लिए 'गोरख' नाम का उच्चारण किया। इससे स्पष्ट है कि नाथयोग से मध्यकालीन साहित्य अमित प्रभावित था।

'कंथा पहिरि दंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा।'

अपने प्रबन्ध काव्य 'पद्‌मावत' में जायसी ने कहा है कि योगी तब सिद्ध होता है, जब उसकी भेंट (साक्षात्कार) गुरु गोरखनाथजी से होती है। जायसी बादशाह शेरशाह के समसामयिक थे, वे सोलहवीं शती में विद्यमान थे, तो गोरख से भेंट होने का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि गोरखनाथ सोलहवीं शती में अवतरित हुए। वास्तविकता तो यह है कि वे समय-समय पर आदिकाल से ही प्रकट होकर इसी परिपक्व-

योगसिद्ध शरीर से अमर होकर लोगों को अपने दर्शन से कृतार्थ करते रहते हैं। गुरुरूप हीरामन तोता ने राजा रत्नसेन से कहा कि तुम सत्यवादी हो, तुमने योग को साधने में राजा गोपीचन्द को जीत लिया, वियोग की संवेदनात्मक अनुभूति में योगीराज भर्तृहरि भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते। गुरु गोरखनाथ ने तुम्हें अपने हाथ से सिद्धि प्रदान की है और गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी ने ज्ञान की कुंजी दी है।

गोपीचन्द तुइ जीता जोगू। औ भरथरी न पूज वियोगू।
गोरख सिद्धि दीन्ह तोहि हाथू। तारी गुरु मछन्दर नाथू। (पद्मावत-१६४)

मलिक मुहम्मद जायसी ने रत्नसेन की वाणी में यह चरितार्थ किया है कि योगी तभी सिद्धि प्राप्त कर सकता है जब वह (अमरकाय) गोरख का दर्शन पाता है, गोरखनाथजी से उसकी भेंट होती है।

बिनु गुरु पन्थ न पाइय, भूलै सो जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सौं भेंट॥ (पद्मावत-२१७)

'पद्मावत' की ही तरह कुतुबनकृत 'मृगावती' पर भी नाथयोग और गोरखनाथ के व्यक्तित्व की अमिट छाप स्पष्ट रूप से दर्शनीय और मननीय है। 'मृगावती' में कुतुबन ने गोरखनाथजी के उल्लेख में सिद्धयोगपीठ गोरखपुर का भी वर्णन किया है—

पूछिसि कौन देस सेउ अठएहु केहि गोरख कर चेला।
बिरिखनाथ गुरु आहि हमारेउ गोरखपुर सेउ खेला॥ (मृगावती १५७। ६-७)

महायोगी गोरखनाथजी ने हठयोग के स्वारस्य का सम्पादन करते हुए (सूर्य) और (चन्द्रमा) के सहज सायुज्य पर बल दिया है।

'चन्द सूर दोऊसमि करि राष्या आपैं आप जु मिलिया।' (गोरखबानी पद-६)

इस सन्दर्भ में 'मृगावती' में कुतुबन ने गोरखनाथ द्वारा निर्दिष्ट हठयोग प्रक्रिया का प्रबल पक्ष ग्रहण करते हुए अपना मत व्यक्त किया है—

चाँद कहा अब सूरुज आवउ। एकहि रासि बैठि नित धावउ। (मृगावती १३० ।२)

जायसी ने भी कहा है कि सूर्य और चाँद का सामरस्य ही प्रेम की पूर्णतम अभिव्यक्ति है। गोरखनाथजी के द्वारा उपदिष्ट हठयोग के सिद्धान्त की जीवात्मा के लिए चरम परिणति सूर्य-चन्द्र-प्राण और अपान का मिलन मध्यकालीन प्रेमाख्यानों में निरूपित है। जायसी का कथन है—

सूरुज चाँद के कथा जो कहेऊ।
पेमक कहनि लाइचित गहेऊ॥ (पद्मावत कड़वक ८४)

उसमान ने चित्रावली के परेवा खण्ड में गोरखनाथजी की तप:स्थली गोरखपुर में योगसाधना का भव्य चित्र उरेहा है, गोरखपुर के यह बाह्य नहीं, अन्त:स्वरूप का परिचायक है।

आगे गोरखपुर भलदेसू, निबहै सोई जो गोरख बेसू।
जहं तहं मढ़ी गुफा बहु अहहीं। जोगी जती सनासी रहहीं।
चारि ओर जाप नित होई। चरचा आन करै नहि कोई।

\+ \+ \+ \+ \+

फल उठि खाहिं पिवहिं चलि पानी। जाचहिं एक विधाता दानी।
परम सबद गुरुदेइ तहं, जेहि चेला सिर भाग।
नित जेहि डेवढ़ी ल्यावई, रहै सो ड्योढ़ी लाग।
ताहि देस बिच अहै सो पन्था, चलै सोइ जो पहिरे कंथा।

(चित्रावली-परेवा खण्ड)

सन्त कबीर ने अपने पदों में तथा अन्यान्य साखी, सबद आदि में अनेक बार गोरखनाथजी और उनके योग का बखान किया है। मन के सम्बन्ध में बिचार करते हुए कबीर ने गोविन्द के समान महत्त्व देकर उनके योग का महत्त्व-ज्ञापन किया है। सन्त कबीर का कथन है—

मन गोरख मन गोविन्दौ मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तो आपै करता सोइ॥

(कबीर ग्रन्थावली सा. १३ । १०)

सन्त कबीर ने गोरखनाथ के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि रामगुणलता का स्वारस्य गोरखनाथजी ने ही अच्छी तरह आस्वादित किया। सहज सनातन शाश्वत तत्त्व का ज्ञाता तो कोई बिरला योगी ही होता है।

राँम गुन बेलड़ी रे अवधू गोरषनाथि जाँणीं।
नाति सरूप न छाया जाके, बिरध करै बिन पाँणीं॥
बेलड़िया द्वै अणीं पहूँती, गगन पहूँती सैली।
सहजबेलि जब फूलणि लागी, डाली कूपल मेल्ही॥
मन कुंजर जाइ वाड़ी विलम्ब्या, सतगुर बाही बेली।
पंच सखी मिसि पवन पयंप्या, बाड़ी पाणीं मेल्ही॥
काटल बेली कूपल मेल्हीं, सीचंताड़ीं कुमिलाँणीं।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरन्तर जाणीं॥

सच्चिदानन्दघन ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्य की अनन्त निधि परमात्मा में जीवात्मा की परानुरक्ति ही योगसिद्धि है। योग स्वत: रस है। मृगावती के समापन में उसके रचयिता कुतुबन ने शृंगार और वीर के साथ योग का उल्लेख करते हुए तीनों को रस कहा है—

फुनि हम खोलि अरथ सब कहा।
जोग सिंगार बीर रस अहा॥ (मृगावती कड़वक ४३१)

अष्टांगयोग अथवा हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग और राजयोग के अन्तर्गत समस्त साधन-आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ॐमन्त्र-जाप, अजपा गायत्री, कुण्डलिनी-जागरण, चक्रभेदन, नादानुसन्धान, अमृत-पान आदि योगरस के उपांग हैं। योग की सम्पूर्ण रसरूपता के महासागर में आत्मा का लयीकरण, मन का उन्मनीकरण, निर्विकार, निष्कल सच्चिदानन्दस्वरूप निरञ्जन में सम्पूर्ण सामरस्य का कारण है। यह यौगिक सायुज्य-सामरस्य परम उन्मादकारी, अद्भुत, गुह्यतम रहस्य से अभिभूत है। गोरखनाथजी

इसी महायोग-रस के रसिक थे। सन्त कबीर ने अपने बीजक के एक दोहे में उन्हें योग रसिक कहा है। यह बीजक पूना से प्रकाशित है और डॉ. कल्याणी मलिक ने अपने ग्रन्थ 'नाथसम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना-प्रणाली' में सन्दर्भगत दोहे को उद्धृत किया है—

'गोरख रसिया याग के कोरो माँजी देह।' (बीजक)

गोरखनाथजी कबीर की दृष्टि में योग के रसिया-रसिक थे। सन्त कबीर ने यौगिक और विशेषतया नाथयोग-साधना के अनुरूप इडा, पिंगला और ब्रह्माग्नि के सहारे जिस रामरस के निर्माण की एक पद में विधि कही है, वह (रामरस) योगरस ही है। कबीर का कथन है—

इला पिंगला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूँदे, लागि जोग जुग तारी॥
उलटी गग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई।

\+ + + + +

प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।
सहज सुन्न मैं जिन रस चाख्या सतगुरु थैं सुधि पाई॥
दास कबीर इहि रसमाता, कबहूँ उछकि न जाई॥

गोरखनाथजी ने इस योगरसामृत का पान कर आत्मानन्द पद अमृतत्व प्राप्त किया। योगरसिक ब्रह्म-अग्नि में काया की आहुति देकर कायसिद्धि की विधि से शरीर को पक्व-पुष्ट अथवा अमृतायित करता है। योगरससिद्ध योगी अजपा गायत्री के द्वारा मन की उन्मनी अवस्था-अमनस्कता में सहज समाधि में लीन हो जाता है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की त्रिवेणी में कायिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्नान कर अलख निरञ्जन का अनुभव करता है। सन्त कबीर की उक्ति है—

आत्मा अनन्दी जोगी, पीवै महारस अमृतभोगी।
ब्रह्म अगनि काया परजारी, अजपा जाप उन्मनी तारी॥
त्रिकुट कोट में आसण माँडे सहजसमाधि बिषे सब छांडै।
त्रिवेणी विभूति करै मन मंजन, जन कबीर प्रभु अलख निरञ्जन॥

(कबीर ग्रन्थावली पद-२०४)

योगरसिक महायोगी गोरखनाथ आत्मानन्दी योगी थे। आत्मा का आनन्द स्वरूप-सच्चिदानन्दत्व ही योगरस के आस्वादन का अमोघ माध्यम है।

महामति बलभद्र ने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' में करुणासुधासगरस्वरूप योगी गुरु के चरण-सान्निध्य में अपने मन को मग्न उन्मन करने का प्रस्ताव किया है, वह अमर योगसिद्ध महायोगी गोरखनाथ की कृपारसनिधि से ही कृतार्थ होने की एक मांगलिक प्रस्तावना है। 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' श्रीगोरखनाथकृत 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' का अन्यतम सार है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' बलभद्र के लिए गुरुवाणी है और उसके कर्ता गोरखनाथजी ही गुरुस्वरूप योगरससिद्ध अमरकाय परमाश्रय हैं। गोरखनाथजी का योगरस करुणारससुधानिधि है। योगरसिक गोरखनाथ मूर्तिमान करुणारस हैं, कृपामृतस्वरूप हैं। वे योगानन्दी महायोगी

हैं। बलभद्र का कथन है—

यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चिद्विश्रमः पारदः।
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौ चेतोऽस्तु मग्नं गुरौ॥

(सिद्धसिद्धान्तसंग्रह ५। ३६)

गोरखनाथजी ने योगशास्त्रविहित 'ईश्वरप्रणिधान' भगवद्भक्ति का योग की साधना के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त श्रेयस्कर ढंग से प्रतिपादन किया। गोस्वामी तुलसीदास ने कवितावली (उत्तरकाण्ड ८४) में गोरखनाथजी के योग का महत्त्व प्रकाशित करते हुए कहा है—

गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु।
निगम नियोग तें सो कलि ही छरो-सो है॥

बड़े-बड़े विद्वानों ने उपर्युक्त कथन के सन्दर्भ में मान लिया है कि गोरखनाथजी ने योग क्या जगा दिया, भक्ति ही लोगों के हृदय से निकल गयी। यह मान्यता नितान्त असंगत है। गोरखनाथजी के साहित्य और योगसाधनप्रक्रिया के निगूढ़ और सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि गोरखनाथ उच्चकोटि के भक्तियोगी थे, उन्होंने भगवद्भक्ति को अपनी योगसिद्धि का परमाश्रय मानकर जनसामान्य को प्रेरणा दी है कि योग वेदरूप कल्पतरु का सरस सिद्धप्रद फल है। इसका सेवन करने से भवताप का शमन हो जाता है। भवतापशमन ही योग है। गोरखनाथजी का कथन है—

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः॥ (गोरक्षशतक ६)

इस भवतापशमनरूप योग को गोरखनाथजी ने विवेकमार्तण्ड में परमात्मा में जीवात्मा का सायुज्य-सामरस्य बताया है, जिसकी अनुभूति निर्बीज अथवा निर्विकल्प समाधि में होती है।

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते॥ (विवेकमार्तण्ड १८७)

'गोरखबानी' में गोरखनाथजी की अनेक उक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें हरि की भक्ति पर ही विशेष बल दिया गया है। उन्होंने कहा है 'नारायण उपरान्ति इष्ट नाहीं' (सिष्टपुराण), 'सकल विधि ध्यावो जगदीश' (नरवै बोध), 'मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा' (प्राणसंकली), 'क्यों भजिबो जगदीश' और 'जगदीश का भजन ही जीवन है' (गोरखबानी सबदी)। अतएव यह निर्विवाद है कि गोरखनाथ द्वारा निर्दिष्ट महायोगज्ञान भक्ति का पर्याय है।

गोरखनाथजी ने उस योग की साधना पर बल दिया, जो शिव द्वारा उपदिष्ट है, नाथयोगसाधना में शिवोपदिष्ट महायोग-ज्ञान का ही महत्त्व स्वीकृत है। 'गोरक्षपद्धति' में गोरखनाथजी का कथन है कि योगशास्त्र आदिनाथ (भगवान् शिव) के मुखकमल से निःसृत है। उसी का नित्य मनन और चिन्तन (अभ्यास तथा साधना) करना चाहिए—

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्॥ (गोरक्षपद्धति २। १००)

गोरखनाथजी ने नाथयोग-साधना के परिप्रेक्ष्य में कहा कि श्रुति और स्मृति में योगमार्ग (शैवयोग-शिवयोग) से श्रेष्ठ कोई दूसरा मार्ग नहीं है। साक्षात् शिव ने प्राचीन समय में (क्षीरसागर के परिसर में भगवती पार्वती के प्रति) इसका प्रवचन किया है। अन्य शास्त्रों में भी यह दुर्लभ है।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेनकथितः पुरा॥ (सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५। २२)

गोरखनाथजी ने 'योगबीज' रचना में पार्वती-शंकर के सम्वाद के रूप में नाथयोगमार्ग की विशेषता अथवा श्रेष्ठता का वर्णन किया है। भगवती पार्वती ने शंकर से (योगबीज ५) मोक्षप्रद मार्ग पूछा तो शिवजी ने कहा कि जिसका आश्रय ग्रहण करने पर संसार-बन्धन में ग्रस्त जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं, उसका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ। यह नाथयोगमार्ग अत्यन्त श्रेयस्कर है, अन्य मार्गों के अनुसरण से कैवल्यपद दुष्प्राप्य है, इसकी प्राप्ति सिद्ध मार्ग पर चलने से ही होती है।

बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतः परम्।
तमहं कथयिष्यामि तव प्रीत्या सुरेश्वरि॥
नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम्॥ (योगबीज ७, ८)

सत्स्वरूप के अभिज्ञान, विज्ञान के लिए योगमार्ग ही गोरखनाथ की दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। यह शिवकथित सिद्धसिद्धान्त है। श्री गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित तथा शासित-ज्ञापित योगमार्ग में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग से भी परे महायोग है। इसी महायोग का गोरखनाथजी ने मत्स्येन्द्रनाथ को स्मरण दिला कर कदली वन के विहार से मुक्त कर उन्हें स्वरूपबोध से जगाया था। इस महायोगज्ञानामृत का वर्णन फैजुल्ला ने अपने 'गोरखविजय' काव्य में किया है—

माया छाड़ि मीननाथ बसिलेक ध्याने,
गुरुवचन सब सोइरिया मने।
ब्रह्मज्ञाने योगपूर्ण शरीर सकल,
क्रमे क्रमे आपना सकल उद्धारिल।
योग साधि मीननाथ स्थिर कैल काया,
महाज्ञान पाइया मीन दूर कैल माया॥ (गोरखविजय)

इसी महाज्ञान को मत्स्येन्द्रनाथ ने क्षीरसागर में शिव के मुख से सुन कर गोरखनाथजी को प्रदान किया था। गोरखनाथजी द्वारा गुरु से प्राप्त, स्वोपदिष्ट तथा प्रतिपादित नाथयोग का तात्त्विक दर्शन द्वैताद्वैतविलक्षण अपरोक्ष महायोगज्ञान है। नाथयोग के सम्बन्ध में शोध और परिशीलन करने वाले मनीषियों ने जिज्ञासा की वेदी पर यह स्वीकार कर कि नाथयोगज्ञान शांकर अद्वैतवाद की प्रतिच्छाया अथवा देन या अनुकृति है, बड़ी भूल की है। यह अत्यन्त भ्रामक और मिथ्या विचार है। समस्त ब्रह्मसूत्र के परिशीलन में तो केवल मात्र जीवात्मा के ब्रह्मस्वरूप का दार्शनिक प्रतिपादन है। यह ब्रह्मस्वरूप द्वैत, अद्वैत, दोनों में ग्राह्य है। नाथयोग द्वारा प्रतिपादित स्वसंवेद्य सत्स्वरूप ॐकार पदातीत, निरञ्जनव्यतिरिक्त साक्षात् शिव

अपनी निजा शक्ति को तिरोहित कर देने पर द्वैताद्वैत विलक्षण स्वरूप में अभिव्यक्त होते हैं। सन्त कबीर ने गोरख, महादेव, सिद्ध और नाथ के प्रस्थानचतुष्ट्य में नाथयोगज्ञान की द्वैताद्वैत विलक्षणता व्यक्त की है। कबीर ग्रन्थावली का पद ३२७ है—

गोरख सोई ग्यान गमि गहै।
महादेव सोई मन की लहै॥
सिध सोई जो साधै इती।
नाथ सोई जो त्रिभुवन जती॥

गोरखनाथ, महादेव, सिद्ध और नाथ चारों के चारों अभिन्न स्वरूप, एक तत्त्व हैं। सब-के-सब पर्याय हैं। सिद्धसिद्धान्तप्रतिपादित पिण्डपदसामरस्य नाथयोगसाधना में महत्तम आधार है अपरोक्षस्वरूपानुभूति का। शक्ति, जीव और शिव का उन्मन धरातल पर ऐक्यबोध ही नाथयोग की साधना की सिद्धि है। यह सद्गुरु के सन्निधान और सिद्ध पुरुष के साक्षात्कार से सम्भव है। यही नाथयोगपन्थ अथवा सिद्धामृत मार्ग है, जिसकी उपेक्षा महती विनष्टि और अपेक्षा स्वरूपसिद्धि है। गोरखनाथजी के परवर्ती योगसाधना क्षेत्र में नाथयोग के सिद्धों और साधकों में यही साधना-प्रक्रिया स्वीकृत होती आयी है तथा निर्गुणमार्गीय सन्तों की चिन्तनधारा, वैष्णवों और शैवों की उपासना तथा प्रेमाख्यान काव्यों की रचना और अन्यान्य चिन्तन-क्षेत्र में इसी की अनुकृति प्रचलित रही है। गोरखनाथजी ने योगसाधना द्वारा पक्व देह-सिद्धदेह की प्राप्ति पर बल दिया। योगाग्नि में शरीर को अमृतायित करना ही योग-साधना की सिद्धि है। सन्त कबीर ने कहा है—

कहै कबीर निरञ्जन की गति, जुगति बिना प्यंड काचा। (कबीर ग्रन्थावली पद २०८)

मलिक मोहम्मद जायसी ने भी पद्मावत में योग-साधनागत इसी शारीरिक परिपक्वता को परिलक्षित किया है—

और साधना आवै साधे। जोग साधना आपुहि दाधे। (पद्मावत कड़वक २२६)

नाथसिद्ध योगीराज भर्तृहरि ने अपने गुरु गोरखनाथ के सदुपदेश से योग साधना में सिद्धि प्राप्ति की बात की पुष्टि की है। उनका कथन है—

सतगुरु सबदूँ राजा भरथरी सीधा रे।
गुरु गोरख बचन प्रवाणं जी॥ (नाथसिद्धों की बानियाँ ५९९)

गोरखनाथजी ने संस्कृत और लोकभाषा, दोनों में योगपरक साहित्य का सृजन किया, इन ग्रन्थों और रचनाओं में द्वैताद्वैतविवर्जित स्वसंवेद्यतत्त्व का यथाक्रम अभिव्यञ्जन करते हुए उन्होंने हठयोग, षडंगयोग और अष्टांगयोग का नाथयोगसाधना के परिप्रेक्ष्य में वर्णन किया है। उनकी रचनाएँ गोरक्षकल्प, गोरक्षसंहिता, गोरक्षशतक, गोरक्षगीता, विवेकमार्तण्ड, गोरक्षशास्त्र, ज्ञानप्रकाशतक, ज्ञानामृत, महार्थमञ्जरी, योगचिन्तामणि, योगमार्तण्ड, योगसिद्धान्तपद्धति, श्रीनाथ-सूत्र, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, हठ संहिता, अमनस्कयोग, योगबीज, शिवयोगसार, शिवयोगदर्पण, गोरक्षपद्धति आदि संस्कृत भाषा में उपलब्ध होती हैं, प्रायः सभी की हिन्दी टीकाएँ भी उन में संयुक्त हैं। उन्होंने लोकभाषा हिन्दी में भी अपने उपदेशों में बड़ी सारगर्भित योगसाधना का वर्णन किया है, जिनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि पर सांगोपांग

प्रकाश डाला गया है। लोकभाषा में व्यक्त पद्यात्मक उपदेशादि और साधन-प्रक्रिया आदि का संकलन 'गोरखबानी' में किया गया है। 'गोरखबानी' में सबदी, पद, सिष्यादर्शन, प्राणसंकली, नरवैबोध, आत्मबोध, ग्यानचौंतीसा, अष्टचक्र, ग्यानतिलक, अभैमात्राजोग, सिष्टपुराण दयाबोध, रहरासि, मछीन्द्र-गोरखबोध, रोमावली, गोरख-गणेसगुष्टि, पंचमात्रा, महादेव-गोरषगुष्टि, ज्ञानदीपबोध, पंचअग्नि, पन्द्रहतिथि, सप्तवार, अष्टमुद्रा, सप्तवार नवग्रह, चौबीस सिद्धि आदि संगृहीत हैं। उनकी सभी रचनाओं में नाथयोग की साधना और दर्शन का वर्णन किया गया है।

नाथयोगदर्शन के स्तर पर गोरखनाथजी का कथन है कि मैंने जिस ज्ञान का विचार किया है, उसमें झिलमिल ज्योति की चन्द्रिका प्रकाशित है। इस दीपक (घट)-ज्योति की बत्ती अखण्डित है, नाथनिरञ्जन की आरती दिन-रात होती रहती है—

अनहदनाद गगन में गाजै। परमज्योति तहाँ आप बिराजै॥
दीपक जोति अखण्डत बाती। परम जोति जगै दिन राती॥

(गोरखबानी पद-६२)

गोरखनाथजी हठयोग-विद्या के आचार्य स्वीकार किये गये हैं। उन्होंने प्राण, अपान के ऐक्य द्वारा मन और बिन्दु-वीर्य की तल्लीनता को हठयोग का प्राण कहा है। श्रीआदिनाथ द्वारा उपदिष्ट हठयोग-विद्या ही गोरक्षनाथ के योगामृत की परिचायिका है। हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है—

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै
येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

\+ + + + +

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रनाथगोरक्षाद्या विजानते। (हठयोगप्रदीपिका । १,४)

महायोगी गोरखनाथ की योगसिद्धि की यह अपूर्व और महनीय विशिष्टता है कि उन्होंने जन-जीवन में योगदर्शन का वास्तविक मर्म और महत्त्व समझाया। श्रीगोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित नाथयोग में यह परिलक्षित है कि योगसाधना में शरीर की शोधन-प्रक्रिया पर विशिष्ट ध्यान देना चाहिए। उनका कथन है—

मनवाँ योगी गाया मढ़ी। पंच तत्तलैं कंथा गढ़ी॥
षिमा षडासण ग्यानअधारी। सुमति पावडी डंडविचारी॥
गूदड़ी जुग च्यारि तै आई। गूदड़ी सिधसाधिका चलाई॥
गूदड़ी में अतीत का बासा। भणत गोरखनाथमछिन्दका दासा॥

(गोरखबानी सबदी ४८, १९७)

इसका आशय यह है कि शरीररूपी मढ़ी में मनयोगी निवास करता है। मनरूपी योगी ने अपने लिए पाँच तत्त्व की कंथा बनायी है। वह क्षमा का षडासन, ज्ञान की अधारी, सद्बुद्धि की खड़ाऊँ और विचाररूपी दंड-डंडा अपनी योगसाधना के उपयोग में लाता है। मन का योग ही वास्तविक योग है, इस योग की साधना में शरीर सहायक है। बाह्य योगसाधनों और यौगिक उपकरणों की अपेक्षा आभ्यन्तर युक्तियों के आश्रय-ग्रहण से योग की सिद्धि होती है। योगी गूदड़ी धारण करता है, इस गूदड़ी में परमात्मा

अथवा आत्मा का निवास होता है। गूदड़ी योगसिद्धि का परम उपाय है। श्रीगोरखनाथजी ने परमार्थ-चिन्तन के सम्बन्ध में कहा कि योगी को साधना में तत्पर होकर धैर्यपूर्वक अल्पाहार का सेवन करते हुए एकान्त का आश्रय लेकर परमार्थ का चिन्तन करना चाहिए, जो संसाररोग को हरनेवाला प्राणोपम अद्वितीय अमृत है।

एकाकिना समुपगम्य विविक्तदेशं प्राणादिरूपममृतं परमार्थतत्वम्।
स्वल्पाशिना धृतिमता परिभावनीयं संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम्॥

(योगबीज १०२)

योगरसिक गोरखनाथजी ने जीव के स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने प्राण-पुरुष जीवात्मा का अन्वेषण कर जगत् में जन्म-मरण के बन्धन से छूटने का उपाय निकाला। उनकी वाणी है कि ज्ञान ही सबसे बड़ा गुरु है, चित्त ही सबसे बड़ा चेला है। ज्ञान और चित्त का योग सिद्ध कर जीव को जगत् में अकेला रहकर अपने परमात्म स्वरूप परम शिव में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। यही श्रेय अथवा आत्मकल्याण का पथ है।

ग्यान सरीखा गुरु न मिलिया, चित्त सरीखा चेला।
मन सरीखा मेलू न मिलिया, तीथैं गोरख फिरै अकेला॥

(गोरखबानी सबदी १८९)

उन्होंने परमात्म साक्षात्कार के स्तर पर कहा कि मैंने पिण्ड में समस्त ब्रह्माण्ड का अनुसन्धान कर महायोगसिद्धि का रहस्य जान लिया है। देव, देवालय, तीर्थ आदि इसी शरीर में हैं। मैंने शरीर के भीतर अविनाशी परमात्मा, अलख निरञ्जन की अनुभूति प्राप्त कर ली। उन्होंने कहा कि जहाँ अच्छी तरह झरने वाले झरने पर अमृतरस पीने को मिलता है, वहाँ जाकर चन्द्रमा के बिना प्रकाश, कारणरहित स्वतः प्रकाश परब्रह्म का मैंने दर्शन किया।

नीझर झरणैं अमी रस पीवणैं षटदल वेध्या जाइ।
चन्द बिहूंणा चादिणां तहाँ देख्या (श्री) गोरखराइ॥ (गोरखबानी सबदी १७१)

गोरखनाथजी के योगसिद्धान्तानुसार इड़ा और पिंगला चन्द्रमा और सूर्य को रोक कर सुषुम्ना से प्राणवायु संचारित करना ही हठयोग की साधना है। हठयोग से अविद्या का नाश होता है। कुण्डलिनी शक्ति का शिव से सामरस्य ही परमसिद्धि है। वायु, मन और बिन्दु में से किसी एक को वश में करने पर सिद्धि मिलने लगती है। गोरखनाथजी के हठयोग ने ज्ञान, कर्म और भक्ति, यज्ञ, तप और जप के समन्वय से जनजीवन-लोकमानस को सम्पन्न किया। उनका कथन है कि मैं अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से इडा-पिंगला-गंगा-यमुना के मध्य सुषुम्ना में समाधिस्थ होकर ब्रह्मज्ञान में रमण करता हूँ—

ससंमवेद सोहं प्रकासं, धरती गगन न आदं।
गंग जमुन विच षेलै गोरख, गुरु मन्छिद प्रसादं॥ (गोरखबानी पद १८)

गोरखनाथजी ने हठयोगसाधन की दिशा में धौति, बस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति-हठयोग में शरीर शोधन के छः अंगों पर जोर दिया। समस्त श्रेयों का मूल उन्होंने गुरु को ही स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि नाथस्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है। अद्वैत अवस्था सदानन्द देती है। शक्ति सृष्टि करती,

शिव पालन करते हैं, काल संहार करता हैं, नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा हैं, शेष बद्ध जीव हैं, नाथ सगुण-निर्गुण से अतीत और परात्पर हैं। वे ज्योतिस्वरूप सच्चिदानन्द-मूर्ति हैं। उन्होंने आचरण और अनुभवपूर्ण शब्द को ही योगशास्त्र कहा—

सबद हमारा खरतर खांडा, रहणि हमारी सांची।
लेखै लिखी न कागद माडी, सो पत्री हम बांची॥ (गोरखबानी सबदी २६४)

गोरखनाथजी का योगसिद्धान्त अनुभव-वाङ्मय का अक्षर ज्ञापन है। उन्होंने कारणरहित अमृतमय स्वप्रकाश ब्रह्म का साक्षात्कार किया। गोरखनाथ ने बताया कि आत्मा ही परम पूज्य है, शिव है। शरीर के नवों द्वारों में नव-नाथ हैं, त्रिवेणी में जगन्नाथ सोपाधिक ईश्वर हैं, दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में केदारनाथ शिव स्वयं परब्रह्म हैं। योग की सारमयी युक्ति ही संसार से मुक्ति है, शून्य का साक्षात्कार होते ही विरल कैवल्य पद में समाकर मेरा द्वैत भाव नष्ट हो गया। मुझे शून्य अथवा ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव हो गया। गोरखनाथजी ने मन को समझाया कि तुम परब्रह्मस्वरूप होकर निर्द्वन्द्व हो जाओ, मूलाधार के सूर्य को मयॅरध में चन्द्रमा से युक्त कर लो। त्रिकुटी में अनाहत भौंरा गूँज रहा है। ब्रह्मरन्ध्र का कपाट खोलकर महारस-अमृत का पान कर लो। जीवात्मा का मैल छुड़ा कर तथा सदोष नाड़ियों को वायु से शुद्ध कर वंकनाल सुषुम्ना के द्वारा मन से ही मन को देखा जाता है, तब जो अवस्था होती है, वास्तव में वही मोक्ष है।

'अथ मोक्षपदं कथ्यते-यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः।'
(अमरौघशासनम्)

गोरखनाथजी के योग का अत्यन्त प्रासादिक अंग है, आत्मविचार; आत्मविचार अन्तर्साधना की आधार-शिला है। गोरखनाथजी स्वसंवेद्य तत्त्व के साक्षात्कार के अन्तर्द्रष्टा थे, यह साक्षात्कार उनकी अन्तरंग साधना का प्राण है। उनका कथन है—

आसण बैसिवा पवन निरोधिबा, थान मान सब धन्धा।
बन्दत गोरखनाथ आतमां विचारन्त, ज्यूं जल दीसै चन्दा॥
(गोरखबानी सबदी ८२)

यही सिद्ध का मार्ग है, कोई साधु पुरुष ही इस सिद्धमार्ग की महत्ता को जान पाता है। गोरखनाथ का वचन है—

'सिध का मारग कोई साधू जाणै।' (गोरखबानी—पंचअग्नि)

गोरखनाथजी सिद्धसिद्धान्तपद्धति के तत्त्वज्ञ थे। उनकी विज्ञप्ति है—

'वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम्।' (सिद्धसिद्धान्तपद्धति १। १)

गोरखनाथजी ने साधना के स्तर पर अपने आपको निरञ्जनयोगी कहा है। गणेश के पूछने पर गोरखनाथजी ने कहा—

अम्हें निरञ्जन योगी अतीत गुर चेला। (गोरखबानी—गोरषगणेसगुष्टि)

द्वैताद्वैतविवर्जित परब्रह्म ही अलख निरञ्जन है। उन्होंने निरञ्जन तत्त्व को अपनी 'महार्थमंजरी' रचना में कहा है कि अद्वय और द्वैताद्वैत के उत्तर (परे) है, यह निर्विकार और अत्यन्त संशुद्ध है,

भगवदनुग्रहैकसाध्य, भवभय का हरण करने वाला, प्राणियों के लिए मुक्ति-मार्ग का सोपान है। इस निरञ्जन, सूक्ष्म, स्वसंवेद्यतत्त्व को गोरखनाथजी ने प्रकाशित कर जीवमात्र के लिए श्रेयस्कर पथ-प्रदर्शन, सन्मार्ग-दर्शन किया।

जयत्यमूलमम्लानमौत्तरं तत्वमद्वयम्।
स्पन्दास्पन्दपरिस्पन्दमहोत्पलम्॥
भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम्।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम्॥ (महार्थमंजरी ८९, ९२)

गोरखनाथजी ने अपनी रचनाओं में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तात्त्विक विश्लेषण के माध्यम से हठयोग, षडंगयोग और अष्टांगयोग पर योगबीज, विवेकमार्तण्ड और सिद्धसिद्धान्तपद्धति में प्रकाश डाला है। उनका कथन है—

हकारेण तु सूर्योऽसौ ठकारेणीन्दुरुज्यते॥
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगोऽभिधीयते।
हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्॥
क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ तयोरैक्यं यथा भवेत्।
तदैक्ये साधिते देवि! चित्तं याति विलीनताम्॥
पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दपरं पदम्॥
अणिमादिपदे प्राप्ते राजते राजयोगतः।
प्राणापानसमायोगे ज्ञेयं योगचतुष्टयम्। (योगबीज १४८-१५२)

हकार से सूर्य तथा ठकार से चन्द्र कहा जाता है। सूर्य और चन्द्र के सहयोग से यही हठयोग कहलाता है। समस्त दोषों से उत्पन्न जड़त्व हठयोग से ग्रसित-नष्ट होता है। इस तरह जीवात्मा और परमात्मा की एकता होने पर चित्त (प्राण में) लय को प्राप्त होता है। लययोग का उदय होने पर प्राणवायु स्थिर होती है, लय से स्वात्मानन्द, परम सुख मिलता है। अणिमादि पद प्राप्त होने से योगी राजयोग में स्थिर होता है। प्राण और अपान के सामरस्य में ये चारों मन्त्र, लय, हठ और राजयोग चरितार्थ होते हैं।

'विवेकमार्तण्ड' रचना में षडंगयोग पर समन्वयात्मक दृष्टिकोण के स्तर पर गोरखनाथजी ने कहा है कि योगी योगासन से रोग का, प्राणायाम से पातक का, प्रत्याहार से मानसविकार का शमन-संहार करता है। योगी शुभाशुभ कर्म का त्याग कर धारणा से मन का धैर्य, ध्यान से अद्भुत चैतन्य तथा समाधि से मोक्ष प्राप्त करता है। प्राणायाम में ही योगियों का मोक्ष धर्म सन्निहित है—

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति॥
मनो धैर्यं धारणया ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम्।
समाधेर्मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्॥

(विवेकमार्तण्ड ११५-११६)

गोरखनाथजी ने आत्मविचारपूर्वक अष्टांगयोग के सिद्धान्त, साधना और सिद्धि का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है—

'यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहारनिद्राशीतवातातप जयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत्। नियम इति मनोवृत्तिनां नियमनमित्येकान्तवासो निःसङ्गतौदासीन्यं यथाप्राप्तिसन्तुष्टिर्वैरस्यं गुरुचरणावरूढ़त्वमिति नियम लक्षणम्।' (सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३२-३३)

यम का आशय है उपशम (इन्द्रियादि को वश में रखकर शान्ति) प्राप्त करना। साधक को धीरे-धीरे यथाक्रम समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर से मोड़कर आत्मचिन्तन में लगाकर उन्हें वश में रखकर आहार, निद्रा, शीत, वात और आतप आदि द्वन्द्वों को नियन्त्रित कर (युक्ताहारविहारपूर्वक) योग-साधना में तत्पर होना चाहिए। मन के व्यापार का नियमन-नियन्त्रण ही नियम है। एकान्तवास, असंगता, उदासीनता, जो कुछ भी (जीविका के निर्वाह के लिए) प्राप्त हो जाए, उसमें सन्तोष धारण करना, रागद्वेषरूपी द्वन्द्वों में उपरामता और गुरुचरण के आश्रय में ही निर्भरता नियम के लक्षण हैं। गोरखनाथजी ने आसन को स्व-स्वरूप में समासन्नता कहा है। स्वसंवेद्य द्वैताद्वैत विवर्जित (परमात्म) स्वस्वरूप में चेतना की संस्थिति अथवा स्थापन ही आसन है—'आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता' (सिद्धसिद्धन्तपद्धति २।३४), ध्येय तत्त्व में स्थिरता ही आसन है। योगासन के अभ्यास के साथ-ही-साथ योग साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए दस प्रधान मुद्राएँ महावेध, जालन्धरबन्ध, उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणी, खेचरी, शाम्भवी आदि भी सापेक्ष हैं। इनके अभ्यास से पक्व शरीर की प्राप्ति होती है।

अपक्वाः परिपक्वाश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः।
अपक्वा योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः॥
पक्वो योगाग्ना देहो ह्यजडशोकवर्जितः।
जडस्तत्पार्थिवो ज्ञेयश्चापक्वो दुःखदो भवेत्॥

(योगबीज ३४-३५)

देहधारी मनुष्य दो प्रकार के कहे जाते हैं, एक तो वे हैं, जो योगहीन होने के नाते अपक्व (कच्चे) देहवाले हैं और दूसरे योगाभ्यास से युक्त होकर पक्व (पक्के) देहवाले हैं। जो मनुष्य योगाग्नि के द्वारा पक्व देहवाले अपने चैतन्यस्वरूप में स्थित होते हैं, वे शोकरहित होते हैं, जो मनुष्य (योगाभ्यास से हीन होकर) कच्चे देहवाले होते हैं, वे आत्मज्ञान से रहित अविवेकी होते हैं, उनका अपरिपक्व शरीर दुःख देता रहता है।

प्राणायाम के सम्बन्ध में गोरखनाथजी ने कहा है कि शरीर की नाड़ियों में प्राण के प्रवाह को प्रयासपूर्वक उसे स्थिर रखने की क्रिया ही प्राणायाम है।

प्राणायाम इति प्राणास्य स्थिरता। (सिद्धसिद्धान्तपद्धति २।३५)

गोरखनाथजी का मत है कि जब तक प्राण (वायु) देह में स्थित है, तब तक उसका जीव परित्याग नहीं करता है—

यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुच्यते। (गोरक्षशतक ९१)

योगसाधना का एक प्रमुख अंग पवन का संयम-प्राणायाम है। प्राणायाम से नाड़ियों का मलशोधन होता है, शरीर की शक्ति बनी रहती है, मन संयमित और स्थिर रहता है। जो साधक प्राण को अपने शरीर में स्थिर रखता और इसका रहस्य समझ लेता है, वह सिद्ध हो जाता है। वह सारी सिद्धियों को वश में कर लेता है।

गोरखनाथ ने कहा कि चैतन्य आत्मा के इन्द्रियरूपी घोड़ों के (उनके शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि में) प्रत्याहरण से उनके विकारग्रस्त होने से उत्पन्न विकारों की समाप्ति हो जाती है, यही प्रत्याहार है। शरीर से बाहर-भीतर एक ही निजतत्त्वस्वरूप (आत्मा) व्याप्त है, अन्त:करण से इस तरह की भावना ही धारणा है। जो-जो भौतिक प्रपंच उत्पन्न होता है, उसकी निराकार आत्मारूप में धारणा करनी चाहिए और वायुरहित दीपक के निश्छल प्रकाश के समान (प्रपंचातीत) आत्मचैतन्य का ही चिन्तन करना चाहिए, यही धारणा का लक्षण है—

प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरङ्गाणां प्रत्याहरणं विकारग्रसन उत्पन्नविकारस्यापि निवृतिर्निर्भातोति प्रत्याहारलक्षणम्। धारणेति सा बाह्याभ्यन्तर एकमेव निजतत्वस्वरूपमेवान्तः करणेन साधयेद्यथा यद् यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव सन्धारयेदिति धारणा लक्षणम्।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति २।३६-३७)

गोरखनाथजी ने शरीर में ध्यान के नव स्थान-नव चक्रों की स्थिति स्वीकार की है। उनका कथन है कि इन चक्रों पर ध्यान स्थिर करने से इष्ट की प्राप्ति में सहायता मिलती है। 'पिण्डे नवचक्राणि' (सिद्धसिद्धान्तपद्धति २।१) उन्होंने ध्यान की परिभाषा की—

अथ ध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम्।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति २।३८)

नामरूप से परे अद्वैतस्वरूप परमात्मा है, यही आत्मा है। जो-जो वस्तु प्रतीत हो, उसमें आत्मस्वरूप की ही भावना करनी चाहिए। समस्त भूत मात्र में समदृष्टि-आत्मदृष्टि अथवा आत्मस्वरूप की (सभी प्राणियों में एक मात्र परमात्मा की प्राप्ति की) भावना ही ध्यान है। एक मात्र ध्यान का विषय निरञ्जन परमात्मा है। निरञ्जन के उपरान्त ध्यान के लिए रह ही क्या जाता है।

'निरञ्जन उपरान्ति ध्यान नाहीं।' (गोरखबानी-सिष्टपुराण)

इस इष्ट में अभिन्नता निर्विकल्प समाधि का ही पर्याय है। समस्त तत्त्वों की समावस्थागत अनायास, स्वाभाविक (सहज) स्थिति ही समाधि है—

'सर्वतत्त्वानां समावस्था निरुद्यमत्वमनायासस्थितिमत्वमिति समाधिलक्षणम्।'

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति २।३९)

समाधि में ही परमपद की प्राप्ति गुरु की प्रसन्नता से होती है—

'प्रसादात् स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्।'

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५।६५)

गोरखनाथजी ने योगसाधना में सत्य के आचरण अथवा सत्य को सर्वोपरि ठहराया। गोरखबानी में संग्रहीत सिष्टपुराण में उनका कथन है कि सत्य ही सबसे बड़ा जीवन-शास्त्र है। 'सच उपरान्ति सास्त्र नाहीं।' गोरखनाथजी ने प्राणीमात्र को निर्मल उपदेश के रूप में लक्षित किया है कि निरन्तर आत्माराम में रमण करना ही महाज्ञान है—

ऐसा रे उपदेस दाषै श्रीगोरख राया।
जिनि जग चतुर बरन राह लाया।
पढ़ि लै ससंवेद। करि लै विधि नषेद।
जांणि लै भेदांन भेद। पूरिलै आसा उमेद॥
विषमी सन्धि मंझारी। संझाया पंचौ बषत सारि।
रहिबा दसवै दुआरि। सेइबा पद निराकार॥
जपि लै अजपा जाप। बिचारि लै आपै आप॥
छुटिला सबै बियाप। लिपे नाहीं तहां पूनि पाप॥
अहो निसि समो ध्यांन। निरन्तर रमेबा राम॥
कथै गोरशनाथ ग्यांन। पाईला परम निधान॥ (गोरखबानी पद-३३)

इटली के एल.पी. टैसिटरी का कथन है कि 'गोरखनाथ कनफटा योगी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता थे। उनके नाम से इस सम्प्रदाय के योगी दर्शनी और गोरखपन्थी कहलाते हैं। उन्होंने कनफटा योगिसम्प्रदाय को बौद्ध धर्म के प्रभाव से मुक्त किया। गोरखनाथ के धर्म की प्रधान विशेषता है इसकी सार्वजनीनता। इस धर्म का द्वार सबके लिए खुला है।'

गोरखनाथजी चिरजीवी हैं। उनका नाथयोग सनातन है। उनका वचन साक्षात् वेद है।

'गोरख बचन जथ बेदेर प्रमाण।' (फैजुल्लाकृत गोरखविजय)

मैथिलकोकिल विद्यापतिकृत 'गोरक्षविजय' नाटक के भरत वाक्य की शुभाशंसा ही हमारी गोरखनाथजी के चरणदेश में विनम्र वन्दना है।

श्रीगोरक्ष चिरेण जीव जगतित्वत्कीर्तिरुजृम्भताम्। (गोरक्षविजय)

हे गोरखनाथ! आप जगत् में सदा जीवित रहें, आपकी कीर्ति का विस्तार हो।

योगवाणी, 'नाथसिद्धचरित' विशेषांक, जनवरी, १९८४ से संकलित।

□

योगीराज भर्तृहरि

योगिराज भर्तृहरि को प्रेमदास ने 'नाथसिद्धों की वन्दना' में ब्रह्मरस का भोगी कहा है।

नमो भरथरी जोगी ब्रह्मरस भोगी। (नाथसिद्धों की बानियाँ-४)

योगीराज भर्तृहरि वैराग्य के मूर्तरूप थे। उनके नाम का स्मरण होते ही मन में संसार के प्रति अनासक्ति का भाव पैदा होता है। उन्होंने स्वर्गीय भोगों और विषय-विलासों पर लात मार कर महायोगेश्वर भगवान् शिव के चरणदेश में अपने आप को समर्पित कर दिया। उन्होंने योग और वैराग्य के माध्यम से अमरपद प्राप्त किया। उन्हें राजप्रासाद के वैभव, पिंगला ऐसी परम रूपमयी पटरानी के सौन्दर्य और नित्य-नवीन यौवन, चक्रवर्ती सम्राट् के अधिकार अपनी ओर आकृष्ट न कर सके। उन्होंने आत्मसाक्षात्कार का पूर्ण परमानन्दपद प्राप्त कर लिया। उनकी वैराग्य-विज्ञप्ति है कि विषय-भोग में रोग, कुल में च्युति, धन में राजा, मौन में दैन्य, बल में शत्रु, रूप में जरा (बुढ़ापा), शास्त्र में वाद, गुण में खल और शरीर में मृत्यु का भय है। समस्त वस्तुएँ भय उत्पन्न करने वाली हैं, एकमात्र केवल वैराग्य ही अभय है। वैराग्ययोगी भर्तृहरि का कथन है—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाभयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥ (वैराग्यशतक ३४)

योगीराज भर्तृहरि नवनाथों में से एक स्वीकार किये गये हैं। वे उच्च कोटि के नाथसिद्ध योगी थे। यह कहना बहुत ही कठिन है कि योगीराज भर्तृहरि किस शताब्दी में विद्यमान् थे। उनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथा परम्परागत शोध के सन्दर्भ से पता चलता है कि वे प्रत्येक स्थिति में विक्रमीय आठवीं-नवीं शती से पहले थे। और यह भी सच है कि उन्हें महायोगी अभिनव शिव गोरखनाथ की, जो अमर स्वीकार किये जाते हैं, प्रत्यक्ष योग-दीक्षा प्राप्त थी, गोरखनाथजी कालातीत है, उन्होंने भर्तृहरि को योगोपदेश देकर उन्हें अपना शिष्य बनाया था। दूसरी सम्भावित बात यह है कि उन्होंने पिंगला ऐसी रूपवती नारी के असत् सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर वैराग्य ग्रहण कर लिया था। तीसरी निश्चित-सी बात यह है कि वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड), शतकत्रय आदि की उन्होंने रचना की। 'भर्तृहरि निर्वेद' नाटक के

रचयिता हरिहर ने उन्हीं का चरित्र अपने नाटक में निरूपित किया है। गोपीचन्द नवोंनाथों में से एक कहे गये हैं। यह प्रचलित मान्यता प्रायः सत्य ही है कि उनकी माता मयनावती महाराजा (योगीराज) भर्तृहरि की बहन थीं। भर्तृहरि का ज्ञानयोगी के रूप में मध्यकालीन साहित्य में महत्त्वांकन 'पद्मावत' में मलिक मुहम्मद जायसी ने किया है।

राजा भरथरि सुना जो ज्ञानी। जेहि के घर सोलह सौ रानी।
कुच लीन्हें तरवा सहराई। भा जोगी कोउ संग न लाई॥
जोगिहि कहा भोग सौं काजू। चहै न धन धरनी औ राजू॥

(पद्मावत जोगी खण्ड ६।४-६)

चीनी यात्री इत्सिग ने भर्तृहरि की विद्वत्ता के सम्बन्ध में अपने भ्रमण-वृत्तान्त में जो प्रकाश डाला है, उससे ऐसा लगता है कि योगीराज भर्तृहरि विक्रमीय सातवीं शती से पहले विद्यमान थे। इत्सिग विक्रमीय सातवीं शती के दूसरे चरण से विक्रमीय आठवीं शती के प्रायः तीसरे चरण की अवधि में बौद्ध धर्मावलम्बी देशों का भ्रमण करता रहा। उसने नालन्दा विश्वविद्यालय में भी कुछ समय तक निवास किया था। उसने लिखा है कि धर्मपाल नालन्दा के प्रकाण्ड पण्डित थे। प्रसिद्ध कवि एवं दार्शनिक भर्तृहरिकृत भर्तृहरिशास्त्र, पातंजल भाष्य की टीका तथा वाक्यपदीय नालन्दा में पढ़ाये जाते थे। भर्तृहरि की ३००० श्लोकों वाली एक कृति पर धर्मपाल ने १४००० श्लोकों में टीका लिखी है। इत्सिग ने लिखा है कि "मेरे आगमनकाल से चालीस साल पहले ही भर्तृहरि का शरीर शान्त हो गया। शरीर के शान्त होने का अभिप्राय है अदृश्य होना, क्योंकि भर्तृहरि को इसी शरीर से अमर स्वीकार किया जाता है। उन्हें सन्-सम्वत् की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। वे समय-समय पर अपने अमर शरीर का दर्शन देते रहते हैं। वे सिद्धदेहप्राप्त जीवन्मुक्त महायोगी के रूप में सम्मानित हैं। यह नितान्त असन्दिग्ध है कि वे व्याकरणशास्त्र के भी महान् तत्त्वज्ञ थे।" गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह में भर्तृहरि और शेषावतार नागेश का संवाद वर्णित है। उससे भी इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उसमें उल्लेख है कि एक समय की बात है, महाराज भर्तृहरि ने, जो महासिद्ध विचारनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं, व्याकरणशास्त्र पर एक लाख कारिकाओं की रचना की। नागेश ने उन्हें सुना, वे ब्रह्माण्ड में विचरण करते हुए वहाँ आए, जहाँ वे महान् अवधूत भर्तृहरि विराजमान थे। उन्होंने भर्तृहरि से वरदान माँगने को कहा। महासिद्ध भर्तृहरि ने कहा कि मुझे आप से मिलने से सुख मिला है। मुझे किसी वस्तु की अपेक्षा-चाह नहीं है। क्या माँगूँ? यदि ऐश्वर्य की इच्छा हो, महाराज्य का त्याग कर मैं अवधूत हो गया। यदि मोक्ष की प्राप्ति की कामना हो तो अवधूत-भाव में सिद्धि ही हो जाएगी। इस पर नागेश ने शाप दे दिया। भर्तृहरि ने भी शाप दिया कि तुम्हारे द्वारा रचित व्याकरणशास्त्र कलियुग में वृत्ति के लिए ही होगा। जहाँ कहीं संशय होगा, मेरी कारिकाओं के बिना निर्णय नहीं होगा।

'तदा शेषोऽसन्तुष्ये भूत्वा ममापमानः कृतो यतः शापं ददि्म, भवदीयकारिकाः प्रसिद्धा न भविष्यन्तीति। तदावधूतेनाप्युक्तं त्वदीय कृतव्याकरणशास्त्रं कलौ वृत्यर्थं भविष्यति, पुनर्यत्र कुत्रापि स्थले ससंशयं भविष्यति तदा कर्मकारिकां विना निर्णयो न भविष्यतीति।' (गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह)

भर्तृहरि की विशिष्टता के सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि उनके गुरु योगेश्वर गोरखनाथ

थे। इस बात की पुष्टि हरिहरकृत 'भर्तृहरि निर्वेद' नाटक से हो जाती है। रचयिता ने गोरखनाथजी को योगीराज भर्तृहरि का गुरु बताया है। योगी भर्तृहरि की सबदी में साक्षात् भर्तृहरि ने स्वीकार किया है कि मैंने सद्गुरु देव के शब्द से सिद्धयोगमार्ग में साधना कर सिद्धि प्राप्ति की। इस सम्बन्ध में मेरे गुरु गोरखनाथजी के वचन ही प्रमाण हैं—

सतगुर सबदै सोधा भरथरी।
गुरु गोरखवचन प्रवाणं जी।

महायोगी गोरखनाथजी ने अपनी सबदी में उपर्युक्त सत्यता व्यक्त की है। उन्होंने राजा भर्तृहरि (भरथरी) और गोपीचन्द के सन्दर्भ में कहा है कि दोनों गुरु के उपदेश-शब्द-प्रकाश में सुख-दुखरूप द्वन्द्वों से विमुक्त होकर योगज्ञान से परम पद में प्रतिष्ठित हो गये।

मान्यां सबद चुकाया दंद।
निहचैं राजा भरथरी परचैं गोपीचन्द॥
निहचै नरवै भए निरदंद। परचै जोगी परमानन्द॥ (गोरखबानी सबदी-१५)

उपर्युक्त उद्धरण का आशय यह है कि भर्तृहरि ने निर्भय स्थिति-वैराग्यपद में परमात्मयोग प्राप्त किया। राजा गोपीचन्द ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया।

योगीराज भर्तृहरि का पवित्रनाम वैराग्य का ज्वलन्त प्रतीक है। वे त्याग, वैराग्य और तप के प्रतिनिधि थे। हिमालय से कन्या अन्तरीप तक के भूमिभाग में उनकी पद्यबद्ध जीवनगाथा भिन्न-भिन्न भाषाओं में योगियों और वैरागियों द्वारा एक निश्चित काल से गायी जा रही है। भविष्य में भी यही क्रम बहुत दिनों तक चलता रहेगा। उन्होंने विषयसुख का पूर्ण भोग करने के बाद वैराग्य के असीम राज्य में प्रवेश किया था। उनकी कथनी-करनी समान थी। वे निस्सन्देह महात्मा थे, उन्होंने जीवन के अनुभव की बातें कही हैं। योगीराज भर्तृहरि ने योगेश्वर गोरखनाथजी द्वारा प्रवर्तित वैराग्य पन्थ के सिद्धान्तों के विकास में बड़ा योग दिया। वे गोरखनाथजी के योगसम्प्रदाय में उन्हीं के द्वारा दीक्षित थे। मालव प्रदेश में भगवती शिप्रा के अंचल में कविता, कला और संगीत की दिव्य आनन्दमयी सरस भूमि उज्जयिनी में महाराजा भर्तृहरि ने जन्म ग्रहण किया था। उनके पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ, जनश्रुतियाँ और परम्परागत मान्यताएँ प्रचलित हैं, जिनके समन्वयात्मक अध्ययन से सिद्ध हो जाता है कि उनके पिता का नाम गन्धर्वसेन अथवा चन्द्रसेन था। चन्द्रसेन ने दो विवाह किये थे। उनकी पहली पत्नी से भर्तृहरि और दूसरी पत्नी से विक्रम थे, जिन्हें विक्रमादित्य कहा जाता है। महाराजा भर्तृहरि चक्रवर्ती नरेश थे। एक सौ आठ राजा और अधिराजा उनके चरणदेश में नतमस्तक थे।

भर्तृहरि के जीवन-चरित्र से सम्बन्धित एक कथानक 'भर्तृहरि निर्वेद' नाटक के सन्दर्भगत 'योगिसम्प्रदायविष्कृति' ग्रन्थ में निरूपित यह है कि अवध में भगवती सरयू के तट पर अरण्यस्थल में एक रूपवती स्त्री को देखकर मित्रावरुण देवता का रेतपात हो गया। देवता ने एक खेत में मिट्टी का पात्र— भर्थुवा देखकर उसमें रेत स्थापित किया और उसे एक वृक्ष के कोटर में रख दिया। योगेश्वर हरिनारायण के सूक्ष्म शरीर ने इस रेत में प्रवेश किया। इसने भर्तृहरि के रूप में जन्म लिया। ठीक इसी समय एक हरिणी

को बच्चा हुआ। वह भरथरी—भर्तृहरि को दूध पिला कर पालने लगी। एक व्यापारी जयसिंह भट्ट और उसकी पत्नी ने पड़े बच्चे को गोद में उठा लिया। धन के लोभ से चोरों ने दम्पत्ति को मार डाला। व्यापारी-दल के साथ भर्तृहरि उज्जयिनी-उज्जैन पहुँचे। सन्ध्या हो गयी थी। नगरी के रक्षक विक्रम थे। बालक भर्तृहरि ने बतलाया कि आज रात नगर में प्रवेश करने वाले एक राक्षस को मार कर उसके खून से अपना तिलक करने वाला इस नगरी का राजा होगा। विक्रम ने राक्षस का वध किया। राजा की पुत्री मयनावती ने विक्रम को राजा बनाया। विक्रम ने भर्तृहरि को अपना धर्मभाई बनाया। विक्रम भर्तृहरि को राजकार्य सौंप कर ईश्वर के भजन में लग गये। भर्तृहरि की रानी पिंगला थी। एक समय भर्तृहरि ने हरिण का शिकार में वध किया। हरिणियाँ उनके पीछे लग गयीं। श्रीगोरखनाथजी तोरणमाल पर्वत से नीचे उतरे, कहा जाता है कि वह हरिण नहीं, गोरखनाथजी का शिष्य था। हरिण के वेश में रहता था। प्राणान्त होने के समय हरिण ने कहा कि मेरे पैर (की गति) चोर को प्राप्त हों, जिनकी सहायता से वे तेजी से भाग कर अपना प्राण बचा सकें। मेरी सींग योगी को दे दी जाए, जिससे वह अपने लिए नादयन्त्र का काम ले, मेरा चर्म तपस्वी को दे दिया जाए, जिस पर वह आसन लगा कर साधना में तल्लीन रहे। मेरे नेत्र रमणियों को प्रदान किये जाएँ, जिनसे वे मृगनयनी कही जाएँ। गोरखनाथजी ने भर्तृहरि पर दोष लगाया कि तूने मेरे शिष्य का वध कर दिया। उन्होंने भर्तृहरि की प्रार्थना पर थोड़ी सी मिट्टी उस मृत हरिण पर छिड़क दी। उनके आशीर्वाद और योगशक्ति से उसमें प्राण का संचार हो गया। यह वृत्तान्त 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' में वर्णित है। अतएव यह निर्विवाद है कि अपनी योगसिद्धि से करुणावतार महायोगी गोरखनाथजी ने उसे जीवित कर दिया। भर्तृहरि ने शिष्य होने की इच्छा प्रकट की। श्रीगोरखनाथजी की प्रेरणा से भर्तृहरि ने रानी पिंगला से कहा कि तुम्हारे पातिव्रत का विश्वास होने पर मैं शिष्य बन सकता हूँ। पिंगला ने कहा कि पति की मृत्यु के साथ ही जिसकी मृत्यु हो जाए, वही पतिव्रता है। भर्तृहरि ने परीक्षा ली। शिकार में गये। खून से कपड़ा रंग कर महल में भेजवा दिया। रानी को विश्वास हो गया कि सिंह ने राजा के शरीर को अपना ग्रास बना लिया। उसके प्राण निकल गये। भर्तृहरि के लिए अपनी प्राणप्रियतमा का वियोग असह्य हो गया। वे रात-दिन श्मशान में निवास कर उसका स्मरण करने लगे। महायोगी गोरखनाथजी ने योगमाया प्रकट की। अपनी मिट्टी की डिबिया पटक कर रोने लगे। भर्तृहरि ने समझाया कि मिट्टी का पात्र मिट्टी है। इसके लिए रोना कैसा। इच्छा हो तो सोने का पात्र बनवा दूँ। श्रीगोरखनाथ ने कहा कि तुम ऐसा नहीं कर सकते, पर मैं तुम्हारी स्त्री को जीवित अवस्था में तुम्हारे सामने प्रकट कर सकता हूँ। उन्होंने अनेक पिंगलाएँ प्रकट कीं। भर्तृहरि ने कहा कि जिस योगविद्या से अनेक पिंगलाएँ प्रकट हो सकती हैं, उसे ही ग्रहण करना श्रेयस्कर है। ऐसा विचार कर उन्होंने गोरखनाथजी से योगदीक्षा ली। इस कथा का उद्देश्य पिंगला का निर्दोष जीवन-चरित्र ही प्रकट करना मात्र है, जिसकी अश्वशाला के दरोगा-निरीक्षक में आसक्ति से चक्रवर्ती सम्राट् भर्तृहरि को राज्य का परित्याग कर योग का वरण करना पड़ा था।

भर्तृहरि के पिता गन्धर्वसेन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनका विवाह ताम्रसेन की कन्या महेन्द्रलेखा से हुआ था, जिससे उत्पन्न पुत्र का नाम विक्रम था। मालिनी दासी से भर्तृहरि की उत्पत्ति कही जाती है। जैन साहित्य की परम्परा में मेरुतुंग के प्रबन्धचिन्तामणि (१३०४ ई.) में तथा

विक्रमचरित में उल्लेख है: भानु विजय मुनि के विक्रमप्रबन्धरास के अनुसार कंचनपुर के हेमरथ राजा तथा हेममाला रानी की पुत्री के पुत्र गन्धर्वसेन थे। वे बड़े सुन्दर थे, उन्हें देखकर स्त्रियाँ मतवाली हो जाती थीं। राजा ने उन्हें निर्वासित कर दिया। गन्धर्वसेन ने वन में निवास कर योगसिद्धि प्राप्त की। वे हेमवर्धन नगर में पहुँचे। वहाँ के राजा रत्नसेन और रत्नावली ने अपनी पुत्री का विवाह गन्धर्वसेन से कर दिया। गन्धर्वसेन की एक पहली रानी का नाम रूपसुन्दर था। उससे भर्तृहरि पैदा हुए। पद्मावती के गर्भवती होने पर रत्नसेन को ज्योतिषियों ने बताया कि तुम्हारा उत्तराधिकारी पद्मावती का पुत्र होगा। राजा ने उसको बुलवाया और होने वाले पुत्र को मारना चाहा। पद्मावती की परिचारिका चन्दा मालिन ने आश्वासन दिया कि मैं तुम्हारे पुत्र को पहले से ही ले जाऊँगी और उसका पालन-पोषण करूँगी। वह उसे उज्जैन ले गयी। अब तक भर्तृहरि वहाँ के राजा थे। पद्मावती का पुत्र विक्रम, जो भर्तृहरि का सौतेला भाई था, उज्जैन का राजा हुआ। एक दूसरा आख्यान यह भी उपलब्ध होता है कि गन्धर्वसेन की दो रानियाँ थीं। उनके नाम थे धीमती और श्रीमती। धीमती के पुत्र का नाम भर्तृहरि था और श्रीमती के पुत्र परम शैव विक्रम थे। भर्तृहरि की पत्नी का नाम पिंगला था। पिंगला के पर पुरुष में आसक्त होने पर भर्तृहरि जो पहले से ही योगी के सम्पर्क में थे, राज्य का त्याग कर योगी हो गये।

महाराजा भर्तृहरि के योगवरण के सम्बन्ध में यह मत परम्परा से मान्य होता चला आ रहा है कि राजकार्य-संचालन में उन्हें छोटे भाई विक्रम से बड़ी सहायता मिलती थी। विक्रम के सबल कन्धों पर शासन का भार रख कर वे निश्चिन्त होकर भोग विलास में मग्न थे। वे अपनी पटरानी सामदेवी अथवा पिंगला के सौन्दर्य पर रीझकर पूर्ण विलासी हो गये थे। राज्य पर शत्रुओं के आक्रमण का भय उत्पन्न होने पर भी अपनी विलास-प्रियता से क्षणमात्र के लिए भी विमुख न हो सके। वे पिंगला को प्राणों से भी अधिक चाहते थे। उनके छोटे भाई विक्रम कभी नहीं चाहते थे कि पिंगला के वश में रहकर भर्तृहरि राज-कार्य से उदासीन रहें। उन्होंने मनाने का प्रयत्न किया, पर भर्तृहरि ने उनकी बात अनसुनी कर दी। विक्रम ने उनकी विलासी मनोवृत्ति के प्रति विद्रोह किया। इसी बीच में एक विचित्र घटना का उन्हें पता लगा कि पिंगला अश्वशाला के अध्यक्ष-निरीक्षक (दरोगा) में आसक्त है। उन्होंने भर्तृहरि को सचेत करना चाहा, पर पिंगला के कहने पर उन्होंने विक्रम को राज्य से बाहर कर दिया।

नित्य प्रति भर्तृहरि की आसक्ति पिंगला में बढ़ती ही गयी। यौवन के वसन्त का विहार होता ही रहा। महाराजा भर्तृहरि की शृंगार-पिपासा में किसी प्रकार का अभाव नहीं था पर कभी-कभी उनका मन चिन्तित हो उठता था कि संसार नश्वर है, अनित्य है, दुःखालय है, इसके समस्त पदार्थ बन्धनकारी हैं। निस्सन्देह संसार और उसके पदार्थों से परे भी किसी की सत्ता है, जो शाश्वत शान्ति और परमानन्द की निधि है। यही जीव का परम ध्येय है।

भर्तृहरि के जीवन पर अमर फलवाली घटना का असाधारण प्रभाव पड़ा। एक बार घोर तप के परिणामस्वरूप एक योगी ने दैव कृपा से अमरफल की प्राप्ति की। उस को खाने पर शरीर में यौवन का कभी क्षय नहीं होता और शरीर अमर हो जाता है। योगी ने सोचा कि इस फल के एकमात्र अधिकारी महाराजा भर्तृहरि हैं। उनके अमर जीवन से प्रजा शाश्वत राज्य-सुरक्षा का अनुभव करेगी। योगी ने राजप्रासाद

में प्रवेश किया। उसके हाथ में अमरफल था। श्रृंगार तथा भोग, विलास और वैभव के वातावरण में वैराग्य, तप और त्याग के मूर्तरूप योगी को देखकर राजा विस्मित हो उठे। उनका विवेक जाग उठा। योगी ने अमरफल दिया। योगी के जाने पर राजा ने सोचा कि पिंगला तो मेरे लिए प्राणों से भी अधिक प्रिय है, इसलिए इस फल का पात्र वही है। रानी ने अमर फल लेने पर मन में विचार किया कि अश्वशाला का अध्यक्ष मुझे बहुत चाहता है। उसके अमर होने पर विशेष सुख और शान्ति की प्राप्ति होगी। अश्वशाला के अध्यक्ष को पिंगला ने छिपे रूप से अमरफल दे दिया। अश्वशाला का अध्यक्ष एक वेश्या में आसक्त था। उसने वेश्या को अमरफल दे दिया। वेश्या ने विचार किया कि मेरा शरीर वैषयिक सुख में आबद्ध है। मैंने आज तक पाप ही पाप किये हैं। दूसरों की कामवासना की शान्ति में मैं आज तक सहायक बनी रही। मेरे अमरफल खा लेने से असंख्य जीव पतित होंगे। अगणित जन पाप के भागी होंगे। महाराजा भर्तृहरि प्रजापालक हैं, उनके राज्य में सुख और शान्ति है। अमरफल खाने के अधिकारी वे ही हैं। वह राजप्रासाद की ओर चल पड़ी। राजसभा में उसके उपस्थित होते ही स्तब्धता छा गयी। वेश्या ने स्वाभाविक ढंग से निवेदन किया कि महाराज! यह अमरफल है। राजा ने अमरफल पहचान लिया। उन्होंने वस्तुस्थिति का ठीक तरह पता लगाया। पिंगलारूपी नागिन का भीषण रूप उनके नयनों में नाच उठा। राजप्रासाद के वैभव उन्हें काट खाने लगे। शरीर के रोम-रोम में भयानक वेदना होने लगी। आँखों के सामने अन्धकार छा गया। वे कल्याण-मार्ग का चिन्तन करने लगे। उन्होंने विचार किया कि जीव हिंसा से निवृत्त रहना, परधन-हरण से दूर रहना, सत्य बोलना, समय पर यथाशक्ति दान देना, पर स्त्री की चर्चा में मौन रहना, तृष्णा के प्रवाह को रोक लेना, विनम्र रहना, प्राणीमात्र के प्रति दया करना, शास्त्रचिन्तन करना और नित्य नैमित्तिक श्रेयस्कर कर्म का आचरण करना ही वास्तविक कल्याण का पथ है—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
पवभीजरस्त्रोतेझ्ल्ङ्कू गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयशामेष पन्थाः॥ (नीतिशतक २६)

उनके मन में पिंगला के प्रति पूर्ण अनासक्ति का उदय हुआ। उन्होंने अपने मन को समझाया कि भगवान् शिव ही प्रेमास्पद हैं। उन्होंने कहा कि हे चित्त! मोह को छोड़ दो। जिनके मस्तकपर अर्धचन्द्र शोभित है, उन भगवान् शिव से प्रेम करो। गंगातट के वृक्षों के तले विश्राम करो। तरंगें, पानी के बुलबुले, बिजली की चमक, अग्नि की शिखा, सर्प और नदी के प्रवाह की तरह स्त्री भी क्षणस्थायी है। इन सभी वस्तुओं में आसक्त न होकर वैराग्य के पथ पर योगी होकर रहना चाहिए—

मोहं मार्जयतामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूड़ामणौ
चेतः स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासंगमंगी कुरु।
को वा वीचिषु बुद्‌बुदेशु च तडिल्लेखासु च स्त्रीषु च
ज्वालागेषु च पन्नगेषु च सरिद्विगेषु च प्रत्ययः॥ (वैराग्यशतक ५८)

उन्होंने अपने चित्त को स्थिर समाधि में प्रवेश करने की सत्प्रेरणा दी। उन्होंने समझ लिया कि

वास्तविक शान्ति का पथ वैराग्य है, मैंने आज तक नश्वर सुखों और वस्तुओं में अपना जीवन खो दिया। मैंने वह कार्य नहीं किया, जिसके लिए संसार में जन्म लिया। मैंने पिंगला को अपने प्राणों से भी प्रिय समझा, पर वह मुझ से अनासक्त होकर दूसरे के प्रेमपाश में आबद्ध हो गयी। विचित्र तो यह है कि वह दूसरा किसी और में आसक्त था। पिंगला को धिक्कार है, मुझे धिक्कार है, उस दूसरे पुरुष को धिक्कार है और काम को धिक्कार है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च, तं च, मदनं च, इमां च मां च॥ (नीतिशतक २)

महाराजा भर्तृहरि ने विवेकपूर्वक आत्मसम्बोधन किया कि जिसकी विषयभोगेच्छा-निवृत्त हो गयी, लोगों की दृष्टि में जिसका सम्मान भी न रह गया, जिसके समवयस्क मित्र स्वर्गवासी हो गये, जिसके मित्र भी नहीं रह गये, जो स्वयं छड़ी के सहारे उठता है, जिसके नेत्र में ज्योति भी नहीं रह गयी, उस (मनुष्य-) शरीर को धिक्कार है, जो अपने मरण से शंकित नहीं है। बहुत समय से सेवित विषय-भोग छूटेंगे, उनके वियोग में रंचमात्र भी संशय नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें पहले ही त्याग दे, क्योंकि स्वतः छोड़ने पर वे मन को बहुत सन्तापित करेंगे और जो इन्हें स्वयं त्याग देगा, वह परम शान्तिमय सुख प्राप्त करेगा—

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः।
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः॥
अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥ (वैराग्यशतक ९, १६)

भर्तृहरि ने मन में विचार किया कि जब तक अपना शरीर पुष्ट और स्वस्थ है, इन्द्रियों में शक्ति है, आयु भी जरा—(बुढ़ापा) ग्रस्त नहीं है, तब तक बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि अपने कल्याण का अच्छी तरह यत्न कर ले। घर में आग लगने पर कूप खोदना व्यर्थ होता है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयोनायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥ (वैराग्यशतक ८५)

भर्तृहरि ने वैराग्य लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। राजप्रासाद में हाहाकार मच गया। बड़े-बड़े विद्वानों और राजनीतिज्ञों ने वैराग्य की ओर से उनका मन फेरने का प्रयत्न किया पर भर्तृहरि अपने संकल्प

में अटल थे। महारानी पिंगला लज्जा और विषाद से काँप रही थी। उसने कहा कि 'प्राणनाथ। मैं आप के बिना जीवित नहीं रह सकती।' महाराज भर्तृहरि ने पिंगला को समझाया, 'माता! तू मेरी माता है, मेरे वैराग्य में सहायक होना तेरा धर्म है। पुनीत कर्तव्य है। शुभकार्य में बाधा नहीं उपस्थित करनी चाहिए।' भर्तृहरि उस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि योगसाधना और वैराग्य के पथ में स्त्री सबसे बड़ा बन्धन है। वे स्वर्णिम राजप्रासाद से बाहर निकल पड़े। राजा ने योगमार्ग पर जीवनयात्रा की। वे योग के सर्वश्रेष्ठ पथ पर—योगीराज के पद पर शोभित हो उठे।

योगीराज भर्तृहरि ने महाकाल परम शिव का स्तवन किया। भगवती शिप्रा के तट पर शिव-शिव कहते हुए वे अपने राज्य की सीमा से बाहर हो गये। महायोगी योगसिद्ध गोरखनाथ से दीक्षा ली, नाथयोग की साधना में प्रवृत्त हो गये। उनका कथन है—

सिधौ इहां कोई दूजा नाहीं ॥
ग्यान दृष्टि करि देखन लगा। हरि है सब घट माही।
जल थल माहीं जीव जन्त है। इन परि दया बिचारो।
सब घट व्यापक एक ब्रह्म है। काहूं को जिन मारो।
जहाँ था दोष दया तहँ उपजी। सहज सुरति अनुरागी।
गोरष मिल्या भरम सब भागा। सुरति सबद सूं लागी।
गुर सूं ग्यांन ग्यांन सूं बुधि भई। बुधि सूं अकल प्रकासी।
भनन्त भरथरी हरि पद परस्या। सहज भया अविनासी। (नाथसिद्धों की बानियाँ ६७६-७९)

स्वर्ण के अलंकारों के परिशोभित होने वाले शरीर में जटा, भस्म, मेखला, शृंगी, रुद्राक्ष, कन्था और कुण्डल से उन्होंने अपना योग-शृंगार किया। वे पवित्र क्षेत्रों, गिरिकन्दराओं और सघन वनों में रहने लगे। उनकी रसना शिव के पवित्र नाम-उच्चारण से धन्य हो गयी। उनके अधरों पर शिवनामामृततरंगिणी का नृत्य होने लगा। उन्होंने आत्मा के अभिन्न स्वरूप परमशिव का साक्षात्कार किया। उन्होंने ब्रह्मानुभूति प्राप्त की। योगीराज भर्तृहरि ने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि आशा नाम की एक नदी है, उसमें मनोरथरूपी जल भरा है, वह तृष्णारूपी तरंगों से पूर्ण है। प्रीति ही उसमें ग्राह-मगर है। अनेक तर्क ही उसमें पक्षी हैं। वह धर्मरूपी वृक्ष को ढाहने वाली है। उसमें मोहरूपी भौंरे हैं, इससे वह दुस्तर है, चिन्ता ही उसके तट हैं। उसके पार होकर मननशील योगी आनन्दित होते हैं—

आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी.
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥ (वैराग्यशतक ४३)

योगीराज भर्तृहरि ने अपने आपको धिक्कारा कि विषयों को हमने नहीं भोगा है, उन्होंने हमी को भोग डाला है, हमने तप नहीं किया, तपों ने ही हमें तप डाला है, काल का अन्त नहीं हुआ, उसी ने हमारा अन्त कर डाला है। हम जीर्ण हो चले पर तृष्णा का अभाव नहीं हुआ—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता,
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता,
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः। (वैराग्यशतक १२)

भर्तृहरि ने कहा कि मैंने योगसाधना में सिद्धि, सद्गुरु के उपदेश को जीवन में उतारने पर ही प्राप्त की है, इस सम्बन्ध में गुरु गोरखनाथजी के वचन प्रमाण हैं। न तो मेरे मन में कामिनी के प्रति राग है और न मुझे राज्यसुख की अपेक्षा है। ज्ञान ही हमारा खजाना है और मन और पवन ही हमारे हाथी घोड़ा हैं। उनके वचन हैं—

नहीं आऊकामंणी नहीं आऊँलो।
नहीं आऊराजभार लेबा तोर। टेक।
एवां नैरांकां कौंन बसेष। मारिबा नायक जमागं।
हूँ तोहि पूछूँ मारहा पढ़िया रे पण्डित।
कांई मरिबा ना लौ लागं।
मन पवन मार्हा हस्ती रे घोड़ा।
गिनान ते अषै भण्डार ।
बरले कांमणि षोलै बैठा। ताथै शरा डराऊँ।
बूढ़ा था सो बाला हूवा।
सतगुरु सबदूं राजाभरथरी सीधा रे।
गुरु गोरष वचन प्रवाणं जी। (नाथसिद्धों की बानियाँ ५९७-९९)

योगीराज भर्तृहरि ने शिवतत्त्वामृत का रसास्वादन किया। ज्ञानोदय ने उन्हें शिव के रूप में शान्ति का अधिकारी बनाया। संसार के आघात-प्रतिघात से दूर रहकर उन्होंने परमशिव की उपासना की। वैराग्य का अद्भुत सागर उड़ेल कर आध्यात्मिक चेतना को उन्होंने नया जीवन दिया। वे योगामृत पद में प्रतिष्ठित हो गये।

बीज नहीं अंकूर नहीं। नहीं रूप रेष आकार नहीं।
उदै अस्त तहां कथ्या न जाई। तहां भरथरी रह्या समाई॥ (नाथसिद्धों की बानियाँ ६१२)

योगीराज भर्तृहरि निरञ्जन-शून्य पद में संस्थित हो गये। उनके सिद्धान्त और साधना के परिशीलन से पता चलता है उन्होंने राज्य का परित्याग करने के बाद आजीवन वैराग्य की ही कठोरतम साधना की। उनके वैराग्यमय जीवन का उपाख्यान 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में वर्णित है कि सिद्धस्वरूप भर्तृहरि अपनी इच्छा से कपोतीवृत्ति का आश्रय लेकर बाजार की गलियों में दाने बीन कर चबा रहे थे, उसी समय राजा विक्रमादित्य ने उन्हें देख लिया। यद्यपि वे राजा के ज्येष्ठ भ्राता ही थे, तथापि सिद्ध रूप हो जाने के कारण राजा ने उन्हें पहचाना नहीं, इसलिए कह दिया, 'अहो! इसकी भी कोई माता है, जिसने ऐसे पुरुष को जन्म दिया, जो अपना पेट पालने में भी असमर्थ है?' यह सुनकर सिद्ध ने कहा, 'अहो ! उसकी भी जननी को

धिक्कार है, जो समर्थ होते हुए भी परोपकार करने में असमर्थ है।' महान् बुद्धिमान राजा ने जब इस प्रकार का विवेकपूर्ण वचन सुना, तब वे उन परम पुरुष को अपना ज्येष्ठ भ्राता जानकर स्वत: शीघ्र ही सवारी से उतर पड़े और उनके चरणों में विनत हो गये। उस समय भर्तृहरि ने राजा को उपदेश दिया। 'नाथसिद्धों की बानियाँ' संग्रह में विक्रम के प्रति उनकी सबदी है—

सुणि हो विक्रम ब्रह्मगियानं। देह विवरजित धरौ धियान।
उदै अस्त जहाँ कथ्यान जाइ। तहां भरथरी रह्या समाई॥
साधिबा एक पवन आरम्भ साधिबा।
छाड़िबा तो सकल बिकारं॥
रहिबा तौ निहि सबद की छाया।
सेइबा तौ निरञ्जन निराकारं॥ (नाथसिद्धों की बानियाँ ६१५, ६१८)

योगीराज भर्तृहरि ने दसों दिशाओं और तीनों कालों में परिपूर्ण, अनन्त, चैतन्यस्वरूप, अनुभवगम्य, शान्त और तेजोमय ब्रह्म की उपासना की। विरक्ति ही उनकी जीवन-संगिनी हो चली। महादेव ही उनके एकमात्र उपास्य देव थे। वे आशा की कर्मनासा से पार होकर भक्तियोग की भागीरथी में गोते लगाने लगे। वे शब्दविद्या के—नाद ब्रह्म की उपासना के तत्त्वज्ञ महान् दार्शनिक थे। उन्होंने शब्दब्रह्म की साधना की। उनका वैराग्यदर्शन परमात्मा के साक्षात्कार का पर्याप्य है। उन्होंने सप्त संष का वर्णन करते हुए कहा कि जो योगी इसका मर्म जान लेता है, वह साक्षात् निरञ्जन परब्रह्मस्वरूप हो जाता है। उन्होंने योगसाधनाविधि पर 'सप्तसंष' में यथेष्ट प्रकाश डाला है—

आदि संख का मूलंकार। अनली बाई ऊँकार। टेक।
पहला संख निरञ्जन देव। पाया ब्रह्मज्ञान का भेव॥
उलटि उजाई गगन कं चढ़ै। अनभै रहतां पिण्ड न पड़ै॥
दूजा संख निरालंम कथ्या न जांन। घरि सूरिज चन्द कै आन॥
चन्द सूरिज एकं लै बहै। तौ इन उपदेसैं क्या रहै॥
तीजा संख विचारह पाया। षेचरी मुद्रा त्यागंत माया॥
माया त्यागौ राषौ काल। उन उपदैसैं बंचिये ज़म काल॥
चौथा संष सन्तोष भणीजै। द्वादस अंगुल पवना पीजै॥
पीजै पवना बाजै बंस। तौ न पड़े काया न उड़ै हंस॥
पचमा संष बान्धि लै बाई। षटचक्र बेंधती आईं॥
पाया कंवल मयॅ दल सुष। तौ जनम जनम का गया दुष॥
छठा संष अकुलीन भणीजै। गुर प्रसादैं सिव सिव कीजै॥
सिव सिव करि निरारम्भ रहीजै। इन उपदेसैं जुगि जुगि जीजै॥
सातमां संष कन्द्रप होई। निद्रा तजी कालकौं जोई॥
काल तजी सिवसकती समि रहै। सो जोगी पंच भू आतमां गहै॥

सपत संष का जाणै भेव। सोई होइ निरञ्जन देव।
सपत संष भणत भरथरी जोगी। थिर होई कन्धा काया होई निरोगी॥

(नाथसिद्धों की बानियाँ ५८९, ५९६)

योगीराज भर्तृहरि ने साधना के क्षेत्र में प्राणायाम पर विशेष जोर दिया। शून्य पद में रमण करने और निरञ्जन निराकार परमेश्वर के चिन्तन और ध्यान की सीख दी। उन्होंने योग-साधना के पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान कर लोगों को सावधान किया कि सूर्य के उदय और अस्त से जीवन क्षीण हो रहा है। विविध कार्यों के भार से गुरुतर प्रतीत होने वाले अनेक व्यापारों से समय जाता जान नहीं पड़ता। जन्ममरणरूपी विपत्तियों को देखकर भी चित्त में भय नहीं होता। संसार मोहमयी मदिरा पीकर उन्मत्त हो गया है—

आदित्यस्यगतागतैरहरहस्संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभार गुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥ (वैराग्य शतक ७)

समस्त इन्द्रियजन्य विषयभोग के रसास्वादन में अनासक्त मनवाले प्राणी को ही भर्तृहरि ने योगी कहा है—

मन निरास सकल रसभोगी।
कहै भरथरी ते नर जोगी॥ (नाथसिद्धों की बानियाँ ६०७)

योगीराज भर्तृहरि ने महात्माओं और सन्तों के स्वभाव के सम्बन्ध में कहा कि जो मन, वचन और शरीर में पुण्यरूप अमृत से भरे रहते हैं, त्रिभुवन को उपकारों से तृप्त कर देते हैं और दूसरे के अल्पमात्र गुण को भी बढ़ाकर पहाड़ कर देते हैं, ऐसे हृदय में प्रसन्न रहने वाले सन्त बिरले ही हैं—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः तृप्तयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥ (नीतिशतक ७९)

जहाँ तक किसी योगमार्ग के प्रवर्तन का सम्बन्ध है, वहाँ तक यही मान्यता परम्परा से चली आ रही है कि गोरखनाथजी द्वारा स्वीकृत वैराग्य-पन्थ का प्रवर्तन योगीराज भर्तृहरि ने ही किया था। वैराग्यशतक के रचयिता भर्तृहरि ही निर्विवाद रूप से इस पन्थ के प्रवर्तक हैं। यह बात तो सर्वथा युक्तिसंगत ही है कि उनका सिद्धान्त था शैव योग का साधन-क्रम। वे महान् शिवयोगी थे, वैराग्य के मूर्तिमान प्रतीक योगी भर्तृहरि की उक्ति है कि हे काम! तू अपने धनुष की टंकार से अपने हाथों को क्यों थकाता है। अरी कोयल! अपनी मधुमयी कोमल कलरवलहरी से वृथा बक-बक क्यों कर रही है। हे बाले! तेरे अति स्निग्ध भोले-भाले, मधुर चंचल कटाक्षों से भी अब कुछ भी नहीं हो सकता है। मेरा चित्त चन्द्रशेखर भगवान् शिव के चरण-कमल के ध्यानरूप अमृत का आस्वादन कर चुका है—

रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटंकारितैः
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि।
बाले स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते। (वैराग्य शतक ९७)

योगीराज भर्तृहरि ने अपने आराध्य देव भगवान् शिव का स्तवन किया है कि जो अपनी जटा के भूषणस्वरूप चन्द्र की किरणों से समलंकृत है, जिन्होंने लीला ही लीला में चंचल कामदेवरूप शलभ को भस्म कर दिया, जो लोककल्याण में निरन्तर तत्पर है, जो अभ्यान्तर में पहले से ही भरे हुए मोहरूपी तिमिर-अज्ञान को नष्ट करने वाले हैं, वे योगेश्वर भगवान् शिव योगियों के हृदय में ज्ञान-प्रदीप के रूप में पूर्ण प्रकाशित-अभिव्यक्त हैं—

चूड़ोत्तंसितचारुचन्द्रकलिकाचंचच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रेस्फुरन्।
अन्तः स्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयन्
चेतः सद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः। (वैराग्य शतक १)

योगीराज भर्तृहरि के वैराग्य पन्थ में ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान और वीर्य को अधोगामी न बनाकर ऊर्ध्वस्थ करने पर बड़ा बल दिया गया है। एक सबदी में उनका कथन है—

राज गयाकू राजा झूरै बैद गया कूं रोगी।
कत गया कूं भामिनि झूरै, यूँ बिन्द गया कूँ जोगी। (नाथसिद्धों की बानियाँ ६११)

भर्तृहरि का स्पष्ट निर्देश है कि योगी को भूख-क्षुधा पर विजय प्राप्त करनी चाहिए तथा निद्रा को वशीभूत करना चाहिए और स्वप्न में भी वीर्य-बिन्दु का नाश नहीं होने देना चाहिए। इससे वह मृत्यु को वश में कर लेता है, बुढ़ापा उसे नहीं सताता है और वह नीरोग रहता है। यही योग है।

मारौ भूषर साधौ निन्द। सुपिनैं जाता राषौ बिन्द॥
जुरा मरण नहीं ब्यापै रोग। कहै भरथरी धनि धनि जोग। (नाथसिद्धों की बानियाँ ६३५)

उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ से सम्बद्ध की है। उन्हें जालन्धरनाथ का भी शिष्य कहा गया है। महाराष्ट्रीय नवनाथ-नवयोगेश्वरों की परम्परा में उन्हें योगेश्वर हरिनारायण का रूप कहा गया है। एक स्थल पर भर्तृहरि ने अपने आप को गोरखनाथ का दास, उनके योगमार्ग का अनुगामी घोषित करते हुए योगतत्त्व का चित्रण किया है—

अवधू जल बिन कँवल कँवल बिन मधुकर।
कोइल बोलै कण्ठ बिना॥
थल बिन मृघ मृघ बिन पारघ।
एक सर बध्धे पंच जना॥
नउ द्वार जड़ि ले कपाट। दसवैं द्वारैं सिव घरि बाट॥
एक लष चन्दा दोइ लष भांण।

बेघणा मृघ गगन अस्थान।
बेध्या मृघ न छाडै पास। भणत भरथरी गोरष का दास॥

(नाथसिद्धों की बानियाँ ६०५-६०६)

योगीराज भर्तृहरि ने 'नीतिशतक', 'शृंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' की रचना की। वे महायोगी होने के साथ-ही-साथ अप्रतिम साहित्य-मर्मज्ञ थे। ऐसा कहा जाता है कि 'भट्टि काव्य' भी महामति भर्तृहरि ही की रचना है। इस काव्य के रचयिता की स्वीकृति है कि मैंने इसको वलभीनरेश श्रीधरसेन के आश्रय में लिखा।

योगिराज भर्तृहरि अमर कहे जाते हैं। उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जनपद में भित्तरी (भर्तृहरि का प्राकृत रूप) ग्राम को भर्तृहरि की तपोभूमि कहा जाता है। उन्होंने उज्जयिनी से आकर यहाँ तप किया था। उनकी गुफा का भी इसी जनपद में निर्देश किया जाता है। उत्तर प्रदेश के ही (चरणाद्रि) चुनार के किले में उनका मन्दिर तप:स्थल के रूप में विद्यमान है। महाराज मानसिंह ने अपनी 'श्रीनाथतीर्थावली' में राजस्थान में चित्तौर दुर्ग के अन्तर्गत गोरक्षनाथजी की चरणपादुका से शोभित गोमुख तीर्थ का वर्णन करते लिखा है कि इससे ३६ किलोमीटर की दूरी पर पुरा नाम का ग्राम है। यहाँ भर्तृहरि ने प्राचीन काल में अत्यन्त दारुण तप किया था विघ्न के लिए आकाश से गिरती शिला को कनिष्ठा अंगुली पर छाते के समान धारण किया था। यहाँ शिवरात्रि को मेला लगता है—

इतोऽस्ति द्वादश क्रोशे पश्चाद्ग्रामः पुराभिधः॥
तत्र भर्तृहरिः पूर्वंतपस्तेपेऽतिदारुणम्।
अथ विघ्नाय नभसः पतन्तीं विपुलां शिलाम्॥
दधार कन्निष्ठाग्रे महाच्छत्रमिवाम्बरे। (श्रीनाथतीर्थवाली १७०-१७२)

यह भी मत प्रचलित है कि पंजाब में सरगोधा जनपद के 'सिद्ध करना' पहाड़ी पर उन्होंने समाधि ली थी। 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' ग्रन्थ में उल्लेख है कि पुराने उज्जैन में भर्तृहरि की गुफा में गोरखनाथ की मूर्ति के साथ गोपीचन्द की मूर्ति प्रतिष्ठित है और नीचे की गुफा मत्स्येन्द्रनाथ की स्मृति के रूप में दर्शनीय है। कहा जाता है कि इस गुफा से एक गुप्त पथ-भीतरी रास्ता वाराणसी तक गया है। सर्वसम्मत मत यह है कि भर्तृहरि की समाधि राजस्थान के अलवर राज्य के एक सघन वन में अब भी विद्यमान है। उसके सातवें दरवाजे पर एक अखण्ड दीपक जलता रहता है। उसे भर्तृहरि की ज्योति कहा जाता है।

योगीराज भर्तृहरि ने महायोगी गुरु गोरखनाथ से दीक्षित होकर सिद्ध कहलाने का सौभाग्य प्राप्त किया। उनकी शिष्य-परम्परा में सिद्ध रतननाथ की गणना की जाती है। भर्तृहरि (भरथरी) की जीवन-कथा गाँव-गाँव में योगियों द्वारा गायी जाती है। सर्वसाधारण को उससे योगसाधना और वैराग्य की प्रेरणा मिलती है। भर्तृहरि ने लोक-मानस को जागृत कर कहा था—

भोगा मेघवितानमध्यंविलसत्सौदामिनीचंचला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीनीलाम्बुवद् भंगुरम्।

लीला यौवनलालसा तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं।
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विधध्द्वं बुधाः॥ (वैराग्यशतक ५२)

समस्त विषयसुख क्षणभंगुर हैं, यह जान कर निरुपम सुख की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास करना चाहिए। हे ज्ञानियों! शब्द-स्पर्श-रूपरस और गन्ध-जन्य इन्द्रियविषयक भोग उसी तरह चंचल और क्षणिक हैं, जिस तरह मेघसमूह में चंचल दामिनी चमकती और नष्ट हो जाती है। भोग विद्युत् के समान चंचल हैं, इसी तरह आयु-जीवन वायु द्वारा विघट्टित बादल में स्थित जलकण के समान विनश्वर है। प्राणियों की यह लालसा कि यौवन सदा बना रहे, चंचल है। इन सब बातों का अच्छी तरह विचार कर यथाशीघ्र धैर्यसमाधियुक्त प्रयासपूर्वक योगसाधना में ही लग जाना चाहिए।

योगीराज भर्तृहरि ने योगपरक परमार्थ की व्याख्या में कहा था—

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमार्थनीयम्॥ (वैराग्यशतक ७२)

भगवान् सदाशिव की भक्ति हो, हृदय में जन्म-मरण का भय न हो, बन्धुओं के प्रति असत्-सम्बन्ध-स्नेह न हो, मन काम-विकार से रहित हो, जीवन असंग हो और एकान्त वन में निवास हो, मन में समस्त विनश्वर और असत् वस्तुओं तथा सम्बन्धों के प्रति अनासक्ति का भाव हो, तो इससे बढ़ कर परमार्थ स्वरूप वैराग्य दूसरा हो ही क्या सकता है।

योगीराज भर्तृहरि की जीवन-कथा भारतीय ही नहीं, विश्व के अध्यात्म साहित्य के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अंकित है। वे जीवन्मुक्त परमार्थयोगी थे। वैराग्यरस की विनिष्पन्न समाधि में स्थित योगीराज भर्तृहरि नवनाथों में नित्यमुक्त परमात्मयोगी हैं। वे योगसिद्ध अमर नाथयोगी हैं।

योगवाणी, 'नाथसिद्धचरित' विशेषांक, जनवरी, १९८४ से संकलित।

□

योगीराज बाबा गम्भीरनाथ

योगीराज बाबा गम्भीरनाथजी सिद्ध पुरुष थे। उन्होंने हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग के क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथजी की वाणी से आध्यात्मिक जीवन और साधना की प्रेरणा प्राप्त की कि अहंकार तोड़ना चाहिए, नष्ट कर देना चाहिए। सद्गुरु की खोज करनी चाहिए। योगमार्ग की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। बार-बार मनुष्य का जन्म नहीं मिलता, इसलिए सिद्ध पुरुष का सत्संग करना चाहिए—

आप भाँजिबा सतगुर षोजिबा। जोगपन्थ न करिबा हेला।

फिरि फिरि मनिषा जनम न पाइबा। करिलै सिध पुरिस सूं मेला। (गोरखबानी सबदी २०३)

नाथयोग परम्परा में इधर सात-आठ सौ वर्षों में उनके ऐसे योगी का दर्शन प्रायः नहीं हुआ था। निस्सन्देह योगीराज महात्मा गम्भीरनाथ पतञ्जलि और गोरखनाथजी के समन्वयात्मक संस्करण थे। ऋद्धियों और सिद्धियों ने उनके चरणचिन्तन को अपना सौभाग्य-सिन्दूर समझा। वे शान्ति और गम्भीरता के उज्ज्वलतम रूप थे। बड़े-बड़े सन्तों, महात्माओं और योगियों ने उनके चरणों में अपनी श्रद्धा समर्पित कर मोक्ष और आत्मकल्याण का विधान प्राप्त किया था। हिमालय से कन्या अन्तरीप तक के भूमिभाग में बीसवीं शताब्दी में इतने बड़े योगी का दर्शन दुर्लभ था। उन्होंने मानवता को योगशक्ति से सम्पन्न किया। उन्होंने योगब्रह्म शिव का साक्षात्कार लाभ किया। भारत के प्रायः समस्त तीर्थों में असंख्य लोगों को अपनी चरणधूलि प्रदान कर योगीराज गम्भीरनाथ ने उनकी (तीर्थों की) महिमा में विशेष अभिवृद्धि की। माना, योगीराज का प्राकट्य उस समय हुआ था, जब भारत विदेशी शक्ति की अधीनता में था, पर योगीराज गम्भीरनाथ के लिए भौतिक जगत् की पराधीनता का कोई महत्त्व ही नहीं था। वे तो जागतिक प्रपंच से अतीत थे। वे रहस्यपूर्ण ढंग से आध्यात्मिक क्रान्ति का सृजन कर रहे थे। विदेशी शासन को निकाल कर बाहर करने के लिए बंगाल तथा अन्य प्रान्तों में सशस्त्र राजक्रान्ति की योजना कार्यरूप में परिणत हो रही थी। महात्मा गम्भीरनाथजी ने राजनीतिक क्रान्तिकारियों की आध्यात्मिक पिपासा तृप्त की। अगणित बंगीय युवकों ने उनके पथ-प्रदर्शन में गम्भीर, अखण्ड और शाश्वत स्वतन्त्रता-ज्योति-आत्मशक्ति का दर्शन किया।

योगीराज बाबा गम्भीरनाथ ने सिद्धयोगपीठ-गोरखनाथजी की तपोभूमि गोरखपुर को अपनी तपस्या से अक्षय समृद्धि प्रदान की। वे निरन्तर योगस्थ थे। गीता के योगसिद्धान्त में बड़ा विश्वास रखते थे। वे

अन्तरात्मा में स्वस्थ थे। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ योगी थे। उनके समकालीन महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी की मान्यता थी कि हिमालय के देश में-भारत देश में उनके ऐसा योगी कोई दूसरा नहीं है। महात्मा विजयकृष्णजी उनकी परम योगविभूति से प्रभावित थे। महात्मा गम्भीरनाथ की योग-साधना शैव दर्शन के सिद्धान्त की प्रतीक थी। उन्होंने द्वैताद्वैत-विवर्जित परमेश्वर अलख निरञ्जन शिव की उपासना की। शैव योगी होते हुए भी शुद्धसच्चिदानन्द तत्त्व के निरपेक्ष द्रष्टा थे। उनका योग गोरखनाथजी की योगपद्धति का अनुगामी था। महात्मा गम्भीरनाथ ने गोरखनाथजी की नाथयोग-साधना-पद्धति का बीसवीं शताब्दी में पूर्ण प्रतिनिधित्व किया और आजीवन अपने साम्प्रदायिक—नाथयोग-परम्परागत सिद्धान्त पर अडिग रहकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त किया। उन्होंने योग और ज्ञान का समन्वय किया।

योगीराज गम्भीरनाथजी के पूर्वाश्रम के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से कहना या लिखना आसान नहीं है। उनका जन्म विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे चरण में कश्मीर राज्य (प्रदेश) के एक गाँव में समृद्ध परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा साधारण ढंग की थी। बचपन से ही उनके जीवन में योगाभ्यास के साम्राज्य में प्रवेश करने के पहले विषय-सुख की सुविधा उपलब्ध थी, पर उनका ध्यान उसकी ओर तनिक भी नहीं था। पूर्वाश्रम के सम्बन्ध में वे पूछने पर कह दिया करते थे कि प्रपंच से क्या होगा। उनकी सांसारिक पदार्थों में तनिक भी आस्था नहीं थी। धन, परिवार आदि से वे स्वाभाविक रूप से विरक्त थे। जब गम्भीरनाथजी युवावस्था में प्रवेश कर रहे थे, उन्हें सूचना मिली कि गाँव में एक योगी का आगमन हुआ है। योगी ने श्मशान में अपना निवास चुना था। वे योगी से श्मशान में मिलने गये। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से कहा कि महाराज! घर पर मेरा मन नहीं लगता है। संसार के विषय-भोग मुझे काट खाते हैं। मैं योगाभ्यास करना चाहता हूँ। योगी नाथ सम्प्रदाय के थे। उन्होंने गम्भीरनाथ से कहा कि 'तुम गोरखपुर जाकर गोरखनाथ मठ के महन्त योगी बाबा गोपालनाथजी महाराज से योगदीक्षा लो। मैं तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम उच्चकोटि के योगी होगे।'

गम्भीरनाथजी योगी के आदेश से गोरखपुर के लिए चल पड़े। वे गोरखपुर मठ में आए। लोग उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उनके पास पर्याप्त रुपये थे, उन्होंने अच्छे से अच्छा रेशमी कपड़ा पहन रखा था। वे देखने में बड़े सभ्य, सौम्य और सुन्दर थे, महन्त गोपालनाथजी से मिलने पर उनके चरणों में उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। गोपालनाथजी महाराज ने नाथसम्प्रदाय के योग-मार्ग में उन्हें दीक्षित कर लिया। राजकीय वेश का परित्याग कर गम्भीरनाथजी ने कौपीन धारण कर योगसाधना के निष्कंटक राज्य में प्रवेश किया। गोपालनाथजी महाराज ने उनकी शान्त मुद्रा से प्रसन्न होकर 'गम्भीरनाथ' नाम प्रदान किया। निस्सन्देह वे गम्भीरता के परम दिव्य सजीव समुद्र ही थे। बाबा गोपालनाथजी की महती पुण्यमयी कृपा-दृष्टि प्राप्त कर, मठ में निवास कर वे योगाभ्यास करने लगे। उनकी गुरुनिष्ठा उच्चकोटि की थी। वे गुरु की प्रत्येक आज्ञा का पालन करते थे। उन्होंने बड़ी तत्परता और तपस्या से अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्व का निर्वाह किया। वे मौन रहा करते थे। सत्य के चिन्तन और मठ के आवश्यक कार्यों के समीचीन सम्पादन में लगे रहते थे। बाबा गोपालनाथ ने धीरे-धीरे उनको मठ के उपास्य की पूजा-अर्चा में नियुक्त करना आरम्भ किया। बाबा गम्भीरनाथ की उपस्थिति से मठ में शान्ति साकार हो उठी। उन्हें गुरु ने प्रसन्न

होकर पुजारी का कार्यभार सौंपा। इस प्रकार योगी गम्भीरनाथ के तपोमय साधना-जीवन में कर्मयोग और भक्तियोग के उदय ने ज्ञानयोग-परक अन्तरस्थ ज्योति के दर्शन का पथ प्रशस्त कर दिया। बाबा गोपालनाथजी की प्रसन्नता और कृपा से अभिभूत गम्भीरनाथ की प्रारम्भिक योग-साधना पर देवीपाटन के योगी शिवनाथ का भी अमित प्रभाव था।

गम्भीरनाथजी ने योग-साधना के लिए काशी की पैदल यात्रा की। वे वन मार्ग से बिना भूख-प्यास की चिन्ता किये चले जा रहे थे। उनका प्रभु की कृपा पर दृढ़ विश्वास था। तीसरे दिन वे भूख से नितान्त परिश्रान्त हो गये पर शेष शारीरिक शक्ति पर निर्भर होकर वे पुनीत महातीर्थ की ओर बढ़ते जा रहे थे। रास्ते में एक परिचित ब्राह्मण से उनकी भेंट हुई। वह उन्हें देखते ही सारी स्थिति समझ गया। निकटस्थ गाँव से दूध-चूरा लाकर भोजन करने का आग्रह किया। वह जानता था कि योगी गम्भीरनाथजी ने भोजन के सम्बन्ध में रास्ते में किसी से कुछ बातचीत न की होगी। गम्भीरनाथजी ने भगवत्कृपा समझकर भोजन कर लिया। काशी पहुँचने पर उन्होंने कुछ दिनों तक गंगाजी के एक निर्जन तटीय रमणीय स्थान में रहकर योगाभ्यास आरम्भ किया। वे नित्य गंगाजी में स्नान कर भगवान् विश्वनाथ का दर्शन करने जाया करते थे। भीड़ से बहुत दूर रहते थे, इसलिए भिक्षा माँगने नहीं जाते थे। उनकी त्यागमयी वृत्ति ने साधकों और जिज्ञासुओं को अपनी ओर खींच लिया। योगी गम्भीरनाथजी ने जनसम्पर्क को साधना का बहुत बड़ा विघ्न समझा। उन्होंने काशी को छोड़ दिया। वे प्रयाग आ गये। प्रयाग में गंगा-यमुना के पुनीत संगम की दिव्यता से सम्प्लावित झूसी तट की एक गुफा में रहकर वे तप करने लगे। दैवयोग से मुकुटनाथ नाम के एक नाथ-योगी ने उनके भोजन तथा सेवा आदि की व्यवस्था की। बाबा गम्भीरनाथजी अनवरत रात-दिन उस गुफा में योगाभ्यास करने लगे। इस प्रकार वे प्रयाग में तीन साल तक रह गये। उनका आध्यात्मिक स्तर उच्च तल पर पहुँच गया। उन्होंने महती योगशक्ति प्राप्त की। महायोगी गोरखनाथ के सिद्धान्त में उन्हें आत्मप्रकाश मिला—

ग्यान सरीखा गुरु न मिलिया चित्त सरीखा चेला।
मन सरीखा मेलू न मिलिया तीथैं गोरख फिरै अकेला॥ (गोरखबानी सबदी १८९)

'ज्ञान के समान गुरु नहीं मिला, न चित्त के समान चेला मिला। इसलिए गोरख अकेला फिरते हैं।'-गम्भीरनाथजी की स्मृति में यह कथन ज्योतित हो उठा। उन्होंने परिव्राजक-जीवन में प्रवेश किया। उन्होंने पूरे छः साल तक परिव्राजक जीवन का रसास्वादन किया। वे प्रायः पैदल भ्रमण करते थे। उन्होंने कैलाश, मानसरोवर, अमरनाथ, द्वारिका, गंगासागर तथा रामेश्वरम् आदि तीर्थों की परिक्रमा चार साल में पूरी की और अमरकण्टक पर अधिक समय तक रह गये। नर्मदा-परिक्रमा के समय उनके जीवन में एक विलक्षण घटना घटी थी। यह उनकी अपार योगशक्ति और तपस्या की परिचायिका है। गम्भीरनाथजी नर्मदा की परिक्रमा कर रहे थे। एक तटीय रम्य स्थान में उनका मन लग गया। वहाँ एक कुटी थी। गम्भीरनाथजी ने उस कुटी में निवास किया। पहले दिन उन्हें एक बहुत बड़ा साँप दीख पड़ा। वह उनका दर्शन कर अदृश्य हो गया। दूसरे और तीसरे दिन भी प्रभातकाल में गम्भीरनाथजी ने उसको देखा। उन्होंने इस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। वे अपने गम्भीर चिन्तन में तल्लीन थे। तीसरे दिन कुटी में रहने वाला एक ब्रह्मचारी, जो कुछ दिनों के लिए बाहर था, आ गया। वह उसी कुटी में बारह साल से निवास कर रहा था। वह गम्भीरनाथजी

के आगमन से बहुत प्रसन्न हुआ, उसने आपबीती सुनायी कि मैं इस कुटी में बारह साल से निवास करता हूँ। इसी के निकट एक बहुत बड़े महात्मा सर्पवेश में रहते हैं, उन्हीं के दर्शन के लिए मैं ठहरा हूँ। योगीराज गम्भीरनाथजी ने सर्प-दर्शन की बात उससे कही। वह ब्रह्मचारी आश्चर्य-चकित हो गया। उसने उनसे कहा कि महाराज! आपका तपोबल स्तुत्य है। जिस कार्य को मैं बारह साल में भी न कर सका, वह बिना किसी प्रयास के आपने कर दिखाया। आप धन्य हैं कि सर्प-वेश में रहने वाले महात्मा ने तीन दिनों तक आप पर कृपा-दृष्टि की। गम्भीरनाथजी ने नर्मदा-परिक्रमा समाप्त की।

संवत् १९३७ वि. में योगी गोपालनाथजी ने शिवधाम प्राप्त किया। गम्भीरनाथजी ने परिभ्रमण-काल में इस घटना को सुना। वे गुरु के प्रति आदर प्रकट करने के लिए गोरखपुर आए। तत्कालीन महन्त बलभद्रनाथजी के विशेष आग्रह पर वे कुछ दिनों तक मठ में रह गये। उसके बाद वे बिहार प्रान्त के गया जनपद के कपिलधारा स्थान में आकर तप करने लगे। गया नगर से थोड़ी दूर पर अत्यन्त शान्त, रमणीय, निर्जन कपिलधारा स्थान में गम्भीरनाथजी ने तब तक तप करने का निश्चय किया, जब तक अवधूत-अवस्था की प्राप्ति न हो जाती। अक्कू नाम के एक व्यक्ति ने उनके चरणों में श्रद्धा अर्पित की और उनके भोजन आदि की व्यवस्था तथा सेवा का सहज अधिकार प्राप्त कर लिया। योगीराज गम्भीरनाथजी के पास कौपीन, एक कम्बल और खर्पर के सिवाय कुछ भी नहीं था। कुछ दिनों के बाद नृपतिनाथ नाम के एक श्रद्धालु योगसाधक ने अक्कू का कार्य हल्का कर दिया। नृपतिनाथजी ने योगी गम्भीरनाथ की सेवा में बड़ी तत्परता दिखायी। योगीराज गम्भीरनाथ की प्रसिद्धि बड़ी तेजी से बढ़ने लगी। वे सदा शान्त चित्त से ध्यानस्थ रहा करते थे। मौन उनकी वाणी का अलंकार था। संकेत उनके भावों का प्रहरी था। निर्जनतामयी योगसाधना ही उनकी जीवन-संगिनी थी। प्रकृति की कमनीय कान्ति से सम्पन्न कपिलधारा पहाड़ी की दिव्यता उनकी योगलीला की रंगभूमि थी। रात में दूसरी पहाड़ियों पर तप करने वाले सिद्ध महापुरुष और योगीजन उनका दर्शन करने तथा सत्संग प्राप्त करने आया करते थे। गया के एक धनी पण्डा माधवलाल ने उनके आशीर्वाद से एक गुफा का निर्माण कराया। योगी गम्भीरनाथजी उसी गुफा में प्रवेश कर तप करने लगे। दर्शकों और मिलने वालों की भीड़ अपने आप कम होने लगी। गुफा में कोई दूसरा व्यक्ति नहीं प्रवेश कर सकता था। वे केवल ढाई सौ ग्राम दूध नित्य लेते रहते थे। प्रत्येक मंगलवार को थोड़ी देर के लिए गुफा के बाहर आकर दर्शकों और भक्तों को अपने दर्शन से तृप्त करते थे। तीन वर्षों तक उन्होंने यही क्रम रखा। उसके बाद वे प्रत्येक पूर्णिमा और अमावस्या को गुफा के बाहर आते थे। बारह साल के कठिन योगाभ्यास के बाद उन्होंने इस नियम को भंग कर दिया। उसके बाद वे तीन मास तक गुफा से बाहर नहीं आए। श्रद्धालुओं की विकलता बढ़ने पर उन्होंने दर्शन दिया। इस प्रकार कपिलधारा में उन्होंने अवधूत-अवस्था की प्राप्ति कर ली। उनकी पवित्र उपस्थिति से उस तपोभूमि में सत्य, शान्ति, अहिंसा और दिव्यता का साम्राज्य स्थापित हो गया।

कपिलधारा आश्रम में एक बार रात को कुछ चोर आए। उन्होंने आश्रम पर पत्थरों के टुकड़े बरसाये। योगिराज एक कम्बल ओढ़ कर कुटी के बाहर लेटे हुए थे। पत्थर के एक टुकड़े से उन्हें थोड़ी सी चोट आ गयी। योगी नृपतिनाथ तथा दूसरे भक्तों ने चोरों का पीछा करना चाहा। गम्भीरनाथजी ने चोरों से कहा कि

साधुओं को तंग नहीं करना चाहिए। उन्होंने बड़े प्रेम और मधुरता से कहा कि कुटी का दरवाला खुला हुआ है, तुम भीतर जाकर जो कुछ भी आवश्यक समझो, ले लो। चोर आश्चर्यचकित हो गये। वे बाबा के चरण में नतमस्तक हो गये। चोरों ने कहा कि 'महाराज! हम गरीब हैं, हमारे परिवार वाले कई दिनों से भूखे मर रहे हैं।' बाबा ने कहा कि 'वत्स! मैं तुम्हारी विवशता समझता हूँ। तुम जब चाहो, कुटी से आकर भोजन ले जा सकते हो। तुम्हें कोई न रोकेगा।' चोरों ने अपनी आवश्यकता के अनुसार थोड़ा-बहुत सामान ले लिया। बाबा की चरणधूलि मस्तक पर चढ़ाकर चल पड़े। दूसरी बार आश्रम में आने पर उनके जीवन में बड़ा परिवर्तन देखा गया। वे चोर नहीं, सत्यवादी हो गये। बाबा गम्भीरनाथजी के आशीर्वाद के रूप में उन्होंने चावल, कम्बल आदि सामग्री प्राप्त कर ली। गम्भीरनाथजी की करुणा ने उनकी कृतज्ञता को श्रद्धा और भक्ति में रूपान्तरित कर दिया। बाबा प्रेम, माधुर्य, अहिंसा और शान्ति के साकार-सजीव विग्रह थे।

बाबा गम्भीरनाथजी सिद्ध पुरुष थे, पर वे सिद्धि और चमत्कारों के प्रयोग से बहुत दूर रहते थे। शान्ति को ही वे बहुत बड़े चमत्कार की वस्तु स्वीकार करते थे। निःस्पृहता और निष्कामता में उनकी चित्तवृत्ति सदा रमण करती रहती थी। परिव्राजककाल में महाराणा उदयपुर तथा महाराजा कश्मीर, अनेक राजाओं ने बड़ी चेष्टा की कि योगीराज की चरणधूलि राजप्रासाद में पड़ जाए पर ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सका। एक बार तीर्थों का भ्रमण करते हुए वे उदयपुर गये। एक निर्जन एकान्त स्थान में मैदान में धूनी प्रज्वलित कर उन्होंने थोड़े समय के लिए निवास किया। उनके साथ में आठ-दस साधु पुरुष भी थे। एक दिन उस क्षेत्र में बड़े जोर की जलवृष्टि हुई। जिस स्थान में बाबा विराजमान थे, वहाँ वृष्टि नहीं हुई, बाबा खुले आसमान के नीचे निर्द्वन्द्व भगवान् के भजन में अपने शिष्यों के साथ तल्लीन थे। उनके दर्शन के लिए जनसमूह उमड़ पड़ा। यह समाचार जब उदयपुर के महाराणा को विदित हुआ तो उन्होंने बाबा को राजमहल में पधार कर दर्शन देने की प्रार्थना उनके चरणों में निवेदित करायी। सारी चेष्टाएँ निष्फल हो गयीं। योगीराज ने राणा के महल में जाना अस्वीकार कर दिया। महाराणा दर्शन के लिए बड़े उत्सुक थे, वे स्वयं सेवोपयोगी श्रद्धामय उपहार लेकर योगीराज से मिलने चल पड़े। निष्किंचन संन्यासी के लिए राजदर्शन विहित नहीं है। महाराणा का आगमन सुनकर योगीराज गम्भीरनाथ ने अपना आसन समेट लिया और शिष्यों के साथ दूसरे स्थान के लिए प्रस्थान कर दिया।

बाबा के प्रसिद्ध सेवक माधवलाल पण्डा ने बड़ा प्रयत्न किया कि एक क्षण के लिए भी योगीराज मेरे घर पर पधारें, पर गम्भीरनाथजी अपने नियम पर अडिग रहे। एक बार उनका निजी सेवक, जो गया जनपद में तप करते समय महाराज की सेवा में समर्पित था, बीमार पड़ गया। उसका भाई मुन्नी दौड़ता हुआ बाबा के पास आया। उसने आँखों में आँसू भरकर कहा कि महाराज! अक्कू का अन्तिम समय है, उसे जीवन प्रदान कीजिए अथवा चलते समय उसे अपनी चरण-धूलि से आशीर्वाद दीजिए। वह आप की चरणधूलि के लिए विकल है। करुणा-समुद्र, परम शान्तिमय बाबा गम्भीरनाथजी आसन से उठ बैठे। वे अक्कू के घर आए, उसका शरीर ठंडा हो रहा था। उसके प्राण निकलने वाले ही थे कि बाबा का दर्शन करते ही अक्कू की चेतना लौट आयी। बाबा ने उसे जीवन प्राण दिया। स्वस्थ होने पर वह बाबा की सेवा में संलग्न हो गया।

जिस समय योगीराज बाबा गम्भीरनाथजी गया जनपद की कपिलधारा पहाड़ी पर तप कर रहे थे, उसी समय महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी आकाश गंगा पहाड़ी पर अपने कुछ भक्तों के साथ साधना में तल्लीन थे। वे बाबा गम्भीरनाथजी की योगशक्ति से बहुत प्रभावित थे। उनके चरणों में गोस्वामी महोदय की अडिग श्रद्धा थी। वे कभी-कभी योगीराज का दर्शन करने कपिलधारा आया करते थे और प्रायः आधी रात के समय पधार कर दो-एक घंटे उनके सम्पर्क में रहकर सत्संग और भजन की सात्विकता और मधुरता का आस्वादन करते थे। योगीराज गम्भीरनाथ आधी रात में सितार बजाकर भजन गाया करते थे। उनकी संगीत-माधुरी और सितारवादनकला से जीव-जन्तु दिव्य प्रेमोन्माद में पूर्ण अहिंसक बनकर उनकी चरण-धूलि से अपने-आप को परम तृप्त मानते थे। कभी-कभी कपिलधारा पहाड़ी की चोटी पर गम्भीरनाथजी के सितार और भजन से आकृष्ट होकर आधीरात में प्रेमोन्माद में विह्वल होकर महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी उनका दर्शन करने आया करते थे। एक दिन रात की निर्जनता में बाबा गम्भीरनाथजी पहाड़ी पर सितार बजाते हुए घूम रहे थे। भगवान् के चरण में हृदय का मधुर संगीत समर्पित कर रहे थे। चारों ओर ज्योत्स्ना फैली थी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी ने शिष्यों से कहा, 'अहा! कितना मधुर संगीत बाबा गम्भीरनाथ अपने आराध्य देव के चरणों में अर्पित कर रहे हैं। बाबा साक्षात् प्रेम-रूप हैं। ऐसे योगी का दर्शन भारतवर्ष में इस समय दुर्लभ है। बाबा में सृष्टि, स्थिति और प्रलय की शक्ति है। वे क्षणमात्र में संसार का सृजन और संहार कर सकते हैं। उन्होंने प्रेम का माधुर्य इस तपोभूमि में भर दिया है।' विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य मनोरंजन ठाकुर ने लिखा है, 'जन्तु-पूर्ण गया के पर्वत पर कपिलधारा के शिखर पर बैठकर बाबा गम्भीरनाथजी रात में सितार बजाकर भजन करते थे और आकाश-गंगा की पहाड़ी से महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी अपने साथियों को छोड़कर वन, काँटा, कंकड़ की परवाह न करते हुए उन्मत्त होकर दौड़ते हुए वहाँ चले जाते थे। यह किसका प्रेम था, किसका आकर्षण था? ये लोग किस प्रेम में बँध गये थे? इस बन्धन का सूत्र कहाँ था? किस माली ने बीच में आकर दो हृदयों को इस प्रकार बाँध दिया था? इस पुण्य-कहानी के सुनने से भी धर्म की प्राप्ति होती है। क्षणभर के लिए हृदय विस्मित और स्तम्भित हो जाता है। पैसा नहीं, कौड़ी नहीं, मान-मर्यादा या रक्त-मांस का कोई सम्पर्क नहीं। किस वस्तु का सम्पर्क मनुष्य को इतना उन्मत्त कर देता है, जो भगवान् से प्रेम करता है, उसके लिए भक्त प्राणों का भी प्राण होगा ही, जो भक्त से प्रेम नहीं करता, भगवान् के प्रति उसका प्रेम होना कभी भी सम्भव नहीं। दो भक्तों का यह जो आलिंगन है, इसी के भीतर भगवान् का साक्षात् प्रकाश है।'

जिस समय बाबा गम्भीरनाथ कपिलधारा पहाड़ी पर तप कर रहे थे, उस समय एक बाघ उनके पास कभी-कभी आता। वह कुछ देर उनके सम्मुख बैठता और उसके बाद उनकी प्रदक्षिणा कर चला जाता। साधारण तौर पर वह ऐसे समय आता था, जब योगीराज के पास कोई दूसरा व्यक्ति या दर्शनार्थी न रहता। एक दिन दैवयोग से बाबाजी के पास कई सज्जन बैठे थे। कई सन्त पुरुष उपस्थित थे। उसी समय बाघ आया, उसको देख कर सभी लोग स्वभावतः घबड़ा उठे और भयभीत तथा हतबुद्धि होकर भागने को उद्यत हो गये। बाबा गम्भीरनाथ ने शान्त भाव से हाथ उठाकर आश्वासन के मृदु-गम्भीर स्वर में कहा, 'ये एक सिद्ध सन्त हैं। बाघ के वेश में आए हैं, किसी का अनिष्ट नहीं करेंगे, भय की बात नहीं है, आप लोग

निश्चिन्त बैठे रहें।' सभी लोग आश्चर्यचकित थे। बाघ बाबाजी के निकट बैठ गया। कुछ देर तक प्रशान्त भाव से योगिराज गम्भीरनाथजी को स्थिर नेत्रों से देखता रहा और दर्शन से तृप्त होकर धीरे-धीरे चला गया।

योगीराज गम्भीरनाथ सम्वत् १९५० वि. में कपिलधारा आश्रम से प्रयाग के कुम्भ मेला में पधारे हुए थे। उनकी गम्भीर मुद्रा और शान्ति तथा तप-माधुरी से दर्शकों का मन सहज ही में मुग्ध हो गया। प्रत्येक समय उनके निवास-स्थान पर दर्शकों की भीड़ लगी रहती थी। अपने शिष्यों के साथ महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी उनका दर्शन करने आए थे। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य मनोरंजन ठाकुर ने कुम्भ की एक घटना का वर्णन किया है। इससे बाबा गम्भीरनाथ की तपस्या और शान्तिमयी त्यागवृत्ति का पता चलता है। एक धनी व्यक्ति ने योगीराज के हाथ से सौ कम्बलों का वितरण कराना चाहा। बाबा उस समय गम्भीर चिन्तन में रत थे। थोड़ी ही देर के बाद उन्होंने आँखें खोलीं, अपने सामने कम्बलों का ढेर देखा। उन्होंने हाथ से वितरण का संकेत किया। क्षणमात्र में दीन-दुखियों और असहायों में ये कम्बल वितरित कर दिये गये। कुम्भ मेले से वे लोगों के विशेष आग्रह पर गोरखनाथ-मठ के अध्यक्ष का उत्तरदायित्व स्वीकार कर गोरखपुर आए और जीवन के अन्तिम क्षण तक उन्होंने अपना कार्य बड़ी सात्विकता और पवित्रता से सम्पादित किया। नाथ सम्प्रदाय के तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ योगी के रूप में उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। वे जीवन्मुक्त अवस्था में पहुँच गये थे। साधुमण्डली में वे सिद्ध पुरुष के रूप में विख्यात थे। गोरखनाथमठ में आगमन के बाद लोग उन्हें 'बूढ़ा महाराज' के विशेषण से समलंकृत कर विशेष श्रद्धा प्रकट करते थे। उनके आगमन से ऐसा लगता था मानो गोरखनाथ की तपोभूमि में हठ, लय और राजयोग ने ही त्रिमूर्ति शिव के रूप में प्रवेश किया हो।

गोरखपुर में गोरखनाथ के मठ में निवास-काल में एक बार उन्होंने अद्भुत चमत्कार दिखाया था। एक धनी परिवार की विधवा का इकलौता पुत्र लन्दन में बारिस्टर का प्रमाण पत्र प्राप्त करने गया था। चार माह तक उसके सम्बन्ध में माता को कोई समाचार नहीं मिला था। वह योगीराज गम्भीरनाथ के पास आयी। उस समय उनके पास स्थानीय राजकीय विद्यालय के प्रधानाध्यापक राय साहब अघोरनाथ अपने सहकर्मी अटल बिहारी गुप्त के साथ बैठे हुए थे। विधवा ने निवेदन किया कि महाराज मेरा पुत्र लन्दन में है। उसके मित्र का तार आया है कि वह वहाँ नहीं है। वह हम लोगों की आँख का तारा है। आप विदेश में उसकी रक्षा कीजिए। महाराज ने कहा कि मैं तो एक साधारण-सा मनुष्य हूँ। इस सम्बन्ध में क्या कर सकता हूँ। महिला उनके चरणों पर सिर रखकर फूट-फूट कर रोने लगी। उसकी ममता ने योगीराज के हृदय को द्रवित कर दिया। वे तो असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव करने वाले थे। बड़ी शान्ति के साथ वे कोठरी में चले गये। उन्होंने दरवाजा बन्द कर लिया। बुधवार था। आधे घण्टे बाद वे बाहर आ गये। लोगों ने देखा कि वे किसी गहरे चिन्तन में थे। उन्होंने विधवा से कहा कि तुम्हारा लड़का स्वस्थ और सुरक्षित है। वह सोमवार को पहुँच जाएगा।···अगले बुधवार को एक नौजवान राय साहब अधोरनाथ की कोठी पर उनको प्रणाम करने गया। दैवयोग से अटल बिहारी गुप्त उपस्थित थे। राय साहब ने कहा कि ये महाशय विधवा महोदया के पुत्र हैं, जो पिछले बुधवार को योगीराज के पास गयी थी। विधवा का पुत्र यह नहीं समझ सका कि किस विषय में बात हो रही है। दैवयोग से राय साहब नौजवान को साथ लेकर बाबा

का दर्शन करने गये। उस समय अटल बिहारी गुप्त भी साथ थे। नौजवान ने बाबा के चरण पर सिर प्रणाम किया। वह उनका दर्शन करते ही आश्चर्यचकित हो गया।

'आप कब आए?' उसने बाबा को देखते ही तत्काल प्रश्न किया। 'तो क्या तुम बाबा को जानते हो?' राय साहब अघोरनाथ ने बारिस्टर से पूछा। वह उनका विद्यार्थी रह चुका था। नौजवान ने बाबा से कहा कि मैं बम्बई में उतरते ही इम्पीरियल मेल से सवार हुआ, पर गाड़ी में आपको नहीं देखा। उसने राय साहब से कहा कि हमारे जहाज को बम्बई पहुँचने में एक दिन शेष रह गया था। मेरे कैबिन के सामने बाबाजी खड़े थे। भारतीय साधु को देखकर बातचीत करने की उत्सुकता हुई। मैंने अपने कैबिन के बाहर आकर बाबा से पाँच मिनट तक बात की। उसके बाद बाबा चले गये। न तो मैंने फिर इनको स्टीमर पर देखा और न ये रेलगाड़ी में ही दीख पड़े। अटल बिहारी गुप्त के पूछने पर कहा कि पिछले बुधवार की शाम की बात है। समय ठीक वही था, जब बाबा ने आधे घंटे के लिए कोठरी का दरवाजा बन्द कर लिया था। योगीराज बड़ी शान्ति से उसकी बातें सुन रहे थे। नौजवान को अपनी माता के बाबा से मिलकर समाचार पूछने का तनिक भी पता नहीं था, न तो वह यही जानता था कि अटल बिहारी और राय साहब के सामने कितनी महत्त्वपूर्ण घटना घट चुकी थी। इस घटना का विवरण अटल बिहारी गुप्त महोदय ने अपनी बंगला पुस्तक 'मृत्यु और पुनर्जन्म के बाद' में विस्तार से दिया है। बाबा गम्भीरनाथ की साधना, न जाने, कितने यौगिक चमत्कारों से भरी पड़ी है।

सम्वत् १९७३ वि. की बात है। गोरखनाथ मठ में वे एक दिन बैठकर शिष्यों और भक्तों से बात कर रहे थे। उस समय प्रथम योरपीय महायुद्ध चल रहा था। एक भक्त ने बाबा से पूछा कि महाराज! यह युद्ध कब समाप्त होगा? बाबा ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया कि यह युद्ध एक-दो साल में समाप्त हो जाएगा, पर थोड़े समय के बाद एक विश्वव्यापी महायुद्ध का आरम्भ होगा, जिसमें विश्व के सारे राष्ट्र किसी-न-किसी रूप में भाग लेंगे। इस युद्ध का जगत् की गति-विधि पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। एक भक्त ने साहसपूर्वक पूछा कि भारत का क्या होगा? बाबा गम्भीरनाथजी ने कहा कि हिन्दुस्तान का भला होगा, अच्छा ही होगा। योगीराज की दोनों बातें सत्य हुईं। वे वाक्सिद्ध महायोगी थे।

एक बार गम्भीर चिन्तन की मुद्रा में गोरखनाथ मन्दिर के ठीक सामने एक चबूतरे पर बैठे हुए थे। उनके पास एक बंगाली शिक्षित शिष्य भी थे। थोड़ी देर में एक रूपमती महिला गाड़ी से उतर कर मन्दिर में आयी। वह कीमती कपड़ों में सज्जित थी। भीतर जाकर उसने देवता के पादपद्म में श्रद्धा समर्पित की, प्रणाम किया। उसके बाद वह बाबा के पास आयी। उसने उनकी चरण-धूलि मस्तक पर चढ़ायी और गाड़ी में बैठकर चली गयी। देखने में वह बड़ी शिक्षित और सभ्य थी। योगीराज के एक शिष्य को ऐसा लगा कि वह वेश्या है। वह यह देखकर आश्चर्य में पड़ गया कि मन्दिर में एक वेश्या ने किस तरह प्रवेश किया। महाराज गम्भीरनाथजी ने शिष्य के मन की बात समझ ली। बड़ी करुणा और मधुरता से पूर्ण वाणी में महाराज ने कहा कि वह हिन्दू है, हिन्दू होने के नाते उसे भी मन्दिर में जाकर श्रद्धा समर्पित करने का पूरा-पूरा अधिकार है। निस्सन्देह सन्त की दृष्टि में पापी-पुण्यात्मा का भेद नहीं रह जाता है। वे तो केवल कृपा करना और आशीर्वाद देना ही जानते हैं।

एक बार गोरखनाथ-मन्दिर में कुछ ब्राह्मणों को भोजन पर आमन्त्रित किया गया था। यथावश्यक भोज्य सामग्री तैयार कर ली गयी, पर जितने ब्राह्मण निमन्त्रित थे, उनसे दुगने लोग अनिमन्त्रित आ पहुँचे। भोजन के प्रबन्धक तथा अन्य शिष्य और सेवक इस संख्या-वृद्धि से चिन्तित हो उठे, भोजन कराने का समय भी निश्चित ही था, इसलिए उस थोड़े समय में दुबारा भोज्य-सामग्री सिद्ध करने में बहुत विलम्ब होता। प्रबन्धक ने योगीराज गम्भीरनाथजी के चरण में इस सम्बन्ध में चिन्ता निवेदित की। बाबा ने नयी चादर से सारी सामग्री ढकवा दी और एक किनारे से उसे परोसने का आदेश दिया। सभी ब्राह्मणों ने अच्छी तरह भोजन किया और तृप्त हो गये। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उनके भोजन कर लेने पर भी पर्याप्त सामग्री बची रह गयी। योगीराज गम्भीरनाथ सिद्धियों के स्वामी थे, यद्यपि वे चमत्कार और प्रदर्शन से बहुत दूर रहते थे।

एक बार आम के मौसम में अनके अभ्यागतों को आम खाने के लिए गोरखनाथ-मन्दिर में आमन्त्रित किया गया। निमन्त्रित लोगों के अतिरिक्त बहुत से लोग बिना बुलाये ही आ गये थे। आम सीमित संख्या में ही थे और लोगों के आने पर बाजार से आम मँगाने में विलम्ब होना स्वाभाविक था। बात महाराज गम्भीरनाथजी तक पहुँच गयी। उन्होंने सारे आम नयी चादर से ढकवा दिये और आदेश दिया कि एक किनारे से निकाल-निकाल कर लोगों को खाने के लिए आम दिये जाएँ। सभी लोग आम खाकर तृप्त हो गये और अप्रत्याशित रूप से पर्याप्त संख्या में आम बच गये।

सिद्ध पुरुष बाबा सुन्दरनाथजी योगीराज गम्भीरनाथ के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे और उनकी सिद्धियों के प्रति उनके हृदय में विशेष आदरभाव था। नाथयोगी बाबा सुन्दरनाथ अपार योगसिद्धियों और साधन-सम्पत्ति के स्वामी थे। पहले वे कर्नाटक प्रदेश के मैंगलोर के कदरीमठ के महन्त थे, जहाँ मत्स्येन्द्रनाथ आसन और नाथ-पादुका की पूजा होती है। एक दिन वे अचानक अदृश्य हो गये। लोगों को उनका दर्शन बदरीनाथ धाम में भगवती अलकनन्दा के तट पर तप में तत्पर रहते हुआ था। बदरीनाथ-मन्दिर के कपाट शीतकाल में बन्द हो जाने पर भी वे सिद्ध अवधूत दिगम्बर योगी अलकनन्दा के तट पर विकट हिमपात के वातावरण में योगसाधना और तपस्या में प्रवृत्त रहते थे। ग्रीष्मकाल में बदरीनाथ-मन्दिर का पट खुलने के समय दर्शनार्थियों और श्रद्धालुओं को उनका यहीं तपस्वी वेश में दर्शन होता था। वे कभी-कभी आबू पहाड़ पर भी आते थे। वे सदा समाधि में मग्न रहते थे। एक बार कुम्भ मेले में नागा लोगों ने उनका सिर फोड़ दिया था, रक्तपात होते रहने पर भी वे इस तरह समाधिमग्न थे कि इसका उन्हें पता ही नहीं चला। वे १८९६ ई. के श्रावण में गोदावरी के कुम्भ मेले में गये थे। नासिक से जबलपुर होते हुए वे काशी पधारे थे और काशी से गोरखपुर आए थे। वे बाबा गम्भीरनाथ का दर्शन कर परमानन्द का अनुभव करते थे। दोनों एक-दूसरे से कुछ न बोलते थे, न कहते थे। उनमें अन्तर्वार्तालाप चलता रहता था। वे बाबा का दर्शन करने, कहा जाता है, गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर में दो बार आए थे। कभी-कभी उनका दर्शन हरिद्वार के उस पार चण्डी पहाड़ी की तलहटी और गढ़वाल के समीपस्थ जंगलों में किसी-किसी भाग्यशाली को होता रहता है।

योगीराज गम्भीरनाथजी ने अनेक बंगालियों की, विशेष रूप से पूर्व बंगाल के ढाका, मैमनसिंह आदि जनपदों के श्रद्धानिष्ठ लोगों को मन्त्रदीक्षा और संन्यास-दीक्षा दी थी। मैमनसिंह जनपद के आनन्दमोहन

कालेज के दर्शनशास्त्र के प्रख्यात विद्वान् अक्षयकुमार बनर्जी महोदय ने योगीराज गम्भीरनाथ से मन्त्रदीक्षा ली थी। वे उच्चकोटि के विद्वान् और शास्त्रज्ञ थे। अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला भाषा और साहित्य का उन्हें यथेष्ट ज्ञान था। अपने जीवन का अन्तिम समय उन्होंने वृद्धावस्था में गोरखपुर में ही बिताया। युगपुरुष महन्त दिग्विजयनाथ का उन पर बड़ा स्नेह था। वे महाराणा प्रताप कालेज के कई वर्षों तक प्राचार्य-पद को सुशोभित करते रहे। गीता प्रेस से प्रकाशित होने वाले 'कल्याण' और 'कल्याण कल्पतरु' मासिक पत्रों के वे जाने-माने सिद्धहस्त लेखक थे, उनके लेख उन पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहते थे। उन्होंने गोरखनाथजी और नाथयोग से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लिखी थीं, जो गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर के प्रकाशन-विभाग द्वारा प्रकाशित हैं। उन पुस्तकों में अंग्रेजी में 'दि फिलासफी ऑफ गोरखनाथ', 'दि नाथयोग' तथा 'योगिराज गम्भीरनाथ' आदि बड़े महत्त्व के प्रकाशन हैं, इनका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित है। अक्षयकुमार बनर्जी महोदय नाथयोग के असाधारण मर्मज्ञ थे। योगीराज गम्भीरनाथ के उपदेशों पर उन्होंने 'योगरहस्य' ग्रन्थ के रूप में बड़ी मार्मिक व्याख्या लिखी है, यह ग्रन्थ भी गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर से ही प्रकाशित है। अक्षयकुमार बनर्जी के गुरुभाई थे मैमनसिंह के निवृत्तिनाथ और ढाका के शान्तिनाथजी। शान्तिनाथ और निवृत्तिनाथ, दोनों ने योगीराज से मन्त्रदीक्षा और बाद में संन्यास-दीक्षा लेकर साथ-ही-साथ प्रायः निवास कर अपना जीवन कृतार्थ किया। शान्तिनाथजी विकट तपस्वी और कठोर सत्यव्रती योगी थे। उनके ग्रन्थ—'एक्सपीरियेन्सेस ऑफ ए ट्रूथसीकर' (सत्यान्वेषी के अनुभव) के अध्ययन से पता चलता है कि उन्होंने सत्य की प्राप्ति के लिए उत्कट योग-साधना की। वे ढाका के एक समृद्ध कायस्थ परिवार में पैदा हुए थे। शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर उन्होंने गम्भीरनाथजी के चरण-देश में सन्निष्ठ होकर योगसाधना की। गुरु की आज्ञा से ऋषिकेश, हरिद्वार, जूनागढ़ और आबू तथा अहमदाबाद, उत्तरकाशी, श्रीनगर, बदरिकाश्रम के कल्पेश्वर आदि स्थानों में घोर तप किया। उन्होंने योगीराज गम्भीरनाथजी की आज्ञा से मानसरोवर और कैलाश की भी यात्रा सम्पन्न की थी, निवृत्तिनाथ (अक्कू) के सहयोग से उन्हें साधना, तपस्या और सत्यानुभूति में बड़ी सहायता मिली। २८ अक्तूबर, १९४९ ई. में उनका शरीरान्त हुआ था। गम्भीरनाथजी ने उनके पूछने पर कि गुरु कौन है, उन्हें सत्प्रेरणा प्रदान की थी कि जो शिष्य को सांसारिक बन्धन, अविद्या और दुःख के बन्धन से छुड़ा दे, वही सद्गुरुहै। इस मार्गदर्शन के अनुरूप गुरु में सन्निविष्ठ होकर शान्तिनाथजी ने सत्यस्वरूप अलख निरञ्जन परम शिव की खोज कर अपना जीवन सार्थक किया था।

पूर्व बंगाल के नोआखाली जनपद के एक गाँव में एक बालक को बाबा गम्भीरनाथजी का स्वप्न में दर्शन हुआ। उसे ज्ञान नहीं था कि स्वप्न में उसने किन महापुरुष को देखा है। बहुत दिनों के बाद वह फेनी नगर में गया। उसने एक मित्र को स्वप्न की बात कही। फेनी में योगीराज के अनेक शिष्य थे। वहाँ बाबा का एक चित्र देखा। पहचान लिया। वह गोरखपुर आया। तीन बजे रात को रेलगाड़ी से उतर कर गोरखनाथ-मन्दिर पहुँचा, उसने बाबा का दर्शन किया। कमरे में एक दीपक जल रहा था। लगता था, बाबा गम्भीरनाथजी उसके ही आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। बाबा के तिरोधान के बाद वह गंगोत्री में योगाश्रम की प्रतिष्ठा कर तप करने लगा। उसका नाम था प्रज्ञानाथ।

योगीराज गम्भीरनाथ अपने दीक्षित शिष्य की रक्षा में सदा तत्पर रहते थे। एक बार जब वे कलकत्ता में नेत्र-चिकित्सा के सम्बन्ध में प्रवास कर रहे थे, एक श्रद्धालु भक्त को उन्होंने दीक्षा दी। उस समय एक परकाय-प्रवेश करने वाले योगी अपनी योगशक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे। उनकी यह घोषणा थी कि जो व्यक्ति शान्तचित्त से अपने घर पर मेरा आवाहन करेगा, मैं उसके समक्ष समुपस्थित हो जाऊँगा। श्रद्धालु व्यक्ति ने अपने घर पर ध्यान में उनका आवाहन किया। योगी उसके सामने थे। उन्होंने उसे दीक्षा देनी चाही। वह व्यक्ति भयभीत हो गया और उनके आवाहन के लिए पश्चाताप करने लगा। योगी ने कहा कि पहले के दीक्षामन्त्र की शक्ति नष्ट कर मैं तुम्हें दीक्षित करूँगा। श्रद्धालु भक्त ने तत्काल देखा कि पीछे की ओर से सिद्ध पुरुष बाबा गम्भीरनाथजी की ज्योतिपूर्ण मूर्ति परकाय-प्रवेशी योगी की ओर सुतीक्ष्ण दृष्टि से देख रही है और योगी का शरीर बाबा के नेत्र के अग्निस्फुलिंग से अभिभूत है। योगी बाबा गम्भीरनाथजी के ज्योतिविग्रह को प्रणाम कर चले गये और बाबा की ज्योतिर्मयी मूर्ति अन्तर्हित हो गयी। इस तरह बाबा गम्भीरनाथ ने अपने दीक्षित शिष्य की बहुत बड़ी विपत्ति से रक्षा की। शिष्य ने बाबा के पास जाकर अपने अपराध के लिए क्षमा माँगी, बाबा ने सान्त्वना प्रदान की, घटना के सम्बन्ध में मौन थे।

योगीराज गम्भीरनाथ योगपुरुष थे। उन्होंने अनुभव किया कि शिव, शक्ति और जीव, सब-के-सब परमात्म धरातल पर—शिवैक्य के स्तर पर एकाकार हैं। माया के संयोग से ही मन ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है। मन से ही पंचभूतात्मक शरीर की सृष्टि होती है। मन को उन्मन अवस्था से ब्रह्मपद में लीन करने से साधक सर्वज्ञ हो जाता है। बाबा गम्भीरनाथजी योगरहस्य के सर्वमान्य मर्मज्ञ थे। उन्होंने आदिनाथ शिव द्वारा प्रवर्तित और गोरखनाथजी द्वारा प्रतिपादित योग की साधना की। वे माया के बन्धन से पूर्ण मुक्त सिद्ध पुरुष थे। ये योगेश्वर गोरखनाथजी की वाणी में पूर्ण विश्वास करते थे कि परब्रह्म आत्मतत्त्व न बाहर है, न भीतर है, न निकट है, न दूर है। ब्रह्मा और सूर्य उसे खोजते रह गये पर उसका रहस्य न पा सके। श्वेत स्फटिक मणि को हीरे ने बेध लिया। ब्रह्म-साक्षात्कार हो गया, इसी परमार्थ के लिए गोरखनाथजी ने साधना सिद्ध की—

बाहरि न भीतरि, नेड़ा न दूर, खोजत रहे ब्रह्मा अरु सूर।
सेत फटिक मन हीरै बीधा। इहि परमारथ गोरख सीधा॥ (गोरखबानी सबदी १७४)

गोरखनाथजी की योग परम्परा पर चलने वाले गम्भीरनाथजी ने इसी परमार्थ-योगतत्त्व के लिए योगसिद्धि के राज्य में आधिपत्य प्राप्त किया। उन्होंने नाथयोग के सिद्धान्त के अनुसार शिव और शक्ति की एकात्मकता-कुण्डलिनी के पूर्ण जागरण का योगमाध्यम से अनुभव किया। वे अपने आप को सदा गोरखनाथजी का अनुयायी बताया करते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि महायोगी गोरखनाथ भगवान् शिव के अवतार थे, अभिव्यक्त रूप थे। उनका योगाभ्यास गोरखनाथजी की योगप्रक्रिया के आधारभूत था। योगीराज गम्भीरनाथ ने सदा कान में कुण्डल और वक्ष पर नाद धारण किया। उन्होंने योग के स्तर पर स्थित होकर परमात्मसत्य का साक्षात्कार किया। वैराग्य उनकी योगसाधना का प्राण था। नामजप में उनकी बड़ी निष्ठा थी। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी की उक्ति है कि मुझे भगवन्नाम-निष्ठा बाबा गम्भीरनाथ की कृपा से प्राप्त हुई। ज्ञानशक्ति और ऐश्वर्य पर योगीराज गम्भीरनाथ का पूर्ण अधिकार था। वे कहा करते थे

कि विश्वास रखना चाहिए, विचार करना चाहिए, सब ओर अच्छा ही होगा। विश्वास की शक्ति से असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

योगीराज गम्भीरनाथजी की भगवद्गीता में अप्रतिम श्रद्धा थी। निस्सन्देह वे मायातीत, त्रिगुणातीत और मुक्त योगी थे। उनकी बड़ी मार्मिक वाणी है कि 'सदा सत्य बोलना चाहिए। छल-प्रपंच से दूर रहना चाहिए। अहम् में नहीं चिपकना चाहिए। दूसरों को कभी भला-बुरा नहीं कहना चाहिए। समस्त धर्मों और मतमतान्तर का आदर करना चाहिए। भिखारियों, दीन-दुखियों और असहायों को बड़े प्रेम से भिक्षा देनी चाहिए। विचार करना चाहिए कि इस प्रकार हम ईश्वर की पूजा कर रहे हैं।'

बाबा गम्भीरनाथ की योगसाधना की दृष्टि की प्राणशक्ति उदारता थी, निष्पक्षता थी। वे रामलीला, कीर्तन और भजन आदि के लिए अपने शिष्यों और भक्तों को ही नहीं, सभी लोगों को प्रोत्साहित किया करते थे। उन्होंने कहा कि देवस्वरूप में भेद-दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। रूप और नाम से वे भिन्न हैं, पर उनमें एक ही तत्त्व का अधिवास है। विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों द्वारा विभिन्न प्रकार से एक ही परमतत्त्व की उपासना और विचार को कार्यान्वित किया जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के सम्बन्ध में उनकी उक्ति थी कि यह सभी युगों के लिए सत्य ग्रन्थ है। सत्य के अन्वेषकों के लिए गीता ही बहुत है। यह सार्वजनिक तथा सनातन भागवत शास्त्र है। भगवत्चिन्तन के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक थी। वे कहा करते थे कि 'अहन्ता' और 'ममता' का परित्याग कर ईश्वर के चरणों पर समर्पित हो जाना चाहिए। वे योगक्षेम का वहन करते ही हैं। उनसे केवल सत्य और प्रेम की माँग करनी चाहिए। भूत के चिन्तन और भविष्य की चिन्ता से दूर रहना चाहिए। अपने वर्तमान कर्तव्य का सत्यता से पालन करना ही श्रेयष्कर है। विश्वास, धैर्य और आशा के प्रकाश में आगे बढ़ते रहना चाहिए। स्मरण रहे कि ईश्वर अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारा मंगल किस बात में है और उसका विधान करते हैं।

योगीराज गम्भीरनाथजी भगवन्नाम की साधना पर बड़ा जोर देते थे। उनकी घोषणा है कि 'भगवान् के नाम से सब कुछ हो जाएगा।' वे कहा करते थे कि मुक्ति की प्राप्ति के लिए साधना और योग्यता-अधिकार की बड़ी आवश्यकता होती है। शिष्य के सत्प्रयास से ही यह सम्भव है। गुरु साधना और सिद्धि घोटकर पिला थोड़े ही देंगे। सद्गुरु वह है, जो अपने आप में आत्मानुभूति प्राप्त कर लेता है और दूसरों को आत्मनिष्ठा से सम्पन्न करता है। गम्भीरनाथजी ने नाथ सम्प्रदाय के योग सिद्धान्त को पुनर्जीवन प्रदान किया। उन्होंने योग के प्रकाश में सत्य और भगवन्नाम का साक्षात्कार किया। समस्त जगत् के कार्यों को वे ईश्वर की लीला समझते थे। उनकी विज्ञप्ति है कि विचार ही तपस्या है। वे बार-बार अहंकार के नाश की ही शिक्षा दिया करते थे, अपने भक्तों और शिष्यों को सावधान करते थे कि 'मैं नहीं रखना चाहिए।' वे समाधि-योगी थे। समाधि-योगी का आशय है योगसिद्ध महात्मा।

जीवन के अन्तिम दिनों में नेत्र-ज्योति की क्षीणता से बाबा गम्भीरनाथजी को मोतियाबिन्द का रोग हो गया था। वे उसे ठीक कराने के लिए कलकत्ता गये हुए थे। डॉक्टर मानरड ने उस रोग को ठीक कर दिया। बाबा को देखकर डॉक्टर ने कहा था, 'अरे! ये तो साक्षात् ईसा की ही तरह दीख पड़ते हैं।'

योगीराज गम्भीरनाथजी ने सम्वत् १९७४ वि. की चैत कृष्ण त्रयोदशी को सवा नौ बजे प्रात:काल (तद्नुसार २१ मार्च, १९१७ ई.) परमधाम की यात्रा की थी। गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर के परमपवित्र प्रांगण में ही उनका समाधि-मन्दिर है, जो शाश्वत सत्य और शान्ति का दिव्य प्रतीक है, उसमें उनकी संगमरमर की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। नित्य नियमपूर्वक प्रतिमा की पूजा-आरती होती है। शिष्यों को वे कभी-कभी स्वप्न में दर्शन देकर उनका पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं। योगीराज योगपुरुष महात्मा गम्भीरनाथ योग, ज्ञान, तपस्या और भक्ति के चिन्मय मूर्तिमान प्रतीक-स्वरूप थे।

योगवाणी, 'नाथसिद्धचरित' विशेषांक, जनवरी, १९८४ से संकलित।

□

योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथ

परम कारुणिक निवृत्तिनाथ ने महाराष्ट्र की पावन भूमि की आध्यात्मिक परम्परा को नाथयोग-शिवगोरक्ष द्वारा प्रतिपादित महायोगज्ञान और योगेश्वर गहिनीनाथ द्वारा समर्थित वैष्णव योग-कृष्णभक्तिपरक ज्ञानतत्त्व के समन्वय से समृद्ध किया। नाथयोग की शैव परम्परा का गहिनीनाथजी ने मत्स्येन्द्रनाथ की नारायणीय योगपरम्परा से समलंकरण किया। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में श्रीमद्भागवत में वर्णित नवयोगेश्वरों के नारायणीय अथवा वैष्णव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथ द्वारा गुरु गहिनीनाथ से श्रीकृष्ण मन्त्र की प्राप्ति से शैव योग-सिद्धामृत मार्ग और वैष्णवयोग-नारायणीय परम्परागत यौगिक सिद्धान्त अथवा भागवत योग के समन्वय की सत्यता प्रकाशित होती है। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' ग्रन्थ में प्रतिपादित नवनाथों की नारायणीय परम्परा में योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ को कविनारायण और गहिनीनाथ को करभाजननारायण की संज्ञा से विभूषित किया गया है। महाराष्ट्र की नाथयोगपरम्परा के नारायणीय रूप की ऐतिहासिकता के कर्णधार गहिनीनाथ और उनके शिष्य योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथ स्वीकार किये जाते हैं तथा उनके द्वारा प्रतिपादित नारायणीय सिद्धामृतपरक भागवत योग का व्याख्याकार सन्त योगी ज्ञानेश्वर को स्वीकार किया गया है। उनकी 'ज्ञानेश्वरी' साक्षात् निवृत्तिनाथजी महाराज का अध्यात्म-वैभव है, महायोगज्ञान है। सन्त ज्ञानेश्वर की स्वीकृति है—

क्षीरसिन्धु परिसरीं। शक्ती च्या कर्णकुहरीं।
नैणां कें श्रीत्रिपुरारी। सांगितलें जें।
तें क्षीर कल्लोला आन्तु। मकरोदरीं गुप्तु।
होता तया चा हातु। पैहे जालें।
तो मत्स्येन्द्र सप्तशृंगी। भग्नावयबा चौरंगी।
भेटवा कीं तो सर्वांगीं। सम्पूर्णजाला।
मगसमाधि अव्यत्यया भोगावी वासना यया।
ते मुद्रा श्रीगोरक्षराया। दिधलीं मीनीं।
तेणें योगाब्जिनी सरोवरु। बिषयविध्वंसैकवीरु।
तिये पदरीं का सर्वेश्वरु। अभिषेंकिले।

मग तिहीं ते शाम्भव। अद्वयानन्द वैभव।
सम्पादिलें सम्रमव। श्रीगहिनीनाथा।
तेणे कलिकलितु भूतां। आला देखोनि निरूता।
ते आज्ञा श्रीनिवृत्तिनाथा, दिधलीं ऐसी।
ना आदिगुरुशंकरा। लागोनि शिष्यपरम्परा।
बोधा चा हा संसारा। जाला जो आमुतें। (ज्ञानेश्वरी १८। ओबी १७५१-५८)

आगे की १७५९वीं ओबी से १७६४वीं ओबियों में उपर्युक्त क्रम में ज्ञानेश्वर ने कहा है—

यह ज्ञानेश्वरी श्रीनिवृत्तिनाथ की महिमा है। यह ग्रन्थ नहीं उन्हीं की कृपा का वैभव है। क्षीरसमुद्र के तट पर श्रीशंकर ने पार्वती के कानों में न जाने कब, एक बार जो उपदेश दिया था, वह क्षीरसमुद्र की लहरों में किसी मत्स्य के पेट में गुप्त मत्स्येन्द्रनाथ के हाथ लगा। मत्स्येन्द्रनाथ सप्तशृंग पर्वत पर चौरंगीनाथ से मिले, जिनके हाथ-पाँव लूले थे। मिलते ही चौरंगीनाथ पूर्णांग हो गये। अचल समाधि का उपभोग लेने की इच्छा से मत्स्येन्द्रनाथ ने उपदेश गोरखनाथ को दिया। इस तरह उन्होंने योगरूपी कमलिनी के सरोवर, विषयों को विध्वंस करने वाले एक वीर शंकर के रूप में उस पद पर अभिषिक्त किया। श्रीशंकर से प्राप्त यह अद्वैतानन्द सुख उनसे (गोरखनाथ से) सम्पूर्णतः गैनीनाथ (गहिनीनाथ) ने सम्पादन किया। वे सब प्राणियों को कलिकाल से ग्रस्त देख कर दौड़ आए और श्रीनिवृत्तिनाथ को यह आज्ञा दी कि आदिगुरु शंकर के शिष्यपरम्परानुसार हमें जो ज्ञानविधि प्राप्त हुई, उसे लेकर कलि से ग्रस्त जीवों की रक्षा करो। श्रीनिवृत्तिनाथ तो स्वभाव से पहले ही कृपालु थे और उनके द्वारा गुरुवचनरूपी वर्षाकाल के मेघ से गीतार्थनिरूपण के लिए शान्तरस की वृष्टि हुई। यही ज्ञानेश्वरी है। मेरे स्वामी (निवृत्तिनाथ) ने गुरुपरम्परा प्राप्त समाधिधन का इस ग्रन्थ के रूप में मुझे उपदेश दिया।

ज्ञानेश्वरी के अठारहवें अध्याय में १७५१वीं से १७६४वीं ओबी में यह श्रद्धामय वर्णन प्रकारान्तर से ज्ञानेश्वरी के मर्म-वैष्णव योग का प्रकाशन करता है। योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथ के यौगिक चरित्र से वारकारी सम्प्रदाय के अनके वैष्णव सन्तों तथ नाथयोगियों ने योग-साधना की दिशा में महती प्रेरणा प्राप्त की।

योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथ भारतीय इतिहास के मध्यकाल की एक ऐतिहासिक आवश्यकता थे। इस समय दिल्ली की केन्द्रीय शासनसत्ता अराजकता, अनीति और अशान्ति के दृश्य उपस्थित कर रही थी। ऐसी स्थिति में योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथजी महाराज के प्राकट्य ने राजनीतिक नैराश्य के अन्धकार का नाश कर भारतीय संस्कृति और अध्यात्मनिष्ठा का संरक्षण किया। सन्त ज्ञानेश्वर ने उनका गुरुरूप में वरण किया। ज्ञानेश्वरी के पन्द्रहवें अध्याय में वर्णन है—'मैं उत्तम विधि से अपने हृदय की चौकी बनाकर उस पर श्रीगुरु की पावड़ियों की प्रतिष्ठा करता हूँ। उन पर एकतारूपी अंजलि में सर्वेन्द्रियरूपी फूलों की कलियाँ भरकर पुष्पांजलि का अर्घ्य अर्पण करता हूँ। उनके अनन्य भावरूपी जल से शुद्ध की हुई गुरुनिष्ठा के वासनारूपी चन्दन का लेप करता हूँ। उनके सुकुमार पदों में प्रेमरूप सुवर्ण को शुद्ध कर तैयार किये हुए नूपुर पहनाता हूँ। उनकी अँगुलियों में एकनिष्ठता से जगमगाते दृढ़ अनुरागरूपी छल्ले पहनाता हूँ। उनके

मस्तक पर आनन्दरूप सुगन्धित अष्टदल कमल चढ़ाता हूँ, जो आठ सात्विक भावों से विकसित है। उनके सम्मुख अहंकाररूपी धूप जलाता हूँ। निरभिमानता के दीप से उनकी आरती करता हूँ। निरन्तर ऐक्यभाव से आलिंगन देता हूँ। उनके चरणों पर भोग और मोक्ष न्योछावर करता हूँ। इस तरह श्रीगुरु के चरणों की सेवा से मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा कि उसकी प्राप्ति से सकल पुरुषार्थसमुदाय मेरा पट्टाभिषेक करेगा, जिससे मेरे ज्ञान को ऐसा तेज प्राप्त होगा कि वह ब्रह्म में ही विश्राम पायेगा तथा मेरी वाणी को अमृत का समुद्र बना देगा, जिससे व्याख्यान के समय शब्दों में ऐसी मधुरता आएगी कि उस पर करोड़ों पूर्ण चन्द्र न्योछावर कर दिये जाएँ। वह वाणी श्रोताओं के लिए ऐसी ज्ञानरूपी दीवाली प्रकाशित करेगी, जैसी सूर्य के आश्रय से पूर्व दिशा जगत् को प्रकाश की सम्पत्ति अर्पण करती है। उस सौभाग्य से ऐसी वाणी मुझे प्राप्त होगी कि उसके सामने वेद भी अल्प जान पड़ेंगे, कैवल्य भी उतनी शोभा न देगा। श्रीगुरु के चरण-कमलों का अनुराग प्राप्त हो तो अगोचर वस्तु को प्रकट करने वाली वाणी को उपर्युक्त सौभाग्य प्राप्त हो जाता है।' ज्ञानेश्वर महाराज ने ज्ञानेश्वरी (गीताटीका) के पहले अध्याय में आरम्भ की २२वीं से २७वीं ओबियों में कहा है कि 'जिनके कारण मैं इस संसाररूपी जल से पार हुआ, वे मेरे सद्गुरु हृदय में हैं, इसीलिए विवेक पर मेरा विशेष प्रेम है। जिस तरह आँख में अंजन लगाने की दृष्टि विकसित होती है और देखते ही भूमि में गड़े द्रव्य का पता चला जाता है अथवा जिस तरह चिन्तामणि के हाथ लग जाने से सारे मनोरथ पूरे हो जाते हैं, उसी तरह श्रीनिवृत्तिदेव के कारण मेरे सब मनोरथ पूरे हो गये हैं। जो बुद्धिमान हैं, उन्हें चाहिए कि गुरु की सेवा करें और कृतार्थ हों। जड़ में पानी सींचने से जिस तरह सभी शाखा-पल्लवों का पोषण होता है अथवा तीर्थों का पुण्य जिस तरह समुद्र में स्नान करने से प्राप्त हो जाता है अथवा जिस तरह अमृत के स्वाद से सभी रसों का स्वाद मिल जाता है, उसी न्याय के अनुसार मैं बार-बार गुरु की वन्दना करता हूँ, सभी मनोरथों और अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले वे ही हैं।' योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथ सम्पूर्ण आत्मबोधस्वरूप थे। उनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि आदिनाथ शिव से विष्णुरूप योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने जो बोध पाया, उसे गुरु गहिनीनाथ से प्राप्त कर निवृत्तिनाथ महाराज ने शिव-विष्णु की महाराष्ट्र में एकता का प्रतिपादन कर नाथयोग तथा नाथसम्प्रदाय की जन-मानस में प्राण प्रतिष्ठा की।

श्रीनिवृत्तिनाथ की वंशपरम्परा भगवान् योगेश्वर शिव गोरक्ष तथा उनके कृपापात्र शिष्य योगेश्वर गहिनीनाथ की कृपादृष्टि से सम्पूर्ण सौभाग्यवती थी। महाराज के पूर्वज बड़े ही गौरवान्वित और नाथसम्प्रदाय की योगज्ञान निधि के महान् संरक्षक थे। निवृत्तिनाथजी महाराज के पूर्व पुरुष पैठण से चार कोस की दूरी पर आपे गाँव में रहते थे। वे कुलकर्णी अथवा पटवारी का काम करते थे। निवृत्तिनाथजी के प्रपितामह त्रयम्बक पन्त थे। उन्हें साक्षात् महायोगी गोरखनाथजी ने ज्ञानामृत प्रदान किया था। उनके चिरंजीव गोविन्द पन्त और निराबाई (पुत्रवधू) को गहिनीनाथ ने उपदेश दिया था। गोविन्द पन्त और निराबाई के पुत्र विट्ठल पन्त थे। वे महान् वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ, ज्ञानी और विरक्त स्वभाव के महापुरुष थे। वे उच्चकोटि के ईश्वर-भक्त थे। एक बार तीर्थयात्रा करने वे पूना के निकट आलन्दी गाँव में पहुँच गये। उन्होंने सिद्धेश्वर महादेव के आदेश से भगवान् की कृपा से आलन्दी के निवासी सिन्धो पन्त की कन्या का पाणिग्रहण किया। भगवान् ने स्वप्न में साक्षात् प्रकट होकर विट्ठल पन्त से कहा था कि रुक्मिणी के गर्भ से एक

महान् अवतारी पुरुष प्रकट होंगे। (यह संकेत ज्ञानेश्वर महाराज के लिए था।) कुछ दिनों के बाद विट्ठल पन्त पत्नी के साथ अपने गाँव चले आए। कालान्तर में उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। विट्ठल पन्त का मन वैराग्य-रस में प्रवृत्त था। उन्होंने पत्नी की सम्मति से काशी में निवास करने का विचार किया। काशी में स्वामी रामानन्द से संन्यास-दीक्षा लेकर चैतन्याश्रम के नाम से विख्यात हुए। सती साध्वी पत्नी ने पति द्वारा संन्यास ग्रहण कर लेने पर अपना जीवन पूर्ण निःस्पृह और तपोमय बना लिया। संयोगवश बारह साल के बाद स्वामी रामानन्द जी आलन्दी होते हुए रामेश्वर जा रहे थे। आलन्दी के मारुति-मन्दिर में वे ठहरे हुए थे। रुक्मिणी हनुमानजी का दर्शन करने आया करती थीं। उन्हें रामानन्दजी ने पुत्रवती होने का आशीष दिया, तो वे हँस पड़ीं। उन्होंने पति के संन्यासी होने की बात बताई। स्वामीजी उन्हें साथ लेकर काशी आए। उनके पति को पत्नी सहित घर लौट जाने का आदेश दिया। संन्यासी द्वारा गृहस्थाश्रम-प्रवेश की बात से समाज के लोग तिलमिला उठे। विट्ठल पन्त (चैतन्याश्रम) बड़े सहनशील थे। उन्होंने समाज से बहिष्कृत कर दिये जाने पर भी बड़े धैर्य से जीवन बिताना आरम्भ किया। उनके ज्येष्ठ पुत्र के रूप में महाराज निवृत्तिनाथ ने सम्वत् १३३० वि. की माघ कृष्ण प्रतिपदा को जन्म लिया। निवृत्तिनाथ के जन्म के बाद सम्वत् १३३२ वि. की भाद्रकृष्ण अष्टमी को श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने जन्म लिया। उनके बाद सोपानदेव और मुक्ताबाई का जन्म हुआ। कहा जाता है कि निवृत्तिनाथ ने शिव, ज्ञानेश्वर ने विष्णु, सोपान देव ने ब्रह्मा और मुक्ताबाई ने आदि शक्ति के रूप में अवतार लिया। परम भक्तिमती जनाबाई का कथन है—

सदाशिवा चा अवतार। स्वामी निवृत्ती दातार।
महाविष्णु चा अवतार। सरवा मझा ज्ञानेश्वर।
ब्रह्मा सोपान तो झाला। भक्ता आनन्द तो वतला।
आदि शक्ति मुक्ताबाई। दासी जनीं लागे पायीं।

इस तथ्य की परिपुष्टि पहले से ही सन्त नामदेव की वाणी में उपलब्ध है।

तिन्हीं देव जैसे परब्रह्मीं चे ठसे।
जगीं सूर्य जैसे प्रगटले।

तीनों निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपान देव साक्षात् परब्रह्म के स्वरूप जगत् में सूर्य के समान प्रकट हो गये। सामाजिक विरोध देखकर माता-पिता अपनी सन्तानों को साथ लेकर त्रयम्बकेश्वर में आकर अनुष्ठान करने लगे। एक बार कुशावती में स्नान कर वे त्रयम्बकेश्वर का दर्शन कर ब्रह्मगिरि की परिक्रमा कर रहे थे कि निवृत्तिनाथ रास्ता भूल गये, माता-पिता परिक्रमा करते आगे बढ़ गये। दैवयोग से मार्ग में एक बाघ दहाड़ने लगा, इसलिए माता-पिता निवृत्तिनाथ की ओर ध्यान न दे सके। निवृत्तिनाथजी अंजनी पर्वत की एक गुफा में आ गये। इस स्थान पर गहिनीनाथजी अपने दो-तीन शिष्यों के साथ आध्यात्मिक चर्चा कर रहे थे। निवृत्तिनाथ उनके चरणदेश में रत हो गये। महायोगी गहिनीनाथ ने निवृत्तिनाथ के सिर पर अभय हस्त रख दिया। उन्होंने कृष्ण मन्त्र की दीक्षा देकर निवृत्तिनाथ को अपना शिष्य बना लिया तथा नाथयोग के सन्दर्भ में योगज्ञान के प्रचार का आदेश दिया। गहिनीनाथ को नाथ सम्प्रदाय में अत्यन्त प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त है। उन्हें निवृत्तिनाथजी ने 'गुरु गयनी अमर' कह कर सम्मानित किया है। गहिनीनाथ के प्राकट्य के

सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी के साथ गोरखनाथजी भ्रमण कर रहे थे। कनक ग्राम में पहुँचने पर उन्होंने बच्चों को खेलते देखा, एक मिट्टी की मूर्ति बनाकर बच्चे खेल रहे थे कि उस मूर्ति में मन्त्र के सहज उच्चारण से मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के द्वारा चैतन्य (प्राण) का संचार हुआ और मूर्ति में साक्षात् गहिनीनाथ प्रकट हो गये। गहिनीनाथ का पालन-पोषण मधु और गंगानाथ नाम के ब्राह्मण दम्पति ने किया था। गहिनीनाथ का सिद्ध अभंग है कि चाहे आकाश फट जाए, मेरु भयंकर चीत्कार करे, फिर भी मधुर आत्मसुखामृत का त्याग नहीं करना चाहिए। चाहे भयंकर वायु बहे, ब्रह्माण्ड सूख जाए पर आत्मनिष्ठ को अपनी समाधि भंग नहीं करनी चाहिए—

आकाश तड़तडी मेरुहा कडाही। तरी आत्मसुख गोडी सांडूनये।
वायु जरी सुटे, ब्रह्माण्ड हे आटे। तरी आत्मनिष्ठ भंगों ने दी।

ऐसे महान् योगी से निवृत्तिनाथजी महाराज ने योगोपदेश प्राप्त किया। आदिनाथ ने उमा-बीज प्रकट किया। अपनी सहज स्थिति में उसे मत्स्येन्द्र ने प्राप्त किया। इस प्रेम-मुद्रा में गोरखनाथ ने प्रवेश किया। गहिनीनाथ ने पूर्ण कृपा की, वे वैराग्य में तप उठे और शान्ति व सुख में विभोर होकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे। उनके हृदय में सुखानन्द स्थित हो गया। वे परम वैराग्य सम्पन्न हो उठे। ब्रह्ममय हो गये। निवृत्तिनाथ पर गैनीनाथ ने कृपा की, श्रीकृष्ण का नाम प्रदान किया। उनका कुल पवित्र हो उठा। निवृत्तिनाथ के वचन हैं—

आदिनाथ उमाबीज प्रकटलें। मत्स्येन्द्रा लाघले सहजस्थिति॥
तेंचिं प्रेममुद्रा गोरक्षा बिघली। पूर्ण कृपा केली गैनीनाथा॥
वैराग्ये तापला सपेमें निवाला। उठा जोलाघला शान्तिसुखा॥
निर्द्वन्द्व निःशंक विचरतां महीं। सुखानन्द हृदयीं स्थिर झाला॥
विरक्तीं चे पात्र अन्वयाचे मुख। देऊनी सम्यक अनन्यता॥
निवृतीं गयनीं कृपा केली पूर्ण। कुल हे पावन कृष्ण नामे॥

शिवदीननाथ ने कहा है कि निवृत्तिनाथ ने गहिनीनाथ का गुरुरूप में वरण कर प्रसादयुक्त कलश का तत्त्व-बोधामृत प्राप्त किया। ज्ञानेश्वर मोक्ष पद में स्थित हो गये।

निवृत्ति वरी गैनी प्रसादयुक्त कलश धरीला।
तत्वबोधामृते ज्ञाननाथ हा मोक्षपदीं बसला॥

योगिराजेश्वर गहिनीनाथ ने निवृत्तिनाथ के कान में सिद्धपन्थ में ज्ञानी द्वार प्राप्त ज्ञान, महायोग ज्ञान कह दिया। उन्हें नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित कर योगपद में स्थित कर दिया। जिस समय निवृत्तिनाथ सात साल के थे, उनके माता-पिता प्रयाग आकर त्रिवेणी संगम पर शरीर विसर्जित कर वैकुण्ठ में स्थित हो गये। निवृत्तिनाथ महाराज तथा उनके भाई-बहन, सब-के-सब असहाय हो गये। वे भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करने लगे। निवृत्तिनाथजी महाराज को अपने गाँव के ब्राह्मणों ने पैंठण (दक्षिण काशी) जाकर ब्राह्मणों से उपनयन-संस्कार सम्पन्न कराने की अनुमति प्राप्त करने की प्रेरणा दी। पैंठण में ब्राह्मणों ने संन्यासी के पुत्र को उपनयन की आज्ञा नहीं दी। महाराज पैंठग में अपने पिता के मामा कृष्णपन्त देव

कुले के घर ठहरे हुए थे। महाराज निवृत्तिनाथ ने स्पष्ट कहा कि जाति, कुल, वर्ण में मेरा अधिकार नहीं है। न मैं क्षत्रिय हूँ, न मैं वैश्य, शूद्र तथा द्विज ही हूँ। न मैं यक्ष हूँ, न किन्नर, और न ऋषि हूँ, न निशाचर। मैं तो अव्यक्त, अविनाशी, सनातन, अनादि आत्मा हूँ, स्वबोधगत इष्टस्वरूप में अभिव्यक्त हूँ। न मैं पृथ्वी, जल, तेज, वायु और गगन ही हूँ, न मैं महत्तत्त्व हूँ, न विराट् हूँ। न मैं सगुण हूँ, न निर्गुण हूँ। अनुभूतिपरक भजन में भी नहीं हूँ। निवृत्ति का कथन है कि हे ज्ञानेश्वर! सुनो, यही मेरी परम्परा है। कितना अद्भुत आत्मबोध है यह! पैंठण की ब्राह्मण-मण्डली ने अन्तिम निर्णय दिया कि प्रायश्चित और शुद्धि का उपाय यह है कि चारों भाई-बहन लोक-लज्जा का परित्याग कर कुत्ते, चाण्डाल और गो के समेत सब को भूमि पर लेट कर प्रणाम करें। ईश्वर की अनन्य भक्ति करें। जिस समय पैंठण की ब्राह्मण-मण्डली ऐसा विचार कर रही थी कि निवृत्तिनाथ महाराज ने कहा कि मैं तो निवृत्ति हूँ। प्रवृत्ति में मेरी तनिक भी आसक्ति नहीं है। मैं तो अखण्ड स्वसुखामृत का भोगी हूँ। मैं राजयोगी हूँ। ज्ञानेश्वरजी महाराज ने कहा कि मैं तो सकल शास्त्रों का ज्ञाता हूँ। सोपानदेव ने कहा कि लोगों को भगवान् के भजन में लगाना मेरा कर्तव्य है; और बहन मुक्ताबाई ने कहा कि मैं तो सर्वथा मुक्त हूँ। लोगों के लिए जगदीश की लीलास्वरूपी मुक्ति का दरवाजा खोलती हूँ—

मीतो निवृति न पड़े चि प्रवृत्ति मार्गी।
भोगी अखण्डस्वसुखामृत राजयोगी॥
मी ज्ञानदेव म्हणजे सकलागमा च।
वेत्ता असे कथिन भी पुसतां त्रिवाचा॥
सोपान भी भजन दाउनि केशवाचें।
वैकुण्ठ पाव बिन भक्तिमतासि साचें॥
मुक्ताई मुक्ति उधड़ी जगदीश लीला।
दावावया प्रकटलीं भुवनेक लीला॥

ब्राह्मण-मण्डली चकित हो गयी। उसने सर्वसम्मति से विज्ञापित किया कि वे तीनों परलोक के देवत्रय हैं। इनके लिए प्रायश्चित का विधान ही नहीं है।

योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथजी महाराज की सन्त ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' पर पूर्ण कृपा-दृष्टि थी। पैंठण से लौटते समय महाराज ने ज्ञानेश्वर, सोपान देव और मुक्ताबाई के साथ प्रवरानदी के तट पर नेवासे में भगवान् मोहिनीराज का दर्शन किया। निवृत्तिनाथजी की प्रेरणा से ज्ञानेश्वर महाराज ने नेवासे में श्रीमद्भगवद्गीता के ज्ञानेश्वरी भाष्य का आरम्भ किया था। निवृत्तिनाथजी सन्त योगसिद्ध ज्ञानेश्वर के गुरु थे। निवृत्तिनाथजी की कृपा से उद्वेलित ज्ञानेश्वरी (गीता भाष्य) में नाथयोग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। यह निःसन्देह योगभाष्य है। सन्त ज्ञानेश्वर ने उनकी महिमा का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वरी के दसवें अध्याय की प्रारम्भिक पन्द्रह ओबियों में कहा है कि 'हे निर्मल बोध करने में चतुर, हे विद्यारूप कमल के विकासक, परा प्रकृतिरूपी स्त्री से रमण करने वाले, आपको नमस्कार है। हे संसाररूपी अन्धकार का नाश करने वाले सूर्य! हे सकल जगत् का पालन करने वाले! हे कल्याणरूपी रत्न के निधान! हे

सज्जनरूपी वन के चन्दन! हे आराध्य स्वरूप! आपको नमस्कार है। हे ज्ञानियों के चित्तरूपी चकोर के चन्द्र! हे आत्मानुभवियों के नरेन्द्र! हे वेदज्ञान के समुद्र! हे मदनगर्व-नाशक! आपको नमस्कार है। हे प्रेमियों के भजन के पात्र! हे संसाररूपी हाथी के गण्डस्थल को फाड़ने वाले सिंह! हे विश्व की उत्पत्ति के स्थान गुरुराज! आपको नमस्कार है। आपका अनुग्रहरूपी गणेश अपना प्रसाद दे तो बालक का भी सब विद्याओं में प्रवेश हो सकता है। आपकी वाचा अभय दे तो नवरसामृत के समुद्र का थाह लग सकता है। आपकी प्रेमरूपी सरस्वती यदि गूंगे को स्वीकार करे तो वह भी बृहस्पति से ग्रन्थ रचने की प्रतिज्ञा कर सकता है। जिस पर आपकी कृपादृष्टि हो, जिसके मस्तक पर आपका हस्तकमल हो, वह जीव होकर शंकर की भी समता प्राप्त कर सकता है। गुरु की महिमा के आकलन का साधन कहाँ है। यही जानकर मैं चुपचाप नमन करता हूँ। आपके चरणों पर माथा रखना ही उत्तम है। ज्ञानेश्वर ने सत्रहवें अध्याय में कहा है कि आप देव हैं और मैं आपका सेवक होना चाहूँ तो इस तरह भेद करने से दोष प्राप्त होगा। महाराज! मैं आपका अब कोई नहीं होता। हे अद्वय, हे आराध्य मूर्ति! जब कोई सर्वथा कुछ भी न हो, तभी आप को प्राप्त कर सकता है। आपका यह मर्म मैं जानता हूँ। लवण जिस तरह भिन्न न रहकर जल से युक्त हो जाता है, उसी तरह मैं आपको नमन करता हूँ। रीता घट समुद्र में डालने पर भर जाता है, बत्ती दीप के संग से दीपक बन जाती है, इसी तरह हे निवृत्तिनाथ! मैं आपको नमन करने से पूर्ण बन गया हूँ।

ज्ञानेश्वर महाराज ने सद्गुरुनिवृत्तिनाथ से अपने नेत्रों के लिए कृपारूपी अंजन की प्रार्थना की, जिसके द्वारा गीतार्थरूपी द्रव्य हाथ लग जाए। उन्होंने ज्ञानेश्वरी के चौदहवें अध्याय की प्रारम्भिक पन्द्रह ओबियों में हृदय की समस्त श्रद्धा व्यक्त करते हुए निवेदन किया है कि हे गुरुदेव, सकलदेवों में श्रेष्ठ, हे बुद्धिरूपी काल के सूर्य! आप आनन्द प्रकाशित करने वाले हैं, आप की जय हो। आप सबके विश्रान्ति-स्थान हैं, सोऽहम् भाव को सुशोभित करने वाले हैं, आप लोकरूपी तरंगों के समुद्र हैं। आप की जय हो। हे दीनबन्धो! हे निरन्तर दया के सागर, हे शुद्ध विद्यावधू के वल्लभ! आप जिन्हें अप्रकट हैं, उन्हें यह विश्व ही दीखता है, आप जिन्हें प्रकट हैं, उन्हें सम्पूर्ण जगत् आपमय दीखता है। आप के इस जगत् में लीलारत निज स्वरूप को नमस्कार करता हूँ। जल की आर्द्रता आप के ही कारण मधुर है। आप के ही कारण पृथ्वी को सहनशीलता प्राप्त है। आप की द्युति के प्रकाश के कारण ही रवि-चन्द्र जगत् को प्रकाशित करते हैं। सम्पूर्ण माया का ज्ञान आपके कारण ही होता है। आपका वर्णन करने में श्रुति को श्रम होता है। हे गुरुराज! आप जैसे हैं, वैसे ही आप को मैं नमस्कार करता हूँ। महाराज! मेरे नेत्रों में कृपारूपी अंजन डालिए, जिससे मेरा मन गीतार्थरूपी द्रव्य को खोज ले। अपने करुणारूपी निर्मल सूर्य का उदय कीजिए। मेरे बुद्धिरूपी नेत्र सम्पूर्ण शब्दसृष्टि देख सकें। आप ऐसे वसन्त बन जाएँ कि मेरी बुद्धिरूपी विस्तृत बेलि में काव्यफल लग जाए। हे विश्व के एकमात्र धाम! आप का कृपारूपी चन्द्रमा मेरे लिए काव्यस्फूर्ति की पूर्णिमा कर दे, जिसे देखते ही मेरे ज्ञानरूपी समुद्र में रसिकता का ज्वार आ जाए, जो स्फूर्ति में न समा सके और प्रवाहित हो उठे।

ज्ञानेश्वरी साक्षात् निवृत्तिनाथजी की ज्ञानेश्वर पर कृपा की प्रतीक है—इसमें वही ज्ञान वर्णित है, जिसे गुरु निवृत्तिनाथ से ज्ञानेश्वर ने प्राप्त किया था। सन्त तुकाराम के शिष्य निलोबाराय का कथन है कि जो गुह्य ज्ञान शंकरजी ने पार्वती के प्रति कहा, उसे मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) ने प्राप्त किया। मीननाथ ने उसे

गोरखनाथ को प्रदान किया। उनसे गहिनीनाथ ने ग्रहण किया। गहिनीनाथ ने दीनजनों के उद्धार के लिए उसे निवृत्तिनाथ को दिया और परमकारुणिक निवृत्तिनाथ ने ज्ञानेश्वर को प्रदान किया। यही आदि परम्परा है।

शिव शक्ति निमित्त दाऊन। उपदेशिलैं निजगुह्य ज्ञान।
तेणें देवो देवी सुख सम्पन्न। पावला मीन तो लाभा।
तेणें गोरक्ष उपदेशिला। निजात्मज्ञानीं प्रबोधिला।
त्रैलोक्य माजी गौरविला। योगदाविला विशदार्थ।
गुह्यागुह्य ज्ञान-कथन। तेणें गहिनी तें उपदेशून।
उद्धरावया दीन जन। तेणें निवृत्ति शिक्षायिला।
तेचि हातवटी ज्ञानेश्वरा। दीघली आदि परम्परा।

इसी बात की पुष्टि बहिणाबाई के एक अभंग से होती है। निवृत्तिनाथ के ज्ञानरूप प्रसाद की ज्ञानेश्वर द्वारा प्राप्ति की बात कही गयी है।

आदनाथें उपदेश पार्वती सीकेला। मत्स्येन्दे एकिला मच्छगर्भी।
शिवहृदयीं चा मन्त्र पै अगाध। जाला से प्रसिद्ध भक्तियोगें।
तेणेंत्यां गोरक्षा केलें कृपादान। तेथोनी प्रकट जाण गहिनी प्रती।
गहिनी ने दया केली निवृत्तिनाथा। बालक असतां योगरूप।
तेथूनी ज्ञानेश पावले प्रसाद। एक निष्ठ भाव तुकोवा चरणीं।
म्हणोंनी बहिणी लाघली से।

ज्ञानेश्वर महाराज ने अपनी ज्ञानेश्वरी के बारहवें अध्याय में पहली से पन्द्रहवीं ओबियों में गुरुशक्ति का माता के रूप में बड़ा मौलिक वर्णन करते हुए कहा कि हे निर्मल, हे उदार, हे प्रसिद्ध और निरन्तर आनन्द की वर्षा करने वाली गुरुमाता! आपकी जय हो। विषयरूपी सर्प के लिपट जाने पर मनुष्य आपकी कृपा से मूर्च्छित न होकर निर्विष हो जाता है। यदि आपके प्रसादरस की तरंगों की बाढ़ आए तो संसारताप किसे जला सकता है। शोक किस तरह पीड़ा दे सकता है? हे कृपामय! आपके सेवकों को योग के सुख का आनन्द प्राप्त होता है। आप उनकी ब्रह्मप्राप्ति का बालहठ पूरा करती हैं, आप उन्हें प्रेम से मूलाधारशक्तिरूपी गोद में लेकर उनका सम्वर्धन करती हैं और अपने हृदयाकाशरूपी झूले में उन्हें झुलाती हैं। आप उन पर जीवात्मभावों को निछावर कर उन्हें मन और प्राण के खिलौने देती हैं और आत्मसुख के बाल अलंकार पहनाती हैं। आप उन्हें अमृतकलारूप दूध पिलाती हैं, अनाहत गीत सुनाती हैं और समाधिज्ञानरूपी खटोले पर सुला देती हैं। आप साधकों की माता हैं। आपके चरणों पर समस्त विद्याएँ उत्पन्न होती हैं। यही कारण है कि मैं आपकी छाया नहीं छोड़ता। हे सद्गुरुकृपादृष्टि! आपकी करुणा जिसे आश्रय देती है, वह सम्पूर्ण विद्याओं की सृष्टि का ब्रह्मदेव बन जाता है। श्रीमति अम्बा! भक्तों की कल्पलता, हे माता! मुझे श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन करने में सर्वदा उद्यत कीजिये।

निवृत्तिनाथ महाराज ने महाराष्ट्र की सन्तमण्डली के साथ तीर्थयात्रा आरम्भ की। उनके साथ ज्ञानेश्वर, सोपानदेव, मुक्ताबाई, नरहरि सोनार, चोखा-मेला तथा सन्त नामदेव आदि थे। महाराज ने सन्तमण्डली

के साथ पण्डरपुर, उज्जैन, प्रयाग, काशी, वृन्दावन, गिरनार आदि में भ्रमण कर असंख्य लोगों को सत्संग-कल्पवृक्ष की छाया में तत्त्वबोधामृतफल प्रदान किया। इस तरह महाराज ने नाथयोगज्ञान के सन्दर्भ में स्थान-स्थान पर भागवतधर्म की-वैष्णव धर्म की विजयिनी पताका फहरायी। महाराज सद्गुरु थे।

ज्ञानेश्वर की समाधि भी निवृत्तिनाथजी के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। सम्वत् १३५३ वि. की मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी को ज्ञानेश्वर ने जीवित समाधि ली थी। समाधि लेने के पहले वे एकादशी को पण्ढरपुर के भगवान् विट्ठल का दर्शन करने गये। निवृत्तिनाथजी महाराज उनके साथ थे। पण्ढरपुर की सन्तमण्डली के साथ निवृत्तिनाथजी ज्ञानेश्वर को साथ लेकर आलन्दी आए और समाधि का कार्य उनकी देख-रेख में सम्पन्न हुआ। ज्ञानेश्वर गुरुदेव निवृत्तिनाथ के चरण पकड़ कर लिपट गये। ज्ञानेश्वरी के तेरहवें अध्याय में वर्णित गुरुचरणवन्दना का ध्यान आया कि जिनका स्मरण करने से सब विद्याओं का आश्रय-स्थान प्राप्त होता है, उन गुरुचरणों की वन्दना करता हूँ। जिनके स्मरण से वाचाशक्ति प्राप्त होती है, सम्पूर्ण विद्याएँ जिह्वा पर आ बैठती हैं, वक्तृत्व इतना मधुर हो जाता है कि उसके सामने अमृत भी फीका हो जाता है, रस अक्षरों के आश्रित रहते हैं, सम्पूर्ण आत्मज्ञान हाथ में आ जाता है, जिनके हृदय में बस जाने से भाग्योदय होता है, उन चरणों को मैं नमस्कार करता हूँ। ज्ञानेश्वर की समाधि का दृश्य विलक्षण था। निवृत्तिनाथजी महाराज के नेत्र बन्द थे। नेत्र खुलने पर उन्होंने ज्ञानेश्वर के मुख पर हाथ फेरा। मंगलमय प्रयाण का आशीर्वाद दिया। उन्हें आलन्दी की गुफा में समाधिस्थ कर महाराज निवृत्तिनाथ गुफा से बाहर आ गये। बड़ा करुण दृश्य था। निवृत्तिनाथजी महाराज प्रत्यक्ष कृपामूर्ति थे।

सिद्ध सन्त योगीराज निवृत्तिनाथ महाराज ने आत्मज्ञानामृत और कृष्णभक्ति से लोकमानस कृतकृत्य किया। महाराज ने अपने अभंगों में श्रीकृष्ण की रसमयी भक्ति का अत्यन्त मधुर और हृदयद्रावक वर्णन किया है। महाराज ने श्रीहरि के निर्गुण-सगुण स्वरूप, सद्गुरु-प्रसाद, पण्ढरीमाहात्म्य, सन्त-महिमा आदि का अपनी वाणी में प्रकाशन किया है। निवृत्तिनाथजी महाराज ने पिण्ड में ब्रह्माण्ड की अनुभूति प्रकट की है कि इस व्यष्टि-पिण्ड में ब्रह्माण्ड सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। जीव-जीवनी, अण्ड, सब-के-सब तथा चराचर में व्यक्त आत्मा इसी में है। एक परमात्मतत्त्वामृत ही सर्वत्र झर रहा है, बरस रहा है। घटमठ में आत्मा ही अपने आप चैतन्यस्वरूप में अभिव्यक्त है। (निवृत्तिनाथ का कथन है) मुझे सर्वत्र गोपाल का ही दर्शन हो रहा है—

काया हे ब्रह्माण्ड ठसवलें पिण्ड। जीव जीवनीं अंड एकातत्वें।
आत्मा चराचरीं व्यापक कुसरीं। एक तत्त्व निर्धारी क्षरला से।
घट मठ व्यापींलें आपें आप सचरलें। कल्पनों बुडाले संकल्पपरया।
निवृत्ति चें निराल जीवन पे सकल। प्रयक्ष गोपाल दिठीं दिसे।

श्रीनिवृत्तिनाथ महाराज का एक अभंग में कथन है कि ध्यान, उन्मनी समाधि में सर्वत्र एक हरि ही विराजमान हैं। वेदों का वेदत्व और शास्त्रों का विवेक, श्रुति, परलोक, वैकुण्ठ आदि हमारे हरि ही हैं। उन्हीं में सत्स्वरूप की उत्पत्ति और उसकी परिपक्वता है। गहिनीनाथ के प्रसाद से मुझे स्पष्ट श्रीरंग गोविन्द की प्राप्ति हुई—

ध्यान ना उन्मनी दृढ़ना बन्ध। सर्वी सर्व पूर्णीं हरि एकु।
वेदा च वेदकुं शास्त्रां च विवेकु। श्रुती परलोकु हरि माँझा।
उगवलें क्षेत्र पिकतें घोलत। ते सें हें अनन्त रूप दिसे।
निवृत्ति चोखाल गायनी प्रसाद। श्रीरंग गोविन्द दिधला मज॥

मन की उन्मनी अवस्था, ध्यान आदि में सब कुछ उलटा हो गया। महाराज निवृत्तिनाथ का कथन है, मन में समाई हुई मूर्ति, श्रीकृष्ण की मधुर आकृति सब को अच्छी लगती है। यशोदा की गोद में बैठी कृष्ण की मूर्ति ने हमारे ध्यान को हर लिया, श्रीकृष्ण हमारे ध्यान में समा गये। ध्यानमय हो गये। मेरा मन निर्मल हो गया। मुझे साक्षात् विष्णुपद-वैकुण्ठ की प्राप्ति हो गयी। निवृत्तिनाथजी का वर्णन है—

उफराटी माल उफराटें ध्यान। मनां चे उन्मन मूर्ति माझी।
ते रूप आवड़े भोगयी साबड़े। यशोदेशीं कोड़ें बुझा वितु।
मोठेनि परिमाण हारपलँ ध्यान। आपणचि कृष्ण सर्व जाला।
निवृत्ति ची जपमाल हे गोमटी। मन हे वैकुंठी ठेवियलें।

निवृत्तिनाथजी ने सारी सृष्टि में सर्वत्र कृष्णरूप श्रीगोपाल चतुर्भुज की निराली छवि का दर्शन किया। उन्होंने कहा कि नीले आसमान के नीले वर्ण का तेज गोपाल का ही प्रतिबिम्ब है। यह नीलवर्ण श्यामसुन्दर नन्दराज के घर में क्रीड़ामग्न है। महाराज का अभंग है—

बिम्बी बिम्ब येक बिम्बलें सम्यक। आपण तिन्हीं लोक एक्यारूपें।
तो कृष्ण रूप ठासा गोपालां लाधला सर्वत्र देखिला चतुर्भुज।
निलिमा अबरीं नीलवर्ण तेज। गोपाल सहज बिम्बा कारें।
निवृत्ति परिपाठ नील वर्ण खरा। नन्दा चिया धरा कृष्ण आले।

निवृत्तिनाथ ने कहा कि जिससे ॐकार की उत्पत्ति होती है, वह श्रीधर गोकुल में निवास करता है, जगत् के समस्त प्राणियों का वह पिता है। वह हरि नन्द के घर में शोभित है। यह सुखानुभव योगियों को वैकुण्ठ में भी प्राप्त नहीं है, जो यादवेश्वर से सुखानुभव मिलता है—

जेथूनि उद्गारु प्रसवे एकारु। तोचि हा श्रीधरु गोकुलीं बसे।
जनकुहा जगाचा, जीव लगु साचा। तोहरि आमुचा नन्दा घरीं।
न भाये वैकुण्ठी योगिया चेभेटो। पाहता ज्ञान दुष्टीं नये हातां।
निवृत्ति म्हणे देवा म्हणिता हे रावो। तो सुखानुभवों यादवासो।

निवृत्तिनाथ महाराज ने हरिनाम के कीर्तन का बड़ा सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत किया है। गुरु गहिनीनाथ के अन्तर्देश-हृदय में अमृतमय उद्गार की वृष्टि हुई—

गयनी गहिवरु कृपेचा उद्गार। वरुषला उदार अमृतमय।
तीचि ओध साचा मुक्ताईसि लाठा। चालिंलो वैकुण्ठा समारम्भे।
कुँचे गरुडटके ढाल श्रुतिहरि। चालिलो गजरीं हरि संगें।
निवृत्ति वैष्णव सोपान खेचर। करिताती गजर हरि नामें।

महाराज निवृत्तिनाथ का अभंग है कि वेदादिका मत है कि सब कुछ हरि ब्रह्म है। श्रुति का भी यही प्रतिपादन है। ब्रह्म तो स्वयं आत्माराम है। चैतन्य सृष्टि ही ब्रह्ममयी है। सब कुछ नारायण है, नारायण से रिक्त कोई स्थान नहीं है—

सर्व हरि ब्रह्म वेदादिक मतीं। श्रुती ही बोलती तेणें पन्थों।
ब्रह्मा माजी जयो ब्रह्माण्ड उदयो। ब्रह्म हे स्वयंभवो आत्माराम।
शास्त्रें समवाय उपनिषदें गाती। चैतन्याची सृष्टी ब्रह्ममय।
निवृत्ति निरोपण सर्वनारायण। हरि विण दिन रिता नाहीं।

निवृत्तिनाथ आत्माराम महायोगी थे। उन्होंने श्रीकृष्ण का निर्गुण-सगुण निराकार-साकार स्वरूप से परे होकर, उन्मनी समाधि से भी अतीत होकर चिन्तन किया। यही उनकी गुरुता है। इस गुरुता का स्मरण सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने किया कि गुरु सन्त-कुल का राजा है, गुरु प्राण है, गुरु विश्राम है। गुरु के बिना त्रिलोक में दूसरा कोई देव नहीं है। गुरु सुख का सागर है, प्रेम का आगार है, धैर्य का पहाड़ है, वह अनुपम है। गुरु वैराग्य का मूल है, वह परब्रह्म परमात्मा है, गुरु कामधेनु है। वह ज्ञानांजन प्रदान कर अपनी दिव्य सम्पत्ति का दर्शन कराता है, वह पाप का खण्डन करता है। उसने मुझे तारक मन्त्र प्रदान किया—

गुरु हा सन्त कुली चा राजा। गुरु हा प्राण बिसाबा माझा।
गुरु विण देव दुजा। नाहीं नाहीं त्रिलोकीं।
गुरु हा सुखा चा सागरु। गुरु हा प्रेमा चा आगरु।
गुरु हा धैर्याचा डोंगरु। कदा कालो डलमलीना।
गुरु वैराग्या चे मूल। गुरु हा परब्रह्म केवल।
गुरु सोऽवीतात्काल। गांठ लिंग देहाची।
गुरु हासाधकांसी साह्य। गुरु भक्ता लागी माय।
गुरु हा कामधेनु गाय। भक्ताधरी दुमतसे।
गुरु घाली ज्ञानांजन। गुरु दाखवी निज धन।
गुरु सौभाग्य देऊन। साधुबोध नान्दवी।
गुरु भक्ती चें मण्डण। गुरु दोषां चें दण्डण।
गुरु पापांचें खण्डण। नाना परीं करीत से।
काया काशी गुरु उपदेशी। तारक मन्त्र दिल्हा आम्हांसी।
बाप रखुमा देवी वरासी। ध्यान मनासी लागले।

निवृत्तिनाथजी महाराज पृथ्वी पर २४ साल तक विराजमान थे। सम्वत् १३५४ वि. में उन्होंने अलख निरञ्जन, परब्रह्मपद परमेश्वर में ऐक्य प्राप्त किया। उनकी कीर्ति और यौगिक विभूति अमिट है।

योगवाणी, 'नाथसिद्धचरित' विशेषांक, जनवरी, १९८४ से संकलित।

□

गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

१. हठयोग

गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है वह पुरानी परम्परा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। शास्त्रग्रन्थों में हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध-प्रधान साधना को ही कहते हैं। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं—

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या नाना भाव से हो सकती है। ब्रह्मानन्द के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चन्द्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं और चन्द्र पिंगला को (हठ. ३.१५)। इसलिए इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राण वायु के संचारित करने को भी हठयोग कहते हैं। इस हठयोग को 'हठसिद्धि' देने वाला कहा गया है।[१] वस्तुतः हठयोग का मूल अर्थ यही जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिससे हठात् सिद्धि मिल जाने की आशा की जाती थी। 'हठयोग' शब्द का शायद सबसे पुराना उल्लेख गुह्य समाज में आता है, वहाँ बोधि प्राप्ति को विधि बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधि प्राप्ति न हो तो 'हठयोग' का आश्रय लेना चाहिए।[२]

योगस्वरोदय में हठयोग के दो भेद बताये गये हैं। प्रथम में आसन, प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्म का विधान है। इनसे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध नाड़ी में पूरित वायु मन को निश्छल करता है और फिर परम आनन्द की प्राप्ति होती है। दूसरे भेद में बताया गया है कि नासिका के अग्र भाग में दृष्टि निर्बद्ध कर आकाश में कोटि सूर्य के प्रकाश को स्मरण करना चाहिए और श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगों का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से साधक चिरायु होता है और हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है।

इस योग को इसीलिए हठयोग कहा गया है। यह सिद्धसेवित मार्ग है।[३]

कहते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्ती जिसका उपदेश मृकण्डुपुत्र (मार्कण्डेय) आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट[४] प्रधान, भेद यह बताया जाता है कि पहली उन सभी आठ अंगों को स्वीकार करती हैं जिन्हें पातञ्जल योग के प्रसंग में हैं और दूसरी अन्तिम केवल छ: अंगों को[५], परन्तु यह भेद बहुत अधिक मान्य नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों में अष्टांग योग की भी बात आती है और षडंग योग की भी। गोरक्षशतक में षडंग योग की बात है और 'सिद्धसिद्धान्त संग्रह' में अष्टांग योग की।[६]

हठयोग का अभ्यासी शरीर की बनावट से अपरिचित रह कर सिद्धि नहीं पा सकता। मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डली अवस्थित है। यह कभी-कभी आठ वलयों में लपेटकर सोई हुई भी बताई गई है। (गो. १, ४७)। यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का ही व्यष्टि में व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है जो ब्रह्मद्वार को रोध करके सोई हुई है।[७] इसे जगाकर शिव से समरस कराना योगी का चरम लक्ष्य है। अन्यान्य विधियों से भी मोक्ष प्राप्त किया जाता है, परन्तु चाबी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डली के उद्‌बोधन से हठात् मोक्षद्वार अनायास ही खुल जाता है।[८] हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण भी इस योग को 'हठयोग' कहते हैं। इस कुण्डली-उद्‌बोध की कई विधियाँ हो सकती हैं।

शरीर में तीन ऐसी चीजें हैं जो परम शक्तिशाली हैं पर चंचल होने के कारण वे मनुष्यों के काम नहीं आ रहीं। पहली और प्रधान वस्तु है—(१) बिन्दु अर्थात् शुक्र। इसको यदि ऊपर की ओर उठाया जा सके तो बाकी दो भी स्थिर होते हैं। बाकी दो हैं—(२) वायु और (३) मन। हठयोगी का सिद्धान्त है कि इनमें से किसी एक को भी यदि वश में कर लिया जाए तो दूसरे दो स्वयमेव वश में हो जाते हैं। कभी-कभी एक चौथी वस्तु की भी चर्चा शास्त्र में आ जाती है। वह है वाक् या वाणी।

'अमरोध शासन' में (पृ. ७) लिखा है कि मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के बीच योनि में स्वयंभू लिंग है जिसे पश्चिम लिंग कहते हैं। यही पुरुषों के शुक्र और स्त्रियों के रज:स्खलन का मार्ग है। यही काम, विषहर और निरञ्जन का स्थान है। वीर्य स्खलन की दो अवस्थाएँ होती हैं। इन दोनों के पारिभाषिक नाम प्रलयकाल और विषकाल हैं। इन दो अवस्थाओं में जो आनन्द होता है वह घातक है। एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरी का विषहर। तीसरी अवस्था नानाभाव विनिर्मुक्त सहजानन्द की अवस्था है, इसमें बिन्दु उर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है, तब यह सहज समाधि प्राप्त होती है जिसमें मन और प्राण अचंचल हो जाते हैं।[९] ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस बिन्दु को स्थिर और ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि नाड़ियों को शुद्ध किया जाय। हठयोग षट्कर्म के द्वारा वही कार्य करता है। इन शुद्धि की क्रियाओं का साधन ग्रन्थों में विस्तृत रूप से उल्लेख है। इनमें धौति है, वस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है—इन्हीं को षट्कर्म कहते हैं। नाड़ी के शुद्ध होने

से बिन्दु स्थिर होता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ हो जाता है, प्राण और मन क्रमशः अचंचल होते हैं और प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ समरस हो जाती हैं और योगी चरम प्राप्तव्य पा जाता है। इस क्रिया के लिए ही लोग उस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करते हैं जिसमें नाना विधियों से पुरुष स्त्री के रज को और स्त्री पुरुष के शुक्र को आकर्षण करके ऊर्ध्वमुख करती है।[१०] यद्यपि यह साधना नाथमार्ग में प्रक्षिप्त जान पड़ती है पर अपने पारमार्थिक अर्थ में यह इस मार्ग में स्वीकृत थी। 'सिद्धसिद्धान्त संग्रह' में एक सन्दिग्ध श्लोक है जो इस साधना के प्रकाश में कुछ स्पष्ट हो जाता है।[११] इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसके ज्ञानमात्र से सिद्धमार्ग प्रकाशित हो जाता है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि केवल पारमार्थिक अर्थ में ही यह सिद्ध मार्ग में गृहीत है।

नाड़ीशुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओं का शमन सहज हो जाता है। नाना प्रकार के आसनों और प्राणायामों से सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है। नाड़ियों को प्रधानतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। दक्षिणाङ्ग में व्याप्त नाड़ियाँ सूर्य के अंग हैं और वाम भाग वाली चन्द्रमा के अंग। इन दोनों के बीच सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चन्द्र और सूर्य मार्गों को बन्द कर देता है और उनमें बहने वाली वायु शक्ति संयमित होकर योनिकन्द के मूल में स्थित सुषुम्ना की मध्य-वर्तिनी ब्रह्मनाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही ऊर्ध्वमुख होती है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्‌बोध सुकर हो जाता है।[१२]

यह कुण्डलिनी जब उद्‌बुद्ध होती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और साधक शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नाद को सुनने लगता है, जो अखण्ड रूप से निखिल ब्रह्माण्ड में निरन्तर ध्वनित हो रहा है। अनुभवी लोगों ने बताया है (हठ. ४-८३-८५) कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी झर्झर आदि का-सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शंख, घंटा और काहल की-सी आवाज सुनाई देती है, और अन्त में किंकिणी, वंशी और वीणा की झंकार सुनाई देने लगती है। परन्तु ज्यों-ज्यों साधक का चित्त स्थिर होता है त्यों-त्यों इन शब्दों का सुनाई देना बन्द होता जाता है, क्योंकि आत्मा अपने स्वरूप में क्रमशः स्थिर होता जाता है और फिर तो बाह्य विषयों से उसका सरोकार नहीं रह जाता।

इस प्रकार हठयोगी प्राणवायु को निरोध करके कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध करता है। उद्‌बुद्ध कुण्डली क्रमशः षट्‌चक्रों को भेद करती हुई सातवें अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से मिलती है। प्राणवायु ही इस उद्‌बोध और शक्ति संग मन का हेतु है इसलिए हठयोग में प्राण-निरोध का बड़ा महत्त्व है।

ऊपर जिस त्रिकोण चक्र की बात की गई है उसके ऊपर चार दलों के आकार का एक चक्र है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं, उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जिसका आकार छः दलों के कमल का है, इस चक्र के ऊपर मणिपूरचक्र है और उसके भी भीतर हृदय के पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्मों के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार सोलह दल के पद्म के समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्‌चक्र हैं। इनमें सबके दलों की संयुक्त संख्या पचास है और यही

समस्त स्वर और व्यंजनों की मिलित संख्या भी है। प्रत्येक दल पर एक-एक अक्षर की कल्पना की गई है, प्रत्येक कमल की कर्णिका में कोई-न-कोई देवता और शक्ति निवास करती हैं। यह सब बातें साधकों के काम की हैं। इन षट्चक्रों को भेद करने के बाद मस्तिष्क में वह शून्य चक्र मिलता है जहाँ उद्बुद्ध कुण्डली को पहुँचा देना योगी का लक्ष्य है। यह सहस्त्रदलों के कमल के आकार का है, इसीलिए इसे सहस्त्रार भी कहते हैं। यही इस पिण्ड का कैलाश है, यहीं पर शिव का निवास है।[१३] इस महातीर्थ तक ले जाने वाली नाड़ी सुषुम्ना को इसीलिए शाम्भवी शक्ति कहा जाता है, क्योंकि वैसे तो प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियों की संख्या ७२ हजार है पर असल में यह शाम्भवी शक्ति सुषुम्णा ही सार्थक है; बाकी सब तो निरर्थक हैं।[१४] इस प्रकार यह ठीक ही कहा गया है कि हठयोग असल में प्राणवायु के निरोध को कहते हैं और राजयोग मन के निरोध को।

किन्तु 'योग शिखोपनिषद्' में राजयोग अन्यभाव से वर्णित है। उक्त उपनिषद् में भी चार प्रकार के योग कहे गये हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। मन्त्रयोग में कहा गया है कि जीव के निश्वास-प्रश्वास में 'ह' और 'स' उच्चरित होते हैं। 'ह'कार के साथ प्राणवायु बाहर आता और 'स'कार के साथ भीतर जाता है। इस प्रकार जीव सहज ही 'हं-सः' इस मन्त्र का जप करता रहता है। गुरुवाक्य जान लेने पर सुषुम्ना मार्ग में यही मन्त्र उल्टी दिशा में उच्चरित हो 'सोऽहं' हो जाता है और इस प्रकार योगी 'वह' (सः) के साथ 'मैं' (अहम्) का अभेद अनुभव करने लगता है। इसी मन्त्रयोग के सिद्ध होने पर हठयोगी के प्रति विश्वास पैदा होता है। इस हठयोग में हकार सूर्य का वाचक है और सकार चन्द्रमा का। इन दोनों का योग ही हठयोग है। हठयोग में जड़िमा नष्ट होती है और आत्मा-परमात्मा का अभेद सिद्ध होता है। इसके बाद वह लय योग शुरू होता है जिसमें पवन स्थिर हो जाता है और आत्मानन्द का सुख प्राप्त होता है।[१५] इस लययोग की साधना से भिन्न अन्तिम मार्ग राजयोग है। योनि के महाक्षेत्र में जपा और बन्धूक पुष्पों के समान लाल रज रहा करता है। यह देवी तत्त्व है। इस रज के साथ रेत का जो योग है वही राजयोग है।[१६] इससे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निश्चय ही यहाँ पारमार्थिक अर्थ में 'रज' और 'रेतस्' (शुक्र) का उल्लेख हुआ है। परन्तु शब्दों का प्रयोग अपूर्व तथा अर्थपूर्ण है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने इसकी टीका में विशेष कुछ नहीं लिखा। सिर्फ इतना और भी जोड़ दिया है कि शिश्न मूल का 'रेतस्' शिवतत्त्व है।[१७]

गोरक्षनाथ ने स्वयं कहा है कि जो व्यक्ति छः चक्र, सोलह आधार और दो लक्ष्य तथा, व्योमपञ्चक को नहीं जानता वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। षट्चक्र की बात ऊपर बताई गई है। आधार सोलह हैं—दृष्टि को स्थिर करने वाला (१) पादांगुष्ठ, अग्नि को दीप्त करने वाला, (२) मूलाधार, संकोच-विकास के अभ्यास द्वारा अपान वायु को वज्रगर्भनाड़ी में प्रवेश कराकर शुक्र और रज को आकर्षण कराने वाली वज्रोली के सहायक, (३) गुह्याधार और (४) बिन्दुचक्र, मल-मूत्र और कृमि का विनाशक, (५) नाड्याधार, नादोत्पादक, (६) नाभिमण्डलाधार, प्राण-वायु का रोधक, (७) हृदयाधार, इड़ा पिंगला में प्रवहमान वायु को रोकने वाला, (८) कण्ठाधार और कण्ठमूल का वह, (९) क्षुद्रघंटिकाधार जिसमें दो लिंगाकार लोरें लटक रही हैं, जहाँ जिह्वा पहुँचाने से ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्र मण्डल का झरता हुआ रस

पीना सहज होता है। खेचरी मुद्रा का सहायक, (१०) ताल्वन्ताधार, जिह्वा के अधोभाग में स्थित, (११) रसाधार, रोगशामक (१२) ऊर्ध्वदन्तमूल, मन को स्थिर करने वाला, (१३) नासिकाग्र, ज्योति को प्रत्यक्ष करने में सहायक, (१४) नासामूल, सूर्याकाश में मन को लीन करने वाला, (१५) भ्रूमध्याधार और (१६) सोलहवाँ नेत्राधार जिसमें ज्योति प्रत्यक्ष अवभासित होती है। ये सब बाह्यलक्ष्य हैं। अन्तरलक्ष्य षट्चक्र है। दो लक्ष्य यही हैं। पाँच आकाश में इस प्रकार हैं—(१) श्वेतवर्ण ज्योति रूप आकाश, इसके भीतर (२) रक्तवर्ण ज्योतिरूप प्रकाश है, इसके भी भीतर (३) धूम्रवर्ण महाकाश, फिर (४) नीलवर्ण ज्योतिरूप तत्त्वाकाश है, और इसके भी भीतर विद्युत के वर्ण का ज्योति रूप (५) सूर्याकाश है।[१८]

इन विविध ध्यानों को आसन, प्राणायाम और मुद्रा के अभ्यास से सिद्ध किया जाता है। मुद्रा का उद्देश्य शक्ति को उपर क्री ओर चलाना है, इसलिए 'अमरौध शासन' में मुद्रा को 'सारणा' (=चलाने वाली) कहा गया है। अब, अगर विचार किया जाए तो जीव के जन्म-मरण का कारण इस सृष्टि-चक्र में पच-पच कर मरने का रहस्य सिर्फ यही है कि किसी अनादिकाल में शिव और शक्ति क्रमश: स्थूलता की ओर अग्रसर होने के लिए अलग-अलग स्फुटित हुए थे। शिव और शक्ति जिस दिन समरस होकर एकमेव हो जाएँगे उस दिन ये सारा प्रतीयमान सृष्टिचक्र अपने आप नि:शेष हो जाएगा। शक्ति कुण्डलिनी रूप में देह में स्थित है और शिव भी सहस्त्रार में विराजमान है। जन्म-जन्मान्तर के संचित मलों के भार से कुण्डलिनी दबी हुई है। एक बार यदि मनुष्य ध्यान धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाड़ियों को शोधकर पवित्र करे तो वह परम पवित्र सुषुम्ना मार्ग खुल जाए जिसके ब्रह्मरन्ध्र को ढंक कर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोई हुई है। वस्तुत: यह सृष्टि ही कुण्डली है। वह दो प्रकार की है—स्थूल और सूक्ष्म। साधारणत: स्थूलरूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं, अज्ञान के बोझ से दबे रहने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नहीं जान पाते। सिद्धियाँ स्थूला कुण्डलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं परन्तु सर्वोत्तम ज्ञानरुपिणी-परा संवित्-जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है उसको पहचाने बिना परमपद नहीं मिलता। शक्ति जब उद्‌बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है—इसी को पिण्डाब्रह्माण्डैक्य भी कहते हैं—तो योगियों की परम काम्य कैवल्य अवस्थावाली सहजसमाधि प्राप्त होती है जिससे बढ़कर आनन्द और नहीं है। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेद पाठ से नहीं, ज्ञान से भी नहीं, वैराग्य से भी नहीं।[१९] जो इस सहजसमाधि रूप परम विश्राम को पाना चाहे वह अच्छे गुरु के चरण कमलों की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर होगा और न शिव-शक्ति सामरस्य ही—

अनुबुभूषति यो निजविश्रम स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसंसरणात् परमं पदं समरसीकरणं च न दूरतः॥ —सि.सि. सं. ५५९

२. गोरक्ष-सिद्धान्त

गोरक्षनाथ के नाम पर जितने भी ग्रन्थ पाए जाते हैं वे प्राय: सभी साधन-ग्रन्थ हैं। उनमें साधना के लिए उपयोगी व्यावहारिक तथ्यों का ही संकलन है। बहुत कम पुस्तकें ऐसी हैं जिनसे उनके दार्शनिक मत का, और सामाजिक जीवन में उसके उपयोग का प्रतिपादन हो। सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज में

'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' नाम की एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक प्रकाशित है। इसके सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान् म.म. पं. गोपीनाथ कविराज हैं। पुस्तक में पुरानी ५८ पोथियों के प्रमाण संग्रह किये गये हैं।[२०] उद्धृत पुस्तकों में से अनेक उपलभ्य नहीं हैं।

यह तो कहना ही व्यर्थ है कि गोरक्षनाथ के पहले योग की बड़ी जबर्दस्त परम्परा जो ब्राह्मणों और बौद्धों में समान रूप से मान्य थी इसका एक विशाल साहित्य था। नाना उपनिषदों में नाना भाग से योग की चर्चा हुई है और बौद्ध साधकों के पास तो काया योग का साहित्य अन्यान्य अंगों से कहीं बड़ा था। इन सबसे गोरक्षनाथ ने सार संग्रह किया होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं और यह जानने का कोई उपाय नहीं रह गया है कि कहाँ से कितना अमृत उन्होंने संग्रह किया था। अब भी योग साधना बताने वाली उपनिषदें कम नहीं हैं।[२१] यह कह सकना बड़ा कठिन है कि इसमें कौन-सी गोरक्षनाथ के पहले की लिखी हुई हैं और कौन-सी बाद की। डॉ. डायसन[२२] ने कालक्रम से इन उपनिषदों को चार भागों में विभक्त किया है—

१. प्राचीन गद्य उपनिषत्
२. प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषत्
३. परवर्ती गद्य उपनिषत्
४. आथर्वण उपनिषत्

ये क्रमशः परवर्ती हैं। आथर्वण उपनिषदों में संन्यास उपनिषद्, योग उपनिषद्, सामान्य वेदान्त उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद् तथा शैव और शाक्तादि उपनिषद् शामिल हैं। पता नहीं किस आधार पर डायसन ने इन सब को आथर्वण उपनिषद् कहा है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने २० योगोपनिषदों में से एक को भी 'अथर्ववेद' से सम्बद्ध नहीं माना। परन्तु डायसन का यह कथन ठीक जान पड़ता है कि योग उपनिषद् परवर्ती हैं। यदि यह मान लिया जाए कि षडंग योग गोरक्षनाथ आदि का प्रवर्तित है, आसनों की संख्या अधिक मानना हठयोगियों का प्रभाव है और नादानुसन्धान इन लोगों की ही विशिष्ट साधना है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें कई उपनिषद् गोरक्ष परवर्ती हैं। 'अमृतनाद', 'क्षुरिका', 'ध्यानबिन्दु' और 'योगचूड़ामणि' आदि उपनिषदों में षडंग योग की चर्चा है, 'दर्शनोपनिषद्' में नौ और 'त्रिशिख ब्राह्मण' में अट्ठारह आसन बताए गये हैं। 'ब्रह्मबिन्दु और 'ब्रह्मविद्या' आदि उपनिषदों में नादानुसन्धान का उल्लेख है, योगतत्त्व, योगशिखा और योगराज उपनिषदों में चार प्रकार के योग और प्राणापान समीकरण की विधि है। कई उपनिषदों में जालन्धर और उड्डियान बन्धों की चर्चा है। यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता कि सारी उपनिषदें गोरक्षनाथ के बाद ही लिखी गई हैं—कुछ में प्राचीनता के चिह्न अवश्य हैं—परन्तु इनमें से अधिकांश पर उनका प्रभाव पड़ा है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में प्रायः सभी मुख्य-मुख्य योगोपनिषदों के वाक्य प्रमाण रूप से उद्धृत किये गये हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो इस संग्रह में उपलब्ध नहीं हैं। गोरक्ष, सर्वकालाग्नि और शिव उपनिषदें ऐसी ही हैं। अड्यार लाइब्रेरी ने ७१ उपनिषदों का एक और उपनिषत्-संग्रह प्रकाशित किया था। उसमें

'शिवोपनिषत्' है पर और नहीं हैं। इस प्रकार 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' के उद्धृत वाक्य महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। जो हो, परवर्ती साधना साहित्य के अध्ययन के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। उस पुस्तक के सिद्धान्तों को संक्षेप में यहाँ संग्रह किया जा रहा है।

ग्रन्थ के आरम्भ में ही गुरु की महिमा बताई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयों का मूल है, इसलिए बहुत सोच-समझ कर गुरु बनाना चाहिए।[२३] एकमात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है; अवधूत-जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराजमान है, जिसके एक हाथ में त्याग और दूसरे में भोग है और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त है। 'सूत संहिता' में कहा गया है कि वह वर्णाश्रम से परे है, समस्त गुरुओं का साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है न बराबर। इस प्रकार के पक्षपात-विनिर्मुक्त मुनीश्वर को ही अवधूत कहा जा सकता है, उसे ही 'नाथ पद' प्राप्त हो सकता है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति है जो द्वैत और अद्वैत के द्वन्द्व से परे है। 'अवधूत गीता' में कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैत को चाहते हैं, कुछ द्वैत को; पर द्वैताद्वैतविलक्षण समतत्त्व को कोई नहीं जानता। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरन्तर हैं तो यह द्वैताद्वैत कल्पना क्या मोह नहीं है?[२४] इसलिए सिद्ध जालन्धर ने नाथ को द्वैत और अद्वैत दोनों से परे-द्वैताद्वैतविलक्षण-कहकर स्तुति की है।[२५]

यह मत अपने को वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनों के मत से अपनी विशेषता प्रतिपादित करता है।[२६] श्रुति इन लोगों के मत से साधिका नहीं है।[२७] वेद दो प्रकार के माने गये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञयाग का विधान करते हैं। योगियों को इससे कोई वास्ता नहीं, उनका मतलब तो केवल ऊँकारमात्र से है। यह ऊँकार ही सूक्ष्म वेद है।[२८] पुस्तकी विद्या का इसमें बड़ा मजाक उड़ाया गया है।[२९] और अद्वैत मत से नाथमत का उत्कर्ष दिखाया गया है। इस सिलसिले में एक मनोरंजक कहानी दी गयी है। शंकराचार्य अपने चार शिष्यों सहित नदी तीर पर बैठे थे। वहीं भैरव उनकी परीक्षा लेने के लिए कापालिक रूप से उपस्थित हुए और बोले कि 'आप तो अद्वैतवादी हैं, शत्रु और मित्र को समान भाव से देखते हैं, कृपया मुझे आप का सिर काट लेने दीजिए।' शंकराचार्य चक्कर में पड़ गये। दोनों ओर आफत थी, देते हैं तो प्राण जाता है, नहीं देते हैं तो अद्वैत मत स्वत: परास्त हो जाता है। उन्हें निरुपाय देखकर शिष्यों में से एक ने नृसिंह भगवान् को स्मरण किया। वे तुरन्त घटनास्थल पर पहुँच भैरव से भिड़ गये। तब भैरव ने कापालिक वेश त्यागकर अपना रूप धारण किया और प्रसन्न होकर मेघमद्र स्वर में कहा—अहो, अद्वैतवाद आज पराजित हुआ, मैंने चालाक मल्ल की भाँति अपने शरीर की हानि करके भी प्रतिद्वन्द्वी को परास्त कर दिया। आओ युद्ध करो। शंकाराचार्य इस ललकार का मुकाबला नहीं कर सके क्योंकि उनकी अद्वैत-साधना से संचित और क्रियमाण कर्म तो दग्धबीज की भाँति निष्फल हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म बने ही रहते हैं। एक कापालिकों का योगमार्ग ही ऐसा है जिसमें सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। सो प्रारब्ध कर्मों के प्रताप से शंकर जड़ हो गये। तब जाकर उन्होंने समझा कि उत्तम मार्ग क्या है। इसी अवस्था में उन्होंने 'सिद्धान्त बिन्दु' की रचना की जो असल में नाथमत का ग्रन्थ है। इसी अवस्था में उन्होंने 'वज्र सूचिकोपनिषद्' भी लिखी।

मुक्ति क्या है? मुक्ति वस्तुतः नाथस्वरूप में अवस्थान है। इसीलिए 'गोरक्ष-उपनिषद्' में कहा

गया है—अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता है अर्थात् अद्वैतभाव ही चरम नहीं है, सदानन्द वाली अवस्था उसके ऊपर है। वह बाह्याचार के पालन से नहीं मिल सकती। इस मत के अनुसार शक्ति सृष्टि करती हैं, शिव पालन करते हैं, काल संहार करते हैं और नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा हैं, बाकी सभी बद्ध जीव हैं—शिव भी, विष्णु भी और ब्रह्मा भी (पृ. ७०)। न तो ये लोग द्वैत-वादियों के क्रिया ब्रह्म में विश्वास रखते हैं न अद्वैतवादियों के निष्क्रिय ब्रह्म में। द्वैतवादियों के स्थान हैं, कैलास और बैकुण्ठ आदि, अद्वैतवादियों का माया-शबल ब्रह्मस्थान और योगियों का निर्गुण स्थान है पर बन्धमुक्ति रहित परमसिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुण से परे उभयातीत स्थान को ही मानते हैं क्योंकि नाथ, सगुण और निर्गुण दोनों से अतीत परात्पर हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव, वेद, यज्ञ, सूर्य, चन्द्र, विधिनिषेध, जल, स्थल, अग्नि, वायु, दिक् और काल—सबसे परे स्वयं ज्योतिः स्वरूप एकमात्र सच्चिदानन्द मूर्ति हैं—

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्वापिवायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैवकालः
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधि नैविकल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते। —सिद्धसिद्धान्त पद्धति

३. प्रणव, सूक्ष्म वेद और परा संवित

इस देश में निर्गुण ज्ञान-मार्ग की परम्परा बहुत पुरानी है। वेद की मूल संहिताओं में ही सगुण आत्मज्ञान और निर्गुण आत्मज्ञान के बीज उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु संहिताभाग में सगुण आत्मज्ञान पर अधिक बल है। वागम्भृणी के इस कथन में कि 'अहं विश्वेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः' सर्वव्यापी ऐश्वर्य गुण सम्पन्न सगुण आत्मज्ञान है। इस प्रकार के अनेक वचन मूलसंहिताओं में खोजे जा सकते हैं, जहाँ आत्मा को सर्वज्ञातृत्व, सर्वव्यापित्व और सर्वकर्तृत्त्व आदि धर्मों या गुणों से युक्त बताया गया है परन्तु उन्हीं दिनों निर्गुण आत्मज्ञान की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। बाद में कपिल ऋषि ने इस निर्गुण आत्मज्ञान को विशुद्ध तत्त्वचिन्तनमूलक दर्शन का रूप दिया जिसे 'सांख्य' कहते हैं। सांख्य दर्शन इस देश का बहुत पुराना तत्त्वचिन्तनपरक शास्त्र है। कुछ लोग तो इसे सबसे पुराना दर्शन कहते हैं और महाभारत के शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक को अपने विश्वास के प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं—

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेशु सांख्येषु तथैव योगे॥
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥

(हे राजन! बड़े लोगों में जो ज्ञान है, और जो पुराण, वेद, सांख्य और योगशास्त्र में उपदिष्ट है और जो ज्ञान विविध रूपों में पुराणों में पाया जाता है, वह सभी सांख्य से ही आया है।)

सांख्य और योग का तत्त्वदर्शन एक ही है। कपिल ने निर्गुण आत्मज्ञान को युक्ति-तर्क द्वारा प्रतिष्ठित किया था। उसे प्राप्त करने का उपाय बताने वाला शास्त्र योग है। प्राचीन शास्त्रों से जान पड़ता है कि जो लोग तत्त्वनिदिध्यासन, मनन-चिन्तन आदि द्वारा निर्गुण आत्मज्ञान का साक्षात्कार करते थे वे

'सांख्य' कहलाते थे और जो तप, स्वाध्याय और अभ्यासवैराग्य द्वारा इस 'केवल' स्वरूप का साक्षात्कार करते थे वे योगी कहलाते थे। दोनों का तत्त्वज्ञान एक था। कुछ कहते हैं कि मूलसूत्रों से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद हू-ब-हू एक ही है। जो भी हो, परम्परा से यही विश्वास किया जाता है कि ये दोनों तत्त्ववाद एक ही हैं। 'गीता' में भगवान् ने कहा है कि केवल बालबुद्धि के लोग ही सांख्य और योग को पृथक मानते हैं, पण्डितजन ऐसा नहीं समझते। इस सांख्यमत में पुरुष अनेक हैं, प्रकृति उन्हें अपने बन्धन में बाँधती है। हैं दोनों ही अनादि। पुरुष विशुद्ध चेतनस्वरूप है, उदासीन है और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह बन्धन में है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति में तीन गुण-सत्व, रजस, तमस—साम्यावस्था में रहते हैं। पुरुष के संयोग से यह साम्यावस्था विक्षुब्ध होती है और क्रमशः उस बन्धन रूप जगत् का विकास होता है। बुद्धि, मन, इन्द्रिय और भूतमात्र प्रकृति की ही विकृति हैं। गुणों में कमी-बेशी के कारण वे भिन्न रूपों में दिखाई दे रहे हैं। पुरुष कभी देह को, कभी मन को, कभी बुद्धि को अपना रूप मानता रहता है। ज्ञान होते ही वह इस गुणमयी प्रकृति से अलग होकर 'केवल' शुद्ध चेतन के रूप में आ जाता है। केवल रूप में बने रहने की इस अवस्था का नाम कैवल्य या मोक्ष है। योगशास्त्र में इसी 'केवल' रूप में स्थित होने की अवस्था को प्राप्त करने के उपाय बताए गये हैं।

इस अवस्था में चेतनस्वरूप पुरुष स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करता है। इसीलिए योगशास्त्र में उसे 'स्वप्रकाश' कहा जाता है। 'पातञ्जल' में पुरुष को द्रष्टा कहा गया है। द्रष्टा दृशिमात्र है, वह प्रत्ययानुपश्य है (२। २०)। टीकाकारों ने 'दृशि' का अर्थ किया 'चित्' या स्वबोध। 'मात्र' प्रत्यय के प्रयोग से उसे सर्व विशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य कहा गया है। केवल, स्वबोधमात्र। सर्वविशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य जो बोध है वही द्रष्टा है। इसी विचार से आगे चलकर 'स्वसंवेदन' ज्ञान और ज्ञाता के विचारों का विकास हुआ है।

यह संसार द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से या गृहीता, ग्राह्य और ग्रहण रूप से त्रिपुटीकृत है। योगशास्त्र में गृहीता और द्रष्टा में अन्तर बताया जाता है। द्रष्टा अविकारी ज्ञाता है, ग्रहीता विकारी। द्रष्टा और ग्रहीता एक जैसे तो हैं पर एक नहीं हैं। ग्रहीता बद्ध या अज्ञानी जीव है। बद्ध जीव में कभी तो जानने की वृत्ति जागृत रहती है, कभी निरुद्ध। इसीलिए वह केवल 'ग्रहीता' कहा जाता है। मैं द्रष्टा हूँ, इस प्रकार की बुद्धि ही ग्रहीता है। परन्तु द्रष्टा सदा स्वद्रष्टा है। अपने को आप ही देखने वाला। उसका ज्ञान उससे भिन्न नहीं है। वह स्वसंवेदन है। उपनिषदों में कहा गया है कि जो ज्ञाता है उसे कौन नहीं जान सकता है। वह स्वयं को जानता है, स्वयं ही वेदक है, स्वयं ही वेद्य, वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोवर्तते— (वृह. उप.)।

इसी 'स्वसंवेद' शब्द से प्राकृत का 'सुसंवेद' बना है। 'सुसंवेद' ही आगे चल कर 'सुच्छंवेद' और 'सुच्छमवेद' के रूप में परिवर्तित हुआ। यह सूच्छमवेद संस्कृत में फिर से गृहीत हुआ। परवर्ती नाथपन्थियों ने अपने संस्कृतग्रन्थों में 'सूक्ष्मवेद' शब्द का व्यवहार किया है। 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' में सूक्ष्मवेद और स्थूलवेद ये दो भेद किये गये हैं। (पृ. २२-२७ और पृ. ७५-७६)। इस ग्रन्थ के अनुसार

स्थूलवेद यज्ञ-याग का विधान करते हैं और सूक्ष्मवेद प्रणव या ऊँकार है। क्योंकि ऊँकार ही वेदों का सार है। यह निर्गुण आत्मज्ञान है।

भारतवर्ष के सभी आस्तिक दर्शन और पुराण आदि शास्त्र अपने को वेद पर आधृत या श्रुतिसम्मत मानते हैं। वेदान्त शास्त्र वेद-सम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करता है। श्रुतियों में परात्परतत्त्व को समझाने के लिए अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ दी गई हैं। उनमें से किसी एक को मुख्य वक्तव्य या महावाक्य मानकर उसी के आलोक में शेष अनुभूतियों की व्याख्या करने के कारण अनेक वेदान्ती मत प्रसिद्ध हुए हैं—परन्तु सभी वेदान्ती मानते हैं कि मनुष्य का सबसे बड़ा लक्ष्य—परम पुरुषार्थ—इस दुःखमय जगत् से छुटकारा पाना—मोक्ष—है। उनके मत से संसार दुःख रूप है और मोक्ष ब्रह्म स्वरूप ही है। कहा गया है कि जब मनुष्य जान जाता है कि वह क्या है, उसका स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न है, तो उसका छुटकारा भी हो जाता है। वह जो छूट नहीं रहा है उसका कारण अज्ञान या गलत जानकारी है। इसी गलत जानकारी को 'अविद्या' कहते हैं। सही जानकारी का नाम परा विद्या है। इस सही जानकारी का एकमात्र विषय है—आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान। इसीलिए वेदान्त शास्त्र को 'अध्यात्म विद्या' या 'ब्रह्मज्ञान' भी कहते हैं। जो वास्तविक ज्ञान है उसे परा संवित् कहते हैं।

संसार में ज्ञान के लिए तीन बातें वर्तमान रहती हैं। कोई जानने वाला होता है (ज्ञाता), कुछ बात जानी जाती है (ज्ञेय) और कुछ जानकारी प्राप्त होती है (ज्ञान)। इस प्रकार संसार में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान पृथक्-पृथक् होते हैं। परब्रह्म की जानकारी इससे भिन्न प्रकार की है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अलग नहीं होते। जो ज्ञाता है (आत्मा) वही ज्ञेय भी है (परब्रह्म) और वही ज्ञान भी है (परा संवित्)। श्रुतियों में कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है—ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। और ब्रह्म क्या है? विशुद्ध चित्तस्वरूप। सो, एक बार ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो संवित् है, जो संवेत्ता है और जो संवेदन है वह सब एक ही है। परासंवित् की प्राप्ति केवल व्यवहार की भाषा है। परासंवित् स्व-संवेदन ज्ञान है। स्वयं को देखना ही स्वसंवेद है। यही पराविद्या है, यही परासंवित् है। इसीलिए जिस परमतत्त्व को वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है, और शैवागमों में शिव कहा जाता है, उसे 'स्वयं' नाम दिया जाता है—स्वयं स्वयं का प्रकाशक, स्वयं स्वयं का ज्ञाता और स्वयं स्वयं का ज्ञान—

कार्य-कारण-कर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलं।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत्॥

इस अभेदमूलक आत्मज्ञान ने आगे चलकर सांख्य योग में प्रथित निर्गुण आत्म-ज्ञान को प्रभावित किया है। आगमशास्त्रों में अनेक प्रकार से इस परासंवित् की महिमा बताई गई है। अनेक साधनाओं के बाद चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, तब वस्तुतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। वही महानन्दावस्था है। उसे केवल संवितमात्र, स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध आत्मतत्त्व साक्षात्कार होता है। फिर साधक नित्य अस्खलित भाव से उस अवस्था में स्थित हो जाता है और नानात्व का, भेद-बुद्धि का, अवसान हो जाता है। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में इसी भाव को बताने के लिए कहा गया है—

निजावेशात् सम्यङ् निविड़तम नैरुत्थ्यविधिवत्।
महानन्दावस्थास्फुरति वितता काऽपि सततम्॥
ततः संविन्नित्यामलसुख चमत्कारजनकः।
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः॥

यह विद्या किसी शास्त्र के द्वारा नहीं समझाई जा सकती। अधिक-से-अधिक उसकी ओर इंगित किया जा सकता है। यह अनुभवैकगम्य है, स्वसंवेद्य है।

स्वसंवेदन ज्ञान ही सूक्ष्मवेद है—शब्द रूप में भी और अर्थरूप में भी। परन्तु नाथयोगी प्रणव या ऊँकार को ही सूक्ष्मवेद मानते हैं। इसका क्या अर्थ है? आत्म-ज्ञान के लिए आवश्यक है कि अनात्म वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लिया जाय। अभेद का ज्ञान तभी हो सकता है जब ठीक-ठीक मालूम हो जाए कि यह प्रपंचात्मक भेद क्यों ऐसा दिखाई दे रहा है। इसके लिए शास्त्रों में इस भेदात्मक विश्व का कारण समझाया गया है। यह प्रपंच कैसे बना? बना तो क्या; अवभासित हो रहा है। इसकी भासमानता की क्या प्रक्रिया है।

कोई नहीं बता सकता कि परिदृश्यमान विश्वप्रपंच कब शुरू हुआ। इसीलिए यह अनादि कहा जाता है। श्रुति से जाना जाता है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म को इच्छा हुई कि ''मैं एक हूँ अनेक होऊँ'—''एकोऽहं बहुस्याम्''। क्यों उसे इच्छा हुई? उसे किस बात का अभाव था? कोई नहीं बता सकता। यह उसकी लीला है। यही इच्छा प्रथम स्पन्द है। ज्ञान से इच्छा हुई और इच्छा ने क्रिया का रूप धारण किया। इस प्रकार ज्ञान-इच्छा-क्रिया का क्रम शुरू हो गया। वस्तुतः सारा जगत् ज्ञान-इच्छा-क्रिया रूप में त्रिपुटीकृत है। शाक्त आगमों में इस त्रिपुटीकरण वाली शक्ति को ही 'त्रिपुरा' कहा गया है। ब्रह्म की यह एक शक्ति है। शैव आगमों में परब्रह्म को ही 'परंशिव' कहते हैं।

इस वेदवाक्य के आधार पर ही समस्त आस्तिक दर्शन सृष्टि-प्रपंच की व्याख्या करते हैं। ज्यों ही ब्रह्म में इच्छाशक्ति का आविर्भाव हुआ त्योंही वह सगुण हो गया। सृष्टि का हेतु यह सगुण ब्रह्म ही है। वेदान्त इसी को अपरंब्रह्म कहता है और शैवागम अपरशिव। यही प्रथमा कला प्रादुर्भाव होता है; इसलिए शैवागम इसे 'सकल' परमात्मा कहते हैं। सकल अर्थात् कलायुक्त। सच्चिदानन्द-विभव परब्रह्म या परमशिव से सगुण अपरंब्रह्म या सकल परमेश्वर तक आने की स्थिति तक कितने ही रूपों की कल्पना की जा सकती है। पर (सुप्रीम) तत्त्व क्रमशः सूक्ष्म (सट्ल) और फिर क्रमशः स्थूल (ग्रॉस) रूप में व्यक्त हो रहा है। एक रूप से दूसरे तक पहुँचने की अन्तरवर्ती अवस्थाएँ अनेक होंगी। अनन्त हो सकती हैं। साधना मार्ग के यात्रियों ने अपने अनुभव अनेक प्रकार के बताये हैं। मूल बात यह है कि सगुण ब्रह्म या सकल परमात्मा में जो इच्छा हुई वह एक प्रकार का स्पन्द या कम्पन (वाईब्रेशन) है, उपनिषदों की भाषा में 'एजन' है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द या नाद कम्पन का ही मूर्तरूप है। इसलिए शैव और शाक्त आगमों में ब्रह्म की (या शिव की) इस इच्छा को नाद कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य अपने कानों से जो शब्द सुनता है वह स्थूल है या बहुत स्थूल। केवल बौद्धिक दृष्टि से हम उस प्रथम सूक्ष्म स्पन्द की बात सोच सकते हैं। इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ क्रिया लगी है। क्रिया को

ही बिन्दु कहते हैं। 'शारदातिलक' (१.७) में कहा गया है कि सच्चिदानन्द विभव शिव सकल (कला सहित, सगुण) परमात्मा के रूप में प्रकट हुए और उन्हीं की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई—

सच्चिदानन्दविभवात् संकलांत् परमात्मनः।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तमाद्बिन्दुसमुद्भवः।

सकल परमात्मा की इस शक्ति को ज्ञानशक्ति कहते हैं। नाद इच्छाशक्ति है, बिन्दु क्रियाशक्ति है। यही ज्ञान-इच्छा और क्रिया का त्रिकोण है। नाद या इच्छाशक्ति गति है, बिन्दु या क्रियाशक्ति स्थिति। गति और स्थिति मिलकर रूप या आकार प्रकट करते हैं।

यद्यपि यह परम सूक्ष्म तत्त्व है, स्थूल उच्चरित शब्द से उसका ठीक-ठीक तात्पर्य नहीं समझा जा सकता पर लाचारी यह है कि उसको मानस पटल पर ले आने का साधन तो हमारे पास यही स्थूल शब्दों वाली भाषा है। सो, जब हम उस तत्त्व को समझाने के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं तो सारी बात उसमें अँटती नहीं। इसलिए ऐसे प्रसंगों में भाषा को साधन मात्र मानना चाहिए। उसकी सीमा में नहीं उलझना चाहिए। यहाँ स्थूल शब्दों में इस बात को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। मान लीजिये प्रथम स्पन्द नादरूप में प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर अ-कार है। सबसे स्थूल ओष्ठ्य वर्णों का अन्तिम म-कार है जो ओष्ठों को तो बन्द कर ही देता है, नाक तक की सहायता लेता है। अब, हमारा जाना हुआ मूलस्वर या नाद अ-कार ही है। मान लीजिये, प्रथम स्पन्द 'अ' रूप में गतिशील हुआ। यदि सिर्फ गतिशील ही रहे तो कम्पन या स्पन्द नहीं होगा। स्थिति भी चाहिए। नाद ही गति है, बिन्दु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही जगत् है। सो गति रूप नाद सृष्टि के लिए आवश्यक है, उसके साथ बिन्दु भी। मकार अनुस्वार या चन्द्रबिन्दु रूप में ही तो बदलता है। अब 'अ' स्वर 'म्' व्यंजन से रुद्ध हुआ। कण्ठ से ओष्ठ तक उसे यात्रा करनी पड़ी और ओष्ठ बन्द हो गये। बन्द होते-होते वह 'उ' जैसा हो जाएगा। इस प्रकार अ-उ-म् प्रथम स्पन्द हुआ। पर समाप्त नहीं हुआ। यह तो कम्पन्न है, चलता ही रहेगा। एक बार उठ कर बन्द हो गया तो फिर कम्पन कैसा ? अ-उ-म् के इस अक्षरत्रय का मिलित रूप है 'ओम्'। स्थूलवर्णों से समझाया गया है, इसलिए इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जाएगा। परन्तु यह समझाने का एक तरीका भर है। प्रथम विश्व-ब्रह्माण्डव्यापी स्पन्द (कास्मिक वाईब्रेशन) कुछ इसी प्रकार का—लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में होगा, इसीलिए यह ॐकार विश्व का आरम्भ है। सगुण ब्रह्म का यह नवरूप है। 'नव', 'नवीन' आदि शब्द बहुत अच्छे नहीं हैं। क्योंकि जो नया होता है वह पुराना भी हो जाता है। प्रथम नया स्पन्द कभी पुराना नहीं हुआ। वह प्रति क्षण नित्य स्पन्दित हो रहा है। इसलिए केवल 'नव' कहना ठीक नहीं है—वह 'प्रणव' है—'नवंनवं जायमान' है। स्वयंवेद्य ज्ञान का यह प्रथम व्यक्त रूप है। कोई आश्चर्य नहीं कि नाथ-साधकों ने इसे 'सूक्ष्मवेद' कह दिया। कबीरदास इस रहस्य को जानते थे। वे जानने थे कि जो आदि ॐकार को ठीक-ठीक जानता है वह सृष्टि और प्रलय के रहस्य को उस रहस्य के उस मूलकर्ता को जो लिख कर मिटाया करता है, जानता है। 'ज्ञान चौंतीसा' में इसीलिए उन्होंने कहा है—

ओं ओंकार आदि जो जाने। लिखि के मेटे सो सोई जाने॥

इसी आरम्भिक समष्टिव्यापिनी वाक् को 'श्रीमद्भगवद्गीता' में 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है। एक ही कम्पन या स्पन्द के रूप को स्पष्ट करने के लिए इसे 'एकाक्षर' कहा है। नाथ-साधक जब कहते हैं कि सारी सृष्टि ॐकार से हुई है तो वे शैव और वेदान्त दर्शनों की भाषा में बोलते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि जिस स्वसंवेद्य अर्थ को इसके द्वारा प्रकट करना अभीष्ट था वह इसके द्वारा पूरा व्यक्त नहीं हुआ। स्वसंवेद्य ज्ञान में ज्ञातृ-ज्ञेय-भेद मिट गया रहता है पर ॐकार या एकाक्षरात्मक स्पन्दन या एजन में वह भेद आरम्भ होता है। प्राकृत के शब्द का संस्कृतीकृत रूप 'सूक्ष्मवेद' नाथ-साधकों के यहाँ अर्थान्तर में संक्रमित हुआ है।

आगमों में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति को ही बीज, नाद, बिन्दु कहा गया है। आधिदैविक भाषा में कहें तो ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। इस त्रिधा-विभाजित शक्तित्रय के अधिष्ठातृ देवता ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। सृष्टि करने को उद्यत अपरंब्रह्म ही के ठीक पूर्व की निष्कलुष अवस्था को निरञ्जन कहा जाता है। निरञ्जन ही सकल परमात्मा या अपरंब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है।

परंब्रह्म या परशिव से अपरंब्रह्म या सकल परमात्मा तक की परिणति का व्यवहार में कोई विशेष उपयोग नहीं है। पर मध्यकाल के आगमों और निर्गुणमार्गी साहित्य में मध्यवर्ती अवस्थाओं की कल्पना की गई है और उन कल्पनाओं के आधार पर अविकसित बुद्धि के अनुयायियों ने पौराणिक गप्प लिखे हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है परंब्रह्म से निरञ्जन तक की यात्रा की सैकड़ों अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है। कुछ की भी गई है। उदाहरण के लिए नाथमत को लिया जाय। जब शिव में कार्यकारण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्यकारण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं तब वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसलिए इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वयं' कहकर स्मरण करते हैं।[३०]

इस परमशिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें 'सगुण' शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (= सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परमशिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है—(१) परमशिव की अवस्थामात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती, और प्रायः स्फुरित होने की उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरंपद्म' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (३) स्पन्दित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (= मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (५) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती है।[३१] इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरञ्जन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।[३२] इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्त्व परमात्मा या सगुणशिव के रूप में प्रकट हुए और

शक्ति की पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्त्व कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डलिनी समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्म तत्त्व हैं। इनसे ही अत्यन्त सूक्ष्म 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार नीचे लिखी सारणी से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जाएगा—

स्वयं (पर) शिव

अपर-१	१—निजा
पर-२	२-परा
शून्य-३	३—अपरा
निरञ्जन-४	४—सूक्ष्मा
परमात्मन्-५	५—कुण्डली

इसी प्रकार की योजना अन्य आगमों में भी मिलती है। शब्द सब समय समान नहीं होते पर मतलब सब का एक ही होता है—परशिव का अपरशिव में परिणत होने के अनेक उपक्रम। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि ब्रह्म या परतत्त्व के प्रथम उपक्रम को सहज नाम दिया जा सकता है। उसमें कोई भी वैशिष्ट्य नहीं आया परन्तु वैशिष्ट्य अंकुरित होने की प्रक्रिया शुरू हो गई है। परब्रह्म का यह दूसरा रूप सहज है, तीसरा अंकुर। फिर अंकुर रूप में प्राप्त होने की स्थिति इच्छा कही जा सकती है। इच्छा होते ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप से आरम्भिक इदन्ता और अहन्ता का योगसूत्र 'सोऽहं' वृत्ति की अभिव्यक्ति होगी और इससे इदं और अहं का अचिन्त्य ऐक्य स्वयं अभिव्यक्त होता रहेगा। सृष्ट्युक्त परंब्रह्म निरञ्जन के पूर्व की अवस्था 'अक्षर'—जो अभी तक निज रूप से क्षरित नहीं हुई है कही जा सकती है। इस प्रकार से संग्रह श्लोक बनेंगे—

सहजानन्द विभवं यत्तत्त्वं परतः परम्।
सकलत्वं गम्यमानं सहजं भावमास्थितम्।
अंकुरत्वं व्रजत्यस्मात् परेच्छा संप्रवर्तते।
इन्दन्ताऽहन्तयोर्योग परं सोऽहमुदीर्यते।
अचिन्त्यरूपतां याति अक्षरं च ततोभवेत्।
तस्मात् सृष्ट्यै यतन् देवो निरञ्जन इहोज्यते॥

अर्थात् सहजानन्द परतत्त्व से क्रमशः सहज-अंकुर-इच्छा-सोऽहं-अचिन्त्य-अक्षर-निरञ्जन प्रादुर्भूत हुए। यही वह क्रम है जो ऊपर कबीर मंसूर में बताया गया है। कबीर मंसूर में वह अविकसित मस्तिष्क के अधिकारियों की दृष्टि में रखकर पौराणिक शैली में कहा गया है। आध्यात्मिक सत्य को आधिदैविक भाषा में कहने वाली शैली को ही पौराणिक शैली कहा जाता है। इस शैली में इन, अपरब्रह्म या निरञ्जन भाव

तक की, अवस्थाओं को लोक-विशेष के रूप में कहा गया है और उन लोकों के अधिष्ठातृ-देवता के रूप में ब्रह्म के तत्तत् स्वरूप को बैठा दिया गया है। पुराणों और संहिताओं में व्यापक रूप से इस शैली का प्रयोग मिलता है।[३३]

योगसूत्र (१.२७) में प्रणव अर्थात् ॐकार को ईश्वर का वाचक कहा गया है। भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि प्रणव ईश्वर का वाचक है और ईश्वर उसका वाच्य है तो यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध किस प्रकार का है? क्या यह संकेतकृत है अथवा प्रकाश-प्रदीप की भाँति अवस्थित है? इस शंका का तात्पर्य यह है: कुछ पदार्थ हैं जिनमें पद या नाम का संकेत किसी एक शब्द के द्वारा होता है; जैसे घट। घट शब्द कहने से घड़ारूप पदार्थ का बोध होता है परन्तु यदि घट शब्द का उच्चारण न भी किया जाए तो भी घड़ारूप पदार्थ ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अर्थात् घट पद के बिना भी घट पदार्थ के ज्ञान में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती। परन्तु कुछ दूसरे पदार्थ ऐसे हैं जिनके लिए शब्दमय चिन्तन की आवश्यकता होती है। संकेत उसमें भी है किन्तु उस नाम का अर्थ तद्विषयक सम्पूर्ण सम्बन्धों के चिन्तन से ही अवगत हो सकता है; जैसे पिता। पिता एक सम्बन्ध विशेष है। इसका अपने आप में कोई अर्थ नहीं है। कोई व्यक्ति विशेष किसी व्यक्ति विशेष का पिता होता है। इसलिए पिता शब्दार्थ एक प्रकार के अनुव्यवसाय की अपेक्षा रखता है। पिता शब्द का अर्थ वस्तुत: प्रदीप और प्रकाश के समान है। जिस प्रकार प्रदीप होने से प्रकाश का भान होता है। उसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में पिता शब्द का शब्दार्थ ज्ञात होता है। शब्दमय चिन्तन के अभाव में पिता शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। इसीलिए भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रणव क्या ईश्वर का उसी प्रकार से वाचक है जिस प्रकार 'घट' पद 'घड़ा' पदार्थ का, या इस शब्द का संकेत शब्दमय चिन्तन के द्वारा होता है जिस प्रकार पिता और प्रकाश शब्द का हुआ करता है। भाष्यकार का कहना है कि प्रणव अर्थात् ओऽम् शब्द ईश्वर का संकेत है—अवस्थित विषय के ले आने या प्रकाशन करने के अर्थ में इसके बाद दूसरा प्रश्न यह है कि प्रणव क्या उसी प्रकार का संकेत है जिस प्रकार अन्य पदार्थों के संकेत हुआ करते हैं? अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं माना जाता। एक ही शब्द एक भाषा में एक अर्थ में प्रयुक्त होता है, दूसरी भाषा में दूसरे अर्थ में। फिर एक काल में एक ही भाषा में किसी शब्द का प्रयोग एक अर्थ में होता है और दूसरे काल में दूसरे अर्थ में। बहुत से पदार्थों के नये नाम भी गढ़ लिए जाते हैं। ठीक है, लेकिन सब होने पर भी शब्द और अर्थ का संकेत केवल व्यक्तिगत इच्छा का विषय नहीं है, वह एक प्रकार की सामाजिक स्वीकृति चाहता है। गुलाब के फूल को कोई यदि पद्म नाम चाहे तो नहीं दे सकता, क्योंकि अधिकांश मनुष्यों के चित्त में पद्म शब्द दूसरे अर्थ में संकेतित है। अब प्रश्न यह है कि यह प्रणव या ओऽम् क्या ईश्वर के पतञ्जलि मुनि ने संकेतित कर दिया है या अन्य शब्दों की भाँति इसे भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि सम्प्रतिपत्ति की नित्यता के कारण शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है, ऐसा आगमशास्त्र के जानकार लोग कहते हैं। सम्प्रतिपत्ति का अर्थ टीकाकारों ने समान व्यवहार की परम्परा बताया है। मन एक शब्द का जब एक अर्थ में व्यवहार करता है तब वह व्यवहार परम्परा शुरू होती है। जहाँ तक ॐकार का प्रश्न है वह अनादि काल से इसी अर्थ में व्यवहृत होता आ रहा है। इसलिए विभिन्न

सर्गों में इसी अर्थ में व्यवहृत होने के कारण ॐकार शब्द ईश्वर का वाचक नित्यरूप से होता आया है। श्रुति में भी कहा है—'एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।' योगि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योंकारः स्मृतोनाम तेनाहूतः प्रसीदति॥

अर्थात् परमेश्वर का रूप किसी ने देखा नहीं। वे भाव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं और मनोमय हैं। ॐकार उनका नाम स्मरण किया जाता है क्योंकि उसके द्वारा आह्वान किये जाने पर वे प्रसन्न होते हैं। कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि अनादि परम्परा-क्रम से घट, पट इत्यादि शब्द अपने-अपने अर्थों में सिद्धवत् प्रयुक्त होते आ रहे हैं। इसलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानना चाहिए। वे लोग भाष्यकार के 'संप्रतिपत्ति' का अर्थ उसी प्रकार की नित्यता बताते हैं। परन्तु अधिकांश टीकाकारों को यह मत ग्राह्य नहीं। वस्तुतः भाष्यकार का आशय यही जान पड़ता है कि यह नित्यता युग-युगान्तर की सामाजिक स्वीकृति के कारण है। इसी को वे सदृश-व्यवहार परम्परा कहते हैं। इसीलिए योगभाष्य के टीकाकारों ने इसे कूटस्थ-नित्यता की भाँति न बताकर एक नया शब्द 'प्रवाह-नित्यता' बना लिया है। इसका तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न युगों के व्यवहार के प्रवाह में सदा इसका इसी अर्थ में प्रयोग होने के कारण यह 'प्रवाह-नित्य है।'

परन्तु भाष्यकार ने इस नित्यता के लिए आगमवादियों को प्रमाण रूप में उपस्थित किया है। आगमों में स्पष्ट कर दिया गया है कि ॐकार घट-पटादि की तरह संकेतख्यापक शब्द नहीं है, बल्कि वह स्वयं अर्थ ही है। प्रणव, समष्टिव्यापी स्पन्द या एजन का जो रूप रहा होगा, उसी का स्थूल नाद में ऐसा उच्चारण होता है। यह वाचक नहीं है, बल्कि वाच्य का स्थूल उच्चारित नादात्मक रूप है। इसका अर्थ समष्टिगत प्रथम स्पन्द है जो नित्य नवीन तरंगों को उत्पन्न कर रहा है। परमात्मतत्त्व की कुण्डली-शक्ति जिस रूप में तरंगित हो रही है उसी को स्थूल रूप में श्रोत्रग्राह्य बनाने का प्रयत्न ॐकार है और उसी को नेत्रग्राह्य या दृग्विषय बनाने का प्रयत्न कुण्डलीदण्ड, अर्धचन्द्र और बिन्दु रूप में, उपस्थापित स्थूल विग्रह (ॐ) एक मोटा प्रयत्न है। यह उस अर्थ में वाचक नहीं है जिस अर्थ में घट-पटादि तत्तत् पदार्थों के वाचक हुआ करते हैं। यह वाच्य का ही प्रत्यक्ष, स्थूल विग्रह है। इस प्रकार आगमशास्त्र ॐकार या प्रणव को सृष्ट्यर्थ उपक्रान्त परमेश्वर का रूप ही मानते हैं। स्थूल स्पन्द यह सम्पन्न शब्द और अर्थ दोनों ही हैं। इसीलिए वे ॐकार को वेद्य या वेदक न मानकर—वाच्य या वाचक न मानकर—वेद ही मानते हैं। इसी की नित्यता 'प्रवाह-नित्यता' नहीं है बल्कि 'स्वरूप-नित्यता' है। यह स्मरण रखने की बात है कि 'पातञ्जल योगसूत्र' के भाष्यकार ने प्रवाह-नित्यता शब्द का व्यवहार नहीं किया, यह टीकाकारों के मस्तिष्क की उपज है। इसी प्रकार 'सदृश-व्यवहार-नित्यता' भी टीकाकारों की ही देन है। भाष्यकार तो 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यता' शब्द का व्यवहार करते हैं—"सर्गानतरेष्वपि वाच्य-वाचक शक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते सम्प्रतिपत्तिनित्यता नित्यः शब्दार्थ सम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते (१.२७)।"

ऊपर जो आगमों के अनुसार प्रणव की व्याख्या की गयी है उसके प्रकाश में देखने से 'सम्प्रतिपत्ति' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है कि प्रणव का परमात्मतत्त्वत के अर्थ में व्यवहार विशिष्ट रूप से

प्रतिपन्न होने के कारण नित्य है। वह किसी के द्वारा किसी समय संकेतित नहीं हुआ, बल्कि युक्ति-तर्क के द्वारा तद्रूप-सिद्ध (प्रतिपन्न) होने के कारण विशेष रूप से स्वयं-सिद्ध है। परन्तु फिर भी सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने 'वाच्य-वाचक' शब्द का ही प्रयोग किया है। पुराणों में भी शिव को या परमात्मा को 'प्रणव-वाच्य' बताया गया है। टीकाकारों ने भी लिंग पुराण का यह वचन उद्धृत किया है—'शम्भो प्रणव-वाच्यस्य भावना तज्जपादपि।' इस प्रकार प्रणव को इन लोगों ने वाचक अवश्य स्वीकार किया है।

योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर शुद्ध अर्थात् धर्माधर्म से रहित, प्रसन्न अर्थात् अविद्यादि क्लेशों से रहित, केवल अर्थात् मन, बुद्धि आदि से हीन, और इसीलिए अनुपसर्ग अर्थात् जाति, आयु तथा भोग से शून्य पुरुष विशेष है। वह आगमों के परमात्मतत्त्व से भिन्न है। इसलिए आगमों द्वारा वर्णित परमात्मतत्त्व पातञ्जल योग द्वारा प्रथित ईश्वरतत्त्व से स्वरूपत: भिन्न है। आगमों में ॐकार को सूक्ष्मवेद कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

जैसा कि ऊपर बताया गया है प्रत्येक वस्तु मोटे तौर पर तीन रूपों में प्रतिभासित हुआ करती है—पर, सूक्ष्म और स्थूल। ज्ञान भी यद्यपि अपने मूलरूप में शुद्ध ज्ञान ही है तथापि लोक में यह भी मोटी जानकारी अपेक्षाकृत सूक्ष्म जानकारी और विशुद्ध जानकारी के रूप में प्रतिभाषित होता है। जब हम किसी शब्द का वाच्य-वाचक-रूप में प्रयोग करते हैं तो यह भी एक जानकारी ही है। घट शब्द का अर्थ घड़ा है—यह एक मोटा ज्ञान है। कई बार ऐसा होता है कि कोई पद भी मालूम रहता है और उनका अर्थ भी मालूम रहता है। दोनों के सामने उपस्थित रहने पर उनका सम्बन्ध अज्ञात रहता है। उदाहरण के लिए कोविदार शब्द लीजिये। काव्य पढ़ने से और कोश में उसका अर्थ भी लिखा रहने से मुझे मालूम है कि यह किसी फूल का नाम है। मान लीजिये कि मैं किसी बगीचे में जाता हूँ। वहाँ कोविदार के पेड़ भी लगे हुए हैं और उनमें फूल भी हैं। वहाँ कोविदार पदार्थ मेरे सामने है। परन्तु जब तक कोई जानकार आदमी बता नहीं देता कि इसी का नाम कोविदार है तब तक मुझे कोविदार पद और पदार्थ के सम्बन्ध का पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि पद और पदार्थ के अतिरिक्त एक और वस्तु है जो दोनों का मेल कराती है। यही प्रत्यय है। अर्थात् पद और पदार्थ को मिलाने वाला तत्त्व-द्रष्टा का चेतन मन है। जहाँ कहीं वाच्य और वाचक होगा वहीं चेतन द्रष्टा का यह ज्ञान उपस्थित होना चाहिए। नहीं तो अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इस प्रकार यदि प्रणव को परमात्मा का वाचक माना जाए तो स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी चेतनतत्त्व की प्रतीति भी इसके साथ सम्बद्ध है। लेकिन आगमों के अनुसार प्रणव या ॐकार सूक्ष्मवेद है अर्थात् ज्ञान ही है। वह ज्ञाता नहीं है, ज्ञेय भी नहीं है। वह स्वयं ज्ञान है। दूसरे शब्दों में ज्ञेय की प्रतीति का साधन है। स्थूल-ज्ञान से वह भिन्न है। वह सूक्ष्म ज्ञान है। इसलिए उसे वाचक नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसमें भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिटा नहीं है। वहाँ भी ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान-भेद बना हुआ है। इस बात को आगमों में अनेक प्रकार से समझाया गया है। अ, उ और म इन तीन अक्षरों को कभी बीज, नाद और बिन्दु कहा गया है; कभी ज्ञान, इच्छा और क्रिया कहा गया है। ये स्थूल बीज, नाद और बिन्दु से भिन्न, केवल भावरूप में वर्तमान होने के कारण सूक्ष्म हैं। यही कारण है कि आगमों में यज्ञ-याग का विधान करने वाले ध्वन्यात्मक वेद को स्थूलवेद कहा है। और यज्ञ-याग की साधनभूत सामग्रियों को रूप देने वाले, भावरूप में वर्तमान

ॐकार रूप समष्टिगत स्पन्द को सूक्ष्मवेद कहा है। यह भी साधन है। परज्ञान नहीं है, अपरज्ञान है। परज्ञान तो परासंवित् है जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान एकमेव हो जाते हैं। वहाँ ज्ञान दृश्य या दर्शन मात्र है। वह द्रष्टास्वरूप भी है। इसीलिए परासंवित् इससे भी अधिक सूक्ष्म है। शैवागमों में इस परासंवित् की महिमा इस प्रकार बताई गई है—"प्रत्येक पिण्ड में वही चंचला परासंवित् रूपायित हो रही है। प्रत्येक मनोभाव में उसी परासंवित् का रूप स्फुरित हो रहा है। और प्रत्येक बौद्धिक व्यापार में उसी परासंवित् का प्रकाश उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार परासंवित् ही संसार के स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थों को रूप, प्रकाश और बोध के रूप में प्रकाशित हो रही है।

सन्दर्भ :

१. प्राणतोषिणी—पृ. ८३५।

२. दर्शने तु कृतेऽप्येयं साधकस्य न जायते।
यदा न सिद्धयते बोधिर्हठयोगेन साधयेत्॥

३. हठाज्ज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।
अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः। -प्राणतोषिणी, पृ. ८३५।

४. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥

५. स.भ.स्ट.भाग. ६ में म. म. पं. गोपीनाथ कविराज का लेख देखिए।

६. गो.श.—१/७; सि. सि. सं.—२/४९।

७. येन द्वारेण गन्त्व्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तदद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ -गो.श. १४८।

८. उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुन्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥ -वही १।५१।

९. इस प्रसंग में 'अमरौध शासन' में निम्नलिखित श्लोक हैं जिसमें वज्रयानी साधकों के पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार जान पड़ता है।
शक्तित्रविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरञ्जनात्।
वज्रपूजापदानंदं यः करोति स मन्मथ॥
चित्ते तृप्ते मनोमुत्ति रुर्ध्वंमार्गाश्रितेऽनले।
उदानचलितं रेतो मृत्युरेखाविषं विदुः॥
चित्तमध्ये भवेद्यस्तु बालाग्रशतधाश्रये।
नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो निरञ्जनः॥ —अ.शा. पृ. ८

१०. गो.प.—(पृ. ५३-५५)

११. संकोचनेन मणिकास्य परत्र तुर्ये दण्डध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम्।
वज्रोदरे सगतिबन्धनभेदिदर्प्या भृगस्य चेद्विदुदिरे (?) खलु बिन्दुबन्धः॥
एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः।
ज्ञानादेव भवेदस्या सिद्धमार्गः प्रकाशितः॥ -सि.सि.सं. २।१७-१८।

१२. मूलकन्दोद्योतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भवः।

शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः ॥ १ ॥
मूलकन्दे तुव्या शक्ति कुण्डलाकाररूपिणी।
उद्गमावर्त वतोऽयं प्राण इत्युच्यते बुधैः ॥ २ ॥
कन्ददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्तिप्राणेरेव व्यवस्थिता ॥ ३ ॥ -अमरौध. पृ. ११

'अमरौध शासन' में तीन श्लोक इसी प्रकार छपे हुए हैं। परन्तु जान पड़ता है कि किसी कारणवश तीसरी पंक्ति उल्टी छप गई है। उसे यदि चौथी पंक्ति मान लिया जाए और चौथी को तीसरी तो अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। प्रथम तीन पंक्तियाँ प्राण की व्याख्या और अन्तिम तीन पंक्तियाँ कुण्डली की!

१३. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं वाह्ये तिष्ठति सर्वदा
कैलाशोनाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति। -शि० ५-१५१-१५२

१४. द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे
सुषुम्णा साम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥ -हठ० ५।१८

१५. योग शिखोपनिषत् (१२९-१३५)।

१६. योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूसकन्निभम्।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृत्तम् ॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
अणिमादि पदं प्राप्य राजते राजयोगतः ॥ -योग सिखोपनिषत् १३६-१३७।

१७. राजयोगलक्षणमाह। योनीति। शशि (शिश्न १) स्थाने रेतो वर्तते तद्धि शिवतत्त्वम्।

१८. सि.सि. सं.—द्वितीय उपदेशः; गो० प०=पृ. १२-१४।

१९. सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक वर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेनतु।
ततः सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिमहेश्वरी ॥ —सि.सि. सं. ४/३०-३२

२०. निम्नलिखित पुस्तकों के प्रमाण उद्धृत किये गये हैं—

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति
२. अवधूत गीता
३. सूतसंहिता
४. ब्रह्मबिन्दुउपनिषत्
५. कैवल्योपनिषत्
६. तेजविन्दूपनिषत्
७. अमनस्क
८. विवेकमार्तण्ड
९. ध्यानविन्दूपनिषत्
१०. मुण्डक उपनिषत्
११. आत्मोपनिषत्

३०. शाबरतन्त्र
३१. षोड्शनित्यातन्त्र
३२. षट्शाम्भव रहस्य
३३. पद्मपुराण
३४. महाभारत
३५. कवेशय गीता
३६. सनत्सूजातीय
३७. बह्वच् ब्राह्मण
३८. शिवउपनिषत्
३९. माण्डूक्य उपनिषत्
४०. भागवत

१२. अमृतबिन्दु उपनिषत्
१३. मनुस्मृति
१४. उत्तरगीता
१५. वायुपुराण
१६. मार्कण्डेय पुराण
१७. गीता
१८. तन्त्रमहार्णव
१९. क्षुरिका उपनिषत्
२०. गोरक्ष उपनिषत्
२१. वृहदारण्यक उपनिषत्
२२. छान्दोग्य उपनिषत्
२३. कालाग्निरुद्र उपनिषत्
२४. ब्रह्मोपनिषत्
२५. सर्वोपनिषत्
२६. राजगुह्य
२७. शक्ति संगम तन्त्र
२८. हठ प्रदीपिका
२९. सिद्धान्त बिन्दु
४१. योगबीज
४२. कपिलगीता
४३. गोरक्षस्तोत्र
४४. कल्पद्रुमतन्त्रका गोरक्ष सहस्त्रनाम
४५. सारसंग्रह
४६. स्कन्दपुराण
४७. रुद्रयामल
४८. तारासूक्ति
४९. कुलार्णव तन्त्र
५०. वायु पुराण
५१. सूत संहिता
५२. आदिनाथ संहिता
५३. ब्रह्मवैवर्त
५४. शिवपुराण
५५. परमहंस उपनिषत्
५६. योगशास्त्र
५७. श्रीनाथ सूत्र
५८. अखण्ड खण्ड

२१. मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से अ. महादेव शास्त्री ने सन् १९२० में 'योग उपनिषद:' नामक एक योग विषयक उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित किया है। ये सभी उपनिषदें अष्टोत्तरशत उपनिषदों में प्रकाशित हो चुकी हैं; परन्तु शास्त्रीजी के संस्करण में यह विशेषता है कि उसमें उपनिषद् ब्रह्मयोगी की व्याख्यायें भी हैं। इस संग्रह की उपनिषदों के ये नाम हैं—

१. अद्वयतारकोपनिषत्
२. अमृतनादोपनिषत्
३. अमृतबिन्दुपनिषत्
४. क्षुरिकोपनिषत्
५. तेजोविन्दूपनिषत्
६. त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत्
७. दर्शनोपनिषत्
८. ध्यानविन्दूनिषत्
९. नादविन्दूपनिषत्
१०. पाशुपतब्रह्मोपनिषत्
११. ब्रह्मविद्योपनिषत्
१२. मण्डलब्राह्मणोपनिषत्
१३. महावाक्योपनिषत्
१४. योगकुण्डल्युपनिषत्
१५. योगचूड़ामण्युपनिषत्
१६. योगतत्त्वोपनिषत्
१७. योगशिखोपनिषत्
१८. वरोहोपनिषत्
१९. शांडिल्योपनिषत्
२०. हंसोपनिषत्

२२. फिलासफी ऑफ उपनिषत्स, पृ. २२-२६।
२३. तुलनीय—सि.सि. सं., पंचम उपदेश।
२४. अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देव: स्थिर: पूर्णो निरन्तर:।

अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना॥ पृ. ११

२५. वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा।
सत्कर्तुव्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा।
मुद्रानादविशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं।
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वय उतपरं योगिनं शंकरं वा॥

२६. देखिए ऊपर पृ. १-२।

२७. पृ. २२-२८; ७५-७६।

२८. पृ. २६।

२९. तुल.—
पढ़ा लिखा सुआ बिलाई खाया पण्डित के हाथि रह गई पोथी। —गोरखबानी, पृ. ४२

३०. कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत्॥ —सि.सि. १/८ सन्त १/४

३१. निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पंचधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जात: पिण्ड: शिवे॥ —सि.सि. सं. १/१३।

३२. ततोऽस्मितापूर्वमाविंमात्र स्यादपरं परम्।
तत्स्व सर्वेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम्॥
स्वेच्छामांत्रतत: शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्।
तस्मात्तत: स्वसाक्षादभू: परमात्मपदं मतम्॥ वही, १/१४-१५।

३३. उदाहरणार्थ विश्वनाथ सिंह की बीजक टीका (पृ. २४०) में उद्धृत 'सदाशिव संहिता' के ये वचन—
सौमित्रिरुवाच—
महर्लोक: क्षितेरुर्ध्वमेककोटिप्रमाणत:।
कोटिद्वियेन विख्यातो जनलोको व्यवस्थित:।
चतुष्कोटिप्रमाणं तु तपोलोको विराजित:।
उपरिष्टात्तत: सत्यमष्टकोटिप्रमाणत:।
आयु:प्रमाणं कौमारं कोटिषोड्शसम्भवम्।
तर्द्ध्वोपरि संख्यातं भ्रमालोको सुनिष्ठितम्।
शिवलोकस्तदूर्ध्व तु प्रकृत्या च समागतम्।
तदूर्ध्व सर्व सत्वानां कार्यकारणमानिनाम्
निलयं परमं दिव्यं महावैष्णवसंज्ञकम्।
यदूर्ध्वं तु परं दिव्यं सत्यलोकं व्यवस्थितम्
न्यासिनां योगिनां स्थानं भगवद्मांवितात्मनाम्।
महाशम्भुमदतेऽत्र सर्वशक्ति समन्वित:।
तदूर्ध्वं तु स्वयं भातं गोलोकं प्रकृते: परम्। —इत्यादि
(नाथ सम्प्रदाय से)

□

महायोगी गोरखनाथ के संस्कृत ग्रन्थ

—महन्त अवेद्यनाथ

महायोगी गोरखनाथ साक्षात् योगेश्वर भगवान् शिव के स्वरूप शिवगोरक्ष हैं। वे अमरकाय स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्म तत्त्व में प्रतिष्ठित चारों युगों में विद्यमानता की उपाधि से समलंकृत हैं, उनका शिवोपदिष्ट नाथयोगज्ञानामृत त्रिकालोपयोगी होते हुए भी त्रिकालातीत, समय की सीमा में आबद्ध नहीं है। यद्यपि भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में उनके उपदेश प्रमुखता से 'गोरखबानी' के रूप में संकलित हैं तथापि संस्कृत भाषा में उनके द्वारा रचित ग्रन्थ उनके चिरकालिक योगोपदेशामृत के युगों-युगों से सुरक्षित वाङ्मय हैं—क्योंकि संस्कृत अमरवाणी है—देववाणी है, किंवा भागवतवाणी है। इस दृष्टि से उनके यथोपलब्ध अद्यतन सुरक्षित ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में 'योगवाणी' के विशेषांक के रूप में 'गोरक्षग्रन्थावली' का प्रकाशन अपने आप में एक महान् यज्ञ है, जिसकी संकल्पपूर्ति में नाथयोगदर्शन सर्वथा सुरक्षित रूप में व्यावहारिक है, जनजीवन के उत्तरोत्तर दिव्यीकरण का सशक्त माध्यम है।

योगबीज—यथोपलब्ध संस्कृत ग्रन्थों के क्रम में यद्यपि 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' के लेखक ब्रिग्स महोदय ने उनकी रचना 'गोरक्षशतक' को विशेष महत्त्व दिया है, तथापि नाथयोग की साधना की दृष्टि से महायोगी गोरखनाथ द्वारा करुणापूर्वक रचित 'योगबीज' की उपयोगिता विचारणीय है। यह शिव-पार्वती के संवाद रूप में योगज्ञानसागर के मन्थन का उपदेशामृतबीज है, उद्गम का सम्भवतः आदि स्रोत है। 'योगबीज' भगवान् गोरक्षनाथ की अनभूति का योगवाङ्मय है जिसमें भगवती पार्वती को महाज्ञान से सन्तृप्त करने का भगवान् शिव ने पुण्यव्रत निबाहा है। गोरखनाथजी ने अपनी नाथयोगानुभूति का १९० श्लोकों में वर्णन किया है। इसमें नाथसिद्धमत की योगसाधना, हठयोगाभ्यास (योगाग्नि द्वारा पक्व देह-प्राप्ति, पवन-विजय और कुण्डलिनीयोग आदि) का विवेचन किया गया है। इसमें जीवन्मुक्ति, अमरकायत्व तथा कैवल्यपद में प्रतिष्ठित होने का वर्णन किया गया है। 'योगबीज' का स्पष्ट अभिमत है कि न तो योग से श्रेष्ठ कोई पुण्य है, न कोई सुख है, न कोई सूक्ष्म ज्ञान है, न साधना का कोई श्रेष्ठ मार्ग है—

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं सुखम्।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगमार्गात्परं न हि॥ (योगबीज-८७)

सिद्धमत प्रतिपादित योगमार्ग सर्वसिद्धिकर और माया जाल का निकृन्तन करने वाला है। बद्ध जीवात्मा इस योगज्ञान से कैवल्य में प्रतिष्ठित होते हैं। अनिर्वाच्य स्वसंवेद्य परमपद-स्वात्मप्रकाशरूप है, यह निश्छल, निर्मल, निरामय, सर्वव्यापक, सर्वातीत है। ज्ञानस्वरूप, सर्वभावपदातीत निरञ्जन ही परमात्मा है—

'सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम्।' (योगबीज-१३)

'योगबीज' में गोरखनाथजी का कथन है कि योगाग्नि में पका कर योगी अपने शरीर को मृत्यु का ग्रास बनने से बचा लेता है, योग से रहित शरीरधारी का शरीर मृत्यु के वश में हो जाता है। वह सिद्ध देह प्राप्त कर जीते जी मुक्त हो जाता है। योग से श्रेष्ठ मोक्ष प्रदान करने वाला दूसरा मार्ग नहीं है—

'तस्माद् योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः।' (योगबीज-७२)

इस ग्रन्थ में कुण्डलिनीसाधना, त्रयबन्ध, जालन्धर, उड्डियान और मूल के अभ्यास का विशद महत्त्वांकन उपलब्ध होता है। प्राणायाम से चित्त के पवन में लीन हो जाने पर बिन्दु (वीर्य) पतित नहीं होता। नाद-श्रवण होता है, सहस्त्रार से चन्द्रामृत प्रवाहित होता है और योगी इस तरह सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है—

स्वरूपे सच्चिदानन्दे स्थितिमाप्नोति केवलाम्। (योगबीज-१४२)

वास्तव में योगसिद्धि का आशय यही है कि योगी जीते जी इसी शरीर के दिव्यीकरण से अमरकायत्व द्वारा जीवन्मुक्त होकर सच्चिदानन्दपद में स्थित हो जाता है। जीवात्मा का परमात्मा में यही साक्षात्कार अथवा कैवल्यप्राप्ति है। योग मोक्ष का शास्त्र है, योग सार्वभौम और सर्वमान्य है, सर्वग्राह्य जीवन विज्ञान है, यही 'योगबीज' रचना का प्रतिपाद्य है। हमारी यह सुनिश्चित धारणा है कि 'योगबीज' के अध्ययन और उसमें निर्दिष्ट योगाभ्यास के द्वारा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वस्थ सन्तुलन प्राप्त हो सकता है। योगसिद्धि का सहज उपाय-अभ्यास ही 'योगबीज' का फल है।

गोरक्षशतक—मानवजीवन में योग साधना की परमोपयोगिता सहज सिद्ध है। योग ही एक ऐसा निरपेक्ष साधन-मार्ग है, जिसके आश्रय में सर्व सामान्य को जीवन की व्यावहारिकता और अपने सच्चिदानन्दस्वरूप का ज्ञान सुलभ होता है। महायोगी गोरखनाथ ने कैवल्यपद-निरञ्जन के स्वरूप की प्राप्ति अथवा अनुभूति पर विशेष बल दिया तथा पतञ्जलि-प्रवर्तित अथवा अनुशासित अष्टांगयोग के सैद्धान्तिक प्रकाश में की गयी साधना को अपने षडंगयोग के महाज्ञानामृत से सिंचित कर उसे प्रक्रियात्मक रूप प्रदान कर आत्मसाक्षात्कार अथवा स्वरूपसिद्धि की ओर मोड़ दिया। यही शिवगोरक्ष गोरक्षनाथजी के द्वारा प्रतिपादित महायोगज्ञान उनके 'गोरक्षशतक' ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' के लेखक ब्रिग्स ने 'गोरक्षशतक' को महायोगी गोरखनाथ की मौलिक कृति कहा है और उसकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध और निरापद बतायी है। अपनी उपर्युक्त पुस्तक के एक अध्याय में उन्होंने रोमन लिपि में सम्पूर्ण 'गोरक्षशतक' टिप्पणी और अंग्रेजी रूपान्तरण सहित प्रकाशित कर उसकी महनीयता अभिव्यक्त की है। इतना ही नहीं, ब्रिग्स ने 'गोरक्षशतक' की रचना के तात्पर्य पर यथाशक्ति

विचार किया है। 'गोरक्षशतक' के ही नामान्तर 'ज्ञानशतक' और 'ज्ञानप्रकाशशतक' हैं। ऐसा उल्लेख उपर्युक्त सन्दर्भग्रन्थ में उपलब्ध होता है। 'गोरक्षशतक' पर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं; एक टीका शंकर की है तो दूसरी मथुरानाथ शुक्ल की है। इस दूसरी टीका का नाम टिप्पण भी है। इसे गोरक्षशास्त्र भी कहा गया है। 'गोरक्षशतक' की लक्ष्मीनारायणकृत टीका 'बालप्रबोधिनी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह निर्विवाद-सा है कि 'गोरक्षशतक' योगसाधना की दृष्टि से नाथसम्प्रदाय का मौलिक प्रमाण ग्रन्थ है।

गोरखनाथजी ने 'गोरक्षशतक' के दो श्लोकों में मंगलाचरण में अपने गुरु स्वानन्दविग्रह (मत्स्येन्द्रनाथ) मीननाथ की वन्दना की है। उन्होंने 'गोरक्षशतक' का प्रवचन योगियों के हित को ध्यान में रखकर किया है। 'गोरक्षशतक' के अध्ययन और तात्त्विक चिन्तन से साधक का मन विषय-भोगों के रसास्वाद से निवृत्त होकर परमात्मा के स्मरण, ध्यान और चिन्तन में तदाकार हो जाता है। इस ग्रन्थ में अजपागायत्री, प्राणायाम, कुण्डलिनीजागरणपूर्वक सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत पान, महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, बन्धत्रय-जालन्धर आदि पर प्रकाश डाला गया है। गोरक्षशतक हमारे नाथसम्प्रदाय-सिद्धामृत मार्ग का अत्यन्त प्रामाणिक योगशास्त्र है। यह श्रुति प्रतिपादित है। गोरक्षनाथजी ने इसमें श्रुति कल्पतरुफल के रूप में योग के अभ्यास का उपदेश दिया है। उनका वचन है—

शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः।' (गोरक्षशतक-६)

गोरक्षशतक में गोरखनाथजी ने आन्तरिक शरीर-विज्ञान को जानने पर विशेष बल दिया है। उनका कहना है कि यदि साधक शरीर में स्थित त्रयलक्ष्य, पंच आकाश, षोडशाधार, मन और दसों इन्द्रियों का सम्यक् ज्ञान नहीं प्राप्त करता है तो उसके लिए प्राणायाम, मुद्राबन्ध, कुण्डलिनीजागरण, नादोपासना और मन के उन्मनीकरण में सफलता प्राप्त करना स्वप्नमात्र है। 'गोरक्षशतक' में कहा गया है कि चाहे साधक बाह्य शौच आदि की निर्मलता से युक्त हो या न युक्त हो, उसे प्रणव का सदा जप करते रहना चाहिए। इससे वह पाप कर्म से उसी तरह लिप्त नहीं होता, जिस तरह कमलपत्र पानी में रहकर भी जल से लिप्त नहीं होता। ॐकार के विधिपूर्वक जप से मन, चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है और चित्त तदाकार होने पर साधक स्वरूप में स्थित हो जाता है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति'—परम करुणामय शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ ने देववाणी संस्कृत में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की रचनाकर अलख निरञ्जन के साक्षात्कार का राजपथ प्रशस्त किया है। इस मौलिक योगवाङ्मय में नाथयोग-शैवयोग के प्रतिपादन के साथ-ही-साथ निगमागमपुराणस्मृतिसम्मत योगाचार, वैराग्य और मोक्ष के सैद्धान्तिक और साधनात्मक पक्षों का समीचीन समन्वय भी बोधगम्य शैली में निरूपित है, जिसका रसास्वादन वे ही कर सकते हैं जो योगविज्ञान-हठयोग विद्या के द्वारा परमात्म साक्षात्कार की सिद्धि में अनुभवी और निष्णात हैं। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' को हमारे नाथसम्प्रदाय-सिद्धामृत मार्ग में अपूर्व मान्यता प्राप्त है। योगी सम्प्रदाय में ही नहीं, दार्शनिक विद्वानों में भी इस योगग्रन्थ के प्रति यथेष्ट आदर-भाव और श्रद्धा का दर्शन होता है। लगभग दो सौ साल पहले काशी के महान् योगदार्शनिक महामति बलभद्र ने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' के रूप में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के सारांश का स्वरचित संस्कृत श्लोकों में संग्रह किया था। उनका कथन है—

यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चित्तविश्रमः पारदः।
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौ चेतोऽस्तु मग्नं गुरौ॥ (सिद्धसिद्धान्तसंग्रह ५/३६)

जिनके कृपामय दृष्टिपात से चित्त शान्त और विषयों में अनासक्त हो जाता है, उन करुणासुधार सनिधि गुरु (गोरखनाथ) में मेरा मन निमग्न हो जाय। गोरखनाथजी महान् योगाचार्य थे। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में उनके वचन उपदेश के रूप में उपलब्ध होते हैं, उन्होंने इस योगग्रन्थ के छः उपदेशों में महयोगज्ञानामृत का वर्णन किया है। इसमें कहा गया है कि अण्डपिण्ड के रूप का ज्ञान हो जाने पर उसकी आधारशिला पारमार्थिक सत्ता का जीवात्मा साधक को बोध हो जाना सरल होता है। यह निर्विवाद है कि इस विश्व-प्रपञ्च की गत्यात्मकता के मूल कारण के रूप में कोई स्वयंसत्य, स्वयंप्रकाशित सत्ता है, जो हमारी इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अतीन्द्रिय, अतिमानसिक और अतिबौद्धिक स्तर पर अभिव्यक्त है। गोरखनाथजी ने इस शाश्वत चेतना को परासंवित् कहा है, यही परम सत्ता है। उन्होंने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के छः उपदेशों में यथाक्रम पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्ड संवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपदसमरसभाव और नित्यावधूतलक्षण आदि का निरूपण कर नित्यनिर्विकार परम सत्ता को ही जीवात्मा-योगसाधक के लिए प्रतिपाद्य स्वीकार कर उसके स्वरूप बोध अथवा अन्तर्गय की पद्धति सुनिश्चित की है। गोरखनाथजी की दृष्टि में परब्रह्म शिव (अलख निरञ्जन, परमात्म तत्त्व) अपरम्पर, परम पद, शून्य, निरञ्जन है। यही परमात्मा है—

'अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति।' (सिद्धसिद्धान्तपद्धति १/१७)

गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में हठयोग की साधन-प्रक्रिया का मर्म स्पष्ट किया है। हठयोग की साधना वास्तव में प्राणसाधना है। प्राणायाम की सिद्धि से ही यह फलवती होती है। सूर्य-चन्द्र, प्राण-अपान का योग ही हठयोग है।

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोयोगाद् हठयोगो निगद्यते॥ (सिद्धसिद्धान्तपद्धति। १। ६९)

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में हठयोगतत्त्व का अक्षय भण्डार है। इस ग्रन्थ में यौगिक दृष्टि से पिण्डविचार अन्तर्दर्शन और ध्यान पर आधारित है। हमारा शरीर शिवशक्ति की अभिव्यक्ति का पवित्र माध्यम है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरखनाथजी ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा अति मार्मिक रूप से अष्टांगयोग का भी वर्णन किया है। योगसिद्धि का स्वरूप अष्टांगयोग की साधना के स्तर पर परमात्म साक्षात्कार बताया गया है। गोरखनाथजी ने कहा है कि हमारा शरीर भौतिक शरीर मात्र नहीं है, हमारा व्यष्टि शरीर एक आध्यात्मिक तत्त्व में अभिव्यक्त है। इस व्यष्टि शरीर में योगी सकल चराचर जगत् को व्याप्त जान कर पिण्डसंविति होता है। पाँच भौतिक व्यष्टि शरीर में ही व्यावहारिक रूप से अनन्त शाश्वत ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के दर्शन किये जा सकते हैं। गोरखनाथजी ने कहा है कुण्डलिनी जागरण के फलस्वरूप योगी आत्मदर्शन करता है, कुण्डलिनी समस्त कार्यों के ऊपर विद्यमान विमर्शरूप विद्या है—

'सा विमर्शरूपिणी योगिनः स्वस्वरूपभवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा।'

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४। १५)

यह कुण्डलिनी अधः, मध्य और ऊर्ध्व कही गयी है। इसके यथाक्रम निकुञ्जन, प्रबोध और निपात से परम पद प्राप्त होता है।

गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में कहा है कि स्वसंवेद्य परमपद की प्राप्ति गुरु की कृपा से होती है—

कथनाच्छक्तिपाताद्वा यद्वा पादावलोकनात्।
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्॥ (सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५/६५)

गोरखनाथजी ने अन्तिम छठें उपदेश में अवधूत योगी के लक्षण का विशद निरूपण कर संन्यास की वास्तविक गरिमा प्रकाशित की है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में इसी उपदेश में 'आदेश' शब्द की व्यावहारिकता के परिप्रेक्ष्य में कहा गया है कि आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा की अभेदता ही सत्य है, इस सत्य का अनुभव या दर्शन सिद्धामृतमार्ग में 'आदेश' कहलाता है। इसके उच्चारण मात्र से ही त्रयताप-समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। शिवगोरक्ष गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के रूप में अद्भुत नाथयोगशास्त्र प्रकाशित किया है। इसका रहस्य उनके चरणाश्रय से ही समझ में आ सकता है।

विवेकमार्तण्ड—'विवेकमार्तण्ड' की रचना कर महायोगी गोरखनाथ ने षडंगयोग अथवा हठयोग की साधन-प्रक्रिया प्रस्तुत कर परब्रह्म अलख निरञ्जन के साक्षात्कार को सहज सुलभ कर दिया। 'गोरक्षशतक' के विषय-प्रतिपादन में जो कमी रह गयी, उसकी पूर्ति 'विवेकमार्तण्ड' में परिलक्षित है। 'विवेकमार्तण्ड' के अनेक अप्रकाशित-प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं, पर जोधपुराधीश महाराज मानसिंह ने इस रचना की सुरक्षा और उसकी 'योगतोषिणी' टीका की प्रस्तुति में जो अभिरुचि प्रकट की, वह ग्रन्थ की उपादेयता प्रकट करती है। 'योगतोषिणी' टीका भीष्मभट्ट की महान् देन है।

'विवेकमार्तण्ड' की टीका का समापन करते हुए भीष्मभट्ट ने महाराज मानसिंह को सिद्धसिद्धान्त तत्त्वज्ञ और श्रीनाथपदाम्भोजमधुप कहा है और उद्‌गार प्रकट किया है कि उन्होंने उनकी अनुज्ञा और कृपा से 'योगतोषिणी' टीका लिखी है। योगतत्त्वज्ञों को इसका संशोधन कर लेना चाहिए। भीष्मभट्ट ने १८७६ वि. में इस टीका का समापन किया था। इस टीका के प्रकाश में 'विवेकमार्तण्ड' में महायोगी गोरखनाथ द्वारा वर्णित (नाथ) योगसिद्धान्त और तद्‌गत साधन प्रक्रिया के समझने में बड़ी सुगमता होती है। ग्रन्थ के आरम्भ में महायोगी ने गुरु की कृपामयी शक्ति से जीवात्मा के सच्चिदानन्दायित होने का वर्णन किया है। इसमे षडंगयोग के अभ्यासपूर्वक हठयोगसाधना को प्रधानता दी गयी है। 'विवेकमार्तण्ड' में सात चक्रों का निरूपण किया गया है। पहला आधार चक्र, दूसरा स्वाधिष्ठान, तीसरा मणिपुर, चौथा अनाहत, पाँचवाँ विशुद्ध, छठाँ आज्ञाचक्र और सातवाँ महाचक्र है। वह ब्रह्मरन्ध्ररूप महापथ में स्थित है। शरीर में स्थित चक्रों का भेदन बिना गुरु के मार्गदर्शन के नहीं करना चाहिए। जिसकी दृष्टि बिना रूप विषय में स्थिर हो जाती है, जिसका प्राण सहज स्थित हो जाता है, बिना किसी आलम्बन के जिसका मन स्थिर होता है, वही योगी है, गुरु है—

'स एव योगी स गुरु स सेव्यः। (विवेकमार्तण्ड-२४)

जीवात्मा तब तक संसार-बन्धन में रहता है जब तक वह अनाहत चक्र में ध्यानस्थ होकर परमात्म

साक्षात्कार नहीं कर लेता है। गोरखनाथजी ने विवेकमार्तण्ड में कहा है कि अजपा गायत्री मोक्ष देती है, इसके संकल्प मात्र से प्राणी पाप से मुक्त हो जाता है—

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैर्विमुच्यते॥ (विवेकमार्तण्ड-४७)

इसी तरह जालन्धर आदि बन्धों और खेचरी आदि मुद्रा के अभ्यास पर भी युक्तियुक्त प्रकाश डाला गया है। प्रणवजप को भी यथेष्ट महत्त्व दिया गया है। समस्त षडंगयोग को गोरखनाथजी ने संक्षेप में वर्णन कर कहा है कि आसन से रोग, प्राणायाम से पातक, प्रत्याहार से मानसिक विकार का नाश होता है। धारणा से मनोधैर्य, ध्यान से चैतन्य, और समाधि से मोक्ष मिलता है। परब्रह्म शिव-ब्रह्मात्मक तेज का ध्यान कर तत्त्वबोध प्राप्त कर योगी परमकैवल्य में स्थित हो जाता है—

एतद् ब्रह्मात्मकं तेजः शिवं ज्योतिरनुत्तमम्।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम्। (विवेकमार्तण्ड-१८३)

समाधि में लीन योगी आदि-अन्त से रहित, आलम्बनशून्य, प्रपञ्चातीत, परमात्मस्वरूप, निर्विकार, निराकार, अचल, मन-बुद्धि से अगोचर हो जाता है—

तन्मयत्वं व्रजेन्नित्यं योगी लीनः परेपदे। (विवेकमार्तण्ड-१९८)

महायोगी गोरखनाथ ने अपना प्रकाण्ड योगानुभव व्यक्त करते हुए कहा है कि यह विवेकमार्तण्ड ग्रन्थ परमार्थस्वरूप है, इसके अध्ययन से योगी को भवभयरूपी दावाग्नि से छुटकारा मिलता है। यह ग्रन्थ स्वर्ग का सोपान है। इस ग्रन्थ का अध्ययन करने वाला इस संसार में मोक्षलक्ष्मी, मुक्तिसिद्धि की प्राप्ति करता है।

अमरौघप्रबोध—शिव गोरक्ष महायोगी गोरखनाथकृत संस्कृत योग-ग्रन्थों में 'अमरौघप्रबोध' नाथयोगसाधना की सिद्धि की तात्त्विक और प्रक्रियात्मक पृष्ठभूमि पर नाथयोगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में एक असामान्य कृति है जिसमें अलख निरञ्जन स्वसंवेद्य परमात्मा के साक्षात्कार का युक्तियुक्त विवेचन प्रतिपादित है। यद्यपि गोरखनाथजी ने अपने योगमहाज्ञानामृत की पृष्ठभूमि पर इसे 'राजयोग अभिधानक' कह कर लय, मन्त्र, हठ, राजयोग की औषनिषद चतुर्विध यौगिक परम्परा का संकेत किया है तथापि सामान्य रीति से प्रचलित पातञ्जल आदि योगदर्शन में प्रतिपादित कैवल्यप्रधान राजयोग से यह अमरौघप्रबोधपरक राजयोग कहीं विलक्षण और रहस्यात्मक है, क्योंकि यह शिवशक्ति के सामरस्य के अमृतत्व में योगसाधक, नाथयोगसाधना में सम्पूर्ण निष्णात सिद्धपुरुष की स्वरूपावस्थिति-स्वरूपात्मक सम्प्रतिष्ठा का अक्षर-अमृत योगवाङ्मय है। गोरक्षनाथजी का 'अमरौघप्रबोध' में योगशासन-उपदेशामृत है—

एक एवामरौधो हि राजयोगोऽभिधानकः।
लयादिभिः समायुक्तश्चतुर्थो दीयते कथम्॥' (अमरौघप्रबोध-१७)

'अमरौघप्रबोध' ७४ श्लोकों का योगग्रन्थ है। इसका संग्रह और सम्पादन कर डॉ. कल्याणी मलिक ने नाथयोगसम्प्रदाय की ज्ञानवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। यह पूना ओरियण्टल बुक हाउस, पूना से प्रकाशित उनकी महनीयकृति सिद्धसिद्धान्तपद्धति (सिद्धसिद्धान्तपद्धति एण्ड अदर वर्क्स आफ दि नाथयोगीज)

में संगृहीत है।

इस प्रस्तुति में वर्णित लय, मन्त्र, हठयोगादिपरक राजयोग की सिद्धि में इन तीनों योगपद्धतियों का विवेचन करते हुए हठयोग की साधनापूर्वक राजयोग की महनीयता पर यद्यपि यथेष्ट प्रकाश डाला गया है तथापि यह कहना सर्वथा उचित है कि हठयोग बाह्य और अन्तर साधना की दृष्टि से दो रूपों में हमारे नाथ सम्प्रदाय में गृहीत है। बाह्य साधना प्राण अपान के ऐक्यपूर्वक योगाग्नि प्रज्वलित कर मूलाधार में प्राप्त कुण्डलिनी को समग्ररूप से षट्चक्रादि भेदन द्वारा सहस्त्रार में शिव से समरसित करना है और दूसरा रूप एकमात्र स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन परमात्मा में निरुत्थान-सहज स्वरूपावस्थितिपूर्वक तल्लीनता-स्वात्मप्रतिष्ठा ही हठयोग की महत्तम सिद्धि के रूप में नाथयोगप्रतिपादित राजयोगपरक सहज स्वरूपबोध में पर्यवसित है। यद्यपि अमृतपान, नादसन्धान शिवशक्ति सामरस्य आदि हठयोग के व्यवहृत प्रक्रियात्मक रूप हैं तथापि स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन परमेश्वर में सम्पूर्ण आत्मलय ही हठयोग की परम-चरम सिद्धि है जो पार्वती के प्रति क्षीरसागर-परिसर में शिव द्वारा सम्बोधित महायोगज्ञानामृत की सहज योगसिद्धि के रूप में चरम परिणति है। वास्तव में प्राण अपान के ऐक्य द्वारा हठयोग की साधना में कुण्डलिनीजागरण आदि की सिद्धि तथा तद्गत शिव से सामरस्य ही हठयोग की सिद्धि नहीं है, यह तो बिन्दुरूप शिव, रजरूप शक्ति, योगभाषा में चन्द्ररूप बिन्दु और सूर्यरूप रज का सामरस्य ही नाथयोगप्रतिपादित राजयोग में हठयोग की भूमिका है जिसमें विहार कर आत्मयोगी परमात्मयोगी, अलख निरञ्जन हो जाता है। यही अमरौघप्रबोध का प्रतिपाद्य विषय है। महायोगी शिवगोरक्ष गोरखनाथ ने स्पष्ट किया है—

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दु रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्॥ (गोरक्षपद्धति १/७२)

हमारे नाथयोग में परमपद की प्राप्ति-गुरुकृपैकसाध्य अलख निरञ्जन तत्त्वसाक्षात्कार ही योगसाम्राज्य की सम्पूर्ण समृद्धि है, अप्रतिमसिद्धि है, जिसका शास्त्रीय और व्यावहारिक, सैद्धान्तिक और सहज साधनात्मक योगानुशासन अमरौघप्रबोध की रचना का परम लक्ष्य है।

अमनस्कयोग—शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथजी ने अपने सिद्धमत में साधना की सिद्धि की पृष्ठभूमि में मन की अमनस्कता-उन्मनीकरण पर अत्यधिक बल दिया है। इस उन्मनी अवस्था की कैवल्यस्वरुपिणी ज्योति अथवा अलख निरञ्जन के साक्षात्कार के रहस्य की अनुभूति पिण्ड में सामरस्य सिद्धान्त के स्तर पर की है। उनकी विज्ञप्ति है कि शून्य, निरञ्जन, परमपद ही परम शिव-अलख निरञ्जन परमात्मा है। इस परमपद की प्रतिष्ठा मन की उन्मनी स्थिति में ही है। यही अमनस्क योगसाधना का परम निगूढ़ रहस्य है। प्राणिमात्र पर अहैतुकी कृपा करने के लिए उन्हें कायिक, वाचिक और मानसिक अन्धकार से बाहर निकालने, परमात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित कर भवसागर से पार उतारने के लिए गुरु गोरखनाथजी ने शाश्वत सनातन, प्राणसंजीवनी के रूप में महाज्ञान स्वरूप योगामृत का प्रकाशन किया। इस परमात्म ज्ञान में मन की विलीनता ही अमनस्क योग की सिद्धि का स्तर है। उन्होंने इस अमनस्क योगविद्या को ही अमृतत्व की प्रतिपादिका, सनातन अक्षय और मायातीत कहा है। उनकी विज्ञप्ति है—

अमृतोद्दीपनी विद्या निरपाया निरञ्जना।
अमनस्का कलाकापि जयत्यानन्ददायिनी॥ (अमनस्कयोग २ । २१)

अपनी 'अमनस्कयोग' रचना में गोरखनाथजी ने वामदेव और शिव के योगपरक संवाद के रूप में अमनस्कतत्त्व पर प्रकाश डाला है। शिव ने वामदेव की जिज्ञासा के समाधान रूप में तारकयोग के रहस्य, योगी गुरु के लक्षण और महत्त्व अथवा गुरुत्व, योगसाधन के स्थान, योगासन, क्रियायोग आदि का प्रतिपादन करते हुए मन के निरञ्जन परमात्म तत्त्व में विलीनीकरण अथवा लयसाधन का मर्म अत्यन्त सरल, सुबोध भाषा में समझाया है। 'अमनस्कयोग' के दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में साधना के स्तर पर बाह्याडम्बर और व्यर्थ की बाह्य साधना के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टि को अपनाया गया है। आसन, बन्ध, मुद्रा आदि में श्रम को समय का अपव्यय कहा गया है, अज्ञान कहा गया है। षट्चक्रों के वेधनस्वरूप उनमें ध्यान-क्रिया को चित्त का विभ्रमभाव कहा गया है। योगसाधना से प्राप्त अष्टसिद्धियों को परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार के मार्ग में श्रेयस्कर बताया गया है। प्राण में मन के और मन में प्राण के लय के द्वारा अजरत्व और अमरत्व को योगाभ्यास का श्रेय कहा गया है। दूसरे खण्ड में तारकयोग और अमनस्कयोग में भेद का निरूपण उपलब्ध होता है। इस अमनस्क खण्ड में शाम्भवी मुद्रा के रहस्य और शम्भवयोग तथा मन के सम्पूर्ण भय अथवा अमनस्क विद्या के स्वरूप का विवेचन किया गया है। अमनस्कविद्या वास्तव में योग की महाविद्या है।

यह अच्छी तरह समझ लेने की बात है कि हठयोग में प्राण-अपान के संगम पर मनोबल विहित कहा गया है पर 'अमनस्कयोग' के धरातल पर मन का सम्पूर्ण सहज उन्मनीकरण ही राजयोगसिद्धि की परम अथवा अन्तिम अवस्था है। यह अमनस्क सिद्धान्त ही द्वैताद्वैतविलक्षण योगदर्शन का, निरुपाधि ब्रह्म साधन का अथवा अवाच्य निरञ्जन परमात्मा के साक्षात्कार का प्रकाशस्तम्भ है। इस अमनस्कविज्ञान से परमतत्त्व का निर्वचन सम्भव है।

महायोगी गोरखनाथ ने 'अमनस्कयोग' के अमनस्क खण्ड में इस बात की पुष्टि की है कि योगी को किसी भी विषयवस्तु का चिन्तन न करते हुए सहज स्वरूप में, निरञ्जन परम शून्य तत्त्व में समाहित रहना चाहिए। उसे वाणी, मन और शरीर में लेशमात्र भी संक्षोभ का अनुभव नहीं करना चाहिए। जब तक संक्षोभ है, चिन्तन और संकल्प की कल्पना है, तब तक अमनस्क स्थिति की प्राप्ति नहीं हो सकती और न ही तत्त्वसाक्षात्कार, स्वरूपावस्थान ही सम्भव है—

वाङ्.मनः कायसंक्षोभं प्रयत्नेन विवर्जयेत्।
शिलाचित्रमिवात्मानं सुस्थिरं धारयेत् तदा।
यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत् संकल्पकामना।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तत्त्वस्य का कथा॥ (अमनस्कयोग २।५७-५८)

तारकयोग में तो मन साधना में सहायक है पर उत्तरयोग अथवा अमनस्क साधन में मन की स्थिति उन्मनी हो जाती है। मन तत्त्वाकार होकर सदा के लिए महालयस्थ हो जाता है।

महायोगी गोरखनाथ ने अमनस्कयोग की सिद्धि के स्वरूप का प्रकाशन किया है कि जिस तरह

नमक पानी में घुल-मिल कर जल हो जाता है, उसी तरह मन ब्रह्म के सम्पर्क से ब्रह्ममय हो जाता है, ब्रह्माकार हो जाता है। ब्रह्ममय होकर निर्वाणपद में प्रतिष्ठित हो जाता है—

लवणं तोयसंस्पर्शाद् यथा तोयसमं भवेत्।
मनोऽपि ब्रह्मसंस्पर्शात्तथा ब्रह्ममयं भवेत्॥ (अमनस्कयोग १/ ४३)

तारकयोग और अमनस्कयोग, दोनों की ही सिद्धि में गुरुकृपा की सापेक्षता अनिवार्य है, क्योंकि तारकयोग के उपरान्त सम्पूर्ण उन्मनीकरण में साधक पर गुरु की करुणादृष्टि का पात हो जाए तो वह साधक परमपद में निःसंशय प्रतिष्ठित हो जाता है। ब्रह्म में मन का उन्मनीकरण अथवा महालय ही योग की यथार्थ सिद्धि है। परमात्मपद में मन की तल्लीनता गुरु के सदुपदेश तथा कृपामय दृष्टिपात से ही सम्भव होती है।

तारकयोग की विशद और अनुभूतिपूर्ण व्याख्या गोरखनाथजी ने अमनस्कयोग की रचना में आरम्भ के ही श्लोकों में कर दी है। मत व्यक्त किया है कि साधक मन्त्रयोग की साधना में लगे रहते हैं, कई ध्यानसिद्धि के मोह में पड़े रहते हैं, कई जप करते हैं, तो आगम-निगम में कई उलझे रहते हैं, तारकयोग जानते ही नहीं हैं, यह तारकयोग सर्वमंगलकारी है, जब तक सुयोग्य शिष्य न प्राप्त हो जाए तब तक गुरु इस योग का उपदेश दे ही नहीं। यह तारकयोग सब योगों में परमोत्तम है, इसका पूर्व भाग तारकयोग कहा जाता है और अपर भाग अमनस्कयोग कहा जाता है। मन से युक्त योगस्वरूप तो तारक है और मन से अतीत जो योगस्वरूप है वह अमनस्क है। तारों (आँख की पुतलियों) की ज्योति में लगा कर भौंहों को कुछ ऊँची करे, बढ़ा ले। यह पूर्ण (तारक) योग का मार्ग क्षण भर में उन्मनी भाव पैदा कर देता है—

पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्। (अमनस्कयोग १। ८)

अमनस्कयोग की साधना के लिए योगसाधक को सभी तरह की चिन्ताओं से रहित होकर एकान्त स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुक कर स्थिर दृष्टिपूर्वक बैठना चाहिए। इससे मन स्थिर होता है, वायु, वाणी, देह और दृष्टि में स्थिरता आती है। शरीर में कोमलता आती है। साधक का मन परम तत्त्व का चिन्तन करते-करते तत्त्वाकार हो जाता है। अमनस्कयोग गुरुकृपैकसाध्य है। गोरखनाथजी का कथन है कि 'अमनस्कयोग' रचना में जो योगी समस्त चिन्ताओं को विवर्जित कर देता है और मन से कुछ नहीं सोचता है, उसे तत्त्व का साक्षात्कार होता है, तत्त्व के सम्मुख होने पर अमनस्कता का उदय होता है। इससे चित्तादि का विलय हो जाता है, चित्त के विलय से पवन का लय स्थापित होता है, मन-पवन के लय से इन्द्रियार्थ का त्याग हो जाता है।...सर्व सम की अवस्था आती है। सर्वसमत्व का उदय होने पर योग का कार्य व्यापार समाप्त हो जाता है। इसके बाद परब्रह्म में स्वरूपभूतयोगी लय को प्राप्त होता है, ऐसा होने पर सुख-दुःख, शीत-ऊष्ण आदि द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। जिस तरह वायु शून्य में दीप निश्छल हो जाता है, उसी प्रकार जगत् व्यापार से मुक्त योगी लय को प्राप्त होता है—

निर्वातस्थापितो दीपो भासते निश्छलो यथा।
जगद् व्यापारनिर्मुक्तस्तथा योगी लयं गतः॥ (अमनस्कयोग १/४०)

इस लयावस्था में योगी मन से अतीत हो जाता है। यह परम शून्यावस्था है, इसमें तत्त्व स्वतः

प्रकाशित हो उठता है—

न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वं तत्वं प्रकाशते। (अमनस्कयोग २। ५५)

यह चराचर जगत् मन का दृश्य है, मन का उन्मनी भाव होने पर अद्वैत अभिव्यक्त हो जाता है। चित्त के अचल होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है—

चित्ते चलति संसारोऽचले मोक्षः प्रजायते। (अमनस्कयोग २। ९३)

अमनस्क योग की साधना के लिए योगी को मन पर स्वामित्व स्थापित करना बड़ा ही आवश्यक है। इसका अभाव होने पर मन बहुत विघ्नकारी सिद्ध हो सकता है। 'अमनस्कयोग' के रचयिता महायोगी गोरखनाथजी ने एक बड़े महत्त्व की बात कही है कि जिस तरह फूल से फल होने पर फूल का स्वतः लोप हो जाता है, उसी तरह देह में जब तत्त्व प्रकाशित होता है, ब्रह्मस्वरूप की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा हो उठती है, तब देहातीतता की स्थिति प्रकट होती है—

पुष्पात् प्रकाशते यद्वत् फलं पुष्पविघातकम।
देहात्प्रकाशते तत्वं तत्वं देहविनाशकम्॥
फलं प्रकाशकं पुष्पं फलं पुष्पादिघातकम्।
देहात्प्रकाशते तत्वं तत्वं देहविनाशकम्॥ (अमनस्कयोग २। १७-१८)

अमनस्क साधना की यही सिद्धि है कि एकमात्र तत्त्व-परम तत्त्व ही शेष रह जाय। यह 'अमनस्कयोग' सद्यः प्रत्ययकारक-तत्त्वज्ञान प्रदान करने वाला है।

गोरक्षपद्धति—'गोरक्षपद्धति' भगवान् शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ के योगमहाज्ञानरूप उपदेशामृत का पर्याय है। 'गोरक्षपद्धति' की रचना गोरखनाथजी ने योगसाधकों के हित को ध्यान में रखकर की थी। इसमें वर्णितयोग ज्ञान के बोधमात्र से जीवन्मुक्ति अथवा कैवल्य की प्राप्ति होती है। यह सहज सिद्ध है कि 'गोरक्षपद्धति' में कैवल्यप्राप्ति अथवा नाथयोग की भाषा में स्वसंवेद्य परमतत्व के साक्षात्कार का उपाय वर्णित है। 'गोरक्षपद्धति' के अध्ययन और योगाभ्यास से साधक का मन परम तत्त्व में तन्मय हो जाता है। यही नाथयोग साधना का महत्तम फल स्वरूपावस्थान है।

एतद् विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम्।
यद् व्यावृत्तमनो भोगादासवतं परमात्मनि॥ (गोरक्षपद्धति १ । ५)

उन्होंने कहा आधिदैविक, आधिभौतिक, आदिदैहिक त्रयताप का शमन चित्तविश्रान्ति से होता है। चित्तविश्रान्ति ही निरुत्थानदशा की प्राप्तिपूर्वक योग की महती सिद्धि है।

'गोरक्षपद्धति' में यम-नियम-व्यतिरिक्त आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-षडंगयोग का प्रतिपादन किया गया है। हठयोग साधना की पूर्णता में षडंगयोगाभ्यास एक महत्तम विशिष्ट क्रम है। इन अंगों पर 'गोरक्षपद्धति' में विशद विचार किया गया है। उसके बाद षट्चक्रनिरूपण, षोडशाधार, अन्तर्बाह्य द्विलक्ष्य, पंच व्योम, मन तथा शरीर के नवद्वारों के सम्बन्ध में सांगोपांग वर्णन मिलता है। वे योगी योगसाधना में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते हैं जो अपने देह में स्थित इन अंगों से परिचित नहीं हैं, इनकी जानकारी के अभाव में मुद्रा, बन्ध, अमृतपान, कुण्डलिनीजागरण, तात्त्विक शिवसामरस्य आदि की चेष्टा

तथा साधना अनुपयोगी कही जाएगी।

गोरखनाथजी ने 'गोरक्षपद्धति' में चक्रभेदन का निरूपण करते हुए कहा है कि मूलाधार चक्र की कर्णिका में तप्त स्वर्णवर्ण और विद्युल्लेखा के समान अग्निमय त्रिकोणाकार योनिस्थान में इस अनन्त विश्वतोमुख परम ज्योति का दर्शन कर योगी समाधि में स्थित रहकर आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है—

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्तोमुखम्।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातन्नविद्यते॥ (गोरक्षपद्धति १ । २१)

इसी प्रकार स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा चक्रों की भेदनपद्धति पर यथेष्ट प्रकाश डालते हुए कुण्डलिनी के सहस्त्रार में प्रवेश कर शिव में समरस होने का वर्णन उपलब्ध होता है। गोरक्षपद्धति में यह कुण्डलिनी ज्ञानियों के लिए (योगियों के लिए) मोक्षदायिनी और अज्ञानियों के लिए बन्धनकारिणी कही गयी है—

कन्दोर्ध्वकुण्डलीशक्ति शुभमोक्षप्रदायिनी।
बन्धनाय च मूढ़ानां यस्तां वेद स वेदवित्॥ (गोरक्षपद्धति १ । ५६)

'गोरक्षपद्धति' में प्राणायाम-प्राणनिरोध पर विशेष बल दिया गया है। प्राण के संयमित होने से ही योगी को साधना में सिद्धि मिलती है। प्राणसंयम ही अमृतपान, कुण्डलिनी जागरण तथा जीवन्मुक्तिप्राप्ति का अत्यन्त वरद अमोघ उपाय है—

चलेवाते चलो विग्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततोवायुं निरोधयेत्॥ (गोरक्षपद्धति १ । ९०)

प्राण और बिन्दु के निश्छल होने पर योगी योगसाधन में स्थिरता प्राप्त करता है, इसलिए प्राणायाम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

'गोरक्षपद्धति' दो सौ श्लोकों में प्रथम शतक और द्वितीय शतक के रूप में पूर्ण है। दूसरे शतक में प्राणायामादि यौगिक क्रियाओं की अभ्यासविधि और सार्थकता का निरूपण किया गया है। इसमें षट्कर्म की उपादेयता पर भी बल दिया गया है। धौति, नेति, वस्ति, कपालभाति, शंखप्रक्षालन आदि के द्वारा शुद्धि और प्राणवाहिनी नाड़ियों की निर्मलता-निर्दोषिता प्रतिपादित है। गोरक्षपद्धति में महायोगी गोरखनाथजी ने दूसरे शतक के दो श्लोकों में षडंगयोग की साधना का सिंहावलोकन किया है कि आसनों के अभ्यास से रोग, प्राणायाम से पातक, प्रत्याहार से मानसिक विकार नष्ट होते हैं। धारणा के अभ्यास से प्रति धैर्य-सुदृढ़ता और विश्वास तथा ध्यान से चैतन्यस्वरूप और समाधि से मोक्ष की प्राप्ति सहज-सुलभ हो जाती है—

आसनेनरुजोहन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुंचति॥
धारणाभिमतं धैर्यंध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्॥ (गोरक्षपद्धति २ । ११-१२)

'गोरक्षपद्धति' में ध्यान के अभ्यास को योगसिद्धि में बड़ा सहायक माना गया है। कहा गया है कि एकान्त स्थान में बैठ कर सुखपूर्वक पद्मासन या स्वस्तिकासन लगाकर शरीर को एक सीध में स्थित कर कुण्डलिनी सहित ध्येय के स्मरण और चिन्तन में लगकर ध्यान करने से योगसाधक समस्त पापों के फल से छुटकारा पाकर परमानन्दस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। हृदयकमल में परमात्मज्योति का ध्यान कर योगी ब्रह्ममय हो जाता है।

नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्॥ (गोरक्षपद्धति । २। ६८)

महायोगी गोरखनाथजी का कथन है कि आज्ञा चक्र और सहस्रार में परम शिव ज्योति का ध्यान करने पर योगसाधक परमपद प्राप्त कर संसार के बन्धन से छुटकारा पा जाता है—

एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम्।
ध्यात्वा ज्ञात्वाविमुक्तःस्यादिति गोरक्षमाषितम्॥ (गोरक्षपद्धति २ । ७७)

'गोरक्षपद्धति' में गोरखनाथजी का निर्देश है कि योगशास्त्र का नित्य अध्ययन कर योगसाधना में निष्णात होकर योगी परब्रह्मस्वरूप प्राप्त कर लेता है। अतः ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए साधन तत्पर होना चाहिए।

अमरौधशासन—'अमरौधशासन' नाथसिद्धशिरोमणि शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ की संस्कृत रचनाओं में नाथयोग-प्रतिपादित स्वसंवेद्य द्वैताद्वैत विलक्षण तत्त्व-साक्षात्कार के धरातल पर एक दुर्लभ कृति है, जिसमें कण्ठ चक्र तथा उससे ऊर्ध्वस्थ अनेक तालु चक्र, आज्ञा चक्र तथा सहस्रार चक्र और आकाश चक्र में कुण्डलिनीजागृतिपूर्वक अमृतपान के द्वारा राजयोग की सिद्धि का मार्ग शासित अथवा निर्दिष्ट किया गया है। 'अमरौधशासन' में प्रारम्भ में वर्णित इस प्रक्रिया को सारणा, कर्मान्तर सारणा, शंखिनी सारणा, प्रतिसारणा और महासारणा आदि मुद्राओं के षड्ध्वगा-छः प्रकार की प्रक्रियाओं अथवा साधनाविधियों में निरूपित किया गया है और विस्तारपूर्वक हठयोग और राजयोग के समन्वय के माध्यम से गोरखनाथजी ने निरुत्थानपूर्वक स्वरूपावस्थान-परम पद में सुप्रतिष्ठित होने का राजपथ प्रशस्त किया है। अमरौधशासन अमृतपानपूर्वक कुण्डलिनी की जागृति के फलस्वरूप जीवात्मा साधक के परमात्मा शिव में सहज सामरस्य का प्रतिपादक है।

जब अनेकविध प्राणसंयम से योगी चन्द्रनाड़ी (इड़ा) और सूर्यनाड़ी (पिंगला) के मार्ग से प्रवाहित प्राणापान को एक कर उसे एक प्राण के रूप में सुषुम्ना में प्रविष्ट करता है तो प्राण के ऊर्ध्वमुख होने पर कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और सहस्रार के चन्द्रमण्डल से द्रवित अमृत तालुचक्र में प्रवाहित होने पर उस (अमृत) का पान कर योगी शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर अलख निरञ्जन का साक्षात्कार करता है, स्वरूपावस्थान में परम विश्रान्ति का अनुभव करता है। यही विषय अथवा योगसाधन-क्रम ही 'अमरौघशासन' का प्रमुख अथवा अन्यतम प्रतिपाद्य है। 'अमरौधशासन' दो भाग में विवेचित है। पहले अनुक्रम में अमृतपान के द्वारा मुख के अन्तर्गत स्थित कण्ठचक्र, तालुचक्र को सशक्त कर कुण्डलिनी को ऊर्ध्वमुख करने का वर्णन है और दूसरे भाग में सिद्धसिद्धान्त स्वसंवेद्य तत्त्व-साक्षात्कार, स्वरूपावस्थान और नाथयोगप्रतिपादित कैवल्यरूप मोक्ष के स्वरूप का प्रकाशन किया गया है।

प्रारम्भ में ही गोरखनाथजी ने कहा है कि ऊर्ध्वशक्ति के निपात से और अध:शक्ति के संकोचन तथा मध्यशक्ति के प्रबोध से योगसाधक परम सुख के उदय से सफलकाम हो जाता है—

ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च तथाधः शक्तिकुञ्चनात्।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम्॥ (अमरौधशासन)

इस परम सुख की उत्पत्ति के मूल में सारणा-विधि की बड़ी उपादेयता है। कुण्डलिनी कला द्वारा षट्चक्र वेधनपूर्वक तालुचक्र में तद्गत पद्म कर्णिका की सहायता से पीने के लिए उस चक्र में स्थित चन्द्रामृत धारा प्रवाहित करना और उसे शंखिनीनाड़ी से मुख में ले आने की क्रिया ही सारणा—विशिष्ट यौगिक मुद्रा है—

'ह्यानेतुं वदने षडध्वगकला सैवंविधा सारणा।' (अमरौधशासन)

इसके द्वारा कुण्डलिनीजागृति और अमृतपान के फल के वर्णन में 'अमरौघशासन' में कहा गया है कि यदि मनुष्य (साधक) दीर्घीकृत जिह्वा मन्थन करते हुए अमृत का पान करता है तो दिव्य स्वादयुक्त शीतल, भूख-प्यास को हरने वाले, पापभय का नाश करने वाले, शरीर को स्थिरता प्रदान करने वाले, महामृत्यु रोग का नाश करने वाले अमृतपान से उसका जरामरणचक्र समाप्त हो जाता है, वह जीवन्मुक्ति प्राप्त कर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

'अमरौधशासन' के दूसरे भाग में नाथयोग-प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए गोरखनाथजी ने कहा है कि—

'अथ मोक्षपदं कथ्यते-यत्र सहजसमाधिःक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः।'
(अमरौधशासन)

अर्थात् 'मोक्षपद का वर्णन किया जाता है—जब सहज समाधि के द्वारा मन-से-मन को ही (प्रज्ञात्मा रूप में) देखा जाता है, उसका साक्षात्कार किया जाता है, तब जो अवस्था होती है, वही मोक्ष है।'

मोक्ष की दशा में जीव (साधक) विषयप्रपंच से पूर्णतया अतीत होकर जीवन्मुक्तिपद की प्राप्ति से योगसिद्ध हो जाता है। इस तरह की सिद्धि ही मोक्ष पद में प्रतिष्ठा का रसास्वादन है, यही स्वसंवेद्य तत्त्व-साक्षात्कार है, जो नाथयोग सम्मत राजयोग के धरातल पर राजयोग की सिद्धि का परम-चरम फल है।

इस अमरौधशासन का प्रकाशन संस्कृत पुस्तक माला रिसर्च डिपार्टमेंट, श्रीनगर, कश्मीर द्वारा हुआ है, यह मुकुन्दरामशास्त्री द्वारा सम्पादित है तथा निर्णयसागर प्रेस बम्बई से मुद्रित है। इसका एक संस्करण शैवागम संग्रह खण्ड ३ के अन्तर्गत श्रीकृष्णानन्दसागर के सम्पादन में डी-२८/१३५, वाराणसी तथा माधवानन्द आश्रम, धर्मज, (खेड़), गुजरात से प्रकाशित है। यद्यपि इसे शैवागम के अन्तर्गत एक महनीय कृति कहा गया है तथापि यह नाथयोग को गोरखनाथजी द्वारा अप्रतिम देन है, जिसमें नाथयोग-दर्शन प्रतिपादित है।

महार्थमञ्जरी—महार्थतत्त्व महायोगामृत का परम्परा-प्राप्त सनातन सिद्धान्तोपदेश है, जिसके साधन और चिन्तन से स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन का साक्षात्कार अथवा सहज बोध प्राप्त होता है। इस तत्त्व का उपदेश महाभारत के विशाल युद्ध प्रांगण में पाण्डव सेनानायक अर्जुन के शोकसंविग्न और आत्मा-अनात्मा

के स्वरूप-निश्चय में व्यामोहित होने पर योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने सद्विवेकप्राप्ति और आत्मस्वरूप के लिए प्रदान कर उसे स्वकर्म के प्रति प्रबुद्ध किया था और उस योगपात्र अर्जुन ने भगवान् के प्रति वचनबद्धता का ज्ञापन किया था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ (गीता १८। ७३)

'महार्थमञ्जरी' के अनेक प्रकाशित संस्करण मिलते हैं। उनमें त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, त्रिवेन्द्रम और कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर कश्मीर तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित तथा व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा सम्पादित संस्करण बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

परम श्रद्धेय महायोगी गोरखनाथजी ने इस महार्थतत्त्व का स्वात्मबोध और लोकव्यवहार के संयमन के लिए अपनी महिमामयी (योगशास्त्र) 'महार्थमञ्जरी' रचना में निरूपण कर स्वविश्रान्ति अथवा सहज स्वरूपावस्थान परम पद का राजपथ प्रशस्त किया। महार्थमञ्जरी में कृष्ण गुरुपद और अर्जुन शिष्यभाव अथवा प्रपत्ति का ही प्रकाशन किया गया है। इसमें स्पष्ट रूप से यह परिलक्षित है कि गुरु के अनुग्रह अथवा कृपा से ही शिष्य का समुद्धार होता है और उसके दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति होकर स्वसंवेद्य पद की प्राप्ति होती है। यही नाथयोग का सिद्धान्त है, जिसके द्वारा सनातन काल से ही महायोग ज्ञान सुरक्षित और प्रतिष्ठित है।

'महार्थमञ्जरी' में गोरखनाथजी ने गुह्य से गुह्य योगशास्त्र का प्रतिपादन किया है, जो मुक्ति का सोपान है। यह योग भगवत्तत्व है, क्योंकि साक्षात् कृष्ण के मुख से उनके अमोघ वचनामृत के रूप में निर्गत है। गोरखनाथजी ने कहा है कि 'मैं अत्यन्त गूढ़ रहस्य का प्रकाशन करता हूँ। लोकमाया-अन्धकार गूढ़ रहस्य का प्रकाश करता हूँ। लोकमाया-अन्धकारस्वरूप विश्वप्रपंच में ग्रसित लोगों! बार-बार जन्म-मरण के चक्ररूप गर्भवास में भ्रमित न हो। अन्तर्वर्ती हृदय के उद्योगरूप मोक्ष का चिन्तन करो। स्वसंवेद्य परम तत्त्व का साक्षात्कार ही साध्य है।'

हन्त रहस्यं भणामो मूढ़ा! माभ्रमत गर्मंगोलेषु।
अत्यासन्नं हृदयं पर्यालोचयत तस्योद्योगम्॥ (महार्थमञ्जरी गाथा ६९)

'महार्थमञ्जरी' में गोरक्षनाथजी ने स्पष्ट कहा है कि परमात्म-स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन का ही चिन्तन श्रेयस्कर है, इसके अतिरिक्त फल की कामना से अनात्मवस्तु का अनुष्ठान उचित नहीं है। आत्मतत्त्व-परमात्म तत्त्व के चिन्तन में ही रुचिविधि है, जहाँ इसका अभाव है, वहीं निषेध है। परमात्मचिन्तन हमारे हृदय में स्थित स्पन्दित पारमेश्वर विमर्श स्वरूप-भाव का विवेक है, परमज्ञान है, जिस परमतत्त्व में मन पूर्ण विश्रान्ति का अनुभव करता है, वही हमारे कल्याण का श्रेयस्कर साधन है, जो सर्वथा आचरणीय है यही योगज्ञानामृत के रसास्वादन की सम्पूर्ण वैधता है—

यत्र रुचिस्तत्र विधिर्यत्रेयं नास्ति तत्र च निषेधः।
इत्यस्माकं विवेको हृदयपरिस्पन्दमात्रशास्त्राणाम्॥ (महार्थमञ्जरी गाथा-७)

लोकव्यवहार में जिस वस्तु में रुचि होती है, उसका निषेध किया जाता है और जिसमें निषेध का

भाव होता है, उसमें रुचि रखने का पक्ष किया जाता है। 'महार्थमञ्जरी' की उपर्युक्त गाथा के अनुसार योग के धरातल पर आत्मचिन्तन में रुचि और अनात्मचिन्तन में निषेध प्रतिपादित है।

'महार्थमञ्जरी' की रचना का आधार शिवोपदिष्ट (नाथ) योगामृत महाज्ञान है, जो परम्परागत योग का सारतत्त्व है और जिसका महार्थतत्त्व के रूप में महाभारत के युद्धक्षेत्र में श्रीकृष्ण ने निर्वचन किया था। यह कश्मीर शैवयोग प्रतिपादित क्रमदर्शन का प्रतिपादन नहीं है। गोरखनाथजी ने कहा है कि विश्वात्मक परमेश्वर देवता अनादि, अनन्त, नित्य और निरावरण अलख निरञ्जन है। वह सनातन सार्वकालिक, सर्वव्यापक है। उसे कालकलंक का स्पर्श कभी क्रमशः नहीं होता, जीते जी जीवन्मुक्तिस्वरूप में उसके लिए मोक्षरूप विघ्न का प्रश्न ही नहीं है। वह विश्ववैचित्र्य विकल्प से परे है, कालकल्मषस्पर्श से परे है।

'महार्थमञ्जरी' के उपक्रम में मूल रूप में नाथयोगतत्त्व के विस्तारपूर्वक अभिव्यञ्जन का ही वास्तव में बीजारोपण उपलब्ध होता है, यह परमयोग रहस्य है, जिसका उन्मीलन मांगलिक और अन्तर्ज्योति के प्रकाशन का माध्यम है। गोरखनाथजी का कथन है—

इतिमहतिरहस्योन्मीलने मंगलाय।
प्रभवति मम संविद् योगिनीनां प्रसादः॥

स्वप्न में प्रकट होकर योगिनी ने उन्हें महार्थमञ्जरी के शब्दांकन की प्रेरणा प्रदान की। यह उसका अनुग्रह अथवा प्रसाद है। 'महार्थमञ्जरी' के रचयिता महेश्वरानन्द ही गोरखनाथ हैं। गोरखनाथजी शिवगोरक्ष हैं, उनको महेश्वरानन्द कहने में आपत्ति नहीं है। 'महार्थमञ्जरी' की परिमल टीका उन्हीं की स्वोपज्ञटीका है। महायोगी गोरखनाथजी ने सत्तर गाथाओं में स्वप्न में प्रकट योगिनी की कृपा से 'महार्थमञ्जरी' की रचना की। अपनी स्वोपज्ञ परिमल व्याख्या के मंगलाचरण के बारहवें श्लोक में उनकी उक्ति है—

स्वप्नसमयोपलब्धा सा सुमुक्षी सिद्धयोगिनी देवी।
गाथाभिः सप्तत्या स्वापितभाषाभिरस्तु सम्प्रीता॥

गोरखनाथजी ने जाग्रत अवस्था-निर्विशेष स्वप्न में अभिव्यक्त अथवा प्रकट होने वाली, स्वहस्त मुद्रा से अपने हृदय की करुणा का प्रकाशन करने वाली, अलौकिक योगैश्वर्य अथवा योगसिद्धि से सम्पन्न, कन्था, शूल, कपाल मात्र धारण करने वाली योगिनी से 'महार्थमञ्जरी' की सत्तर गाथाओं की रचना का उल्लास प्राप्त किया था। उन्होंने उसकी वन्दना की है—

कन्थाशूलकपालमात्र विभवांवन्दे तां योगिनीम्। (महार्थमञ्जरी गाथा-७१)

गोरखनाथजी ने अपनी रचना 'महार्थमञ्जरी' तथा 'स्वोपज्ञ परिमल टीका' को भगवान् शम्भु (शिव) के लिए पुष्पाञ्जलि कहा है—

पुष्पाञ्जलिर्भवतु वाङ्मय एष शम्भोः। (महार्थमञ्जरी मंगलाचरण-९)

गोरखनाथजी ने 'महार्थमञ्जरी' के उपसंहारात्मक अन्तिम श्लोक में कहा है—

अधिवासयतु सदा मुखमन्यकथालेपलब्धदौर्गन्ध्यम्।
कर्पूरशकलइव में शिव शिव इति शीतलः शब्दः॥

'शिव-शिव शब्द मेरे मुख को सुरभित करे।'

शिवयोगसार—शिवगोरक्ष महायोगी गोरक्षनाथ द्वारा रचित 'शिवयोगसार' योगशास्त्र की महाराष्ट्रीय नाथयोगपरम्परा में गणना की जाती है। प्रायः सौ श्लोकों की आकृति में रचित यह ग्रन्थ नाथयोग साधना-पद्धति पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। इसमें नाथज्योति के ध्यान का महत्त्व प्रकाशित करते हुए गोरखनाथजी ने 'शिवयोगसार' के प्रारम्भ में ही अत्यन्त मांगलिक वाणी में कहा है—

ज्योतिर्ध्यानात् सदा योगी योगसिद्धिमवाप्नुयात्।
सर्वभूतहृदिस्थोऽसौ ज्वलत्पावकसन्निभः॥
अन्तरात्मकसंज्ञोऽयं जगच्चक्षुर्न संशयः॥ (शिवयोगसार १-२)

ज्योति का ध्यान कर योगी को सिद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिए। यह समस्त प्राणियों के हृदय में प्रदीप्त अग्नि के समान प्रकाशित है। यह ज्योति अन्तरात्मा के नाम से प्रसिद्ध है और निस्सन्देह यह जगत् का नेत्र है। यह अन्तरात्मक ज्योति ही अपरम्पर सदाशिव है, परमपद है। परमेश्वर शिव, पराशक्ति का अधिष्ठाता रुद्र है। और निरञ्जन-ज्ञानशक्ति विशिष्ट सूक्ष्माशक्ति का अधिष्ठाता परमात्मा है—

अपरम्परं पदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति। (सिद्धसिद्धान्तपद्धति १। १७)

□

गुरु गोरक्षनाथ एवं गोरक्षनाथ मन्दिर

—डॉ. कुँवर नरेन्द्र प्रताप सिंह

भारतवर्ष के उत्तर में पर्वतराज हिमालय की तराई की प्रान्त भूमि में, उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में स्थित गोरखपुर महानगर एवं जनपद नाथ योगी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक परमाचार्य शिवावतार महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी के नाम पर स्थापित हुआ है। अमर और अयोनिज योगी के रूप में प्रख्यात श्री गुरु गोरखनाथजी ने यहाँ कभी त्रेता युग में तपस्या की थी, सम्प्रदाय के अनुयायियों की ऐसी मान्यता है। तब से उनकी यह तप:स्थली महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी के नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित योगियों का ही नहीं, अपितु करोड़ों अन्य योग प्रेमियों और श्रद्धालुओं का श्रद्धा केन्द्र बना हुआ है। यहाँ मन्दिर परिसर में स्थित भीम सरोवर पर लगे सूचना पट्ट के अनुसार द्वापर युग में महाराजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर महायोगी गोरक्षनाथजी को आमन्त्रित करने के लिए महाबलि पाण्डुनन्द भीमसेन पधारे थे। इस प्रकार द्वापर युग में भी गुरु गोरक्षनाथजी का यहाँ साधनारत होना ज्ञात होता है, लेकिन तब यह सम्पूर्ण वनाच्छादित क्षेत्र गोरक्षनाथजी की तप:स्थली होने के बावजूद कदाचित गोरखपुर नाम से सम्बोधित नहीं होता था। प्राचीन काल में यह क्षेत्र अयोध्या के विशाल साम्राज्य का हिस्सा था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार अयोध्या नरेश दशरथ नन्दन श्रीराम ने अपने राज्य का अपने भाइयों के बीच में बँटवारा करते हुए जहाँ अपने पुत्र कुश को कुशावती कुशीनारा (सम्प्रति कुशीनगर के रूप में ज्ञात) का राज्य दिया था वहीं श्री लक्ष्मण, जो अब गोरखपुर मण्डल के रूप में जाना जाता है, को प्रदान किया था। यहाँ स्थित जंगल को साफ कर लक्ष्मण जी के पुत्रों चन्द्रकेतु और अंगद ने चन्द्रकान्ता/चन्द्रवक्त्रा और अंगदीया नाम की अपनी राजधानियाँ बनाई थीं। कालान्तर में ज्ञात इतिहास के कालखण्ड में यह भू-भाग महात्मा गौतम बुद्ध के समय में राम ग्राम के कोलियों और पिप्पलीवन के मोरियो के गणतन्त्रीय शासन में था जहाँ बौद्ध और जैन धर्म के प्रवर्तक श्री गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी ने न केवल परिव्राजक के रूप में चारिकायें की थीं बल्कि उनकी निर्वाणभूमियाँ भी यहीं थीं। उसके बहुत समय बाद मध्यकालीन भारतीय इतिहास में यहाँ मुसलिम/मुगल शासनकाल में गोरखपुर नामक सरकार की स्थापना हुई। निश्चित रूप से सरकार बनाये जाने के पहले से ही यह क्षेत्र गोरखपुर के रूप में अपनी पहचान बना चुका था। और यहाँ महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी

की तप:स्थली होने के नाते योगियों और श्रद्धालुओं की कोई बस्ती रही होगी। मध्यकाल के उत्तरार्ध में यह भू-भाग श्रीनेतवंशीय राजपूत राजाओं के राज्य का हिस्सा था जिनकी एक राजधानी तब भौवापार नामक स्थान में स्थापित हुई। गोरखपुर नगर/महानगर के कई प्राचीन मुहल्ले-रायगंज, वसन्तपुर, तुर्कमानपुर और मानसरोवर आदि क्रमश: भौवापार के श्रीनेतवंशीय राजागण—राय सिंह, वसन्त सिंह और मान सिंह के नाम पर बसे हैं। अंग्रेजी शासन काल में जब महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी के प्रसिद्ध नाम पर गोरखपुर जनपद और नगर की स्थापना हुई तब भी महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी की तप:स्थली का भाग पुराना गोरखपुर के नाम से ही जाना जाता था। आज भी सरकारी कागजात में उक्त क्षेत्र पुराना गोरखपुर के नाम से ही कहलाता है। इस प्रकार वर्तमान गोरखपुर मण्डल, जनपद तथा महानगर शिवावतार महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी के नाम पर स्थापित होकर इस क्षेत्र को आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक गरिमा से मण्डित कर रहा है। नाथ सम्प्रदाय और नाथ योगियों की मान्यता के अनुसार महायोगी श्री गुरु गोरक्षनाथजी आदिनाथ शिव के अवतार हैं, आदिनाथ शिव से साक्षात् महायोग ज्ञान प्राप्त करने वाले महायोगी श्री मत्स्येन्द्रनाथजी के शिष्य तथा अमरकाय और अयोनिज हैं। वे अपने अचिन्त्य योग बल से सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि सभी चारों युगों में अलग-अलग स्थानों में प्रकट होकर लोक कल्याण के लिए भूतल पर योग विद्या और साधना का प्रचार करते रहे हैं। तदनुसार कहा जाता है कि वे सत्य युग में वर्तमान पेशावर (पंजाब) में, त्रेता युग में गोरखपुर में, द्वापर युग में हरमुज (द्वारिका से भी आगे) में तथा कलियुग में गोरख मढ़ी (गुजरात) में आविर्भूत हुए थे।

यद्यपि ऐतिहासिक विद्वानों ने उन्हें प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध अजर-अमर न मानते हुए ईसा पूर्व से लेकर १३वीं, १४वीं शताब्दी के बीच विभिन्न कालखण्डों में उत्पन्न होना माना है तथापि श्रद्धालु नाथ योगी और योग सिद्धियों में विश्वास रखने वाले लोग जो श्री गुरु गोरक्षनाथजी के अमर और अयोनिज होने में विश्वास रखते हैं, उनके अनुसार वे न केवल सतयुग, त्रेता और द्वापर में बल्कि वर्तमान कलयुग में भी योग बल से प्रकट हो सकते हैं। श्री गोरखनाथजी के जीवन से जुड़ी घटनाओं, उनसे प्रत्यक्ष जुड़े उनके शिष्यों और विभिन्न ऐतिहासिक व्यक्तियों के जो वृत्त इतिहास ग्रन्थों एवं लोकगाथाओं और जनश्रुतियों से प्राप्त होते हैं उनसे यह पता चलता है कि महायोगी श्री गोरक्षनाथजी ने उज्जैनी नरेश विक्रमादित्य के बड़े भाई भर्तृहरि को योग दीक्षा दी थी जो बाद में भर्तृहरि नाथ-भरथरी नाथ-नाम से नाथ सम्प्रदाय के बड़े सिद्ध सन्त हुए। कुछ विद्वानों के अनुसार जहाँ भर्तृहरि काल ईस्वी सन् से पूर्व था वहीं कुछ विद्वानों ने उन्हें छठवीं शताब्दी, तो किसी ने उन्हें बारहवीं शताब्दी के बंगाल के राजा गोविन्द चन्द्र-गोपी चन्द्र के समय में बताया। कहा जाता है कि गुहिलवंशीय हिन्दुआ सूर्य चित्तौड़ नरेश कालभोज उपाख्य बाप्पा रावल को महायोगी गोरक्षनाथजी ने एक वरदानी खड्ग प्रदान किया था। यह घटना आठवीं शताब्दी की है। विमाता द्वारा अंग भंग करवाकर एक कुएँ में डाल दिये गये पूरन भगत की सत्यनिष्ठा से प्रसन्न होकर महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी ने न केवल उसे कुएँ से निकाला बल्कि योग बल से उन्हें पुन: सर्वांगपूर्ण बना कर अपना शिष्य भी बनाया, जो बाद में महासिद्ध चौरंगीनाथजी के नाम से विख्यात हुआ। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने गीता भीष्म ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी में महायोगी गोरक्षनाथजी का स्मरण करते हुए उन्हें अपने गुरु

निवृत्तिनाथ के गुरु गैनी का गहिनीनाथ के रूप में स्मरण किया है। तदनुसार गोरखनाथजी का ज्ञानेश्वर से थोड़ा पहले होना सिद्ध होता है। गोस्वामी यदुनाथ कृत वल्लभ दिग्विजयग्रन्थ से ज्ञात होता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने, जो १६वीं शताब्दी में हुए थे, रैवतक पर्वत पर श्री गोरक्षनाथजी का दर्शन किया था। १५वीं शताब्दी में हुए सन्त कबीरदास से भी महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी के भेंट होने की बात लोक प्रसिद्ध है। कबीरदासजी ने अमर योगी के रूप में श्री गोरक्षनाथजी का स्मरण भी किया है। विक्रम की १६वीं शती में विद्यमान विश्नोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक जम्भनाथ (जम्भो जी), निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदास निरंजनी तथा जसनाथी सम्प्रदाय के प्रवर्तक जसनाथजी को भी न केवल गोरक्षनाथजी के दर्शन मिले थे बल्कि उन्हें इनसे योग दीक्षा भी मिली थी। यह बात उक्त सम्प्रदायों के लोग मानते हैं। नेपाल की प्रसिद्ध गोरखा जाति महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी द्वारा योग बल से माटी के पुतलों को संजीवनी विद्या से जीवित मनुष्यों के रूप में बनाये जाने की घटना गोरखा जाति के लोगों में अब भी प्रसिद्ध है। नेपाल के वर्तमान शाह राजवंश पर भी गोरक्षनाथजी की साक्षात् कृपा की बात वहाँ के इतिहास में अंकित है। कहा जाता है कि १८वीं शताब्दी में तत्कालीन गोरखानरेश महाराजा पृथ्वी नारायण शाह को आशीर्वाद देकर महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी ने वह शक्ति प्रदान की थी जिसके बल पर उन्होंने नेपाल के तत्कालीन छोटे-छोटे कई रियासतों को जीतकर वर्तमान वृहत्तर नेपाल राज्य का निर्माण किया। इस उपकार की स्मृति और सम्मान में आज तक नेपाल की राजमुद्रा में गोरक्ष नाम तथा राजमुकुट में श्रीनाथजी की चरण पादुका को अंकित किया जाता है। इस प्रकार विभिन्न अलग-अलग शताब्दियों में विद्यमान महायोगी गुरु गोरक्षनाथ की उपस्थिति या विद्यमानता के उल्लेखों को देखते हुए जहाँ योगाचार्य और उसके अनुयायियों ने गुरु के प्रति सम्मान भावना के कारण अलग-अलग कालखण्डों में विद्यमान उनके योग मत के अनुयायी सिद्धों को भी गुरु गोरक्षनाथ के रूप में ही ग्रहण किया होगा इस प्रकार की बौद्धिक व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। जो भी हो महायोगी गुरु गोरक्षनाथ सम्पूर्ण भारत वर्ष में एक युगान्तरकारी महान् विभूति के रूप में जनजीवन और आध्यात्मिक जीवन में प्रभाव डालने वाले महापुरुष के रूप में सदा सादर स्मरणीय हैं।

महायोगी श्री गुरु गोरक्षनाथजी की त्रेतायुगीन पावन तपोभूमि में जो कालान्तर में उन्हीं के नाम से स्थापित जनपद, मण्डल, नगर एवं महानगर के रूप में प्रख्यात हुई, पहली बार कब, किसके द्वारा, किस आकार-प्रकार के मठ, मन्दिर का निर्माण हुआ था यह बताने के लिए आज कोई साक्ष्य नहीं उपलब्ध है किन्तु इतना निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ बहुत प्राचीन काल से ही धूनी और चरण पादुका प्रतिष्ठित है जिसकी सुरक्षा के लिए तथा जहाँ साधना के लिए रह रहे योगियों के आवास आदि के लिए भी किसी-न-किसी आकार-प्रकार के मन्दिर या मठ का निर्माण अवश्य हुआ। ज्ञात इतिहास में, मध्य-कालीन भारतीय इतिहास के सल्तनत काल में मुसलिम बादशाह अलाउद्दीन खिलजी द्वारा महायोगी गोरक्षनाथजी की तपोभूमि वर्तमान गोरखपुर नगर में बने मन्दिर के तोड़े जाने का जिक्र मिलता है, जिसे खिलजी या उसके सिपहसालारों के वापस जाते ही कुछ समय बाद किसी-न-किसी रूप में पुनः बना दिया गया। दूसरी बार फिर मुगल बादशाह औरंगजेब के शासन काल में यहाँ बने श्री गोरक्षनाथ मन्दिर को ध्वस्त किए जाने का उल्लेख मिलता है किन्तु पुनः शीघ्र ही नाथ सम्प्रदाय के हठ योगियों और उनके

अनुयायियों ने यहाँ कोई मठ-मन्दिर बना लिया जहाँ पूजा स्थान तथा धूना पूर्ववत स्थापित कर दिए गये। १९वीं शताब्दी में विद्यमान जिस मठ और मन्दिर का उल्लेख ब्रिग्स नामक सुधी विद्वान् ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में किया है, उसके चित्र आज भी उपलब्ध हैं।

हिन्दू मन्दिर वास्तुकला—नागर शैली—के आधार पर निर्मित वर्तमान श्री गोरक्षनाथ मन्दिर उत्तर भारतीय वास्तुशिल्प का एक अत्यन्त भव्य और उत्तम उदाहरण है। प्राचीन मन्दिर के गर्भगृह को वर्तमान मन्दिर के गर्भगृह के आकार में समाविष्ट करते हुए इसका निर्माण ईस्वी सन् की २०वीं सदी के ७वें दशक में ब्रह्मलीन गोरक्षपीठाधीश्वर श्री महन्त दिग्विजयनाथजी महाराज ने अपने कार्यकाल में प्रारम्भ किया, जिसे उनके आकस्मिक निर्वाण के पश्चात् उनके सुयोग्य शिष्य और उत्तराधिकारी वर्तमान गोरक्षापीठाधीश्वर श्री महन्त अवेद्यनाथजी महाराज ने पूर्ण करा कर लोकार्पित किया। इसके पूर्व मन्दिर के गर्भगृह में अखण्ड ज्योति के अलावा मध्य भाग में बने एक वेदी पर श्रीनाथजी की चरण पादुका प्रतिष्ठित कर पूजा की जाती थी और बाहर ज्योति और चरण पादुका के अलावा मध्य भाग में बनी प्रशस्त वेदी पर महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी की संगमरमर की भव्य प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा कर दी गयी है और उसी के सामने श्री नाथजी की चरण पादुका पूर्ववत प्रतिष्ठित है। आसनबद्ध योगमुद्रा में समासीन श्री गोरक्षनाथजी की संगमरमर निर्मित एक प्रतिमा भी अत्यन्त भव्य और भावपूर्ण एवं आकर्षक है जो बरबस लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। मन्दिर के गर्भगृह के भीतर जहाँ दक्षिण की ओर शताब्दियों से अखण्ड ज्योति प्रदीप्त होती चली जा रही है, वहीं गर्भगृह के बाहर परिक्रमा मार्ग में दक्षिण की ओर आदिनाथ नटराज भगवान् शिव, दक्षिण दिशा स्थित प्रवेश द्वार के एक ओर श्री गुरु गोरक्षनाथजी के गुरु महायोगी मत्स्येन्द्रनाथजी, दूसरी ओर महायोगी जालन्धरनाथजी, उसके बाद दक्षिण-पश्चिम के कोने की ओर ऋद्धि-सिद्धि से समलंकृत गज कंथणी नाथ श्री गणेशजी, तदन्तर पश्चिमी दिशा की दीवाल पर श्री कानिफानाथजी, श्री भर्तृहरिनाथजी, श्री गहनिनाथजी और उत्तर-पश्चिम के कोण भाग में महाकाली जी की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं, काली जी के बाद उत्तरी प्रवेश द्वार के पश्चिम और पूर्व दिशा में श्री नागनाथजी एवं चर्पटीनाथजी के बाद पूर्व दिशा में पश्चिमाभिमुख मुद्रा में श्री काल भैरवनाथजी की मूर्ति प्रतिष्ठित है। मन्दिर के गर्भगृह के सामने विशाल सुसज्जित प्रासाद (हाल) बना है इसकी दीवालों पर गोरखवाणी के कुछ छन्द अंकित हैं। सम्प्रति प्राय: ५२ एकड़ प्रशस्त भू-भाग में स्थित मन्दिर परिसर के चतुर्दिक ऊँचा प्राकार (चहारदीवारी) निर्मित है जिसमें दक्षिण-पूर्व और उत्तर दिशा में प्रवेश के लिए गोपुर से युक्त द्वार बने हैं। पूरे मन्दिर परिसर को मुख्य या मध्य, उत्तरी और दक्षिणी तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। मन्दिर के मुख्य या मध्य भाग में आगे-पीछे रंग-बिरंगे फूलों-पौधों-वृक्षों, तराशी हुई मखमली घास से सुसज्जित उद्यानों के बीच संगमरमर जटित मध्य भाग सहित चारों दिशाओं में बने शिखरों से युक्त विशाल भव्य मन्दिर बना हुआ है। मुख्य भाग में स्थित मन्दिर के दक्षिण भाग में जहाँ भव्य मठ, उद्यान से सुसज्जित साधना भवन, ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथजी महाराज, ब्रह्मलीन योगीराज गम्भीरनाथजी महाराज और ब्रह्मलीन श्री महन्त ब्रह्मनाथजी महाराज की समाधि मन्दिरों के आगे भीम मन्दिर और स्वच्छ जल से भरा ऐतिहासिक भीम सरोवर, गंगा माता, सूर्य भगवान्, छट्ठ माता का सम्मिलित मन्दिर बना हुआ है,

वहीं उत्तरी भाग में यज्ञशाला, श्री राधा-कृष्ण मन्दिर, हनुमान मन्दिर, श्री राम दरबार मन्दिर, हट्ठी माता मन्दिर, बाल देवी मन्दिर, सन्तोषी माता मन्दिर, नवग्रह एवं शनिदेव मन्दिर, श्री विष्णु देव मन्दिर, अखण्ड धूना, श्री शीतला माता मन्दिर, श्री भैरवनाथजी का त्रिशूल मन्दिर, शिवलिंग समलंकृत भगवान् शिव का मन्दिर, श्री दुर्गा मन्दिर, ब्रह्मलीन योगियों के समाधि मन्दिर के आगे धर्मशाला एवं सन्त निवास बना हुआ है। मुख्य मन्दिर के पृष्ठ भाग में पश्चिम दिशा में ब्रह्मलीन गोरक्षपीठाधीश्वर श्री महन्त दिग्विजयनाथजी महाराज की पुण्य स्मृति में निर्मित विशाल और भव्य श्री दिग्विजयनाथ स्मृति भवन स्थित है। इस भव्य भवन में भूतल में जहाँ किनारे-किनारे हिन्दू धर्म के विभिन्न अवतारों, देवी-देवताओं, ऋषियों-मुनियों और अन्य महापुरुषों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं वहीं बीच में विशाल सभागार है, जिसके दक्षिणी भाग में ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथजी के विशाल चित्र के साथ श्री गोरक्षनाथ मन्दिर, गोरखपुर के ब्रह्मलीन अन्य श्री महन्तों और सन्तों के चित्रों से अलंकृत प्रशस्त व्यास पीठ बना हुआ है। इसी स्मृति भवन के ऊपरी तल में पूर्वी, उत्तरी और पश्चिमी दीर्घाओं (गैलरियों) में शोध संस्थान तथा विशाल पुस्तकालय स्थापित है। स्मृति भवन के प्रवेश द्वार के दक्षिण तरफ श्री गोरखनाथ मन्दिर से प्रकाशित नाथ साहित्य एवं आध्यात्मिक साहित्य बिक्री हेतु उपलब्ध रखा जाता है। स्मृति भवन के पीछे पश्चिमी दिशा में ही मन्दिर की विशाल गौशाला बनी हुई है, जिसमें भारत में प्राप्त प्रायः सभी देशी नस्लों की गो वंश के पालन, पोषण एवं सम्वर्धन की सुचारु व्यवस्था उपलब्ध रहती है।

मन्दिर परिसर के मुख्य भाग के उत्तर में जहाँ यात्री निवास, हिन्दू सेवाश्रम, संस्कृत विद्यापीठ एवं छात्रावास, योग प्रशिक्षण केन्द्र, आधुनिक व्यायामशाला एवं अत्याधुनिक चिकित्सकीय सुविधाओं और उपकरणों से सुसज्जित ४०० शय्याओं वाला महायोगी गुरु श्री गोरक्षनाथ चिकित्सालय बना है इसके अन्तर्गत आँख, कान, गला, हृदय, अस्थि, बाल रोग, स्त्री रोग आदि से सम्बन्धित विभाग और ब्लड बैंक भी स्थापित है, वहीं दक्षिणी भाग में पंक्तिबद्ध वृक्षों के साथ खुला हुआ प्रशस्त मैदान है जिसमें मकर संक्रान्ति के समय प्रतिवर्ष प्रायः मास पर्यन्त मेला लगता है। इसी भाग में पंजाब नैशनल बैंक की एक शाखा, दूरभाष एक्सचेंज और डाकखाना भी स्थित है। दक्षिणी प्रवेश द्वार से उत्तरी प्रवेश द्वार तक मन्दिर की चहारदीवारी के अन्दर विभिन्न सुसज्जित दुकानें बनी हुई हैं, जिनमें पूजा से सम्बन्धित सामग्री, धार्मिक साहित्य के अलावा दैनिक उपयोग की सामग्रियों और जलपान आदि भी उपलब्ध होते हैं। पूरा मन्दिर परिसर रात्रि के अन्तिम प्रहर ३.०० बजे से प्रारम्भ होने वाली परम्परागत नाथजी की पूजा से जागृत रहता हुआ पुनः रात्रि में ८.०० बजे पूजा के बाद विश्राम आदि के लिए बन्द होता है। सुबह से रात्रि तक मुख्य मन्दिर श्री गोरखनाथजी की घण्टा, नगाड़ा, शंख ध्वनि और मन्त्रोच्चारण के बीच नियमित त्रिकाल पूजा होती है।

□

गोरक्षनाथ मन्दिर का आध्यात्मिक वैशिष्ट्य

—अक्षय कुमार बनर्जी

गोरखपुर का गोरखनाथ मन्दिर और मठ उत्तर भारत की इस प्रकार की संस्थाओं में एक विशिष्ट स्थान रखता है, परम्परागत मान्यता यह है कि यह मन्दिर और इसके साथ के मठ ठीक उसी स्थान पर बनाये गये हैं, जहाँ रहकर सिद्ध योगीराज गोरखनाथ ने बहुत दिनों तक गहनतम समाधि का अभ्यास किया था। मुसलिम शासनकाल में अनेक बार अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों के रहते भी इसने शताब्दियों तक सतत रूप से यौगिक संस्कृति के एक जीवित केन्द्र के रूप में अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखा है। नाथयोगिसम्प्रदाय के महान् प्रतिष्ठापक ने जब इस स्थान को अपने आध्यात्मिक अतिमानवीय गौरव से पवित्र किया था तब यह एक वन प्रदेश था और बहुत ही कम आबाद था। यहाँ के निवासी भी असभ्य थे। गुरु गोरखनाथ ने इस स्थान को ही अपनी साधना के लिए चुना था। स्वभावत: इस क्षेत्र की सीधी-साधी जनता इस दिव्य मानव के प्रति आकर्षित हुई। यद्यपि वे स्वभावत: अवलोकित मन:स्थिति में रहते थे और सांसारिक परिस्थितियों पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते थे, फिर भी दीन-हीन जनता स्वभावत: उनके प्रति भक्तिभावना से भर गई और जब कभी वे इसकी ओर अनुग्रह की भावना से प्रेरित होकर उसकी कोई शारीरिक सेवा स्वीकार कर लेते थे, तो वह अपना अहोभाग्य मानती थी। इस दिव्य व्यक्तित्व की पवित्र उपस्थिति में इस क्षेत्र का सम्पूर्ण वातावरण आध्यात्मिक हो गया। इन निरक्षर प्राणियों में उनके आशीर्वादात्मक उपदेशों ने एक गतिशील आध्यात्मिक चेतना जागृत कर दी। वे अनुभव करते थे कि महायोगेश्वर शिव कृपापूर्वक मानवरूप में उनके बीच उपस्थित हैं। वे शिवगोरक्ष के रूप में उनकी पूजा करते थे। उनके देवत्व की कहानी एक-दूसरे से होती हुई विभिन्न दिशाओं में फैल गई। बहुत से सच्चे सत्यान्वेषक उनके पास आने लगे और उनकी कृपा की भीख माँगने लगे। उनका अतिमानवीय चरित्र और सीधे सरल उपदेश सच्चे आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को त्याग, तपस्या और योगसाधना के जीवन की ओर आकर्षित करने लगे। उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से स्वत: एक साधनाश्रम विकसित होने लगा। उनके अनुग्रह से उनके शिष्य आध्यात्मिक जागृति के पथ पर आश्चर्यजनक गति से आगे बढ़ने लगे। वे आध्यात्मिक साधना में सफल शिष्य विभिन्न क्षेत्रों में उनकी शिक्षाओं का प्रचार करने लगे। उन्होंने विभिन्न आश्रमों एवं प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की। इस प्रकार गोरखपुर केन्द्र योगसाधना

के अनेक छोटे-छोटे केन्द्रों का प्रधान केन्द्र हो गया, यद्यपि आश्रम के पूर्णत: स्थापित हो जाने के थोड़े ही दिनों बाद आश्रम के महान् स्वामी ने शरीरत: उस स्थान को छोड़ दिया फिर भी उनकी आध्यात्मिक उपस्थिति का अनुभव सभी लोग करते रहे। लोगों के मन में यह विश्वास घर कर गया कि वे मानवरूप में साक्षात् शिव थे, वे जन्म-मरण से रहित थे, जो उनका भौतिक शरीर प्रतीत होता था, वह भी भौमिक और सृष्टि सम्बन्धी नियमों के अधीन नहीं था। निमिषमात्र में वे इस प्रकार के अनेक शरीर उत्पन्न कर सकते थे और जब भी चाहते शरीरों को दृश्य या अदृश्य कर सकते थे। वे सारे कृत्य उनके लिए लीलामात्र थे, और यह सब कुछ उन्होंने जनता की भलाई के लिए किया था। ऐसा समझा जाता था कि उनका व्यक्तित्व अमर और सर्वव्यापक था। उनके द्वारा स्थापित आश्रम विकसित होता गया और साथ ही उसके आध्यात्मिक प्रभाव के क्षेत्र का भी विस्तार होता गया। काल-क्रम से इस सम्पूर्ण क्षेत्र का भौतिक उत्थान भी हुआ और ऐसा समझा गया कि यह उन्हीं की कृपा का परिणाम है। यहाँ से लेकर नेपाल तक की सम्पूर्ण जनता गोरखनाथजी के नाम से प्रेरणा प्राप्त करती थी। कालान्तर में जब इस जिले की सीमाओं और उनके प्रधान केन्द्र का निर्धारण किया गया, तब उसका नाम गोरखनाथजी के ही नाम पर गोरखपुर रखा गया।

यद्यपि यह मठ संसार से विरक्ति रखने वाले तथा ईश्वर के अन्वेषक तपस्वियों की संस्था थी, जिसका कोई सम्बन्ध देश के आर्थिक और राजनीतिक विषयों से न था, फिर भी मुसलिम शासनकाल में हिन्दुओं एवं बौद्धों के अन्य सांस्कृतिक केन्द्रों की भाँति इसे भी प्राय: अनेक भयंकर आपत्तियों का सामना करना पड़ा। आततायियों के इस ओर विशेष ध्यान देने का एक कारण इस मठ की दूर तक फैली प्रसिद्धि और प्रभाव था। ऐसा कहा जाता है कि एक बार अलाउद्दीन खिलजी के समय यह मठ नष्ट कर दिया गया था और यहाँ के योगियों को मार कर भगा दिया गया था, किन्तु जनता के हृदयों से निश्चय ही गोरखनाथजी को नहीं निकाला जा सकता था, मठ का पुन:निर्माण किया गया, योगी लोग लौट आए और यौगिक संस्कृति के प्रमुख केन्द्र के रूप में इसकी महत्ता इस क्षेत्र में पुन: प्रतिष्ठित हो गयी। इस केन्द्र से असाधारण योगशक्ति तथा गहनतम आध्यात्मिक अनुभूति रखने वाले अनेक महायोगी उत्पन्न हुए, जिनका आध्यात्मिक महत्त्व पूरे देश में स्वीकार किया गया, यह मठ विरोधियों के नेत्रों में पुन: खटकने लगा और औरंगजेब के शासनकाल में इसे एक बार फिर नष्ट किया गया, किन्तु शिवगोरख के अनुग्रह ने मानो इस स्थान को अमरत्व प्रदान कर दिया था। इन सभी धक्कों और आपत्तियों के बाद भी इसका विकास होता रहा। आगे चलकर अवध के एक मुसलमान शासक ने इस मठ को दैनिक पूजा एवं परिव्राजक योगियों की सेवा के लिए अच्छी भू-सम्पत्ति प्रदान की। इस मठ का प्रमुख मन्दिर जिस रूप में आज वर्तमान है निश्चय ही यह अधिक पुराना नहीं। यह पूर्णतया सम्भव है कि मन्दिर को बार-बार निर्मित करना पड़ा, किन्तु विश्वास यह है कि गोरखनाथ की तप:स्थली कभी भी छोड़ी नहीं गयी। जब कभी मन्दिर का निर्माण हुआ उसी पवित्र भूमि पर ही हुआ। इस पवित्र मन्दिर की एक प्रमुख विशेषता उल्लेखनीय है। मन्दिर के केन्द्र में एक विस्तृत यज्ञस्थली है, जो गोरखनाथजी के पवित्र आसन के रूप में मानी जाती है। यहीं पर नियमत: पान्थिक विधि के अनुसार नित्यप्रति पूजा की जाती है। इस यज्ञस्थली पर शिव या गोरखनाथ में से किसी की भी मूर्ति नहीं स्थापित है। प्रत्यक्षत: यह रिक्त स्थान है, किन्तु आध्यात्मिक

दृष्टि से यह उस परम सत्य और आदर्श की ओर संकेत करती है, जिसका स्मरण और भावना प्रत्येक योगी के ध्यान और पूजा का अन्तिम लक्ष्य है और जिसका न कोई विशिष्ट नाम है, न रूप है। वह सम्पूर्ण गोचर सत्ता का मूलाधार है। वह जीव और शिव, आत्मचेतना-विश्वचेतना, 'अहं'-'इदं', 'चेतना और पदार्थ' तथा मन और दिव्य मन की एकत्व-अनुभूति है। वह अविभाज्य है, वह परमपूर्ण है, उसमें सत् और असत् की एकरूपता है। पूजा का आदर्शरूप यह है कि आराधक का हृदय इस परम एकत्व की अनुभूति से भर जाए। वह आन्तरिक रूप से उसके साथ मिलकर एक हो जाए। इस पूर्ण एकत्व की अनुभूति करने वाला हृदय ही सच्चे नाथसिद्ध या अवधूत का हृदय है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में नाथ का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा।
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथात ते नमः॥
वामभागे स्थितः शम्भुः सव्ये विष्णुस्तथैव च।
मध्ये नाथः परं ज्योतिस्तज्ज्योतिर्मे तमोहरम्॥

मैं उस नाथ को नमन करता हूँ, जिसके वाम भाग में निर्गुण ब्रह्म तथा दक्षिण भाग में रहस्यमयी आत्मशक्ति (विश्वप्रपंच का त्यागात्मक आधार) है और जो मध्य में स्वयं पूर्ण प्रदीप्त चेतनात्मक स्थिति में परम सत्ता के उक्त द्विविध रूपों द्वारा आलिंगित है। शम्भु या शिव उसके वाम भाग में और विष्णु उसके दक्षिण भाग में स्थित हैं और नाथ उन दोनों के मध्य परम ज्योति के रूप में सुशोभित हैं अर्थात् दोनों को अपने में एकान्वित किये हुए हैं। नाथ की यह परम ज्योति मेरे अज्ञानान्धकार को दूर करे। निर्गुण ब्रह्म और विश्व-प्रपंच सर्व-निरपेक्ष शिव और सर्वव्यापी विष्णु दोनों नाथ की पूर्ण प्रकाशित दिव्य चेतना में एकान्वित हैं। वे ही श्रीनाथजी मन्दिर के प्रधान देवता हैं। वे योगी गुरु हैं। अज्ञान-अन्धकार को दूर करने के लिए उनकी प्रार्थना की जाती है।

मन्दिर के भीतर वेदी की एक ओर निश्छल दीपशिखा है, जो रात-दिन सतत रूप से मन्द-मन्द जलती रहती है और जिसे कभी भी बुझने नहीं दिया जाता। यह परमज्योति का उपयुक्ततम प्रतीक है, जिसमें शिव और विष्णु परमतत्त्व के निरपेक्ष और सापेक्ष स्वरूप एक ही रूप में अभिव्यक्त होते है। जिसमें निर्गुण ब्रह्म और उनकी विश्व-जननी और अनिर्वचनीय महाशक्ति एक आनन्दमयी चेतना के रूप में एकान्वित है। यही आत्मज्योति परम चेतना है, जो प्रत्येक योगी के द्वारा अनुभूत होने वाला परम सत्य एक परमादर्श आराधकों के सम्मुख अखण्ड ज्योति के रूप में सदैव विद्यमान रहता है। यह दीपशिखा वायु के झोकों या अन्य बुझा सकने वाले प्राकृतिक उपकरणों से प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रखी जाती है और इसे सतत प्रदीप्त रखने के लिए दीप को घी से सींचते रहते हैं। यह ज्योति पूजकों और साधकों को स्मरण दिलाती रहती है कि मन को क्रमशः दिव्य आध्यात्मिक अनुभूति की ओर उन्मुख करने के लिए आवश्यक है कि उसे उन सांसारिक प्रपंचों तथा ऐन्द्रिय विषयों और वृत्तियों से सुरक्षित रखा जाए, जो इसे अशुद्ध कर देते हैं। यही नहीं, नियमपूर्वक ध्यान-धारणा के द्वारा सुसंस्कृत मन्दिर के भीतर वेदी और ज्योतिशिखा—इन दो महत्त्वपूर्ण प्रतीकों के अतिरिक्त बुद्ध-मूर्तियाँ भी मन्दिर से ही सम्बद्ध हैं। शिव के असीम वक्षस्थल पर

नित्यरूप से नृत्य करती हुई माता काली की मूर्ति है। जिन लोगों को योगसाधना के दार्शनिक आधार का थोड़ा भी ज्ञान है, वे इस पवित्र मूर्ति का आध्यात्मिक महत्त्व भली-भाँति समझ सकते हैं। यह कहा जा चुका है कि परमतत्त्व के निरपेक्ष स्वरूप का प्रतिनिधित्व शिव करते हैं और माता काली या विश्वजननी निर्वचनीय महाशक्ति उसके गत्यात्मक स्वरूप का, जो कालातीत, स्थानातीत, स्वयं प्रकाशित निरपेक्षस्वरूप को अपना मूलाधार बना कर नित्य समय और स्थान की सीमाओं में अपने को अनेक रूपों में व्यक्त करता है। काली शिव का ही गतिशीलस्वरूप है। शिव के वक्षस्थल पर काली का नृत्य इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सतत परिवर्तनशील नानात्वमय जगत् एक अपरिवर्तनशील परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है, जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के मूल में स्थित रहता है। इन सभी परिवर्तनों, सभी परस्पर विरोधी तत्त्वों—जीवन और मृत्यु की स्थितियों, सुखों और दुःखों, संघर्षों एवं मैत्रियों, पुण्यों और पापों में—जिसके माध्यम से महाकाली अपने को व्यक्त करती है आधारभूत शिव-तत्त्व की आनन्दमयी एकता सदैव अक्षुण्ण रहती है। विश्वजननी अपने सभी सत्यान्वेषी पुत्रों को यह दिखाना चाहती है कि शिव सभी सीमित और क्षणिक अस्तित्वों के मूलाधाररूप में स्थित हैं। वह अनेक में एक, परिवर्तनशीलों में अपरिवर्तित, सीमाओं में असीम, द्वैत में अद्वैत के सत्य को भी प्रत्यक्ष कराना चाहती है। काली पूजा का उद्देश्य स्वयं अपने में और सम्पूर्ण वातावरण में शिव-तत्त्व की अनुभूति करना है। योगियों की दृष्टि में इसका विशिष्ट महत्त्व है।

गणेश या गणपति की मूर्ति भी मन्दिर के कोने में रखी है। अतिप्राचीनकाल से ये भारत के सर्वाधिक लोकप्रिय देवताओं में एक हैं। इन्हें गजानन तथा लम्बोदर के रूप में मूर्त किया जाता है। आँखें भीतर की ओर धँसी हुई दिखाई जाती हैं और एक आदर्श योगी के समान इन्हें सदैव गहन ध्यान की मुद्रा में चित्रित किया जाता है। इनकी धारणा शिव-शक्ति के पुत्ररूप में की जाती है अर्थात् इन्हें परम तत्त्व के निरपेक्ष एवं गत्यात्मक दोनों रूपों की एकता की गौरवमयी अभिव्यक्ति के रूप में समझा जाता है। इनके रूप में बाह्यत: कामना रखने वाले व्यक्ति के हृदय में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित रहनी चाहिए। सभी प्रकार की इच्छाएँ और आसक्तियाँ, सभी प्रकार की अपवित्रता और चंचलता वैराग्य की अग्नि में जल जानी चाहिए। सभी प्रकार के सांसारिक विरोध और विभेद इस वैराग्य-भावना से मिट जाने चाहिए। सब प्रकार की परस्पर विरोधी वस्तुएँ जो सांसारिक जीवन में अनेक प्रकार के विरोधी मूल्य रखती हैं, जल कर आग के रूप में एकाकार हो जाती हैं और सांसारिक दृष्टि से यह राख व्यर्थ समझी जाकर हेय मानी जाती है। योगी अपने शरीर को इसी राख से विभूषित करते हैं, जो वस्तुओं के परस्पर विरोधी नाम-रूपों और मूल्यों के समाप्त हो जाने पर उनके मूल में निहित एकता की अभिव्यक्ति के रूप में अवशिष्ट रह जाती है। महायोगी एक प्रकार से विरोधी तत्त्वों को परम तत्त्व की एकता में बदल देता है। शिव जो सभी योगियों के आदि गुरु और स्वामी हैं, विध्वंस के देवता समझे जाते हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक एकत्व की अभिव्यक्ति या सभी विरोधी तत्त्वों को परम तत्त्व की निरपेक्ष एकता में परिणत कर देते हैं। शिव के लिए प्रसिद्ध है कि वे अपना सम्पूर्ण शरीर राख से विभूषित करते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व सभी प्रकार की सत्ताओं के एकत्व की चेतना से शाश्वत रूप में प्रकाशित है। मठ के मैदान के भीतर एक श्मशान भी है, उसमें योगियों का मृत भौतिक शरीर समाधिस्थ किया जाता है, जिनकी अमर आत्माएँ उसे मिट्टी में मिलाने के लिए छोड़

जाती हैं। देव-मन्दिर के पार्श्व में स्थित श्मशान सभी लोगों को सतत रूप से इस भौतिक जीवन के अनिवार्य अन्त तथा सांसारिक प्रभुत्व और उपलब्धियों की व्यर्थता का स्मरण दिलाता रहता है। यह दृश्य वैराग्य-भावना को घनीभूत करता है और दर्शक का नित्य परम तत्त्व की ओर बलात् ध्यान आकर्षित करता है। उस परम तत्त्व के प्रति एकान्त भक्ति ही आत्मा को आनन्दमयी अमरता प्रदान कर सकती है, जीवन को सम्पूर्ण बना सकती है। मन्दिर और श्मशान भूमि असीम नित्य आनन्दमयी आध्यात्मिक अस्तित्व और सीमित, क्षणिक, दुःखपूर्ण भौतिक अस्तित्व की विरोधात्मक स्थिति उपस्थित करती है और मनुष्यों को दोनों में किसी एक को चुनने की प्रेरणा देती है। श्मशान भूमि इस पृथ्वी-मृत्युलोक का प्रतिनिधित्व करती है, मन्दिर कैलाश आत्मा का निवास-भूमि है, अमरता के क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है।

भोग का मार्ग श्मशान भूमि की ओर ले जाता है और योग का मार्ग मन्दिर की ओर। श्मशान भूमि जीवित व्यक्तियों के सभी विरोधों को मृतक भूमि की एकता में बदल देती है। यहाँ जीवन की तुष्टि नहीं है, वे आत्माएँ—जो भौतिक मृत्यु के उपरान्त भ्रमवश सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध रहती हैं, अपूर्ण वासनाओं द्वारा पीड़ित की जाती हैं। मन्दिर सभी प्रकार के विरोधों को आत्मा की आनन्दमयी एकता में बदल देता है। यहाँ जीव की तुष्टि हो जाती है, आत्मा शिव से अभिन्न हो जाता है। जब आध्यात्मिक प्रकाश-ज्ञान सभी प्रकार के भ्रमात्मक विरोधों को मिटा देता है और सभी प्रकार की सत्ताओं का एकत्व प्रकट कर देता है तब शिव अपने पूर्ण गौरव के साथ प्रकाशित होते हैं।

इस मठ ने शताब्दियों से अपना अस्तित्व सुरक्षित रखा है और सहस्त्रों व्यक्तियों को योगमार्ग की ओर आकर्षित किया है। इस मठ की परम्परा में अनेक विख्यात योगी आते हैं, जिन्हें आश्चर्यजनक आध्यात्मिक शक्तियाँ उपलब्ध थीं और जिन्होंने अनेक युवकों को योगमार्ग में दीक्षित किया था। बहुत दिनों तक यह मठ योग-संस्कृति का केन्द्र रहा है और इसने देश के आध्यात्मिक वातावरण को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। सदियों से लोग अपनी जिज्ञासा को लेकर यहाँ आते रहे हैं और आज भी प्रेरणा और दीक्षा के लिए यहाँ आते रहते हैं। अनेक तीर्थयात्री गोरखनाथ की इस तपोभूमि और उनके नाम से प्रसिद्ध पवित्र मन्दिर के दर्शन के लिए बारहों महीने आते रहते हैं। प्रतिदिन एक बड़ी संख्या में आने वाले अतिथियों, विशेष रूप से भ्रमणशील साधुओं के लिए मठ को भोजन और सुभीते की उचित व्यवस्था करनी पड़ती है। मकरसंक्रान्ति के दिन तीन लाख से अधिक पुरुष और स्त्रियाँ परम देवता के दर्शन से अपने को पवित्र करने तथा उनके लिए कुछ खाद्य पदार्थ अर्पित करने आती हैं। इसके अतिरिक्त मंगलवार सामान्यतः श्रीनाथजी के दर्शन के लिए एक विशिष्ट पवित्र दिन माना जाता है और प्रत्येक मंगलवार को सभी जातियों के अनेक श्रद्धालु स्त्री-पुरुष मन्दिर में दर्शनार्थ एकत्र होते हैं। मठ से सम्बद्ध एक गोशाला भी है, जिसमें गायें और भैंसें सावधानी से पाली जाती हैं। मन्दिर में सांस्कृतिक पूजा तो प्रायः थोड़ी-थोड़ी देर के बाद रात-दिन बराबर होती रहती है।

पूरी संस्था एक योगी के प्रबन्ध में है, जिसे महन्त कहते हैं। मठ में महन्त का स्थान बड़ा ही उच्च और पूज्य माना जाता है। वह योगी गुरु गोरखनाथ का प्रतिनिधि समझा जाता है और इस संघटन से सम्बद्ध सभी योगियों का आध्यात्मिक नेता या प्रधान माना जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से वह गोरखनाथजी का प्रधान सेवक है और इस संस्था के संचालक के रूप में गुरुओं के गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रतिष्ठित महान्

आध्यात्मिक आदर्श की सुरक्षा के लिए मुख्यत: उत्तरदायी है। वह निश्चित समय पर निर्धारित विधि के अनुसार होने वाली दैनिक पूजा के नियमित सम्पादन के लिए उत्तरदायी है, साथ ही वर्ष की विभिन्न ऋतुओं में निश्चित पर्वों और त्योहारों के उचित ढंग से मनाये जाने के लिए भी उत्तरदायी है। उसे मठ के आध्यात्मिक और नैतिक वातावरण की पवित्रता और शान्ति का भी ध्यान रखना पड़ता है। आने वाले अतिथियों को उचित सेवा की व्यवस्था करनी पड़ती है, गोरखनाथजी के नाम पर आने वाले एक-एक पैसे के उचित व्यय पर दृष्टि रखनी होती है और अन्ततः उसे आश्रम-जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बद्ध सभी प्रकार के व्यक्तियों के उचित सम्मान का ध्यान रखना होता है। अपने व्यक्तिगत जीवन में उससे आशा की जाती है कि वह त्याग, संयम, विनय तथा शान्ति के आदर्श का पालन करेगा चाहे उसे व्यावहारिक और सामाजिक जीवन में कितने ही परस्पर विरोधी कर्तव्यों का पालन या विपरीत स्थितियों का मुकाबला क्यों न करना पड़ा हो। उसे निश्चित रूप से अपने को सभी प्रकार के सांसारिक आकर्षणों और महत्त्वाकांक्षाओं से, सभी प्रकार की चारित्रिक दुर्बलताओं से तथा शरीर-सुख की आसक्तियों से ऊपर रहना चाहिए।

गोरखपुर का यह गोरखनाथ मठ निश्चय ही इस दृष्टि से बड़ा भाग्यशाली रहा है। इसकी महन्त-परम्परा में कुछ विलक्षण साधना वाले महायोगी हुए हैं, जो अपने आध्यात्मिक ज्ञान और असाधारण योगशक्ति के लिए दूर-दूर तक विख्यात रहे हैं। इनमें से एक बाबा बालकनाथ यहाँ सन् १७५८ से १७८६ तक महन्त रहे हैं। उनके अलौकिक जीवन की अनेक प्रेरणाप्रद कथाएँ सुनी जाती हैं। उनके पहले वीरनाथ, अमृतनाथ और पियारनाथ इस मठ के महन्त रह चुके हैं। वे सभी महायोगी थे। प्रारम्भिक महन्तों के नाम कालक्रम से ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हैं। बुद्धनाथ का नाम श्रद्धापूर्वक लिया जाता है। सम्भवत: वीरनाथ से कई पीढ़ी पहले वे यहाँ के महन्त रह चुके हैं। बालकनाथ के उत्तराधिकारी मनसानाथ सन् १७८६ ई. से सन् १८११ ई. तक २५ वर्ष महन्त रह चुके थे। उनके बाद सन्तोषनाथ १८११ से १८३१ ई. तक बीस वर्ष महन्त रहे और उनके बाद मेहरनाथ १८३१ से १८५५ ई. तक २४ वर्ष महन्त रहे। उनके बाद गोपालनाथ १८५५ से १८८० ई. तक पचीस वर्ष और फिर उनके शिष्य वलभद्रनाथ १८८० से १८८९ ई. तक केवल ९ वर्ष महन्त रहे। इनमें से अधिकांश उच्चस्तर के योगी थे। वलभद्रनाथ के शिष्य दिलवरनाथ १८८९ से १८९६ ई. तक केवल सात साल ही गद्दी पर रहे। उनके उत्तराधिकारी सुन्दरनाथजी हुए जो कई वर्षों तक मालिक रहे। यद्यपि उनके महन्त-जीवन के अधिकांश-काल में महन्त का दायित्व और अधिकार पूर्ण प्रबुद्ध महायोगी गम्भीरनाथ के हाथ में रहा। बाबा गम्भीरनाथ गोरखनाथजी के ही दूसरे स्वरूप थे। सुन्दरनाथजी की मृत्यु के उपरान्त बाबा गम्भीरनाथ के प्रमुख शिष्य ब्रह्मनाथ गद्दी के लिए चुने गये, जिसे उन्होंने कुछ ही वर्षों के बाद त्याग दिया। तत्पश्चात् महन्त दिग्विजयनाथ उनके उत्तराधिकारी हुए। सन् १९६९ में १८ सितम्बर को उनके देहत्याग के पश्चात् महन्त अवेद्यनाथजी उनके उत्तराधिकारी हुए जो वर्तमान गोरक्षपीठाधीश्वर के रूप में महन्त पद पर विराजमान हैं। उनके उत्तराधिकारी के रूप में योगी आदित्यनाथजी मन्दिर के कार्यों और उससे सम्बद्ध संस्थाओं की देखरेख महाराजश्री अवेद्यनाथजी के निर्देशन में कर रहे हैं। योगीजी भी अपने गुरुदेवश्री की ही भाँति आध्यात्मिक दृष्टि से विशिष्ट और लोकप्रसिद्धि की दृष्टि से अपने क्षेत्र में ही नहीं सम्पूर्ण भारत में विख्यात हैं।

गुरु गोरखनाथ का दार्शनिक सिद्धान्त

गोरखनाथ एक महान् योगी थे। दार्शनिक शब्द का जो अर्थ सामान्यत: स्वीकृत है, उस अर्थ में वे मूलत: दार्शनिक नहीं थे, किन्तु योगानुभव के द्वारा प्रत्येक तत्त्व को साक्षात्कार करने की क्षमता रखते थे। तर्क और कल्पना के आधार पर परम सत्य की खोज करना उनका लक्ष्य नहीं था। प्रापंचिक जगत् के परे या पीछे या उसके आधारस्वरूप किसी पारमार्थिक सत्ता के अस्तित्व का तर्क द्वारा मण्डन या खण्डन करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। ऐसी किसी सत्ता के बौद्धिक निरूपण में भी उन्हें रुचि नहीं थी। विवादास्पद दार्शनिक समस्याओं के विश्लेषण में भी उन्होंने स्वयं को कभी नहीं उलझाया। किसी प्रतिस्पर्धी दार्शनिक सिद्धान्त के विरोध में किसी विशिष्ट सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में कभी अपनी बौद्धिक क्षमता का प्रदर्शन नहीं किया। वे जानते थे कि परम सत्य के निरूपण में बौद्धिक स्तर पर मत-वैभिन्य स्वाभाविक है। उन्होंने दार्शनिक धारणाओं और विवादों को परम सत्य की अनुभूति के साधनरूप में कभी महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को बौद्धिक अनुशासन की पद्धतियों के रूप में मूल्यवान माना और सत्य के अन्वेषण में सहायक समझा, यह भी उस स्थिति में, जब कि दार्शनिक चिन्तन नम्रतापूर्वक निष्ठा और सच्चाई के साथ किसी विशिष्ट दार्शनिक मत के प्रति पक्षपातरहित होकर किया जाए।

दार्शनिक चिन्तन द्वारा सत्य की निष्पक्ष खोज, उनके अनुसार बौद्धिक शुद्धता का एक प्रभावशाली साधन था, जो बौद्धिक चेतना को उच्च-से-उच्चतर स्तरों पर उठा कर समस्त बौद्धिक मतवादों एवं भावात्मक आसक्तियों के बन्धन एवं मोह से मुक्त कर देता है। इसीलिए तत्त्व-विचार को योगसाधना का एक आवश्यक अंग माना गया था। इसका प्रमुख उद्‌देश्य व्यक्ति की सांसारिक चेतना को हर प्रकार के पक्षपातपूर्ण, संकुचित विचारों, पूर्वाग्रहों, संकीर्णताओं एवं कुतर्कों से मुक्त कर शुद्ध अतिमानसिक, अतिबौद्धिक, आध्यात्मिक स्तर तक उठाना है, जहाँ पर यह परम सत्य (ब्रह्म) का प्रत्यक्ष अनुभव करके अद्वैतसिद्धि प्राप्त कर सके। इसी उद्‌देश्य को ध्यान में रखकर योगी गुरु गोरखनाथ ने बौद्धिक आत्मानुशासन के पथ पर आगे बढ़ कर सत्यान्वेषण करने वालों के लिए जो शिक्षा दी, वह दार्शनिक मत के रूप में मान्य हो संकती है।

गुरु गोरखनाथ के नाम से सम्बन्धित सम्प्रदाय का विशाल साहित्य संस्कृत तथा भारतवर्ष की अन्य कई प्रान्तीय भाषाओं में उपलब्ध है। संस्कृत में लिखे बहुत से ग्रन्थों के रचयिता स्वयं गुरु गोरखनाथ माने जाते हैं। गुरु गोरखनाथ के नाम पर छोटी-छोटी बहुत-सी प्रेरणादायक तथा उपदेशात्मक कविताएँ भारतवर्ष की कुछ लोकप्रिय क्षेत्रीय भाषाओं या हिन्दी, राजस्थानी और बंगला के प्राचीनतम रूपों में पायी जाती हैं। महायोगी गोरखनाथ के नाम से प्रचलित या उनके द्वारा रचित बतायी जाने वाली पुस्तकों में कौन-सी पुस्तकें वस्तुत: उनके द्वारा लिखी गयी हैं, यह विवाद का विषय है। यहाँ हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि जो प्राचीन धार्मिक साहित्य उनके पवित्र नाम से सम्बन्धित है तथा जो उनके अनुयायियों द्वारा प्रामाणिक माना जाता है, वह या तो उनके द्वारा रचित है या उनके उपदेशों के आधार पर रचित होने के कारण उनके विचारों का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। प्रस्तुत प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि संस्कृत ग्रन्थ-माला में ऐसे बहुत से उच्च स्तर के ग्रन्थ हैं, जिनमें गुरु गोरखनाथ के उपदेश संगृहीत हैं, तथापि

उनमें एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जिसमें पूर्णत: या प्रमुखत: दार्शनिक विषयों का ही प्रतिपादन किया गया हो। समस्त प्रामाणिक ग्रन्थ योग के सिद्धान्तों और व्यवहारपक्ष का प्रतिपादन करते हैं। भौतिक शरीर के समस्त आन्तरिक एवं बाह्य अंगों, इन्द्रियों, प्राणशक्ति, स्नायुतन्तुओं, मांसपेशियों, भौतिक क्रियाओं एवं स्वाभाविक प्रवृत्तियों, सूक्ष्म इच्छाओं एवं आवेगों, समस्त बौद्धिक प्रत्ययों, निर्णयों एवं तर्कों का क्रमबद्ध एवं नियमित अनुशासन ही योग है। अनुशासन की यह साधना उनमें पारस्परिक सामञ्जस्य स्थापित करने, उनका नियमन करने तथा समस्त भौतिक-मानसिक अवयवों के परिष्कार एवं अध्यात्मीकरण के निमित्त की जाती है। इसका अन्तिम लक्ष्य चेतना की पूर्ण, शान्त एवं प्रकाशित स्थिति में परम सत्य का साक्षात्कार करना है।

योग सिद्धान्त के प्रतिपादन में शरीर-रचना और उनके विविध अंगों तथा उनके क्रिया-कलापों का पूर्ण ज्ञान एवं उस परम आदर्श स्थिति का सम्यक् बोध आवश्यक हो जाता है, जिसके निमित्त समस्त योगसाधना संचालित होती है। योगसाधना के लिए वैज्ञानिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि अनिवार्य है, इसलिए योगसिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों में प्रासंगिक रूप से वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विषयों का विवेचन किया जाता है। योगसाधना की शिक्षाओं के साथ जिन तात्त्विक सिद्धान्तों का प्रचार गुरु गोरखनाथ ने किया, वे तार्किक विश्लेषण के परिणाम न थे, और न उनको विशुद्ध तार्किक रूप देने का कभी उन्होंने प्रयास किया। उनके दर्शन का मूल आधार उनकी समाधि-अवस्था की अतिमानसिक और अतिबौद्धिक अनुभूतियाँ थीं। अतीन्द्रिय अनुभव की बौद्धिक अभिव्यक्ति के रूप में ही उनके दार्शनिक विचार व्यक्त हुए हैं। उन्होंने अपने दर्शन में अतीन्द्रिय एवं व्यावहारिक अनुभवों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। सत्य, शान्ति के अन्वेषकों तथा सांसारिक बन्धनों और दु:खों से मुक्ति चाहने वाले जिज्ञासुओं के लिए उन्होंने तत्वज्ञानालोकित विचार-पद्धति प्रस्तुत की। उन्होंने सामान्यत: उन्हीं पारिभाषिक शब्दावलियों और अभिव्यक्ति-पद्धतियों को माध्यम रूप में स्वीकर किया, जो शताब्दियों से सिद्ध योगियों की परम्परा में प्रचलित थीं और जिनका प्रयोग शैवशाक्त आगमों और तन्त्रों में किया गया था। उन्होंने कभी इस बात का आग्रह नहीं किया कि सभी सत्यान्वेषी विचारों की अभिव्यक्ति में उसी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करें या अपने विचारों के परिष्कार के लिए चिन्तन की वही पद्धति अपनायें। वे लोगों को बतलाते थे कि सत्य एक है, चाहे उसे किसी भी भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाए और चाहे किसी भी मार्ग से बुद्धि का अनुसन्धान करें। यह अवश्य है कि सत्यान्वेषण ईमानदारी, निष्ठा, सच्चाई और लगन से किया जाना चाहिए। भाषा के किसी विशिष्ट रूप या चिन्तन की किसी विशिष्ट पद्धति के प्रति अनावश्यक रूप से आग्रह या आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि परम सत्य चेतना के उन उच्चतर स्तरों पर स्वयं को प्रकट करता है, जहाँ भाषा और विचार नहीं पहुँच पाते और दार्शनिक चिन्तन की पद्धतियाँ एवं उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावली भौतिक चेतना को शुद्ध, प्रकाशित एवं ध्याननिष्ठ करने तथा उसे उच्चतर मानसिक स्तर तक ले जाने के साधन मात्र हैं। गुरु गोरखनाथ ने स्वयं अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों और धार्मिक मतों में प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली का भी नि:संकोच भाव से प्रयोग किया और यह स्पष्ट घोषित कर दिया कि उनका

आन्तरिक महत्त्व एवं उद्देश्य एक ही है। उन्होंने स्वयं अपने आन्तरिक विचारों और अनभूतियों को जिनका सम्बन्ध निश्चित रूप से उच्चतर मानसिक स्तर से था—व्यक्त करने के लिए प्रायः काव्यात्मक कल्पनाओं, उपमाओं, रूपकों, अलंकारों तथा सादृश्यमूलक तर्कों का प्रयोग किया, तथापि गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्त का भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में एक विशेष स्थान है और अपना निजी महत्त्व, वैशिष्ट्य एवं मूल्य है। □

गुरु गोरखनाथ की सामाजिक उत्क्रान्ति

—डॉ. कुँवर बहादुर कौशिक

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया अपने आत्यन्तिक असन्तोष के कारण, आकस्मिक-विस्फोट एवं हिंसक साधनों से जिस परिवर्तन को प्रस्तुत करती है, वह 'क्रान्ति' है। परन्तु समाज की विद्यमान वर्तमान स्थिति में लोक-कल्याण के सम्बन्ध में विराट् व्यक्ति या उसके नेतृत्व में सामूहिक हितों के उद्देश्य से उद्विकासीय प्रक्रिया आन्तरिक शक्तियों के अहिंसात्मक क्रियाशीलता से जो सामाजिक परिवर्तन होता है, उसे सामाजिक उत्क्रान्ति कहते हैं क्योंकि उत्क्रान्ति का उद्देश्य उन्नति-उत्कर्ष प्रेरित होता है।[१]

योगी गोरख ने अपने युग[२] (७५०-११५०) की सामाजिक परिस्थितियों में प्रचलित असद्-प्रवृतियों, विसंगतियों, विचलित-व्यवहारों, संगठनात्मक असन्तुलन, अव्यवस्था, असामंजस्य एवं अकार्य[३] की विभिन्न दशाओं में जो उत्क्रान्तिकारी परिवर्तन किया वह संक्षिप्तत: ध्यातव्य है—

वर्ण-जाति का विरोध—गुरु गोरखनाथजी ने अपने युग के सामाजिक जीवन में प्रचलित वर्ण एवं जाति से विखण्डित हो रही सामाजिक संरचना के विभिन्न अवयवों की एकता के मूल कारण वर्ण एवं जाति का विरोध किया। धर्म-शास्त्रों में उल्लिखित आदर्शों पर आधारित सामाजिक संगठन में अपने आन्तरिक एवं बाह्य व्यवस्था में शिथिलता, कर्तव्यों के प्रति उदासीनता एवं उच्च वर्णों में भोग-लिप्सा की प्रवृत्ति स्पष्टत: परिलक्षित होने लगी थी। अनेक विद्वान् ब्राह्मण राजसत्ता से जुड़कर राजाओं एवं सामन्तों की भाँति जीवन व्यतीत करने लगे थे। सुविदित है कि कतिपय ब्राह्मण कुलों ने राजसत्ता का उपभोग किया तथा अनेक ब्राह्मण महामन्त्री और सेनापति जैसे पदों पर नियुक्त हुए। इस युग के सामाजिक जीवन की यह विचित्रता है कि इस काल में ब्राह्मणों का एक वर्ग बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जीवन से हटकर सामन्तवादी प्रवृत्तियों से ग्रस्त हो उठता है।

विवेच्ययुगीन क्षत्रिय, जिनके ऊपर बाह्य-आक्रमणों से राज्य की रक्षा तथा आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था का दायित्व था, विलास में डूबने लगे थे। राजाओं में मदिरापान एक सामान्य नियम हो गया था। वैजयन्ती[४] में राजाओं एवं राजपुत्रों द्वारा मदिरापान का उल्लेख मिलता है। मानसोल्लास[५] में इस बात का उल्लेख है कि विवाह आदि अवसरों पर राजागण अपनी पत्नियों सहित सुरापान करते थे। राजाओं की इस

विलासप्रियता ने उन्हें कर्तव्य से विमुख कर दिया। अनेक समकालीन साहित्यिक कृतियों में ऐसे युद्धों का वर्णन है, जो राजाओं द्वारा प्रेम की प्रेरणा तथा विवाह की इच्छा से लड़े गये। इस प्रकार के युद्धों से सैनिक शक्ति एवं आर्थिक स्रोतों का संहार हुआ। जिस समय मुहम्मद गोरी तराइन के दूसरे युद्ध के लिए सैन्य संगठन कर रहा था, पृथ्वीराज संयोगिता का कैदी था। राजाओं की यह शिथिलता तथा प्रमोदप्रियता युद्ध-क्षेत्र में भी बनी रहती थी। तराइन के दूसरे युद्ध में मुहम्मद गोरी के आकस्मिक आक्रमण के समय स्वयं पृथ्वीराज तथा उसकी अधिकांश सेना सो रही थी।

समृद्ध वैश्यों का जीवन भी विलासिता से ग्रस्त प्रतीत होता है। कल्हण की राजतरंगिणी[६] में मोटे पेट वाले मस्तक, पलकों, कान की लोरों तथा वक्ष पर चन्दन लेप करने वाले सेठों का उल्लेख है, जो निर्दयतापूर्वक जन-साधारण का शोषण करते थे। क्षेमेन्द्र ने भी व्यापारियों की बेईमानी तथा शोषक प्रवृत्ति की चर्चा की है, जो ऊपर से धार्मिक प्रवृत्ति का ढोंग रचते थे, किन्तु आचरण में जनता को धोखा देते थे।[७] दुर्भिक्ष, अति-वृष्टि तथा सूखा आदि के समय ये लोग प्रसन्न होते थे, क्योंकि ऐसे अभाव के समय खाद्य-सामग्री अधिक मूल्य पर बिकती थी तथा उन्हें असाधारण लाभ होता था।[८] उपमिति भव प्रपंच कथा[९] में भी व्यापार से होने वाले अनैतिक लाभ का वर्णन है। किन्तु समृद्ध व्यापारियों के विलासमय जीवन के विपरीत अधिकांश निर्धन वैश्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा में ह्रास के चिह्न स्पष्टत: दिखायी देते हैं। पराशर-स्मृति, देवलस्मृति तथा मिताक्षरा में वैश्यों व शूद्रों के लिए प्राय: समान व्यवसाय का निर्धारण मिलता है, जिससे सूचित होता है कि साधारण वैश्य न केवल क्रमश: निर्धन हो रहा था, वरन् इनकी सामाजिक स्थिति भी शूद्रों के समकक्ष होती जा रही थी।

इस काल में धनी एवं निर्धनों के बीच का अन्तर बहुत बढ़ गया था। क्षेमेन्द्र ने सामान्य जनता की निर्धनता का हृदय-विदारक विवरण दिया है। बहुत से लोग नंगी भूमि पर सोते थे तथा निराहार रहते थे।[१०] निर्धनों को नाना प्रकार से प्रताड़ित किया जाता था।[११] खाली पेट तथा दु:खी हृदय उन्हें मूक बना देता था।[१२] निर्धनता के सन्ताप का करुण विवरण हेमचन्द्र के प्राकृत ग्रन्थ 'भवभावना' में प्राप्त होता है। अधिकांश शूद्रों का जीवन दरिद्रता से ग्रस्त तथा उपेक्षित था। ऐसी स्थिति में उनके अन्त:मन में सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के प्रति एक आक्रोश व्याप्त था। परिणामत: जब मुसलिम आक्रमणकारियों ने भारत में इसलाम का प्रचार किया तब, जो हिन्दू-मुसलमान बनाये गये, उनमें अधिकांश शूद्र-वर्ण के ही थे। वे हिन्दू-धर्म के परम्परागत संस्कारों से प्रभावित होते हुए भी निश्चय ही आंशिक रूप से इसलाम की समानता एवं विश्व-बन्धुत्व से प्रभावित हुए होंगे। मुसलिम आक्रमण की इस चुनौती के कारण हिन्दू-समाज ने शूद्रों के प्रति कुछ उदारता भी प्रदर्शित की।

इसलाम के प्रचार से हिन्दू-धर्म और हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के समक्ष जो चुनौती उपस्थित हुई उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप इसलाम के प्रहार से बचने के लिए हिन्दू-समाज ने अपने को कछुए की तरह समेट लिया। परिणामत: सामाजिक जीवन में संकीर्णता व्याप्त हुई। विभिन्न वर्णों एवं जातियों ने अपने चारों ओर नियमों की कठोर दीवारें खड़ी कर लीं, जिससे बाह्य सम्पर्क टूट सा गया। संकीर्ण एवं अन्तर्मुखी संगठन के कारण सामाजिक जड़ता उत्पन्न हुई। वैवाहिक सम्बन्ध एवं खान-पान की सीमाएँ भी संकीर्ण

होती गयीं। विदेशियों से सम्बन्ध निषिद्ध घोषित किया गया तथा विदेश यात्राओं पर प्रतिबन्ध लगाया गया। वंशगत अथवा जातीय शुद्धता की रक्षा की भावना में छुआछूत में वृद्धि हुई। पूर्व युगों की तुलना में अस्पृश्यता की भावना इस काल में अधिक प्रबल दिखाई देती है। ब्राह्मण अपने दास से, अपने ग्वाले से, अपने परिवार के मित्र से तथा अपने अधीन किसान से, केवल अतीव संकट के समय भोजन ग्रहण करता था। किन्तु यह भी कलियुग में वर्जित कर दिया गया। कुछ समकालीन स्मृतियों में कहा गया है कि यदि शूद्र का स्पर्श हो जाए तो वस्त्र पहने हुए ही नहाना चाहिए तथा प्रायश्चित-स्वरूप उपवास करना चाहिए। चाण्डालों के सन्दर्भ में कहा गया है कि उनका स्पर्श करने के पश्चात् प्रायश्चित करना आवश्यक था। अस्पृश्यता की भावना का इतना अधिक विस्तार हुआ कि बौद्ध, जैन, लोकायत, नास्तिक, कपिल के अनुयायी तथा वैदिक मत न मानने वाले भी अस्पृश्य समझे गये। ऐसे संस्कार में गुरु गोरखनाथ की सामाजिक उत्क्रान्ति अनिवार्य बन गयी। वर्ग-जाति का विरोध—गुरु गोरखनाथ ने अपने युग के समाज में प्रचलित वर्गों में स्तरीकरण तथा जातियों का छोटे-छोटे उपजातियों में विभाजित समाज की एकता को खण्डित करने वाले तत्त्वों का कठोरता से विरोध किया।[१३] समाज में विद्यमान ब्राह्मणों, आचार्यों, बौद्ध-सिद्धों, शाक्तों द्वारा वर्ग-जाति की श्रेष्ठता से आतंकित समाज का त्राण गोरखपन्थ के प्रवर्तन का मुख्य उद्देश्य था।[१४] गोरख ने सामाजिक कलंक 'अस्पृश्यता' को समाप्त करने के लिए समाज के सभी वर्गों, जातियों के लिए अपना द्वार खोल दिया।[१५] सामाजिक उत्क्रान्ति का यह प्रथम प्रयास भारतीय इतिहास में गुरु गोरखनाथ ने बुद्ध के पश्चात् किया।

पाखण्डों का खण्डन-सदाचार का मण्डन—युग पुरुष गोरखनाथ ने अपने अहिंसक सामाजिक उत्क्रान्ति के अभियान द्वारा समाज में प्रचलित पाखण्डों रुढ़ियों का खण्डन करते हुए सामाजिक सदाचार पर बल दिया जो समाज बहुदेवोपासना और बाह्याडम्बरों में डूबा हुआ था, उसको दिशा देने के लिए एकात्म पर चलने का आग्रह किया—

'जोगारम्भ की याही बांणी। सब घटि ना एकै करि जाणी।'[१६]

महायोगी गोरखनाथ ने कहा है—

योगामार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषकाः।
तेहि पाखण्डिनः प्रोक्तास्तथा तैः सह वासिनः॥[१७]

पण्डों, पुरोहितों, पुजारियों द्वारा समाज में स्वर्ग और नरक का जो चित्र प्रस्तुत कर सामान्य जन का शोषण किया जा रहा था उसका खण्डन करते हुए गोरख ने सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में कहा है कि युक्ताहारविहारयुक्त संयमित जीवन ही शरीर का सुख है—यही स्वर्ग (की भावना) है, असंयमित तथा आहार-विहार व्यतिक्रमजन्य रोगाक्रान्त अवस्था ही दुःख है, यही नरक (की भावना) है।[१८]

सहजमार्ग से पाखण्ड मार्ग पकड़ना अधिक आसान था, इसलिए सरहपा का सहजयान, तन्तर-मन्तर, भूत-प्रेत, देवी-देवता सम्बन्धी हजारों मिथ्या विश्वासों और ढोंगों से पैदा होने के कारण गोरख का विरोध उचित था।[१९] जब अन्य सम्प्रदाय के आचार्य अपनी-अपनी सनातनी मान्यताओं को वेद, पुराण तथा शास्त्रों की कसौटी बनाकर जनता को उस पर चलाने का प्रयास कर रहे थे, कर्मकाण्ड की महत्ता को

स्थापित करने पर तुले थे तब नाथ साधकों ने सबको एक नयी दृष्टि दी। विजेता मुसलमान भी इसी ओर झुके और बहिष्कृत हिन्दू भी। इसने सबके लिए अपना द्वार खोल दिया।

गोरख ने समाज में व्याप्त कुलती-कुथली की दाल और भाँग के सेवन को त्याग देने का उपदेश दिया—

तजौ कुलती मेटौ भगं। अहनिसि राषौओ जुदबन्धि।
सरब संजोग आवै हाथि। गुरु राषै निरबाण समधि॥[२०]

गोरख ने समाज के नशा खोरी करने वाले, वेश्यागमन करने वाले, संगाही वैरागी एवं प्रपंची गृहस्थ का सामाजिक बहिष्कार करने का कार्य किया। उन्होंने कहा है कि—

गिरही को ग्यान अमली को ध्यान। बूचा को कान वेश्या को मान।
वैरागी अर माया स्यूं हाथ। या पांचा को एको साथ॥[२१]

गोरख ने बाह्य आडम्बर तथा कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए लिखा है कि काषाय गेरुवे वस्त्र धारण करना, खप्पर धारण करना, केशों को नोचना, पाखण्डव्रत लेना, भस्म, कन्था और जटा धारण करना, उन्मतवत् रहना, नग्न रहना, सभाओं में निगम और आगमों पर व्याख्यान देना, काव्य-गोष्ठी में भाग लेना—यह उदर पूर्ति के लिए है—

'काशायग्रहणं कपाल धरणं केशावली लुचनं।
पाखण्डव्रत भस्मचीवर जटा धारित्वमुन्मतता॥
नग्नत्वं निगमागभादिकविता गो गोष्ठी सभाभ्यन्तरे
सर्व चोदर पूरणाय पठनं न श्रेयसः कारणम्॥'[२२]

गोरख ने कहा है कि कई अघोरपन्थी अपना मूत्र पीते हैं, कई अपना मल ग्रहण करते हैं, कई अपने शरीर पर राख पोतते हैं, दुराचरण की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए कई युवती जनों के गुह्यांग की बूँदों को ऊपर खींचते हैं, कई विविध प्रकार की धातुओं 'रसों' का सेवन करते हैं और कई शरीर की समस्त नाड़ियों में वायु का संचार करने में निपुण हैं—

'केचिन्मूत्रं पिबन्ति स्वमलमथ तनौ केचिदुज्झन्ति ललां
केचित्काष्ठां प्रविष्टा युवति भगगतं बिन्दु भूर्ध्व नयन्ति।
केचित्खादन्ति धातून अखिलतनुशिरावायु संचार दक्षा-
नैतेषां देह सिद्धि विर्गतनिज मनोराजयोगादृत स्यात्॥
केचित्तर्क वितर्क कर्कशाधियोऽहंकार दर्पोद्धताः
केचिज्जातिगताभिमान भरिता ध्यानादिकर्माकुलाः।[२३]'

वाममार्गी-पंचमकारों से संघर्ष-वामाचार साधना का उद्देश्य घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति तथा शील का विनाश कर देना था। क्योंकि वाममार्गी एवं पंचमकारी (मांस, मत्स्य, मदिरा, मैथुन, मुद्रा का सेवन करने वाले) सिद्ध समाज को निरन्तर दूषित कर रहे थे। जहाँ ये स्त्री को नंगी करके पूजते हैं। मद्यपात्र को आचार्य हाथ में लेकर बोलता है—'भैरवोहम्, शिवोहम्'; फिर पी जाता है, फिर उसी में सभी पीते हैं। नारी की गुप्तांग पूजा भी होती है। इनका बहुत बड़ा सम्प्रदाय रहा है।...'रजस्वला पुष्करं

तीर्थ, चाण्डाली तु स्वयं काशी, चर्मकारी प्रयाग: स्याद्रज की मधुरामता। अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता।[२४] पुक्कसी-कंजरी। स्वमतानुसार इन लोगों ने अनेक पदों के अर्थ को भी बदला।' 'जब भैरवी चक्र हो तब उसमें ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त का नाम द्विज हो जाता है और जब भैरवी चक्र से अलग हो तब सब अपने-अपने वर्णस्थ हो जाएँ।'[२५] इनका सिद्धान्त है कि माँ को छोड़ कर सभी नारियों के साथ सम्भोग करना चाहिए। मातंगी विद्या वाले तो कहते हैं कि माता तक को भी नहीं छोड़ना चाहिए। यह मार्ग पूर्णतया वेद विरोधी है। वेद शास्त्रों को इसमें वेश्या-सा बताया गया है। वेदों के पाठों में भी इन लोगों ने अपने मतों को डालने का प्रयास किया।[२६]

गोरक्षकालीन भारत तन्त्राचार से आवृत्त रहा। विदेशी आक्रमणों के साथ इसके अनेक घटक देश में प्रविष्ट हुए। पुराणों में इनके विविध रूप देखे जा सकते हैं। तान्त्रिक-बौद्ध लोग हर पुरुष को वज्रधर और हर स्त्री को कपाल वनिता मानते हैं। यह साधना स्त्री प्रधान है। इसमें आराध्य भगवान् 'हेरुक' होते हैं। इनकी साधना कापालिक कही जाती है।[२७] मार्ग की दृष्टि से ये वाममार्गी होते हैं। गुप्त साधना, रात्रिसाधना और युगनद्ध साधना खूब चलती है। बौद्धों के पतन में यह वाममार्गी साधना परम सहायक सिद्ध हुई। गोरक्ष ने ऐसी चीजों से अपने सम्प्रदाय को बिल्कुल अलग रखा।

सामाजिक सुधार के लिए संगठन—गोरक्ष ने अपने धर्म को मानवीय रूप अधिक दिया, जाति व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था को नहीं माना, आपने यवनों को भी शिष्य बनाया। सभी की काया को तीर्थ बनाने की उद्घोषणा उन्होंने उस कट्टरता के युग में की। मानवता से आकृष्ट होकर ही उन्होंने पंजाब की ज्वाला देवी की पूजा, जो हिंसावादी थी, को सात्विक और मानसी रूप दिया। पंचमकार क्या उन्होंने भाँग तक के सेवन का निषेध किया। इसी से देश में उनके असंख्य शिष्य हुए, जिनमें से कुछ की सूची डॉ. उपाध्याय ने दी है।[२८] "गोरखनाथ बहुत शक्तिशाली धार्मिक नेता थे। उन्होंने हठयोग प्रधान नाथ सम्प्रदाय का संगठन किया था। नाथपन्थी अनुश्रुतियों में बताया गया है कि उन्होंने अनेक शैव और योग सम्प्रदायों को तोड़कर बारह पन्थी शाखा की स्थापना की थी।"[२९] गुरु गोरखनाथ ने अपने युग के लोकनायक, समाज सुधारक एवं अहिंसा आधारित सदाचारित समाज के संगठन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अपने असंख्य शिष्यों से उन्होंने नाथपन्थ के संगठन का संकल्प लिया और अनेक शैव, शाक्त, योग आदि सम्प्रदायों को संगठित किया।[३०] लामा तारानाथ की एक पुस्तक के आधार पर पं. परशुराम चतुर्वेदी ने सिद्धों के सम्प्रदायों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है—"सरहपा, नागार्जुन, शबरी, लुई, डोम्बी, नरोपा और तिलोपा महामुद्रा के प्रभाव द्वारा अनुप्राणित थे, विरूपा, डोम्बी, हेरुक जैसे सिद्ध चण्डिका की किसी साधना से प्रभावित थे और इन्द्रभूति, अनंगवज्र आदि कर्ममुद्रा के साधक थे। इसी प्रकार वज्रघण्टापा वीणापा, कम्बल, जलान्धर आदि प्रखर किरणों के उपासक थे और गोरखनाथ आदि भी भिन्न प्रकार के वर्णों व सम्प्रदायों में रखे जा सकते हैं।"[३१] गोरख हमारे समक्ष सफल समाज सुधारक के रूप में आते हैं। हिन्दू धर्म की तरह नाथ सम्प्रदाय भी महान् समन्वयवादी उद्देश्यों को लेकर सामने आया। तत्कालीन समाज में ब्राह्मण धर्म से छूटे हुए सम्प्रदायों को संगठित किया। अनेक विश्वास जो इधर-उधर समाज में बिखरकर धूल-धूसरित हो रहे थे, उनको गोरक्ष ने नवजीवन प्रदान किया तथा शताब्दियों से भटकते हुए धार्मिक तथ्यों को एक स्थायी

शरण दी। ''गोरक्षनाथ ने सिद्धान्त, साधना और संगठन तीनों स्तरों पर पूर्ववर्ती शैव, शाक्त एवं बौद्ध मतों को हतप्रभ करके नाथपन्थ में समाहित कर लिया।''[३२] यही नहीं, उन्होंने कापालिक, शाक्त, कौल, चीनाचार, लोकायत और गाणपत्य जैसे उपसम्प्रदायों को भी समेट लिया, वे नाथ योगी नहीं बल्कि महान् समन्वयी धर्म तथा व्यवस्था के बाहर स्थित सम्प्रदायों का वैसा ही विराट् सम्मेलन है जैसे कि विभिन्न मतान्तरों का सम्मेलन हिन्दू धर्म है।

गोरखनाथ के सामाजिक उत्क्रान्ति द्वारा पूर्व प्रचलित विविध सम्प्रदायों को तथा गोरखनाथ के युग के विभिन्न पन्थों ने भी संगठन में सम्मिलित कर दिया, जिन्होंने विस्तृत रूप से या फिर आंशिक रूप से भेष की मर्यादा को स्वीकार किया। इस पन्थ में भेष रूप छः दर्शनों की कहावत प्रसिद्ध है जो नाथपन्थ के अन्तर्गत ही माने जाते हैं—

जोगी, जंगम सेवड़ा (जैनसाधु) संन्यासी दरवेश।
घटा दरसण ब्रह्म का जामें मीन न मेष॥[३३]

इस प्रकार डॉ. एस.पी.चन्दौला ने मुसलमान, योगी, रुखड़, सूखड़, गूदड़, कूकड़, औघड़, भन्नाथी, सेवड़ा, गृहस्थयोगी, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना, झाड़-फूँक और वैदिक आदि विभिन्न आंशिक भेष की मर्यादा स्वीकार करने वाली उपशाखाओं पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है।[३४]

इस प्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि नाथपन्थ के उदय के बाद उसमें विभिन्न शाखाओं एवं उपशाखाओं का समुचित विकास हुआ।

सामाजिक संगठन के केन्द्र—गोरखनाथ एवं उनके शिष्यों-प्रशिष्यों ने अपने नाथ सम्प्रदाय के राष्ट्रव्यापी संगठन के लिए विभिन्न मन्दिरों तथा मठों की स्थापना की।

डॉ. एस.पी. चन्दौला ने भारत में यत्र-तत्र विद्यमान नाथों के जालौर, सौगन्धिक पर्वत, गिरनार, गोरखभण्डी, प्रभास, धीणोधर, कच्छ, राणा और कन्यकोट ग्राम, कच्छेली, दुमच, हिंगलाज कद्रीमल, मेंगलौर, मैसूर, इतवल षोड़शा मण्डली ग्राम मेंगलोर, चुचुनागिरि, गोरखडिब्बी, सुनारी भैरव और अभीर मठ, कुशावर्त, चौपड़ा अचलपुर, पंचवटी नासिक क्षेत्र, इशारा पर्वत और शुक तीर्थ, हाण्डी भडण्ग, बेलगाँव, हैदराबाद दक्षिण, चितौड़, उदयपुर, काशी, हरिहर क्षेत्र और फाल्गुन तीर्थ, वैद्यनाथ, विशालक-महानाद-गोरवंशी आदि बंग देश में, महानाद हुगली जिले में, कलकत्ते में दमदम के पास, सिंह कुण्ड और पुरुषोत्तम वन उड़ीसा में, कामाख्या, नागदेश के आंकारेश्वर वर्मा की सीमा पर नेपाल में काठमाण्डू, मुण्डाल, सरगोदा (पंजाब), गोरियापीठ, जरवा (चेम्बा) ज्वाला-मुखी, धुँआरायी, शमशेरगाह खुरासान, काबुल, जलालाबाद, पेशावर, अटक कूटासराज, मरवड्डू, झेलम टिल्ला आदि तीर्थस्थानों का विस्तार से वर्णन किया है।[३५] इसके अतिरिक्त वर्तमान में स्थित लगभग १३२ प्रमुख नाथ गद्दियों तथा पीर महन्तों की सूची भी उन्होंने प्रस्तुत की है।[३६]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान समय में भी पूर्ववत् विभिन्न नाथ पन्थों द्वारा भारत-नेपाल तथा सीमावर्ती अन्य देशों में स्थापित मन्दिर, मठ आज भी सर्वत्र अपना आलोक बिखेर रहे हैं।

गुरु गोरक्षनाथजी ने शिव द्वारा प्रवर्तित छः तथा स्वयं के संगठित छः सम्प्रदायों को मिलाकर १२

पन्थों का पुनर्गठन किया जो निम्नवत् है—

१. सत्यनाथी	२. धर्मनाथी	३. रामपन्थ
४. नाटेश्वरी	५. कन्हड़	६. कपिलानी
७. वैरागपन्थ	८. माननाथी	९. आईपन्थ
१०. पागलपन्थ	११. धजपन्थ	१२. गंगानाथी।[३७]

उक्त वर्णित प्रत्येक पन्थ का एक-एक विशेष स्थान होता है जिसे उस पन्थ से सम्बन्धित नाथ लोग अपना पुण्य क्षेत्र मानते हैं। प्रत्येक पन्थ में एक-एक विशेष पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदि प्रवर्तक माना जाता है। स्व. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रत्येक पन्थ के विशेष स्थान, उसके मूल प्रवर्तक या देवता, प्रदेश को ध्यान में रखकर उक्त १२ पन्थों का विवरण निम्नांकित (अंग्राकित) तालिका के रूप में वर्णित किया है।[३८]

सं.	नाम	मूल प्रवर्तक	स्थान	प्रदेश	विशेष
१.	सत्यनाथी	सत्यनाथ	पाताल भुवनेश्वर	उड़ीसा	सत्यनाथ स्वयं ब्रह्मा का ही नाम है। अत: ये लोग ब्रह्मा के योगी कहलाते हैं।
२.	धर्मनाथी	धर्मराज(युधिष्ठिर)	दुल्लुदेलक	नेपाल	--------
३.	रामपन्थ	श्रीरामचन्द्र	चौक ताप्ते पंचौरा	गोरखपुर	इस समय में लोग गोरखपुर को ही अपना स्थान मानते हैं।
४.	नाटेश्वरी	लक्ष्मण	गोरख टिल्ला	झेलम पंजाब	इनकी दो शाखाएँ हैं— नाटेश्वरी, दरियापन्थी
५.	कन्हड्	गणेश	मानफरा	कच्छ	--------
६.	कपिलानी	कपिलमुनि	गंगा सागर	बंगाल	इस समय कलकत्ते दमदम के पास गोरखवंशी इनका स्थान है।
७.	वैराग्यपन्थ	भर्तृहरि	रतढ़ोडा	पुष्कर के पास अजमेर	--------
८.	माननाथी	गोपीचन्द्र	अज्ञात	--------	इस समय जोधपुर का महामन्दिर मठ इनका स्थान है।
९.	आईपन्थ	भगवती विमला	जोगी गुफा या गोरखकुंई	बंगाल दिनाजपुर जिले में	--------
१०.	पागलपन्थी	चौरंगीनाथ (पूरनभगत)	अबोहर --------	पंजाब --------	--------

११. धजपन्थ	हनुमानजी	--------	--------
१२. गंगानाथी	भीष्म पितामह	जरवबार	गुरुदासपुर पंजाब

उक्त १२ पन्थों के विषय में डॉ. एस.पी.चन्दौला ने भी विस्तार से प्रकाश डाला है।[३९]

सामाजिक समरसता के प्रचण्ड पुरोधा—गोरक्षकालीन भारतीय समाज बौद्ध-जैन, अद्वैत-जैन, वेद-वेदान्त, पुराण कर्मकाण्ड, स्मृति तन्त्र, पाखण्ड, शैव, वैष्णव, निर्गुण, सगुण आदि प्रपंचों से ऊब गया था जिसको गोरक्ष की साधना सबसे प्रिय लगी और लोगों ने सारे भेदों को छोड़कर इनकी शरण ली। नाथ साधना के तत्त्व आज के जीवित सम्प्रदायों में कहाँ और कितनी मात्रा में अवशेष हैं, पता लगाना एक गुरुतर कार्य है। परन्तु गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक चिन्तन में समरसता का सिद्धान्त है। विभिन्नताओं में अभिन्नता को प्राप्त होना ही समरसकरण है। जब तत्त्वज्ञानालोकित योगी अपने चरम आदर्श को प्राप्त हो जाता है, जब वह इस भौतिक व्यवस्था की समस्त सीमाओं में अपने आपको पाता है; उस समय वह सूक्ष्म का स्थूल से, जीवात्मा का परमात्मा से, पिण्ड का ब्रह्माण्ड से; अर्थात् समस्त विविधताओं में एकता के दर्शन करता है। वह अपने आप को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्यवस्था के प्रत्येक अणु-परमाणु में, सीमित-असीमित में निहित पाता है तथा अपने में ही समस्त ब्रह्माण्ड व्यवस्था के दर्शन करने लगता है। यही सामरस्य की स्थिति है।

गुरु गोरखनाथ की समरसता के दर्शन में समाधि जीवन से उत्पन्न सभी प्राणियों के प्रति एकात्मकता की भावना विद्यमान थी। उन्होंने सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक श्रेष्ठता और हीनता, ब्राह्मण और शूद्र में समरसता एवं समता स्थापित करने का महत्तम कार्य किया। समाज के विभिन्न वर्णों और जातियों को तोड़कर विद्यमान सिद्धों के अपने समता सिद्धान्त में समाविष्ट कर लिया। इन सिद्धों के विभिन्न वर्णों और जातियों को समाविष्ट करने की सूची तन्जौर ग्रन्थ में उल्लिखित है।[४०] वर्ण रत्नाकर की नाथ सिद्धों की सूची[४१] तथा राहुल जी ने तिब्बत (स. सव्य विहार) से प्राप्त सूची में जिन जातियों का उल्लेख किया है उनमें समाज के हीन जातियों के सिद्धों का उल्लेख किया है जो गोरख के नाथ-पन्थ में स्वीकार्य किये गये।[४२] इन निम्न जातियों में प्रमुख शूद्र सिद्धों में—

१. कंकालीपा[४३]	शूद्र	मगध[४४]	
२. खड्गपा	शूद्र	मगध	चर्पटी (५४) के शिष्य
३. थगनपा	शूद्र	पूर्व-भारत	शान्तिपा (१२) के गुरु
४. शलिपा शीलपा[४५]	शूद्र	विघपुर	
५. छत्रपा	शूद्र	संधोनगर	
६. तन्धे (तन्ते) पा[४६]	शूद्र	कौशाम्बी	
७. कुचि[४७] (कुसूलि) पा	शूद्र	करि	

८. महिपा (महिलाप)	शूद्र	मगध	कण्हपा (१७) के शिष्य
९. राहुलपा	शूद्र	कामरूप	सरह (६) से तीसरी पीढ़ी
१०. धोकरिपा	शूद्र	सालिपुत्र	
११. तेलुकपा	शूद्र	भंगलपुर	अवधूति (मैत्री) पा के शिष्य
१२. निर्गुणपा	शूद्र	पूर्व देश	
१३. कलकलपा	शूद्र	भिरलिर नगर (?)	
१४. धहुलि[४७]	शूद्र	धेकर देश (?)	
१५. कपाल (कमल) पा	शूद्र	राजपुरी	
१६. सर्वभज्ञपा	शूद्र	महर (सहर)	शबरी (२) छोटे सरह और भुसुक (४१) का शिष्य
१७. पुतुलिपा	शूद्र	भंगलादेश	
१८. अंनगपा	शूद्र	गौड	डोम्बिया (४) की तीसरी पीढ़ी

आदि शूद्र सिद्धों को अपने नाथपन्थी समाज में मान्यता प्रदान गोरख ने कर दिया।

१९. पनह (अपान–चमारह) पा		सन्धोनगर	

शूद्र सिद्धों के अतिरिक्त गोरख ने अपनी सामाजिक समरसता के अन्तर्गत अन्य पिछड़ी जातियों के सिद्धों को भी प्रमुखता से शामिल कर लिया।

१. मीनपा	मछुआ	कामरूप	जालन्धरपाद (४६) के शिष्य गोरक्षपा के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ
२. तन्तिपा	तन्तवा	सोन्धोनगर	जालन्धर (४६) के शिष्य
३. चमारिपा	चर्मकार	विष्णुनगर (पूर्व देश)	
४. धोम्भिपा	धोबी	सालिपुत्र	
५. अचिन्तिपा	लकड़हारा	धनिरूप (?)	
६. कमरि	लोहार	सालिपुत्र	अवधूति के शिष्य
७. गुण्डरिपा	चिड़ीमार[४८]	डिसुनगर	लीलापा (२) के शिष्य
८. चर्पटी (पचरी)पा	कहार	चम्पा	मीनपा (८) के गुरु
९. मणिभ्रदा (योगिनी)	गृहदासी	मगध	कुकुरिपा की शिष्य
१०. कन्ताली (कंथाली) पा	दर्जी	मणिधर (मैहर)	कण्हपा (१७) के शिष्य

समाज के श्रेष्ठ वर्णों में क्षत्रिय जातियों को भी गोरख ने समरसता के सिद्धान्त में सिद्धरूप में समायोजित कर लिया—

१. डोम्बिपा	क्षत्रिय	मगध	लूइपा (१) के शिष्य
२. शबरपा	क्षत्रिय	विक्रमशिला	(सरह ६) के शिष्य लूइपा के गुरु
३. भलह (भवं) पा	क्षत्रिय	धन्जुर (देश)	
४. हवंज (घण्टापा)	क्षत्रिय	वारेन्द्र[४९]	

समाज के श्रेष्ठ वर्णों में ब्राह्मण जातियों को भी गोरख ने समरसता के सिद्धान्त में सिद्ध रूप में समायोजित कर लिया—

१. सरहपा	ब्राह्मण	नालन्ध	राजाधर्मपाल (७६९-८०९ई.)
२. शान्तिपा[५०]	ब्राह्मण	मगध	महीपाल (९७४-१०२६)
३. नागार्जुन[५१]	ब्राह्मण	कांची	सरह (६) के शिष्य
४. नारोपा	ब्राह्मण	मगध	(महीपाल ९७४-१०२६ ई.)
५. तिलोपा (तिल्लोपा)	ब्राह्मण	भिगुनगर	नारोपा (२०) के गुरु
६. भद्रपा	ब्राह्मण	मणिधर	साहपा (६) से तीसरी पीढ़ी
७. डोंगिपा	ब्राह्मण	उड़ीसा (सालिपुत्र)	लूइपा (१) के शिष्य
८. कुकुरिपा	ब्राह्मण	कपिल (वस्तु)	करि मीनपा (८) के गुरु
९. धर्मपा	ब्राह्मण	विक्रम (शिला)	देश जालन्धरपा के शिष्य
१०. जालन्धरपा[५२]	ब्राह्मण	नगरभो	कण्डपा (१७) और मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु
११. पंकजपा	ब्राह्मण		नागार्जुन (१६) के शिष्य
१२. लुचिकपा	ब्राह्मण	भंगलदेश	
१३. जपानन्त	ब्राह्मण	भगलपुर	
१४. नागबोधिया	ब्राह्मण	पश्चिम भारत	नागार्जुन (१६) के शिष्य
१५. भलि (व्यालि)पा	ब्राह्मण	अपत्रदेश (?)	

अनेक वर्णों, जातियों, उपजातियों, उपेक्षित एवं हीन जातियों को गोरखनाथ ने अपने सामाजिक उत्क्रान्ति अभियान में सामाजिक समरसता का जो व्यावहारिक कार्य किया वह एक युगान्तकारी तथा ऐतिहासिक परिवर्तन का महान् कार्य था।

गुरु गोरखनाथ की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक उत्क्रान्ति समाज में व्याप्त तन्त्राचार, वामाचार तथा पंचमकारी सिद्धों द्वारा सामाजिक चरित्र के पतन के कार्य के विरुद्ध खुला अहिंसक संघर्ष था। अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को भी गोरख ने कौलमार्ग से पृथक् करके योग मार्ग के सदाचारी जीवन की ओर लाने का महत्तम कार्य किया। कौल मार्ग बौद्धों और शाक्तों की वामाचारी साधना से अधिक जुड़ा हुआ, जिनके आचार्य गोरक्ष के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे—

''वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं
मध्येन्यस्तं मरीच सहितं शूकरस्योष्णमांसम्
स्कन्धे वीणा ललित सुभगा सद्‌गुरुणां प्रपंचः
कौलो धर्मः परम गहिनो योगिनीनामप्यगंत्यः।''[५३]

यही नहीं भगपूजा, श्मशान साधना, मन्त्र, तन्त्र के साथ साधक शिव बनना चाहता था। भैरवी साधना भी खूब चली। यहाँ बौद्ध, शैव, शाक्त मतों के विकृत स्वरूप द्रष्टव्य हैं। इन लोगों ने इस साधना के समक्ष सब कुछ को नकार दिया। स्नान, ध्यान, वेद, जाति, कर्मकाण्ड, परलोक, शास्त्र पुराण, आचार को भी। बस, भैरवी या योगिनी हो, मांस और मदिरा हो। भोग योग का पर्याय हो गया और साधना में अनधिकारी लोगों की भरमार हो गई। इन सबके बावजूद समाज में इनको सम्मान न मिल सका। इसी से जब गोरक्ष ने इनको नकारते हुए अपनी साधना का स्वरूप खड़ा किया तो सबने सम्मान किया। इस तरह बौद्ध और शैव परम्पराओं से गोरक्ष ने सार-सार को ग्रहण किया और थोथे को उड़ा दिया। समसामयिक साधकों एवं धार्मिक आधारों के प्रति तीव्र व्यंग्य किया।

गोरक्षनाथ ने गुमराह जनता को एक दिशा दी। जगत् को नाद और बिन्दु से उत्पन्न बताया। कर्मकाण्ड, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा, शास्त्र पाखण्ड, रोजा, नमाज, यज्ञ, उपवास, व्रत सबको व्यर्थ बताया। शास्त्रों को मरुस्थल सरहपाद बहुत पहले ही कह चुके थे। निजी साधन और विचार को प्रमुख बताया। सहजता पर बल तो दिया पर रहस्यवाद में पण्डितों को खूब उलझाया भी है। एक साथ इतनी मान्यताओं का विरोध करना आसान नहीं था, परन्तु इनकी सहज साधना ने सबको आकर्षित किया। अमर काया की ललक तथा कैवल्यपद ने मानव मात्र को एक बार मन्त्रमुग्ध कर लिया, क्योंकि स्वर्ग, नरक और पृथ्वी के चक्कर ने समाज को खूब उलझा रखा था। गोरक्ष का व्यक्तित्व पूर्ण था। उन्होंने जीव के सर्वांगीण विकास का मार्ग सबके लिए खोल दिया।

गुरु गोरखनाथ के सामाजिक उत्क्रान्ति सम्बन्धी कतिपय प्रमुख बिन्दुओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने समकालीन समाज जीवन में व्याप्त दूषित मान्यताओं का निषेधात्मक तथा सुधारात्मक प्रक्रिया द्वारा जिस परिवर्तन को प्रस्तुत किया वह भारतीय इतिहास में बुद्ध के पश्चात् सर्वाधिक श्रेयस्कर रही और आज भी राष्ट्र जीवन के सामाजिक धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शैक्षिक सुधार परिष्कार एवं प्रोन्नति के लिए गोरक्षपीठ परम्परा के प्राञ्जल प्रकाश बिन्दु अवेद्यनाथ एवं योगी आदित्यनाथ सम्पूर्णतः समर्पित हैं। इसलिए गोरख की परम्परा विद्यमान समाज में जीवन्त और जागरूक है।

सन्दर्भ :

१. रवीन्द्रनाथ मुकर्जी, समकालीन उच्चत्तर समाज शास्त्रीय सिद्धान्त, पृ. २२३-२२४, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, २००१।
२. राहुल सांकृत्यायन, पुरात्तत्व-निबन्धावली, पृ. १२०-१२७ तथा हिन्दी काव्यधारा, पृ. १५६
३. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज, भाग ६, पृ. ५२३-५२६।
४. वैजयन्ती, १०६/ ३१-३४

५. मानसोल्लास, ३/१८०८-१०
६. राजतरंगिणी, ८/१३३-३४
७. क्षेमेन्द्र, कला विकास, २/४
८. क्षेमेन्द्र, देशोपदेश, २/३४
९. उपमितिभव प्रपंच कथा, पृ. ३८, ४२७, ५०० तथा ५५४
१०. क्षेमेन्द्र, सेव्यसेवकोपदेश, २०
११. तदैव, २९
१२. प्राकृत पेंगल, सम्पादक सी. एम. घोष, विविलियोथिका इण्डिया, ५४५
१३. अनुज प्रताप सिंह, नाथ सिद्धों का तात्त्विक विवेचन, पृ. १११
१४. भगवती प्रसाद सिंह, साहित्य और संस्कृति, कुछ अन्तर्यात्राएँ पृ. ८
१५. अनुज प्रताप सिंह, गोरक्षनाथ और नाथसिद्ध, पृ. २८५
१६. दयाबोध-१
१७. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, पृ. १२० ५/५
१८. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ३/१३
१९. राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य-धारा भूमिका पृ. ३४
२०. सबदी २३२
२१. सबदी २४५
२२. अ. योग ६१/१९,२०
२३. तदैव
२४. सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास, पृ. २०३
२५. उपरिवत, पृ. २०३
२६. सत्यार्थ प्रकाश, पृ. २०४ के आधार पर
२७. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—साहित्येतिहास (आदिकाल) सुमनराजे, पृष्ठ १९९
२८. गोरक्षनाथ (नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में), डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ. ९८।
२९. हिन्दी साहित्य (उसका उद्‌भव और विकास) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. २४
३०. गोरखनाथ, नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, पृ. ९८ जार्ज, वेस्टर्न ब्रिग्स, पृ. २२७, चैप्टर-१०
३१. बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक : पृ. १४०
३२. गोरख-दर्शन (निवेदन), डॉ. भगवती प्रसाद सिंह, पृ. ५
३३. नाथपन्थ, पृ. ६६
३४. नाथपन्थ, पृ. ६६ से ६९
३५. नाथपन्थ, पृ. ८६ से १०१
३६. नाथपन्थ, पृ. १०१
३७. नाथपन्थ, पृ. १२
३८. नाथपन्थ, पृ. १३
३९. नाथपन्थ, पृ. ६३
४०. पं. परशुराम चतुर्वेदी, बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक, पृ. १२७-२८
४१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. २९ ,३१

४२. राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबन्धावली, पृ. १२०-१२५ से प्राप्त।
४३. राहुल, कोकंलिपा, कंकलिपा, कंकरिपा, पुरातत्त्व निबन्धावली पृ. २४७
४४. पूर्व में राज्ञी नगर।
४५. सम्भवतः श्रृंगालीपाद (बौद्ध गान ओ दोहा) भी यही हैं
४६. सम्भवतः टंटन (बो.गा.दो.)।
४७. सम्भवतः दवडीपा (चर्यागीत)
४८. व्य-प (भैटिया में)।
४९. चतुरशीति सिद्ध प्रवृत्ति (तन्जूर ८६/१) में नालन्दा लिखा है।
५०. रत्नाकर शान्ति (विक्रमशिला)।
५१. देहान्त १०३९ ई.।
५२. सम्भवतः हालीपा भी कहते हैं।
५३. रांगेय राघव, भारतीय सन्त परम्परा और समाज, पृ. ४४।

□

गोरक्षनाथ का अक्षय कोष

—प्रो. माता प्रसाद त्रिपाठी

सदियों-सहस्त्राब्दियों पूर्व एक निर्जन भूमि खण्ड पर किसी धुन के पक्के सन्त ने जो धूनी रमायी थी वह आज तक उस अक्षयपात्र की गाथा को सुवासित किए हुए है। पूर्वांचल की उर्वरा धरती को उसी धूनी और उसी धुन में अन्नमयी संज्ञा से अभिषिक्त किया जाता है। उस धूनी का संस्मरण ही प्रतिविम्बित करता है—अन्नोत्पादन और ग्राम्य संस्कृति का एक जीवन्त सत्य।

वह धुन थी वीतरागी गोरक्षनाथ की और धूनी है उसकी (लोक) परम्परा की जो प्रतिवर्ष, मकर संक्रान्ति काल में, उस अकृत्रिम सुस्वादु व्यंजन (खिचड़ी) की जो आम जीवन में सर्वसुलभ हो।

इस कृष्यान्न पर्व की गाथा पौराणिक हो या कि कालातीत, इसके भीतर एक वस्तुनिष्ठ सत्य तो है ही जो भारतीय संस्कृति का एक सशक्त आयाम प्रस्तुत करता है।

इतिहास के आईने में : ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व ही (विशेषत: बंगाल में) ऐसे विचार-स्रोत पनप रहे थे जो अगली दो शताब्दियों में दो सम्प्रदायों के रूप में विकसित हुए। शैव धर्म की एक धारा के रूप में सहजिया सम्प्रदाय का जन्म हुआ। इस पर तान्त्रिक मत का तो प्रभाव था ही साथ ही बौद्ध मत का भी प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त नाथपन्थ को जैन धर्म व इसलाम ने भी प्रभावित किया। जैन मतावलम्बियों के आदिनाथ ही नाथ पन्थ में आदि गुरु माने गये हैं हालाँकि यह बात विवाद की है। यहाँ यह जानना जरूरी है कि नाथपन्थ का जो स्वरूप देश भर में विकसित हुआ उस पर कई सम्प्रदायों की छाप है; उदाहरण के लिए पश्चिमी भारत पर वैष्णव मत, पूर्वी भारत व नेपाल में बौद्ध मत तथा अन्य कई क्षेत्रों में जैन एवं इसलाम धर्म के प्रभाव हैं। शैवधारा होने के कारण ही शैव-शाक्त दोनों ही मतों का अधिकतम प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके बावजूद कि इस पन्थ पर विचारों की भरमार है, इस मत का लोकमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। जैसा कि अन्य मतावलम्बी अपनी प्राचीनता सृष्टि के आदिकाल से जोड़ते हैं, नाथपन्थ भी इसमें पीछे नहीं रहा। कितनी ही कथाएँ, किंवदन्तियाँ और कितने ही गीत इस स्वर को मुखर करते हैं कि यह विचार-सरणि कालातीत है।

फिलहाल हम उस नाथपन्थ की चर्चा करते हैं जो १२वीं-१३वीं शताब्दी में विकसित हुआ और

जिसके प्रवर्तक थे मीन नाथ अथवा मत्स्येन्द्र। 'मीन' या 'मत्स्येन्द्र' ही 'मच्छघ्न' (मत्स्य हन्ता) भी कहे गये हैं और उन्हें जब 'पीर' समझा जाने लगा तो वे कहलाए 'मछन्दलि', 'मछोरा', 'मछन्दर'। माया मछन्दर के रूप में, इनकी जन-जन में ख्याति है। इन्हें ही नेपाल में बौद्ध मतावलम्बी बोधिसत्व अवलोकितेश्वर कहते थे। रोचक बात यह है कि गोरक्षनाथ को भी बंगाल के बाहर की परम्परा में 'मछुवारा' कहा गया है। उन्हें 'किओतिय' या 'कैवर्त्त' संज्ञा भी मिली थी।

नाथपन्थ के साहित्य में पाँच आदि सिद्धों की बात की गई है, जिनमें मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ विशेष महत्त्व रखते हैं। इनकी शिक्षाओं का बंगाल में व्यापक प्रभाव पड़ा। मुख्यत: पूर्वी क्षेत्र में जन्मे इस मत ने देश भर में लोकप्रियता अर्जित की। प्राचीन और मध्यकालीन बंगला-साहित्य में इस पन्थ के प्राचीनतम साक्ष्य सुरक्षित हैं और बंगाली गीतों में तथा जोधपुर में हजारों पाण्डुलिपियाँ इस व्यापक मत की साक्षी हैं। बंगाल से पंजाब तथा उत्तर भारत एवं नेपाल में कितनी ही दन्त-कथाएँ विशेषकर भक्त पूरनमल, राजा भरथरी, राजा गोपीचन्द, हीर-रांझा आदि के गीतों ने नाथपन्थ की गौरव गाथा घर-घर में पहुँचाई है। इस मत, प्रमुखत: गोरक्षनाथ, ने सन्तज्ञानेश्वर, गुरुनानकदेव, मलिक मुहम्मद जायसी, सन्त कबीर और तुलसीदास तक पर अपना प्रभाव छोड़ा है।

घरबारी सो घर की जाणे : अब हम उनकी चर्चा करेंगे जो इस मत के प्रचार-प्रसार के लिए घर-बार छोड़ देते हैं। समूचे देश में जहाँ भी ऐसे नाथपन्थी देखे जाएँ, उन्हें आप कनफटा योगी के रूप में देखेंगे। हठयोगी साधक कान में कुंडल धारण करते हैं। जिसे 'दर्शन' कहते हैं। अपने नाथ (नत, नात, नाट, नाथ, णाह) यानी 'परम स्वामी' के ये परम भक्त जुग्गी या जोगी भी कहलाते हैं। काशाय वस्त्र धारण, भस्मलेप, रुद्राक्ष माला धारण...इनकी विशेष पहचान है। डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त ने गोरखपन्थी योगियों की वेशभूषा का परिचय देते हुए जिन प्रमुख उपकरणों की चर्चा की है वे हैं—जटा, सेली (कनटोप), मुद्रा (दर्शन), भस्म (छार, भभूत), रुद्राक्ष माला (रुदराख) मेखला, कोपीन (कछौरा), कन्था (भगवा), चिरकुट (कन्था या कथरी की तरह फटा वस्त्र) पांवरी, जोगौटा, योगपट्ट, चक्र सिंगी, अधारी, दण्ड (डंडा), त्रिशूल, किंगरी (चिकारा, सारंगी, चण्डाल वीणा), जयमाला, खप्पर, उदपानी, छाला, छाता, जनेऊ। (देखें महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति ग्रन्थ)।

गोरक्षनाथ का मृदंगवादन और जोगियों का किंगरी या सारंगीवादन, गोरखवाणी में जन जागृति के सन्देश फैलाता रहा है। गाँव-गाँव सारंगी बजाते गोपीचन्द, पूरनमल, भरथरी और रांझा के गीत गाते जोगियों ने ही वस्तुत: नाथपन्थ को लोकप्रिय बनाया। संगीत से जुड़ जाने के कारण नाथपन्थ का जन-जन तक प्रसार बड़ा ही सहायक सिद्ध हुआ। पहेलियों से जुड़े नाथपन्थ के गीत एकदम नई बात नहीं है। वे उपनिषदों की याद दिलाते हैं जिनमें ऐसी रहस्यमयी पहेलियों की शुरुआत हुई है।

गोरक्षसंहिता, गोरक्षशतक और गोरक्षविजय आदि ऐसी कृतियाँ हैं जिनमें गोरखवाणी सुरक्षित हैं। उन्होंने सम्भवत: स्वयं कुछ भी नहीं लिखा। उनकी शिष्य परम्परा ने उनकी वाणी को सुरक्षित रखा और जोगियों ने गा-गाकर इसका प्रचार-प्रसार किया। नाथपन्थ के रूप में ख्यात गोरक्षनाथ की अपूर्व अद्‌भुत रहस्य कथाओं के कारण ही यह रहस्यधर्म बनता गया, यद्यपि कबीर जैसे जिन्दादिल निरगुनिया कवि पर

भी इस पन्थ की स्पष्ट छाप थी।

सृष्टिकथा नाथपन्थ की और गुरु गोरक्षनाथ : गुरु गोरक्षनाथ का परिचय प्राप्त करने के निमित्त नाथ साहित्य की सृष्टिकल्पकथा विचारणीय है। इस सम्प्रदाय का 'सृष्टि-सूक्त' में कितना साम्य है।

कथा इस प्रकार है। सृष्टि के आरम्भ के पूर्व विराट् सन्नाटा (अन्धकार) और शून्य व्याप्त था। फिर शून्य में ही एक बुलबुले (जल बुदबुद) की भाँति मृदु स्वर में अण्डा उत्पन्न हुआ। यही था आदिनाथ। अण्ड से ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ। आदिनाथ के पसीने से उसकी प्रकृति केतका अथवा मनसा उत्पन्न हुई फिर बिना साहचर्य (शरीर-सम्भोग) के ही वह गर्भवती हुई। उसी से ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न हुए। ब्रह्मा मुख से, विष्णु शीर्ष से तथा शिव सामान्य रूप (गर्भ) से। आदिनाथ इन बच्चों के जन्म के पूर्व ही 'बालुका' तट पर तपस्या करने चले गये थे। जन्म के बाद पुत्रगण भी तपस्या करने उसी ओर चले गये। अन्तराल बाद पिता (आदिनाथ) ने अपने पुत्रों की परीक्षा लेनी चाही। वे बाहुका नदी में शव तुल्य तैरते हुए प्रकट हुए। ब्रह्मा ने दूर से ही गन्ध पाकर अपने को अलग कर लिया, विष्णु ने जल को लहरा दिया और शिव ने यह पहचान लिया कि शव उनके पिता का है। अस्तु, तीनों भाइयों ने उनका अन्तिम संस्कार किया। उसी राख से पाँच आदि सिद्ध पैदा हुए जो नाथपन्थ के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। रोचक बात यह है कि मीननाथ गोरखनाथ खोपड़ी (अथवा घोर) से, हाडि-पा हड्डियों से, कानु-पा कानों से और चौरंगी नाथ चरणों से उत्पन्न हुए। इस कथा का विस्तार आगे भी है।

आदिनाथ ने शिव को (जिनका जन्म 'सहज' था) 'केतका' से विवाह करने की आज्ञा दी। वही 'गौरी' कहलायी। पाँचों सिद्ध शिव के अनुयायी हुए। महाज्ञान के अधिकारी मात्र शिव थे। शिव ने गौरी को इस महाज्ञान उपदेश की योजना बनाई। वे समुद्र गर्भ में पहुँचे। मीननाथ को इसका आभास हुआ, क्योंकि वे महाज्ञान के फेर में थे, अतः वहाँ मछली का रूप धारण कर पहुँच गये, जहाँ शिव गौरी को उपदेश दे रहे थे। अपने रहस्यमय पराक्रम से मीननाथ ने गौरी को सुला दिया। शिव के बताए महाज्ञान को वे सुनते रहे। बाद में जब गौरी की नींद उचटी और उन्होंने अपने पति से महाज्ञान बताने को आग्रह किया तो भेद खुल गया। शिव ने मीननाथ को शाप दिया कि एक-न-एक दिन तू यह ज्ञान भूल जाएगा। अपनी इस भूल के कारण मत्स्येन्द्र नाथ माया मछन्दर बना।

शिव उन पाँच आदि सिद्धों के गुरु तो थे ही, बड़े भाई भी थे। गौरी ने सोचा कि वे (शिव के साथ) दाम्पत्य सुख प्राप्त करें और शेष भाई अविवाहित रहें, यह ठीक नहीं है। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि वे सभी विवाह कर लें, पर सब बेकार। अन्त में गौरी ने नारी होने का लाभ उठाकर उन्हें अपनी रूप भंगिमाओं से मोहित करके आकर्षण पैदा करना चाहा, जिससे चार तो विचलित हो गये पर गोरक्ष पर कोई प्रभाव न पड़ा। गौरी को इससे बड़ा दुःख हुआ। अस्तु, शिव ने अपने प्रताप से गोरक्ष को प्रभावित किया। उनका विवाह एक सुन्दरी ऋषि कन्या से करवा दिया, किन्तु जब वह मधुयामिनी में अपने पति गोरक्ष से मिलने आई तो देखा कि वे एक बालक के रूप में माँ के स्तन-पान के लिए क्रन्दन कर रहे हैं। नवविवाहिता वधू का व्यग्र होना स्वाभाविक था। ऐसी स्थिति में गोरक्ष ने कहा 'मैं न तो पुरुष हूँ न नारी, तथा शुष्क काष्ठ की तरह न संवेदना ही है न शारीरिक प्रतिक्रिया।' किन्तु गोरक्षनाथ यह भी नहीं चाहते थे कि उनकी सहधर्मिणी

निराश रह जाए, अतः उसे ऐसा जल पीने को दिया जिसमें अपनी लंगोटी का एक अंश भिगो दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही घण्टों के बाद एक शिशु ने जन्म लिया जो 'कर्पटीनाथ' कहलाया।

'गोरक्ष' कैसे बने गुरु गोरक्षनाथ? : प्रायः सभी नाथ सिद्धों ने गोरक्षनाथ को सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध स्वीकार किया है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, गोरक्षनाथ शब्द का निर्वचन उन्हें गो-रक्षक सिद्ध करता है। यह नाम भी शैव धारा से जुड़ा है यद्यपि उन्हें उनके अनुयायी सनातन निर्विकल्प ब्रह्म बताते हैं। गोरक्ष ही गोरख कहा गया। उनकी शिक्षाएँ मध्यकालीन बोली में नाथपन्थ के मूल सिद्धान्तों के सारतत्त्व का परिचय देती हैं।

गोरख निश्चय ही प्रमुख सिद्ध थे। यही कारण है कि हिन्दी-राजस्थानी क्षेत्र में गोरक्षपन्थ अधिक प्रचलित हुआ। यह पन्थ बाद में सनातनधर्मा यौगिक एवं तान्त्रिक मतों से मिलता गया जो स्त्री जाति से दूर रहने के व्रत का कठोरतापूर्वक पालन करता रहा। यह समन्वित सम्प्रदाय ही बंगाल का गोरखपन्थ कहलाता है।

यहाँ उस घटना का जिक्र करना आवश्यक है जिसने गोरख को गुरु गोरख बना दिया। वे अपने गुरु के भी गुरु कहलाए।

हुआ यह था कि मत्स्येन्द्र नाथ को, छलपूर्वक महायज्ञ अर्जित करने के कारण, शिव ने शाप दिया था, अतः उन्हें माया के दलदल में फँस जाना पड़ा था। वे सांसारिक बन गये थे। बारह वर्षों के पश्चात् जब गोरखनाथ को गुरु संकट की सूचना अपने समकालीन सिद्ध कानु-पा से मिली तो वे चिन्तित हुए। उधर शापग्रस्त मत्स्येन्द्र एक राजा के शरीर में प्रविष्ट होकर राजोपभोग करने में मदमस्त थे। रानी उन्हें अपना प्रियतम मान रही थी। रानी का आदेश था कि राज्य के भीतर कोई साधु-सन्त आने न पावे। ऐसी परिस्थिति में गोरख ने नर्तकी वेश में मृदंग वादन करते राज दरबार में प्रवेश किया। वहाँ मृदंग पर ही 'चेत मछन्दर गोरख आया, जाग मछन्दर गोरख आया।' बजाने लगे। यह धुन मत्स्येन्द्र से छिपी न रह सकी। आखिर वे थे न गुरु। उन्होंने गोरख को पहचान तो लिया पर माया में फँसे मछन्दर आकर्षण-विकर्षण के झूले पर झूलते रहे। अन्ततः गोरख की विजय हुई। इसके बाद ही वे अपने गुरु के भी गुरु मान लिए गये। गोरक्षनाथ शिष्य थे मत्स्येन्द्र नाथ के और गुरु थे उस व्यक्ति के जो था माया मत्स्येन्द्र-माया मछन्दर।

कहा जाता है कि गोरखनाथ का खप्पर भरा नहीं। खप्पर वस्तुतः प्रतीक है उस अन्नमय कोश का जो भरकर भी अधूरा रहता है और मानव संस्कृति के अस्तित्व के लिए अन्न (प्राण) की महत्ता बनी रहती है। एक विलक्षण किन्तु महत्त्वपूर्ण किंवदन्ती गुरु गोरखनाथ और गोरखभूमि (गोरखपुर) से जुड़ी है। कहा जाता है कि त्रेता में गुरु गोरखनाथ जब हिमांचल के शाक्त पीठ पहुँचे तो शक्ति ज्वाला ने उनसे आतिथ्य स्वीकार करने का अनुरोध किया। शाक्त परम्परा चूँकि भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं करती अस्तु, गोरखनाथ ने यह कहकर कि आप चूल्हे पर पानी चढ़ाइए मैं तब तक भिक्षान्न लेकर आता हूँ। भिक्षान्न याचन करते गोरक्ष इस भूमि तक आए जहाँ समाधिस्थ होकर भूल गये कि शक्ति उनकी प्रतीक्षा कर रही होगी। इतना ही नहीं, उन्होंने इसी भूमि (जहाँ आज गोरखनाथ का भव्य मन्दिर निर्मित है) पर अपना खप्पर (अन्न-पत्र) रख दिया जिसमें उनके दर्शनार्थ आया जनसमूह नया चावल, उड़द, तिल, घी आदि डालता गया पर वह

खप्पर था कि भरा ही नहीं और जब गोरखनाथ ने उपस्थित भक्तों की भीड़ को बाँटना शुरू किया तो खप्पर अक्षय कोश बन गया, बस तब से ही प्रतिवर्ष उसी काल मकर संक्रान्ति में देश के कोने-कोने से लोग उस परम्परा को निभाने आते हैं—गुरु गोरखनाथ का दर्शन करने और उन्हें खिचड़ी चढ़ाने।

एक महान् सन्त का प्रिय भोजन था कष्यान्न यानी खिचड़ी, क्यों? इसलिए क्योंकि यह सर्वजन सुलभ था, साथ ही इस गरीब क्षेत्र की जमीन के अनुरूप भी। अब प्रश्न है उस खप्पर, उस अन्नमय अक्षयकोश के रहस्य की। किंवदन्तियाँ, धर्म से जुड़ी कोई भी अनुश्रुति रहस्यमयी लग सकती है पर उसमें निश्चय ही एक सच्चाई अन्तर्निहित होती है, और उस सच्चाई की प्रासंगिकता अन्न की शक्ति, अन्न की आत्मा (कॉर्न स्पिरिट) से जुड़ी है। जो मकर संक्रान्ति काल में एक पर्व बन जाने की सामर्थ्य रखती ही है। आदमी तब भी अन्न पैदा करने की भरपूर कोशिश करता था और आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से लैस होकर आज भी। लेकिन खप्पर तब भी अपूर्ण था और आज भी। हाँ, प्रसाद रूप में अवश्य ही पहुँच जाता है जन-जन के पेट में ताकि अन्दर की ज्वाला शान्त हो सके। शक्ति (ज्वाला) के अदहन का पानी अब भी खौल रहा है, इस आशा व प्रतीक्षा में कि गोरखनाथ लौटेंगे और उनकी खिचड़ी पकेगी।

अन्त में एक विलक्षण सन्दर्भ की बात जो गोरखनाथ के गोरखपुर स्थित भव्य मन्दिर से जुड़ी है। मन्दिर के समीप ही समाधि स्थल भी है। ऐसा अन्यत्र नहीं देखा जाता। यह जीवन मूल्य का साक्षात्कार कराने वाला अद्‌भुत दृश्य है और यही आकर्षण-विकर्षण के द्वन्द्व की परिणति है।

□

सबद हमारा षरतर षांडा

—स्वामी खुशालनाथ 'धीर'

गोरखबानी सबदी २६४ में महायोगी गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) का उपदेश है कि सबद हमारा षरतर षांडा, अर्थात् हमारा शब्द ज्ञानोपदेश तेज तलवार है। यह सत्स्वरूप परमात्मा में प्रतिष्ठित है। हम उस उपदेशामृत का पाठ करते हैं, जो लिपिबद्ध नहीं है, न किसी ग्रन्थ में अंकित है। वह तो स्वसंवेद्य है।

विश्नोई वैष्णव सम्प्रदाय के योगी जसनाथ का जीवन गोरक्षनाथजी के प्रत्यक्ष दर्शन और नाथ योग में दीक्षा से कृतार्थ हुआ। योगी जसनाथ का जन्म बीकानेर में कतरियासर स्थान में वि.सं. १५३९ में और तिरोभाव वि. सं. १५६३ में हुआ था। जसनाथ सिद्ध परमात्माओं में आते हैं। उनका वचन है—

जत सत रैणा कूड न कैणा
जोग तणी सहनाणी।
अमी चवै मुख इमरत बोले,
हालो गुरु फरमाणी।

सिद्ध परम्परा के ही नाथ सिद्ध पृथ्वीनाथ की बानियों का संग्रह 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' पद-४३७-५३९ में हुआ है। शब्द की महिमा के बारे में उनका वचन है कि—

साध-साध सब कोई कहै, साध की परख ने जानै।
घोषा टेक न तजै, सबद ही कैसे मानै॥
साध पुरिष कै मिलै, भई मुषि अमृत वाणी।
साध पुरिष कै मिलै, गुप्त प्रकट करि जाणी॥
सबद ही बिंदे तो पड़िबे का षोटा।
ऊठि बैठि न सकै, तो किस कांमि मोटा॥
प्रिथीनाथ दरसन नहीं, अभिमानी अज्ञांण।
गुरु गोरष चीन्हया नहीं, ते सब भये पषांण॥ (जोग ग्रन्थ: पृथ्वीनाथ)

शब्द(सबद) वाणी का ही अंग है। यही वचन का स्वरूप है, यही सबद नाथ योगियों का 'सबद

श्री नवनाथ स्वरूप दर्शन

श्री आदिनाथजी

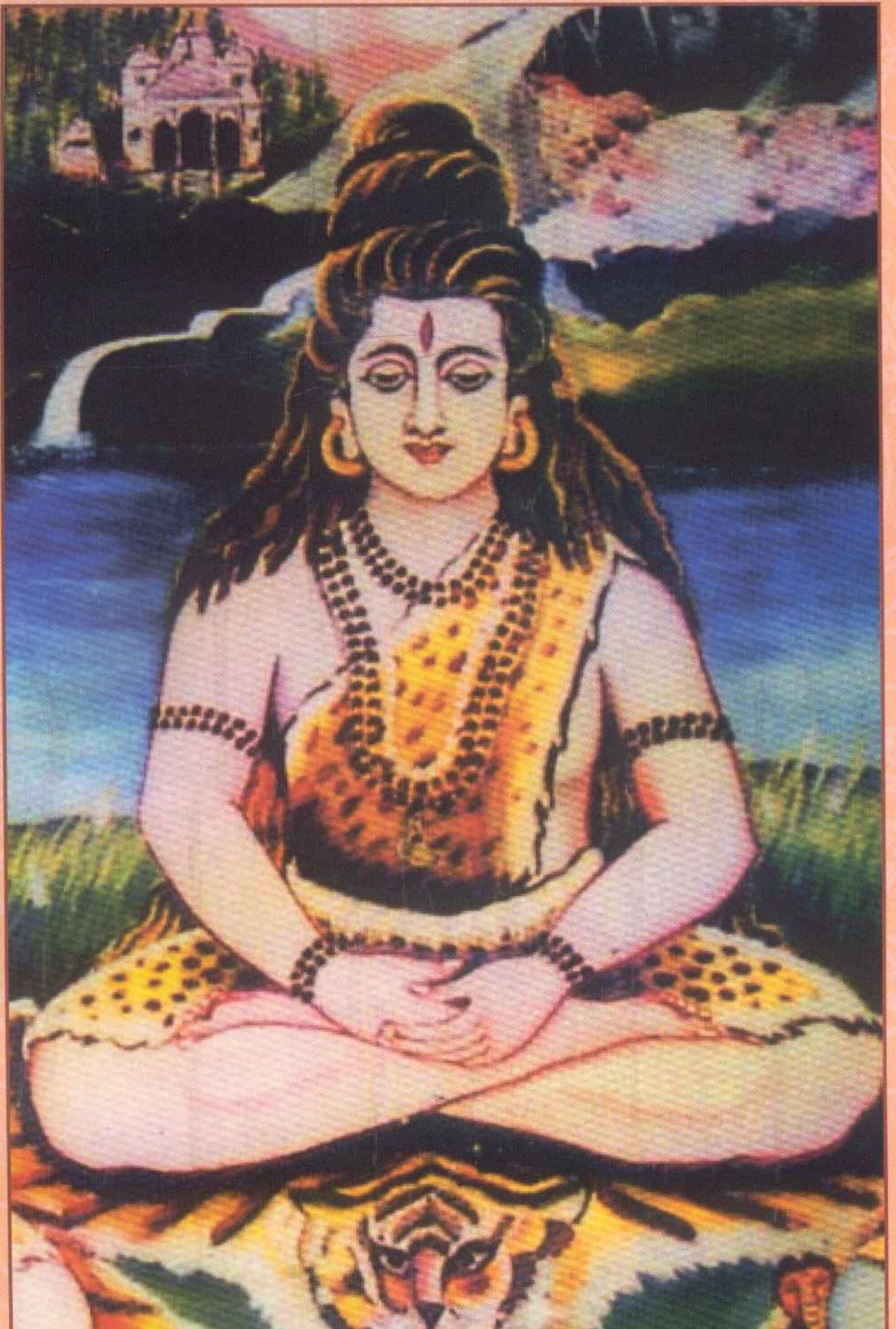

श्री मत्स्येन्द्रनाथजी

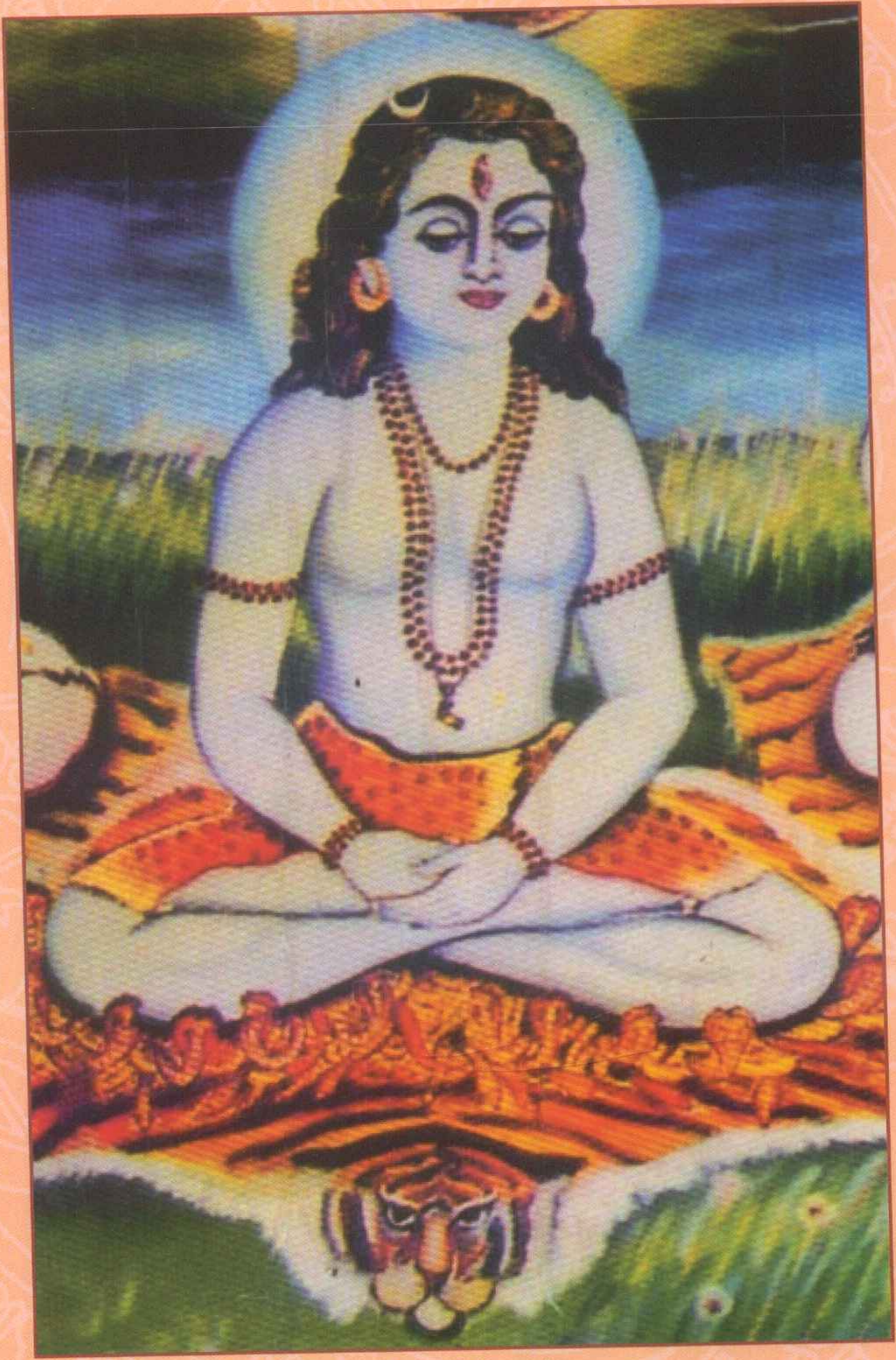

श्री गुरु गोरक्षनाथजी

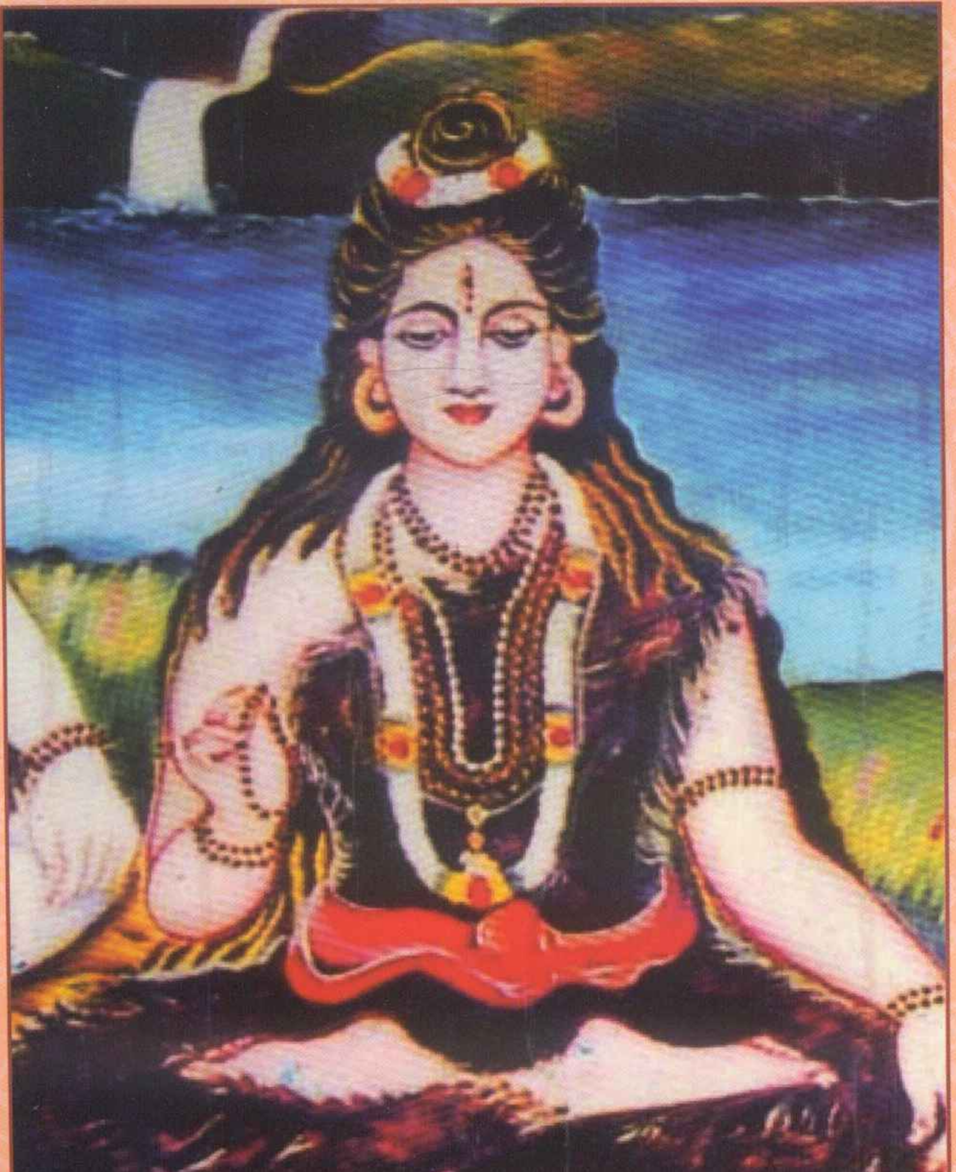

श्री उदयनाथजी

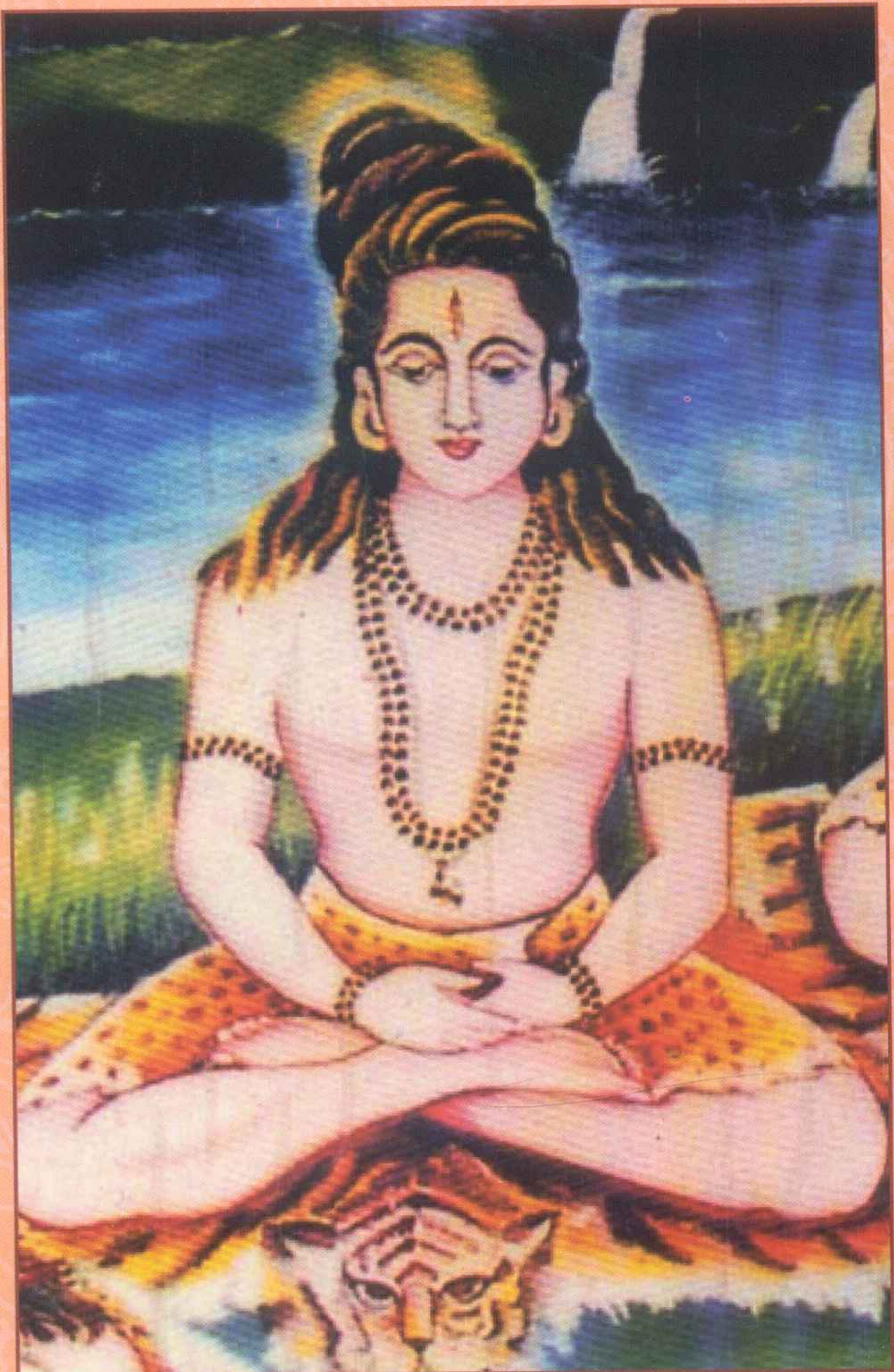

श्री चौरंगीनाथजी

श्री सत्यनाथजी

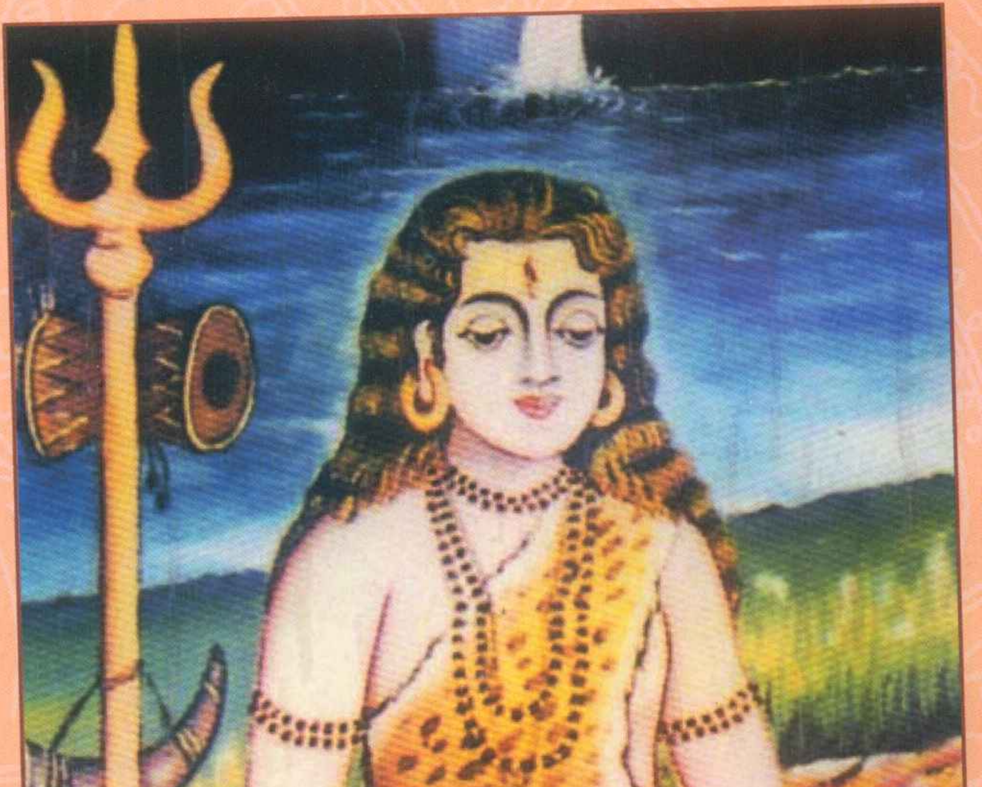

श्री गज कन्थड़नाथजी

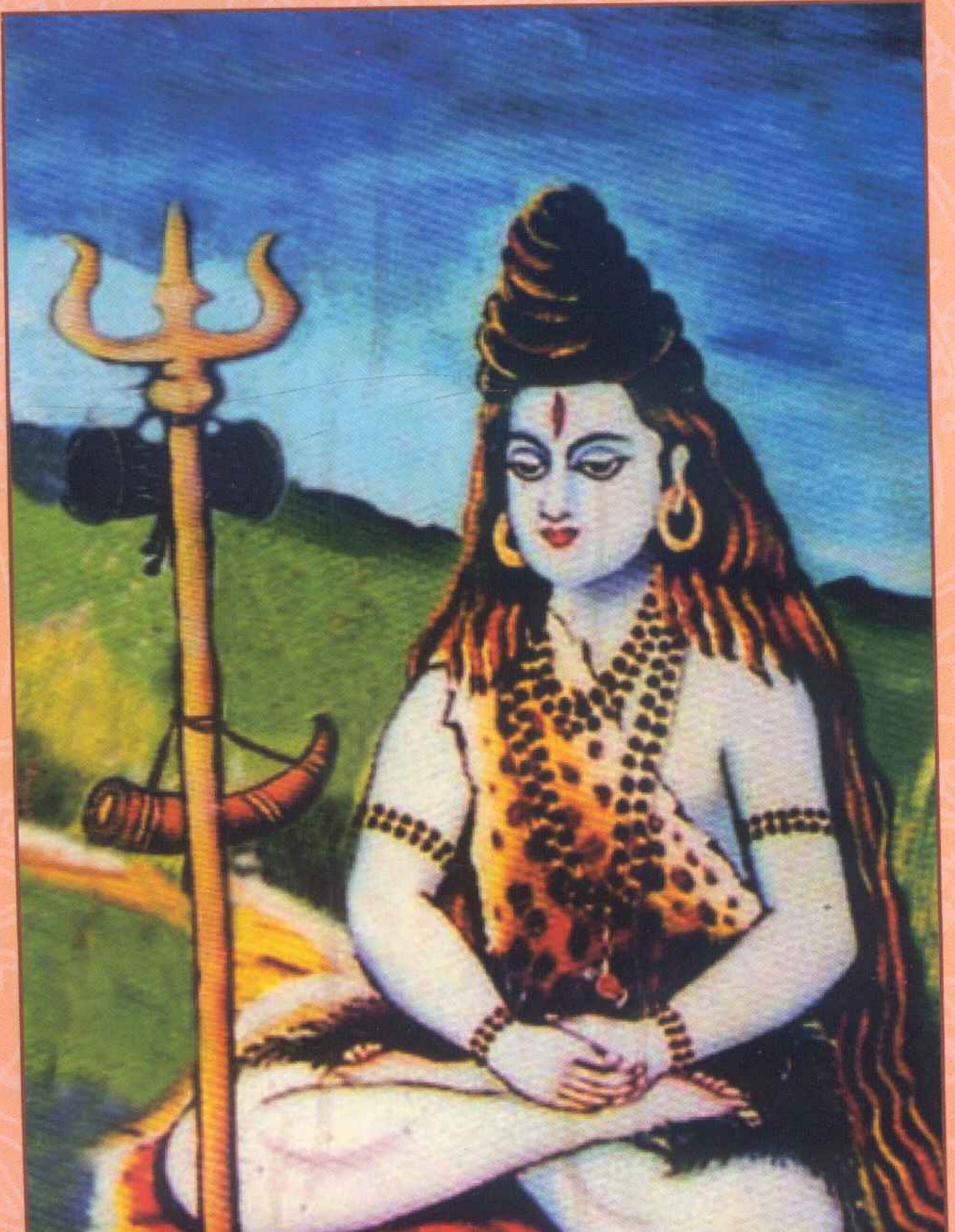

श्री संतोषनाथजी

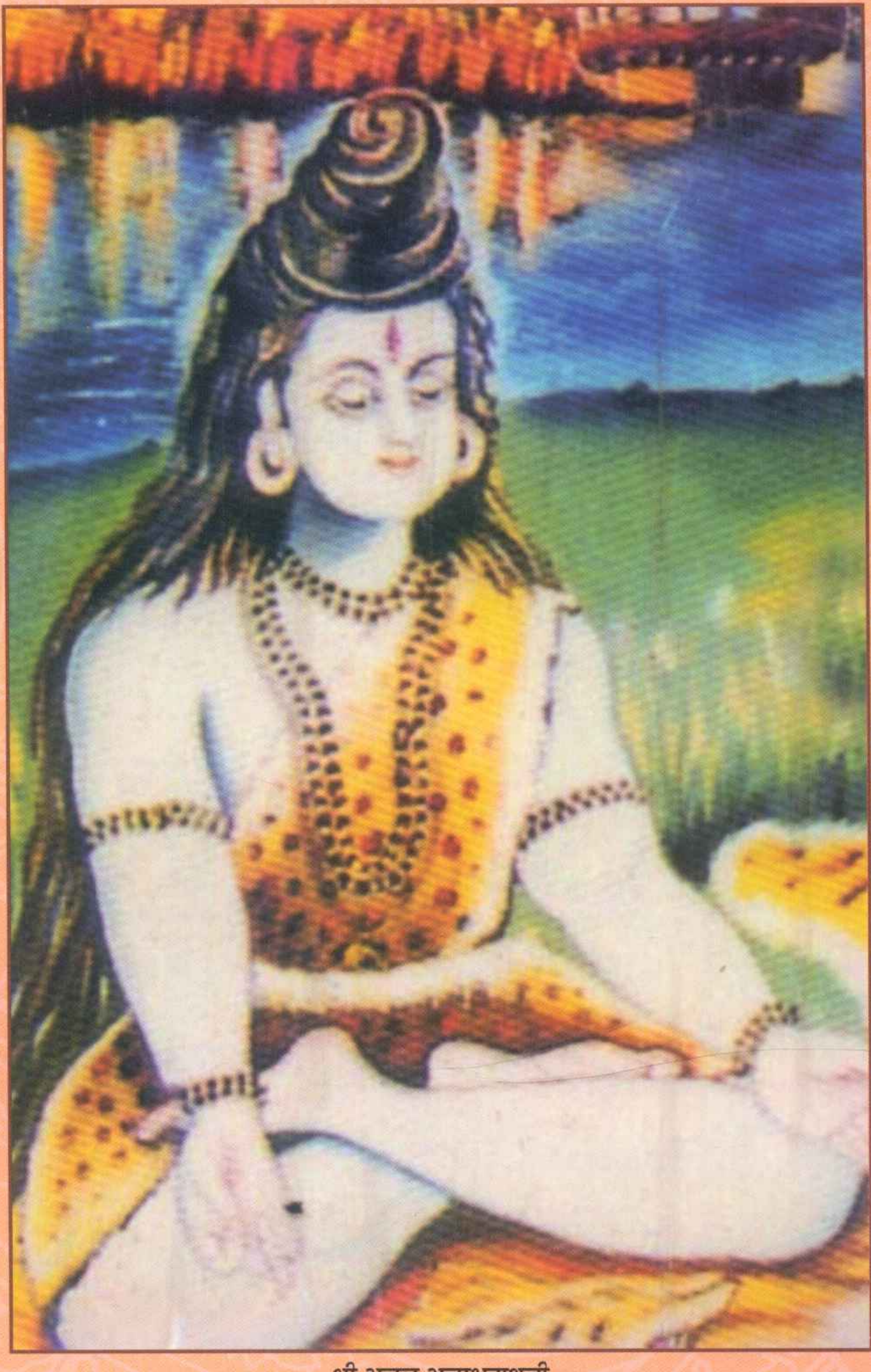

श्री अचल अचम्भनाथजी

श्री (अवलोकितेश्वर) मत्स्येन्द्रनाथ (नेपाल)

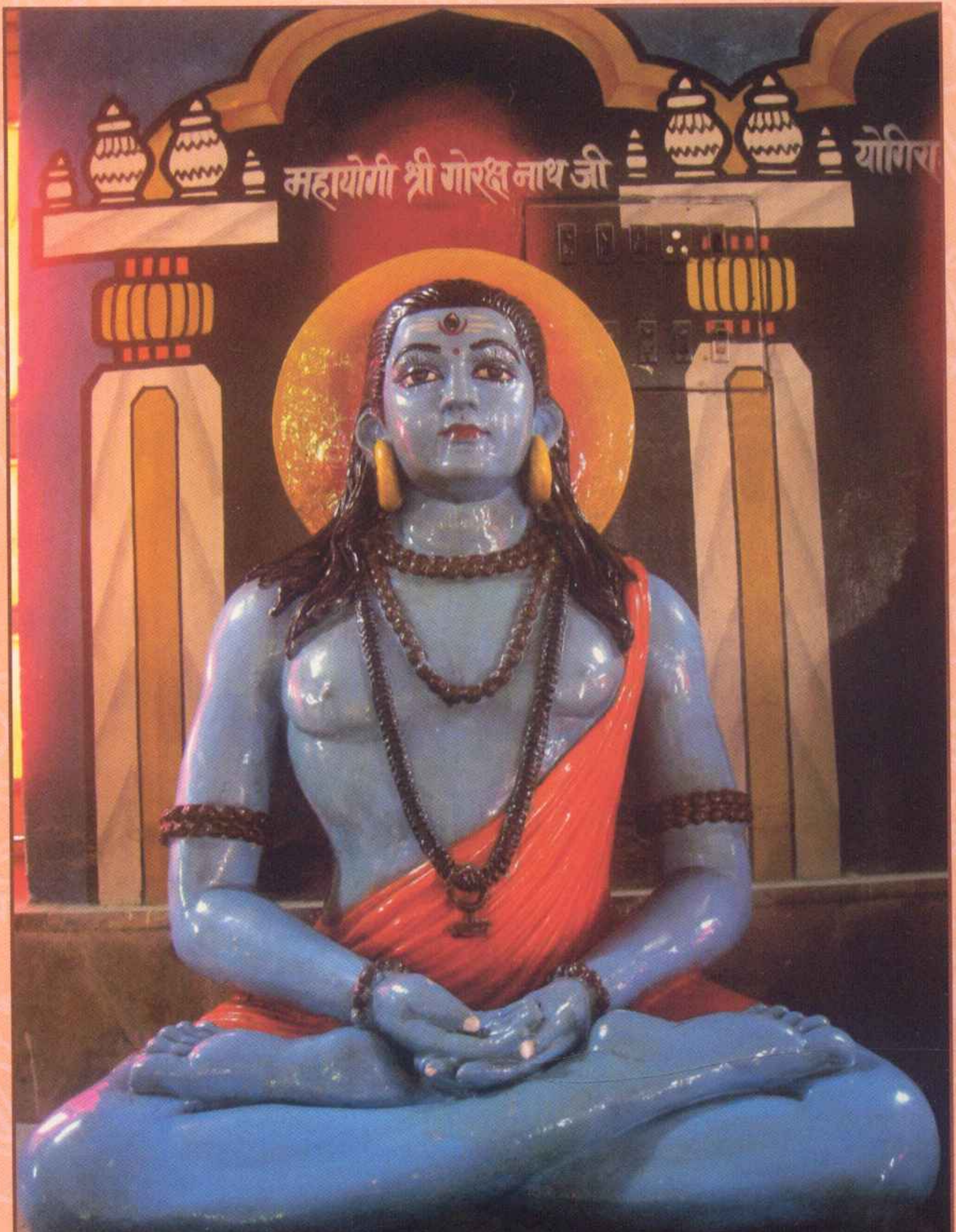

गुरु श्री गोरक्षनाथ

भगवान् शिवगोरक्ष (नेपाल)

भगवान् गणेश और गुरु श्री गोरक्षनाथ

गुरु श्री गोरक्षनाथ का महाबली भीमसेन को आशीर्वाद

गुरु श्री गोरक्षनाथ और ज्वाला देवी

मेवाड़ नरेश बप्पारावल को दोधारी तलवार देते हुए श्री गोरक्षनाथ

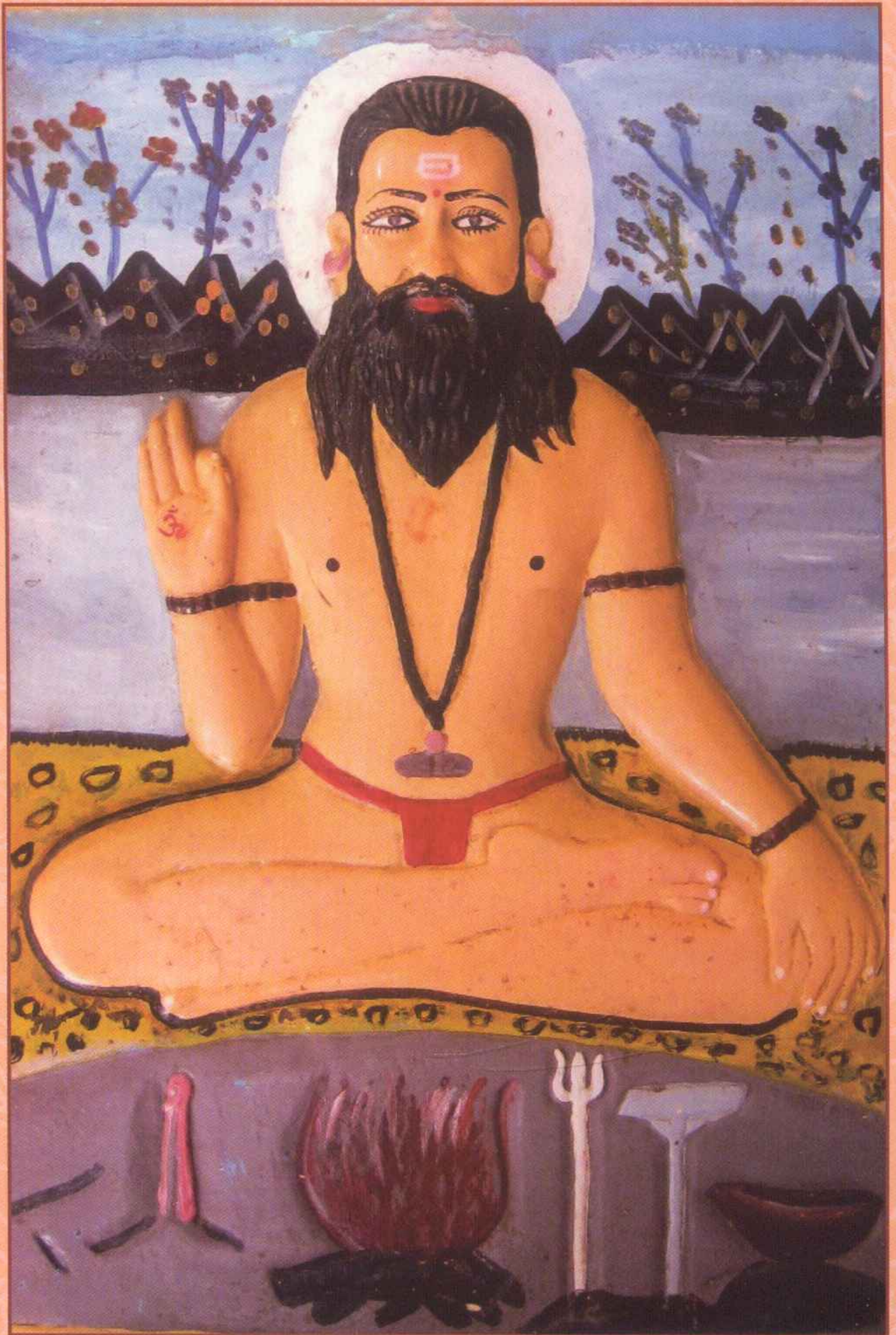

महायोगी श्री जालंधरनाथजी

महासिद्ध योगिराज कृष्णपाद

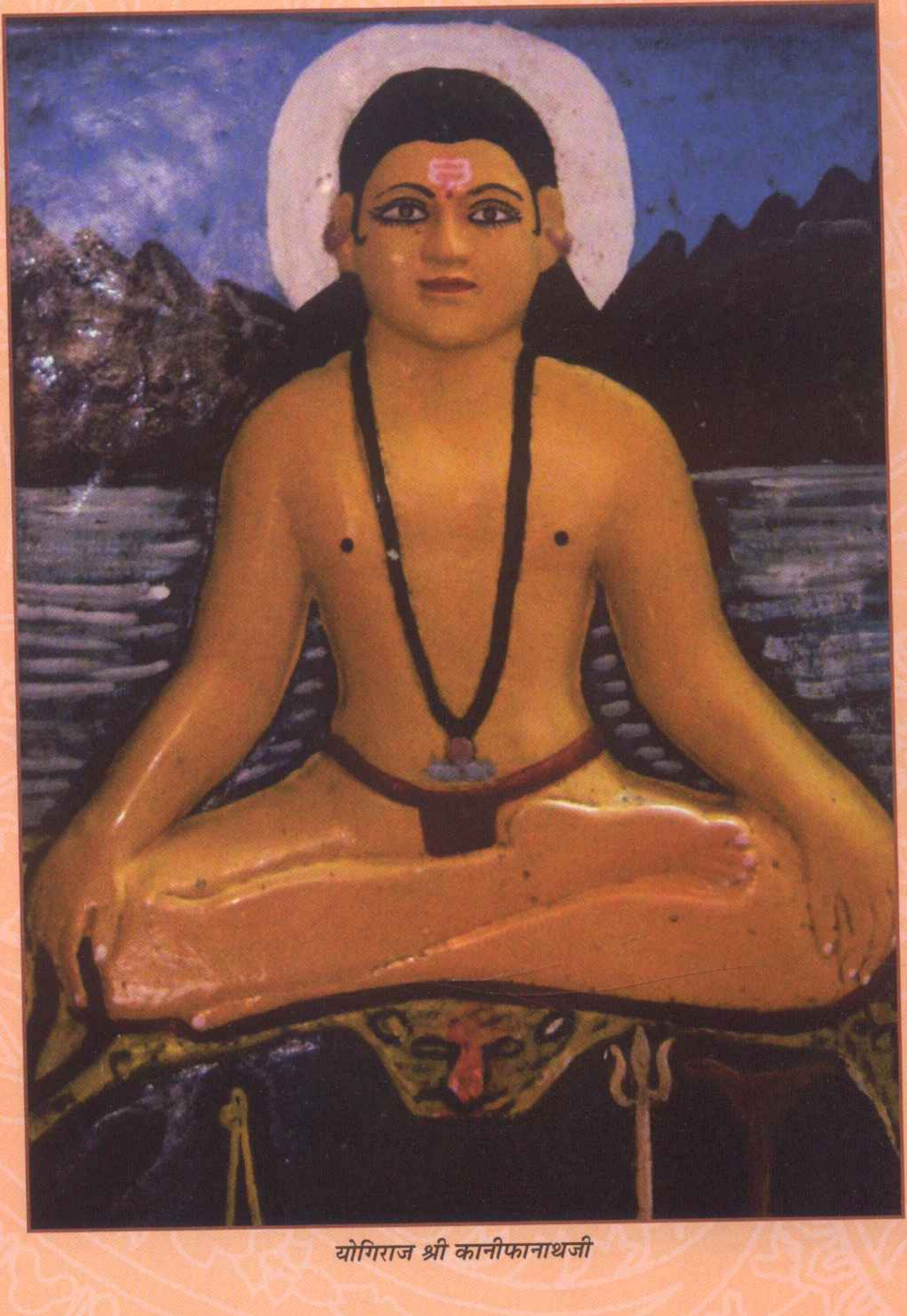

योगिराज श्री कानीफानाथजी

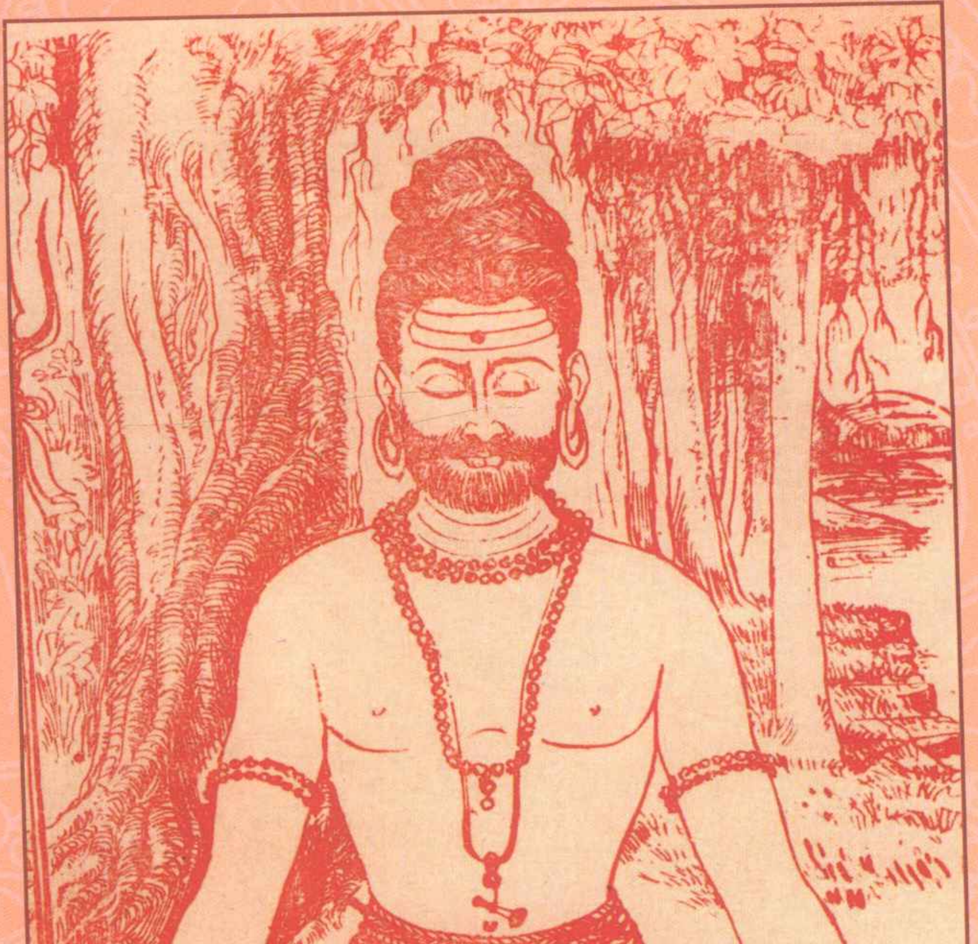

योगिराज चर्पटीनाथ

साधनारत एक नाथ योगी

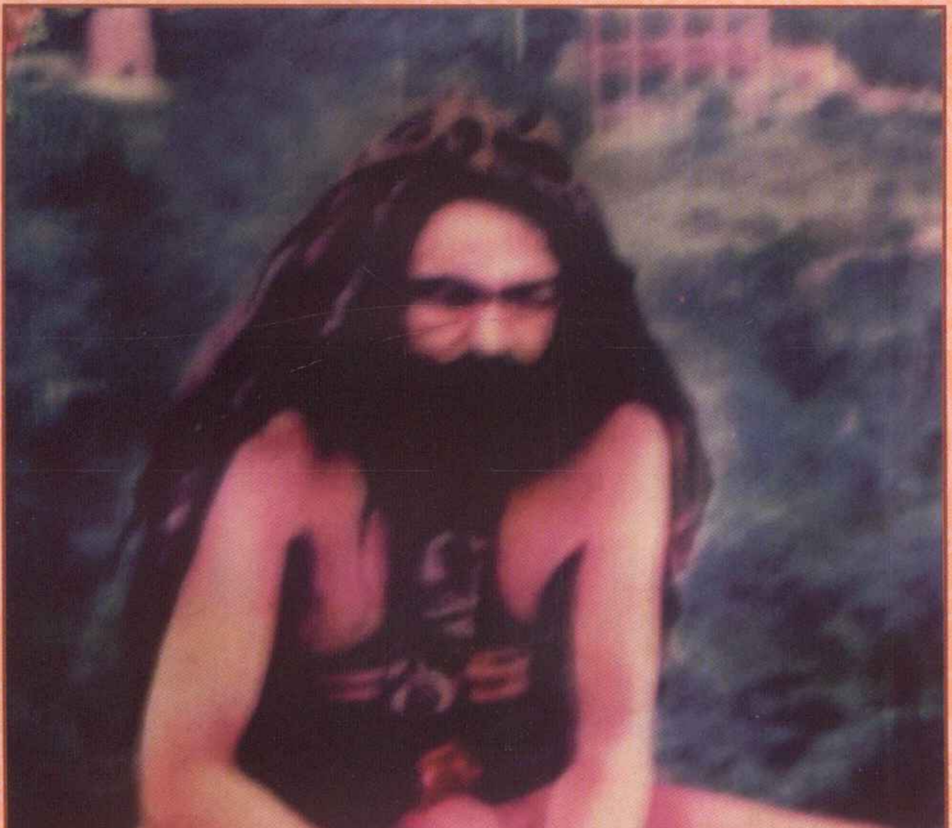

योगेन्द्र शीलनाथ

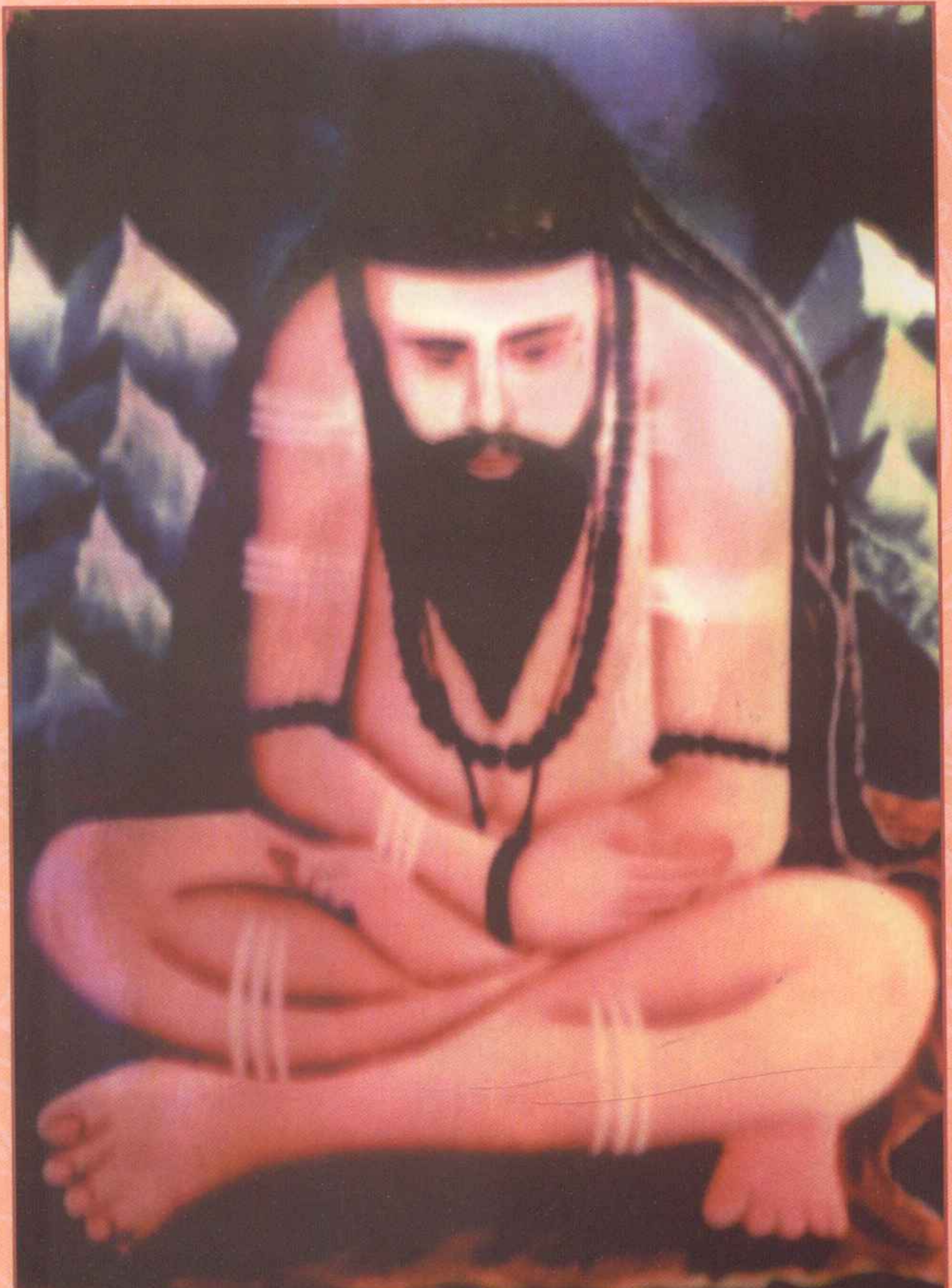

सिद्धबाबा सुन्दरनाथजी महाराज

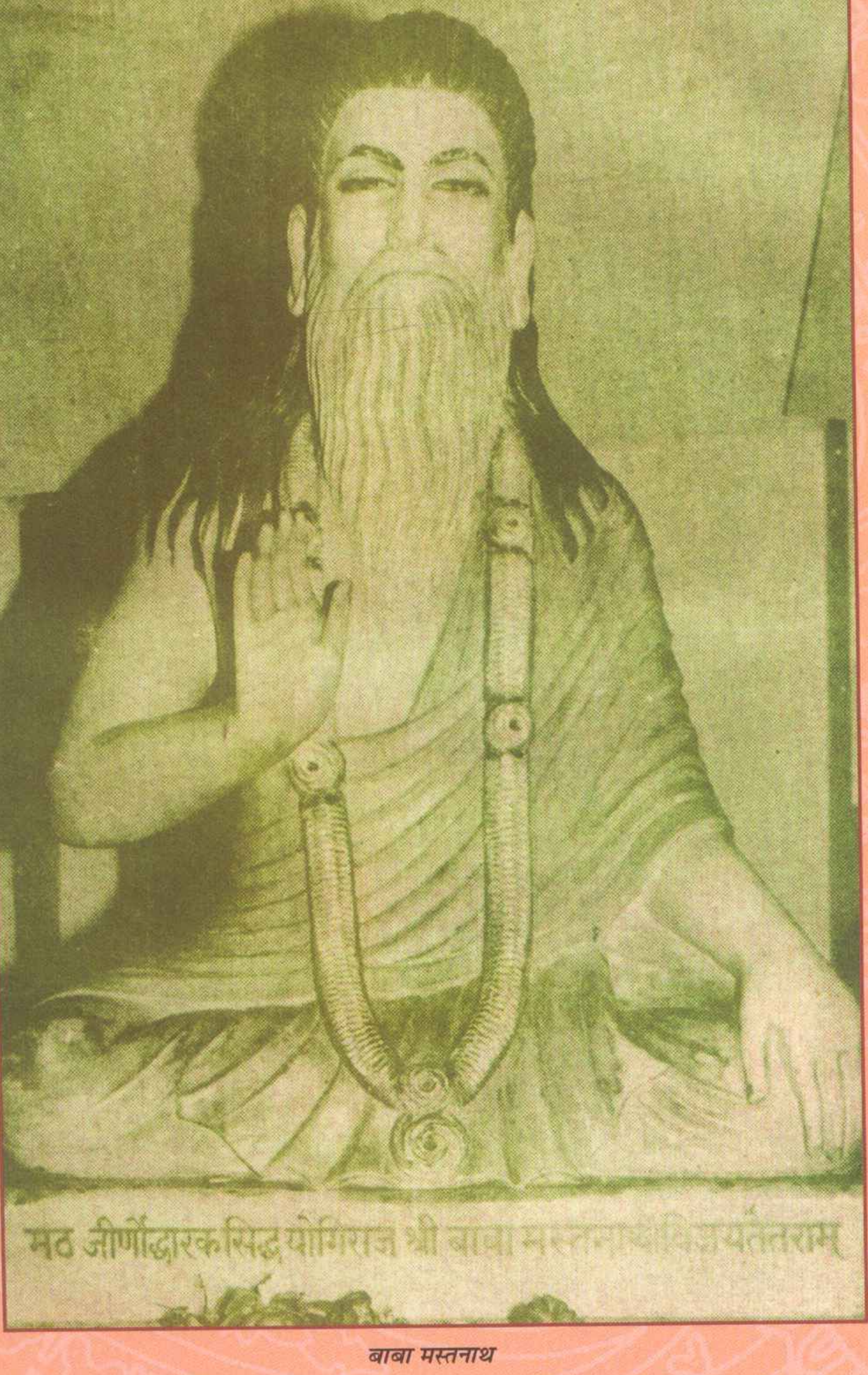

बाबा मस्तनाथ

योगिराजेश्वर निवृत्तिनाथ

योगिराज भृतहरि एवं योगी गोपीचंद

योगी रतन नाथ जी
योगी रतननाथ जी
सात सौ साल तक जीवित रहने वाले देवी पाटन-मन्दिर के निर्मा-
ता, मक्का में मुहम्मद साहब से सत्संग करने वाले, नेपाल दाङ
क्षेत्र के सिद्ध पुरुष, गोरखनाथ जी के शिष्य रतननाथ की गौरवगाथा स्मरणीय है।

योगी रतननाथजी

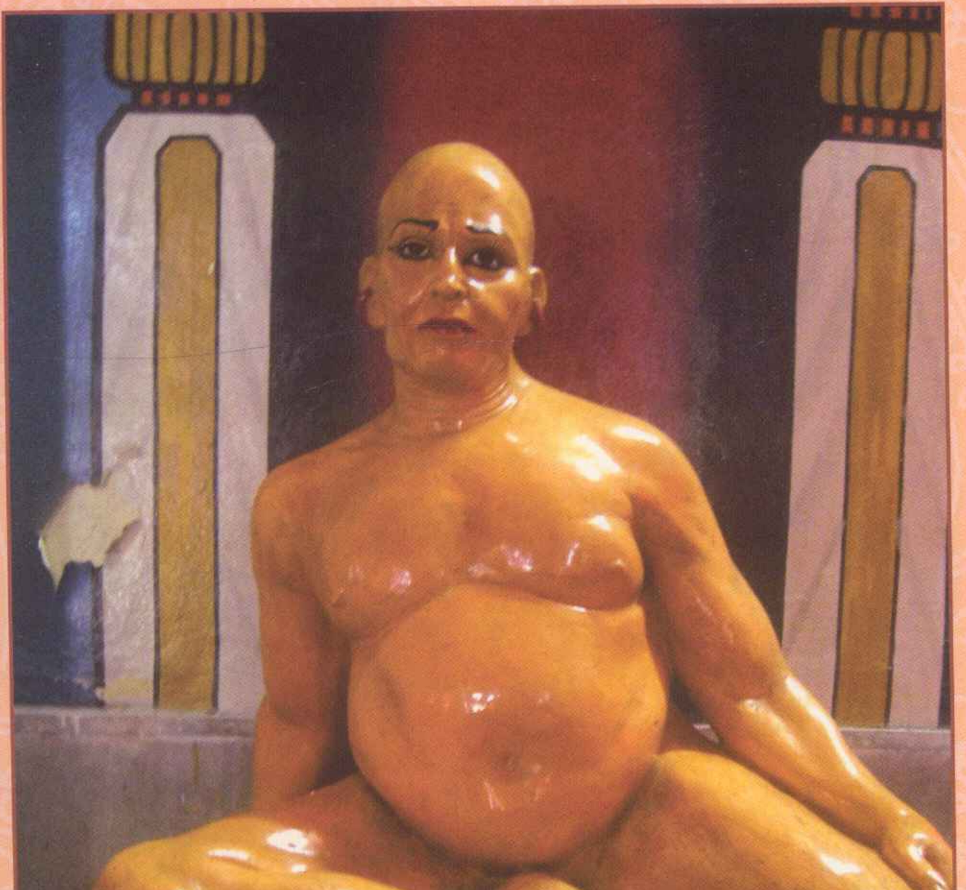
योगी अमृतनाथ जी
सम्वत् १९०४से १९७३वि.तक योग शरीर धारी, राजस्थान के फते-
हपुर शेखावटी आश्रम के नाथयोगी अमृतनाथ हठयोग साधना
में अमित पारंगत प्रसिद्ध है !

योगी अमृतनाथजी

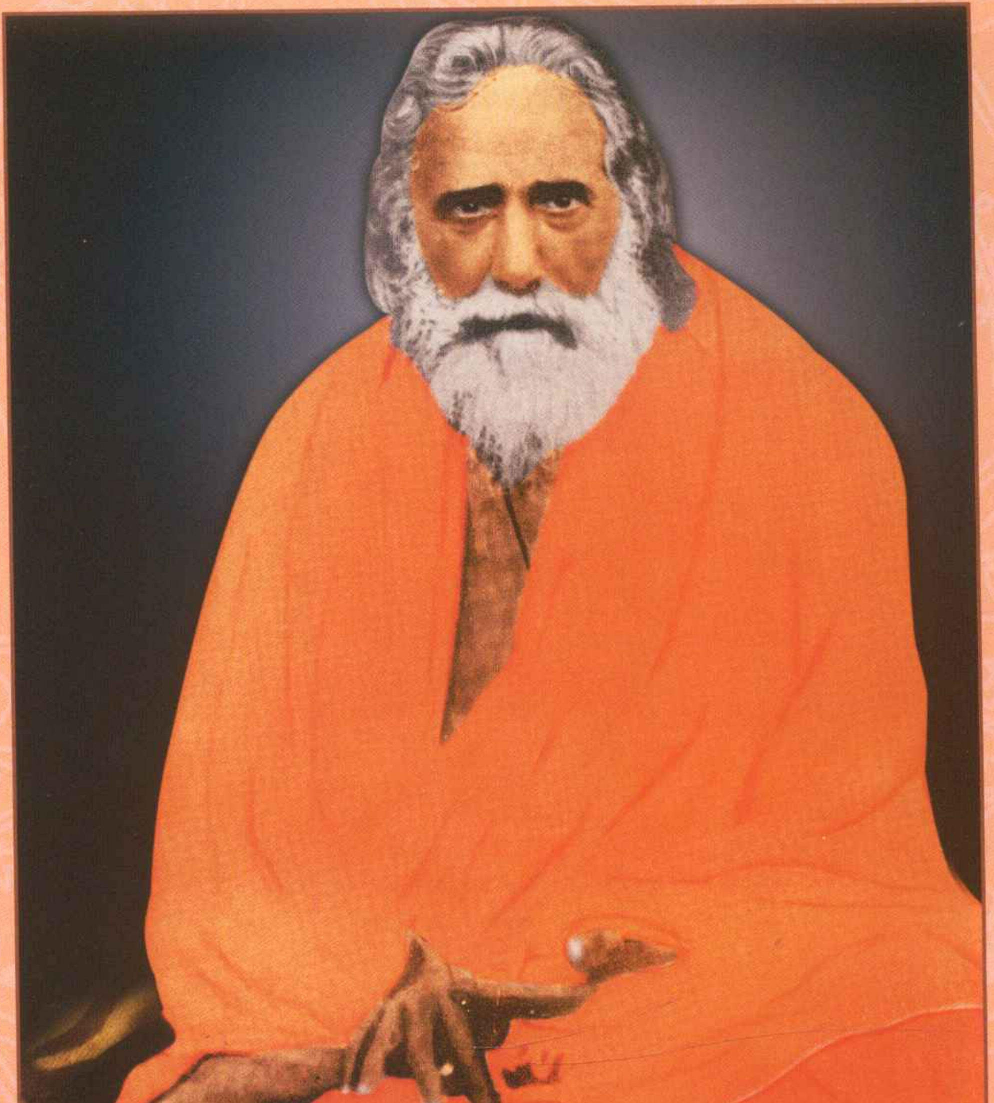

योगी बाबा गम्भीरनाथजी महाराज

श्री गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

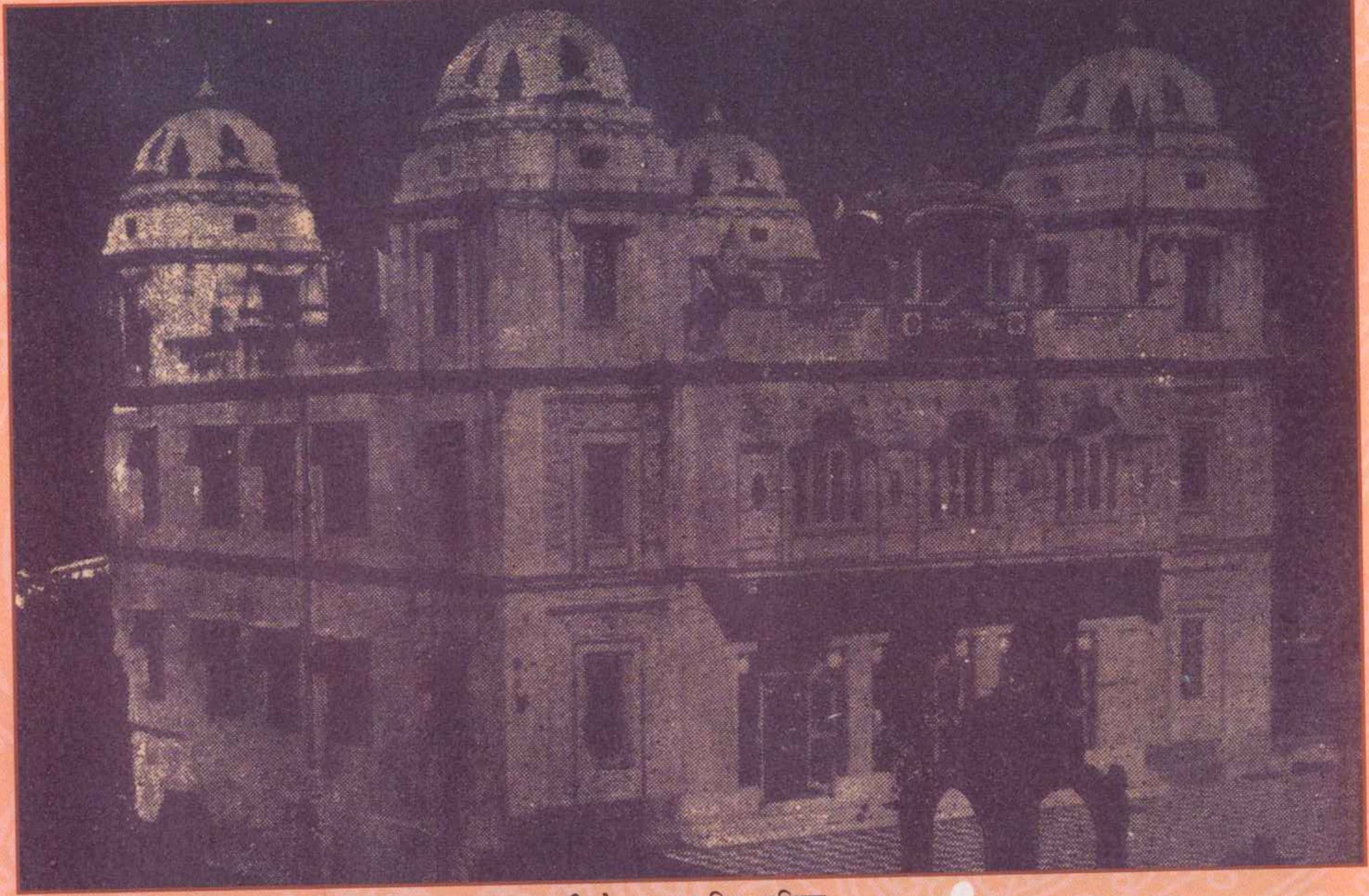

श्री गोरखनाथ मन्दिर, हरिद्वार

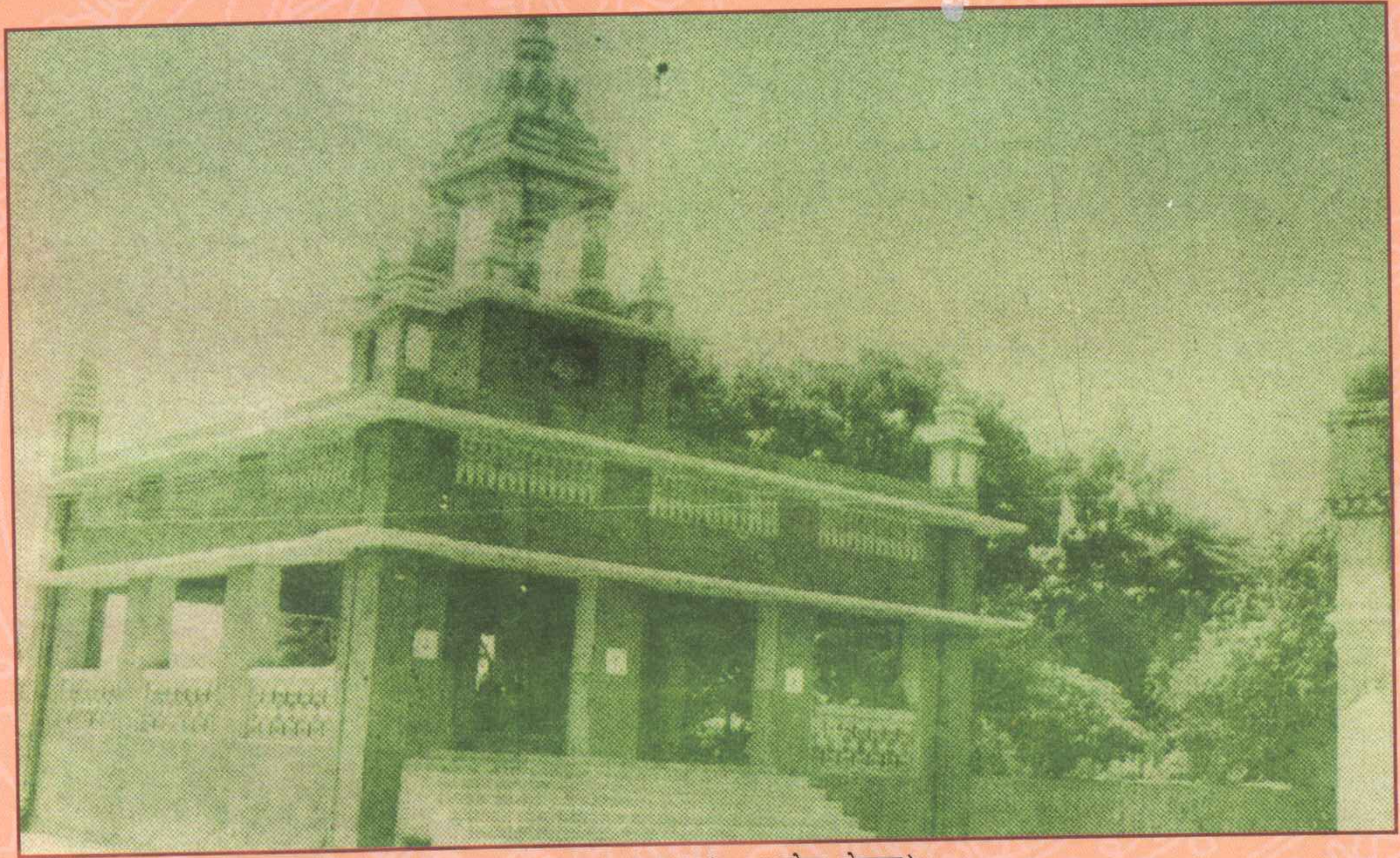

बाबा मस्तनाथ का धूना (अस्थल बोहर, रोहतक)

मृगस्थली (नेपाल)

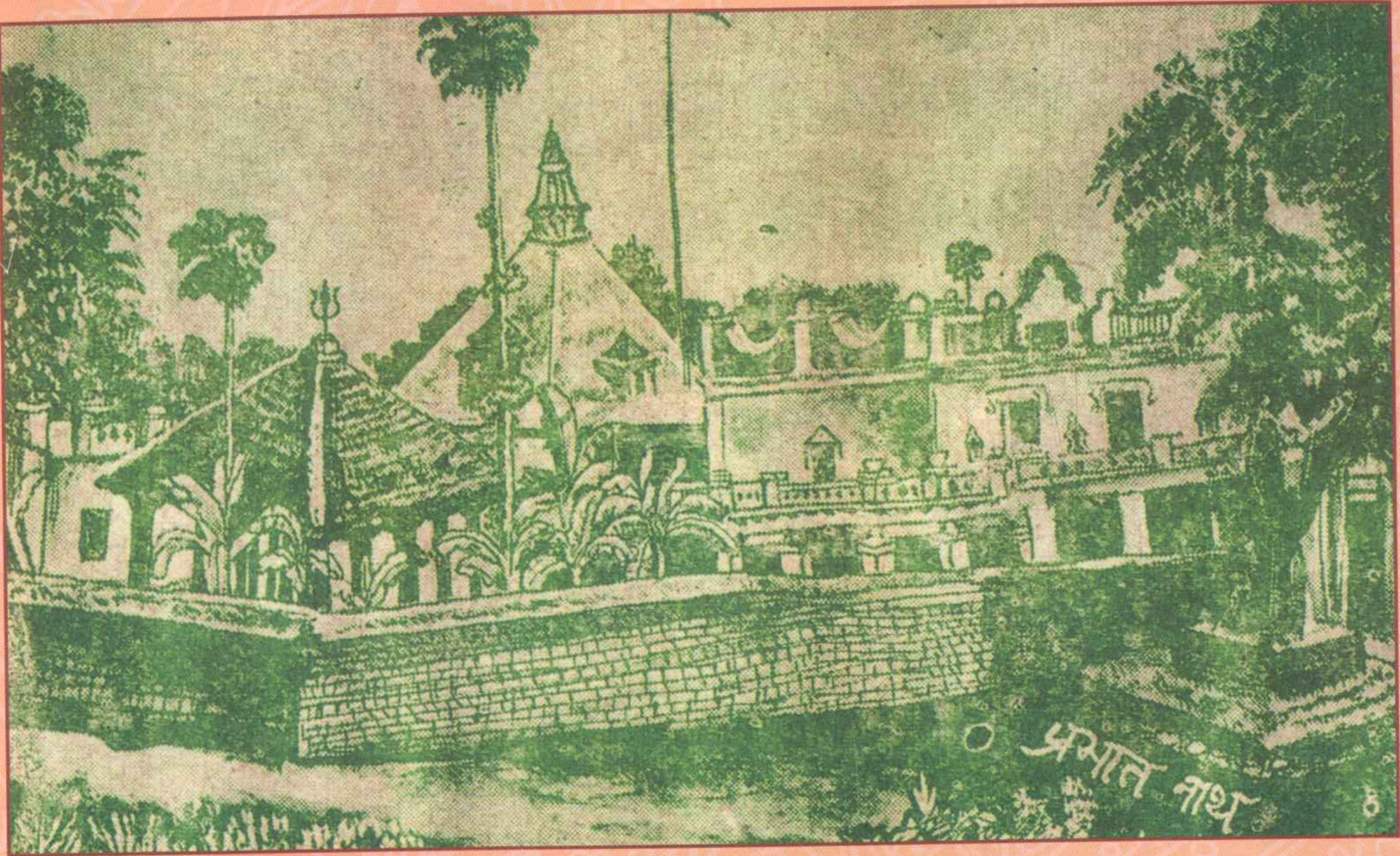

श्री रतननाथ मठ

गोरक्षसिद्धरतननाथ पीठ

हमारा षरतर षांडा है।' ग्रन्थ अंग प्रबोध पद १४, १५, १६ में मालानी के नाथ सन्त शिरोमणि स्वामी हीरानाथ का उपदेश है कि—

गुरु वचन सिर पर गयो, वचन विऊंणा होय।
ठोड़ नहीं तिऊंलोक में, कोट धरम कर जोय॥
गुरु वचन लोपै नहीं, कूप गिरो या बाव॥
सिष मुकति फल पावहि जिंण घर ऐसौ भाव॥
सीख लहै ता सिष है, नहीं तो है संसार।
गुरु वचन को परहै, एत्ता जम के द्वार॥ (हीरानाथ ग्रन्थावली पृ.४६)

यही शब्द-वाणी व्यक्ति के व्यक्तित्व व खानदान की परिचायक है। वाणी का प्रभाव सामने वाले व्यक्ति पर तुरन्त पड़ता है। इसी से साधु-सन्तों ने निर्मल वाणी-व्यवहार की सदैव प्रेरणा दी है। कहा भी है—वाणी ऐसी बोलिए मन का आपा खोय, औरन को शीतल करै, आपहु शीतल होय। गोरखबानी है कि—

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पाँव।
गरब न करिबा सहजै रहिबा, भणत गोरख रांव॥
यन्द्री का लड़बड़ा, जिभ्या का फूहड़ा।
गोरख कहै ते परतषि चूहड़ा॥ (गो.बा. पृ. ११, ६१)

प्रत्यक्ष सद्पुरुष वही है जो सोच-समझ कर बोलता है, सहज व्यवहार करता है। उच्च पुरुष के लिए वाणी संयम आवश्यक है क्योंकि वाणी से उसकी जनछवि बनती है। वाणी संयम के बारे में गोरख का बड़ा प्यारा उपदेश है, वे कहते हैं—

गोरख कहै सुण रै अबधु, जग में ऐसे रहिणां।
आँखे देखिया, काने सुनिया, मुख से कछु न कहिणां॥

इसी नाथवाणी—गोरखवाणी से प्रेरित होकर महात्मा गांधी ने वाणी संयम के त्रिसूत्र का प्रतीक 'तीन बन्दर' का प्रतिपादन किया। अर्थात् बुरा मत कहो, बुरा मत सुनो, बुरा मत बोलो। यह प्रतीक बापू के जीवन का अंग बन गया था। यही बात नाथ सन्त (स्व.) रामनाथ ने उनके भजन 'फकीरी' में इस प्रकार कही है—

अंश-अंश ओलख ब्रह्म, नित खोजे, रैवे जाणू अजांण।
सत वचन को छोड़े नहीं कबहु, लाभ होय चाहे हांण॥

नाथ सन्त रामनाथ (वि. सं. १९७०-२०४५) मरुभूमि बाड़मेर के नाथ रत्न थे। उनका ग्रन्थ 'फकीरी घालय को गम होय' नाथ सन्त साहित्य की महती धरोहर है। वे गीता के नितपाठी थे। रामनाथ ने गीता को जीवन में प्रतिपादित किया। भगवद्गीता (१७/५) के वाड्मय तप के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए वाक् संयम की साधना के सार को प्रस्तुत किया है—

कब क झोला ऐसा बाजै, प्राण घणौ दुख पावै।
मनमुख टेक वचन की त्यागै, सीधा जमपुर जावै॥
चिमनाईनाथ गुरु कृपा कीनी, गुरुमुख चाल बताई।
हीरानाथ सतगुरु की कृपा, जीवन मुक्ति पाई॥ (हीरानाथ ग्रन्थावली पृ. १५-६-७)

जिस व्यक्ति की वाणी संयमित नहीं है वह पुरुष नहीं है। वाणी (शब्द) सर्जक भी है, विस्फोटक भी है। शास्त्रकार वाक् को बज्ररूपा मानते हैं। वाक्शक्ति का गलत प्रयोग वक्ता को नष्ट कर देता है जबकि मीठी वाणी के द्वारा वह श्रेष्ठजन बन जाता है—

वाणी मीठी बोलिए, देण पड़े नी दाम।
लोगां में व्है मान बड़ाई, सहजै सिंवरे काम॥ (नाथ हजारिका)

वाणी ध्वन्यात्मक है। शब्द अपना प्रभाव छोड़ते हैं, वाणी प्रभाव छोड़ती है। शब्द-वाणी में जीवनधारा को मोड़ने की अबोध शक्ति है। नाथवाणी नाथोक्त वाणी है। वाणी गेय भी है, वाणी अगेय भी है और वाणी के शब्द केवल पढ़ने मात्र से ही नेत्रों व मन को आलोड़ित करते हैं। जन-मन की आधि-व्याधि को अनुभूत कर उनके जीवन कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने की वाणी का नाम नाथवाणी है। भारत देश के विभिन्न प्रान्तों में नाथवाणी गायी व सुनी जाती है। इनमें उलट बांसी (उलटी वाणी) का अपना अलग ही महत्त्व है। इसे सद्गुरु—अध्यात्मज्ञानी अथवा सत्संगी के सहयोग माध्यम बिना समझ पाना सहज नहीं है। इसमें अत्यन्त गूढ़तम अध्यात्म-रहस्य छिपा है, जिसे सद्गुरु की कृपा से ही जाना जा सकता है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति (५/७०) ग्रन्थ में महायोगी गोरक्षनाथ का कथन है—

''अतएव परमपदप्राप्त्यर्थ स सद्गुरु सदा वन्दनीय:'' अर्थात् सद्गुरु वह है जो केवल उपदेश द्वारा अथवा कृपामयी दृष्टि से करुणा की अखण्ड दृष्टि करते हुए शिव स्वरूप-साम्भव स्वयंवेद्य पद को प्रकाशित शिष्यों के आठों पाशों (जरा, जन्म, मृत्यु, व्याधि, काम, क्रोध, मोह, अविद्या) का नाश कर देता है।

नाथ-योगी-सिद्धों की वाणी शास्त्र-सम्मत है। उनके शब्द में चार भेद वाणी के माने गये हैं, यथा—

परावाङ्मलचक्रस्था।
पश्यन्ति नाभिसंस्थिता॥
हृदिस्था मध्यमाज्ञेया।
वैखरी कण्ठदेशगा॥

अर्थात् परा, पश्यन्ती, मध्यमा व वैखरी ये वाणी के चार भेद हैं। शतपथब्राह्मण ग्रन्थ में भी कहा गया है कि प्रजापति के भी परे यदि कोई वस्तु है तो वाणी ही है (श.ब्रा. ५-१-३११)। गुरु भेद की दृष्टि से देखें तो 'परावाणी' आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप है। 'पश्यन्ती' में शब्द और अर्थ एक रूप में मिले रहते हैं। जबकि 'मध्यमा' में मन-ही-मन शब्दों द्वारा विचार होता है। जो वाणी बोली जाती है, जिसे दूरस्थ

लोग भी सुन सकते हैं, वह वाणी वैखरी है। वाणी अथवा शब्द का क्षेत्र व्यापक है। यह शक्ति स्वरूप है। इसे भौगोलिक सीमा में बाँधकर सीमित नहीं किया जा सकता। शब्द की सर्वव्यापकता का गुणगान हिन्दू-मुसलिम, बौद्ध, जैन, सिख, ईसाई, पारसी सभी ने किया है। इसी से शब्द (वाणी) समष्टिगत है। विभिन्न नाथ-योगी-सिद्धों की वाणी, सबदी का अध्ययन-मनन करने के बाद मेरा यह विचार है कि ये वाणियाँ, सबदी, योग्य व्यक्तियों द्वारा योग्य मन:स्थिति में पढ़ी, सुनी या गायी जाएँ तो वे अवश्य आत्मिक आनन्द देती हैं और एक अनिर्वचनीय सुख की अनुभूति होती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। योगी शंकरनाथ का अनुभव है कि—

सत् असत् कछु कहयों न जावे,
मन वाणी वहाँ थकि-थकि जावे।
नेति नेति वेद नित गावे,
अनिवर्चन यह की सुनावे॥

नाथ-योगी-सिद्धजन की वाणी जीवन का आधार है। अभिव्यक्ति का सोपान है, धर्म और नैतिकता के सारथी की वल्गा है। मनुष्य का सारा व्यवहार वाणी के आधार पर ही चलता है। वाणी और आहार दोनों का सम्बन्ध जिह्वा से है। जिह्वा के अग्रभाग ब्रह्मकेन्द्र पर ध्यान करने से वाणी संयम फलित होता है। कहा भी है—

अल्पाक्षरं रमणीयं यः कथयति निस्वितं खलुच्वाग्मी।
बहुवचनमल्पसारं यः कथयति विप्रलापी सः॥

अर्थात् जो कम अक्षरों में अधिक बात कह देता है वह निश्चित वाग्मी है। इसके विपरीत सारहीन बहुत से वाक्य बोलने वाला बकवादी है।

गोरखबानी सबदी २६४ में कहा गया है कि—

सबद हमारा षरतर षांडा, रहणी हमारी साची।
लेषै लिपि न कागद मांडी, सो पत्री हम बाची॥

अर्थात् हमारा शब्द ज्ञानोपदेश तेज तलवार है, हम सत्स्वरूप परमात्मा में प्रतिष्ठित हैं। हम उस उपदेशामृत का पाठ करते हैं। यह तो स्वसंवेद्य है। जो स्वसंवेद्य है वह आदि मार्ग है—

जुनां मार्ग है आद का, मुक्त पन्थ है एक।
अब कलयुग ऐसा भया, तामें पन्थ अनेक॥

इसी आदि मार्ग पर चल कर, योग साधना में तप कर, नाथयोगी साधक महापुरुष उस स्वसंवेद्य तत्त्वज्ञान के रहस्य को समझ लेता है। उसकी स्थिति 'झिलमिलाते दीदार अँधेरे आरसी, पायो पद निर्वाण फेर कुण आवसी' जैसी हो जाती है। ग्रन्थ कठोपनिषद् (१/७/१४) में कहा है कि—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गंपथस्त त्कवतो वदन्ति॥

अर्थात् उठो, जागो और महापुरुषों के समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञान के रहस्य को समझो। कविगण इसे तीक्ष्ण क्षुर (उस्तरे) की धार के समान अत्यन्त कठिन मार्ग बताते हैं, परन्तु कठिन मार्ग मान कर हताश होने की आवश्यकता नहीं, भगवान् में चित्त लगाने से भगवद्कृपा द्वारा मनुष्य सारी कठिनाइयों से अनायास ही तर जाता है।

वाणी शिव स्वरूप है, वाणी अदृश्य है, चिरंतन है, कालजयी है, वाणी सरस्वती का वरदान है, सज्जनता का भूषण है, बुद्धि का मानदण्ड है। योगीराज भर्तृहरि के नीति शतक श्लोक २३ में कहा गया है कि बुद्धि मन्दता को हरती है, वाणी में सत्यता लाती है, प्रतिष्ठा और अभ्युदय को कराती है, नीच कर्म से पृथक करती है, चित्त को प्रसन्न करती है। वाणी के सात स्वर हैं—षटज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, निशाद और धैवत। कहा भी है—'सप्त स्वर कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्।' वाणी का निरञ्जन स्वरूप ॐकार है, ॐकार नाद का मूल है। ॐकार अभ्यास क्रम में यह नाद शून्य में विलीन होकर निरञ्जन स्वरूप हो जाता है। महायोगी गोरक्षनाथ की वाणी है—

ओउम् अखण्डी है वनखण्डी,
बसती बसै न बन डोलै।

मनुस्मृति (६/२९) में वाणी को धर्म का लक्षण बताया गया है—

धृतिः दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विधा सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (मन, वाणी और शरीर की पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं। मनुस्मृति में इसीलिए धर्म की रक्षा का निर्देश दिया गया है—

धर्म एव हतोहन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

वाणी वाग्रूप है। वाणी के चार भेदों में से वाणी के त्रित्य का प्रतिपादन भर्तृहरि ने किया है। वे तीन भेद हैं—पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी। प्रकारान्तर से इस वाक्त्रय के तीन-तीन भेद और होते हैं—स्थूला, सूक्ष्मा, परा। इस प्रकार यह नव विद्या हो जाती है। कहीं-कहीं परा वाणी के चार भेद माने गये हैं, यथा—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, जैसा कि इसी आलेख में मैं पूर्व में व्यक्त कर चुका हूँ।

वाणी कैसी हो, इस बारे में मनुस्मृति (६/४६) में कहा गया है कि हम सत्य से पवित्र हुई वाणी के वक्ता और धारक हों। वाणी को शुद्ध कर बोलने का सन्देश मनुस्मृति में दिया गया है, यथा—

सत्यपूतां वदेद्वाचम् मम पूतं समाचरेत्।

अथर्ववेद की ऋचा (३-३०-३) में निर्देश है कि वाणी कल्याणमयी बोलनी चाहिए—

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।

वाक् संयमी और सदाचारी योगी ही योगी कहलाने का अधिकारी है। आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ 'योग दृष्टि समुच्चय' में योगी को चार भागों में बाँटा गया है—

१. गोत्र योगी—ऐसे योगियों में सुपात्रता नहीं होती। साधन सहज ही प्राप्त होने पर भी वह यम-नियम का पालन नहीं करता, उसकी प्रवृत्ति संसाराभिमुख होती है।

२. कुल योगी—ऐसे योगी किसी से भी द्वेष नहीं रखते, देव, गुरु, धर्म आदि उन्हें स्वभाव से ही प्रिय होते हैं तथा वे दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध और जितेन्द्रिय कहलाते हैं।

३. प्रवृत्तिचक्र योगी—जिन मनुष्यों के किसी भी अंग से योगचक्र का स्पर्श हो जाता है वे योग में प्रवृत्त हो जाते हैं, उन्हें प्रवृत्तिचक्र योगी कहा जाता है।

४. सिद्ध योगी—ऐसे योगी अपनी योग साधना से सिद्धि प्राप्त कर चुके होते हैं, सिद्ध योगी कहे जाते हैं।

नाथ योगी—सिद्ध, साधु-सन्तों ने वाणी में जप की महत्ता को जगह-जगह प्रतिपादित किया है। जप तीन प्रकार के होते हैं—मानस, उपांशु और वाचिक। मन-ही-मन बिना जिह्वा व ओंठ हिलाये जो जप किया जाता है उसे 'मानस' जप कहते हैं। 'उपांशु' जप में ओंठ और जिह्वा दोनों ही हिलते हैं, लेकिन उच्चारण (आवाज) नहीं होता है जबकि जप का स्पष्ट उच्चारण (आवाज) 'वाचिक' जप कहलाता है। शिव गोरक्ष महायोगी गोरक्षनाथ गोरक्षपद्धति (प्रथम शतक) में पद संख्या ८४-८७ में कहते हैं कि वाणी से प्रणव ॐ का जप करना चाहिए। यह प्रणव ॐ क्या है? इसके बारे में कहा गया है कि जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल, ऋग्, यजु और साम तीनों वेद; स्वर्ग, पाताल और मृत्युलोक (पृथ्वी) तीनों लोक, तीनों स्वर उदात्त, अनुदान, स्वरित और ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देव स्थित है, वही परम ज्योति ओंकार ॐ स्वरूप है। जिसमें क्रिया इच्छा और ज्ञान, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की शक्ति स्थित है, वही परम ज्योति ओंकार है। नाथ योगीश्वरों के परम आराध्य देव शिव हैं। रामनाथ अनभै वाणी पद ३७९-३८० में शिव को शंकर, अविनाशी, आदि देव, अवधूत कह कर सबदी कही गई है, वे कहते हैं—

शिव की पूजा शिव की सेवा, शिव का धरिये ध्यान।
आन देव सब छोड़ के, शिव को लीजे मान॥

यह अविनाशी आदिदेव शिव परम शक्ति युक्त है। इसका ध्यान कहाँ धरा जाए। वह प्रज्ञान स्थान कहाँ है। वह शिव स्थान कहाँ है, जहाँ ध्यान केन्द्रित किया जाए। स्व. पण्डित मोतीलाल शास्त्री इसकी विवेचना करते हुए कहते हैं कि दोनों भौहों की ओर नासिका की जो सीध है, वही प्रज्ञान स्थान है। इसी योग का नाम साम्बसदाशिव है। यह इसी ललाट प्रदेश में रहते हैं। यही शिव स्थान कहलाता है। प्रज्ञानात्मा को ही ज्ञान मूर्ति शिव बतलाया जाता है। हमारी नासिका में से जो दो नाड़ियाँ निकलती हैं—एक का नाम है इड़ा और दूसरी का नाम है पिंगला, एवं एक नाड़ी सीधी ब्रह्मरन्ध्र से होकर जाती है, इसे ही सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। उसमें से जिसके प्राण निकलते हैं, वह सूर्य-बेधी कहलाता है। (उपरोक्त सबदी ३७९-३८० के ग्रन्थ प्रणेता रामनाथ के प्राण इसी पथ से निकले (वि.सं. २०४५ ज्येष्ठ शुक्ला ११ निर्जला ग्यारस)। (यह ब्रह्मनिष्ठ योगी चंचलनाथ के पटशिष्य शम्भुनाथ व मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है।) पूर्व की जो इड़ा और पिंगला हैं उन्हें क्रमशः असी और वरणा कहा जाता है। इन दोनों के ठीक बीचोबीच

प्रज्ञात्मा रहता है, इसी को 'वाराणसी' कहा जाता है, इसी को काशी भी कहते हैं। यही अभिमुक्तधाम कहलाता है।

साम्बसदाशिव की ध्यान-साधना करने वाले उस परमधाम अभिमुक्तधाम में पहुँच सकते हैं, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इंगित किया है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

नाथपन्थ, नाथ योग साधना में गुरु को परमसत्ता माना गया है। उन्होंने साधना द्वारा गुरु में ही सभी पुण्यधामों के दर्शन किये हैं—

गुरु गंगा गुरु द्वारिका, गुरु वाराणसी धाम।
गुरु काशी गुरु मथुरा, गुरु ही गोकुल धाम॥ (ही. वं. गु. १३)

वाणीजयी गुरु कृपा बिना कितना ही सतसंग कर लो, ग्रन्थ पढ़ लो, स्वाध्याय, ध्यान, माला जप कर लो, ज्ञान के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। मेरा अपना स्वानुभव है—

सतगुरु किरपा होय जिण पर, खुलै ज्ञान का द्वार।
अन्धकूप अमृत घट दरसै, खुलै ब्रह्म का द्वार॥

वाणी यहाँ शब्दातीत हो जाती है, स्वर और व्यंजन का भेद यहाँ लुप्त हो जाता है। यहाँ नाद अनहदनाद हो जाता है। यहाँ जाप न वाचिक रहता है, न उपांशु रहता है, न मनसा। यहाँ जाप अजपा रह जाता है।

साधक को अन्त समय यही जाप मुक्तिपथ की ओर अग्रसर कर मोक्ष प्रदान करता है। अजपा जाप न तो कोई मन्त्र है, न बीज मन्त्र, न तन्त्र। योगाभ्यास से कुण्डलिनी जागृत कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने का नाम ही 'अजपा जाप' है। यही सोहम सबदी है—

हम बेहद है उपरै, जाप अजाप जाप।
सतगुरु मिल्यां ही लखे, भेद अजपा जाप॥

अनहदनाद का ही दूसरा नाम अजपा जाप है। नादानुसन्धान द्वारा नाद भेदन का गुप्त ज्ञान ही अजपा जाप है। यह स्वानुभूत होते हुए भी सद्गुरु की सान्निध्य कृपा दृष्टि बिना, न तो पुस्तकों में पढ़कर, न लोकानुभूति से, न सम्भाषण, न प्रश्नोत्तर से प्राप्त किया जा सकता है। गुरु से ही यह गुप्त ज्ञान, योग्य सिद्ध-साधक-जिज्ञासु ही प्राप्त कर सकता है, अन्य के लिए दूर की कौड़ी है। गुरु गोरक्षनाथ का अमृत वचन है—

ज्ञान सरिखा गुरु न मिल्या, भेद सरिखा सिष, तेते गोरख फिरे अकेला¨।

ज्ञानीजन ने 'अजपा जाप' को विदेह कहा है। प्रायः यह देखा गया है कि ज्ञानी, साधुजन, दिन में सोते है, रात को जागते हैं। मैंने ऐसे साधु-सन्तों ज्ञानीजन से साक्षात् किया है, उनका आशीर्वाद मिला है। वस्तुतः रात की निस्तब्धता साधना में साधक बनती है, कहा है—

दुनिया सोवै रात को, साधु उठै जाग।
आलस निन्द्रा दूर कर, धुन सायब सुं लाग॥ (रामनाथ अनमैवाणी-३)

गोरख वाणी है—'ऐसा जाप जपो मन लाई, सोहं सोहं अजपा गाई।' यही गोरक्षनाथ का उपदेश है, यही लेषे-लिषी न कागद मांडी, सो पत्री हम बाची है।

इस अरूप अदृश्य वाणी को जिसने जान लिया उसे अलख निरञ्जन को प्राप्त करने में लग जाना चाहिए। गोरखबानी-दयाबोध-१२ में गोरक्षनाथ का उपदेश है—

तन मेरी पोथी मन मेरे लखनी।
एती निज तत निसपती॥

अर्थात् यह तन ही पोथी (कागज) है और मन ही लेखनी है, उसमें निष्पत्ति अथवा मुक्ति ही अक्षर लिपि है। वाणी से नाद निःसृत होता है। नाद योगी की साधना का सेतु है। साधक नाद श्रवण करते-करते उसमें ऐसा रम जाता है कि उसकी आनन्दानुभुति अनिर्वचनीय बन जाती है—"बिन घड़ियों डंका लगे हेली, बाज रह्यो झणकार।" यह मन प्रफुल्लित करने वाली स्वर्गिक अनुभूति है। घड़ी नहीं है फिर भी डंका बज रहा है और उसकी वाणी से उर में उछाव हो रहा है—"उर में उमावो उण देश रौ हेली, दरसत नित दीदार।"

वाणी व्यक्ति के व्यक्तित्व का बोध कराती है, उसकी वाणी की ऊर्जा सामने वाले को ऊर्जित कर देती है। वाणी से ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं, उसका वैज्ञानिक आधार है। मन्त्र श्लोक उच्चारण से वाणी में विशेष प्रकार का कम्पन्न उत्पन्न होता है। ध्वनि तरंगें कीर्ण-विकीर्ण होकर फैल जाती हैं और कण-कण में व्याप्त होकर अपना प्रभाव दिखाती है। शास्त्रीय मान्यता अनुसार किसी मन्त्र का अक्षर कोटि जप करने से मन्त्र सिद्ध होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार ये वाणी ध्वनि तरंगें दो प्रकार की होती हैं—एक अनुप्रस्थ और दूसरी अनुदैर्ध्य। वाणी भजन-कीर्तन में उपयोग किये जाने वाले वाद्य यन्त्रों तम्बूरा, इकतारा, सारंगी, वीणा आदि तंतु वाद्यों के तारों के एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर प्रवाहित होती तरंगें अनुप्रस्थ हैं तथा संपीडनों तथा विरलनों के रूप में माध्यम के कणों की गति को अनुदैर्ध्य तरंग कहते हैं। वाणी की देवी सरस्वती के हाथ के सुन्दर दण्ड से युक्त है, यह उसका उत्तम उदाहरण है। वाणी ईश्वरी शक्ति है। वाणी की देवी सरस्वती है, इसे वागीश्वरी कहा गया है। पौराणिक मंगलाचरण के श्लोक में वीणापाणि माँ सरस्वती से प्रार्थना की गई है कि वह हमारी वाणी की रक्षा करे—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता।
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना॥
या ब्रह्माऽच्युतशंकरःप्रभृतिभिःदेवैः सदा वन्दिता।
सा माम् पातु सरस्वती भगवती निःशेष जाड्यापहा॥

अर्थात् जो कुन्द (मोगरे के पुष्प) चन्द्रमा, अर्क तथा हार के समान धवल (गौर) वर्ण वाली है, श्वेत वस्त्रों को धारण किये हुए है, जिसके हाथ वीणा के सुन्दर दण्ड से युक्त हैं, जो कमल आसन पर आरूढ़ है, जो ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश आदि देवताओं द्वारा पूजी जाती है, वही अज्ञानता को निःशेष करने

वाली देवी सरस्वती मेरी रक्षा करे।

'हीरा वन्दे गुरुम्' ग्रन्थ के रचयिता (स्व.) स्वामी रामनाथ शब्दब्रह्म व वाणी के मर्मज्ञ सन्त थे। उनकी सबदी हैं—

पूरण विद्या पढ़े बिना, ब्रह्मा भेद नहीं पाय।
अरथ न जांणे, वचन का, विरथा करे बकवास॥

वाणीविज्ञ महायोगी गोरक्षनाथ कहते हैं कि योगी को वाद-विवाद के बखेड़े में नहीं पड़ना चाहिए, गोरखबानी (पृ. ५) में उनकी सबदी—कोई वादी कोई विवादी, जोगी को वाद न करना, कालजयी सन्देश है। लेकिन वाणी के इस मर्म को गुरुज्ञान बिना प्राप्त करना काठिन है। नाथ सन्त स्वामी रामनाथ की सबदी है—

कुण वचन है की नांव है, कुण वचन असवार।
कुण वचन रै खेवटू, कुण उतारै पार॥

इसका उत्तर उन्हीं की अगली सबदी में इस प्रकार है—

सत वचन री नांव है, अखे वचन असवार।
ब्रह्म वचन रै खेवटू, गुरु उतारै पार॥

इस प्रकार की प्रश्नोत्तरी सबदी का वाचन नाथ-योगी-साधु संन्यासियों की पंगत (समूह भोज) में करने की परम्परा है, यद्यपि अब इसके जानकार विरले ही हैं। देखा जाए तो सामान्य लोक व्यवहार में भी शब्द षरतर षांडा का कार्य करता है, अर्थात् लोक वाणी (सबद) तेज तलवार की भाँति घातक कार्य भी कर सकती है, कहा भी है—थुथकी काम सुधार दै, निजर भांग दै भाठा। चुगली ला लगाय दै, मन कर दै काठा॥ यह थुथकी (अर्थात् शुभ उपांशु वाणी) साधु-सन्तों, नाथ-योगिश्वरों के मुख से निकल कर वाचिक वाणी हो जाती है, शुभकर फलदायी हो जाती है।

वाणी की यह अन्तस्सलिला विद्या किसी शास्त्र के द्वारा नहीं समझाई जा सकती, अधिक-से-अधिक उसकी ओर इंगित किया जा सकता है। स्वसंवेद्य यह नाथ अनुभव वाणी अनुभवैकगम्य है। इसी स्वसंवेद्य शब्द से प्राकृत का 'सुसंवेद्य' बना है। ग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' में इसे सूक्ष्मवेद कहा गया है। यही सूक्ष्मवेद प्रणव या ओंकार है क्योंकि ओंकार ही वेदों का स्वर है। योग-सूत्र(१-१२) में प्रणव अर्थात् ओंकार को ईश्वर का वाचक कहा गया है। नाथयोगी प्रणव या ओंकार को ही सूक्ष्मवेद मानते हैं—

सूछिम वेद लहो रे बाला,
ऊपर पेड़ नीचै नै डाला।
ओंउँम् बीज सूं फूटी कलियां,
च्यारूँ वेद भई रंग रलियां॥

यही ओंकार विश्व का प्रारम्भ है, परब्रह्म है—

''अव्यक्त च परब्रह्म अनामा विद्यते तदा।''

यहीं पर ब्रह्म घट-घट में प्रत्येक जीवात्मा के भीतर अलख निरञ्जन की अनुभूति है—

योगारम्भ की याही वाणी।

सब घटि नाथ एकै करि जांणी॥ (दयाबोध-१)

जिस प्राणी ने अपने जीवन में गुरु के शब्द उपदेश का ज्ञान ग्रहण ही नहीं किया उसका जीवन समझो व्यर्थ ही गया—

वक्ता भवे ज्ञानी श्रुत्वा मोक्ष लभिते।

वक्ता श्रुत्वा न ज्ञानभि बृथा तस्य जीवनं॥

जीते जी यदि प्राणी शब्द ब्रह्म को अंगीकार कर ले तो उसका अन्त सुफल होगा ही उसमें किंचित भी सन्देह नहीं है, यही 'सबद हमारा षरतर षांडा' का उपदेश है।

□

नाथयोग में शिव-शक्ति-तत्त्व

—प्रो. रामचन्द्र तिवारी

इस निस्सीम, नाना प्रकार की विचित्रताओं से परिपूर्ण, असंख्य जड़-चेतन पदार्थों से समन्वित, चिरप्रवहमान विश्वजगत् का सम्यक् परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से तत्त्वानुसन्धान के व्रती बनकर वैदिक ऋषियों ने ज्ञान-विकास के एक-एक स्तर में क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति, एक से अनेक की उत्पत्ति, अविभक्त जीवनी शक्ति के परिणामस्वरूप विचित्र अवयवों से सम्पन्न शरीर की उत्पत्ति और अदृश्य वासना के परिणाम से उद्भूतकर्म-प्रवाह की उत्पत्ति के सनातन नियम को दिव्य दृष्टि से देखा था। प्राण-शक्ति से युक्त 'एक' ही 'बहु' रूपों में विकसित होता है, सूक्ष्म कारण से स्थूल कार्य की उत्पत्ति होती है, यह अनेक स्थलों में प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है। मनुष्य की बुद्धि भी इस प्रकार से गठित है कि वह प्रत्येक घटना के कारण की खोज करती है, उत्पत्ति-विकास-शील किसी स्थूल पदार्थ को देखते ही उसके मूल में किसी सूक्ष्म शक्ति के अस्तित्व को खोजने की चेष्टा करती है, अनेक पदार्थों अथवा व्यापारों में किसी प्रकार का सादृश्य या सम्बन्ध अथवा क्रिया-शृंखला देखकर उनके मूल में स्थित किसी ऐक्य के अन्वेषण में रत होती है। बुद्धि का यह सार्वजनीन स्वभाव है और बुद्धि के इस स्वरूपगत् स्वभाव से ही समस्त विज्ञान और दर्शनों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार के स्वभाव वाली बुद्धि की सम्यक् परितृप्ति ही सत्य का माप-दण्ड है।

हम आधुनिक युग में जिन शास्त्रों को विज्ञान(साइंस) के नाम से पुकारते हैं, वे इस निखिल जगत् के विशेष-विशेष विभागों में अनेक स्थूल व्यापारों के पर्यवेक्षण और विश्लेषण के द्वारा उनसे क्रमशः सूक्ष्मतर अल्पसंख्यक कारणों के आविष्कार में लगे हैं। दर्शन-शास्त्र समस्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों को उदरस्थ करके समस्त विश्वजगत् के मूल स्वरूप एक सूक्ष्मतम अव्यक्त मूर्ति महाकारण के स्वरूपानुसन्धान में लगा हुआ है। सुविस्तृत देश और काल में असंख्य वैचित्र्य से युक्त यह विश्व-जगत् स्थूल रूप में आने के पूर्व सर्वप्रथम किस अवस्था में था, इस विराट् स्वरूप के लय हो जाने पर किस अवस्था में रहेगा, किस आदि कारण से, किस नियम के द्वारा इस विशाल विश्व का उद्भव हुआ है, मैं कहाँ से आया हूँ, हमारे ज्ञान और कर्म का अन्तिम परिणाम क्या होगा, ये सब प्रश्न मनुष्य की बुद्धि के अन्तस्थल से स्वाभाविक ही

उठते रहते हैं तथा इन सब समस्याओं का ठीक-ठीक समाधान करने की चेष्टा को ही दार्शनिक चिन्तन कहा जाता है।

वैदिक ऋषियों ने इन समस्याओं के समाधान में तप:परायण होकर आविष्कार किया था कि इस विश्वजगत् के अनेक प्रकार की विचित्रताओं में अभिव्यक्त होने के पूर्व ऐसी एक अवस्था थी, जब देश और काल का विभाग नहीं था; दिन-रात का भेद नहीं था, मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश कुछ भी नहीं थे, कोई जड़ परमाणु न था अथवा चेतन जीव भी नहीं था, जीवन भी नहीं था, मृत्यु भी नहीं थी। इस चतुर्दश भुवन का कुछ भी प्रकाशित न था, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का भी अस्तित्व नहीं था। उस अवस्था को न तो सत् ही कह सकते हैं और न असत् ही। यह अवस्था काल की दृष्टि से विश्वजगत् के आविर्भूत होने के पहले किसी एक में थी, अथवा भविष्य में सब कुछ लय हो जाने पर किसी समय रहेगी, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस अवस्था में भूत, वर्तमान, भविष्यत् नामक कोई काल-भेद नहीं है। देश और काल का विभाग, ज्ञाता और ज्ञेय का विभाग, भोक्ता और भोग्य का विभाग, कर्त्ता और कर्म का विभाग, अभाव और पूर्णता का विभाग, इस प्रकार के समस्त विभागों का अतिक्रमण करने पर जो अवस्था रहती है वही ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के ऋषि की दिव्य दृष्टि में विश्वब्रह्माण्ड की चरम कारणावस्था है।

तो क्या वह अवस्था शून्यावस्था है? उस समय क्या केवल अभाव था? समस्त सत्ता का बिल्कुल अभाव था? क्या अभाव से भाव की उत्पति सम्भव है? अथवा क्या भाव का पूर्णत: अभाव में परिणत होना सम्भव है? वह मूल कारणावस्था निश्चय ही ऐसी कुछ थी, जिसमें कोई भेद नहीं था, परन्तु जिससे सब प्रकार के भेद की उत्पत्ति सम्भव है, जो देश-काल के ऊपर होते हुए भी देश और काल में, अनन्त भावों और अनन्त रूपों में अपने को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, जिसके स्वरूप में भोक्तृ-भोग्य, ज्ञातृ-ज्ञेय, कर्तृ-कर्म प्रभृति विभागों का पूर्णत: अभाव है; तथापि विचित्र प्रकृति से विशिष्ट असंख्य भोक्तृ-भोग्य, ज्ञातृ-ज्ञेय, कर्तृ-कर्म प्रभृति विभागों को स्वयं ही बिना किसी चेष्टा के सृष्टि करने की अघट-घटन-घटीयसी शक्ति, जिसके स्वरूप में अभिन्न रूप से नित्य विद्यमान रहती है। ऋषि ने देखा 'आनीदवाहं स्वध्या तदेकम्'—उस समय केवल वही 'एक' था और वही 'एक' स्वधा के साथ, स्वकीया आत्मसूता शक्ति के साथ अत्यन्त 'अभेद' रूप में संयुक्त होकर विराजमान था। वह 'एक' जड़ नहीं, जीवन्त (अनीत्) था। सारी जड़ सत्ताएँ चेतन हैं, अन्यथा जड़ से अस्तित्व का प्रकाश ही नहीं हो सकता। अतएव मूल सत्ता निश्चय ही चेतन, स्व-प्रकाशस्वरूप है। किन्तु है वह अविक्षुब्ध (अवातं), स्वकीया शक्ति उसके साथ रहते हुए भी उसमें विक्षोभ या चांचल्य का उत्पादन नहीं करती, अनभिव्यक्त स्वभाव से अभिव्यक्त भाव में उसको प्रकट करने का कोई आयोजन नहीं करती। जीवन्त चेतन होते हुए भी उस मूल अव्यक्त स्वरूप में उसके जीवन का कोई स्पन्दन, तरंग या प्रवाह नहीं रहता।

उस महाकारण के भी कारण चैतन्य स्वरूप अद्वितीय, 'एक' अनन्त वैचित्र्य से पूर्ण सृष्टि का उत्पादन करने वाली अविचिन्त्य महाशक्ति के साथ नित्य युक्त भाव से विराजित होने पर "ी उस समय किसी भी पदार्थ का प्रकाश नहीं था। यहाँ तक कि उस समय आवरण और प्रकाश का भी कोई भेद न था—'तम् आसीत् तमसा गूढ़मग्रे'—तक के द्वारा समावृततम ही विद्यमान था। इस अवस्था को अखण्ड

आवरण भी कहा जा सकता है और अखण्ड प्रकाश भी। उस अद्वितीय 'एक' को न प्रकाशस्वरूप कहने में ही कोई दोष होता है, न तो तम:स्वरूप कहने में ही। इसी प्रकार तम: प्रकाश रहित कहने में भी दोष नहीं होता; क्योंकि भेद के बिना, द्वैत के बिना प्रकाश और आवरण का कोई अर्थ ही नहीं होता और न इनके बीच कोई अर्थगत् भेद ही रहता है। सब प्रकार के भेद से रहित उस मूल सत्ता को अन्यान्य ऋषियों ने कभी असत्यरूप बतलाया है और कभी सत्स्वरूप। कभी प्रकाशस्वरूप भी कहा है और कभी तम:स्वरूप भी। कभी पूर्ण भी कहा है और कभी शून्य भी। सारांश यह है कि द्वैताधीन बुद्धि की कोई कल्पना ही वहाँ नहीं टिकती।

यह जो अभिन्नशक्ति, शक्तिमान् देशकालातीत बाह्य अन्तर-रहित तम:प्रकाशार्जित अद्वितीय 'एक' है। इसी से इस व्यक्ताव्यक्त जगत् की उत्पति होती है। नासदीय सूक्त के ऋषि ने घोषणा की है कि 'तपस्या की महिमा से' उसी 'एक' ने स्रष्टा और सृष्टि रूप में, एक और बहु रूप में, कारण और कार्य रूप में कालाधीश और कालाधीन रूप में, आत्मप्रकाश किया, उस 'एक' ने ही जन्म ग्रहण किया। 'तपसस्तन्महमा जायते कम्' यह तो अज का जन्म, परिणामरहित का आत्मपरिणाम, नित्य वस्तु की आत्मसृष्टि, देशकालातीत का देश-काल में आत्मप्रकाश, अद्वितीय एक का स्वयं बहुरूप-ग्रहण करना है—इसका कोई कारण बतलाते नहीं बनता। जो सर्वस्वकारणों का स्वरूप कारण है, जिसके स्वभाव से सब कारण का होना सम्भव नहीं है। कारण के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही यहाँ नहीं उठ सकता, ऋषि ने इसको उस एक ही की अचिन्तनीय 'तपस्या की महिमा' बतलाया है। वह तपस्या भी उसके स्वभाव के अन्तर्गत है—'देवस्य स्वभाव एष:'। इस तपस्या में ज्ञान, इच्छा और आनन्द एकीभूत हो गये हैं। इसमें उनकी कोई चेष्टा नहीं, अवस्थान्तर नहीं, साधना और सिद्धि का भेद नहीं, तथा इच्छा और उसकी पूर्ति का कोई भेद नहीं है। यह तपस्या उसके साथ अभिन्न भाव से विराजित, उसी की स्वकीया शक्ति का, उसी की स्वधा का स्वाभाविक परिणाम है। इस तपस्या का स्वरूप क्या है, यह बात मानवीय बुद्धि की धारणा में नहीं आ सकती। बुद्धि यदि आत्म-समाहित हो तो उस समाधि अवस्था में इसका आभास प्राप्त किया जा सकता है। व्युत्थित बुद्धि उस अनुभूति को चाहे जिस अवस्था की अभिज्ञता की सहायता से अपेक्षाकृत उस अनुभूति का कुछ आभास मात्र प्रकट करने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

इस अनिर्वचनीय तपस्या की अचिन्त्य महिमा से उस 'एक' में शक्ति और शक्तिमान का कुछ भेद उत्पन्न हुआ, शक्ति का विचित्र परिणाम प्रारम्भ हुआ तथा विचित्र रूप में, विचित्र नाम में परिणत स्वकीया शक्ति के सम्पर्क से उस 'एक' की ही स्वत: नयी-नयी उपाधियाँ उत्पन्न होने लगीं। स्वकीया शक्ति के विचित्र परिणाम से वह 'एक' ही मानो नये-नये रूपों में जन्म ग्रहण करने लगा। निर्गुण, निर्विशेष, निरुपाधिक 'एक' ने सगुण, सविशेष, सोपाधिक, वैचित्र्यमय रूपों में अपने को अभिव्यक्त किया। यही हुई उसकी आत्मसृष्टि और यही हुआ उसका जन्म-ग्रहण।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि उसकी इस आत्मसृष्टि या जन्म ग्रहण का प्रारम्भ किसी कालविशेष या देशविशेष में नहीं होता। किसी विशेष देश या काल में यदि इस सृष्टि का पूर्ववर्ती वह निर्गुण, निर्विशेष अभिन्न-शक्तिमान, अद्वितीय 'एक' भी देशकालावच्छिन्न होता। अतएव वह ससीम,

विकारशील, परिणामी होता और उसका भी एक कारण खोजना पड़ता। ऐसा होने पर नासदीय सूक्त का वर्णन असमीचीन हो जाता। देशकाल की दृष्टि से, दैनिक विस्तार और कालिक परिणाम की दृष्टि से, इस सृष्टि का कोई आदि या अन्त कल्पित नहीं हो सकता। उस 'एक' का देशकालातीत निर्गुण, निर्विशेष, निरूपाधिक स्वभाव जिस प्रकार नित्य है, देश-काल में उसकी अनेक रूपों में आत्मसृष्टि भी उसी प्रकार नित्य है, देशकालातीत, निर्विशेष, निर्विकार अद्वितीय 'एक' का देश में और काल में विचित्र सविशेष के परिणाम में चिरन्तन आत्मप्रकाश, आत्मक्रीड़ा, आत्मविनोदन ही उसकी आत्मसृष्टि या विश्वसृष्टि है। देश और काल के—बहुत्व और परिणाम के ऊपर विशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप में इसका आविर्भाव होता है तथा देश और काल में, बहुत्व और परिणाम में इसकी अभिव्यक्ति होती है।

सब प्रकार के भेद और परिणाम से रहित उस 'एक' के स्वरूप में इस देशकालव्यापी भेद परिणाममय विश्व-रूप का अत्यन्त अभाव था, ऐसी बात नहीं है। बल्कि यह सब कुछ उसकी शक्ति में एकीभूत होकर विलीन था, भेद और परिणाम की कोई अभिव्यक्ति नहीं थी, यह सभी ढँका हुआ था। किसके द्वारा ढँका हुआ था? क्या किसी अन्य शक्ति के द्वारा उसकी इस स्वकीया शक्ति का प्रकाश अवरुद्ध था? अन्य किसी स्वकीया या परकीया शक्ति की विद्यमानता तो सम्भव नहीं है। किसी आवर्य और आवरक का भेद भी तो वहाँ नहीं रह सकता। 'किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्।' ऋषि कहते हैं—'तुच्छेनाभिपिहितं यदासीत्' तुच्छ के द्वारा सर्वतोभावेन आवृत्त था अर्थात् जिसके द्वारा आवृत्त था, वह तुच्छ था, उसे सत् या असत् कुछ भी कहते नहीं बनता। उसी को 'तमः' कहा गया। 'स्वकीया शक्ति के अन्तर्भुक्त अविभागापन्न विचित्र विश्व के प्रति उस 'एक' के तुच्छ भाव-औदासीन्य' उसके प्रति ईक्षण के अभाव के द्वारा ही यह विश्व समावृत्त था, यही कहा जा सकता है। उस 'एक' की अपनी शक्ति के प्रति ईक्षण द्वारा ही वह आवरण दूर हुआ, विश्व की सृष्टि की इच्छा से विशिष्ट भाव ही सगुण भाव है—अपने को बहुरूप में उत्पन्न करने का भाव है। यही है—उसकी तपस्या की महिमा के द्वारा तुच्छ आवरण का तिरस्कार करते हुए सृष्टि में 'जायमान' होना।

उसी एक की ईक्षण रूपी तपस्या से उत्पन्न स्वकीया शक्ति का—स्वधा का—जो प्रथम जागरण है, सर्व प्रथम आपाततः पृथक् भाव से आत्मपरिणामोन्मुखता है, उसी का नाम 'काम' है। इसी काम रूप में शक्ति की प्रथम उपलब्धि होती है। यह काम ही शक्ति के अभिन्न, अव्यक्त अवस्था से भेदभावापन्न व्यक्तावस्था में परिणत होने का प्रथम सोपान है। शक्ति का कामरूप परिणाम ही, यह उपाधि ग्रहण करना ही निर्गुण 'एक' की प्रथम सगुण-भाव की प्राप्ति, ईश्वर-भाव का आविर्भाव है। उस 'एक' से विश्वसृष्टि-प्रक्रिया के प्रारम्भ के सम्बन्ध में नासदीय सूक्त के ऋषि इसी कारण कहते हैं—'कास्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेत प्रथम यदासीत।' एक स्वरूप में अभेद भाव में विराजित मन का प्रथम परिणाम ही कामरूप है तथा इसी काम से कालिक सृष्टि, व्यक्त जगत् का क्रमिक प्रकाश होता है। परमार्थतः शक्तिमान् 'एक' से अभिन्न उसकी शक्ति जब कामरूप धारण कर विचित्र आकार में परिणत होने लगी, तभी उसमें नाना प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न हुए, सृष्टि, स्थिति और संहार का व्यापार चलने लगा।

नासदीय सूक्त के इस परम गम्भीर तत्त्व-विचार को प्रतिध्वनित करते हुए महर्षि श्वेताश्वर कहते

हैं—'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिव एव केवल:।' जब वह तम: अवस्था थी, तब न तो दिन था न रात्रि, न सत् था न असत्, केवल मात्र शिव ही विराजमान थे। नासदीय सूक्त का 'एक' श्वेताश्वतर उपनिषद् के शिव हैं। मुण्डकोपनिषद् इसी एक अद्वितीय 'शिव' के स्वरूप का निर्धारण करते हुए कहता है—नान्त:-प्रज्ञं हैं, वह न प्रज्ञानधन हैं और न प्रज्ञ हैं और अप्रज्ञ ही हैं। अर्थात् ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय का भेद न होने के कारण, किसी प्रकार की वृत्ति या परिणाम न होने के कारण, उनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वे ज्ञानवान हैं या ज्ञानहीन हैं; चैतन्ययुक्त हैं या चैतन्यविहीन हैं, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रज्ञा भी उन्हीं की शक्ति के परिणाम से उत्पन्न हैं। 'प्रज्ञाचतस्मात् प्रसृता पुराणी।' तत्त्वदर्शी लोग उन्हें—

'अदृष्टम व्यवहार्यमग्राह्यमलणम चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपचोपशमनं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते'।

सब ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के अगोचर, वाक्य और चिन्तन के अगोचर के नामरूप के परे एकमात्र आत्मप्रत्यय के सारस्वरूप, सर्व विषयों के उपरामस्वरूप एक अद्वितीय तुरीय शिवतत्त्व मानते हैं। 'स आत्मा स विज्ञेय:।' वही आत्मा है, वही परम विज्ञेय तत्त्व है। शिवगीता में भी शिवतत्त्व का इसी प्रकार वर्णन किया गया है—

अचिन्त्यरूपमव्यक्तमनन्तममृतं शिवम्।
आदिमध्यान्तरहितं प्रशान्तं ब्रह्मकारणम्।
एकं विभुं चिदानन्दरुपमजमद्भुतम्॥

कैवल्योपनिषद् कहती है—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दरूपमद्भुतम्॥
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मूनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमस: परस्तात्।

अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, प्रशान्त, अमृतस्वरूप, ब्रह्म के भी कारण, आदि, मध्य और अन्त से हीन, विभु चिदानन्द, अरूप, अद्भुत, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, एक अद्वितीय; अमासहाय, (शक्ति समन्वित) परमेश्वर शिव का ध्यान करके मुनि उस तमस् से परे विराजमान् समस्तसाक्षी, सब कारणों के कारण परमतत्त्व को प्राप्त होते हैं।

अतएव नासदीय सूक्त का वह 'एक' ही शिव नाम से अभिहित होता है तथा शिव रूप में हमारी धारणा की सुविधा के लिए उपस्थापित है। उसी एक की स्वकीया शक्ति स्वधा ही उमा, काली प्रभृत नामों

से प्रसिद्ध है। परमार्थतः उमा या काली शिव के साथ अभिन्न हैं, नित्य उन्हीं के अंक में लीन रहती हैं। यह शक्ति जब शिव के स्वरूप में अभिन्न भाव से चिन्तित होती है, तब शिव मन और वाणी के अगोचर हो जाते हैं, केवल निषेधवाचक पदसमष्टि के सिवा उनके परिचयसूचक किसी वाक्य का व्यवहार करना सम्भव नहीं होता, उनकी कोई गुण-क्रिया नहीं होती, उनके साथ सम्बन्धित कोई पदार्थ नहीं होता, जिसके द्वारा उनका परिचय प्राप्त हो, जिस सम्पर्क से उसका विस्तार सम्भव हो, उनकी शक्ति के परिणाम से भीतर ही उनका सब परिचय निहित है। उनकी इस शक्ति को ज्ञानमयी, इच्छामयी, आनन्दमयी,...कुछ कहा जा सकता है—सभी भाव उसमें एकीभूत होकर विद्यमान हैं। इस शक्ति के द्वारा ही उनका स्वभाव निर्मित है। यह शक्ति जब उनकी 'अचिन्त्य तमसोमहिमा' उनके वक्षस्थल को भेद कर परिणामशील रूप में अभिव्यक्त होती है, उन शिव के ही वक्षस्थल का आश्रय करके उनके स्वरूप से आपाततः भिन्न भाव अवलम्बन करके उनकी 'आत्मभूता शक्ति' जब सृष्टि, स्थिति और प्रलय रूप नृत्य करने लगती है, तब उस 'एक' का ही द्वैतभाव में आत्मप्रकाश होता है। निष्क्रिय, निर्गुण, निर्विकार, परिणामहीन कूटस्थ शिव परिणामशीला, सविकारा, सगुणा, सक्रिया शक्ति के आश्रय और अधिष्ठान रूप में उसके चरणतल में, उसके विचित्र परिणाम और क्रिया की आड़ में नित्य स्वरूप में विराजमान रहते हैं। इस शक्ति के नित्यनूतन नृत्य रचना के भीतर नित्य नूतन परिणाम और क्रिया के सम्बन्ध में उस शिव का भी नित्य नूतन सोपाधिक परिचय प्राप्त होता है। निष्क्रिय, निर्विशेष विश्व तथा सक्रिय सविशेष शक्ति के योग में ही समस्त सत्ता निहित है। इस द्वैताभिव्यक्ति के भीतर उसी परम 'एक' की अनेक रूपों में आनन्द-लीला होती है। शक्ति को पृथक् भाव से विचार करने पर उसके सम्बन्ध के बिना शिव गुण, कर्म और प्रकाश से हीन शिव के रूप में ही प्रतीत होते हैं। शिव का शिवतत्त्व शक्ति के अन्दर से ही प्रकाशित होता है। शिव को शक्तिमान के रूप में ग्रहण न करने पर प्रकाश और तम दोनों एक हो जाते हैं, शिव और शव में कोई अन्तर नहीं रहता, चित् और अचित् में कोई भेद नहीं रहता, सत् और असत् में किसी भिन्नता का निरूपण नहीं हो सकता, यह बात पहले ही बताई जा चुकी है। अतएव देश, काल आदि से अतीत सब प्रकार के भेद से वर्जित शिव के वक्षस्थल के ऊपर कालमयी, परिणाममयी अशेष वैचित्र्य का उत्पादन करने वाली महाशक्ति का नृत्य ही विश्वसत्ता का स्वरूप है।

काम रूप में, सृष्टि की इच्छा के रूप में, बहुभावों में उत्पन्न होने के संकल्प रूप में शिव के अंक में लीन महाशक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति होती है। नासदीय सूक्त का अनुसरण करते हुये उपनिषद् भी कहता है—'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेत।' उसने कामना की, मैं बहुतों के रूप में उत्पन्न हो जाऊँ। 'इस कामोत्पत्ति से ही उस सर्वभावातीत स्वभाव में सोपाधिक अहं भाव की उत्पत्ति होती है। शिव प्रसविनी महाशक्ति भी इसी कारण कामाख्या देवी के नाम से अभिहित हुई है।'

उस काम से माया शक्ति के सुनियमित आनन्द नृत्य के ताल-ताल पर असंख्य द्वैतभाव समुद्भूत होते हैं। सुख के साथ दुःख, आशा के साथ आशंका, प्रेम के साथ भय, उत्पत्ति के साथ ध्वंस, स्थिति के साथ विकार, लाभ के साथ हानि, वृहत् के साथ क्षुद्र, सुन्दर के साथ कुत्सित, चेतन के साथ जड़—इसी तरह असंख्य प्रकार के द्वैत और द्वन्द्व साथ-साथ अगल-बगल में उत्पन्न होकर, स्थित होकर और विलीन

होकर अपूर्व शृंखला के साथ विश्व व्यापार का सम्पादन कर रहे हैं। समस्त विश्व में प्रत्येक के साथ प्रत्येक का अद्‌भुत सामंजस्य है। सभी उस शिव की अंकीभूतानि सच्चिदानन्दमयी महाशक्ति आत्माभिव्यक्ति के विचित्र रूप हैं, सभी उनकी गोद में खेल रहे हैं। यही कारण है कि वह विचित्र परिणामशीला नृत्यमयी महाशक्ति जिस प्रकार सुन्दरी हैं, उसी प्रकार भयंकरी हैं, जिस प्रकार स्नेहमयी विश्वजननी हैं, उसी प्रकार मृत्युमयी विश्वग्रासिनी हैं, जिस प्रकार क्षेमा (कल्याणकारिणी) हैं, उसी प्रकार भीमा (भयंकर रूपवाली) हैं। एक हाथ में ध्वंस के प्रतीक रूप में नरमुण्ड लटक रहा है, तो दूसरे में सृष्टि के प्रतीक के रूप में कमल शोभा पा रहा है। वे नियमपूर्वक असंख्य चेतनाचेतन पदार्थों का प्रसव करती हैं, स्नेहपूर्वक हृदय से चिपटा कर उनका पोषण करती हैं और फिर मुख फैलाकर उन्हें चट कर जाती हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलय सभी व्यापारों में आनन्दोल्लास में झूमते रहते हैं।

जगत् के सभी व्यापार तीन प्रकार के अवयवों के साथ प्रकाशित होते हैं। जैसे कर्ता, कर्म और क्रिया; ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान; भोक्ता, भोग्य और भोग; दृष्टा, दृश्य और दर्शन; हन्ता, हत और हनन इत्यादि। यह त्रिपुटी उस महाशक्ति का ही आत्म-प्रकाश है, उन्हीं की अंगीभूत है। वही असंख्य कर्ता, कर्म और क्रिया के रूप में, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के रूप में, भोक्ता, भोग्य और भोग के रूप में, हन्ता, हत और हनन के रूप में अपने को अनादि और अनन्त काल में व्याप्त करके प्रकट कर रही हैं। समस्त अतीत उन्हीं के भीतर विलीन है, सारा भविष्य उन्हीं के भीतर छिपा हुआ है, सारा वर्तमान उन्हीं के अंग में प्रकट है। अतीत, वर्तमान और भविष्यत् विशिष्ट काल-प्रवाह के द्वारा ही मानो उनका शरीर निर्मित है। काल में जो हो गया है, हो रहा है और होगा, सभी उनके शरीर में विद्यमान है। सब कुछ उनके स्वभाव से प्रकट होकर फिर उन्हीं के स्वभाव में समा जाता है। नित्य ही वे अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था तथा व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में जाती, आती व होती रहती हैं।

उनकी इस कालमयी मूर्ति से ही समस्त वर्णों की, सारे शब्दों की, रसों की, स्पर्शों की, गन्धों की उत्पत्ति होती है। उनका कोई विशेष शब्द नहीं, विशेष रस-गन्ध या स्पर्श नहीं है। इसी कारण सब वर्णों से परे काले वर्ण में उनका रूप परिकल्पित होता है। सब शब्दों से परे सनातन नित्य प्रणव ध्वनि में उनका परिचय होता है, सब रसों का उत्स मूल स्रोत स्वाभाविक विशुद्ध आनन्द ही उनका स्वरूप कहलाता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी सभी उनके अव्यक्त रूप की व्यक्त मूर्तियाँ हैं।

एक ओर वे जिस प्रकार सब वर्णों के कारणरूपी अव्यक्तमूर्ति अर्थात् प्रगाढ़ कृष्णवर्णवाली हैं— 'तमसा गूढ़ं तमः।' दूसरी ओर वही महाशक्ति स्वप्रकाशात्मिका होने के कारण ज्योतिर्मयी हैं, उनके कृष्ण अंग से विश्वप्रकाशक ज्योति विकीर्ण होती है, उन्हीं की ज्योति से विश्व का सब कुछ 'तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।' ये आवरणमयी भी हैं और प्रकाशमयी भी हैं। वे आवरण शक्ति के रूप में सच्चिदानन्दस्वरूप-रूप एक अद्वितीय शिव को शिव के देश कालातीत मन-वाणी के परे अप्राकृत महिमा को देश और काल में, मन और वाणी के गोचर रूप में, प्राकृत विश्व में प्रकाशित करती हैं। वह शिव की ही सर्वमयी स्वकीया शक्ति नहीं हैं। इसीलिए वे अपने स्वरूप में तथा अपने स्वभाव में लीलामयी हैं। वे अपने ही अव्याहत स्वभाव के अनुसार अनादि और अनन्त काल में आवरण और विक्षेप की प्रकाश लीला

करती जा रही हैं। उनके विशेष-विशेष भाव, विशेष-विशेष लीलाएँ, विशेष-विशेष देश और काल से सीमित अभिव्यक्ति के बीच जब हमारी दृष्टि और चिन्तन अवरुद्ध हो जाता है, तब उसी के द्वारा उनका समग्र रूप हमारे ज्ञान के समक्ष अप्रकाशित व आवृत्त हो जाता है। उनकी निजी क्रिया के द्वारा, आत्म प्रकाश के द्वारा, उनके अपने स्वरूप का आवरण होता है। हम कभी उनका मुण्डमाल देखते हैं, कभी उनकी तलवारें और खड्गादि के झनझनाहट से अभिभूत हो जाते हैं, कभी उनके वरद अभयप्रद हस्त को ऊपर उठा हुआ देखकर आकृष्ट होते हैं, कभी उनका सृष्टि कार्य, कभी संहारकार्य हमारे चित्त को खींचकर उनके स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष-विशेष धारणाएँ उत्पन्न करता है। उन्हीं की आत्माभिव्यक्ति के स्तर विशेष में अहन्ता, ममता आदि विशिष्ट कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान से युक्त हम लोग उत्पन्न होकर इस अभिमान की दृष्टि से उनकी ही अन्यान्य आत्माभिव्यक्तियों की भोग्य रूप में, त्याज्य रूप में, कार्य रूप में वा नाश्य रूप में, संस्कृत रूप में अथवा विकृत रूप में देखकर अपने अधीन करने की चेष्टा करते हैं। विश्वजननी महाशक्ति के ही अंगविशेष को हम उन्हीं की सन्तान अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अधीन समझते हैं। यह भी उन्हीं की लीला है। इस प्रकार उनका अखण्ड शरीर हमारी खण्डित दृष्टि में खण्डित हो जाता है तथा हमारे सामने उनके स्वरूप का आवरण हो जाता है। फिर इस आवरण को तिरोहित करके अपने समग्र स्वरूप के साथ परिचय भी वही अपनी स्वकीया प्रकाशमूर्ति के द्वारा करा देती हैं। इस आवरण करने वाली मूर्ति के विकास में वे अविद्याशक्ति के रूप में वर्णित होती हैं तथा इस प्रकाश करने वाली मूर्ति के विकास में वे ही विद्याशक्ति के रूप में पूजी जाती हैं। वह अविद्यारूपिणी भी हैं और विद्यारूपिणी भी, बन्धन-कारिणी भी हैं, मुक्तिविधायिनी भी। यद्यपि अविद्याशक्ति के विस्तार के द्वारा स्वकीय सर्वमय अखण्ड स्वरूप को तथा अपने नित्य आश्रय सर्वातीत शिव के स्वरूप को आवृत्त कर आत्म-परिणाम से उद्भूत कर्तृ-कर्म, भोक्तृ-भोग्यादि में विभक्त असंख्य खण्डमूर्तियों को ही सत्य के रूप में उपस्थित करना इस महाशक्ति का स्वभाव सा प्रतीत होता है, तथापि सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि का अवलम्बन करके देखने पर यही सिद्ध होता है कि इस अविद्या के कार्य के द्वारा भी उनकी विद्या शक्ति अपने प्रभाव को विजयी बनाती है। सारे भेदों के बीच अभेद, द्वन्द्व के बीच ऐक्य, मृत्यु के अन्दर अमृत, जड़ के अन्दर चेतना, कुरूप के अन्दर सुन्दर, अनित्य के भीतर नित्य, ससीम के भीतर असीम और शोक के भीतर आनन्द को विकसित कर देना ही इस शिवप्रिया महाशक्ति का जीवन-व्रत है। अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप शिव ही तो इस अपने से अभिन्ना शक्ति के विचित्र परिणाम के द्वारा नाना रूपों में, सर्वदेश में, सर्वकाल में जन्मग्रहण और आत्मास्वादन कर रहे हैं। एक शिव को अनेक प्रकार से प्रकाशित करना ही शक्ति का कार्य है। अनेक रूपों में देखने से ही शिव के स्वरूप का आवरण होता है तथा शक्ति के पूर्ण स्वभाव का परिचय नहीं हो पाता। अनेक को शिव रूप में देखने से ही, अनेक में से प्रत्येक को एक शिव के ही विशिष्ट प्रकाश रूप में आस्वादन करने से ही शक्ति के द्वारा शिव का प्रकाश होता है तथा शक्ति के स्वभाव के साथ परिचय को प्राप्त होता है। समस्त विश्व प्रक्रिया इस परिचय को प्राप्त करने के लिए ही अनेक में एक शिव के विचित्र प्रकाश की ओर ही दौड़ रही है। विश्व की जितनी कारण श्रृंखलाएँ हैं, जितने सृष्टि-स्थिति-विनाश हैं, जितने संग्राम-सन्धि-मिलन हैं, सब इसी उद्देश्य की सिद्धि की ओर नियत रूप से

अग्रसर हो रहे हैं। शिव को पूर्ण रूप से विश्व में प्रकट किये बिना शक्ति का व्रत पूरा नहीं होता, सृष्टि का अन्तर्निहित उद्‌देश्य सिद्ध नहीं होता। शिव का स्वरूप अनन्त होने के कारण ही विश्व-प्रवाह भी उनको प्रकाशित करने के उद्‌देश्य से अनादि और अनन्त काल में प्रवाहित हो रहा है।

विश्व-प्रपंच की नियम शृंखला की पर्यालोचना करने पर इसमें एक क्रम विकास की नीति दिखाई पड़ती है। इस जगत् के सभी विभागों में आवरणी शक्ति को अभिभूत करने पर क्रमशः प्रकाशिनी शक्ति का प्रभाव बढ़ता है। जड़ पर चेतन का आधिपत्य, आसुरी शक्ति के ऊपर दैवी शक्ति का प्रभुत्व, अज्ञान शक्ति के ऊपर ज्ञान शक्ति का राजत्व, हिंसा-घृणा के ऊपर प्रेमभक्ति का राजत्व सृष्टि-प्रक्रिया के अन्तर्निहित विधान के अनुसार ही स्तर-स्तर में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसी कारण महाशक्ति असुरमर्दिनी तथा देवकार्यसाधिनी, दानवदलिनी तथा भक्त-प्रसादिनी प्रभृति नामों से पुकारी जाती है। उन्हीं की आत्म-परिणामरुपिणी जो शक्तियाँ विश्व के शिवस्वरूप के प्रकाश के विपरीत मूर्ति धारण कर आविर्भूत होती हैं, जो शक्तियाँ विश्व-व्यवस्था को भेद, विरोध, असामंजस्य तथा अधर्म की ओर प्रवाहित करना चाहती हैं, जो शक्तियाँ सत्य, ज्ञान, आनन्द, मिलन, ऐक्य की प्रतिष्ठा में बाधा देती हैं, वे सारी शक्तियाँ विश्व के क्रंम-विकास में आविर्भूत होकर विनाश को प्राप्त होने के लिए ही जन्म लेती हैं।

शिव के वक्षःस्थल पर विलास करने वाली विश्व जननी आनन्द-नृत्यमयी काली की श्री-मूर्ति से विश्वनीति के सभी भाव-व्यक्त हो जाते हैं। उन्हीं की विद्याशक्ति के शरणापन्न होकर जो साधक उनकी समग्र मूर्ति के दर्शन करने के लिए अत्यन्त आग्रहशील होता है, उसके सामने वे प्रेममयी आनन्दमयी जननी के रूप में ही आत्मप्रकाश करती हैं। वह साधक अन्तर्जगत् में और बहिर्जगत् में, स्थूल जगत् में और सूक्ष्मजगत् में सर्वत्र सब पदार्थों में तथा सब व्यापारों में उस स्नेहमयी मंगलमयी जननी की कमनीय लीला का ही दर्शन करता है। उसके कर्तृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान, ज्ञातृत्वाभिमान सभी मिट जाते हैं। सभी उस माता के खेल हैं—फिर कर्तृत्वाभिमान का क्षेत्र कहाँ? सर्वत्र ही मानो माता का ही अंग दृष्टिगोचर होता है—फिर उसके लिए भोग्य क्या है? उसका ज्ञान उस माता का ही प्रकाश बन जाता है।

इस प्रकार समस्त ज्ञातृ-ज्ञेय, कर्तृ-कर्म-क्रिया, भोक्तृ-भोग्य-भोग को माता की मूर्ति के रूप में दर्शन कर स्वयं पूर्ण रूप से अहं-मम से विरहित होकर साधक जब माता के चरणों में आत्म-निवेदन करता है, तब माँ के नित्य चरण-तल में स्थित शिव के साथ उसको सम्यक् रूप से ऐक्य की अनुभूति होती है, वह महाशक्ति के समस्त परिणामों के साथ आत्मीय भाव का त्याग कर उसकी आत्मा विशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर उस महाशक्ति के अधिष्ठान नित्य सत्य चिदानन्दघन शिव के साथ सम्यक् अभिन्नता प्राप्त करता है। और जीव शिवत्व को प्राप्त करता है—

विश्वरूपमयीं कालीं शिववक्षविलासिनीम्।
शिवशक्तिं शिवाभिन्नां मातरं प्रणमाम्यहम्॥

□

जोधपुर : नाथ-साहित्य का गढ़

—डॉ. अनुज प्रताप सिंह

नाथ-सहित्य से मेरा लगाव कब और क्यों हुआ, कुछ समझ में नहीं आता। यह बात अवश्य है कि जब मैं पी-एच.डी. करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ही शोध सहायक का कार्य कर रहा था, तो एक दिन हिन्दी-विभाग के कुछ वरिष्ठ अध्यापकों ने आपस में बातें कीं, ''यह पढ़ने-लिखने वाला लड़का है, इसने दो वर्ष के भीतर ही पी-एच.डी. का कार्य कर लिया, इसको डी.लिट्. के लिए सलाह दी जाए। विषय ऐसा हो कि कहीं से मदद भी मिल सके।'' इसी सन्दर्भ में गोरखपुर के गोरखनाथ के पीठाधीश्वर श्री अवेद्यनाथजी महाराज का नाम आया और मैंने गोरखपुर की यात्रा १९७८ ई. में की। डी.लिट्. के लिए मैंने विषय लिया—'गोरक्षनाथ और नाथ सिद्ध'। कार्य भी पूर्ण कर दिया।

नाथ-साहित्य से मेरा लगाव बढ़ता गया। उसके पीछे गोरखपुर मन्दिर की कृपा है। गोरखनाथ का आशीर्वाद है। मैं वहाँ जाकर आज भी तृप्त हो जाता हूँ। नौकरी में होने के कारण प्रवास दीर्घ नहीं हो पाता, पर जो हो पाता है—उससे बड़ा लाभ होता है। घर छोड़ने से ही कुछ बाहर से मिलता है। फलतः मैं शोधकार्य व लेखन में लगा रहा। प्रकाशन भी होता रहा।

मत्स्येन्द्रनाथ पर कार्य प्रारम्भ होने के साथ-साथ नाथ केन्द्रों को देखने की योजना भी बनी। उसी सन्दर्भ में मेरी पहली नाथ-यात्रा जोधपुर (राजस्थान) की हुई। मैं २७.१२.२००० ई. को प्रातः ८ बजे जोधपुर जंक्शन पर उतर गया। मेरा और जोधपुर का यह प्रथम सम्बन्ध हुआ। मैं सामान लेकर माननीया राजमाता साहिबा के निवास का पता पूछने लगा। पता लगा कि वे अब यहाँ से कुछ दूर उम्मेद भवन पैलेस में रहती हैं। उसी में अब पंचसितारा होटल और म्यूजियम चलते हैं। मैं आगे बढ़ा तो अचानक नाथ सम्प्रदाय का नवलेश्वर मठ सामने आ गया। इसी के साथ लगा हुआ पोकर होटल भी है। दोनों का द्वार एक ही है। मैं मठ में गया। पुजारीजी जो मठाधीश भी हैं—श्रीकेवलनाथजी से बात हुई। उन्होंने कहा कि मैंने नाथ सम्प्रदाय पर न कोई किताब लिखी है, न मेरे पास सम्प्रदाय की कोई पुस्तक ही हैं। मैं ऑटो करके उम्मेद (पैलेस) गया। द्वार रक्षकों से मिला। राजमाता साहिबा की व्यस्तता की बात की गयी। उस समय वे पूजा कर रही थीं। २७/१२ को ही पूर्व महाराजा गजसिंह का जन्मदिन मनाया जा रहा था। मैंने पूज्य महन्त

श्री अवेद्यनाथजी का पत्र राजमाता साहिबा को दिया। तदुपरान्त मैं भीतर वाले दरवाजे से बाहर वाले दरवाजे पर कर दिया गया। वहाँ आकर मैंने स्नान-पूजा किया। दरवाजे पर इधर-उधर भटकने लगा। लोग राजपूती पोशाक में अकेले व परिवार के साथ पैलेस में जा रहे थे, कुछ लौट भी रहे थे। म्यूजियम बन्द होने के कारण पर्यटकों के वाहनों को तेजी से लौटाया जा रहा था। वहाँ फाइव स्टार होटल है—फिर जंगल है। सामान्य जन के खाने-पीने के लिए कुछ नहीं है। पूरी सामन्ती व्यवस्था देखने को मिली।

कई बार फोन से सम्पर्क करने के उपरान्त राजमाता साहिबा के सहायक का फोन आया, ''आपको कल ११ बजे श्री महेन्द्र सिंह, उपनिदेशक जोधपुर के किले में स्थित पुस्तकालय को दिखा देंगे।'' मैंने आवासीय व्यवस्था के सम्बन्ध में कहा तो उत्तर मिला, ''आप स्वयं करें''। दूर के ढोल सुहावन लगते हैं, पास जाने पर कुछ दूसरे ढंग के ही लगते हैं। मैं लौटकर नवलेश्वर मठ आया। मठाधीश से आवास के लिए कहा तो सीधी अस्वीकृति मिली। मैं परेशान होकर पोकर होटल में रुक गया।

२८ दिसम्बर, २००० को मैं होटल, जोधपुर का शहर, रहन-सहन, रीति-रिवाज, पहनावा, दूकानदारी, आवागमन के साधन देखता रहा। अपने राम को तो पैदल चलना था। मैं पूछता-पूछता किले के पास तक गया—फिर चढ़ने लगा। धन्य हैं वे लोग—जो पत्थर के साथ चढ़ते थे, धन्य हैं वे ऊँट, घोड़े और हाथी जो सवार के साथ चढ़ते थे। मैं तो ऊपर पहुँचते-पहुँचते थक गया। घड़ी देखी तो १० बजे थे। दरवाजे पर जाने पर पता चला कि उपनिदेशक जी ११ बजे के बाद ही आएँगे, तब महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश खुलेगा।

मैं १० रुपये का टिकट लेकर किले के म्यूजियम को देखने के लिए चल पड़ा। फिर मैं विशाल दरवाजों को पार करने लगा। कुछ लोग अतिरिक्त पैसा देकर सीधे लिफ्ट से भी जा रहे थे। मैं चलते-चलते ऊपर पहुँच गया। वहाँ से दाहिने चलकर लोग म्यूजियम में जा रहे थे, कुछ लोग सीधे ऊपर जा रहे थे। मैं भी सीधे ऊपर गया। किले के ऊपर से जोधपुर शहर का दृश्य दिखलायी दे रहा था। किनारे-किनारे तोपें लगी थीं, बहुत बड़ी-बड़ी और बहुत अधिक मात्रा में, सब स्टैण्ड पर। उनको देखते ही इतिहास के पन्ने सामने आने लगे। जोधपुर तब और अब आँखों के सामने घूमने लगा। ऊपर पहाड़ का सिर एक लघु मैदान के रूप में दृष्टिगत हुआ। ऊपर अस्तबल भी देखा—दो घोड़े दो कमरों में थे। दाहिने से होकर नीचे जाने वाली पतली सड़क से मैं नीचे गया। आगे चामुण्डा देवी का छोटा-सा सुन्दर मन्दिर मिला। उसके पूर्व बाईं ओर कुछ अनुष्ठानी पण्डित पाठ भी कर रहे थे। मैंने देवी का दर्शन किया। पता चला कि उस किले के निर्माता राव जोधा सिंह ने १६वीं शताब्दी में किले के पूर्व इस देवी मन्दिर का निर्माण कराया थ। वापसी में बीच की पहाड़ी जगह में मैंने शेर खाने भी देखे। अब शेर नहीं, उनकी जगहें रह गयी हैं। वापस होकर मैं कुछ नीचे आया और म्यूजियम में प्रवेश किया। सबसे पहले मुझको कुछ हौदे दिखायी पड़े, फिर पालकियाँ और झूले। अधिकांश चाँदी के थे। कुछ तलवारें, छुरे और बन्दूकें देखने को मिलीं। इनकी संख्या अपर्याप्त लगी। राजस्थानी राजपरिवार के आभूषण भी देखने को मिले। दरबारें, बैठकें, छत और दीवालों पर सोनहुला चित्रकारी व जालियाँ देखने को मिलीं। राजपूती शानो-शौकत की कहानी मिली। क्या वैभव और विकास था, तहजीबें, और सम्पदा थीं। सब कहाँ से आया था? एक तरफ मरुस्थल तो दूसरी ओर ये

अजेय गढ़ और स्वर्णिम कक्ष। सोने और चाँदी के तारों से किये गये बेलबूटे। महाराजा, महारानियों के आवास व विलास के स्थान। घंटे भर मैं ऊपर अनेक लोगों के साथ घूमता रहा। बीच-बीच में आँगनों में शहनाईवादक भी अपनी धुन में मस्त थे। मैं रानियों के आँगन में भी गया। कपड़े, चित्र, जूतियों व हैण्डीक्राफ्ट तथा लहँगे, चुनरी व पगड़ियों की दूकानें भी मिलीं। सबके साथ एक उदासी छायी हुई मिली, क्योंकि सब की उपयोगिता समाप्तप्राय है। ऊपर झरोखे से कुछ दूर स्थित राजाओं के श्मशान को भी देखा। राग-विराग दोनों के रूप साथ-साथ आभासित हुए। सब कुछ यहीं है। इसलिए गर्व नहीं करना चाहिए। जो था—वह नहीं रहा तो जो है—यह भी नहीं रह जाएगा। ये बजती शहनाइयाँ और बैंड भी नहीं रहेंगे। शानो-शौकत के भग्नावशेष रूपों को भी नकारते हुए लोग मिले। अब आधुनिकता सब पर आ गयी है। जिसको कुछ लोग ढो रहे हैं—वह लकीर का फकीर हो चुकी है, यथार्थ नहीं मंच की वस्तु हो चुकी है। फिर भी धारक गर्व में चूर रहते हैं। सबसे आकर्षक पेंटिंग लगी; दीवाल और कागज पर। ग्वालियर के दरबार हॉल में भी इसी प्रकार की भावपूर्ण कला देखने को मिली थी। यह राजपूती वैभव और विलास तथा कला की आखिरी निशानियाँ हैं—जो मध्यकाल तक फूलती-फलती रहीं, आज तो मुरझा गयी हैं।

मैं सब कुछ देखते हुए ११ बजे पूर्वाह्न तक नीचे उतरकर आ गया। मानसिंह पुस्तक प्रकाश किला जोधपुर में जाने की मैं प्रतीक्षा करने लगा। पता चला कि उपनिदेशक डॉ. महेन्द्र सिंह १२ बजे तक आएँगे। उन्हीं के आदेश से हस्तलिखित ग्रन्थों का कक्ष खुलेगा। वे १२-१ बजे मध्याह्न आए। मुझको एक आवेदन-पत्र देना पड़ा। मैंने कैटलॉग को क्रय किया। उसमें मैंने नाथ-साहित्य को चुना। वहाँ पाण्डुलिपियों को सीधे पढ़ने की अनुमति नहीं है। छायाप्रति ली जा सकती है। मैंने कुछ अंशों को छायाप्रति के लिए अंकित किया। किले में ही प्रतिपृष्ठ ३/—की दर से प्रतिलिपि तैयार होकर एक लिखा-पढ़ी के उपरान्त मुझको मिली।

राजा मानसिंह नाथ-साहित्य और भारतीय संगीत के अनुपम पारखी और प्रणेता थे। उनके समय की नाथ-रचनाएँ उनके नाथ-सिद्धों के द्वारा सम्पन्न हैं—जिनका विवरण इस प्रकार है। इनका लिपि समय १९वीं शताब्दी है। कैटलॉग में क्रमांक, ग्रन्थांक, ग्रन्थ का नाम-कर्ता आदि, लिपि समय, पत्र संख्या, आकार, पंक्ति व अक्षर तथा विशेष विवरण हैं। सबको पृ. ६८ से ८४ तक देखा जा सकता है। कर्ता के स्थान पर महाराजा मानसिंह (जोधपुर) ही (अधिकांश रचनाओं के साथ) लिया गया है। पुस्तक-विवरण इस प्रकार है—अनुभव मंजरी, (नाथजी की बानी) (१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०)। क्रमांक ६७२ से ६८१ तक। जलन्धर-चरित-क्रमांक-६८२। जलन्धर चन्द्रोदय क्रमांक-६८३। जलन्धर ज्ञान सागर-क्रमांक-६८४। जलन्श्रीपाव स्रोतीध (१), (२), (३) क्रमांक—६८५-६८७। नाथ आरती क्रमांक-६८८। नाथ-कीर्तन (१), (२), (३), (४), (५), (६), (७), (८), (९), (१०), (११), (१३) क्रमांक-६८९-७०१ तक नाथ-कीर्तन (१) जीर्ण-शीर्ण। (१५), (१६), (१७), (१८), (१९), (२०), (२१), (२२), (२३), (२४), (२५), क्रमांक-७०२-७१३ तक। नाथ-चरित (१), नाथ चरित्त सारांश (२०), नाथ चरित्र (१९), (१८), (१७) (मैनावती संवाद), (१६), (१५), (१४), (१३), (१२), (११), (१०), (९), (८), (७), (६), (५), (४), (३), (२), क्रमांक-

७१४-७३३ तक। नाथजी का पद (१) (२) नाथ नामावली, नाथजी का पद (४), (६) , नाथजी के दोहे तथा पद (१), (२), नाथजी के दोहे (३), (४), (५), (६) क्रमांक ७३४-७४४ तक। नाथ-पद (३), (५), नाथ पदों की सूची (१), (२), नाथ पन्थों के भेद, नाथ प्रश्नोत्तर, क्रमांक-७४५-७५० तक। नाथ-पुराणा (१) ,(२), (३), (४), नाथ भर्तृहरि संवाद (योग साधना का वर्णन)। क्रमांक-७५१-७५५ तक। नाथ वर्णन (१), (२), (३), (४), (५), (६), (७), (८), (९), (१०), (११), (१२), (१३), (१४), (१५), (१६), (१७), (१५), (१९), (२०), (२१), क्रमांक-७५६-७७६ तक। नाथ स्तुति, दोहा नाराच आदि छन्दों में नाथजी की महिमा का वर्णन। नाथ स्तोत्र, क्रमांक-७७७-७७८ तक। परमार्थ के कवित्त १-१४ क्रमांक ७७८-७९२ तक। परमार्थ के दोहे १-१४ एवं क्रमांक ७९३-८०६ तक। मत्स्येन्द्र-गोरक्ष संवाद क्रमांक ८०७ पर है। इसकी अवधि १९वीं शताब्दी है। इसका आकार २७.५ गुणे १९.५ है। इसमें योग मार्ग का वर्णन है। क्रमांक ८०८ पर मान विचार १९वीं शताब्दी है। इसमें नाथजी की महिमा है। क्रमांक ८०९ पर 'मेघमाला' ग्रन्थ भी ४ खण्ड पूर्ण व ५वाँ अपूर्ण है। क्रमांक ८१०-८२५ पर 'श्रीसरूपों दी कवित्त' (१-१६) है। ये छोटी-छोटी खण्डित रचनाएँ हैं, पर सम्प्रदाय की दृष्टि से सब का महत्त्व है। क्रमांक ८२६-८३९ तक 'श्री स्वरूपां रा दूहा' (१-१४) है। क्रमांक ८२६ में देवनाथजी की महिमा के ४ दोहे हैं। अन्य खण्डों में भी ९ व ४ दोहे हैं। ये रचनाएँ १९वीं शताब्दी की हैं। क्रमांक ८४० पर 'सेवासार' ग्रन्थ है। यह गद्यात्मक है। इसमें नाथजी की सेवा विधि का वर्णन है। महाराजा मानसिंह के साहित्य से भी नाथों के लिए सामग्री मिलती है। उनकी 'षट चक्र' रचनाएँ योग-साधना की विधि है (क्रमांक ९८१)। सिद्ध गाथा, सिद्ध मुक्तफल, सिद्ध सम्प्रदाय, अघोर गायत्री, अजपा गायत्री, अजय पाल शब्दी (१-३) आदि दर्शनीय हैं। गोरखनाथ की अभययात्रा रचना देखने को मिली। अष्टांगयोग अज्ञात रचनाकार की कृति है। गोरखनाथ, गरीबनाथ तथा अन्य नाथ सिद्धों की रचनाएँ देखने को मिलीं। इसके साथ यह ज्ञात हुआ कि अभी तक दुर्लभ नाथ साहित्य प्रचुर मात्रा में अप्रकाशित है। सब की सूचियाँ भी नहीं बन सकी हैं। नाथ-योग और साहित्य के लिए जोधपुर उत्तम केन्द्र है।

मैंने किले के कर्मचारियों से बातें कीं। हस्तलिखित एवं अप्रकाशित ग्रन्थों में सबसे अधिक संख्या रियासती बहियों और अभिलेखों की है। इस भवन में पहले रानियों के मुंशी रहकर उनके गुजारे का हिसाब-किताब बनाते थे। उनके द्वारा किये जाने वाले सार्वजनिक कार्यों को लिखते थे। सब की आय और आचार संहिताएँ निश्चित थीं। इनसे तत्कालीन आर्थिक ढाँचे को समझा जा सकता है।

२९ दिसम्बर, २००० को मैं महामन्दिर के लिए चला। उक्त नाम से एक बड़ा मुहल्ला जोधपुर शहर के उत्तरी हिस्से मण्डोर रोड पर है। पूछता हुआ मैं महामन्दिर गया। विशाल भवन, पर बेमरम्मत, वह मध्यकालीन स्थापत्य कला का वैभव सँजोये हुए है। महाराजा मानसिंह ने उसको बनवाया था। वहाँ जालन्धरनाथ की गद्दी है। चारों ओर बरामदे और कोठरियाँ हैं। आज सब उखड़ी-पुखड़ी हालत में हैं। मुख्य द्वार पर राजकीय माध्यमिक विद्यालय का बोर्ड है। चारों ओर के भवनों में विद्यालय चलता है। आँगन में पत्थर की पट्टियाँ जीर्ण दशा में हैं। मध्य में एक भव्य मन्दिर है—जिसमें जालन्धर नाथ की गद्दी है। उस पर सफेद संगमरमर की छोटी सी मूर्ति और खड़ाऊँ है। उसी की सेवा-पूजा चलती है। मन्दिर की

भीतरी दीवालों पर नाथों के रंगीन चित्र बने हुए हैं। उनके रंग उखड़ रहे हैं। वहीं एक नाथजी (पुजारी) मिले। उस समय उन्हीं को पीठाधीश्वर समझना चाहिए। नाथ-साहित्य के नाम पर वहाँ अब कुछ नहीं है। पुजारीजी ने बताया कि यहाँ की सम्पूर्ण सामग्री किले में जा चुकी है। उन्होंने आर्थिक विपन्नता की कथा भी कही, ''पहले इस मन्दिर में गाँव लगे थे। जमींदारी टूटने से सब चले गये। वर्तमान राजभवन से कोई मदद मिलती नहीं, मैं सेवा-पूजा व अपना व्ययभार नहीं चला पा रहा हूँ।'' परन्तु शहर के लोगों से कुछ भिन्न बातें ज्ञात हुईं, ''मन्दिर के, चन्दन के दरवाजे, साज-शृंगार के सामान, आभूषण, सोने-चाँदी थे, पात्र अलंकरण सामग्री, कीमती वस्त्र आदि सब मन्दिर के प्रभारियों ने बेच डाले। पतन के लिए ये स्वयं जिम्मेदार हैं। इनमें ज्ञान, वैराग्य व साधना कुछ नहीं है, नहीं तो यह मन्दिर पर्यटन का प्रमुख केन्द्र होता।''

सामने की दालान में दरी बिछी थी। उसी के सिरहाने पर कक्षा १० को पढ़ाये जाने का श्यामपट्ट स्टैण्ड पर लगा था। देखकर दुःख हुआ। वह सेवा-पूजा व दर्शनार्थियों का स्थान है—उसको खाली रहना चाहिए था। राजा मान सिंह के समय में इसकी चरमोन्नति थी। देश भर के नाथ व साधु यहाँ शरण लिया करते थे, आतिथ्य ग्रहण करते थे। जोधपुर नाथों का गढ़ था। नाथों से सम्बन्धित अनेक किंवदन्तियाँ भी सुनने को मिलीं—

(१) इस रियासत पर नाथों की बड़ी कृपा थी। वे जैसा चाहते थे, वैसा ही राजा लोग करते थे। चिड़ियानाथ को परेशान किया था, जिन्होंने राजस्थान में प्रायः अकाल पड़ने व अवर्षण के लिए अभिशाप दिया था।

(२) शायद चिड़िया नाथ ने ही शाप दिया था कि नाती (पौत्र) के आने पर बाबा चल बसेंगे। यह व्यावहारिक सत्य भी है। इसी से यहाँ राजकुमार का विवाह विलम्ब से होता है।

(३) रियासत के पतन का कारण भी लोग नाथों का असन्तोष बताते हैं।

महामन्दिर के आँगन में स्थित चबूतरे पर मैं वर्तमान अधिकारी के साथ धूप में कुछ देर तक बैठा रहा—फिर खिन्न मन से बाहर हुआ। ऐसा लगा कि आज का दिन ही बेकार हो गया। बाहर मण्डोर रोड पर आने पर लोगों ने बताया कि मण्डोर में आपको कुछ काम की चीजें मिल सकती हैं। आज वह भी पर्यटक स्थली है। मैं वहाँ भी गया। 'नाम बड़ा और दर्शन थोड़ा' की कहावत चरितार्थ हुई। सब कुछ व्यावसायिक रूप में बदल गया है। मेरे काम की चीज मिली देवी-देवताओं और महाराजाओं के चित्र जिनमें शिव जी के साथ बैठे हुए मत्स्येन्द्र और गोरख। मूर्तियाँ अच्छी और अखण्डित हैं। अन्य शिव मन्दिर व कृष्ण मन्दिर मिले। जोधपुर के पूर्व मारवाड़ की राजधानी मंडोर ही थी। अभी तक प्राचीन किले की बुनियाद है। विशाल शिव मन्दिर जैसे नागर शैली के भवन हैं, बीच-बीच में समाधियाँ हैं। प्रवेश-स्थल पर राजा का नाम, जन्मकाल, राज्यारोहण काल, राज्यकाल और मृत्युकाल लिखा हुआ है। शिल्पगत सौन्दर्य व कला है। कुछ लोग तो लाहौर तथा अन्य दूरवर्ती स्थानों में स्वर्गवासी हुए हैं, उनकी स्मृति में समाधि है। कुछ झीलें भी हैं।

मण्डोर के सम्बन्ध में जनश्रुति है कि यहीं रावण की प्रधान रानी मन्दोदरी थी। रावण यहाँ आया करता था। रावण भी तो महाशैव था। मन्दोदरी की अनेक कथाएँ भी क्षेत्र में प्रचलित हैं। निष्कर्ष में स्थान ऐतिहासिक है। उसका अतीत अपना विशेष महत्त्व रखता है।

सूर्यनगरी जोधपुर के संस्थापक राव जोधाजी ने नाथ सिद्ध चिड़ियानाथजी की कृपा से ही वर्तमान जोधपुर नगर बसाया। दुर्ग बनवाया था। जोधपुर दुर्ग में सिद्ध चिड़ियानाथ की धूनी, गुफा व आश्रम दर्शनीय हैं। राव जोधा के सभी वंशज जोधपुर के महाराजा नाथ भक्त होते आए हैं, परन्तु महाराजा मानसिंह (१८०३ ई. से १८४३ ई. तक) का राज्य काल तो नाथों का स्वर्णकाल कहलाता है। महाराजा मानसिंह १८०५ ई. में नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। जालोर से आए आयस देवनाथजी उनके राजगुरु बने। 'हकीकतबही जोधपुर' में उल्लेख है कि ९ अप्रैल, १८०४ को महामन्दिर (नाथ आश्रम) का निर्माण आरम्भ करवाया, ४ फरवरी, १८०५ ई. को बनकर तैयार हुआ, उसकी भव्य प्राण-प्रतिष्ठा की गयी। इसी प्रकार उन्होंने नाथजी का एक निजमन्दिर गुलाब सागर के तट पर बनवाया। सोजती गेट (जोधपुर) के बाहर ८४ सिद्धों व नव नाथों के मन्दिर बनवाये। सारे मारवाड़ राज्य में मठ-मन्दिर बनवाये। उनके पुस्तक प्रकाश संग्रहालय में लगभग १८००० नाथ सम्प्रदाय की पुस्तकें संगृहीत थीं। जोधपुर का महामन्दिर तो दर्शनीय है ही, अन्य भी जालन्धर नाथ की चरण पादुका, उदय मन्दिर, नवलनाथ का नवलेश्वर मठ, नाथ हवेली आदि दर्शनीय हैं। जोधपुर के पास पलासनी ग्राम में सिद्ध चिड़ियानाथजी का ऐतिहासिक आसन, सरोवर व धूनी दर्शनीय है। कोलायत में चौरासी सिद्धों का स्थान, मोतीनाथजी का मेषवारपन्थ का दलीचा व सिद्ध प्रतापनाथजी की जीवित समाधि स्थली दर्शनीय है। फलौदी में नाथजी का आसन है। शेरगढ़ तहसील में राता भाप्वर (बालकेवर) और सेंकाला में श्रीनाथजी के प्राचीन मन्दिर हैं। वाडमेर जिले के भाडख गाँव में सिद्ध जरनाथजी का प्रसिद्ध मठ व समाधि दर्शनीय है।

१८०० ई. के लगभग जोधपुर के राजपुत्र युवराज मानसिंह निर्वासित काल में इस दुर्ग में ठहरे हुए थे। दुर्ग में स्थित नाथ मन्दिर के महन्त आयस देवनाथजी मानसिंह के जोधपुर के महाराज बनने की भविष्यवाणी की और ऐसा ही हुआ। महाराजा भीमसिंह की आकस्मिक मृत्यु हो जाने से मानसिंह का राज्याभिषेक हुआ। मानसिंहजी नाथ-भक्त थे। उन्होंने अपना राजगुरु आयस देवनाथजी को बनाया। कई जागीरें दीं। कई मठ-मन्दिर बनवाये। वे आज भी किसी-न-किसी रूप में हैं। जालोर के शिखर पर श्रीमन्दिर (सिरेह मन्दिर) का निर्माण उन्होंने कराया। सम्वत् १६७५ के आस-पास ही भर्तृहरि वैराग्य पन्थ के पीठ राता ढूंढा (पुष्कर) के सिद्ध योगी सुआनाथजी भी इसी पर्वत पर तपःलीन थे। उनकी परम्परा के योगियों ने इस जालन्धर पीठ, सिरेह मन्दिर आदि स्थलों की मर्यादा बनाये रखी है। नाथों का श्री भैरवनाथ अखाड़ा जो जालोर तिलक द्वार के अन्दर स्थित है, एक दर्शनीय लोकतीर्थ बन गया है। सिरेह मन्दिर पर प्रतिवर्ष श्रावण की अमावस्या (हरियाली) पर बहुत बड़ा मेला लगता है। जालोर क्षेत्र के सभी गाँवों में नाथजी के देवरा (चबूतरा) बने हुए हैं। नाथजी यहाँ के लोकदेवता हैं। जोधपुर से जालोर बस व रेल-सेवा उपलब्ध है।

जोधपुर नरेश मानसिंह नाथ योगियों के परम भक्त थे, परन्तु एक बार किसी सिद्ध फकीर के चामत्कारिक बहकावे में आकर समस्त भेषधारियों (भगवा धारण करने वाले समस्त योगी, गोस्वामी, साधु-सन्तों) को कैद कर अनाज पीसने की चक्की चलाने की सजा दी। दारुण दुःख से दुःखी योगियों ने दरबार के एक राईका को छिपकर भाडखा के योगेश्वर चम्पानाथ की शरण में भेजा। राईका ऊँटनी पर

सवार होकर शिव नगर के समीप की गुफा में पहुँचा, जहाँ योगेश्वर तपस्या कर रहे थे। राईका ने योगेश्वर को समस्त जानकारी दी। योगेश्वर ने कहा कि तुम चलो, मैं सुबह आ जाऊँगा। दूसरे दिन योगीराज चम्पानाथ योगबल से यथासमय जोधपुर पहुँच गये। उन्होंने नाथों को जाकर देखा और कहा कि चक्की बन्द करो। चम्पानाथ ने दादागुरु पूज्य योगेश्वर जरनाथ की चुटिया लेकर (जो चुटिया जैसलमेर से समाधि-पत्थरों को ठरका देकर लाई थी) उसी से चक्कियों को ठरका दिया तो सभी चक्कियाँ अपने आप चलने लगीं। दरबार लगा। मुसलमान फकीर ने भरे दरबार में अपने सिर की टोपी को चमत्कार से आकाश में उड़ाया। टोपी सीधी आकाश में ऊँचाई की ओर चक्कर लगाती हुई बढ़ रही थी तब फकीर ने कहा कि यदि तुम सिद्ध पुरुष हो तो मेरी टोपी को उतारो। तब सिद्ध योगेश्वर चम्पानाथ ने पैरों की खड़ाउँ को कहा कि इस फकीर की टोपी को पीटते हुए नीचे लाओ। खड़ाऊँ ने ऊपर पहुँचकर उसे पीटते हुए फकीर के सिर पर पटक दिया और फकीर ने चम्पानाथ से क्षमा माँगी और कहा कि आपकी करनी ऊँची है, मैं आपको गुरु मानता हूँ, मुझे क्षमा करें। फकीर वहाँ से चलता बना। महाराजा मानसिंह ने क्षमा-याचना और चम्पानाथ योगेश्वर की वन्दना की।

जोधपुर नरेश मानसिंह योगीराज चम्पानाथ के चमत्कार व योग शक्ति से प्रभावित हुए और उन्हें भाडखा की जागीर सम्मानपूर्वक प्रदान की तथा नाथ सम्प्रदाय के मठ के निर्माण के लिए कई सहस्र मुद्राएँ भेंट कीं। मठ हेतु उन्होंने कई घोड़े दिये। एक गाँव राजौतड़ा का आधा भाग, सोने की दो कंठियाँ, कानों के कुण्डल (दर्शन) आदि भेंट दिये। भाडखा मठ में राजा मानसिंह प्रदत्त कड़ा व दर्शन उपलब्ध हैं। राजपूताने के इतिहास में राजा मानसिंह (जोधपुर) के काल में नाथों को सर्वाधिक महत्त्व मिला। जोधपुर का महामन्दिर ठिकाना व भाडखानाथ मठ आज भी उसके जीवन्त प्रमाण हैं। जोधपुर शहर में महामन्दिर मुहल्ला है। उसके सात द्वार हैं जो महामन्दिर के वैभव को प्रमाणित करते हैं। नाथ सिद्धान्त के तत्त्वज्ञ महाराजा मानसिंह गरीबनाथ के मठ-मन्दिर (शिव वाड़मेर) भ्रमण के लिए जाया करते थे। उन्होंने यहाँ मानसरोवर (सागर) बनवाया था।

भवानी सिंहजी महाराज ने विक्रम सम्वत् १९२१ में सिरे मन्दिर में समाधि ली। भवानीनाथजी महाराज के शिष्य भेरूनाथजी महाराज का जन्म, गाँव वाणनी (आहोर) में खाती (सुथार) परिवार में हुआ। वैराग्य उत्पन्न होने पर सं. १९१५ में सिरे मन्दिर आकर भेष लिया। जालोर शहर में सम्वत् १९४४ में अखाड़ा स्थापित किया जो आज भी भेरूनाथ का अखाड़ा के नाम से प्रसिद्ध है।

जोधपुर के इतिहास में नाथों की बड़ी प्रतिष्ठा है। चौहानों के उपरान्त जालौर पर राठौड़ वंश का राज्य रहा। मानसिंहजी और भीमसिंहजी काका भाई थे। दोनों में जागीर सम्बन्धी आपसी विवाद था। भीम सिंह के पास सैन्य शक्ति अधिक थी। विक्रम सम्वत् १८६० में मानसिंहजी अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने के लिए जोधपुर से जालोर दुर्ग पर आए व स्वर्णागिरि दुर्ग पर स्थित श्री जालन्धरनाथजी के मन्दिर में आराधना में लीन हो गये। उसी समय कंचनगिरि पर्वत पर श्री जालन्धरनाथजी महाराज ने एक रेवारी को दर्शन दिये तथा कहा कि किले पर मानसिंह हैं, जाकर कहना कि तीन दिन तक किले पर ठहरना है, तीसरे दिन जोधपुर से बुलावा आएगा व राजगद्दी प्राप्त होगी। रेवारी ने जालोर में नाथजी के पुजारी देवनाथजी

को वृत्तान्त सुनाया, देवनाथजी ने किले पर जाकर जालन्धर नाथजी के वचन मानसिंहजी को सुनाये। तीसरे दिन जोधपुर से समाचार आया कि भीमसिंह की मृत्यु हो जाने से जोधपुर के उत्तराधिकारी मानसिंहजी हैं। वहाँ से मानसिंह ने पर्वत पर जाकर जालन्धरनाथजी के साक्षात् दर्शन कर उनको अपना इष्टदेव माना। तदुपरान्त उन्होंने जोधपुर के किले के लिए प्रस्थान किया। श्रीमानसिंहजी मारवाड़ में राजकार्य करने के पहले 'श्री जालन्धरनाथजी छाय छै' कहते थे। उन्होंने श्रीनाथजी की चरण पादुका को राजचिह्न का दर्जा दिया। मानसिंह ने देवनाथजी को अपना गुरु स्वीकार किया। देवनाथजी को राजगुरु मानकर वे जोधपुर ले गये व महामन्दिर स्थान बनवाकर उसमें १२ गाँव की जागीर लगा दी। उदयनाथजी को ६ गाँव की जागीर देकर उदय मन्दिर (जोधपुर) बनवाया और ७-७ गाँव की जागीर देकर कोट का स्थान (भीनमाल तहसील में) जालोर जिले में भीमनाथ को दिया। एक गाँव उन्होंने ओपनाथजी को जालोर जिले में (गोल गाँव) दिया और हरनाथजी को जालोर शहर में ७ गाँव की जागीर देकर जालोर आसन बनवाया। कन्यागिरि पर्वत पर सिरे मन्दिर, महलात, झालरा, मान सरोवर बावड़ी, चन्दन कुआँ व परकोटा बनवाया। जब सिरे मन्दिर का निर्माण कार्य चलता था तब मानसिंह स्वयं सिरेमन्दिर जालन्धरनाथजी के दर्शनार्थ आते थे। श्रीमानसिंहजी को इसी पहाड़ पर एक परम सिद्ध महात्मा श्री सुआनाथजी का दर्शन हुआ। महात्मा जी की आयु लगभग ३०० वर्ष की थी। श्री सुआनाथजी महाराज भर्तृहरि के वैराग्य पन्थ के महात्मा योगी थे, जिनका गुरु स्थान राता ढूढ़ा (नागौर) था। सम्वत् १७२५ में श्री सुआनाथजी महाराज कन्यागिरि पर्वत पर आए थे। वे इसी पर्वत में तपस्या करते थे। श्री सुआनाथ महाराज की समाधि सिरे मन्दिर पर है। सुआनाथ महाराज के शिष्य श्री भवानीनाथजी महाराज थे, सुआनाथजी की तरह भवानीनाथ भी त्यागी तथा तपस्वी महात्मा थे।

३० दिसम्बर २००० ई. को मैं पुष्कर नाथजी के पास गया। वे नाथ चरित्र पढ़ रहे थे। वे निवृत्त मार्गी ब्रह्मचारी साधु हैं, जो माँ की सेवा के लिए अपने घर स्वाध्याय व सत्संग किया करते हैं। पहले वे नवलेश्वर मठ में रहा करते थे। उन्होंने मठ की कथा भी कही। आजकल विद्वानों की उपेक्षा का एक उदाहरण मुझको और मिला। उनसे मिलने के उपरान्त मैं डॉ. बृजेश सिंह के घर गया। वे राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान जोधपुर के उपनिदेशक हैं। उनके साथ मैं संस्थान गया। कुछ कर्मचारियों के न होने पर भी मुझको पर्याप्त सामग्री मिली। सब कुछ देखने और पढ़ने को मिला। मैं ४ बजे तक पाण्डुलिपियों को पढ़ता रहा। वहीं से मुझको सोपानी शोध संस्थान और वहाँ के नाथ साहित्य का भी पता चला। मुझको संस्थान के लिए समय का अभाव खला। लोगों का सहयोग सराहनीय रहा। सायं मैं नाथ साहित्य के लिए शहर में स्थित राजस्थान ग्रन्थागार भी गया, पर वहाँ की ३-४ पुस्तकें मेरे पास पूर्व से ही हैं। रात को मैं राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार स्व. जगदीश सिंह गहलौत के घर गया। उनके पुत्र सुखवीर सिंह से मिला। उनकी उम्र ८० वर्ष की है। उन्होंने अपनी लिखी हुई पुस्तकों को देखने के लिए दिया पर वे मेरे उपयोग की न हो सकीं। उनसे की गयी वार्ता ही मेरी यात्रा की उद्द्देश्यपूर्ति में सहायक सिद्ध हो सकी।

प्राच्य विद्या संस्थान में पठित पुस्तकों का विवरण इस प्रकार है—गोरखनाथजी का गूंप्यलिशिन्ता। अथ ग्रन्थ दत्त गुष्टित्तिषन्ति। गोरषौवाच पृ. १८५-१८८। यह संवादशैली में गोरख-दत्त संवाद है। प्रश्न गोरख ने किया है, उत्तर दत्तजी ने दिया है। पठित गुटका संख्या १४०६८। १४३८ संख्या में जोगेश्वरी वाणी

मिली इसका जोगेश्वरी वाणी मांडी नरवैबोध ग्रन्थ जोग को पढ़ा। इसमें गोरखनाथ के विचार गुरु और योग के सम्बन्ध में है। कायानगरी का वर्णन है। इसमें गोरख ने अपने को मछिन्द्रनाथ का पूता कहा है। माया की व्यर्थता, काया साधना, अजपा जाप, त्रिवेणी की घाटी का वर्णन मिला। भरथरीजी का पद, गोपीचन्द का पद, काणेरीपादजी का पद, गोरखनाथजी की साखी, सबदी (प्रकाशित) तथा जलबिम्ब की काया को पढ़ा। मुसलमान षुदाई की बातें सब्दी ११० में हैं। मुगल काल की बातें हैं। इसका लिपिकाल कालान्तर का है। इनके अतिरिक्त अधोलिखित सबदियों को मैंने पढ़ा—भरथरी की सबदी, बालनाथजी की सबदी, देवलजी की सबदी, दत्तजी की सबदी। जोगेश्वरी वाणी सम्पूरण अन्त में लिखा है। इसका लिपि काल १८१० सम्वत् है। इसी में लिखा है—रामजी सत्य। अथ सुन्दर दासजी का सनदी। मांडवा प्रथम गुरुदेव को अंग लिषितं।

□

नाथयोगियों का भारतीय अध्यात्म पर प्रभाव

—डॉ. कन्हैया सिंह

गुरु गोरखनाथ का अवतरण उस काल में हुआ जब भारतीय संस्कृति, समाज और धर्म एक संकट के दौर से गुजर रहा था। नौवीं सदी में सामान्यतः विद्वानों ने गोरखनाथ का होना स्वीकार किया है। इसके पूर्व भारत में बौद्धमत अपने सर्वसमावेशी आचरण तथा राजाश्रय के प्रभाव से सम्पूर्ण उत्तर भारत से लेकर दक्षिण-पश्चिम एशिया के ईरान, अफगानिस्तान; दक्षिण में श्रीलंका और पूर्वी देशों ब्रह्मा, तिब्बत, चीन, मंगोलिया, पूर्वीद्वीप समूह तक प्रसार पा चुका था। पर आगे चलकर बौद्धों के हीनयान और महायान में विभाजन और महायान के मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान में परिणत होकर बिखराव की स्थितियाँ भी आईं। उस समय इसलाम का प्रवेश भी भारत में हो चुका था। इसके साथ टकराव की, प्राचीन ब्राह्मण धर्म अपनी शक्ति खो चुका था। शंकराचार्य ने वेदान्त का प्रचार कर हिन्दू एकता को सैद्धान्तिक स्तर पर बचाने का प्रयास किया तो व्यावहारिक रूप से चार आश्रमों और चौंसठ पीठों की स्थापना करके उन्हें एकता के सूत्र में जोड़ने का बड़ा काम किया। पर वैदिक कर्मकाण्ड, पशुबलि, छुआछूत, पाखण्ड आदि के जिस विरोध में बौद्धधर्म ने जड़ जमायी थी, उसी बौद्ध धर्म के नागार्जुन आदि शून्यवादियों के अनुसार उन्होंने भी अपना तर्कशास्त्र निर्मित किया था। अतः उन पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप भी कर्मकाण्डी पण्डितों ने लगाया। पद्मपुराण के कुछ श्लोक 'सांख्य प्रवचन भाष्य' में उद्धृत है। जिसमें शिवजी पार्वती से कहते हैं—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेवच।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मण रुपिणा॥

आगे चलकर शंकराचार्य के मत का खण्डन रामानुज, मध्व, वल्लभ, रामानन्द, चैतन्य आदि आचार्यों ने किया। उनके वेदान्त पर व्यंग्य करते हुए रामानुज के 'वेदान्त भाष्य' की श्रुति प्रकाशिका टीका में परांकुरा दास लिखते हैं—

वेदोऽनृतः बुद्धकृतागमोऽनृतः।
प्रमाणमेंतस्य च तस्य चानृतम्।
बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते,
यूयं च बौद्धाश्च समान संसद्॥

शंकरानुयायियों! तुम्हारे लिए वेद असत्य है, बौद्ध आगम भी असत् है। वेद और बौद्धागमों का प्रमाण भी असत् है। तुम दोनों (शंकर और बौद्ध) के लिए बौद्धा (यानी ज्ञाता=जीव) असत् है। बुद्धि और उसका फल भी असत् है। अत: तुम और बौद्ध दोनों भाई-भाई हो। इसी परस्पर विवाद के युग में बौद्धमतान्तर्गत वज्रयानी-सहज सिद्धों ने सर्वसमाज में समता, पाखण्ड-विरोध और सहज साधना प्रचार किया जिनका आधार किसी-न-किसी रूप में पतञ्जलि का योग सूत्र था।

सातवीं शताब्दी के सरहपा, लुईपा, मसुकपा आदि सिद्धों की रचनाओं में जो तत्त्वानुसन्धान, सामाजिक ऐक्य और श्रेष्ठ आचरण के साथ ही शरीर प्राण, मन की एकाग्र साधना का श्रेष्ठ रूप मिलता है, वही आगे चलकर शैव और शाक्त साधकों के विभिन्न सम्प्रदायों में भोग-विलास का विकृत रूप धारण कर लेते हैं। जैन धर्मी सन्तों में भी ये प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं।

गोरखनाथ के काल के कुछ आगे-पीछे की साहित्यिक कृतियों में तान्त्रिकों-कापालिकों के जो उल्लेख मिलते हैं, वे इस बात को सिद्ध करते हैं कि साधना-पन्थों में कई पन्थ वामाचार-यौनाचार से ग्रस्त होकर विलासिता के केन्द्र हो गये थे। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बताया है कि दसवीं शताब्दी के आस-पास की दो रचनाएँ—'प्रबोध चन्द्रोदय', नाटक और पुष्पदन्त के 'महापुरुष' में ऐसे ही उल्लेख हैं। प्रबोध चन्द्रोदय में सोमसिद्धान्त नामक कापालिक मद्यपान करते हैं और स्त्रियों के साथ उन्मुक्त विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। राजशेखर कृत 'कर्पूरमंजरी' नाटक में एक कथन है—

मन्तो न तन्तो राअ किं पिजाणं,
मज्जं पिवाभों महिंलं रमाओं
मोक्खं च जामों कुलग्गलग्गा।

'महापुराण' में भी कापालिकों-कौलाचार्यों के मद्यपान के उल्लेख हैं। आगे चलकर पन्द्रहवीं सदी के हिन्दी के कवि गोस्वामी तुलसीदास ने योगी और सिद्धों के वेश और खाद्याखाद्य पर प्रहार करते हुए लिखा—

असुभ वेस भूषन धरे भच्छा भच्छ जे खांहि।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज ते कलिजुग माहि॥

इन वाममार्गी साधकों का तो दावा ही था—

मद्यं मांस च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पंच मकाराहि मोक्षदाहि युगे युगे॥

एक और उल्लेख जैन दार्शनिकों की भोगपरक परिणति का 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक जैन संग्रह ग्रन्थ में है। स्त्री-पुरुष के जोड़े एक नील वस्त्र में शरीर से लिपटे रहते थे। ऐसे ही एक जोड़े से राजा भोज की एक कन्या ने प्रश्न किया जिस पर 'दर्शनी' ने वामलोचना से कहा—

पिब खाद च वामलोचने यदतीतं वरगाति तन्नते।
नहि भीरुगतं निवर्तते समुदय मात्रमिदं कलेवरम्॥ (पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. ९८)

यह नीलाम्बर सम्प्रदाय कहा गया है। राजा भोज को यह जानकारी हुई तो इस सम्प्रदाय का उच्छेद

किया गया। इसी प्रकार के एक बिरिजिय (वज्रयानी) नील वस्त्र वाले सम्प्रदाय का उल्लेख महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने सिंहल (लंका) के निकाय-संग्रह से ढूँढ़ निकाला। 'गंगा' पुरातत्त्व अंक में उन्होंने बताया कि राजामृतबल (८४६-८६६ ई.) लंका का राजा था। उस समय समयवज्र पर्वत निकाय एक भिक्षु सिंहल में आया और बीसंकुर बिहार में रहने लगा। उसके प्रभाव में आकर राजा ने बिरिजिय (वज्रयानी) मत स्वीकार कर लिया; अत: बचे रहे। राजा कुमारदास के समय में (वे श्रीहर्ष के समय में थे) सम्मितीय निकाय का एक भिक्खु नीलावस्त्र पहनकर एक वेश्या के घर गया। आने पर अन्य भिक्षुओं के पूछने पर उसने नील वस्त्र की बड़ी महिमा बताई। तभी से उसके शिष्य नीला वस्त्र पहनने लगे। 'नीलपट दर्शन' में कहा गया है कि वास्तव में तीन ही रत्न हैं, वेश्या, सुरा और सम्भोग। बाकी सब काँच के टुकड़े हैं। (द्विवेदी मध्यकालीन धर्म सम्पन्न १९६२, पृ. २९) साधना-मार्ग की तो यह दशा थी। चार्वाकों, लोकायतनों आदि के (खाओ, पीओ, मौज करो) की कथा बड़ी लम्बी है। गोरखनाथ के पूर्व इनका भी काफी प्रभाव हो चुका था।

विद्वानों ने प्रमाण से सिद्ध किया है कि मत्स्येन्द्रनाथ स्वयं पहले कौल कापालिक मत के थे। गोरखनाथ के सम्पर्क से वे नाथ सम्प्रदाय में आए। जालन्धरपाद, कान्हपाद या कृष्णपाद भी वज्रयान से सम्बन्धित थे। पर गुरु गोरखनाथ ने इन सभी को अपने नाथपन्थ या सिद्धमत में सम्मिलित कर लिया। वज्रयानियों की साधना में कुछ प्रतीकों और उलटवासियों को ठीक से न समझने के कारण सामान्य साधकों ने उसका सीधा अर्थग्रहण किया और साधना में विकृतियाँ आ गईं। अनंगवज्र के एक दोहे में आया है कि साधना मार्ग में प्रदत्त होने में ऐसा करना चाहिए क्योंकि मन क्षुब्ध होने की सम्भावना भी बनी रहती है। अत: समस्त कामनाओं का उपयोग किया जाए तभी मन क्षुब्ध नहीं होगा और सिद्धि प्राप्त होगी। ऐसे ही तर्कों से संयोग योग-साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ। जालन्धरपाद, कृष्णपाद आदि कामनाओं को मारने और अवधूती (सुषुम्ना) की साधना से सिद्धि के पक्षधर लगते हैं, पर उनके प्रतीकों की व्याख्या भोगवादियों ने अपने ढंग से की। अवधूती नाड़ी को डोम्बी या डोमिन भी कहते हैं और चंचल चित्त ब्राह्मण है। चित्त अवधूती जागरण से वैसे ही भागता है जैसे ब्राह्मण अछूत डोमिन से भागता है। इसी प्रतीक से कृष्णपाद डोमिन के साथ संग करने जैसी बातें कहते हैं। इसी काल-खण्ड में शाक्त तान्त्रिकों और कुछ शैव तन्त्रादि में त्रिपुर सुन्दरी की उपासना का विधान प्रचलित हो गया था। इसमें 'महासुख' के प्रतीक 'युगनद्धभाव' अर्थात् नारी-पुरुष से आबद्ध युग्य को सीधे भोग के अर्थ में लेकर भैरवी-सिद्धि की साधना प्रचलित हुई। भैरवी के संयोग के साथ मदिरापान भी प्रचलित हो गया था। यह सारी उथल-पुथल साधना के क्षेत्र में आ गई थी। ज्ञान का क्षेत्र विवाद का अखाड़ा बना था और कर्मकाण्ड पाखण्ड ढोंग, अस्पृश्यता, बलि और जन-शोषण का हथियार बन गया था।

यह एक ऐसा समय था जो इतिहास का शून्य प्रहर कहा जा सकता है। राजनीति में छोटे-छोटे राजे युद्ध और भोग-विलास में व्यस्त थे। सीमापार से तुर्कों के आक्रमण हो रहे थे। विलासप्रिय राजाओं की तन्द्रा ऐसी थी कि मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय जब पृथ्वीराज चौहान संयोगिता के राजनिवास में केलि-क्रीड़ा में व्यस्त था तो चन्दवरदायी कवि को पत्र पर लिख भेजना पड़ा—

'तुव गोरी अनुरक्त है, तुझ गोरी अनुरक्त'

अर्थात् तुम गोरी के प्रेम में अनुरक्त हो और तुम पर या तुम्हारे राज पर मुहम्मद गोरी अनुरक्त है। धर्मध्वजियों का खण्डन-मण्डन प्रधान निरर्थक वैचारिक युद्ध, शोषण-ठगी, कामुकता, धन-लोलुपता ने एक ऐसा दृश्य उपस्थित किया था कि तुलसी के शब्दों में पाखण्ड विवाद से सद्ग्रन्थ लुप्त हो रहे थे और इतने मत-मतान्तर थे कि उन्हें कहना पड़ा था—

बहु मत बहु मुनि पन्थ पुरानन जहाँ तहां झगरों सो।

यह स्थिति नवीं-दशवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गई थीं। बुद्ध का श्रेष्ठ विचार वज्रयानी गुह्य साधना में परिणत हुआ। पतञ्जलि का योग सूत्र कौल कापालिकों के पंच मकार साधन में बदला। धर्म, दर्शन अध्यात्म के क्षेत्र में वैदिक मत रूढ़ि और असमानता के पोषक बने थे और अवैदिक मत काया-पोषण और भोग में लीन हो गये तो दिव्य काया से मंडित, प्रभापूर्ण चैतन्ययुक्त महायोगी गोरखनाथ का अवतरण हुआ।

गोरखनाथ कौन थे, कब, कहाँ, किस जाति में जन्मे थे। इसे विचार करने से लाभ नहीं है। वे एक ऐसे महान् युगद्रष्टा युगप्रवर्तक महापुरुष थे जिनकी सिद्धियों की चर्चा आसेतु हिमांचल सर्वप्रदेशों में किस्से-कहानियों के रूप में इतनी प्रचलित है और इतनी आश्चर्यजनक हैं कि लगता है गोरखनाथ कोई हाड़-मांस के व्यक्ति नहीं एक अलौकिक शक्ति या पौराणिक पुरुष थे। कहा जाता है कि शंकराचार्य के पश्चात् उनके समान दूसरा लोकप्रसिद्ध महापुरुष कोई नहीं हुआ। मुझे तो लगता है कि बुद्ध के बाद गोरखनाथ ही लोकनायक की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके। शंकराचार्य अभिजात वर्ग के नेता थे। वे शिक्षित और संस्कृत समाज के पथ प्रदर्शक और पतनशील बौद्ध परम्पराओं पर अपने स्तर से लोहा लेकर अपने अद्वैत के अस्त्र से मूल सांस्कृतिक प्रवाह को सुरक्षित करने वाले महापुरुष अवश्य थे। पर बुद्ध की भाँति भूमिजात और दलित, शासक और शासित, सम्पन्न और विपन्न सबके नेता नहीं थे। गोरखनाथ भी बुद्ध की भाँति सर्वसमाज के नेता और पथ प्रदर्शक थे। नेपाल, राजस्थान, गुजरात के राजवंशों से लेकर अछूत और अन्त्यज कहे जाने वाले वर्ग की झोपड़ियों तक गोरख का डंका बजा था। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्दाचार्य आदि आचार्यों की भक्ति धारा गोरखनाथ के योग के प्रभाव के आगे धूमिल पड़ गयी थी। यदि ऐसा न होता तो तुलसीदास को यह स्वीकारोक्ति न करनी पड़ती—

बरन धरम गयो आश्रम निवास तज्यों,
त्रासन चकित सो परावनों परो सो है।
करम उपासना, कुबसना बिनास्यों ज्ञान,
बचन विराग वेश जगत हरो सो है।
गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग?
निगम-नियोग ते सो कलि ही छरो सो है।
काय मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि,
रामनाम को भरोसो, ताहि को भरोसो है॥ (कविता. उत्तर ८४)

सूरदास को भी सबसे बड़ा भक्ति को खतरा योग से लग रहा था। सूरदास ही क्यों, सारे कृष्ण भक्त कवियों को यह संकट सता रहा था। नन्ददास आदि सभी ने 'भ्रमरगीत' लिखा जिसका अर्थ ही था कि उद्धव और गोपियों में बहस कराई जाए कि योग अच्छा है कि भक्ति। और योग को हराकर भक्ति की जीत दिखाने का प्रयास हुआ। यह १४वीं-१५वीं शताब्दी की बात है जबकि गोरखनाथ का काल ९वीं-१०वीं सदी से निश्चित पूर्व का है। ५०० वर्ष पश्चात् तक गोरख का डंका बज रहा था और आज भी वह किसी-न-किसी रूप में बज रहा है।

नाथ योग का दर्शन—नाथ योग वस्तुतः योग दर्शन का ही एक नया रूप है। षड्दर्शन में सांख्य और योग का युग्म है। सांख्य पुरुष और प्रकृति दो प्रधान तत्त्वों से सृष्टि का विकास मानता है और योग में भी शिव और शक्ति दो प्रधान तत्त्व हैं। वज्रयानियों में ये प्रज्ञा और उपाय कहे गये हैं। सांख्य दर्शन ईश्वर की चर्चा नहीं करता और योग ईश्वर को स्वीकारता है। अतः इसे सेश्वर सांख्य कहा गया है। तात्त्विक दृष्टि से इन दोनों में अन्य कोई अन्तर नहीं है। योग वस्तुतः क्रियात्मक दर्शन है। यह साधना का विषय है, अनुभव का विषय है। पतञ्जलि के योगभाष्य के आधार पर ही बौद्ध परम्परा के वज्रयानी-सहजयानी सम्प्रदाय में साधना का प्रचलन हुआ और वही आधार नाथपन्थ का भी था।

वैचारिक या दार्शनिक दृष्टि से इस पन्थ में पिण्ड और ब्रह्माण्ड को एक समान कहा गया—जो पिण्डे सो बह्मांडे अर्थात् जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। इसलिए स्व-पिण्ड को जानना और उसी की साधना तथा सिद्धि से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जाना जा सकता है और सारे ब्रह्माण्ड की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। दूसरी बात इस पन्थ की है कि जगत का मूल चेतन तत्त्व शिव है, शक्ति उसकी भेदात्मक अथवा क्रियात्मक शक्ति है। शिव तत्त्व आत्मतत्त्व है। और शक्ति उससे अभिन्न है। संसार शक्ति की ही क्रियात्मक अभिव्यक्ति है। 'वामकेश्वर तन्त्र' में शिव कहते हैं, 'हे परमेश्वरि! इस शक्ति से रहित होने पर शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं, इससे युक्त होकर ही वह कुछ करने में समर्थ होते हैं।' (४-६) इसीलिए शक्ति के बिना 'शिव' को शव कहा गया है।

'शिव' निष्क्रिय, निर्विकार रहता है। सृष्टि की इच्छा होने पर वे सगुण शिव कहे जाते हैं। यह इच्छा ही 'शक्ति' है। एक ही प्रधानतत्त्व के दो रूप हुए—शिव और शक्ति। इन्हीं के योग से सृष्टि होती है। शक्ति ही पाँच अवस्थाओं से होते हुए 'कुण्डली' या 'कुण्डलिनी' के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डलिनी समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है और यही पिण्ड में भी समस्त शक्ति है। यह 'शक्ति' शिव की ही क्रियाशक्ति है जैसे वेदान्त में 'ब्रह्म' की रचना शक्ति माया है। ब्रह्मवादी माया को जड़ और माया सृष्ट जगत् को जड़ और मिथ्या मानते हैं। योगमार्ग शिव और शक्ति दोनों को चेतन मानता है। चेतन का धर्म भी चेतन ही होगा। धर्मी और धर्म में अभेद होता है तो चेतन का धर्म जड़ कैसे हुआ? इस तत्त्ववाद के द्वारा पिण्ड को ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण बताकर और शिव-शक्ति दोनों को एक ही चेतन का द्विधा रूप बताकर इस मार्ग में शंकर के मायावाद द्वारा प्रतिपादित जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिवाद किया गया। यह आवश्यक भी था। बुद्ध के दुःखवाद और विरक्ति मार्ग से जो सामाजिक संकट और संघारामों-विहारों में यौनाचार की वृद्धि हुई थी, उसी प्रकार की विरक्ति और समाज से पलायन मायावाद के कारण भी हुआ।

संसार को झूठ मानकर उसे उत्कृष्ट बनाने की बात विरोधाभासी थी। गोरख ने इसका प्रतिवाद किया। उनके योग मार्ग ने जगत् को विश्वसनीय बनाया। जीव या पिण्ड के महत्त्व को प्रतिपादित किया और पिण्ड की साधना व सिद्धि से ब्रह्माण्ड पर समग्र की सिद्धि का नैतिक और व्यावहारिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया। तात्पर्य यह कि पलायनवादी मायावाद के बदले लोकोन्मुख यथार्थ जीवनबोध का अनुभव सिद्ध मार्ग गोरख ने सुझाया।

साधना और सिद्धि—नाथ मार्ग या सिद्ध मार्ग की साधना का चरम लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य और सहज समाधि। इसके लिए षडंगयोग (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) का विधान है। पतञ्जलि योग के अष्टांग में प्रारम्भिक दो यम, नियम को ये योग के अन्तर्गत नहीं मानते। यम-नियम योगाभ्यास पूर्व की आधार भूमि है। इन लोगों ने पतञ्जलि के ५ यम के स्थान पर १० यम और ५ नियम के स्थान पर १० नियम बताया है।

विविध आसनों और प्राणायम के अभ्यास से नाड़ियों पर नियन्त्रण होता है और वृत्तियों को अन्तर्मुख करके धारणा-ध्यान से गुजरते हुए समाधि दशा को प्राप्त किया जाता है। योग की यह क्रिया हठयोग है। इसमें चन्द्र और सूर्य का मिलन होता है। सूर्य इड़ा और चन्द्र पिंगला को तथा सूर्य प्राण वायु और चन्द्र अपान वायु को कहते हैं। प्राण, अपान और इड़ा, पिंगला पर प्राणायाम द्वारा नियन्त्रण करके सुषुम्ना का मार्ग उन्मुक्त होता है और उसी से कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वमुख अग्रसर होती है। वह छः चक्रों का भेदन करके ऊष्णीय कमल या सहस्रार कमल में पहुँच कर पूर्ण ज्योतिर्मय शिव से मिल कर एक रूप और समरस हो जाती है। यही समरसता है। यह सहज समाधि या असंप्रज्ञात समाधि की दशा है। इस साधना की सफलता से योगी सिद्ध हो जाता है और उसे कुछ भी अकरणीय नहीं रह जाता। वह सिद्ध कहा जाता है।

अन्य साधन—गोरखनाथ प्रवर्तित सिद्ध मार्ग में गुरु का अन्यतम स्थान है। गुरु के बिना साधना के पथ पर बढ़ना निष्कंटक नहीं होता। इसीलिए योग्य गुरु के आश्रय में योग का अभ्यास करना चाहिए। गुरु की इसी प्रतिष्ठा के कारण गोरखनाथ के नाम के आगे गुरु शब्द लगा—गुरु गोरखनाथ। आगे चलकर सन्तों, भक्तों आदि सभी ने गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया। कबीर ने गुरु को गोविन्द से बड़ा कहा और तुलसीदास ने उन्हें आँखों में ज्योति देने वाला बताया। गोरखबानी में कहा गया है—

प्रथमें प्रनडं गुरु के पाया। जिन मोहि आतम ब्रह्म लखया।
सद्गुरु शबद कहाँ तैं बूझा तिहूँ लोक दीपक मणि सूझा॥

किन्तु यह गुरु अपूर्ण या अन्धा नहीं चाहिए। अपूर्ण गुरु से तो सर्वनाश हो जाता है।

काल न मिटा जंजाल न छूटा, तप करि हुआ न सूरा।
कुल का नास करै मत कोई, जै गुरु मिलै न पूरा॥

आज भी गुरु परम्परा विभिन्न गुरुओं के रूप में—जय गुरुदेव, सद्गुरुनिरंकारी, स्वामी दयाल आदि सैकड़ों में दीख पड़ती हैं।

उपासना और भक्ति—गोरख ने अपने समय में प्रचलित सभी मतों का समन्वय किया। उन्होंने वेद को स्वीकारा पर सूक्ष्म वेद को स्वीकार किया जो शिव-शक्ति साधना का रूप था। कर्मकाण्ड आदि को स्थूल

वेद कह कर त्यागा। वेद के नासदीय सूक्त में 'एक' अपनी शक्ति से सृष्टि का विधान करता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का वह 'शिव' तथा माण्डूक्य का 'अद्वितीय' शिव है। इस प्रकार वे वेद से जुड़ते हैं, पर वैदिकों के पाखण्ड का विरोध करते हैं। शिव ही विष्णु हैं और शक्ति ही काली है। इस प्रकार वैष्णव और शाक्त मतों को भी वे समन्वित करते हैं। इसलिए गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथपन्थ ने गोरक्षशतक, हठयोग प्रदीपिका आदि के सिद्धान्तों को उत्तरोत्तर विकसित करके योग साधना के साथ उपासना और भक्ति को भी अपने पन्थ में समाविष्ट कर लिया। वैसे तो इस सम्प्रदाय में मुख्य पूज्य शिव और शक्ति हैं।

शिव के वक्षस्थल पर नृत्य करती काली, शक्ति-शिव की क्रियाशीलता की प्रतीक है। अतः शिव और काली इनके मन्दिरों में मुख्याराध्य हैं। पर समस्त देवी-देवता को ये शिव के ही अनेक रूप मान कर पूजते हैं। विष्णु तथा उनके सभी अवतार नाथ-योगियों द्वारा पूजे जाते हैं। पूजा में और व्यवहार दोनों में वर्णगत, जातिगत भेद न मानने के कारण यह पन्थ सर्व समाज में स्वीकृत है। यह चरित्र की पवित्रता, इन्द्रिय संयम, हृदय की सच्चाई और भक्ति को प्रधानता देता है। यह समावेशी, समस्त समाज-दृष्टि उनके सिद्धान्त-ग्रन्थ गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह में नाथ के स्वरूप का वर्णन में इस रूप में व्यक्त हुई है—

निर्गुणं वामभागे च सव्यभागे अद्‌भुजानिजा
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः।
वाम भागे स्थितः शम्भूः सव्ये विष्णुस्तथैव वच
मध्ये नाथः परं ज्योतिस्तद् ज्योतिर्मत्तमोहरम्॥

मैं उस नाथ को नमन करता हूँ जिसके वाम भाग में निर्गुण ब्रह्म स्थित है, जिसके दक्षिण भाग में शिव की आत्म-शक्ति (विश्व प्रपंच का गत्यात्मक आधार) है और मध्य में स्वयं पूर्ण स्थिति ज्योर्तिमय आत्म चेतना की स्थिति में परमात्मा के दोनों रूपों का आलिंगन किए हुए है। शम्भु या शिव उसके बायें भाग में हैं। और विष्णु उसके दक्षिण भाग में है और उनके बीच परम ज्योति के रूप में विद्यमान है। (अर्थात् अपने में दोनों के व्यक्तित्व को एक किये हुए स्थित है) यह परम ज्योति हमारे अज्ञान के अन्धकार को दूर करें। इस स्तवन में स्पष्टतः शिव के साथ काली (यानी शैव व शाक्त तथा) शिव-शम्भू के साथ विष्णु और दोनों के मध्य स्वयं आदिनाथ परमशिव हैं। यह बताकर शैव, शाक्त, वैष्णव सभी मतों का समाहार कर लिया गया है और योग-साधना के साथ उपासना और भक्ति को भी स्वीकार किया गया है। साधना के क्षेत्र में भी गोरखनाथ ने उनके वामाचार का निषेध करके ब्रह्मचर्य और बिन्दु रक्षा की प्रतिष्ठा थी।

वाममार्गियों के प्रचलित प्रतीकों की साधु और समाजोपयोगी व्याख्या करके उनको भी अपने मार्ग के अन्तर्गत कर लिया। इस दिशा में भैरवी चक्र उपासना तथा युगनद्ध भाव के लिए सम्भोगरत होकर उद्वेगरहित मन की स्थिति बनाने की घृणित पद्धति का तो पूर्ण निषेध उन्होंने किया। गोमांस भक्षण और वारुणी सेवन का अति प्रचार देखकर उन्होंने इसकी व्याख्या इस प्रकार की—

गोमांसं भक्षयेनित्यं पिबेदमरवारुणीं।
कुलीनं तमहं मन्ये चे तरे कुलघातकाः॥

'गो' शब्दे नोदिता जि। तत्प्रदेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥

गोमांस का भक्षण जो नित्य करता है और अमर वारुणी का पान करता है, वही कुलीन है। अन्य योगी कुल घातक हैं क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलट कर तालुदेश में ले जाने को गोमांस भक्षण कहते हैं। सहस्रार पद्म से झरने वाले अमृत को उसी उलट जिह्वा से पान करना अमरवारुनी का पान करना है। यही मांस मक्षण और वारुणी पीने का अर्थ है। ऐसी उक्तियों और व्याख्याओं से निकृष्टमार्गी शक्ति-साधकों, कापालिकों आदि को समझाने और उन्हें सुमार्ग पर लाने का प्रयास गुरु गोरखनाथ ने किया।

जीवन का सन्देश—गोरखनाथ ने सभी प्रपंचों का निषेध कर इन्द्रिय संयम, मांस-मदिरा से विरक्ति, सदाचार, संयम और सहज-सरल जीवन जो मध्यभार्गी हो, का उपदेश अपनी भाषा के दोहों आदि में दिया। गोरखबानी ऐसे वचनों से भरी है। इन्द्रिय-निग्रह पर जोर देकर वे कहते हैं।

जिभ्या इन्द्री एकैनाल।
जो राखै सो बंचै काल॥
(गोरखबानी सबदी ११९)
जिभ्या इन्द्री दीजै बन्ध।
(गोरखबानी, सबदी २२०)

इसके लिए आहार शुद्ध और स्वल्प लेना चाहिए, तभी इन्द्रियों तथा मैथुन और निद्रा आदि तामस वृत्तियों पर नियन्त्रण होता है:

अति अहार, यंन्द्री बल करै। नासै ज्ञान मैथुन चित्त धरै।
व्यापैन्यंन्द्रा, झंपै काल। ताके हिरदै सदा जंजाल॥ (सबदी ३६)

मांस-मक्षण का निषेध ही नहीं किया गया है, उसकी भर्त्सना भी की गई है—

जीव सीव संगे बासा। बधि न खइबा रूध्र मांसा।
हंस घात न करिबा गोतं। कथन्त गोरख निहारि पोतं॥ (सबदी २२६)

जीव और शिव जब अभेद हैं तो जीव-वध करके उनके रुधिर व मांस को नहीं खाना चाहिए। अर्थात् सभी जीवों में एक ही शिव तत्त्व है, अतः वह सगोत्री है। अपने गोत्र का ही घात या आत्मघात न करो। इस संसार-जहाज की गति देख गोरख ने उपर्युक्त बात कह दी है।

नशा, मदिरा-भाँग-अफीम आदि का सेवन मत करो—

घोतरा (धतूरा) न पीओ, भाँग न खावौ रे भाई।
गोरख कहै सूनो रे अवधू काया होयगी पराई॥ (सबदी ४४१)
आफू (अफीम) खाय भांग भसकावै।
ता मैं अकलि कहाँ ते आवै॥ (सबदी २०८)

यह सब योग साधना के पूर्व काया-मन शुद्धि के उपाय हैं जो यम के अन्तर्गत आते हैं। अतः योगी

या साधक को पहले यही करना होता है—

पहले आरम्भ छाड़ौ काम क्रोध हंकार। मन-माया विषय विकार।
हंसा पकरि घात जिनि करौ। तिस्ना तजौ लोभ परिहरौ॥ (नखैबोध २)

गोरखनाथ प्रवर्तित नाथयोग साधना सिद्ध मार्ग तो है ही, साथ ही वह संसार के सामान्य गृहस्थ-जीवन का भी सहज, स्वाभाविक, समरस विधान है। उपर्युक्त आचरण और सात्विक जीवन जीते हुए गृहस्थ को मध्यम मार्ग से रहना चाहिए। मध्यम मार्ग या मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश बुद्ध ने भी दिया था। गोरखजी उसी मध्यम मार्ग के पक्षधर हैं। कामनाओं की तृप्ति अपने गृहस्थ जीवन में उपलब्ध साधनों से आवश्यकतानुसार करने की, किन्तु अनियन्त्रित भोग से बचने की सलाह देते हुए कहते हैं—

दाबि न मारिबा, खाली न राखिबा, जानिबा अगिनि का भेवं। (सबदी १७६)

कामनाओं को न दबाकर रखो, न खुला छोड़ो। कामाग्नि और जठराग्नि के भेद को समझो।

न अधिक सोना, न अधिक चलना, न अधिक बैठे रहना, न अधिक खड़ा रहना चाहिए। यही सहज मार्ग है। यही मध्यम मार्ग है और यह समरस मार्ग है—

निंद्रा सुपनैं बिंद को हरै। पन्थ चलन्ता आतमा मरै।
बैठा खटपट ऊभां उपाधि। गोरख कहैं पूता सहज समाधि॥

आहार-विहार सम्बन्धी ये सात्विक विधि-विधान तत्कालीन भारतीय समाज की आवश्यकता थी। गोरख के नाथ योग ने गृहस्थी और गाँव छोड़ एकान्त तपश्चर्या का मार्ग न बताकर गृहस्थ को सहज-सात्विक जीवन और मध्यमार्गीय रहनी द्वारा सहज जीवन जीने की राह दिखायी। गृहस्थ की सहज-समाधि यही है।

योग साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त नाथ और इन्द्रियों को जीत कर सहज जीवन जीने वाला गृहस्थ दोनों ही 'आत्मवत सर्व भूतेषु' का भाव धारण कर लेते हैं और तब समाज में न उनका कोई शत्रु रहता है और न कोई विरोधी—

कासौं जूझौं अवधू राइ। बिपख न दीसे कोई।
जासौं अब जूझौं रे, आत्माराम है सोई॥
आपण ही मछ कछ आपण ही जाल।
आप ही धीवर आपण ही काल॥

यह गोरखनाथ का लक्ष्य था कि समाज निडर, समरस और सुखी बने। आत्मतत्त्व का बोध सब में हो। नाथपन्थी योगी साधना द्वारा सात्विक, आध्यात्मिक जीवन का आदर्श बने और सर्वसमाज सज्जन, सन्तोषी, संयमी, स्नेहशील, अपरिग्रही और समभाव युक्त बने। इस उदात्त लक्ष्य की प्राप्ति श्री गुरु गोरक्षनाथ और नाथयोगियों को हुई थी। भारतीय अध्यात्मचिन्तन को यही गोरखनाथजी की वास्तविक देन है। प्रभाव और योगदान—'जादू वह है जो सिर पर चढ़कर बोले।' गोरखनाथ का प्रभाव ऐसा पड़ा कि सारे भारत में किसी-न-किसी रूप में योग और शिव-शक्ति का महत्त्व स्वीकार किया गया है। हिन्दी में कबीर, नानक, दादू, मलूक, दरिया साहब, असमी के माधव कन्दली, उड़िया के बलरामदास, बंगाली के कृतिवास

की रचनाओं में योग की साधना योगी पात्र और योगीवेश की उपस्थिति अपने समय से ५०० वर्ष बाद तक गोरखपन्थ के प्रभाव की सूचक है।

सन्तकाल तो पूरा-पूरा उसी परम्परा में है। वही साधना, वही शब्दावली, वही सात्विक-नैतिक जीवनादर्श सब कुछ वही है। कबीर और उनकी परम्परा से पृथक राजस्थान की मीरा तक इस पन्थ से प्रभावित हैं। महाराष्ट्र का वारकरी सम्प्रदाय अपना मूल आदिनाथ से मानता है। मुकुन्दराज और ज्ञानेश्वर अपना सम्बन्ध आदिनाथ से मानते हैं। ज्ञानेश्वर की गुरु परम्परा में आदिनाथ-मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, राहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर आते हैं। गुजरात में नाथपन्थी साधुओं और मठों की विभिन्न अंचलों में उपस्थिति इस बात को प्रमाणित करती है कि नाथ योगियों का प्रभाव पूरे देश में फैला था। गुजरात में कबीर पन्थ के ही समर्थदास अवधूत हैं। अखा नाम के सन्तकवि तो अलख से प्रीति लगाने और नूर से निकाह की रहस्यमयी वाणी बोलते थे। उनके शिष्य लालदास योग साधना के पद गाते थे। गुजरात में यह परम्परा १९वीं शताब्दी तक मिलती है। राजस्थान में नाथपन्थ का पर्याप्त प्रभाव रहा। जयपुर और जोधपुर तथा मेवाड़ के राजवंश नाथसिद्धों के प्रति पूज्य भाव रखते थे।

सन्त और भक्त तो भारतीय अध्यात्म परम्परा में थे। भारत के बाहर से आये सूफी आन्दोलन पर भी गोरखनाथ का प्रभाव व्यापक पड़ा। सूफी कवियों ने योग को अपनी साधना के अंग के रूप में स्वीकार किया, यद्यपि उनका अन्तिम लक्ष्य प्रेम-साधना है। जायसी की पदुमावति से लेकर मधुमालती, मृगावती, चित्रावली, इन्द्रावती सभी के नायक योगी बनकर निकलते हैं—वेश भी नाथयोगी का ही धारण करते हैं। और साधना भी वही है। लगता है कि जब सूफी सन्त यहाँ आए तो लोक में अपने मत का प्रचार करने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा योगियों से उन्हें हुई। उनका विरोध उनके वश का नहीं था। अत: इन्हीं के तथ्यों और तत्त्वों को अपने साथ जोड़कर अपने पन्थ के प्रचार में वे जुटे थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूरे उत्तर भारत में कामरूप से पंचनद तक और कश्मीर से विन्ध्य शृंखला तक गोरखनाथ और योग साधना ने १३वीं सदी से लेकर आज तक के समूचे भक्ति आन्दोलन के आध्यात्मिक चिन्तन को प्रभावित किया है। आधुनिक भारत में महेशयोगी, श्री रविशंकर, बाबा रामदेव आदि योग मार्ग के गुरुओं पर पातंजल योग और नाथ योग की व्यापक पृष्ठभूमि विद्यमान है। नाथयोग धर्म, अध्यात्म और नैतिक जीवन की साधना के साथ ही सद्गृहस्थ के जीवन, राष्ट्रीय जीवन और समतामूलक समाज जीवन का भी प्रेरक मार्ग है।

□

योग दर्शन एवं साधना : पतञ्जलि और गोरखनाथ

—डॉ. भारती सिंह

अनादिकाल से अद्यावधि प्रवर्तमान भारतीय आध्यात्मिक साधना में योग का अप्रतिम एवं सर्वोपरि महत्त्व है। भारतीय मूल की सभी निगम-आगम, वैदिक-अवैदिक साधना-परम्पराओं में न्यूनाधिक रूप में अथवा किसी-न-किसी रूप में योग की स्वीकृति और देशना मिलती है। तद्तद दर्शन-साधना-प्रस्थानों के अनुयायियों में तद्तद सम्प्रदायानुगत योगाभ्यास-विधियों के प्रचलन के बावजूद सामान्यतया देश-विदेश में जिस योगविद्या या साधना का व्यापक प्रचार-प्रसार है उसमें दो ही पद्धतियों का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। एक है हिरण्यगर्भप्रोक्त अष्टांगयोग जिसके प्रतिष्ठापक परमाचार्य के रूप में महर्षि पतञ्जलि का नाम लिया जाता है, जिनका 'योगसूत्र' राजयोग पातञ्जलि योग के नाम से भी प्रसिद्ध है। दूसरी प्रमुख योग पद्धति मृकण्डुपुत्रादि अथवा आदिनाथ से प्रवर्तमान नाथयोग-हठयोग की है जिसके श्रीमत्स्येन्द्र नाथ तथा जालन्धरनाथ प्रभृति नाथ योगियों और सिद्धों के योगदानों से संवलित एवं समृद्ध होने के बावजूद प्रतिष्ठापक परमाचार्य के रूप में शिवावतार महायोगी गुरु गोरक्षनाथजी का नाम प्रख्यात है।

यद्यपि उपर्युक्त दोनों योग पद्धतियाँ अपने आप में पूर्ण हैं और कहीं भी अपना मत और सिद्धान्त रखने के बावजूद एक-दूसरे का खण्डन या प्रत्याख्यान भी नहीं करती हैं और कहीं तो यह कहकर कि राजयोग की सिद्धि के लिए ही हठयोग का उपदेश किया गया है इन्हें परस्पर समन्वित भी बताया गया है। तथापि दर्शन और साधना दोनों स्तरों पर अनेकधा सहमतियों और समानताओं के बावजूद इनमें भेद भी पर्याप्त रूप में विद्यमान हैं जिनसे इनकी अलग-अलग पहचान बनती है। पातञ्जलि योग जहाँ शुद्ध वैदिक परम्परा की उपज है और वेदों के प्रामाण्य के साथ ही सांख्य की तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करता हुआ यम, नियम, आसन, प्राणायाम्, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि एवं अष्टांगयोग का प्रतिपादन करता है। वहाँ नाथयोग साधना एवं दर्शन में वैदिक परम्परा के अलावा आगम या श्रमण-परम्परा में विकसित कौल, कापालिक, रसेश्वर, शैव तथा शाक्त-तान्त्रिक परम्पराओं का भी अपने ढंग से समन्वय एवं सन्निवेश मिलता है जिसमें कायागढ़विजय, चक्रभेदन एवं कुण्डलिनी-जागरण द्वारा अभीष्ट सामरस्य-

प्राप्ति का विधान है। इतना ही नहीं, नाथयोग में वेदाचार की जगह कौलाचार का, वेद-प्रामाण्य की जगह स्वानुभूति का प्रामाण्य स्वीकृत है और उसमें सांख्य-दर्शन के २५ तत्त्वों को समाहित करते हुए शिव से लेकर पृथ्वी तक कुल ३६ तत्त्वों का भी विधान है।

पातञ्जल-योग में जहाँ अन्तिम लक्ष्य समाधिदशा तक पहुँचने के लिए चित्तवृत्तियों के निरोध पर ही अधिकाधिक बल देते हुए इसे योग का पर्याय बताया गया है वहाँ नाथयोग में अष्टांग या षडंग योग लक्ष्य-प्राप्ति तक उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी प्राणों पर नियन्त्रण करने, ह और ठ अर्थात् सूर्य-प्राणवायु और चन्द्र-अपानवायु-नाड़ियों सहित उनके बीच सूक्ष्मतया विद्यमान सुषुम्णा-अग्नितत्त्व-पर नियन्त्रण करने तथा पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की कल्पना कर कायागढ़ जीतने की बात पर अधिक बल दिया गया है जिसमें मुद्रा, बन्ध, षट्चक्रभेदन और कुण्डलिनी-जागरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यहाँ यह सर्वथा अवधेय है कि 'नाथयोगियों का पिण्डसिद्धि का दृष्टिकोण तथा पतञ्जलि का 'कायसंयत' का दृष्टिकोण बिल्कुल एक ही नहीं है, यद्यपि यह भी सत्य है कि दोनों में अन्ततः तत्त्वों का नियन्त्रण प्राप्त होता है।.... नाथमत में पिण्डसिद्धि को परमपद के दर्शन का फल तथा सामरस्य की पूर्वस्थिति माना गया है, जबकि पतञ्जलि के 'कायसंयत' का चरमलक्ष्य केवल शरीर-शुद्धि तक ही है। इसे पुरुष की स्वाभाविक शुद्धि के समान नहीं माना जा सकता। अतः यह प्रकृति का एक स्वाभाविक लक्षण ही रह जाता है।'

योगशास्त्र में ईश्वर एक पुरुष विशेष है जो क्लेश, कर्म विपाक और आशय से मुक्त है। सांख्य और योग के इस ईश्वर को नाथयोगियों ने अलग ढंग से शिव तत्त्व के रूप में स्वीकृत किया है जो परमतत्त्व होने के साथ ही अगम-अगोचर है, न शून्य है न अशून्य है, न भाव है न अभाव है, न सत् है न असत् है, न द्वैत है न अद्वैत है बल्कि इन सबसे परे एक ऐसा विलक्षण तत्त्व है जो ब्रह्माण्ड की तरह ही पिण्ड में भी—गगन मण्डल में—निवास करता है।

योग-साधना की शिक्षाओं के साथ-साथ जिन तात्त्विक सिद्धान्तों का प्रचार गुरु गोरक्षनाथ प्रभृति नाथ योगियों ने किया वे किसी तार्किक विश्लेषण के निश्चित परिणाम न थे और न ही उनको विशुद्ध तार्किक रूप देने का इन्होंने प्रयास किया। उनके दर्शन का मूल आधार उनकी समाधि अवस्था की अतिमानसिक और अतिबौद्धिक अनुभूतियाँ थीं। अतीन्द्रिय अनुभव की बौद्धिक अभिव्यक्ति के रूप में ही उनके दार्शनिक विचार व्यक्त हुए हैं। सत्य शान्ति के अन्वेषकों तथा सांसारिक बन्धनों से मुक्ति चाहने वाले जिज्ञासुओं के लिए उन्होंने सामान्यतः उन्हीं पारिभाषिक शब्दावलियों और अभिव्यक्ति-पद्धतियों को माध्यम के रूप में स्वीकार किया जो शताब्दियों से सिद्ध महायोगियों की परम्परा में प्रचलित थीं और जिनका प्रयोग शैव-शाक्त-आगमों और तन्त्रों में किया गया था। हाँ, इतना अवश्य है कि उन्होंने वामाचार में प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली को भी अपने ढंग से नया सात्त्विक और आध्यात्मिक अर्थ दिया।

यद्यपि संस्कृत और हिन्दी में भी महायोगी गोरक्षनाथजी के नाम से बहुत सी कृतियाँ प्रचलित हैं जिनमें उनके दार्शनिक एवं साधना सम्बन्धी उपदेशों का संग्रह है तथापि इनमें सिद्धसिद्धान्तपद्धति

का विशेष महत्त्व है क्योंकि यही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें काफी व्यवस्थित रूप में नाथ-दर्शन को प्रस्तुत किया गया है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार एक गत्यात्मक आध्यात्मिक परम तत्त्व से यह वैविध्यपूर्ण विश्वप्रपंच विभिन्न स्थितियों से होता हुआ विकसित हुआ है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि किसी प्रकार दिक्-काल-निरपेक्ष भेदातीत शाश्वत परमात्मा अपनी स्वरूपभूता शक्ति के द्वारा दिक्-काल-परिसीमित वैविध्यपूर्ण ब्रह्माण्ड एवं असंख्य व्यष्टिपिण्ड के रूप में व्यक्त होता है। पिण्ड पर विचार करते हुए उन्होंने व्यष्टिपिण्ड की आन्तरिक रचना-चक्र, आधार, लक्ष्य और व्योम के सम्बन्ध में नाथ सम्प्रदाय की पातञ्जल-सम्प्रदाय से विशिष्ट मान्यताओं का प्रदर्शन किया है। इसी क्रम में नाथ-दर्शन में पिण्ड-संवित्ति पर भी विचार किया गया है। यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे की उक्ति की चरितार्थता नाथ-योगियों की विशिष्टता है। इस ससीम और नश्वर शरीर की अनादि निःसीम ब्रह्माण्ड के साथ तद्रूपता की अनुभूति का निदर्शन एक अभूतपूर्व और महान् आदर्श है जो आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के समक्ष गुरु गोरक्षनाथ और उनके सम्प्रदाय द्वारा विलक्षण रूप में प्रस्तुत किया गया है।

पिण्ड के आधार का वर्णन करते हुए सिद्धसिद्धान्त-पद्धति में बताया गया है कि समस्त पिण्डों का अन्तिम आधार एक परम आध्यात्मिक शक्ति है जो अपने मूल रूप में परमात्मा शिव से अभिन्न एवं तद्रूप है। समस्त शरीर एक स्वतः विकासमान दिव्य-शक्ति की आत्माभिव्यक्ति है। यह दिव्य-शक्ति उनके सम्बन्धों और परिवर्तनों पर नियन्त्रण रखती है। यह वस्तुतः शिव से अभिन्न और शिवस्वरूप ही है। यही आत्मचेतना जब आत्मरूप या परमरूप में स्थित होती है तब शिव कहलाती है और जब सक्रिय होकर अपने को ब्रह्माण्ड रूप में परिणत कर लेती है तथा दिक्-काल सीमित असंख्य पिण्डों की रचना, विकास एवं संहृति में प्रवृत्त होती है और अपने को अनेक रूपों में व्यक्त करती है तब शक्ति कहलाती है। इस प्रकार परमसत्ता अपने पारमार्थिक रूप में शिव तथा गत्यात्मक रूप में शक्ति है।

उक्त नाथ-दर्शन के विरुद्ध पातञ्जल-योग-दर्शन में वर्णित पुरुष-विशेष ईश्वर कोई चेतन है किन्तु चराचर जगत् की सवित्री प्रकृति उससे पृथक् और जड़ है। वस्तुतः सांख्याचार्य कपिल के समान आचार्य पतञ्जलि की दृष्टि में भी प्रकृति एक स्वतः स्थित और स्वतः विकसित होने वाली भौतिक सत्ता है जो अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर निर्भर नहीं है। इतना ही नहीं, इसकी सत्ता भी पुरुष के समान ही स्वतन्त्र और समानान्तर है। गुरु गोरक्षनाथ एवं सिद्धयोगी सम्प्रदाय की मान्यता इससे अलग है तदनुसार प्रकृति परमपुरुष शिव की निहित शक्ति का एक अंग है और शिव के अस्तित्व से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है वह भी शिव के समान ही सद्रूपा-चिद्रूपा है।

पतञ्जलि के मतानुसार प्रत्येक पुरुष या जीव मोक्ष या कैवल्य अवस्था में प्रकृति से सर्वथा पृथक-साक्षी, चेता, केवल और निर्गुण हो जाता है किन्तु शुद्धचित्त के रूप में अन्य मुक्त पुरुषों तथा ईश्वर से भिन्न शाश्वत रूप में अपना व्यक्तित्व तथा अस्तित्व रखता है। जबकि गोरक्षनाथ तथा सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय के मतानुसार ऐसा प्रत्येक मुक्त पुरुष ईश्वर—शिव—से अपनी अभिन्नता का अनुभव करके शिवत्व प्राप्त कर लेता है।

नाथसम्प्रदाय की योग-साधना में न केवल मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ तथा जालन्धरनाथ प्रभृति

प्रमुख नाथ सिद्धों ने अपने अनुभव एवं प्रयोग के बल पर परम्परागत अष्टांगिक पातञ्जल राज-योग को नये आयाम दिये हैं बल्कि उसके समानान्तर हठयोग को एक अलग पहचान एवं महत्ता भी दी है जिसके कारण उसका पृथक अस्तित्व है। यम-नियम की चर्चा यद्यपि पातञ्जल-राज-योग के अन्तर्गत प्रथम दो अंगों के रूप में की गयी है तथापि नाथयोग में या तो यमों और नियमों की चर्चा ही न कर केवल षडंग-योग की ही चर्चा हुई है या फिर जहाँ यम और नियम सहित अष्टांग-योग की चर्चा हुई है वहाँ यमों और नियमों की संख्या पातञ्जल-योग में बतायी गयी संख्याओं से न केवल अधिक है बल्कि इसके अन्तर्गत नेति, वस्ति, धौति आदि षट्कर्मों का विस्तार से निरूपण किया गया है। निश्चय ही षटकर्म नाथ योगियों द्वारा उपदिष्ट हठयोग की अपनी विशिष्टता है। उन्होंने शरीर को योग-योग्य बनाने, प्राण और मन पर नियन्त्रण करने के लिए न केवल विभिन्न आसनों का विशद् निरूपण किया है बल्कि पूर्णमत्स्येन्द्र, अर्धमत्स्येन्द्र और गोरक्ष आदि कई नये-नये आसनों का भी आविष्कार किया है।

नाथ-सम्प्रदायानुगत हठयोग में रेचक, पूरक और कुम्भक नामक जिन तीन प्राणायाम विधियों का वर्णन है वह भी पतञ्जलि प्रोक्त प्राणायाम विधि से कुछ भिन्न ही है। जिस कुम्भक के अन्त में श्वास छोड़ा जाए वह तान्त्रिक विधि है और जिसमें श्वास लेकर अर्थात् पूरक के पश्चात् कुम्भक किया जाए वह वैदिक विधि है। अवधेय है कि नाथयोग में उक्त तान्त्रिक विधि को ही मान्यता है जबकि पातञ्जल-योग में वैदिक विधि मान्य है। इसी प्रकार ध्यान के समय नाथ-योगियों ने हृतपुण्डरीक अर्थात् हृदयकमल की जगह षट्चक्र धारणा को अपनी साधना का लक्ष्य बनाया है। इतना ही नहीं, नाथयोग में जगत् के पंचतत्त्वों पर ध्यान तथा धारणा द्वारा विजय प्राप्त करने का उल्लेख भी है जो एक तान्त्रिक विधि है। इस प्रकार नाथ-योगियों की साधना प्रणाली, आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध और षट्चक्रभेदन आदि पर प्रमुखतया आधारित है—जिसमें कुण्डलिनी का जागरण होता है। जिससे जागृत कुण्डलिनी क्रमशः चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में पहुँचकर शिव के साथ समरस हो जाती है। ऐसी किसी साधना पद्धति का उल्लेख पातञ्जल-योग में नहीं है।

पातञ्जल-योग से नाथ योग का एक और उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है जिस पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया है। पातञ्जल-योग जहाँ वैदिक आचार-विचार और वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत सीमित होने के कारण अपनी उपादेयता के बावजूद बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ वहीं नाथयोगियों ने अपनी योगसाधना का द्वार उदारतापूर्वक सभी वर्णों, आश्रमों, सम्प्रदायों और जातियों के लिए मुक्त कर दिया जिससे उसकी अभूतपूर्व लोकप्रियता और सर्वव्यापकता बन गयी। नाथ-दर्शन और साधना आध्यात्मिक जागरण के साथ ही सामाजिक क्रान्ति के रूप में भी इस प्रकार प्रतिष्ठित हुई। जिसने इसे सार्वभौम, सार्वजनिक तथा सर्वसुलभ बनाया। कितने ही तथाकथित नीची जातियों के लोग सिद्ध बनकर साधना में पूज्य और सम्मानित हुए उनकी गिनती नहीं की जा सकती है।

नाथयोग दर्शन एवं साधना का स्वरूप

नाथयोग दर्शन एवं साधना जिसके आदि प्रवर्तक आदिनाथ शिव हैं और जिसके विकास एवं सम्वर्धन में सर्वश्री मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ और जालन्धरनाथ आदि नवनाथों सहित अनेक नाथपन्थी साधकों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। अपने तत्त्वदर्शन एवं साधना के लिए पूर्ववर्ती सभी वैदिक-अवैदिक, निगमागम परम्पराओं में विकसित यौगिक एवं तान्त्रिक विचारधाराओं और साधनाओं का समन्वित और संशोधित रूप है[१] जिसे निश्चित रूप से श्री मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरक्षनाथजी ने अलग पहचान और मान्यता के साथ ही व्यापक प्रचार-प्रसार भी दिया। इस प्रकार यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि नाथयोगदर्शन एवं साधना के स्वरूप निर्धारण में पूर्ववर्ती औपनिषदिक चिन्तन, पातञ्जल योग दर्शन एवं साधना तथा कश्मीरी योगिनी कौल दर्शन एवं साधना का पर्याप्त प्रभाव और अवदान है। यहाँ हमने नाथदर्शन एवं साधना के स्वरूप निरूपण के लिए जिन ग्रन्थ-रत्नों को प्रधानतया आधारभूत सामग्री के रूप में अपनाया है उनमें 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति', 'अमनस्कयोग', 'गोरक्षशतक' और 'योगबीज' आदि शिवावतार योगीराज गोरक्षनाथ की रचनाएँ मानी जाती हैं। इनमें भी 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' के अतिरिक्त गोरक्षनाथ की ही कुछ हिन्दी रचनाओं और मत्स्येन्द्रनाथजी के कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थों से भी सामग्री का संकलन किया गया है।

नाथतत्त्वदर्शन—परमार्थिक रूप से दृश्यमानप्रपञ्च का—ब्रह्माण्ड और पिण्डों का—कोई अस्तित्व विनाश नहीं होता है क्योंकि परसंवित् रूप परमतत्त्व कार्य-कारण-कर्तृत्व आदि से शून्य, कुल-अकुल संज्ञा से भी परे, सर्वथा अव्यक्त, निरपेक्ष, निरञ्जन, स्वयं और एक एवाद्वितीय रूप में रहता है। समाधि दशा में अनुभवैकगम्य अव्यक्त, अवाङ्मनसगोचर इस परमतत्त्व को किसी देशकाल और भाषा की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, अतः यह वस्तुतः अनिर्वाच्य है।[२] इसका स्वरूप-निरूपण करते हुए कहा गया है कि—[३]

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुराः नैव पृथ्वी न चापो,
नै वाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः।
नो वेदाः नैव यज्ञाः न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः,
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयतित्त्वपदं सच्चिदानन्दमूर्ते॥

अर्थात् न तो वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र तथा अन्य देवताओं का कोई पृथक् अस्तित्व है और न पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश का ही कोई चिह्न है और न काल और दिशाओं की कोई स्थिति है। वेद, यज्ञ, सूर्य, चन्द्र नियम और संसारक आदि भी वहाँ अनुपस्थित है। वहाँ तुम स्वयं को हे सच्चिदानन्दमूर्ति परमात्मा स्वयं को पूर्णशुद्ध स्वयं रूप में प्रकट करते हो। वहाँ केवल तुम्हारा आत्म रूप एकमेवाद्वितीय रूप में आत्मप्रकाशयुक्त चरम सत्ता के रूप में विद्यमान है। गोरखवाणी में नाथजी ने किसी परमतत्त्व को 'न बस्ती है न शून्य है, न शून्य है न बस्ती है' कहा है।[४] गगन शिखर में एक बालक बोल रहा है उसका नाम कोई कैसे दे सकता है[५] तथा हठयोग प्रदीपिका में भी यही ध्वनि—'शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत् तत्त्वं परं सम्भवम्' के द्वारा प्रकट की गयी है और 'अमनस्कयोग' में

भी परम तत्त्व का ब्रह्म संज्ञा से ऐसा ही स्वरूप निरूपण करते हुए उसे भाव-अभाव से विनिर्मुक्त, नाश और उत्पत्ति से विवर्जित तथा सर्वसंकल्पनातीत परतत्त्व कहा गया है।[६]

अस्तु, यद्यपि परासंवित, परमतत्त्व परमब्रह्म, अलख निरञ्जन परम शिव का ऐसा ही विलक्षण पारमार्थिक स्वरूप है तथापि लोक व्यवहार की दृष्टि से नाथपन्थ की परम्परा के अनुसार उस परमतत्त्व से आब्रह्म-स्तम्बपर्यन्त प्रपञ्चात्मक विकास का विचार किया जाता है क्योंकि उस वस्तुतः अनिर्वचनीय, विलक्षण और अद्वय परम सत्ता की ऐसी नामरूपहीन व्याख्या सहजबोधगम्य नहीं है और व्यवहार में इसे बोधगम्य बनाने के लिए किसी सोपाधिक रूप में ही कहने की विवशता है। इसलिए ऐसी व्यावहारिक बाध्यता के कारण अव्याख्येय परमसत्ता की भी व्याख्या की जा रही है।[७] तदनुसार जब 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' रूप में न कुल[८] (शिव) था, न अकुल[९] (शक्ति) था तब उस समय वह परब्रह्म ही अव्यक्त रूप में होने के कारण नाम रूप विहीन अनामा था।[१०] अनामा इसलिए कि वह परमतत्त्व अनादिसिद्ध एक और अनन्त है—सत्, असत्, और न सत्, न असत् आदि विविध कोटियों से विलक्षण होने के कारण सिद्धों-नाथयोगियों—के सिद्धान्त में ऐसा ही है।[११] 'एकोऽहं बहुस्याम' की तरह ही जब इस परमतत्त्व-परमशिव-में सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा मात्र अंकुरित हुई तब इससे इच्छामात्रधर्मा 'निजाशक्ति' बीज में अंकुर के समान उत्पन्न हुई।[१२] यह 'निजा' इसलिए है कि यह परमतत्त्व-परमशिव में सदा निहित एवं एकाकार रहती है और उसकी स्वरूपभूता है अर्थात् उससे भिन्न कुछ नहीं है।[१३] परमशिव में अन्तर्निहित उक्त सिसृक्षा के उन्मुख होने मात्र से उससे 'परमशक्ति', तने की डाल की तरह, उत्पन्न हुई[१४] और फिर 'परमशक्ति' के स्पन्द-संक्रियतामात्र-से 'अपराशक्ति' ठीक वैसे ही प्रकट हुई जैसे शाखा से प्रतिशाखा उत्पन्न होती है।[१५] तदनन्तर इस 'अपराशक्ति' से अहन्तामात्र रूप से 'सूक्ष्माशक्ति' उद्गत हुई।[१६] फिर उससे वेदनशील-स्वरूपज्ञानकारिणीभूता-'कुण्डलिनी-शक्ति' विकसित हुई।[१७] उपर्युक्त निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी नामक शक्ति-पञ्चक शिव 'परपिण्ड' की उत्पत्ति में कारण है। इनमें अर्थात् शक्तिपञ्चकों में प्रथम निजाशक्ति के नित्यता, निरञ्जनता, निस्पन्दता, निराभासता और निरुत्थानता नामक पाँच गुण बताये गये हैं।[१८] इसी प्रकार शेष परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी शक्तियों के भी क्रमशः पाँच-पाँच गुण हैं तदनुसार—अस्तिता, अप्रमेयता, अभिन्नता, अनन्तता और अव्यक्तता परा के पाँच गुण; निरंशता, निरन्तरता, निश्चलता, निश्चयता और निर्विकल्पता अपरा के पाँच गुण; तथा पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रबलता, प्रोच्चलता और प्रत्यङ्मुखता सूक्ष्मा शक्ति के पाँच गुण हैं। इस प्रकार शक्ति तत्त्व से पाँच-पाँच गुणों के योग से परपिण्ड की उत्पत्ति हुई।[१९] जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है कि—परमशिव की सिसृक्षा के विकासक्रम में निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी रूप पाँचप्रकारक शक्तिचक्र-क्रम से परपिण्ड 'शिव' की उत्पत्ति हुई।[२०] उपर्युक्त निजा परमशिव में अन्तर्निहित इच्छामात्रधर्मा स्वरूपभूता शिवतत्त्व ही है। इस प्रथमावस्था के नित्यता आदि जो पाँच गुण बताये गये हैं इनमें नित्यता का अर्थ शाश्वतता अर्थात् इस शक्ति का शिव में सदा अभिन्न रूप से उपस्थित रहना है। निरञ्जनता का अर्थ विशुद्धता है। निस्पंदता का अर्थ यह है कि अभी शक्ति के मूल स्वरूप में आन्तरिक परिवर्तन की सक्रिय अन्तःप्रेरणा नहीं है और वह पूर्ण शान्त गम्भीर स्थिति में शिव में प्रगाढ़ निद्रा में मग्न है।

उपर्युक्त गुणों में जहाँ निराभासता से आशय है कि शक्ति का अभी शिव से भिन्न अस्तित्व नहीं है तथा शिव का स्वरूप उस पर प्रतिबिम्बित नहीं हो रहा है वहीं निरुत्थानता का अर्थ यह है कि वह अभी शिव के पारमार्थिक स्वरूप से भिन्न और जागृत नहीं हुई है। इस अवस्था में शिव शक्ति है तथा शक्ति शिव है यह परमतत्त्व का परासंवित रूप है। जब शिव में अव्यक्त रूप में विद्यमान निजाशक्ति से सिसृक्षा के क्रम में शिव के स्वरूप के अन्तर्गत एक स्पष्ट अंग के रूप में किंचित व्यक्त होने लगती है तब इस स्तर पर इसे पराशक्ति कहा जाता है। इसीलिए इसे उन्मुख्त्व मात्र संज्ञा से अभिहित किया गया है। वस्तुत: यह शिव की निजाशक्ति का प्रथम सूक्ष्म उद्घाटन है। निरुत्थान दशा से शक्ति की यह पहली उत्थान दशा है। इसके अस्तिता आदि जो पाँच गुण बताये गये हैं उनमें अस्तिता से आशय यह है कि आत्मप्रकटीकरण के पूर्व पराशक्ति निजाशक्ति की भाँति शिव से पूर्णतदाकार थी। इसका दूसरा गुण अप्रमेयत्व इस बात का द्योतक है कि समस्त प्रापञ्चिक नियमों, कालदिक् आदि की व्यवस्था की जननी होने से उसके स्वभाव की थाह नहीं पायी जा सकती। तीसरा गुण अभिन्नता इस तथ्य का व्यंजक है कि उसके अन्दर या बाहर कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिससे यह एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में पृथक् ठहरायी जा सके। चौथा गुण अनन्तता इस शक्ति की असीमता का वाचक है। यद्यपि यह अभी शिव के पारमार्थिक स्वरूप से अभिन्न है तथापि स्वयं में काल-दिक् आदि अनन्त व्यावहारिक अभिव्यक्तियों का अक्षय भण्डार धारण किये रहती है। इसके पाँचवें गुण अव्यक्तता से यह व्यक्त होता है कि शक्ति का अनन्त भण्डार जो शाश्वत रूप से उसमें उपस्थित है अभी पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं हुआ है। तीसरे स्तर पर परशक्ति के अनन्त पारमार्थिक अन्त:करण में किसी प्रकार का स्पन्दन अथवा आन्तरिक हलचल हुई जिसे अपराशक्ति कहा गया है। इसके स्फूरता आदि जो पाँच गुण बताये गये हैं इनका निरूपण सूक्ष्मता के कारण कठिन है। स्फुरता का अर्थ है कि शक्ति अब शिव की चेतना के समक्ष अधिक व्यक्त रूप में है। स्फुरता और स्फुटता इसके आगे की स्थितियाँ हैं और स्फुरता तथा स्फुटता क्रमश: अपने आन्तरिक महिमाओं को व्यावहारिक स्तर पर शनै:-शनै: प्रकट करने का बोधक है। अभिव्यक्ति की चतुर्थ अवस्था में शिव की सक्रिय चेतना में एक शुद्ध अहम् का भाव प्रकट होता है। इसे ही सूक्ष्माशक्ति कहा गया है। इस स्थिति में भी शिव एक और अद्वितीय हैं यद्यपि वे एक सगुण ईश्वर का रूप धारण कर लेते हैं तथापि अभी तक उनकी आत्मचेतना में कोई भेद या सापेक्ष्यता नहीं है। इसके जो निरंशता आदि पाँच गुण बताये गये हैं उनमें निरंशता का तात्पर्य द्वैत या अनेकता या सापेक्षिकता न होना है, निरन्तरता का तात्पर्य अहम चेतना में कोई क्रम भंग या व्यवधान न होना है, निश्चलता से तात्पर्य चेतना के इस स्तर पर प्रसार या संकोच का न होना है, निश्चयता का अर्थ अनिश्चितता का न होना तथा निर्विकल्पता का अर्थ शुद्ध सर्वज्ञता है। शक्ति की पाँचवीं अवस्था कुण्डलिनी में शिव के आत्मचेतन व्यक्तित्व में एक विशिष्ट मानसिक शक्ति का रूप ज्ञान, अनुभव तथा इच्छा की प्रक्रियाएँ उत्पन्न करने के लिए उनके विषयों के उद्भव के पूर्व ही धारण कर लेती है। इसके पूर्णता आदि जो पाँच गुण बताये गये हैं उनमें पूर्णता न्यूनभावविहीनता और सर्वश्रेय उद्बोधकता को प्रकट करती है। प्रतिबिम्बिता का अर्थ है कि शक्ति की यह स्थिति एक दर्पण है जिस पर शिव के पारमार्थिक स्वरूप का, भौतिक-

जैविक-मानसिक-बौद्धिक नानारूपों में प्रतिबिम्ब पड़ता है। प्रबलता का अर्थ है सर्वशक्तिमत्ता; प्रोच्चलता का अर्थ किसी ने सदा ऊर्ध्वगामिता बताया है[२१] तो किसी ने इसे आत्मरूपान्तरण, आत्मप्रसारण, आत्मगुणन और साथ ही आत्मसमायोजन का छिपा हुआ गुण कहा है।[२२] वेदनशीलता कुण्डलिनी के प्रत्यङ्गमुखता नामक गुण का अर्थ है कि संसार का सृजन, पालन और संहार करते हुए भी सर्वदा उसका मुख परमात्मा शिव की ओर ही रहता है।

इस प्रकार परपिण्ड शिव की कारणीभूत शक्तिपञ्चक को बताकर अनादि अकारणपिण्ड का भी पाँच कारण बताया गया है, जो इस प्रकार है—अपरम्पर, परम्पद शून्य निरञ्जन और परमात्मा।[२३] इसमें अपरंपर से स्फुरता मात्र, परंपद से भावना मात्र, शून्य से सत्ता मात्र, निरञ्जन से साक्षात्कार मात्र और परमात्मा से परमात्मा की उत्पत्ति कही गयी है[२४] तथा इनमें से प्रत्येक के क्रमशः पाँच-पाँच गुण—अकलंकत्व, अनुपमत्व, अपारत्व, अमूर्तत्व और अनुदयत्व (अपरम्पर के पाँच गुण); निष्कलत्व, अनुतरत्व, असंख्यत्व और अनाराध्यत्व (परंपद के पाँच गुण); लीनता, पूर्णता, उन्मनी, लोलता और मूर्छता (शून्य के पाँच गुण); सत्यता, सहजता, समरसता, सावधानता और सर्वगतता (निरञ्जन के पाँच गुण); अक्षयता, अभेद्यता, अच्छेद्यता, अदाह्यता और अविनाशिता (परमात्मा के पाँच गुण) बताये गये हैं।[२५] इस प्रकार अनादि पिण्ड की उत्पत्ति का निरूपण करते हुए आद्यपिण्ड के उत्पत्ति क्रम में नाथ मत में यह बताया गया है कि कारणीभूत अनादिपिण्ड से परमानन्द, परमानन्द से प्रबोध, प्रबोध से चिदुदय, चिदुदय से प्रकाश और प्रकाश से सोऽहंभाव का विकास होता है।[२६] इन पाँचों में स्पन्द, हर्ष, उत्साह, निष्पन्द और नित्यसुखत्व रूप पाँच गुण परमानन्द के हैं। उदय, उल्लास, अवभास, विकास और प्रभा नामक पाँच गुण प्रबोध के हैं। सद्भाव, विचार, कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और स्वतन्त्रता ये पाँच गुण चिदुदय के हैं। निर्विकारता, निष्कलता, निर्विकल्पता, समता और विश्रान्ति ये पाँच गुण प्रकाश के हैं तथा अहन्ता, अखण्डऐश्वर्य, स्वात्मा, विश्वानुभव सामर्थ्य और सर्वज्ञता ये पाँच गुण सोऽहंभाव के हैं।[२७] इनके पंचीकरण से उपर्युक्त २५ गुणों वाला आद्यपिण्ड उत्पन्न होता है।

आद्यपिण्ड से महाकाश, महाकाश से महावायु, महावायु से महातेज, महातेज से महासलिल और फिर महासलिल से महापृथ्वी रूप महासाकारपिण्ड की उत्पत्ति होती है।[२८] इनमें क्रमशः अवकाश, अच्छिद्रता, अस्पृश्यता, नीलवर्णता तथा शब्दवत्ता महाकाश के; संचार, चलन, स्पर्श, पोषण और धूम्रवर्णता महावायु के; दाहकता, पाचकता, ऊष्णता, प्रकाशत्व और रक्तवर्णता महातेज के; प्रवाह, तृप्तिकारकता, द्रवता, रसता और श्वेतवर्णता महासलिल के; महापृथ्वी के पाँच-पाँच गुण हैं अर्थात् कुल २५ गुण हैं।[२९] इस विकास में महासाकारपिण्ड की आठ मूर्तियाँ बतायी गयी हैं। ये आठों मूर्तियाँ शिव ही हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—शिव, शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा।[३०] तदनन्तर ब्रह्मा से—उनके अवलोकन मात्र से, नर-नारी रूप प्रकृतिपिण्ड-भौतिकपिण्ड की उत्पत्ति हुई है। भूमि आदि स्थूलपंचभूतों से तद्तद्भूतों के पाँच-पाँच गुणों से युक्त २५ गुणों वाला भौतिक शरीर बनता है।[३१] यहाँ चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार, और चैतन्य इन पाँच को अन्तःकरण कहा गया है[३२] तथा उनके अलग-अलग गुण भी बताये गये हैं।[३३] इसी

क्रम में तीन गुणों के साथ काल और जीव के भी पाँच-पाँच गुण बताये गये हैं।[३४]

इस प्रकार यह भौतिक जगत्—दृश्यमान ब्रह्माण्ड और पिण्ड-शिव और उनकी स्वरूपभूता अन्तर्निहित शक्ति का ही चिद्विलास है। अपनी अनन्त शक्ति से युक्त शिव तात्त्विक रूप में अपने पूर्ण आनन्दमय, अपरिवर्तनीय स्वरूप में रहते हुए भी विलास रूप में अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करते भोग और भाग्य, स्रष्टा और सृष्टि, आधार और आधेय, आत्मा और शरीर, आत्मा और उसकी अभिव्यक्तियाँ आदि दोहरे रूपों में भासित होते हैं। वह कभी शक्ति को नहीं त्यागते और उनकी शक्ति कभी उनको नहीं छोड़ती। इस प्रकार शिव यद्यपि अपनी शक्ति के द्वारा शाश्वत रूप से अपने को समस्त रूपाकारों में व्यक्त करते हैं तथापि वह अनादिकाल से आत्मस्वरूप में अद्वैत, परिवर्तनरहित अभेदसत्ता निर्गुण ब्रह्म के रूप में रहते हैं।[३५] वह शक्ति जो प्रापञ्चिक द्वैतताओं का आधार, कारण और पोषक है जब अपने मूलस्वतः प्रकाश शिव के पारमार्थिक स्वरूप में विराजती है तब शिव से पूर्ण तदाकार हो जाती है। इस प्रकार वह शिव के कुल (जागतिक) और अकुल (पारमार्थिक) दोनों रूपों का सामंजस्य और एकता प्रदर्शित करने वाली है।[३६]

उक्त विवेचन से यह विदित होता है कि नाथपन्थीदर्शन सत्कार्यवादी है। इसकी धारणा है कि कार्यरूप जगत् अपने वास्तविक उत्पत्ति के पूर्व अव्यक्त रूप में तथा उपादान कारण में उपस्थित रहता है। वे मानते हैं कि सक्रिय रूप में शिव या परमात्मा की आध्यात्मिक शक्ति ही इस सृष्टि प्रक्रिया में उपादान और निमित्त कारण भी है। यहाँ संक्षेप में एक वाक्य में सिद्धान्त निरूपित करते हुए सिद्धसिद्धान्त पद्धति में कहा गया है कि—'परापरविमर्शरूपिणी संवित् नानाशक्तिरूपेण निखिलपिण्डाधारत्वेन वर्ततेइतिसिद्धान्तः'[३७] अब तक निरूपित दार्शनिक विवेचन को सिद्धसिद्धान्त पद्धति के दो संक्षिप्त उद्धरणों से अच्छी तरह समझा जा सकता है। कहा गया है—'अतएव एकाकारः अनन्तशक्तिमान् निजानन्दतया अवस्थितः अपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठाम् स्वयमेव भजति इति व्यवहारः अलुप्तशक्तिमान् नित्यम् सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वैनरूपेण एकएवावशिष्यते' (सि.सि.प. ४/१२) तथा 'सैवशक्तिःयदा सहजेन स्वस्मिन् उन्मीलिन्याम् निरोत्थानदशायाम् वर्तते तदा शिवः स एव भवति। अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्य निजभूमिका निगद्यते।'(सि.सि.प. ४/१२)

अतः परपिण्ड से प्रकृतिपिण्ड तक अव्यक्त परमशिव की ब्रह्माण्ड पिण्ड से व्यष्टि पिण्ड के रूप में उनकी व्यक्ति तक का वर्णन नाथदर्शन का अपना वैशिष्ट्य है। जैसा कि गोरक्षदर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् अक्षय कुमार बनर्जी ने बताया है[३८] पिण्ड शब्द को कुछ विशेष महत्त्व दिया गया है। गोरक्षनाथ ने इसका प्रयोग विभिन्न सन्दर्भों में किया है, इससे अभिप्राय अस्तित्व के सभी स्तरों में अनेकता में एकता के सत्य पर बल देना प्रतीत होता है।

अस्तु, महासाकारपिण्ड शिव की अष्टमूर्तियों के रूप में भैरव से ब्रह्मा तक जिन मूर्तियों का वर्णन है वे ब्रह्माण्ड के विभिन्न कार्यों—सृजन, पालन और संहरण के लिए हैं। ये सभी अलग-अलग नामों के बावजूद शिव ही हैं क्योंकि ये उन्हीं की तद्तद् अभिव्यक्तियाँ हैं। शिव के इस महासाकार पिण्ड—ब्रह्माण्ड शरीर से विभिन्न लोकों का विकास हुआ है। इसे निरूपित करते हुए अक्षय कुमार बनर्जी ने

यह बताया है कि शिव की प्रथम विशिष्ट दिव्य आत्माभिव्यक्ति जड़-जगत् के रूप में है जो प्राकृतिक नियमों से शासित होता है। दूसरी अभिव्यक्ति जीवन और प्राण शक्तियों का लोक है जो जैविक नियमों अथवा प्राण के नियमों से शासित होता है। तीसरी अभिव्यक्ति मनोजगत् रूप में है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति मनस् की दशाएँ हैं—प्रेम, घृणा, दया, क्रूरता, काम-क्रोध, लोभ और महत्त्वाकांक्षा आदि मनोजगत् के प्रपञ्च हैं और ये साधारणतया अधिक विकसित और अधिक सजीव भौतिक शरीरों में विशेषत: स्नायुमण्डल और मस्तिष्क में अनुभव किये जाते हैं।

शिवशक्तिमय विकास की चौथी अभिव्यक्ति बुद्धि है जिसे उच्चतर मनस् कहा जा सकता है। यह मुख्यत: अध्यवसाय या सत्य निश्चय के रूप में है। पाँचवीं अभिव्यक्ति धर्म जगत् के रूप में है जिसका अनिवार्यत: अर्थ है एक नैतिक व्यवस्था। विराट् ब्रह्माण्ड की छठवीं अभिव्यक्ति रसजगत् के रूप में है जो सौन्दर्यात्मक व्यवस्था है। समस्त ब्रह्माण्ड शरीर में रस व्याप्त है आश्चर्यजनक रूप से परस्पर सम्बन्धित जड़जीवन, मनस् और बुद्धिजगत् ये समस्त सम्पूर्ण व्यवस्था के सौन्दर्य से गर्भित हैं और वे सब इस ब्रह्माण्ड शरीर में शिवशक्ति के चिद्विलासी आत्मप्रकटीकरण के सौन्दर्य में अपनी निर्धारित भूमिकाएँ निभाकर पूर्णतया प्रकट करते हैं। महासाकारपिण्ड की सातवीं अभिव्यक्ति आनन्द जगत् है। ब्रह्माण्ड व्यवस्था का यह आनन्दरूप तत्त्वज्ञानालोकित आध्यात्मिक चेतना के समक्ष प्रकट होता है। भौतिक ब्रह्माण्ड के समस्त निर्माणकारी तत्त्व जिन्हें योगियों द्वारा महाभूत या महातत्त्व कहा गया है आनन्द के आत्माकार है। समस्त पुद्गल और प्राण तथा मनस् और बुद्धि जो इस ब्रह्माण्ड शरीर में विकसित हुए हैं इस आनन्द की आत्माभिव्यक्ति के रूप में हैं। इन्द्रियाँ एवं सौन्दर्यानुभूतियाँ ये सभी परमात्मा के आनन्द से विकसित हुई हैं तथा आनन्द इन सबमें परिव्याप्त है।[३९]

नाथयोगदर्शन के सन्दर्भ में लोकप्रसिद्ध १४ भुवनों के अतिरिक्त विष्णुलोक, रुद्रलोक, ईश्वरलोक, नीलकण्ठलोक, शिवलोक, भैरवलोक, अनादिलोक, कुललोक, अकुललोक, परापरलोक तथा शक्तिलोक का भी वर्णन है। किन्तु यह वर्णन भी उपलक्षण मात्र है। ब्रह्माण्ड की यह इयत्ता नहीं है। व्यष्टिपिण्ड (वैयक्तिक शरीर) का समष्टिपिण्ड (ब्रह्माण्ड शरीर) से समरसकरण नाथयोगी सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित एक महान् आदर्श है जिसके द्वारा वे यह अनुभव कराना चाहते हैं जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है और हम इस प्रकार महाशक्ति की महिमा के समान रूप से भागीदार हैं। नाथयोग में प्रकृतिपिण्ड को नर-नारी के रूप में द्विधा विभक्त बतलाया गया है। ये सब अन्तिम रूप में शिव के ब्रह्माण्ड शरीर की वैयक्तिक अभिव्यक्तियाँ हैं और इस प्रकार मूल रूप से उनसे अभिन्न हैं। यहाँ इस सन्दर्भ में तीन बातें अवधेय हैं—एक यह कि शास्त्रों में जो ८४ लाख जीव योनियाँ बतलायी गयी हैं उनमें मानव योनि सर्वाधिक व्यवस्थित है। इसमें भौतिक, जैविक, मानसिक और बौद्धिक समस्त अंग समानुपात में परस्पर सहयोगी रूप में विकसित हैं। इस प्रकार व्यष्टि के रूप में मनुष्य को अपनी श्रेष्ठ शरीर रचना के कारण विभिन्न लोकों में निवास करने तथा विभिन्न अस्तित्व और अनुभव स्तरों में भाग लेने का असाधारण अवसर प्राप्त है। दूसरी बात यह कि नाथयोग एवं दर्शन में वैयक्तिक मानव शरीर को शिवशक्ति जो अपनी ब्रह्माण्ड शरीर का लघुरूप ही माना जाता है।[४०] तीसरी बात यह कि दिव्यशक्ति जो अपनी

ब्रह्माण्डरूपा आत्माभिव्यक्ति की परिक्रिया में पूर्णएकत्व एवं आनन्द के उच्चतम पारमार्थिक आध्यात्मिक स्तर से शनैः-शनैः अनन्त अपूर्णताओं के निम्नतम प्रापञ्चिक भौतिक स्तर पर उतर आती है। वह पुनः मानव शरीर के ही अन्तर्गत उसी के माध्यम से योगादि के बल से अपने पारमार्थिक आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचकर शिव से पूर्णरूपेण आनन्दमय एकत्व प्राप्त कर लेती है।[४१]

परपिण्ड से लेकर गर्भपिण्ड की उत्पत्ति तक का विवरण देने के साथ ही नाथयोग में पिण्ड पर भी गम्भीर रूप से विचार किया गया है। तदनुसार पिण्ड में आधार आदि नव चक्र हैं;[४२] अनेक स्थलों पर नाथयोग ग्रन्थों में केवल षट्चक्रों का ही उल्लेख मिलता है। मूलाधार-अपानस्थान में ब्रह्मचक्र है। यह त्रिधावर्त और भगमण्डलाकार है। यहाँ पावकाकारशक्ति का ध्यान किया जाता है यही कामरूपपीठ चक्र है। इसके मध्य में पश्चिमाभिमुख प्रवालमणि के अंकुर के सदृश लिंग है उसका ध्यान करना चाहिए। यहीं उड्यानपीठ भी है जिसमें ध्यान से जगत् का आकर्षण होता है।[४३] तीसरा नाभि चक्र है यह पंचावर्त और सर्प के समान कुण्डलाकार है इसके बीच में करोड़ बालसूर्यों के समान कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करना चाहिए। यह मध्यमाशक्ति है और सब प्रकार की सिद्धियाँ देती है।[४४] इसके पश्चात् चौथा हृदय चक्र है जो अष्टदलकमल से युक्त और अधोमुख है।[४५] पाँचवाँ कण्ठ चक्र है जो चार अंगुल का है। इसके वामभाग में चन्द्रनाड़ी इड़ा है, दक्षिण भाग में सूर्यनाड़ी पिंगला है और दोनों के मध्य में श्वेतवर्णा सुषुम्ना का ध्यान करना चाहिए।[४६] छठाँ तालु चक्र है इसमें अमृत धारा का प्रवाह है। यहाँ शून्य का ध्यान करने से चित्त का लय होता है।[४७] सातवाँ भ्रू-चक्र है जिसे आज्ञा-चक्र भी कहते हैं। यहाँ दीपशिखाकार ज्ञाननेत्र का ध्यान करना चाहिए, इससे वाक्सिद्धि होती है।[४८] आठवाँ ब्रह्मरन्ध्र-स्थान में निर्वाण-चक्र है जो सुई की नोक के समान सूक्ष्म और तीक्ष्ण है[४९] जो १६ कमलदलों का और ऊर्ध्वमुख है यही सर्वसिद्धिदायक पूर्णपीठ है।[५०] नवचक्रों के बाद षोडश आधारों का वर्णन मिलता है जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—१. पादाङ्गुष्ठाधार, २. मूलाधार, ३. गुदाधार, ४. मेढ्राधार, ५. उड्डयनाधार, ६. नाभ्याधार, ७. हृदयाधार, ८. कण्ठाधार, ९. घंटिकाधार, १०. ताल्वाधार, ११. जिह्वाधार, १२. भ्रूमध्याधार, १३. नासाधार, १४. नासामूल, १५. ललाटाधार, १६. ब्रह्मरन्ध्राधार। इन आधारों का विशेष वर्णन आकर ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

पिण्ड विचार में चक्र और आधार के वर्णन के साथ ही तीन लक्ष्यों और पाँच व्योमों (आकाशों) का विचार मिलता है। तदनुसार अन्तः, बहिः और मध्य भेद से लक्ष्य तीन हैं और आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश तथा सूर्याकाश नाम से पाँच व्योमों का वर्णन है। इनके भी विशेष विवरण मूल ग्रन्थों में ही द्रष्टव्य है। वैसे नाथयोग में इनके सम्यक् ज्ञान का बड़ा महत्त्व है। गोरक्षशतक में कहा गया है कि पाँच आकाशों को जो नहीं जानता है वह भला सिद्धि कैसे पा सकता?[५१] अस्तु, परपिण्ड तक शिव की विभिन्न अभिव्यक्तियों का नाथयोग तत्त्व दर्शन के अनुसार वर्णन करने के पश्चात् नाथपन्थी साधना का वर्णन भी आवश्यक है। यद्यपि सिद्धसिद्धान्त पद्धति जैसे सिद्धान्त ग्रन्थ में पातञ्जलयोग के समान ही अष्टांगयोग का वर्णन है किन्तु षडंगयोग का भी कई नाथग्रन्थों में उल्लेख मिलता है[५२] जिनका निरूपण करने के पूर्व मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ द्वारा वर्णित परपिण्ड से व्यष्टिपिण्ड तक का

एक वृक्ष प्रस्तुत करना विषयवस्तु को सुबोध बनाने की दृष्टि से उपयुक्त होगा।

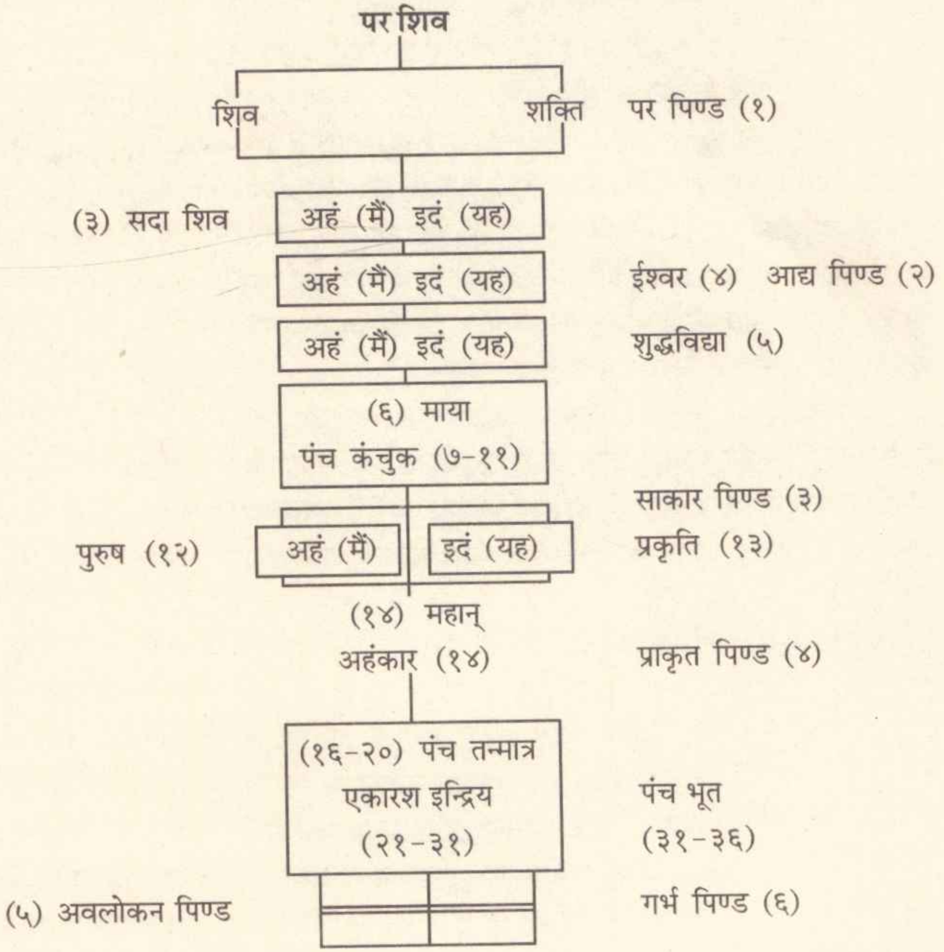

नाथयोग-साधना: नाथयोग-साधना अष्टांगयोग-साधना ही है। कुछ सिद्धान्त ग्रन्थों में अष्टांगयोग के स्थान पर षडंगयोग की ही चर्चा मिलती है। इसमें प्रारम्भ के दो अंग यम-नियम उल्लिखित नहीं होते किन्तु इनकी अनिवार्यता साधना में अष्टांगयोग जैसी ही है। वस्तुत: यम और नियम योगसाधना के प्रारम्भिक आधारभूत सोपान हैं जिनके अभ्यास के बिना आगे के सोपानों पर आहोरण सामान्य साधकों के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए अनुल्लेख के कारण इनको महत्त्वहीन नहीं समझना चाहिए। यद्यपि नाथयोगी भी अष्टांग या षडंगयोग साधना करते हैं तथापि इनकी पहचान योगसाधना के एक विशिष्ट प्रकार के हठयोग से बद्धमूल है। इसीलिए नाथयोगी को हठयोगी भी प्राय: कहा जाता है। शास्त्र ग्रन्थों में दो प्रकार के हठयोग की चर्चा मिलती है। एक हठयोग गोरक्षनाथ से पूर्ववर्ती है जिसके उपदेश का श्रेय मृकण्डुपुत्रादि को दिया गया है। हठयोग की दूसरी धारा नाथयोगियों द्वारा प्रवर्तित है जिसके प्रतिष्ठापक परमाचार्य के रूप

में शिवावतार महायोगी गोरक्षनाथजी का नाम लिया जाता है।[५३]

हठयोग साधारणतया प्राणनिरोध प्रधान साधना है।[५४] 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में बताया गया है कि हठ इस दो अक्षर वाले शब्द में प्रथम 'ह' वर्ण सूर्य का वाचक है और दूसरा 'ठ' चन्द्र का वाचक है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के योग को ही हठयोग कहते हैं।[५५] हठयोग के एक अन्य सम्मान्य आचार्य ब्रह्मानन्द के अनुसार उपर्युक्त सूर्य से तात्पर्य प्राणवायु का है और चन्द्र से अपानवायु का। अर्थात् प्राण और अपान वायु का निरोध रूप योग ही हठयोग है।[५६] हठयोग का एक अन्य अर्थ भी मिलता है। तदुनसार सूर्य इड़ानाड़ी को कहते हैं और चन्द्र पिंगलानाड़ी को तथा इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु का संचारण हठ योग है।[५७] प्राणतोषिणी ग्रन्थ में बताया गया है कि इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु का संचारण हठ-सिद्धि देने वाला है।[५८] हठयोग का सबसे प्राचीन उल्लेख बौद्ध तान्त्रिकों के गुह्य समाजतन्त्र में मिलता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका उल्लेख करते हुए बताया है कि बोधि-प्राप्ति की जो विधि बतायी गयी है उसका अभ्यास करने पर भी जब सिद्धि न प्राप्त हो तब हठयोग का आश्रय लेना चाहिए।[५९] आचार्य द्विवेदी ने हठ के और भी कई अर्थ निर्दिष्ट किये हैं। योगस्वरोदय में हठ के दो भेद बताये गये हैं। प्रथम भेद में आसन, प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्म का विधान है। इनके अभ्यास से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध नाड़ियों में पूरित वायु साधना में मन को निश्चल करता है जिससे अभीष्ट सिद्धि होती है। दूसरे भेद के अनुसार नासिका के अग्र भाग में दृष्टि टिकाकर आकाश में कोटि सूर्य के प्रकाश का स्मरण करना चाहिए और श्वेत रक्त पीत तथा कृष्ण रंगों का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से साधक चिरायु होता है और हठात् ज्योतिर्मय होकर चित्स्वरूप हो जाता है। इस योग को इसीलिए हठयोग कहा जाता है जो सिद्धसेवित मार्ग है।[६०] आचार्य द्विवेदी ने नाथयोग साधना के प्रसंग में बताया है कि मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर वायु और उपस्थ के मध्य भाग में मिलता है वहाँ एक स्वयंभूलिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में स्थित है इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। यह कुण्डलिनी ब्रह्मद्वार को अवरुद्ध कर सोयी हुई है, इसे जगा कर शिव से समरस कराना योगी का लक्ष्य है। यह लक्ष्य अन्य साधना-विधियों से भी प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु चाबी से जिस प्रकार हठात् ताला खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी के उद्बोधन से हठात् मोक्षद्वार भी अनायास खुल जाता है। हठात् मोक्षद्वार खोलने की यह विधि ही हठयोग है[६१] ऐसा गोरक्षशतक में भी कहा गया है। उपर्युक्त विवेचन से नाथयोग साधना में हठयोग का महत्त्वपूर्ण साधना मार्ग होने का ज्ञान होता है। यद्यपि कुछ सिद्धान्त-ग्रन्थों में हठयोग को राजयोग साधना के सोपान के रूप में भी बताया गया है[६२] तथापि नाथयोगियों में कायागढ़विजय और कुण्डलिनी जागरण के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता है। शिवसंहिता में कहा गया है कि हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए योगी सद्गुरु द्वारा बताये गये मार्ग से हठयोग साधना में प्रवृत्त होता है।[६३] अस्तु, नाथयोग साधना के क्रम में यथावसर पुन: हठयोग साधना का विवरण देने के पूर्व नाथयोगियों में प्रचलित तथा नाथपन्थी सिद्धान्त ग्रन्थों में प्राय: वर्णित अष्टांगयोग का यथावश्यक निरूपण किया जा रहा

है। यम अष्टांग योग साधना में पातञ्जल योग के समान ही प्रथम अंग है। किन्तु पतञ्जलि ने जहाँ इसके अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच ही यम बताये हैं वहाँ हठयोग प्रदीपिका में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तो पातञ्जल योग के समान ही है किन्तु इसमें क्षमा, धृति, दया, ऋजुता, मिताहार और शौच सहित कुल दस यम बताये हैं।[६४] अवधेय है कि पतञ्जलिप्रोक्त यमों में अपरिग्रह का इसमें उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार योग के आठ अंगों में दूसरे नियम के अन्तर्गत पतञ्जलि ने शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान रूप पाँच की चर्चा की है जबकि हठयोग-प्रदीपिकाकार ने तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ह्र, मति, और हवन रूप दस नियमों का उल्लेख किया है।[६५] उपर्युक्त यमों और नियमों में विशेष उल्लेखनीय षट्कर्म है जिनका हठयोग साधना की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। हठयोग की धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक तथा कपालभाति नामक छः कर्मों को षट्कर्म कहा जाता है। इसके द्वारा शरीर के मलों एवं विषाक्त तत्त्वों को दूर किया जाता है। षट्कर्मों में प्रथम धौति कर्म है। धौति का अर्थ धोना या साफ करना है। योगशास्त्र में मुँह से लेकर गुदाद्वार तक विधिवत आन्तरिक सफाई धौति कहलाती है। यह कायाशोधन की महत्त्वपूर्ण क्रिया है।[६६] इसके अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृदयधौति और मूलशोधन नामक चार प्रकार हैं जिनसे साधक अपने शरीर को स्वस्थ बनाते हैं।[६७] इनमें अन्तर्धौति के वातसार, वारिसार, वह्निसार और बहिष्कृत भव चार प्रकार के भेद बताये गये हैं।[६८] धौतिकर्म के प्रभाव से श्वास, कास, प्लीहा और कुष्ठ तथा बीस प्रकार के कफजन्य रोग दूर होते हैं ऐसा इस अभ्यास का फल बताया गया है।[६९] दूसरा षट्कर्म वस्ति है, इसके जल और शुष्क भेद से दो प्रकार बताये गये हैं। जल वस्ति जल में की जाती है और शुष्क वस्ति भूमि पर की जाती है। इसकी एक विधि यह है कि नाभि तक जल में स्थित होकर कनिष्ठिका अंगुली के प्रवेश योग्य छेद वाली बाँस की नली नदी देश में प्रविष्ट कर उत्कटासन में स्थित होकर गुदा का आकुंचन करना चाहिए। जल का उदर में संचारण कर इस प्रकार उदर को धोना चाहिए। इससे भी शरीर की तमाम व्याधियाँ दूर होती हैं।[७०] विभिन्न द्रव पदार्थों द्वारा नासिका मार्ग की सफाई करने की क्रिया नेति कहलाती है। यह नाक, कान, कण्ठ और मस्तिष्क से सम्बन्धित रोगों में लाभदायक है। जल, सूत्र, दुग्ध, तेल या घृत आदि माध्यमों के कारण इसके अनेक भेद बताये गये हैं। षट्कर्मों में चौथी क्रिया त्राटक है किसी लक्ष्य विशेष को एकाग्रता के साथ आँसू निकलने तक निर्निमेष देखने की क्रिया त्राटक कहलाती है।[७१] इसके अन्तः, मध्य और बाह्य तीन भेद बताये गये हैं इससे नेत्ररोग दूर होते हैं, स्मरण-शक्ति आदि बढ़ती है तथा मन की उद्विग्नता भी शान्त होती है। पाँचवाँ षट्कर्म कपालभाति है। लोहार की धौंकनी के चलने के समान वेगपूर्वक रेचक और पूरक प्राणायाम ही कपालभाति कर्म कहलाता है इससे मस्तिष्क के तमाम विकारों को दूर कर प्राणशक्ति द्वारा कपाल का शोधन किया जाता है। वातक्रम, व्युत्क्रम और शीतक्रम के भेद से इसके भी तीन भेद बताये जाते हैं।[७२] कन्धे को सामने की ओर झुकाकर अपने पेट को दाहिनी और बाँयी ओर तेजी से इधर-उधर घुमाना नौलिकर्म कहा गया है यह भी षट्कर्म की एक विधि है और हठयोग की अन्य क्रियाओं में शीर्ष स्थानीय बतायी गयी है।[७३] इससे मन्दाग्नि नष्ट होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, पाचन शक्ति बढ़ती है और विभिन्न प्रकार के वात-विकार नष्ट होते हैं।[७४] हठयोग साधना में उपर्युक्त यमों में मिताहार का भी

बड़ा महत्त्व है। हितभुक् और मितभुक् व्यक्ति ही अच्छी तरह योगाभ्यास करने में समर्थ हो सकता है।

अष्टांग योग में यम-नियम के पश्चात् आसन नामक तीसरे अंग का विशेष महत्त्व है। षडंगयोग में यह प्रथम अंग के रूप में निर्दिष्ट है। इनके अभ्यास से साधना में स्थिरता, आरोग्य और शारीरिक स्फूर्ति प्राप्त होती है। आसन दृढ़ करने के पश्चात् ही ध्यान धरने की बात सिद्धान्त ग्रन्थों में कही गयी है। गोरक्षनाथजी ने सिद्धसिद्धान्त पद्धति में आसन को स्वरूप चेतना में स्थित होना कहा है।[७५] आसनों की संख्या ८४ लाख योनियों के समान ही ८४ लाख बतायी गयी है जिनमें ८४ आसन सिद्धों और योगियों में अधिक प्रचलित हैं जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—सिद्ध, पद्म, भद्र, मुक्त, वज्र, स्वस्तिक, सिंह, गोमुख, वीर, धनुष, शव, गुप्त, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पश्चिमोत्तान, उत्कट, सकट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्म, उत्तानमण्डूक, वृक्ष, मण्डूक, गरुड़, वृषभ, षलभ, मकर, उष्ट्र, भुजंग और योग नामक ३२ आसनों की चर्चा घेरसंहिता में आयी है।[७६] आसनों के नियमित अभ्यास से शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है तथा इसके अंग-प्रत्यंग के क्रियाशील होने से आरोग्य बढ़ता है। इनकी भी विशेष चर्चा आकर ग्रन्थों में ही देखनी चाहिए। आसनों की चर्चा यद्यपि तीसरे अंग के रूप में पतञ्जलि ने भी की है किन्तु इस विषय में नाथयोगियों का अपना विशिष्ट योगदान है। कई नये आसन नाथयोगियों ने स्वयं अपने अनुभव और अभ्यास से प्रचलित किये हैं जिनमें अर्धमत्स्येन्द्रासन, पूर्णमत्स्येन्द्रासन और गोरक्षासन आदि उदाहरणस्वरूप हैं। योगांगों में नाथयोगियों की दृष्टि से तुलनात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण प्राणायाम है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि हठयोग की प्रमुख क्रिया प्राणनिरोध/प्राणायाम ही है। पतञ्जलिप्रोक्त राजयोग में जो स्थान मनोनिग्रह का है वही स्थान हठयोग साधना में प्राणसंयम या प्राणायाम का है। हठयोग प्रदीपिका में बताया गया है कि आसन सिद्ध हो जाने पर योगी को विधिपूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।[७७] जब तक प्राणवायु चंचल रहती है अर्थात् प्राणायाम के द्वारा इसे स्थिर नहीं कर लिया जाता है तब तक चित्त भी चंचल ही रहता है और उसका निरोध कथमपि सम्भव नहीं है। इसलिए योगी को प्राणायाम द्वारा वायु का निरोध अर्थात् संयमन करना चाहिए।[७८] जब तक शरीर में वायु स्थित है तभी तक जीवन है। प्राण वायु के निकलते ही शरीर का भी मरण हो जाता है इसलिए प्राण का निरोध करना चाहिए।[७९] इससे यह स्पष्ट होता है कि वायु के निरोध से आयु की वृद्धि होती है इसलिए प्राणायाम करना चाहिए। सिद्धान्त ग्रन्थों में यह भी बताया गया है कि जब तक शरीर की नाड़ियाँ मल से पूर्ण हैं तब तक मध्य नाड़ी सुषुम्ना में वायु का संचार नहीं हो सकता। इसलिए मन का उन्मनीकरण करने के लिए प्राणायाम नितान्त आवश्यक है।[८०] प्राणायाम के बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, स्तम्भवृत्ति भेद से तीन प्रकार बताये गये हैं यह देश, काल और संख्या से देखा हुआ लम्बा और हल्का होता है।[८१] 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में रेचक, पूरक, कुम्भक और संघट्टकरण नामक प्राणायाम के चार भेद बताये गये हैं। हठयोग प्रदीपिका में प्राणायाम के कुम्भक आदि भेदों के अनेक प्रकार बताये गये हैं। अकेले कुम्भक में सूर्यभेदन, उज्जायी, सीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी नाम के आठ प्रकार बताये गये हैं।[८२] इसी प्रकार और भी भेदों के कई उपभेद बताये गये हैं। इस प्रकार इनका भी विशेष विवरण आकर ग्रन्थों में ही द्रष्टव्य है। अष्टांग और षडंगयोग में अगला अंग प्रत्याहार है। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में बाह्य विषयों से इन्द्रियों को हटाकर उन्हें अन्तर्मुख करना प्रत्याहार

बताया गया है।[८३] विवेकमार्तण्ड में इसे विस्तार से समझाते हुए कहा गया है कि अपने-अपने बाह्य विषयों में भटकती हुई नेत्रादि इन्द्रियों को वापस लौटाना (अन्तर्मुखी बनाना) प्रत्याहार कहलाता है। जैसे तीसरे पहर में सूर्य अपनी प्रभा को समेट लेता है उसी प्रकार से प्रत्याहार नामक तीसरे अंग की साधना में योगी बाह्य विषयों के सम्पर्क से होने वाले प्रभावों से चेतना को मुक्त करता है। जैसे कूर्म (कछुआ) अपने बाहर निकले अंगों को आवश्यकतानुसार वापस शरीर में संकुचित कर लेता है वैसे ही योगी को भी बाह्य विषय वृत्तियों से अपनी इन्द्रियों को प्रत्याहृत कर लेना चाहिए।[८४] ऐसा ही वर्णन योग-पद्धति में भी आया है।[८५] आठ योगांगों के क्रम में पाँचवाँ स्थान ध्यान का है। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में ध्यान का लक्षण-निरूपण करते हुए सब प्राणियों में समदृष्टि को ध्यान कहा है।[८६] वहाँ इसे सकल और निष्कल भेद से दो प्रकार का बताया गया है। सकल और निष्कल को ही सगुण और निर्गुण भी बताया गया है।[८७] ध्यान के गुदा, मेढ्र, नाभि, हृदय, कण्ठ, घण्टिका, लम्बिका स्थान, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र नामक ९ स्थान बताये गये हैं। इन्हीं स्थानों में ब्रह्मात्मक तेज श्रेष्ठ शिवज्योति का ध्यानकर उसे जानकर योगी मुक्त हो जाता है ऐसा गोरक्षनाथ ने कहा है। इसकी महिमा बताते हुए यहाँ तक कहा गया है हजारों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ ध्यानयोग की एक कला की भी बराबरी नहीं कर सकते।[८८] ध्यान के पश्चात् अगला और सातवाँ अंग धारणा है। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में इस विषय में कहा गया है कि बाहर और भीतर सब कुछ आत्मत्व रूप में अन्त:करण से साधना धारण है जो-जो उत्पन्न होता है उसे निराकार में धारण करना चाहिए।[८९] अन्यत्र कहा गया है कि हृदय में मन एवं प्राणवायु को निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों को पृथक्-पृथक् संधारण करना धारणा कहलाती है। यह विवरण देते हुए कहा गया है कि जो पृथ्वी हरिताल अथवा सुवर्ण के समान रमणीय वर्ण अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा सहित चतुष्कोणाकार मध्य में (लं) बीज युक्त है, इस (लं) पृथ्वी तत्त्व को हृदय में ध्यान करके भावना करना उक्त भूमण्डल में आप भी लीन हो चित्त सहित प्राण को लीन करके पाँच घटी स्तम्भन करने वाली धारणा होती है। इस धारणा के सर्वदा अभ्यास से पृथ्वी तत्त्व अपने वश में हो जाता है। इसी प्रकार जल, तेज, वायु और आकाश के सम्बन्ध में भी इनके वशीकरण के लिए धारणा बतायी गयी है।[९०] यह भी बताया गया है कि स्तम्भिनी, द्राविणी, दाहनी, भ्रामिणी और पोषणी ये पाँच धारणाएँ होती हैं। इन पाँचों धारणाओं का स्थिराभ्यास करने से साधक सब दु:खों से मुक्त हो जाता है। धारणा से मन में धैर्य बढ़ने से उत्तम ज्ञान मिलता है; इससे अद्भुत चैतन्य प्राप्त होता है।[९१] अष्टांगयोग का आठवाँ और अन्तिम अंग समाधि है। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में कहा गया है कि सब तत्त्वों की समावस्था, निरुद्यमता और अनायासस्थितिमत्ता समाधि है। वहीं विवेकमार्तण्ड का उद्धरण.देते हुए कहा गया है जब प्राण संलीन हो जाता है, और मन भी विलीन हो जाता है तब समरसता की स्थिति होती है और यही समाधि कहलाती है।[९२] गोरक्षपद्धति में कहा गया है कि भूख-प्यास, शीत-ऊष्ण, सुख-दु:ख इत्यादि द्वन्द्व कहलाते हैं। इनसे पीड़ा न होने तथा इनसे उद्वेग न होने का जो ऐक्य है अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा का कारण मात्र रूप से ऐक्य है। समस्त संकल्पों-विकल्पों का जो नष्ट होना है वह समाधि कहलाता है। जैसे जल में सेन्धा नमक देने से दोनों की एकता दिखायी देती है वैसे ही बाह्य विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख होने पर आत्माकार वृत्ति होने से आत्मा और मन का ऐक्य होता है।

जीवात्मा और परमात्मा के इसी ऐक्य को समाधि कहते हैं। जब योगी समाधि में स्थिर हो जाता है तब उसको जरा एवं मरण पीड़ित नहीं करते अर्थात् वह अजर-अमर हो जाता है।[९३] इस प्रकार सिद्धसिद्धान्त, अवधूतमत या नाथयोग में अष्टांगयोग का वर्णन मिलता है किन्तु नाथ हठयोग साधना में यह विषय पातञ्जल योग से बहुत भिन्न रूप में वर्णित नहीं है। नाथयोग साधना की विशिष्ट पहचान हठयोग के कारण है जिसमें षट्चक्र-भेदन, नादानुसन्धान, कुण्डलिनी जागरण, मुद्राबन्ध तथा कायागढ़विजय आदि का विशेष महत्त्व है और इनका विवरण दिये बिना पातञ्जल योग साधना से नाथयोग साधना का वैशिष्ट्य स्पष्ट नहीं होता। इसलिए यहाँ उसका उल्लेख आवश्यक है। षड्चक्र, षोडषाधार, द्विलक्ष्य और व्योमपंचक की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। जैसा कि बताया जा चुका है नाथयोगी पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की कल्पना करते हैं। तदनुसार कूर्म पादतल में बसता है, पाताल पादांगुष्ठ में बसता है, तलातल अंगुष्ठ के अग्र भाग में, महातल पादपृष्ठ में, रसातल गुल्फ में, सुतल जाँघों में, वितल जानु में, अतल उरु में इस प्रकार सातों पाताल पिण्ड में बसते हैं। यहाँ रुद्र देवता आधिपत्य में रहते हैं और इनकी कालाग्नि रुद्र संज्ञा है। भू-लोक गुदा स्थान में बसता है, भुव: लिंग स्थान में और स्व: नाभि स्थान में रहता है। इस प्रकार इन तीनों लोकों के देवता इन्द्र हैं जो पिण्ड में सब इन्द्रियों के नियामक रूप में रहते हैं। मेरुदण्डांकुर में महर् लोक है, दण्डकुहर में जनलोक, दण्डनाल में तपोलोक, मूलकमल में सत्यलोक है और इस प्रकार उक्त चारों लोकों के अधिदेवता ब्रह्मा हैं। कुक्षि में विष्णुलोक है यहाँ विष्णु का वास है, हृदय में रुद्रलोक, वक्षस्थल में ईश्वरलोक, कण्ठमूल में सदाशिवलोक, कण्ठमध्य में नीलकण्ठलोक, तालुद्वार में शिवलोक, लम्बिकामूल में भैरवलोक, लम्बिका के भीतर सिद्धलोक, ललाट में महासिद्धलोक, शृंगाट में कुललोक, नलिनी स्थान में अकुलेशलोक, ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्मलोक, ऊर्ध्वकमल में परस्परलोक, त्रिकुटी स्थान में शक्तिलोक बसता है। इसी प्रकार पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की कल्पना कर साधक को बाह्य जगत् से अपनी वृत्तियों को मोड़कर अन्तर्जगत् में लीन करने को कहा जाता है।[९४] एक स्थान पर कहा गया है जो साधक अपने शरीर में एक स्तम्भ नव द्वार और पाँच अधिदेवताओं को नहीं जानता वह सिद्धि कैसे पा सकता है।[९५] विवरण में बताया गया है यह शरीर ही गृह है जिसमें सकल वासनाओं का आश्रय मन एक मात्र स्तम्भ है। इसके घर में मुखनेत्रादि नव द्वार हैं तथा पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वों के ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव पाँच देवता हैं।[९६] हठयोग साधना में षट्चक्रों का विवरण मिलता है। इनमें पहला आधारचक्र है जो चतुर्दल है, दूसरा स्वाधिष्ठानचक्र है जो षट्दल कमल है। तीसरा नाभिचक्र दस दल का है और चौथा हृदयचक्र द्वादशदल कमल वाला है, पाँचवाँ कण्ठचक्र षोड़शदल कमल का है, छठाँ भ्रूमध्य में द्विदल कमल तथा सातवाँ ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार कमल है। इन सभी कमलदलों में विभिन्न वर्णों की स्थिति बतायी गयी है। मूलाधार में जो चतुर्दल कमल है उसके मध्य में त्रिकोणाकार योनि है जिसकी वन्दना समस्त सिद्धजन करते हैं। यह ५० वर्णों से बनी हुई कामाख्यापीठ कहलाती है। पूर्वोक्त त्रिकोणाकार योनि में सुषुम्ना द्वार के सम्मुख स्वयम्भू नामक जो महालिंग है उसके सिर में मणि के समान देदीप्यमान बिम्ब है यही कुण्डलिनी जीवाधार, शरीराधार मोक्ष द्वार है। मेढ्र के नीचे मूलाधार कणिका में तपे हुए स्वर्ण के समान वर्ण वाला, विद्युत के समान चमक-दमक वाला जो त्रिकोण है वही कालाग्नि का स्थान है। लिंगमूल से ऊपर नाभि के कुछ नीचे कन्द के सदृश समस्त नाड़ियों

का मूल पक्षी के अण्डे के समान आकार वाला है इससे ७२ हजार नाड़ियाँ निकलकर ऊपर नीचे-तिरछी होकर सर्वांग व्याप्त हैं। उक्त ७२ हजार नाड़ियों में ७२ नाड़ियों को मुख्य बताया गया है। इनमें भी प्राणवाहिनी १० नाड़ियाँ ही प्रधान हैं जिनके इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजि, पूषा, यशस्विनी, अलम्बूसा, कुहू और शंखिनी नाम हैं। इस नाड़िमयचक्र को योगाभ्यासी को अवश्य जानना चाहिए। इन नाड़ियों के ज्ञान के पश्चात् इन नाड़ियों में प्रवहमान वायु को जानना चाहिए प्राणायाम द्वारा जिनकी साधना से नाड़ीशोधन होता है। नासिका के वामभाग में इड़ा दायीं ओर, बायीं ओर पिंगला और इनके मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। इन तीनों की जड़ मूलाधार चक्र की कणिका का त्रिकोण है जिसके वाम कोण से इड़ा, दक्षिण कोण से पिंगला और पश्चिम कोण से सुषुम्ना नाड़ी उत्पन्न हुई है। ये तीनों नाड़ियाँ उक्त चक्र को अंकमाल किये हैं और अपनी-अपनी ओर के नासिका छिद्र से बहती हैं। इनके मध्य स्थित सुषुम्ना मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त प्रवाहित होती है। अन्य दस नाड़ियों में वामनेत्र में गान्धारी, दक्षिण नेत्र में हस्तिजिह्वा, दक्षिण कर्ण में पूषा, दक्षिण वाम कर्ण में यशस्विनी और मुख में अलम्बुशा है। लिंग देश में कुहू और मूलस्थान में संखिनी ये दो उस कन्द से अधोमुख होकर नीचे को गयी हैं और ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर को हैं। इस प्रकार उक्त दस नाड़ियाँ प्राणवायु के एक-एक मार्ग में स्थित हैं।[९७] यहीं नाथयोग में वर्णित दस वायुओं का भी परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। इनके नाम हैं प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। हृदय में प्राण, गुदामण्डल में अपान, नाभि स्थान में समान, कण्ठमध्य में उदान और सम्पूर्ण शरीर में व्यान का संचार है। ये पाँच ही प्रधान नाड़ियाँ हैं। शेष प्राणों के स्थान क्रमशः डकार में नाग, नेत्रों के उन्मिलन में कूर्म, छींक में कृकल और जम्हाई लेने में देवदत्त वायु का निवास बताया गया है। धनञ्जय वायु के बारे में बताया गया है कि यह सारे शरीर में व्याप्त रहता है और मृत शरीर में भी चारघटी पर्यन्त स्थित रहता है। ऊपर से आज्ञाचक्रगत प्राणवायु नीचे मूलाधार स्थित अपान वायु को तथा मूलाधारगत अपान वायु आज्ञाचक्र स्थित प्राणवायु को परस्पर आकृष्ट करते हैं। योगाभ्यासी पुरुष प्राणायाम से इन्हीं को जोड़ता है। इसी योग को हठयोग कहते हैं जो सूर्य और चन्द्रमा का योग भी कहलाता है। कहा गया है कि हकार से श्वास बाहर निकलता है और सकार से पुनः प्रविष्ट होता है। इस प्रकार श्वासोच्छ्वास की क्रिया से जीव हमेशा हंसमन्त्र (अजपागायत्री) का जप करता रहता है। सूर्योदय से सूर्यास्त तक ६० घड़ी में इस मन्त्र की जप संख्या २१,६०० होती है इतना जप जीव स्वयं करता है। यह अजपा गायत्री योगियों के लिए मोक्षदायिनी कही गयी है। इसकी जैसी न कोई विद्या है न इसका जैसा कोई जप और ज्ञान है। कुण्डलिनी महाशक्ति से उत्पन्न हो रही तथा प्राणवायु को धारण करने वाली यह अजपा गायत्री जीवात्मा की शक्ति प्राणविद्या स्वरूप भी है जो इस महाविद्या को जानता है वही वेदविद् है।[९८] ७२ हजार नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान पूर्वोक्त कन्द के ऊपर मणिपूरचक्रर्णिका में आठ वृत्त करके वेष्ठित हो रही कुण्डलिनीशक्ति ब्रह्मरन्ध्र द्वार के मुख को रोककर स्थित है। जिस मार्ग द्वारा जन्म-मरण के दुःख हरण करने वाला अख़ण्ड ब्रह्मानन्द पद मिलता है उस मार्ग को रोककर सोयी हुई कुण्डलिनी प्राण वायु के उत्तेजित करने से प्रबुद्ध होकर मन एवं प्राणवायु सहित सुषुम्ना नामक मध्य नाड़ी से ऊपर की ओर जाती है। जैसे कुञ्जी से ताला खोलने पर कपाट खुल जाता है वैसे ही कुण्डलिनी द्वारा योगी मोक्षद्वार को खोल देता है।[९९] कुण्डलिनी जागरण द्वारा शक्ति का

शिव से सामरस्य रूप संगम प्राप्त करने के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मुद्रा और बन्ध का ज्ञान और इनका अभ्यास भी हठयोग साधना का अनिवार्य अंग है। गुरु की कृपा से जब कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है तब शरीर में स्थित समस्त षट्चक्रों का भेदन करती हुई वह परमशिव के निवास स्थान सहस्रार तक पहुँचने की स्थिति में होती है; किन्तु ब्रह्मद्वार के मुख के अग्रभाग में सोती हुई कुण्डलिनी को जगाने के लिए साधक को मुद्राओं का अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए। मुद्राएँ महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डयान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली और शक्तिचालन नाम से दस प्रकार की हैं। इन मुद्राओं का विशेष विवरण सम्प्रदाय के आकर ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने इस सन्दर्भ में चन्द्र और सूर्य को प्रकृति और पुरुष मानते हुए इसे प्रकृति और पुरुष का आलिंगन बताया है। इसी आलिंगन से शून्य पथ या सुषुम्ना का पथ खुलता है। इस शून्यता की कई कोटियाँ हैं—शून्य, अतिशून्य, महाशून्य आदि विशुद्ध शून्य ही निर्वाण पद है। इसी अवस्था को सिद्धों ने तत्त्वातीत की अवस्था माना है। इसी से शिवशक्ति की समरसता की बात भी है। यही सहज साधना है। यही अवस्था पूर्ण सिद्धि, निर्वाण महामुख, सुखराज तथा मुद्रा का साक्षात्कार आदि है।[१००] पतञ्जलि ने जहाँ चित्तवृत्ति के निरोध को योग माना है वहाँ नाथों ने अलख निरञ्जन पद में आत्मा को विलीन करने की बात कही है जिसका माध्यम कायायोग या हठयोग है। यहीं प्रसंगत: नाथयोगियों के कायागढ़ विजय पर भी प्रकाश डालना उचित है। यदि योग से यह विजय प्राप्त नहीं होती तो सब व्यर्थ है।[१०१] गोरखनाथजी ने गोरखवाणी में कहा है निरञ्जननाथ की दुहाई है, मेरा आवागमन मिट गया है, हमने पिण्ड में ब्रह्माण्ड को ढूँढ़कर सब सिद्धि प्राप्त कर ली है। कायारूप गढ़ के भीतर ९ लाख खाइयाँ (नवरन्ध्र) हैं अथवा ८४ लाख योनियों के संस्कार जिन्हें पाटकर दशम द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) तक पहुँचा जाता है, वहाँ ताला लगा हुआ है (जिसे कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा खोलना आवश्यक है) देवालय और तीर्थ सब इसी शरीर रूपी गढ़ के भीतर है। वहीं अविनाशी परमात्मा सहज स्वभाव से मुझे मिले हैं। कायागढ़ को कोई बिरला ही जीत सकता है।[१०२] कायागढ़ विजय की यह कल्पना नाथयोगियों ने तान्त्रिक बौद्धसाधकों से ली है किन्तु इसका स्वरूप निरूपण उनका अपना है। हठयोग पिण्ड ब्रह्माण्डवाद और कायागढ़ विजय तथा कुण्डलिनी जागरण के अतिरिक्त गुरुवाद भी नाथ योगसाधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। गुरु की कृपा के बिना नाथपन्थी साधना में सिद्धि की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। बारम्बार विभिन्न प्रसंगों में साधना के विभिन्न स्तरों पर गुरु के मार्गदर्शन और प्रसाद से ही सिद्धि की बात कही गयी है।

नाथयोग एक साधनापरक तत्त्वचिन्तन है; तर्क और समीक्षा तथा तुलना का इसमें बहुत स्थान नहीं है; वह बौद्धिकता की विडम्बना में भी नहीं पड़ता। वह तो मानता है कि पिण्ड ही पृथ्वी आदि पंचभूतों का केन्द्र है। ब्रह्माण्ड और पिण्ड की एकता के लिए सदा प्रयास करता है, इसी में परम शिव रहता है; वह स्वयं प्रकाशित एवं स्फुरित होता है। महापिण्ड ज्ञान की निधि है। इन्द्रियाँ समुद्र में नदी की तरह इसमें समाहित होती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध सहित पंचभूत इसी में रहते हैं। यह शरीर स्वयं में एक महापीठ है।[१०३]

सन्दर्भ :

१. गोरखनाथ एण्ड द कनफटा योगीज, जार्ज वेस्टन ब्रिग्स, पृ. १५०-१५१ तथा १२५

२. गोरखनाथ, अक्षय कुमार बनर्जी, पृ.सं. ३३,३४,३५

३. गोरखदर्शन, पृ.सं. ४३

४. गोरखनाथ, बस्ती न शून्यं, शून्यं न बस्ती, आगम अगोचर ऐसा।

५. गगन शिखर महि बालक बोलै, ताका नाव धरहू गे कैसा।

६. गोरखवाणी, दोहा संख्या-१

६. भावभावविनिर्मुक्तम् नाशोत्पत्ति विवर्जितम्।
सर्वसंकल्पनातीतम् परब्रह्म तदुज्यते॥

७. सिद्धसिद्धान्त पद्धति १/२

८. कुलंशक्तितिप्रोक्तम्

९. अकुलंशिवउच्चयते

१०. सिद्धसिद्धान्त पद्धति—यदानास्तिस्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्तं च परमब्रह्म अनामा विद्यते तदा॥ पृ. ३ पर उद्धृत

११. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, पृ. ४

१२. वही, पृ. ४ तस्येच्छामात्रधर्मा धर्मिणी निजाशक्तिः प्रसिद्धा।

१३. शिवस्याभ्यनतरेशक्ति षक्तेरभ्यन्तरेशिवः।
अन्तरनैवजानन्ती चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥—नाथयोग, हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा उद्धृत

१४. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, पृ. ४ तस्योन्मुखमात्रेण पराशक्तिरुत्थिता।

१५. वही, पृ. ४

१६. वही, पृ. ४

१७. वही, पृ. ४

१८. वही, पृ. ५

१९. वही, पृ. ६

२०. निजाऽपरापरासूक्ष्मा कुण्डलिन्यासुपञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातःपिण्डःपरःशिवः॥ वही, पृ. ६ पर उद्धृत

२१. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, पृ. ६

२२. गोरखदर्शन, अक्षय कुमार बनर्जी, पृ. ३५

२३. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, पृ. ७

२४. वही, पृ. ७

२५. वही, पृ. ७ से ९ तक

२६. वही, पृ. ९

२७. पृ. ९

२८. वही, पृ. पृ. ११

२९. वही, पृ. पृ. ११-१२

३०. वही, पृ. पृ. १२

३१. वही, पृ. पृ. १३

३२. वही, पृ. पृ. १४
३३. वही, पृ. पृ. १४-१५
३४. वही, पृ. पृ. १५,१६,१७
३५. गोरखदर्शन, अक्षय कुमार बनर्जी, पृ. ७०
३६. वही, पृ. पृ. ७२
३७. सिद्धसिद्धान्त पद्धति
३८. गोरखदर्शन, पृ. ९४
३९. वही, पृ. पृ. ११५ से १२५ तक
४०. वही, पृ. पृ. १३६
४१. वही, पृ. पृ. १३७
४२. सिद्धसिद्धान्त पद्धति—पिण्डे नव चक्राणि। आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भंगमण्डलाकारम्। तत्र मूलकन्दः। तत्र षक्ति पावकाकारां ध्यायेत्। तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामफलप्रदं भवति।, पृ. २८
४३. वही, पृ. पृ. २८
४४. वही, पृ. पृ. २९
४५. वही, पृ. पृ. २९
४६. वही, पृ. पृ. ३०
४७. वही, पृ. पृ. ३०
४८. वही, पृ. पृ. ३१
४९. वही, पृ. पृ. ३१
५०. वही, पृ. पृ. ३१
५१. षट्चक्रं षोडषाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ॥—गोरक्षशतक १३
५२. 'गोरक्षशतक' में षडंगयोग का वर्णन है जबकि 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में अष्टांगयोग का वर्णन है।
५३. नाथ सम्प्रदाय ग्रन्थ में पृ. १३८ पर उद्धृत—द्विधा हठः स्यादेकस्तुगोरक्षादिसुसाधितः। अन्योमृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ॥
५४. नाथ सम्प्रदाय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १३७
५५. हकारः कथितः सूर्यः ठकारस्वन्द्र उच्चयते।
सूर्योचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगोनित्रृच्यते ॥
५६. नाथ सम्प्रदाय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १३७ तथा हठयोग प्रदीपिका ३/१५
५७. नाथ सम्प्रदाय, पृ. १३७
५८. प्राणतोषिणी, पृ. ८३५, नाथ सम्प्रदाय, पृ. १३७ पर उद्धृत
५९. वही, पृ. पृ.१३७
६०. प्राणतोषिणी, पृ. ८३५
६१. नाथ सम्प्रदाय, पृ. १३८ एवं १३९
६२. हठयोग प्रदीपिका, १/२
६३. शिवसंहिता, पृ. ५/२१७
६४. हठयोग प्रदीपिका, श्लोक सं.१/१७

६५. वही, पृ. पृ. १/१८
६६. हठयोग स्वरूप एवं साधना, योगी आदित्यनाथ पृ. २४
६७. वही
६८. वही
६९. वही, पृ. पृ. ३०
७०. हठयोग प्रदीपिका, श्लोक सं.२/२५
७१. वही, पृ. श्लोक सं.२/३१
७२. हठयोग स्वरूप एवं साधना, योगी आदित्यनाथ पृ. ४३
७३. हठयोग प्रदीपिका, श्लोक सं.२/३३-३४
७४. वही
७५. सिद्धसिद्धान्त पद्धति—आसनमिति सदा स्वस्वरूपे समासन्नता
७६. घेरण्डसंहिता—सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
सिहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च॥
मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
गोरक्षं पश्चिमोतानं उत्कटं संकटं तथा
मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम्।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम्॥
शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजंगं योगमासनम्।
द्वात्रिंषदासनानि तु मर्त्ये सिद्धि प्रदानि च॥-हठयोग स्वरूप एवं साधना, पृ.सं.४७ पर उद्धृत
७७. हठयोग प्रदीपिका, श्लोक सं. २/१
७८. वही, पृ. श्लोक सं. २/२
७९. वही, पृ. श्लोक सं. २/३
८०. वही, पृ. श्लोक सं. ४,५,६
८१. हठयोग स्वरूप एवं साधना, योगी आदित्यनाथ पृ. ११४
८२. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, द्वितीय उपदेश, पृ. ४२
८३. वही, पृ. पृ. ४८
८४. वही, पृ. पृ. ४९-५० पर उद्धृत—चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥६॥
यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा॥७॥
अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः सङ्कोचमाहरेत्।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि॥८॥
८५. योगपद्धति, पृ. ७६, श्लोक सं. २/३०
८६. वही
८७. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, पृ. ५१ पर उद्धृत श्लोक
८८. वही, पृ. पृ. ५१
८९. वही, पृ. पृ. ५२

९०. गोरक्षपद्धति, पृ. ८२, द्वितीय शतक
९१. वही
९२. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, पृ. ५४, द्वितीय प्रकरण में उद्धृत विवेकमार्तण्ड के श्लोक
९३. गोरक्षपद्धति, द्वितीय शतक, पृ. ९१-९२
९४. सिद्धसिद्धान्त पद्धति, पृ. ५७ से ६९ तक तृतीय उपदेश
९५. गोरक्षपद्धति, प्रथम शतक, श्लोक सं. १४
९६. वही
९७. गोरक्षपद्धति, प्रथम शतक, श्लोक सं. ५१
९८. वही, पृ. पृ. २५
९९. गोरक्षपद्धति, प्रथम शतक, श्लोक सं. ५१
१००. भारतीय साधना की धारा, पृ. ८५ से ८७
१०१. गोरक्षनाथ और नाथसिद्ध, पृ. ३५६
१०२. योगवाणी, पद सं. २३—आऊँ नहीं जाऊँ निरञ्जन नथ की दुहाई।
प्यंड ब्रह्मण्ड योजन्ता, अन्हें सब सिधि पाई ॥ टेक ॥
काया गढ़ भीतर नव लष खाई।
दसवै द्वारि अवधू ताली लाई ॥१ ॥
काया गढ़ भीतरि देव देहुरा कासी।
सहज सुभाइ मिले अबिनासी ॥२ ॥
बदन्त गोरषनाथ सुणौ नर लोई।
काया गढ़ जीतैगा बिरला कोई ॥३ ॥२३ ॥
१०३. अण्डमए णिअपिण्ड पीठम्मि पुरन्ति कलणदेवीओ।
पप्फुरइ अ परमसिवो णाणणिही ताण मज्झआरम्भि ॥—महार्थमञ्जरी सपरिमला, पृ. ७९

□

महायोगी गोरखनाथ और ज्वालादेवी तीर्थ

—योगिराज चन्द्रमोहनजी

अथ ज्वालामुखी देवी यत्र साक्षाद् विराजते।
अस्ति गोरक्षनाथस्य डिब्बिका निलयोऽद्भुतः।
तत्रत्यं जलमत्युष्णं सर्वदैव स्वभावतः॥
ज्योतिर्दर्शनतस्तस्माज्जलाज्ज्वाला बहिर्भवेत्।
तत्र श्रीनाथपादाब्जं राजते परमाद्भुतम्॥

(श्रीनाथतीर्थावली ४०६-९)

जहाँ साक्षात् ज्वालादेवी विराजमान हैं, वहीं गोरखनाथजी की डिब्बी और अद्भुत घर है। वहाँ का जल स्वभाव से गर्म रहता है। ज्योतिदर्शनजल से ज्वाला बाहर निकलती है। वहाँ श्रीनाथजी के चरणकमल विराजमान हैं।

कुछ समय पहले हिमाचल प्रदेश में योग प्रचार के क्षेत्र में घूमते हुए मण्डी में योग-प्रचार का कार्यक्रम सम्पन्न करते हुए मुझे ज्वालामुखी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। ज्वालामुखी पहुँच कर हमने भगवती ज्वालाजी के दिव्य दर्शन किये। श्रीज्वालाजी प्रकट रूप में दिखलाई दे रही थीं, जिनको सभी लोग बार-बार नमस्कार कर रहे थे। उसी मन्दिर में एक ओर योगीराज गोरखनाथजी की एक कुण्डी देखी। वहाँ पर नाथसम्प्रदाय के योगसिद्धान्त के उपासक कुछ साधक उपस्थित थे। उनके मुख से श्रीज्वालाजी के प्रकट होने का इतिहास सुना। उन लोगों ने हमें बतलाया कि भ्रमण करते हुए महायोगी गोरखनाथजी वहाँ आए और उस ज्वालामुखी पर्वत से श्रीज्वालाजी को वहाँ प्रकट किया। भगवती ज्वालाजी ने प्रकट होकर श्रीगोरखनाथजी से आग्रह किया कि आप भोजन कीजिये। महायोगी गोरखनाथजी ने उत्तर दिया कि नहीं भगवती, हम साधु हैं। इच्छाओं का दमन करते हैं। अभी हम भोजन नहीं करेंगे अथवा जल में चावल पका कर खिचड़ी का भोजन करेंगे। भगवती ने उत्तर दिया, 'गुरुदेव! आप यह क्या कह रहे हैं। मेरे अन्दर पर्वत को दहन करने की शक्ति है। आप के लिए जल गर्म करने में कौन-सी बात है। मैं आप के लिए खिचड़ी तैयार कर देती हूँ। इस कुण्डी में जल उबल रहा है, इसमें खिचड़ी तैयार कर लें। भगवती के इस वचन को

सुन कर श्रीगोरक्षनाथजी ने अपनी धूनी की चुटकी भर विभूति उस कुण्डी में डाल दी। उसके परिणामस्वरूप वह उबलता हुआ जल उबलता तो रहा, किन्तु बर्फ के समान ठण्डा हो गया। उस कुण्डी में वह जल अभी तक बहुत शीतल है, एवं उबलता हुआ दिखाई दे रहा है।'

इस घटना को सुनकर और कुण्डी के जल को देख कर 'कर्तुमकर्तुम्' की शक्तिवाले योगीराज श्रीगोरखनाथजी की अतुलित शक्ति का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। योगीजन कितने शक्तिशाली होते हैं, इस बात को हिमालय की कन्दराओं में निवास करने वाले महासिद्धों का परिचय बिल्कुल स्पष्ट कर देता है कि एक योगी इतनी अद्‌भुत ताकतों का मालिक हुआ करता है, जिनमें से ख्यातिप्राप्त नाथसम्प्रदाय के योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जलन्धरनाथ आदि नाथसिद्धों की जीवनियाँ उनकी अजरता-अमरता को पूर्णरूपेण सिद्ध कर रही हैं।

योगीराज गोरखनाथ के जीवन की उपर्युक्त घटना उनकी अद्‌भुत सामर्थ्य को पूर्णरूपेण स्पष्ट करती है। भगवती श्रीज्वालामुखी के मन्दिर में निवास करनेवाले नाथसाधुओं ने बताया कि भगवती श्रीज्वालाजी के उबलते हुए जल को शीतल करके श्रीगोरखनाथजी गोरखपुर चले गये। इतनी देर में कलियुग आ गया। अतः वे वहाँ से अन्तर्धान होकर चले गये और इधर नहीं आए। जब वे कभी इधर आएँगे तभी इस कुण्डी में खिचड़ी बनायेंगे। कहने वाले भोले-भाले साधु थे, किन्तु वे सरल और भोले शब्दों में परम योगीराज श्रीगोरखनाथजी की अद्‌भुत शक्ति का पूरा-पूरा परिचय दे रहे थे। पाठकों को चाहिए कि भारत के सर्वसामर्थ्यवान् योगियों के इतिहास को पढ़कर अपने आप को योगारूढ़ बनाने का प्रयत्न करें। योगविद्या ही एक ऐसी विद्या है, जिसको जानकर मनुष्य सब प्रकार के सर्व ज्ञातृत्व शक्ति को प्राप्त कर अपने आप को कृतार्थ कर लिया करता है।

□

गोरखनाथ सम्प्रदाय के कुछ पश्चिमी केन्द्र

—डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित

गोरखनाथ के ज्ञान और विज्ञान के जो सर्वोत्तम केन्द्र हैं उनमें से दो केन्द्र मुख्य हैं। वे हैं—पूर्व में गोरखपुर और पश्चिम में गोरख टिल्ला (टीला)। गोरखपुर उत्तर प्रदेश के पूर्वोत्तरीय खण्ड में है और गोरखटीला पाकिस्तानी पंजाब के जेहलम जिले में है। पश्चिम में वर्तमान युग में बड़े परिवर्तन आ गये। पश्चिमी पंजाब में प्राय: हिन्दू कोई शेष नहीं रहा। हिन्दुओं के देवस्थान यहाँ सन् १९४७ से सर्वत्र बन्द पड़े हैं। वहाँ अब कोई पूजा आदि नहीं हो रही है, परन्तु गोरखनाथ के प्रमुख विज्ञान-केन्द्र अब भी वहाँ जनता में ज्ञान-विज्ञान की ज्योति फैला रहे हैं और जनता का बहुमुखी कल्याण करते रहते हैं। उन स्थानों के प्रति जनता की श्रद्धा पर राजनीतिक उथल-पुथल का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अत: जेहलम जिले में स्थित गोरखनाथ का टिल्ला-स्थान ने अब भी उधर की जनता के हृदय-स्थल में विशेष सम्मान को बना रखा है। सुनते हैं कि वहाँ अब भी गोरख-सम्प्रदाय के योगी और पीर पर्याप्त संख्या में रहते हैं। विधिपूर्वक साधना का अभ्यास करते हैं और यथाशक्ति जनता का कल्याण भी करते रहते हैं।

श्रीगोरखनाथ एक ऐसे सिद्ध हैं जो किसी मत-सम्प्रदाय की सीमा में बँधे नहीं थे। वे परिपूर्ण परमेश्वर शिव के उपासक थे। साधनामार्ग उनका योगमार्ग था। परिपूर्ण परमशिव को किसी सम्प्रदाय विशेष की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता है। वे परमेश्वर होते हुए सभी ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। जनता पर वे समदृष्टि से ही अनुग्रह करते हैं। उनकी इसी विशेषता को लेकर प्राचीन युगों से देव, असुर, दानव, गन्धर्व, मानव, राक्षस आदि सभी वर्गों के प्राणी उनकी उपासना करते रहे और समभाव से सभी उनकी कृपा के पात्र बनते हुए यथेष्ट वरदान प्राप्त करते रहे। वे केवल देवताओं का ही पक्षपात कभी नहीं करते रहे, सभी उपासकों को परमज्ञान भी देते रहे और सभी अपराधियों को दण्ड भी देते रहे। उदाहरण के तौर पर रावण, बाणासुर आदि असुरों को भी उन्होंने वरदान दिये और कन्दर्प, ब्रह्मदेव आदि महानुभावों, देवताओं को भी उन्होंने उनके अपराधों का दण्ड दिया। इसी परम्परा को लेकर शैव आगम में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यदि मेरा भक्त चाण्डाल भी क्यों न हो, उसे मेरे ज्ञान-विज्ञान की

दीक्षा देनी चाहिए और उससे दीक्षा लेनी भी चाहिए।

''न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तःश्वपचोऽपि सन्।
तस्मैदेयः तत्तो ग्राह्यः स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥''

भगवान् शिव के ज्ञान-विज्ञान मार्ग की ऐसी ही नीति के अनुसार गोरख-सम्प्रदाय में सभी और धर्म-सम्प्रदायों के साधक प्रतिष्ठित होते रहे। मुसलमान और हिन्दू दोनों ही धर्मों के अनुयायी गोरख-सम्प्रदाय की दीक्षा लेकर और साधना का अभ्यास करके सिद्धयोगी बनते गये। जेहलम वाले टिल्ले में अभी तक हीर और राँझा-जैसे मुसलमान साधकों के गीतों को लोग गाया करते हैं। इस कारण सारे पाकिस्तान में अभी तक स्थान-स्थान पर गोरखपन्थ के अनुयायी पीर विद्यमान हैं। कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी यदि ये पीर किसी समय भारत और पाकिस्तान को पुनः परस्पर सद्भाव के सूत्र में बाँध लेने में सफल हो जाएँ। जैसे पूर्वी पंजाब में स्थान-स्थान पर गोरखपन्थी सन्तों की समाधियाँ हैं, उसी तरह से पश्चिमी पंजाब में भी हैं, ऐसा हमने उधर के वृद्ध पुरुषों से सुना है। पंजाब से आगे पेशावर के पास एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है, जो पीरों के अधिकार में है। वहाँ एक अमृततुल्य स्वच्छ और मधुर पानी का चश्मा भी है। उस स्थान को बालाकोट कहते हैं। गोरखपन्थ के साधक जहाँ शिव के उपासक होते हैं, वहीं शक्ति के भी अनन्य भक्त होते हैं, क्योंकि शिव और शक्ति दोनों परस्पर अभिन्न हैं। शिव का ही बहिर्मुख स्वरूप शक्ति है और शक्ति का ही अन्तर्मुखी स्वरूप शिव हैं। इसी दृष्टि को लेकर यहाँ गोरख-सम्प्रदाय के हिन्दू उपासक बाला त्रिपुरा की उपासना करते रहे। मुसलमान उपासक इस पीठ में स्थित शक्ति को बाला पीर कहा करते हैं, सिख भी देवी की उपासना करते रहे। ये उसे बाला माई कहते रहे। बहुत सम्भव है कि अफगानिस्तान के भीतरी या ग्रामीण भागों में भी गोरखपन्थ के सिद्धों के अनेक स्थान हैं।

बलोचिस्तान में गोरख-सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण पीठ हिंगुला देवी का है। उस स्थान को 'हिंगलाज' कहते हैं। बहुत समय से यह प्रसिद्ध पीठ मुसलमान पीरों के अधिकार में रहा। ये देवी को 'बीबौ नानी' कहते हैं। दूर-दूर से यात्री देवी के दर्शन को आते रहते हैं, पूजा-सेवा आदि करते रहते हैं और वांछित फल पाते रहते हैं। शताब्दियों से वहाँ मुसलमानों का ही अधिकार चलता आया है, परन्तु देवी की उपासना पर उनका कोई दुष्प्रभाव कभी पड़ा नहीं। देश के विभाजन से पूर्व कराची से प्रतिवर्ष हिन्दू यात्री पैदल यात्रा करते हुए कई दिन लगा कर हिंगुला देवी के दर्शन-पूजन आदि करने आते थे। परन्तु विभाजन के अनन्तर वह क्रम टूट ही गया। जब देवी चाहेंगी तो पुनः वह क्रम चालू हो जाए तो कोई असम्भव बात नहीं। कराची से यात्रा न चल सके तो जोधपुर से चल सकती है।

इधर जम्मू प्रदेश में गोरख-सम्प्रदाय के कई एक स्थान हैं। जम्मू नगर में तवी नदी के तट पर एक गुफा है। उसके भीतरी मण्डप में एक शिवलिंग है। गुफा के बाहर धर्मशालाएँ हैं। उनके साथ ही एक गहरी जगह एक पुराना कुआँ है, जिसका जल अतीव उत्तम है। इस देव स्थान के हिन्दू महन्त को लोग पीर कहते हैं क्योंकि गोरख सम्प्रदाय के साधक और सिद्ध इधर पश्चिमी भारत में पीर ही कहलाते थे और अब भी उसी नाम से जाने जाते हैं। इस कारण से जनता इस देवस्थान को 'पीर खोह'

कहती है। इस स्थान पर शिवलिंग की स्थापना कब और किसके हाथों हुई, इस विषय में कोई भी ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो रही है। स्थान अतीव प्राचीन है जितना प्राचीन जम्मू नगर है। जम्मू में गुम्मट के पास से तवी को जाते हुए भी गोरख सम्प्रदाय के जोगियों की एक कुटिया हुआ करती थी। अब वहाँ कोई भी जोगी दीखता नहीं। जम्मू के ग्रामों में जोगियों द्वारा रचित गीत भी लोगों के पास हैं। परन्तु उनका संग्रह अभी तक हुआ नहीं। नहर के पास जहाँ महालेखाधिकारी का कार्यालय है, उसके समीप भी योगियों की कुछ भूसम्पत्ति थी। जम्मूनगर में जो दूसरा प्राचीनतर देवस्थान है, वह है राजेन्द्र बाजार के पास स्थित 'पंचवक्त्रेश्वर महादेव'। उसकी भी बड़ी महिमा है। हो सकता है कि उसका सम्बन्ध भी कभी गोरख-सम्प्रदाय से ही रहा हो। जम्मू के उत्तर में हिमालय पर्वत की एक घाटी में एक और सुप्रसिद्ध देवस्थान है 'शुद्ध महादेव'। यह स्थान भी गोरख-सम्प्रदाय का ही है, वहाँ के महन्त कनफटे योगी हैं। उस तीर्थ की बड़ी महिमा है और उसके अधिकार में काफी भूसम्पत्ति है। वहाँ यात्रियों के लिए धर्मशालाएँ भी हैं और भोजन का भी प्रबन्ध है। पुराने योगी महन्त के समय में उस तीर्थ की बड़ी ख्याति थी और अनेक सन्त तथा विद्वान् ग्रीष्म ऋतु वहाँ बिताया करते थे। उस स्थान के पास ही एक अतीव मनोहर तथा महिमावाला तीर्थ 'गौरीकुण्ड'' है। वहाँ भी कभी गोरखपन्थी योगी रहा करते थे।

जम्मू के पूर्व में 'देविका' नदी के तट पर गोरखपन्थी योगियों का एक सुप्रसिद्ध स्थान है जिसे 'पुरमण्डल' कहते हैं। वहाँ देविका नदी रेत में निमग्न होकर भीतर-ही-भीतर बहती जाती है। चैत्र के महीने में वहाँ बड़ी यात्रा लगती है। ऐसे भी लोग वहाँ जाते ही रहते हैं। देविका को जम्मू की गंगा माना जाता है। लोग रेत को इधर-उधर हटा कर एक गड्ढा-जैसा बना लेते हैं। उसमें रेत के बीच से छन-छन कर निकलता हुआ पानी भर जाता है। उसी पानी से यात्री नहाते हैं और तब वे पूजन आदि करते हैं। देविका तट पर जरा ऊँचाई पर एक और जलस्रोत भूगर्भ में से प्रकट होता है। पास के मन्दिर में एक ऐसी भैरव मूर्ति है जैसी गोरख-मन्दिरों में प्राय: हुआ करती है। आस-पास महाराजा रणवीर सिंह के द्वारा बनवाए हुए बहुत सारे शिव-मन्दिरों का एक समूह है। यह पुरमण्डल वाला स्थान जम्मू प्रदेश में स्थित गोरख-सम्प्रदाय के देव-स्थानों में एक और प्रसिद्ध स्थान है।

जम्मू से दक्षिण की ओर जम्मू राज्य से कुछ ही मील की दूरी पर पाकिस्तानी पंजाब का एक नगर है स्यालकोट। वहाँ भी गोरख-सम्प्रदाय का एक सुप्रसिद्ध देवस्थान है। उसे पूरणभगत का कुआँ कहते हैं। स्यालकोट से सन् १९४७ में हिन्दुओं को भगाया गया। वहाँ अब केवल मुसलमान ही रहते हैं। परन्तु गोरख-सम्प्रदाय के एक सिद्ध पूरण भगत ने वहाँ अभी तक अपनी दैवी सत्ता को बनाए रखा है। उधर मुसलमान उसे बहुत मानते हैं और उसके कुएँ की प्रतिष्ठा को बनाए हुए हैं। इस समय वहाँ अधिकार मुसलमान पीरों का है। अब भी अनेक नि:सन्तान स्त्रियाँ पूरण भगत के कुएँ के जल से नहा कर सन्तान-प्राप्ति के लिए हार्दिक श्रद्धा से प्रार्थना जब करती हैं तो साल भर में ही भगवान् उन्हें सन्तान दे देते हैं। इस तरह से पूरण भगत की पाकिस्तान में प्रभावशालिता अभी तक सुरक्षित है। कश्मीर घाटी में हठयोग की परम्परा की अपेक्षा मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित तान्त्रिक कौल सम्प्रदाय ही अधिक लोकप्रिय

बना रहा। कारण यह है कि वहाँ कि जलवायु, और विशेषकर असह्य सर्दी में कपड़े उतार कर आसनों आदि का अभ्यास करने के लिए उपयुक्त नहीं है। अतः वहाँ नाथसम्प्रदाय की कौलिक साधना का ही विशेष प्रचार रहा। हठयोग वहाँ लोकप्रिय नहीं बन पाया फिर भी वहाँ श्रीनगर के पश्चिमी श्मशान के दक्षिण की ओर उस श्मशान और तुरुष्कराज भैरव के स्थान के मध्य में एक देवस्थान है जहाँ कनफट योगी रहा करते थे। इस तरह से पश्चिमी भारत में अभी तक गोरखपन्थ के अनेक ऐसे देवस्थान और तीर्थस्थान विद्यमान हैं जहाँ उपासकों की वांछित अभिलाषाएँ पूरी होती रहती हैं और राजनीतिक उतार-चढ़ावों की भरमार में भी वे स्थान अपनी महिमा से सुरक्षित हैं। यह महिमा गोरखनाथ की और उनके योग की है। □

महायोगी गोरखनाथ की तपःस्थली-तोरणमाल

—शिवनाथ दुबे

अत्यन्त धर्मपरायण, प्रजावत्सल, अवन्तिकानरेश महाराज भर्तृहरि तोरणमाल पर्वत की तलहटी में आखेट के लिए निकले थे। अत्यन्त शान्त-एकान्त तलहटी में मृगवृन्द स्वच्छन्द विचरण कर रहा था। सहसा एक सुन्दर, स्वस्थ और सुपुष्ट मृग के उदर में उज्जयिनी के सम्राट का तीक्ष्णतम शर चुभ गया। मृग भाग भी नहीं सका। उसके शरीर से रक्त का फव्वारा छूटा और वह वहीं धरती पर गिरकर छटपटाने लगा। नरेश का वेगवान् द्वितीय बाण शरीर में चुभते ही मृग के नेत्र बाहर निकल आए। वह वहीं शान्त हो गया।

अपने प्राणप्रिय का करुण अन्त देख कर मृगी के नेत्र भर आए। वह मृग के समीप खड़ी होकर रुदन करने लगी। मृगशावक भी अपने प्राणों का मोह त्यागकर अवसन्न हो वहीं खड़े रहे। उन्हें प्रजापालक विशाल धनुष-बाण धारण किये पृथ्वीपति से तनिक भी भय नहीं रह गया था। जैसे वे साश्रुनयन मूक वाणी से भूपाल से कह रहे थे कि 'तुम हमें भी शरविद्ध कर इसी मृग के साथ परलोक भेज दो।' यह करुणापूरित दृश्य देखकर महाराज भर्तृहरि क्षणभर के लिए सहमे, ठिठके पर दूसरे ही क्षण उन्होंने शरविद्ध मृग को उठाया और अपने अश्व पर रखकर एड़ लगायी, घोड़ा धीरे-धीरे आगे बढ़ा ही था कि नरेश ने देखा कि उनके अश्व के पीछे साश्रुनयन मृगी और मृगशावक भी चले आ रहे थे। मृगवंश में भी प्रियतम के प्रति इतनी अगाध प्रीति होती है, नरेश ने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

'अद्‌भुत! आश्चर्य! अकल्पित!! सर्वथा असम्भव!!! महाराज स्तब्ध थे। उनके गौरवर्ण उन्नत ललाट पर श्वेद-कण झलकने लगे। शरविद्ध मृत मृग अश्व की पीठ से कूद कर छलाँग मारता हुआ निकल गया था तथा मृगी और मृगशावक उसके पीछे-पीछे तीव्र गति से भागे जा रहे थे। आश्चर्यचकित नरेश ने चतुर्दिक दृष्टि डाली। सर्वत्र हरित वृक्षावलियों एवं विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं दीख रहा था। सर्वत्र शान्ति व्याप्त थी। समीपस्थ कदम्ब तरु की एक शाखा पर मयूर ने अपने चित्रखचित सुन्दरतम पंख पसार दिये।

क्षुपजातीय वनस्पतियों, लता-वल्लियों एवं पादपों से आच्छादित तोरणमाल के शिखर पर नरेश ने दृष्टि डाली, भस्मलिप्त, विशालकाय, गौरवर्ण, दुर्लभतम योग के सजीव विग्रह, करुणामूर्ति महापुरुष नरेश

की ओर देखते हुए मुस्करा रहे थे। दूसरे ही क्षण सम्राट अश्व से कूदकर पृथ्वी पर साष्टांग लेट गये। उन्होंने अनुभव किया था कि जैसे उनके दोनों कर सुकोमल कमल का स्पर्श कर रहे हैं। महाराज ने प्रत्यक्ष देखा, वह परम तेजस्वी दयामूर्ति उनके सम्मुख खड़ी उन्हें करुणामय नेत्रों से देख रही थी। तपस्वियों के निवास में इस एकान्त-शान्त तलहटी में हिंसा का प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ता, ज्योतिमूर्ति ने अन्यन्त मधुर वाणी में नरेश से कहा कि ''तुमने यहाँ स्वच्छन्द विचरण करते हुए मृग पर तीर चलाकर सर्वथा अनुचित किया है। तपोवन के वातावरण की पवित्रता की रक्षा के लिए मैंने मृग को जीवित कर दिया अन्यथा चमत्कार-प्रदर्शन मेरा उद्देश्य कदापि नहीं था।''

''निश्चय ही मेरे अनेक पूर्व जन्मों के पुण्य उदित हो गये हैं।'' नरेश ने श्रद्धाभक्तिपूरित वाणी में निवेदन किया, ''अन्यथा मुझे आपका दर्शन सम्भव नहीं था। मैं बड़ा भाग्यवान हूँ। आज मेरा जीवन धन्य हो गया। प्रभो! आप निश्चय ही अलौकिक महापुरुष हैं। आशुतोष शिव की परम आह्लादकर मंगलमय मूर्ति के सम्बन्ध में मैंने शास्त्रों में जो कुछ पढ़ा और महात्माओं के वचन से जो कुछ सुना है, वह सब कुछ आपके मंगलधाम मुखारविन्द में मुझे प्रत्यक्ष दीख रहा है।''

उज्जयिनी-नरेश ने देखा, उन महातेजस्वी परम विभूति की दृष्टि से जैसे दया की वृष्टि हो रही थी और उनके तन-मन और प्राण सभी परम तृप्त एवं पुलकित होते जा रहे थे। आनन्दमग्न महाराज ने आगे पुनः निवेदन किया, ''प्रभो ! अब निस्सन्देह मेरा परम मंगल होगा, मैं आपका शिष्य होना चाहता हूँ। आप कृपापूर्वक दीक्षा प्रदान कर मेरा उद्धार कर दें। मैं अपना तन-मन, प्राण एवं समस्त राज्यादि समस्त सांसारिक वैभव आपके मंगलमय चरणकमलों में समर्पित करता हूँ। अब इस जगत् में आपके युगल चरणारविन्द के अतिरिक्त मेरा कहीं कुछ भी नहीं।''

''समय पर तुम्हारी इच्छा पूरी हो जाएगी।'' नरेश ने देखा ज्योतिमूर्ति अदृश्य हो गयी थी। गगनचुम्बी तोरणमाल की तलहटी में नरेश के समीप उनका अश्व हरिततृण चर रहा था। अन्यमनस्क भाव से महाराज भर्तृहरि अश्व की पीठ पर बैठे और धीरे-धीरे अपनी राजधानी की ओर लौट चले। ज्योतिमूर्ति जैसे उनके हृदय में प्रविष्ट हो गयी थी। वे उसी करुणामूर्ति के ध्यान में निमग्न अवन्तिका पहुँचे।

ज्योतिर्मय पुरुषोत्तम करुणावतंस योगीराज गोरखनाथ थे। उनकी परम तेजस्विनी दयामयी मूर्ति महाराज भर्तृहरि के सम्मुख प्रतिक्षण बनी रहती। निद्राभिभूत रहने पर भी वह मूर्ति जैसे उनके सम्मुख मुस्कराती रहती थी। दयामय गोरखनाथ की प्रेरणा से नरेश के अन्तर्मन में विचार उदित हुआ, ''मेरी परम रूपसी प्राणप्रिय पिंगला के सतीत्व का विश्वास हो जाने पर मुझे गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त हो सकती है।''

अवन्तिका-नरेश आखेट के मिस अरण्य में गये, उन्होंने अपना वस्त्र पशुरक्त में रंग कर महारानी के पास भिजवा दिया। 'प्राणधन पतिदेव को सिंह ने मार डाला'—महाराज भर्तृहरि के रक्तरंजित वस्त्र देखते ही महारानी को विश्वास हो गया। वे अत्यन्त व्याकुल होकर पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं और उनके प्राण-पखेरू तुरन्त उड़ गये।

महाराज भर्तृहरि अपनी लावण्यमयी प्राणाधिका के वियोग में अत्यन्त व्याकुल होकर विलाप करने लगे। पत्नी के वियोग में राजकार्य तो छूटा ही उन्हें अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रहा। पत्नी वियोग-वह्नि

में जलते हुए वे श्मशान में निरन्तर पिंगला का ही स्मरण करते हुए रुदन करते रहते। दयामूर्ति महायोगी गोरखनाथ ने जिस पूतात्मा पर कृपा की, उसका सर्वविधि कल्याण हुआ ही। उन्होंने योगमाया प्रकट की। सम्राट् के सम्मुख अपनी मिट्टी की डिबिया पटक दी और फूटी डिबिया को हाथ में लेकर करुण क्रन्दन करने लगे।

''महात्मन् ! आप इस लघुतम मृन्मय पात्र के लिए विकल-विह्वल होकर रुदन क्यों करते हैं?'' क्षण भर के लिए अपना वियोग भूल कर योगेश्वर को आश्वस्त करने का प्रयत्न किया, ''मैं आपको इससे अधिक सुन्दर और श्रेष्ठ सोने की डिबिया बनवा सकता हूँ।''

''मुझे सोने-हीरे, मोती और मणि-माणिक्य की नहीं बस यह मिट्टी की ही डिबिया चाहिए।' योगीराज और अधिक जोर से क्रन्दन करने लगे।

''यह तो सम्भव नहीं।'' श्मशान में निराश नरेश ने कहा, ''इस तुच्छ मिट्टी की डिबिया के लिए पागल की तरह प्रलाप कर रहे हैं। अब यह डिबिया कैसे आ सकती है। सर्वथा असम्भव है।''

''मेरी मिट्टी की डिबिया तुम नहीं ला सकते, पर मैं तुम्हारी प्राणप्रिया को पुन: जीवित कर सकता हूँ।'' करुणामय योगेश्वर गोरखनाथजी ने कहा। महाराज भर्तृहरि के आश्चर्य की सीमा नहीं थी। उनके सम्मुख सौन्दर्यमयी शत-शत पिंगलाएँ प्रकट हो गयीं।

''निश्चय ही मेरे परम गुरु मेरा परम कल्याण करने यहाँ पधारे हैं।'' महाराज भर्तृहरि गोरखनाथजी के चरणों में गिर पड़े। परम कल्याणमय योगेश्वर ने हँसते हुए महाराज भर्तृहरि के मस्तक पर अपना वरदहस्त रख दिया। सर्वमंगलमय योगेश्वर गोरखनाथ ने महाराज भर्तृहरि को दीक्षा दी। महाराज का तन-मन, प्राण सभी तृप्त होकर आनन्दमग्न हो गया।

प्रात: स्मरणीय, परम वन्दनीय श्रीगोरखनाथजी की कृपा से महाराज भर्तृहरि को संसार से यथार्थ वैराग्य एवं अनासक्ति ही प्राप्त न थी, वे स्वयं महान् योगी हो गये। उन्होंने अमरता प्राप्त कर ली। स्वयं योगीराज भर्तृहरि का कथन है—'मैंने सद्गुरुदेव श्रीगोरखनाथजी के शब्द से ही साधना में सिद्धि प्राप्त की। इस सम्बन्ध में मेरे गुरु का ही वचन प्रमाण है।

'सतगुरु सबदें सीधा भरथरी।
गुरु गोरष बचन प्रवाणं जी॥

□

नाथ-सम्प्रदाय के तीर्थ और कूर्माचल-कुमाऊँ

—डॉ. वसन्त वल्लभ भट्ट

संस्कृत में तीर्थ शब्द के अनेक अर्थ कहे गये हैं। कुलार्णव तन्त्र के अनुसार तीर्थ शब्द गुरु, श्रेष्ठ आचार्य, देवता का प्रसाद, देवता का चरणामृत आदि में प्रयुक्त बतलाया गया है। वेदों में भी 'ये तीर्थानि प्रचरन्ति' आदि मन्त्रों द्वारा तीर्थ का अभिप्राय श्रेष्ठ स्थान, देवमन्दिर, गिरिशृंग, वन, आश्रम, नदियों के संगम, पवित्र जलाशय आदि हैं। अन्य आगमों तथा शास्त्रों के अनुसार तीर्थ शब्द उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त सिद्ध, मुनि, महात्माओं के आश्रमों, तपःस्थलियों, गुरुगृहों, दसनामी साधुओं के एक विशिष्ट सम्प्रदाय के आचार्य आदि के लिए भी प्रयुक्त होता है।

तीर्थ शब्द के अनेक अर्थों में एक मुख्य अर्थ है—पवित्र करने वाला साधु-सन्त, महापुरुषों को इसीलिए परम तीर्थ कहा जाता है, क्योंकि वे अपने लोकोत्तर भगवदीय गुणों के प्रभाव से तीर्थों को भी पवित्र करते हैं—'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि'। जो जीवन्मुक्त, देहातीत, परमभागवत, निवृत्तिमार्गी, सदाविरक्त, भगवत्प्रेम में तन्मय अथवा योग-साधना में निर्विकार समाधिस्थ रहते हैं, यद्यपि उनका शरीर भले ही पाञ्चभौतिक एवं नश्वर हो, तथापि उस देह में भी दिव्य गुण सर्वथा अनुस्यूत रहते हैं। उन दिव्य गुणों के परमाणु जो प्रकाशपुञ्ज, ज्योतिपुञ्ज के रूप में देह से निःसृत होते रहते हैं, उनसे सम्पूर्ण परिवेश आध्यात्मिकता से व्याप्त हो उठता है। उनके सम्पर्क में आनेवाली समस्त वस्तुएँ एवं सम्पूर्ण जीवनिकाय प्रभावी हो जाता है। इसलिए उनके चरण जहाँ-जहाँ भी पड़ते हैं, वह भूमि तीर्थ बन जाती है। ऐसे उन साधु-महात्माओं, योगी, सिद्धों तथा नाथसन्तों आदि की आविर्भाव-स्थली उनकी साधनाभूमि और उनकी निर्वाण(देहत्याग)-भूमि एवं समाधि-भूमि विशेष रूप से पवित्र करने वाली एवं पुण्यमय हो जाती है—

'परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता।'

इन स्थलों में श्रद्धापूर्वक जाने और वहाँ उनके आध्यात्मिक सन्देश का अनुभव कर मानव को परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए आत्म-कल्याण के लिए तीर्थसेवन करना चाहिए—

'तस्मात् तीर्थेशु गन्तव्यं नरैः संसारभीरुभिः''

नाथ सम्प्रदाय में तीर्थों की अत्यधिक मान्यता है और इनमें सभी अर्थों में प्रयुक्त तीर्थ शब्दों के

उदाहरण मिलते हैं। नाथ सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस सम्प्रदाय के सिद्ध, योगी, आचार्य तथा महात्मा एक से बढ़कर एक हुए हैं और उन्होंने प्राचीन तीर्थों में निवास कर सिद्धि-लाभ किया तथा पूर्व में जो-जो भी अर्थ बतलाये गये हैं, उन सभी के प्रति आदर की बुद्धि और तीर्थ की भावना रखी थी। वे अपने आचार्यों, गुरुओं तथा शास्त्रों के अनुयायी भी होते थे और उन्होंने वन, उपवन, गिरि-गुहाओं, विशिष्ट तप:स्थलियों, विभिन्न वनखण्डों में रहकर योग-साधना से समाधि-लाभ किया, स्थलों को पवित्र बना दिया तथा उन क्षेत्रों को एक विशिष्ट योगशक्ति से भी सम्पन्न कर दिया। नाथ-परम्परा में मुख्यत: मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि नव नाथों के अनेक साधना-स्थल तथा तपस्यास्थल सारे भारत में तीर्थरूप में मान्य हैं, पूजित होते हैं और दूर-दूर से यात्री इन तीर्थों में आकर अपने को धन्य मानते हैं।

हिमशैल, ज्वालामुखी, अर्बुदाचल, गिरनार, अमरनाथ, वाराणसी, अयोध्या, हरिद्वार, पंजाब, राजस्थान, बंगाल तथा दक्षिण में महाराष्ट्रादि में अनेक स्थानों में इन नाथ-सन्तों के अनेक तीर्थ-स्थल हैं, जिनका शास्त्रों में विशेष वर्णन हुआ है, किन्तु इसके अतिरिक्त बहुत सी अन्य तप:स्थलियाँ भी हैं, जो केवल नाथ-सिद्धों से ही विशेष रूप से सम्बद्ध हैं, जैसे गोरखनाथ से सम्बन्धित गोरखपुर नगर में गोरखनाथजी का मन्दिर, देवी हिंगलाज, कपूरथला, श्रीगोरख-टिल्ला(पंजाब), पूर्णनाथ (पंजाब), अनेक पर्वतों में गोरखनाथ के टीले, महाराज भर्तृहरि की अनेक गुफाएँ (जो चुनार, उज्जैन और गिरनार आदि स्थानों में प्राप्त होती हैं) विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिमालय की पहाड़ियों से नाथ सम्प्रदाय के योगी, महात्माओं-सिद्धों तथा आचार्यों का विशेष सम्बन्ध रहा है। देवभूमि हिमालय में सर्वत्र भगवान् शिव-ही-शिव गूँजते हैं। जनशून्य ये पर्वत-मालाएँ, सघन अरण्य तथा पवित्र नदियों के प्रदेश ही तपस्या, साधना और सद्बुद्धि-प्राप्ति की मुख्य भूमियाँ मानी जाती हैं—

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धियाविप्रो अजायत॥ (यजुर्वेद २६/१५)

कश्मीर से असम तक हिमालय की पर्वत-शृंखलाओं में यत्र-तत्र गोरखनाथजी की गुफाओं, टीलों तथा अनेक साधना-स्थलों का उल्लेख प्राप्त होता है। कुमाऊँ एवं गढ़वाल तथा नेपाल आदि में कई ऐसे पवित्र स्थान हैं, जो गोरखनाथजी से साक्षात् सम्बन्धित हैं। कुमाऊँ-गढ़वाल में विशेष रूप से 'ज्ञानोपदेशप्रदाता' गुरु के रूप में इनके प्रति गहन लोकविश्वास है। अनेक गुफाएँ तथा टीले इनसे सम्बन्धित माने जाते हैं और 'गुरुगोरखनाथ की धूनी' के नाम से अनेक स्थान प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उनके प्रति जैसा श्रद्धा-विश्वास लोगों के मानस में व्याप्त देखा जाता है, उससे यह नि:सन्देह सिद्ध होता है कि कुमाऊँ-गढ़वाल की पहाड़ियों से नाथ-सिद्धों तथा विशेष रूप से गुरु गोरखनाथ का अटूट सम्बन्ध रहा है। कुमाऊँ में सिद्धनाथ, गंगानाथ, गोरिया, भूमिया आदि लोकदेवताओं की उपासना के रूप में मूलत: गुरु गोरखनाथ की ही उपासना होती है। यहाँ के स्थानीय लोकदेवताओं के चरित्रों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि गोरिया आदि लोकदेवताओं का शिवस्वरूप गोरखनाथ की योग-परम्परा से विशेष सम्बन्ध रहा है तथा प्राय: ये सभी अपने को उनका शिष्य बतलाते हैं। स्थानीय जागरों में जगरिये अग्नि के साक्ष्य में इन देवों के जो

उद्‌बोधन-गीत गाते हैं, उनमें मूलतः गुरु गोरखनाथ की ही महिमा का स्वर गूँजता है। यहाँ के लोकसमाज में भी दसनामी साधुओं में से विशेष रूप से नाथ-परम्परा से सम्बद्ध एक विशाल सम्प्रदाय है, जो यद्यपि इस समय वैरागी न होकर गृहस्थरूप में रहता है, तथापि इनके आचार-विचार में गुरु-परम्परा की योगाचारपद्धति के अंश देखे जाते हैं।

इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय की तीर्थ-परम्परा सुविस्तृत है। सम्पूर्ण भारत में ये तीर्थभूमियाँ किसी-न-किसी रूप से इन सिद्धों, योगियों एवं आचार्यों से जुड़ी हुई हैं। इन तीर्थों के संसर्ग से तथा उनकी साधना-प्रक्रियाओं से सच्चरित्रता की शिक्षा लेते हुए अपने कल्याण का प्रयत्न करना चाहिए। इस लोक तथा परलोक की समस्त भोग-वासनाओं का सर्वथा परित्याग किये हुए शान्तचित्त, ब्रह्मनिष्ठ ये साधुजन, स्वभाव से ही लोगों को (तथा स्थानों को) पवित्र करते रहते हैं, अपने अंग-संग से समस्त पाप-तापों को हर लेते हैं क्योंकि उनके हृदयप्रदेश में समस्त पापों को समूल हर लेने वाले भगवान् नित्य निवास करते हैं—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मनिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥ (श्रीमद्‌भा० ९/९/६)

ऐसे योगाचार्यों एवं उनकी तीर्थ-भूमियों को कोटिशः नमन है।

□

श्रीनाथतीर्थ शक्तिपीठ देवीपाटन

—डॉ. जगदीश नारायण सिंह 'निर्भीक'

देवीपाटन तीर्थस्थली गोण्डा जनपदीय तराई-भावर क्षेत्रीय विकास खण्ड तुलसीपुर में सिरिया (प्राचीन श्रीमती और रामगंगा) के पूर्वी तट पर स्थित है। पूर्वोत्तर रेलवे की गोण्डा-गोरखपुर लूप लाइन पर स्थित तुलसीपुर रेलवे स्टेशन से यह स्थली डेढ़ कि.मी. (एक मील) पश्चिम पाटन गाँव के पास है। यहाँ ऊँचा पुराना कोट है। लगभग एक मील उत्तर जंगली पेड़ों और झाड़ियों से घिरा नई देवीजी का मन्दिर है। पुरातन रहस्यों की अद्भुत मंजूषा-सी बनी यह दिव्य, पुण्य, पुरातन, पवित्र नाथ-तीर्थस्थली वर्तमान बौद्धिकता में भी विज्ञानी मानव हेतु विकट पहेली बनी हुई है।

नामकरण—इस सिद्धपीठ का नाम देवीपाटन है। पट (वस्त्र) और पाट (सिंहासन) से पाटन नामकरण का आधार जनश्रुति है, जिसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध-सी है। वर्तमान पाटन प्राचीनकाल में विशाल महानगर रहा होगा। आदिशक्ति की उपासना एवं साधना का प्रमुख केन्द्र होने के गुणानुसार नामकरण के सनातन आधार पर इसका नाम देवीपाटन पड़ा, क्योंकि यहाँ पाटन की पाटेश्वरी या पातालेश्वरी या देवी थीं। सिद्धराज जयसिंह से सम्बद्ध जूनागढ़ गुजरात में भी इससे भिन्न पाटन है।

इस स्थली ने सभ्य मानव के दीर्घकालीन इतिहास के प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन स्वरूप को आँखों से देखा है। महाकाव्यकालीन ऐतिहासिक कसौटी पर इसके अस्तित्व का अनुमान सम्भव है। रामायणकालीन आधार पर श्रीराम की परित्यक्ता सीता एक झरना के निकट महर्षि वाल्मीकि को मिली थीं—'अहं पंचसुभूतेषु मनः षष्ठेषु राघव। विचिन्त्य सीता शुद्धेति जग्राह वननिझरि॥' (वाल्मीकि रामायण उ.का. छानबेवाँ सर्ग, पृ.-१६५६, गीताप्रेस, गोरखपुर।) झरना इस तीर्थस्थली के पास कहीं रहा होगा। कारण कि आश्रमक्षेत्र भी विस्तृत था और ऋषिगण स्थावर की भाँति क्षेत्रविशेष में न रहकर योगी तथा बहते पानी की तरह जंगम थे। फलतः हिमालय की उपत्यका में महर्षि वाल्मीकि का आश्रम देवीपाटन के निकट होना असम्भव नहीं है।

इसी प्रसंग में जनश्रुति कहती है कि सीता इसी स्थली पर कहीं धरती में जीवित समा गयी थीं। सिंहासनारूढ़ उनको (सीता को) रसातल में प्रवेश करते देखकर देवगण उन पर आकाश से निरन्तर

पुष्पवर्षा करने लगे। 'तामासनागतादृष्ट्वा प्रविशन्ति रसातलम्। पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामिवाकिरत्॥' (श्रीमद् वा.रा.उ.का. सत्तानबेवाँ सर्ग, पृ.सं. १६५८, गीताप्रेस, गोरखपुर)। यद्यपि यहाँ स्थान की चर्चा नहीं हुई है तथापि इस मन्दिर के गर्भकक्ष में स्थित दिव्य कूप की गहराई रसातल को अवश्य स्पर्श करती है क्योंकि कभी अवगाहन के समय इसकी गहराई का प्रामाणिक परिचय आधुनिक भौतिक परिमापों द्वारा असम्भव रहा है। मक्खियों का आक्रामक झुण्ड तथा नींव के पूर्व पानी निकलना इसका प्रमाण है।

भारतीय संस्कृति की आधारभूत विशेषताओं के अन्तर्गत यज्ञकर्म आर्ष परम्परा का महत्त्वपूर्ण युगसापेक्ष और अत्यन्त लोकोपकारी प्रयोग रहा है। इस याज्ञिक परम्परा की एक कड़ी के रूप में एक बार नैमिषारण्य (नीमसार) में शौनकादि ऋषियों ने भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा से अनेक वर्षों में समाप्त होने वाले महान् यज्ञ का अनुष्ठान किया। इसी क्रम में उन्होंने सूतजी से जिज्ञासा प्रकट की—भगवन्! अब हम लोग आप से देवीपाटन तीर्थ के विषय में सुनना चाहते हैं। (नैमिषे निमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः। सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत्। भगवन्! सा देवि। तत् स्थानं पाटनम् कथम् एतत् वेदतुमिच्छामित्वत्तो ब्रह्मविदांवर। (श्री पाटेश्वरीशतकम्, प्रकाशन संस्थान, देवीपाटन वि.सं. २०१० द्रष्टव्य देवीपाटन तीर्थ-माहात्म्य एवं इतिहास, प्रकाशक—महन्त श्री शान्तिनाथ, पृ.सं. २५, २६, २८)।

भारतीय आर्यों की पौराणिक शक्तिपूजा की अविच्छिन्न परम्परा और उसका प्रयोग रहा है। इसी सनातन विकासशीलता में सुरक्षित रहने वाली इस चिन्मय शक्तिसम्पन्न दिव्य स्थली की गणना ५१ सिद्धपीठों में की जाती है। वर्तमान भौतिक भग्नावशेषों में स्थित दिव्य पौरुष की चिन्मयी आध्यात्मिक ऊर्जा के विद्युत् चुम्बकत्वकण यहाँ अद्यापि विद्यमान हैं। लोककल्याणनिमित्त याज्ञिक विधानों हेतु एकत्र महात्माओं की सामूहिक चेतन-सत्ता मूढ़ामूढ़ को क्रमशः भय एवं ज्ञान से अपनी ओर सदैव खींचती रही है। इसी आस्था से सम्प्रेरित जन दर्शन पूजन, यजन, भजन, प्रवचनादि कि लिए यहाँ बराबर आते रहते हैं।

पाटनदेवी के पूर्वाभिमुखी सिंहद्वार पर उत्कीर्ण योगी शंकरनाथजी द्वारा रचित इस स्थली का पौराणिक इतिहास सती-प्रसंग से जोड़कर देवी पाटेश्वरी अथवा पाटेश्वरी देवी की सार्थकता प्रमाणित करता है—

पटेन सहितः स्कन्धः पपात यत्र भूतले।
तत्र पाटेश्वरी नाम्ना ख्यातिमाप्ता महेश्वरी॥

अर्थात् इस भूमि पर (महेश्वरीसतीशिवपत्नी का) वस्त्रसहित कन्धा गिरा था, (इसी कारण) महेश्वरी पाटेश्वरी उस स्थल पर प्रतिष्ठित की गयीं। देवी पुराण (नौवाँ स्कन्ध) देवी भागवत (षष्ठ स्कन्ध) अ. १६, १९ एवं ३० में भी महादेवी की चर्चा है। देवी भागवत और श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार उक्त श्लोक भी सत्ययुगीन दक्षप्रजापति के प्रसंग में शिवापमान पर सती के आत्मदाह के फलस्वरूप विक्षोभ से विक्षिप्तावस्था में लीलाधारी सदाशिव द्वारा अपनी प्रियापत्नी (सती) का अधजला शव लेकर भारतभ्रमण करने के कारण प्रमुख स्थलों पर अंग विशेष के गिर जाने से निर्मित ५१ शक्तिपीठों मे से एक का संकेतक है। इतिहास साक्षी है कि लोककल्याण की मधुमती भूमिका पर ही सिद्धपीठों की स्थापना का महान् लक्ष्य निर्धारित किया गया जिसकी परम्परा अद्यापि अक्षुण्ण है।

जनश्रुतियों के अनुसार महाभारतकालीन कर्ण ने इसी मन्दिर के पार्श्व में अपना किला बनवाया था।

उन्होंने ही सर्वप्रथम इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। उन्होंने सप्तसिन्धुओं तथा समस्त तीर्थों का जल मँगवा कर मन्दिर के उत्तर-स्थित वर्तमान सूर्यकुण्ड का निर्माण कराकर (उक्त जल) भरवाया था। सूर्योपासक कर्ण तत्कालीन कौशलनरेश बृहद्बल के मित्र भी थे। इसी वनस्थली के एकान्त एवं शान्त क्षेत्र में उन्होंने बहुत समय तक महाकाली की उपासना द्वारा दिव्य शक्ति प्राप्त की थी। महाभारत में इसका प्रमाण मिलता है। यह मन्दिर कौशलराज्य के अधीन रहा है। वर्तमान सूर्यकुण्ड चमत्कार की प्रभावशालिता हेतु विख्यात है। लोकश्रुति के अनुसार इसमें स्नान करने वाला कुष्ठरोग से मुक्त हो जाता है। इसका आधार महाशक्ति का प्रसाद है। मन्दिर के गर्भ-गृह में प्रज्वलित अखण्ड ज्योति का काजल नेत्ररोगी को निरामय करता है। महाभारतकालीन राजा कर्ण और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से सम्बन्धित लोककथाओं तथा जनश्रुतियों की छानबीन से प्राप्त निष्कर्ष के अनुसार इसी स्थान पर दानवीर कर्ण नित्य-नियमित रूप से सूर्योदय के पूर्व याचकों को सवा मन स्वर्ण दान दिया करते थे। यही नहीं, वरन् अनेक वर्षों तक विक्रमादित्य ने छद्म वेश में किले के मुख्य द्वार पर द्वारपाल का कार्य करते हुए अपने अद्भुत साहस और त्याग से माता महाकाली को प्रसन्न करके अमृत की झरिया और सोने का पात्र वरदान रूप में प्राप्त किया था।

ईसा की ग्यारहवीं शती के आरम्भ में श्रावस्ती-नरेश सुहेलदेव ने देवीपाटन मन्दिर के निकटवर्ती स्थल पर सन्तकोट का निर्माण कराया था। वे प्रत्येक अष्टमी और नवमी को देवीपूजन हेतु पाटन जाते थे। नवरात्रपर्व के पावन अवसर पर नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान द्वारा वे शक्ति-साधना तथा उपासना भी किया करते थे।

पन्द्रहवीं शताब्दी के कहीं पहले से ही आदिशक्ति जगदम्बा की पूजा के साथ नाथसिद्ध बाबा रतननाथ की पूजा प्रारम्भ हो गयी। सात्त्विकी भक्ति-भावना से भाविता माँ भगवती ने सिद्ध रतननाथ को वरदान दिया था कि मेरे प्रसादस्वरूप इसी सिद्ध पीठ पर तुम्हारी भी पूजा हुआ करेगी। तभी से लेकर आज तक चैत्र शुक्ल पंचमी से एकादशी तक उस अमृतपात्रदेव की पूजा होती है, जिसे दीक्षोपरान्त गुरुगोरक्षनाथ ने रतननाथ को दिया था। जनश्रुति के अनुसार दांग् (राप्ती-अंचल, नेपाल) निवासी क्षत्रिय राजा रत्नपरीक्षक गुरु गोरखनाथ द्वारा नाथसम्प्रदाय में दीक्षित होकर रतननाथ नामधारी अपनी योगशक्ति द्वारा दांग् से तुलसीपुर तक लगभग ७५ कि.मी. पहाड़ी मार्ग से चलकर नित्य पाटनदेवी की पूजा किया करते थे। उनकी वृद्धावस्था में देवी ने उनसे कहा कि तुम दांग् से ही मेरी पूजा किया करो, यहाँ आने की आवश्यकता नहीं। फिर इनका शरीर पाटन से वर्तमान चौधेरा दांग् के लिए आकाशमार्ग से उड़ चला और उनका धौंसा (वाद्यविशेष) स्वयं प्रेरित रूप से बजता उनका अनुगमन कर गया। सूक्ष्म चेतन शारीरिक शक्ति से यह असम्भव नहीं है। यह अद्भुत अमानवीय क्षमता योगी रतननाथ में विद्यमान थी जिसके पीछे भगवती जगदम्बा की अनुकम्पा का हाथ था।

वर्तमान चौधेरा दांग् में जो अमृतपात्र देव रतननाथ-मन्दिर में विद्यमान है, वह गुरु गोरखनाथजी द्वारा दिव्य प्रसादरूप प्रदत्त मूल पात्र है, जो परम्परा प्रवाही संरक्षण द्वारा अद्यापि सुरक्षित है। फलत: चैत्र शुक्ल पंचमी को प्रात: से एकादशी की अर्धनिशा तक बाबा रतननाथजी द्वारा महादेवी की पूजा की जाती है। इस बीच मन्दिर में घण्टे नहीं बजते। प्रात: तथा सायं इन्हीं की नियमित पूजा होती रहती है। वापसी में योगियों

को मन्दिर के कोश से विदाई दी जाती है। इनके दर्शनार्थ यात्री द्रव्य-दक्षिणा देते और भस्म-विभूति आदि प्रसादस्वरूप ग्रहण करते हैं। नौरात्र के आरम्भ से चतुर्थी तक तथा द्वादशी से पुनः पाटनदेवी की विधिवत् पूजा होती है। श्रीनाथतीर्थावली के अनुसार देवीपाटन तीर्थराज का परिचय मिलता है, जिससे भी उक्त अनुश्रुति के अधिकांश तथ्यों की पुष्टि होती है—

दांगाख्यदेशे ग्रामोऽस्ति चतुर्घटाभिधः शुभः।
पात्रं गोरक्षनाथस्य हस्ते धृतमथार्चितम्॥

दांग् नामक क्षेत्र में चतुर्घट नामक गाँव है। गोरखनाथजी का अर्चित पात्र हाथ में धारण किया हुआ है।

(श्रीनाथतीर्थावली ३१२)

यहाँ से ७५ कि.मी. दूर पाटेश्वरी नामक शुभदेवी हैं। कल्याणरूपिणी श्रीमती नदी सदा बहती रहती है। पाटेश्वरी के सामने अन्नपूर्णा विराजमान हैं। देवीस्थान से उत्तर सुखप्रद सूर्यकुण्ड है। देवी के गृह में अनेक देवताओं की मूर्तियाँ विद्यमान हैं। उत्तर दिशा में पापविनाशिनी काली का निवास है। गणेश्वर के रूप में पश्चिम दिशा में लम्बोदर विराजमान हैं। पश्चिम में बालेश्वरी और दक्षिण में हिंगुलाश्या विराजमान हैं। वीरेश्वरी, सुरेश्वरी तथा धीरेश्वरी पूर्व में स्थित हैं, वहाँ पवनपुत्र हनुमानजी अपने प्रकाश से प्रदीप्त हैं।

(श्रीनाथतीर्थावली ३१५-१९)

मध्यकाल में नेपाल और भारत के दर्शनार्थ तीर्थयात्रियों की सुदृढ़ भक्ति-भावना के आधार पर यह मन्दिर समृद्धि-शिखर का स्पर्श करता रहा। कहा जाता है कि जब मुगल बादशाह औरंगजेब गद्दी पर बैठा था तब उसका ध्यान इस प्रसिद्ध शक्तिपीठ की ओर गया। उसने इसे ध्वंस करने के लिए सेना भेजी, पर वह इस अभियान में असफल रहा।

संघर्षशील वातावरण में संगठनात्मक अभाव के फलस्वरूप अशक्तता के कारण देवी की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन उपलब्ध होता है—महामाया का पातालप्रवेश, मात्र अगाध जल-ही-जल, भगवती द्वारा ब्रह्मा-विष्णु और महादेव को दर्शन तथा उपदेश देना, त्रिदेवों को रथारूढ़ कर मणिपुर नामक द्वीप में ले जाना, तीनों का भगवतीरूप होना, भगवती दुर्गा का पाटन मन्दिर में अन्तर्धान होना, भगवती के दर्शन के फलस्वरूप शिव का गोरखनाथ के रूप में अवतरित होना और अन्तर्धानस्थल पर शक्तिपीठ की स्थापना करना आदि घटनाएँ प्रसिद्ध हैं।

देवी पाटन-मन्दिर का वर्तमान रूप विकासशील है। गोरक्षनाथ-मन्दिर गोरखपुर (उ.प्र.) से सम्बद्ध इस मन्दिर का विकास उसी मन्दिर की परिपाटी पर हो रहा है। मन्दिर के मुख्य द्वार के सामने विशाल हाल का निर्माण, मन्दिर में श्रीदुर्गाप्रतिमा, यज्ञमण्डप, सूर्यकुण्ड का पोख्ता जीर्णोद्धार, मन्दिर के ऊपरी भाग का उच्चीकरण, विशेष प्रस्तर पट्टियों से मन्दिर का मजबूत एवं स्थायी सुन्दरीकरण आदि गोरक्षनाथ-मन्दिर की शैली पर हो रहा है। पार्श्व में शिव और शीतला देवी का मन्दिर है। मुख्य द्वार के सामने लगे अवरोध से ही गर्भकक्ष में प्रतिष्ठित देवी-प्रतिमा का दर्शन कर सकते हैं। भीतर सामान्य प्रवेश-निषेध है। देवी-प्रतिमा बलरामपुर के महाराज ने दी है। सूर्यकुण्ड के जीर्णोद्धार से जलप्रदूषण की समस्या समाप्त हो गयी है।

मन्दिर के दक्षिण कई छोटी-छोटी दुकानें पूजा की सामग्री बेचती हैं। उनके पश्चिम राजा कर्ण, विक्रमादित्य और गुरु गोरक्षनाथ की अति सुन्दर प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। उनके पश्चिम आँगन के पार कई कमरे हैं, परिक्रमा के उत्तरी आँगन के पार कई कक्ष हैं, जहाँ सिद्ध रतननाथ तथा उनके योगियों के ठहरने हेतु कमरे हैं। मन्दिर के आँगन के पूर्वोत्तर बने बरामदे में पीठासीन महन्तजी विराजमान हैं। बरामदे के भीत पर योगी प्रभानाथ द्वारा श्री (ब्रह्मलीन) महन्त दिग्विजयनाथजी, गोरक्षनाथजी, शिव-सती-पट-कथा आदि के भित्तिचित्र अंकित हैं। बरामदा के पश्चिम कार्यालय, उसके पूर्व अखण्ड धूना (गुरु गोरखनाथजी द्वारा प्रारम्भ) और बरामदा की उत्तरी गली के भीतर पीठासीन महन्तजी का विश्रामालय और भोजनालय है। बरामदा के पूर्वी किनारे पर अतिथिभवन मिलेगा। कई सीढ़ियाँ तय करके सूर्यकुण्ड तक पहुँचा जाता है।

मन्दिर के मुख्य मार्ग के सामने भैरवजी का मन्दिर है, उसके द्वार पर दो सिंह हैं। भैरवी यन्त्र की स्थापना बलरामपुर के स्व. महाराजा दिग्विजय सिंह ने करवाई थी। सबसे पहले भैरवनाथजी को भोग लगता है। यह मन्दिर गोरक्षपीठ, गोरखपुर से सम्बद्ध वहाँ के पीठाधीश्वर श्रीमहन्त अवेद्यनाथजी के नियन्त्रण में है।

देवीपाटन उत्तर भारत का विशिष्ट नाथतीर्थ है, जहाँ चैत्र नवरात्र सहित एक महीने विशाल मेला लगता है। इसमें सुदूर नगरों से अनेक प्रकार की दैनिक प्रयोग की चीजों की दुकानें, खेल-तमाशे, थियेटर, सिनेमा, सर्कस आदि खान-पान, फोटोग्राफी, विकासप्रदर्शनियों से रात में काफी चहल-पहल रहा करती है। मनौती एवं सामान्य दर्शनार्थियों का मेला नवमी को अपनी चरम सीमा पर रहता है।

देवीपाटन का यह पुरातन मन्दिर महाकाव्यकाल से आज तक अनेक उथल-पुथल का साक्षी रहकर खड़ा है। यह भारतीय सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास की अमूल्यनिधि है। हमारी धार्मिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक आदि परम्पराप्रवाही तथ्यों की यह विकासशील थाती है। निश्चय ही इसके हृदय में शक्ति का अक्षय कोश समाया है। अदम्य उत्साह, धैर्य, साहस और चेतना का प्रतीक बना यह अचेतन कलेवर दिव्य चेतना का अमर परिसर है जिसमें पूतात्मा सन्तों, हुतात्मा योगियों, समर्पित भक्तों और संरक्षक तथा प्रगतिवादी महन्तों के चिन्मय व्यक्तित्व के पूंजीभूत विद्युत्कण आज भी रहस्यमय ढंग से आकर्षित करते एवं जगज्जननी माँ भगवती के दर्शन, पूजन एवं भजन की सतत प्रेरणा प्रदान करते हैं।

□

चौरंगीनाथ का तिसाला मेला

डॉ. विष्णुदत्त कुकरेती

श्री गुरु गोरखनाथ तथा मत्स्येन्द्रनाथजी के अनुयायियों, योगियों और नाथसम्प्रदाय के तीर्थों की शृंखला साधारणतया हिन्दू-समाज के अन्य तीर्थ-स्थानों से भिन्न नहीं है। सनातन वैदिक हिन्दू-समाज का अभिन्न अंग होने के नाते नाथ-सम्प्रदाय के योगी भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों और अंचलों में फैले हुए इन तीर्थस्थानों में अपनी श्रद्धा चरितार्थ करते हैं। द्वादश ज्योतिर्लिंगों तथा इक्यावन सिद्धपीठों में उनकी अपूर्व निष्ठा है। काशी, प्रयाग, चित्रकूट, अयोध्या, नैमिषारण्य, गोरखपुर, हरिद्वार, ऋषिकेश, बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री, मथुरा, वृन्दावन, गोवर्द्धन, अमरकण्टक, पुरी, द्वारका, रामेश्वर आदि तीर्थों में उनकी समान रूप से निष्ठा दृष्टिगोचर होती है। इन तीर्थों में समय-समय पर मेले आयोजित किये जाते हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में ऐतिहासिकता, धार्मिक भावनाएँ एवं आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार के मेले में उत्तरकाशी जिले के गाजणा पट्टी में आयोजित चौरंगीनाथ का तिसाला मेला भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है।

उत्तरकाशी जिले के डुण्डा विकासक्षेत्रान्तर्गत पट्टी गाजणा कठूड़ उत्तरकाशी के पूर्व-दक्षिण में जिले की सीमावर्ती पट्टी है। इसके पूर्व में थाती कठड़ (टिहरी गढ़वाल), दक्षिण में मदूरा-रौणन्द तथा उपली रमौली पट्टियाँ (टिहरी गढ़वाल) पड़ती है। पश्चिम में धनारीव बाड़ागद्दी पट्टियाँ (उत्तरकाशी जनपद), उत्तर में नगाधिराज हिमालय की गंगोत्री व केदारनाथ की मध्यवर्ती चौखम्बा हिम-शिखर और उसके अंचल में स्थित सहस्रताल तथा कुश कल्याण एवं जौरई बुग्याल स्थित हैं।

वर्तमान समय में वहाँ जाने के लिए सीधी बस-सेवा के मुख्य दो मार्ग हैं। प्रथम हरिद्वार-ऋषिकेश से टिहरी से २५ कि.मी. पर ही मल्डियाना स्थान है, वहाँ से बस भागीरथी को पार करते हुए लम्बगाँव पहुँचती है, जो मल्डियाना से २१ कि.मी. दूर स्थित है। यहाँ से १५ कि.मी. आगे उत्तरकाशी मार्ग पर मौंतरी स्थान पड़ता है, जो इस मेले की सीमा के ही अन्तर्गत आता है। इसी स्थान पर गंगोतरी-यमुनोतरी से आने वाला पैदल मार्ग मिलता है और यहीं से नैड़ क्षेत्र होकर बूढ़ा केदार, केदारनाथ और बदरीनाथ जाते थे। इस पैदल मार्ग पर आज भी लोग आते-जाते हैं। यहाँ से १२ कि.मी. दूर अर्थात् लम्बगाँव से २७ कि.मी. की

दूरी पर चौरंगी खाल नामक स्थान पड़ता है, जहाँ पर चौरंगीनाथ का मन्दिर है। दूसरा मार्ग–उत्तरकाशी से है। उत्तरकाशी समुद्रतल से ११६० मी. ऊँचा है। यहाँ से प्रसिद्ध सिद्धपीठ संकूर्णाखाल (ऊँचाई १८९४ मी०) होते हुए चौरंगीखाल (ऊँचाई २३०९ मी.) पहुँचते हैं। यहाँ पर चौरंगी के नाम से यात्री 'सिरफल' चढ़ाते हैं। बाँस-बुराँस के घने जंगल हैं। यहाँ पर पहुँचते ही मन को एक अवर्णनीय सुख की अनुभूति होती है। चौरंगीखाल उत्तरकाशी और लम्बगाँव के ठीक मध्य दूरी में पड़ता है। यहाँ पर मन्दिर के अतिरिक्त एक-दो साधारण दुकानें और सार्वजनिक निर्माण विभाग का डाकबँगला है। उसी पहाड़ी पर वहाँ से लगभग ३ कि.मी. दूरी पर नचिकेता ताल है, जो दर्शकों के मन को सहसा मुग्ध कर लेता है। गौतमवंशीय उद्दालक के पुत्र नचिकेता को यमराज ने योग-धारणा के द्वारा मन और इन्द्रियों को रोक कर परमात्मा को प्राप्त करने का साधन बताया था। यहीं योगीराज चौरंगीनाथ की स्मृति में अद्‌भुत मेला लगता है।

ऋग्वेद में केदारखण्ड के सौ गढ़ों का वर्णन मिलता है। इतिहासकारों ने ५० गढ़ों का नामोल्लेख किया है, जिनमें प्रत्येक की अपनी ही भूमिका थी। गाजणागढ़ का भी उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। यहाँ के घोंगा चौहान की तो मन्त्र-साहित्य में आँणें पड़ती हैं। गोरखनाथ का चेला सुरजू कुँवर यहाँ नौ दिन नौ रात्रि रहा था, जब कि वह जोतमाला से विवाह करने जाता है—

नौ दिन नौ रात वाला गाजणा रै गये।
नौ लाख कैतुरी कौंर धाम झल्ल ऐगे॥

इसी गाजणागढ़ से सम्बद्ध पाँच गाँव (गाजणा वर्तमान मेटियारा, लोदाड़ा, सौड़, दिखौली एवं चौड़ियाघाट गाँव) में चौरंगीनाथ का एक अनोखा मेला प्रति तीसरे वर्ष परम्परागत ढंग से होता है। मेले में जाने के लिए धौतरी या चौरंगीखाल से ही सुगम पड़ता है। यहाँ पर लोहे का विशाल त्रिशूल और चिमटा सिद्ध चौरंगीनाथ के प्रतीक हैं। सम्वत् १८३६ में चौरंगीनाथ को चाँदी का एक छत्र चढ़ाया गया है, जिसे श्रीरूपसिंह रजवार स्वर्णकार ने मनौती के रूप में चढ़ाया था। शक्तिस्वरूप खड़्द्वारी और हूण की डोली की पेटी चाँदी से मढ़ी हुई है, जिसे पाँचों गाँव के लोगों ने मिलकर बनवाया है।

माह आश्विन में जब इस क्षेत्र के नाज (धान) कट जाते हैं, लोग खेती बाड़ी के कार्य से कुछ निवृत्त हो जाते हैं, तब चौरंगीनाथ के 'धामी' के स्पष्ट निर्णय पर मेले का शुभ मुहूर्त निश्चित किया जाता है जो कार्तिक की अमावस्या से पूर्व ही निश्चित होता है। वृद्ध लोगों से सम्पर्क करने पर ज्ञात हुआ कि पहले यह मेला ११ दिन तक लगातार होता रहता था, किन्तु अब तीन दिन का ही होता है।

सम्वत् २०३९, २४ गते कार्तिक कृष्ण पक्ष दशमी तिथि तदनुसार १० नवम्बर, ८२ को इस मेले में सम्मिलित होकर इसे देखने-समझने का सौभाग्य मिला। उस दिन चारों गाँवों (मेटियारा, लोदाड़ा, सौड़ एवं दिखौली) के पुरुष बिना अन्न ग्रहण किए देवल नामक स्थान पर एकत्रित हुए। यहाँ पर पाँचों गाँवों के इष्टदेव तामेश्वर नाग का मन्दिर है। यहीं पर भैरवधार नामक जूनियर हाई स्कूल भी है। पाँच ढोल (जिनमें से चार पीतल के और एक चाँदी का जो मेटियारा ग्राम सभा का है) नगाड़े, भाँण, सिंगी एक जोड़ी घण्टी और शंख की ध्वनि से सारा क्षेत्र गूँजने लगा। सारा जनसमुदाय ढोल-नगाड़ों के साथ चौडियाट गाँव की ओर बढ़ा, जहाँ से योगीराज चौरंगी का नेजा, नागराज का त्रिशूल, हलवावीर का निशान, खड़्द्वारी देवी तथा

हूण की सजी हुई तथा चाँदी की मढ़ी हुई डोलियाँ आ रही थीं। यह उल्लेखनीय है कि चारों गाँवों के पुरुषों के साथ उनके आमन्त्रित अतिथि, दर्शक, रिश्तेदार आदि सभी इस प्रक्रिया में भाग लेते हैं। यह जनसमुदाय उन सिद्धों और शक्तियों के स्वागत के लिए आगे बढ़ता है। उन्हें लेकर पुनः वापस तामेश्वर सिद्ध के मन्दिर के पास आ जाते हैं। तामेश्वर मन्दिर के ठीक ऊपर ही श्रीहरि महाराज का निलता पर्वत-शिखर है, जहाँ प्रति वर्ष श्रावण मास में पाँचों गाँवों से दूध-धारा चढ़ाई जाती है। अवर्षण के समय पूजा करके वर्षा होने की मान्यता है।

उन पाँचों गाँवों में पुरुष और अन्य बाहरी आगन्तुक व्यक्ति एक ही स्थान पर एकत्र हो गये। ११ बजे के लगभग तामेश्वरनाग के औतारी को नहलाया गया। उसके पश्चात् पुजारी के द्वारा पूजा की गयी। सिद्ध तामेश्वरनाग ने चार तमोली पानी पीकर प्रसन्न होकर थौल-थापना की अनुमति दी। सारा जनसमुदाय तब तक बिना कुछ खाये ही रहता है। इसलिए स्थानीय लोग इसे 'नीनाक थौल' कहते हैं। यहाँ पर सिद्ध तामेश्वरनाग, चौरंगीनाथ, हलवावीर, जांख, रथी देवता जैमड़िया और नागराज की पूजा होती है। जब सिद्ध तामेश्वरनाग ने थौल-स्थापना की अनुमति दी तो योगीराज चौरंगी उन्हें दण्डवत् प्रणाम करते हैं। इस वन्दना, पूजा-अर्चना की प्रक्रिया के पश्चात् ढोल-नगाड़ों सहित नेजा, डोलियाँ तामेश्वर मन्दिर का परिक्रमा करते हैं और तब सारा जनसमुदाय चौडियाट गाँव चला जाता है।

इस गाँव में सारे क्षेत्र के स्त्री-पुरुष पंचायत चौक, मकानों की छतों, छज्जों, सीढ़ीनुमा खेतों और ऊँचे स्थानों में बैठ जाते हैं। ढोल-नगाड़े बजते हैं, देवताओं के निशान जो पागड़े पर स्थिर किये रहते हैं और हाथों से पकड़े हुए रहते हैं, नचाये जाते हैं। सभी देवताओं के औतारी चौक में कूद पड़ते हैं। इनमें कालनाथ भैरव, कालंका, हलवावीर एवं चौरंगीनाथ मुख्य होते हैं। कालनाथ भैरव नृत्य करते समय अपने नंगे शरीर पर खड्ग साधता है और जोर से मारता है किन्तु ईश्वर कृपा से शरीर का कुछ नहीं बिगड़ता। यह उल्लेखनीय है कि इससे पूर्व कालिका एवं चौरंगीनाथ अभिमन्त्रित भस्म इस औतारी की छाती पर मलते हैं। इससे और रोमांचक नृत्य हलवावीर का होता है। सफेद पाजामा पहने कमर में हलवावीर का प्रतीक लाल कपड़ा बाँधे ऊपरी शरीर बिल्कुल नग्न स्थिति में जब हलवावीर प्रवेश करता है तो चारों ओर से सीटियाँ बजने लगती हैं। ढोल-नगाड़े बजते ही रहते हैं। कुछ देर तक कान सन्न होकर झंकृत हो उठते हैं। हलवा देवता का औतारी अथवा पश्वा गाँव के बाहर दौड़ कर आता है और कैड़ी (बिच्छू घास) तोड़कर खाता है और उससे अपने नंगे शरीर पर जोर-जोर से मारता है। कभी-कभार उस कैड़ी घास को दाँतों से दबाता है। लोग बार-बार सीटी बजाते हैं। चौडियाट गाँव के लोग अपने-अपने घरों से ढिढका (मड़ुए के आटे का बना हुआ फीका हलवा जिसे बाड़ी भी कहते हैं) लाते हैं। प्रत्येक परिवार वाले कम-से-कम २०० ग्राम ढिढका लाते हैं, उसमें दही, मक्खन भी रखा रहता है। अब हलवावीर का औतारी घुटनों के बल बैठकर बिना हाथ लगाये मुँह से ही उसे खाना प्रारम्भ करता है। उसके मुँह की ओर तीन तरफ से दायें, बायें व सामने दैत-संहार बोलने वाले ब्राह्मण तथा अन्य देवताओं के औतारी खड़े रहते हैं और उसके कानों में मन्त्र कहते रहते हैं। जब यह वीर ढिढका नहीं खाता तो लोगों की ओर अपना मुँह फैलाता है, लोग उसके मुँह में चावलों की मुट्ठियाँ डालते हैं। जब तक प्रत्येक परिवार का ढिढका नहीं आ जाता तब तक यही क्रम

लगभग एक घंटे से भी अधिक चलता रहता है। उस बिच्छू घास को अपने घुटनों के नीचे रख देता है। सारा ढिढका खा लेने के पश्चात् वह उस बिच्छू घास के मुट्ठे को हाथ में पकड़कर सारे जनसमाज के सिर के ऊपर घुमाने का अभिनय करता है। उस समय किसी भी वर्ण का व्यक्ति क्यों नहीं है, वह हलवावीर के समक्ष नतमस्तक होकर प्रणाम करता है। तदुपरान्त उस घास को अपने कन्धे में रखता है। बाजे और सीटियों का शोरगुल अब एकाएक बन्द हो जाता है। वातावरण में सन्नाटा छा जाता है। अब हलवावीर का हाथ-मुँह धुलाया जाता है और वह अपनी पूर्व स्थिति में शान्त मुद्रा में दिखाई देता है। ऐसी मान्यता है कि चौरंगीनाथ का यह वीर इस जनसमुदाय के दुःख, दरिद्रता का भक्षण कर देता है तथा ईति-भीतियों से रक्षा हो जाती है।

क्षेत्रीय नर-नारी, आगन्तुक व्यक्ति इसी बीच चौरंगीनाथ के आसन पर सिरफल, चावल, रुपये, फुर्का (रंगीन व कीमती वस्त्र, देवताओं की डोली व निशानों पर लगाने के लिए) भेंट चढ़ाते हैं। चौरंगीनाथ भक्तों को आशीष देते हैं। किसी-किसी के लिए भविष्यवाणी करते हैं।

'थौल-स्थापना' की प्रक्रिया सम्पन्न होने के पश्चात् चौडियाट गाँव के परिवार वालों की अपने-अपने घरों में मेले में आए हुए लोगों के लिए भोजन-व्यवस्था थी। चाहे कहीं का हो, ऊँच-नीच का भेद भुलाकर एक ही पंक्ति में बैठा कर भोजन करवाते हैं। यदि कोई व्यक्ति उस समय दूर से देखे तो पायेगा कि सभी परिवारों के लोग आँगन में एक साथ एक ही समय में भोजन कर रहे होते हैं। इसे वे लोग स्थानीय भाषा में भण्डारा कहते हैं। मेला कमेटी के सदस्य जोर-जोर से पुकारते हैं कि जिसने भोजन नहीं किया वह भोजन कर ले। सभी परिवारों से पुनः वे लोग पंचायती चौक में एकत्रित हो जाते हैं। हलवावीर का औतारी इस समय अपना पूरा आहार लेता है।

५ बजे सायं पंचायती चौक में पुरुषों की टोलियाँ बाँहें मिलाकर गोल घेरे में मांगलिक गीत-नृत्य परम्परानुसार करती हैं। समान लय, स्वर, आंगिक अभिनय से दर्शक-श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं।

इसके पश्चात् विभिन्न देवताओं के नेजा, डोलियाँ एवं निशान ढोल-नगाड़ों के साथ दिखोली गाँव के लिए प्रस्थान करते हैं। दर्शक भी उनके साथ ही जाते हैं। रात्रि में यहाँ नृत्य-गीत होते हैं। सभी लोगों का भोजन इसी गाँव में होता है। यह उल्लेखनीय है कि दिखोली गाँव ठुल्ला देवता अर्थात् तामेश्वरनाग के हिस्से में है इसलिए इस गाँव में सीटियाँ नहीं बजायी जातीं तथा हलवावीर उस गाँव की सीमा में कुछ भी नहीं लेता है।

अगले दिन प्रातः ९-१० बजे सारा जनसमुदाय सजे हुए नेजाओं, डोलियों एवं निशानी के साथ सौड़ गाँव जाता है। वहाँ चौडियाट गाँव की ही प्रक्रिया के अनुसार पंचायती चौक में थौल होता है। हलवावीर को ढिढका खिलाया जाता है। सभी लोगों का भोजन उसी गाँव में होता है। रात्रि के लिए लोदाड़ा गाँव चले जाते हैं। वहाँ भी रात्रि में नृत्य-गीत होते हैं। रात्रि का भोजन लौदाड़ा गाँव में ही होता है। तीसरे दिन प्रातः यह सारा जनसमुदाय मेटियारा गाँव पहुँच जाता है। वहाँ भी उसी पद्धति से पंचायती चौक में पूजा, नृत्य, गीत होते हैं। हलवावीर वहाँ भी ढिढका लेता है। पाँचों गाँव के ढोल-नगाड़े बज उठते हैं, सीटियों की आवाज गूँजने लगती है। उस दिन का भोजन इसी गाँव में होता है। सम्पूर्ण कार्यक्रम सूर्यास्त

तक सम्पन्न हो जाते हैं और सभी देवताओं का प्रस्थान अपने-अपने स्थानों को हो जाता है। इस प्रकार इस 'नीनाक थौल थापना' की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। सारा जन-समुदाय प्रसाद ग्रहण कर और आशीष पाकर अपने-अपने स्थानों को चल देता है।

सामान और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक लोग जो भेंटें इन तीन दिनों के अन्तर्गत चढ़ाते हैं, उनका वितरण इन सभी देवताओं के लिए किया जाता है। पुराने कपड़े पुजारियों, बाजगियों एवं दीन-दुःखी लोगों में वितरित किये जाते हैं। चौरंगीनाथ विशेष रूप से धियाणियों, दीन-दुखियों और असहायों का देवता एवं ईति-भीतियों से रक्षा करने वाले माने जाते हैं। इसी जनपद के घनारी एवं बाड़ागड़ी पट्टियों में तो इनकी आणे पड़ती हैं। इस क्षेत्र के धियाणी को कोई सता नहीं सकता। यदि किसी ने ऐसी चेष्टा की तो चौरंगीनाथ प्रत्यक्ष रूप से उनकी रक्षा के लिए तत्पर रहते हैं।

इस मेले को देखने से प्रक्रिया समझने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस क्षेत्र में कभी नाथपन्थ का व्यापक प्रभाव था। नाथपन्थी तीर्थों में इसकी भी गिनती रही होगी। इन नाथसिद्धों के परकाया-प्रवेश के विभिन्न रूप यहाँ प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न मत-मतान्तरों का समन्वय भी दृष्टिपथ में आता है। इस क्षेत्र में नागवंशीय राजाओं का प्रभुत्व था। इन राजाओं ने बाद में नाथपन्थ को स्वीकार किया। इस प्रकार के मेले इस क्षेत्र में कई स्थानों पर परम्परागत ढंग से आयोजित होते हैं। इन मेलों में श्रद्धा-आस्था से नाथतीर्थों की महत्ता विदित होती है।

□

उड़ीसा के जातीय धर्म में नाथतीर्थ स्थलों की भूमिका

—डॉ. सुधांशु कुमार नायक

उड़ीसा के जातीय देवता श्रीजगन्नाथजी हैं और जातीय धर्म जगन्नाथ धर्म है, जिसे सभी धर्मों का समन्वयात्मक रूप माना जा सकता है। पुरुषोत्तम क्षेत्र के नाम से परिचित पुरीधाम ही उड़ीसा में आध्यात्मिकता का प्राण-केन्द्र है, जहाँ पुरुषोत्तम के रूप में श्रीजगन्नाथ, श्रीबलभद्र और श्रीसुभद्रा के तीनों विग्रह विद्यमान हैं। यह हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है, यहाँ की रथयात्रा प्रसिद्ध है, और यहाँ का समुद्रतट संसार भर के लोगों को आकर्षित करता है। इसी कारण अनादिकाल से अनेक साधु-सन्त और आचार्यों का यहाँ आगमन हुआ तथा सभी ने अपने-अपने मतवादों का प्रचार करने का प्रयास किया। मठ भी स्थापित किये, परन्तु किसी भी मतवाद का स्वातन्त्र्य यहाँ नहीं रह पाया और जगन्नाथधर्म महासागर में विलीन हो गये, लेकिन किसी भी मतवाद की पराजय नहीं हुई। सबने अपने-अपने दृष्टिकोण से श्रीजगन्नाथजी को देखा और उनमें अपने धर्म के अस्तित्व का अनुभव किया। विभिन्न धर्म-मतवादों की दृष्टि से श्रीजगन्नाथजी आज समन्वय के प्रतीक बन गये हैं, जो सगुण भी हैं, निर्गुण भी, ज्ञान के द्वारा उपलभ्य हैं, और प्रेम के द्वारा भी, हिन्दुओं के आराध्य हैं और बुद्धदेव के अवतार भी, विष्णु के स्वरूप भी हैं और तान्त्रिक देवता भी।

उड़ीसा के ये जातीय धर्म और जातीय देवता नाथधर्म के प्रभाव से भी अछूते नहीं रहे। नाथधर्म को उड़ीसा भूमि की विशेष उपज माना जाता है इसलिए जगन्नाथधर्म में इसकी भूमिका उल्लेखनीय रही है। उड़िया साहित्य के मूर्धन्य इतिहासकार डॉ. मायाधार मानसिंह का कहना है कि नाथधर्म के प्रभाव से ही पुरी के पुरुषोत्तम का नाम जगन्नाथ पड़ा है। 'मत्स्येन्द्रगीता' में उड़ीसा में नाथधर्म और उसमें जगन्नाथ के अस्तित्व के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। इसी दृष्टि से पुरी के जगन्नाथधाम को ही नाथधर्म का प्रधान तीर्थस्थल माना जा सकता है। किन्तु अन्य मतवादों की तरह नाथधर्म भी उड़ीसावासियों की धर्मभावना में ऐसा संश्लिष्ट हो गया कि अन्त में वह अपना अस्तित्व खोकर उड़ीसा की जातीय सत्ता में आत्मलीन हो गया। उड़ीसा में आज तक जो भी नाथतीर्थस्थल विद्यमान हैं उन्हें एक निम्न मतवाद के पीठ के रूप में देखा जाता है।

कई गवेषक मत्स्येन्द्रनाथ आदि नाथधर्म के आदिसिद्धों का जन्म उड़ीसा में मानते हैं। दूसरे राज्यों की तरह उड़ीसा में भी मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के नाम से अनेक मठ और गादी स्थापित हुए हैं। इनमें से सबसे पहले श्रीजगन्नाथधाम पुरी का उल्लेख करना आवश्यक है। किंवदन्ती के अनुसार श्रीगोरखनाथ ने पुरी बड़ आखडा मठ की स्थापना की थी। जब वहाँ गोरखनाथजी सिंगा बजाते थे तो समुद्र बावन हाथ हट जाता था और श्रीजगन्नाथजी का आसन कम्पित होता था। इसीलिए श्रीजगन्नाथजी ने मन्दिर से बाहर आकर सिंहद्वार के पास गोरखनाथजी को दर्शन दिया और सिंहद्वार की दक्षिण दिशा में उन्हें स्थान दिया। उन्होंने यह भी कहा कि लोग पहले गोरखनाथ का दर्शन करने के बाद ही उनका दर्शन करेंगे। तब से सिंहद्वार में पतितपावन मूर्ति के पास गोरखनाथ की मूर्ति स्थापित हुई है।

प्राचीन काल में नाथधर्म के बारह सम्प्रदायों के अनुसार उड़ीसा के सिद्धों के लिए बारह प्रधान पीठ थे—सत्यनाथी, धर्मनाथी, रामपन्थ, नाटेश्वरी, कन्हड़, कपिलानी, वैराग्यपन्थ, मीननाथी, आईपन्थ, पागलपन्थ, ध्वजपन्थ और गंगनाथी। धीरे-धीरे ये पीठ उड़ीसा के जातीय धर्म में अपने अस्तित्व खो बैठे और इन्हीं नाम से कोई पीठ अब दुर्लभ हो गया है। केवल पुरी में सत्यनाथी या सतनाथी नाम से एक मठ विद्यमान है, जहाँ तीन सिर और एक पैर वाले भैरव की मूर्ति पूजित है। मठ के सामने एक गरुड़ स्तम्भ भी है और मठ में कई समाधियाँ विद्यमान हैं। इस मठ के महन्त कन्था पहनते हैं।

उड़ीसा में नाथधर्म के विशेष अनुष्ठानों में सोलह महन्तों के आमन्त्रण और समावेश की प्रथा है। इससे पता चलता है कि यहाँ नाथधर्म के सोलह प्रधान पीठ या मठ विद्यमान हैं, किन्तु इनकी स्थिति जीर्णप्राय हो गई है। इनमें से उल्लेखनीय है भुवनेश्वर का कपाली मठ, कपिलास, केयारबांक मठ, कालभैरव मठ, योगीमठ, राजनगर मठ, गोरखपीठ, कुलाणगिरि मठ, मत्स्येन्द्रनाथ गादि, मल्लिकानाथ गादि इत्यादि। इनके अलावा हरिनाथ गादि, विर्स्वतीमठ, पाणिदोल मठ आदि कुछ अन्य पीठ भी उड़ीसा में हैं जिनका अस्तित्व लुप्तप्राय हो गया है।

उड़ीसा के नाथसम्प्रदाय के मठों में से सबसे प्राचीन है भुवनेश्वर का कपाली मठ, जिसके आदि संस्थापक गोरखनाथ के शिष्य कपाल मुनि हैं। किंवदन्ती के अनुसार पहले यहाँ वनदेवी के नाम से अष्टभुजी मूर्ति की उपासना होती थी। कभी योगी गोरखनाथ यहाँ आए थे और उनके शिष्य कपाल मुनि वनदेवी की पूजा और आराधना कर योगसाधना करते थे। एक बार उन्हें बिन्दुसरोवर पुष्करिणी के जल पर पैदल जाते हुए देख तत्कालीन महाराजा ययाति केशरी उनके प्रति आकृष्ट हुए थे और उनके लिए एक मठ स्थापित कर नित्य पूजा की व्यवस्था की थी। तब से वह मठ कपाली मठ और वनदेवी कपाली देवी के नाम से परिचित हुईं। नाथसम्प्रदाय से सम्बन्धित होने पर भी यह मठ उड़ीसा की धार्मिक चेतना से पृथक् नहीं हुआ। भुवनेश्वर के आराध्य देवता श्रीलिंगराजजी के साथ इस मठ का सम्बन्ध सदैव चलता रहा। कपाली देवी श्रीलिंगराजजी की मामी के नाम से भी परिचित हैं। प्रथमाष्टमी के अवसर पर अनन्त वासुदेव, पार्वती और रुक्मणी देवी के साथ श्रीलिंगराजजी इस मठ में आकर नये वस्त्र पहनते हैं। इसी दिन प्रात: काल में मठ के पापनाशिनी कुण्ड में अपुत्रिका नारियाँ सन्तान-प्राप्ति की आशा में स्नान करती हैं। अशोकाष्टमी के अवसर पर लिंगराजजी की रथयात्रा भी यहाँ कच्चा नारियल के नैवेद्य से ही शुरू होती है।

ऐतिहासिक तथा पुरातत्त्वविद स्वर्गीय केदारनाथ महापात्र का कहना है कि उड़ीसा के राजा कपिलेन्द्र देव का राज्याभिषेक इस मठ में २९ जून, १४३५ ई. को सम्पन्न हुआ था। इस अभिषेक के स्मारकों के रूप में इस मठ के पूर्व द्वार की दक्षिणी ओर एक शिलालेख खोदा गया है। गवेषकों का अनुमान है कि इस मठ का प्रवेशद्वार तथा अन्यान्य मन्दिरों का निर्माण महाराजा कपिलेन्द्रदेव के महासेनापति ने किया था।

ढ़ेकानाल जिले का कपिलास पर्वत नाथधर्म का एक अन्यतम पीठ है। पर्वतशिखर पर गंगवंश के राजा नरसिंहदेव ने ३० अप्रैल, १२४६ ई. को कैलास शेखरेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा की थी। इसके करीब दो सौ साल बाद, महाराजा प्रतापरुद्र के समय में सिद्धयोगी महन्त परशुरामनाथ को शेखरेश्वर की पूजा का दायित्व अर्पित किया गया, किन्तु कुछ ईर्ष्यालु व्यक्तियों के कुचक्र से परशुरामजी को इस मन्दिर से निकाल दिया गया और जाकर हिन्दोल गुफा में रहने लगे। किन्तु इससे एक विचित्र बात हुई, जिस झरने से पानी लेकर मन्दिर में दैनिक पूजा की जाती थी वह झरना उसी दिन सूख गया और शेखरेश्वर की पूजा बन्द हो गई। महाराजा ने परशुरामनाथ से क्षमा-याचना की और उन्हें राजगढ़ के पास शिमुलिया मठ में रखाया। तब से राजकीय सनद के अनुसार कपिलास का समस्त दायित्व उन्हें समर्पित किया गया और उन्हीं के अनुसार पूजाविधान होने लगा। शिवरात्रि के अवसर पर यहाँ बड़ा मेला लगता है। नाथसम्प्रदाय के अन्य मठों से प्रतिनिधि यहाँ आते हैं और रात के अन्तिम प्रहर में नाथयोगियों के वाद्यनृत्य से शिवजी की योगनिद्रा भंग की जाती है। मन्दिर के सामने निर्मित मण्डप पर मठ के महन्त बैठकर इस अनुष्ठान का संचालन करते हैं।

कटक के केन्द्रापड़ा सब-डिवीजन में गोबरी नदी के तट पर कियारबांक मठ नाथयोगियों के लिए एक तीर्थस्थल है। लगभग चार-साढ़े चार सौ साल पहले पश्चिम में इच्छानाथ, कृष्णनाथ और हरिनाथ नाम के तीन नाथसिद्ध योगी उड़ीसा आए थे। इच्छानाथ ने केन्द्रापड़ा बलदेव मन्दिर के पास विरस्वती ग्राम में और हरिनाथ ने जगत्सिंहपुर में अपने-अपने मठ स्थापित किये, जिन स्थानों के नाम क्रमशः इच्छापुर और हरिपुर हो गये। पर सिद्धयोगी कृष्णनाथ ने केयारबांक के जंगल में एक गृहस्थ किसान के भवन में चातुर्मास्य का व्रत पालन किया। वहीं एक दिन उन्होंने एक सारस को एक बाज का शिकार करते हुए देखा। इस विचित्र घटना के बाद ध्यानमग्न होकर उन्होंने उस स्थान की महिमा के बारे में पता लगाया और वहीं एक कुटीर निर्माण करके साधन-भजन करने लगे। उनकी शिष्य-परम्परा में क्रमशः रूपनाथ, वीरनाथ, वरुणनाथ, विश्वनाथ, नीमनाथ, ब्रह्मनाथ, विशुननाथ, ध्रुवनाथ, गदाधरनाथ, वासुदेवनाथ, दैतारिनाथ और विष्णुचरणनाथ (१९५९) के नाम गिनाये जाते हैं। वरुणनाथ ने ही यहाँ मठ की स्थापना की थी और उनके शिष्य विश्वनाथ ने दक्षिणाकाली देवी का विग्रह स्थापित किया था। नीमनाथ की यौगिक सिद्धि से साधारण जनता अत्यन्त प्रभावित थी। कुणग के षण्ड राजा ने उनकी अलौकिकता से प्रभावित होकर मठ के लिए ७० एकड़ जमीन दान में दी थी। नीमनाथ की प्रचेष्टा से यहाँ धार्मिक संगोष्ठी का आयोजन किया था। उनके शिष्य ब्रह्मनाथ ने सन् १७७१ में षण्ड राजा मधुसूदन नरेन्द्र बहादुर से भूसम्पत्ति प्राप्त कर मठ में राधाकृष्ण और बलदेव के विग्रहों की स्थापना की थी। उन्हीं के समय से यहाँ हर साल कार्तिक शुक्ल एकादशी को नाथधर्म का सम्मेलन होता आ रहा है।

नाथयोगियों का कालभैरव मठ कटक जिला के पद्मपुर के पास त्रिलोचनपुर गाँव में अवस्थित है।

यहाँ उपासित कालभैरव की मूर्ति भयंकर मूर्ति नहीं है। विग्रह के मुकुट पर अर्द्धचन्द्राकार में पंचध्यानी बुद्ध की मूर्ति अंकित है। सचमुच यह मत्स्येन्द्रनाथ की अवलोकितेश्वर पद्मपाणि मूर्ति है। इस विग्रह की लम्बाई पाँच फुट और चौड़ाई ढाई फुट है। यहाँ योगियों के प्रतीक त्रिशूल, शंख आदि की पूजा होती है। शिवरात्रि के अवसर पर यहाँ एक बड़ी शोभायात्रा होती है। महाजनपुर के योगी अपने को शिवपुत्र मान कर पागा और बहुग्राम में उपासिता देवी के स्थान पर मठ के शंख और त्रिशूल को लेकर माता और पिता का मिलन-उत्सव मनाते हैं।

कटक जिले के आलि में योगी मठ बारमहन्तिआ आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। किंवदन्ती के अनुसार आलि के प्रथम महन्त शैलनाथ महाराज थे। अकबर के शासनकाल में वे गोरखपुर से उड़ीसा आए थे। महाराजा पुरुषोत्तम देव के एक पुत्र ने उन पर आक्रमण किया था। किन्तु उनके यौगिक प्रभाव से राजकुमार को फिर शरणापन्न होना पड़ा। यहाँ दशहरा के दिन शोभायात्रा के साथ शैलनाथ की पूजा के बाद शिवपूजा की रीति प्रचलित है।

कटक जिले का राजनगर मठ उड़ीसा का अन्यतम नाथतीर्थस्थल है। यहाँ शैलनाथ नाम से परिचित गजपति भानुदेव के पुत्र शैलेन्द्रदेव का समाधिपीठ है। शैलेन्द्रदेव ने राजनगर के जंगलों में योगसाधना कर सिद्धि-लाभ किया था और शैलनाथ के नाम से परिचित हुए थे। उस जंगल में उनके द्वारा पूजित उमाकान्तेश्वर महादेव और मत्स्येन्द्रनाथ की पद्मपाणि निम्बनाथ नाथ-परम्परा के दो आचार्य थे। गोरखपीठ में हर साल माघ पूर्णिमा के अवसर पर एक प्रसिद्ध मेला लगता है। इस पीठ की एक किलोमीटर दूरी पर 'सान गोरेख गादि' नाम से एक नाथ-तीर्थस्थल भी अवस्थित है।

ईस्वी सन् सातवीं-आठवीं शताब्दी में औमकर वंश के एक राजा की चार रानियाँ थीं—रत्नदेवी, ललितदेवी, उदयदेवी और कुलणदेवी। उन्हीं के नाम से रत्नगिरि, ललितगिरि और कुलणगिरि पीठ विद्यमान है जो क्रमश: बौद्धतन्त्र और नाथधर्म के तीर्थस्थल हैं। कटक जिले में अवस्थित कुलणगिरि में नाथधर्म के चार महन्तों की समाधियाँ हैं। यह नाथयोगियों का एक प्रधान सिद्धपीठ है।

कटक जिले के पाटकुरा थाना के पुन्दाल ग्राम में मत्स्येन्द्रनाथ गादि अवस्थित है। यह स्थान समाधिमठ के रूप में परिचित है। गादि में नैवेद्य देने से रोग से मुक्ति मिलती है, ऐसा लोगों का विश्वास है। यहाँ से १२ मील दूरी पर चित्रोत्पला नदी के किनारे तक मत्स्येन्द्रनाथ मठ भी अवस्थित है।

कटक जिले के सालेपुर थाना के अन्तर्गत खगुसाहि ग्राम में मल्लिकानाथ गादि विद्यमान है। इसे मल्लिकानाथ का समाधिपीठ माना जाता है। यहाँ वर्ष के विभिन्न समय में मेले और महोत्सव होते हैं, जिसमें सम्प्रदाय निर्विशेष से सभी लोग सम्मिलित होते हैं।

मूर्ति अब भी विद्यमान है, उमाकान्तेश्वर महादेव शिवलिंग के आकार में विराजित हैं, जिसकी एक ओर शिवजी और दूसरी ओर पार्वती की मूर्ति उत्कीर्ण है। वहाँ २ फुट लम्बाई और डेढ़ फुट चौड़ाई के एक पत्थर पर मत्स्येन्द्रनाथ की मूर्ति उत्कीर्ण है। मूर्ति के मस्तक की बाईं ओर कोने में एक छोटी-सी बुद्ध मूर्ति उत्कीर्ण है। नेपाल के सिद्धाचल मृगस्थली में पूजित मत्स्येन्द्रनाथ की पद्मपाणि मूर्ति के साथ इसका सामंजस्य है। लगता है उस समय भारत के दूसरे प्रान्तों की तरह उड़ीसा में भी मत्स्येन्द्रनाथ विष्णु और बुद्ध

के अवतार के रूप में पूजित थे, जिस पत्थर पर मत्स्येन्द्रनाथ की मूर्ति अंकित है, उसकी दोनों ओर कुटिल लिपि में निम्नोक्त शिलालेख भी उत्कीर्ण है—

ये धर्माहितु प्रभवा हेतुस्तेषां तथागतोह्यवदत्।
तेषां यो निरोधः एवं वादि महाश्रमणः॥

नाथयोगियों का अन्य एक प्रधान तीर्थस्थल कटक जिले के छपड़ा गाँव में गोरखनाथ रेलवे स्टेशन के पास अवस्थित गोरखपीठ है। इस स्थान को लोग गोरखनाथ का समाधिपीठ मानते हैं और सर्पदंशन तथा गोमडक से उद्धार पाने के लिए यहाँ पूजा करने आते हैं। उनके लिए गोरखनाथ प्रत्यक्ष देवता हैं। इस पीठ में एक बहुत बड़ा वटवृक्ष है, जिसका मूल कहाँ है, यह जाना नहीं जाता है। इस पीठ की चारों तरफ अनेक देव-मन्दिर, पीठ और धूनी आदि हैं। पास में निम्बमठ और बोधिनाथ पूजित हैं। बोधिनाथ और उड़ीसा आदि व्रात्यों की भूमि थी। वन-जंगलों से परिवेष्टित इस राज्य में पहले आर्येतर उपासक व्रात्यों का निवास था। उनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ अथर्ववेदीय पैप्पलाद संहिता का उद्धार उड़ीसा के याजपुर से हुआ है। यहाँ शिवजी आदिदेव या आदिनाथ के रूप में आर्येतर जातियों से उपासित हैं। इसी उड़ीसा भूमि में सम्बल राजकुमारी लक्ष्मीकरा ने सहजयान का प्रचार किया था जो परवर्ती काल में कामाचार में बदल गया, इसलिए इसका सामना करके शृंखलित जीवन-यात्रा को प्रोत्साहित करने के लिए ही उड़ीसा में नाथधर्म का उदय हुआ, जिसने सभी सम्प्रदाय और जाति के लोगों को अपनाकर समन्वय का विकास किया। उड़ीसा के नाथतीर्थ स्थलों से ही समन्वय का प्रचार होने लगा, जो वहाँ की जातीय चेतना बन गई, आज ये तीर्थस्थल ह्रासोन्मुखी अवश्य हो गये हैं, किन्तु उड़ीसा की धार्मिक चेतना में उनका अवदान चिरस्मरणीय है।

□

महाराष्ट्र और गुजरात के सन्तों पर नाथ-योग का प्रभाव

यह तो निर्विवाद रूप से मान्य है कि वैष्णव भक्ति के विकास के पहले समग्र भारत-भूमि में नाथपन्थी योगियों का व्यापक प्रभाव था। उत्तर भारत की सन्त-परम्परा तो नाथ-योग से प्रभावित है ही, दक्षिण में महाराष्ट्र भक्ति-साहित्य और पश्चिम में गुजरात एवं राजस्थान-भक्ति-साहित्य पर भी नाथ-मत का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। महाराष्ट्र के भारत प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए अपना सीधा सम्बन्ध आदिनाथ से जोड़ा है। सन्त ज्ञानेश्वर की गुरु-परम्परा इस प्रकार है—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ, सन्त ज्ञानेश्वर। सन्त ज्ञानेश्वर का समय सन् १२७१ से १२९३ ई. तक निर्धारित है।

सन्त ज्ञानेश्वर से पूर्व मराठी के आदिकवि श्री मुकुन्दराज हुए थे। उनका समय सन् ११२८ से १२०० ई. तक मान्य है। उन्होंने भी अपनी गुरु-परम्परा आदिनाथ से ही स्वीकार की है। आदिनाथ के बाद उनकी परम्परा नाथ-मत की स्वीकृत प्रामाणिक परम्परा से भिन्न हो गई है। इससे इतना तो प्रमाणित होता ही है कि सन् ११२८ से पहले ही महाराष्ट्र में नाथपन्थ का व्यापक प्रभाव पड़ चुका था।

मराठी के आदिकवि मुकुन्दराज ने 'विवेक-सिन्धु' नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह मराठी का पहला काव्य ग्रन्थ माना जाता है। इसमें 'हठयोग' के स्थान पर 'राजयोग' का समर्थन किया गया है। मुकुन्दराज पर नाथपन्थ के प्रभाव के तीन मुख्य आधार हैं। पहली बात तो यह है कि श्री मुकुन्दराज ने अपनी गुरु-परम्परा का आरम्भ 'आदिनाथ' से माना है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने 'राजयोग' का प्रतिपादन किया है। हठयोग राजयोग का विरोधी नहीं है। तीसरी बात यह है कि इन्होंने अपनी कृति गुरु शिष्य-संवाद के रूप में लिखी है और गुरु को वैसा ही महत्त्व दिया है, जैसा नाथपन्थ में दिया जाता है। इनकी दूसरी रचना 'परमामृत' है। मराठी के भक्ति-साहित्य पर विचार करते हुए प्रो. भी.गो. देशपाण्डेय ने मुकुन्दराज के उपर्युक्त दोनों ही ग्रन्थों पर नाथपन्थ का प्रभाव स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है—

"यह बात स्पष्ट है कि मुकुन्दराजजी के उक्त दोनों ग्रन्थों में नाथपन्थ के ग्रन्थ का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। श्री मुकुन्दराजजी के काल में महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय पर्याप्त प्रतिष्ठा पा चुका था, अत: उनका नाथ सम्प्रदायी होना बिल्कुल सम्भव है।" (मराठी का भक्ति साहित्य, पृ. १६) इसमें सन्देह नहीं है कि 'विवेक-सिन्धु' में परमात्मा के स्वरूप का मुकुन्दराजजी ने जिस रूप में व्याख्यान किया है, वह नाथपन्थ

में मान्य स्वरूप के सर्वथा अनुकूल है। मुकुन्दराज ने कहा है—

तू निरगुन निराकारूं। निःसंगु निर्विकारु॥
तुझे या स्वरूपाचा पारू। नेणती सर्व॥

श्री मुकुन्दराज यह जानते हैं कि 'निर्गुण', 'निराकार', 'निर्विकार' और 'निस्संग' परमतत्त्व सामान्य जन की उपासना का विषय नहीं हो सकता। इसलिए वे कहते हैं—

चित्त अवलम्ब ने नीण।
जरी न राहे स्थिरपण॥
तरी सगुण स्वरूप चिन्तावे॥

इससे यह सिद्ध होता है कि नाथपन्थ की मान्यताओं को तत्त्वदृष्टि से स्वीकार करते हुए भी मुकुन्दराज लोकदृष्टि का ध्यान रखते हैं। इसीलिए उन्होंने 'श्रीहरि' के दोनों ही रूपों (निर्गुण और सगुण) को समान महत्त्व दिया है। महाराष्ट्र का सर्वमान्य भक्ति-सम्प्रदाय 'वारकरी सम्प्रदाय' है। इस सम्प्रदाय का आरम्भ यों तो सन्त पुण्डरीक से माना जाता है किन्तु इसे व्यापक प्रतिष्ठा दिलाने का कार्य सन्त ज्ञानेश्वर और सन्त नामदेव ने किया। सन्त ज्ञानेश्वर की 'गीता' पर मराठी भाषा में लिखी टीका 'ज्ञानेश्वरी' प्रसिद्ध है। गीता के छठें अध्याय की टीका करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर ने १०वें श्लोक से लेकर १५वें श्लोक तक की व्याख्या के अन्तर्गत 'नाथयोग' की पूरी प्रक्रिया का उल्लेख किया है। गीता के जिन श्लोकों की व्याख्या करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर ने नाथयोग पद्धति का उल्लेख किया है, वे निम्नलिखित हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

उपर्युक्त श्लोकों की व्याख्या करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर ने योग-साधना के लिए साधनास्थल की उपयुक्तता से लेकर 'आसन' (मलबन्ध या वज्रासन, जालन्धरबल्ध, उडिड्यानबन्ध), कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्र-वेध, नादानुसन्धान, खेचरी मुद्रा की साधना एवं ब्रह्मानन्द की उपलब्धि आदि नाथयोगसम्मत योगसाधना-प्रक्रिया की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का उल्लेख किया है। श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या करते हुए

उनके श्लोकों में हठयोग की मान्यताओं का पूरी निष्ठा से उल्लेख करना दो बातों की ओर इंगित करता है। एक तो यह कि सन्त ज्ञानेश्वर नाथमत की हठयोग-साधना से अच्छी तरह प्रभावित थे। दूसरे वे उस साधना को भारतीय साधना-धारा के मुख्य प्रवाह के साथ समन्वित कर देना चाहते थे। श्रीमद्भगवद्गीता कृष्ण के द्वारा कथित तत्त्व ग्रन्थ है। नाथपन्थ मूलतः शैव-दर्शन से प्रेरित है। शैव-तत्त्व-चिन्तन को औपनिषदिक अद्वैत चिन्तन से मिलाकर सन्त ज्ञानेश्वर ने एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया। उन्हें नाथयोग की साधना के साथ कृष्णभक्ति को समन्वित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। यह समस्या उत्तर के कृष्णभक्तों के सम्मुख भी आई थी, किन्तु वे योग की शुष्क साधना के साथ रसरूपमाधुर्यमूर्ति कृष्ण की रागमूला भक्ति-साधना का सामंजस्य न कर सके। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने 'अभंगों' में भी योग की व्याख्या की है। डॉ. प्रभाकर माचवे के अनुसार सन्त ज्ञानेश्वर के अभंगों में २४ अभंग 'योग' पर कहे गये हैं। (हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त काव्य, पृ. १६९)

सन्त ज्ञानेश्वर के कुछ हिन्दी पद भी मिलते हैं। इन पदों की भाषा खड़ी बोली के अधिक निकट है और परवर्ती प्रतीत होती है। एक पद इस प्रकार है—

दुनिया तज कर खोंक रमाई, जाकर बैठा बन यों।
खेचरि मुद्रा वज्रासन माँ ध्यान धरत है मन मो।
तीरथ करके उम्मर खोई जागे जुगति मो सारी।
हुकुम निवृत्ति का ज्ञानेश्वर को तिनके ऊपर जाना॥
सद्गुरु की कृपा भई तब आपहि आप पिछाना॥

(मराठी का भक्ति-साहित्य, पृ. ६७)

उपर्युक्त पद में ऐसे योगियों की भर्त्सना की गई है, जो केवल वेश विन्यास को महत्त्व देते हैं और अपने स्वरूप को पहचानने की चेष्टा नहीं करते। हो सकता है कि उपर्युक्त पद की शब्द-रचना परवर्ती हो लेकिन उसमें निहित भावना का सम्बन्ध सन्त ज्ञानेश्वर से अवश्य है। सन्त ज्ञानेश्वर के ज्येष्ठ भ्राता 'निवृत्तिनाथ', छोटी बहन 'मुक्ताबाई' और लघुभ्राता 'सोपानदेव' भी नाथपन्थ में दीक्षित थे।

वारकरी-सम्प्रदाय के दूसरे प्रसिद्ध सन्त नामदेव हैं। नामदेव ने सन्त ज्ञानेश्वर की प्रेरणा से योगी सन्त विसोबा खेचर से दीक्षा ली थी। नामदेव सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। उनका महाराष्ट्र के सन्तों में वही स्थान है जो उत्तर भारत में कबीरदास का। नामदेव ने हिन्दी में पर्याप्त संख्या में पद-रचना की है। पूना विश्वविद्यालय से इनके २३० पदों और १३ साखियों का एक संग्रह सुसम्पादित होकर 'सन्त नामदेव की हिन्दी पदावली' नाम से प्रकाशित हो चुका है। सन्त नामदेव की हिन्दी पदावली में नाथयोग के सिद्धान्त क्रमबद्ध रूप में मिल जाते हैं। एक ही पद में मन और पवन को दृढ़ करने, अनाहत नाद में लीन होने, चन्द्र और सूर्य को समरस करने, सुषुम्ना मार्ग से क्रमशः आगे बढ़ते हुए तारामण्डल (आकाश या ब्रह्मरन्ध्र) तक पहुँचने तथा सहजावस्था या शून्यावस्था प्राप्त करने की स्थिति का स्पष्ट चित्र अंकित किया गया है—

देवा बेनु बाजै गगन गाजै। सबद अनाहद बोलै।
अम्बर की गति जानै नाहीं। मूरिष भरमत डोलै।

चन्द सूर दोउ समकरि राषूँ। मन पवन दिठ डांडी।
सहजै सुशमन तारा-मण्डल। इह विधि त्रिस्नां षांडी॥
गगन मण्डल में रहनि हमारी। सहजि सुंनि गृह मेला।
अन्तरि धुनि मैं मन बिलमाऊँ। कोई जोगी या गम लहैला॥

(नामदेव की पदावली, पद ६५)

सन्त नामदेव के अन्य पदों में 'निरञ्जन' का ध्यान करने, अजपा जाप जपने, ज्योति-रूप परमतत्त्व के झिलमिल-झिलमिल नूर का दर्शन करने तथा अन्तर्मुखी साधना के बल पर मन को निश्छल करके कोटि सूर्यों के प्रकाशरूप ज्योति-पुंज को प्रत्यक्ष देखने की बात कही गयी है। यह सभी बातें नाथ-योग-सम्मत हैं। सन्त नामदेव ने जहाँ योग के तात्त्विक स्वरूप को महत्त्व दिया है, वहीं मात्र ऊपर-ऊपर से वेश-विन्यास के द्वारा बनावटी योग साधने की प्रवृत्ति की भर्त्सना भी की है। वे कहते हैं—

सींगी जटा विभूति लगावै। सम्बर सिध कहावै रे।
नाथ न बोलषै? मरम न जाणै। भाव चंडाली लावै।
ब्रह्मा पढ़ि गुणि बेद सुनावै। मन की भ्रांति न जानै।
करम करै सो सूझै नाहीं। बहुतक करम कराई।
केवल ब्रह्म सत्ति करि जाण्यां। सहज सुंनि मैं ध्याया रे।
प्रणवत नामदेव गुरु प्रसादै। पाया तिनही लुकाया॥

(नामदेव की पदावली, पद ६४)

इस सन्दर्भ में ध्यान रखना होगा कि स्वयं गोरखबानी में भी बनावटी योग साधने वाले योगियों की निन्दा की गई है। डॉ. प्रभाकर माचवे ने महाराष्ट्र के निर्गुण कवियों में सन्त एकनाथ का भी उल्लेख किया है। सन्त एकनाथ हिन्दी के महाकवि तुलसीदास के समकालीन थे। सामान्यत: एकनाथ को भक्ति का समर्थक माना जाता है। वे भागवत धर्म को लोक में प्रतिष्ठित करने वाले साधक माने जाते हैं किन्तु उनकी भक्ति में नाथयोग के तत्त्व अनुस्यूत हैं। 'एकनाथी भागवत' प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने सगुण-निर्गुण में अभेद माना है, उनका कथन है—

माइनें स्वरूप निज निर्गुण। अथवा वैकुंठीचें सगुण।
दोन्ही एकचि निश्चयें जाण। सगुण-निर्गुण समसाम्य॥

(एकनाथी भागवत २५-३०)

एकनाथ के 'अनुभवानन्द' ग्रन्थ में ४० से ४६ ओवियों में ब्रह्म के जिस अद्वैत रूप की व्याख्या है, वह नाथयोगियों की तत्त्वमीमांसा के बहुत निकट है। एकनाथ ने सन्त ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' के पाठ को शुद्ध किया और उसमें जो अपपाठ मिल गये थे, उनको निकालकर उसे सुसम्पादित रूप में अवतरित किया। ज्ञानेश्वरी का पाठानुसन्धान करने वाले एकनाथ नाथयोग से सर्वथा अप्रभावित नहीं हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि सन्त एकनाथ के समय तक महाराष्ट्र में नाथपन्थी योगियों में अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ गई थीं। अपने एक हिन्दी पद में एकनाथ ने किसी नाथपन्थी योगी को लक्षित करते हुए कहा है—

नाथपन्थ की मुद्रा डाली,
जग में सिंगी बजावत है।
सन्यास लिया आशा बड़ाई,
मीठा खाना माँगता है। (मराठी का भक्तिसाहित्य, पृ. १५२)

प्रत्यक्ष है कि सन्त एकनाथ सच्ची योगसाधना के समर्थक थे। सन्त एकनाथ के समकालीन त्र्यम्बकराज नामक कवि ने योगमत सम्बन्धी 'बालावबोध' नामक ग्रन्थ की रचना करके योग-सिद्धान्त के रहस्य को प्रतिष्ठित करने का असाधारण प्रयत्न किया था।

मराठी भक्ति-साधना के इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि योग-साधना के तत्त्व महाराष्ट्र में विकसित होने वाली रामभक्ति-धारा में अन्तर्भुक्त हो गये। सत्रहवीं शताब्दी में समर्थ रामदास ने रामभक्ति का प्रचार किया। समर्थ रामदास का बचपन का नाम नारायण था। 'समर्थ' पदवी प्राप्त करने के पहले नारायण ने ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए १२ वर्षों तक योगियों जैसी तपश्चर्या की थी। समर्थ रामदास की एक रचना 'मन के श्लोक' (मनाचे श्लोक) है। इसमें स्फुट श्लोक हैं। इसमें एक सच्चे भक्त के लिए विवेक और वैराग्य पर बल दिया गया है। इसमें परमतत्त्व की स्वरूप-मीमांसा करते हुए उसे सगुण-निर्गुणातीत बताया गया है। यही नहीं, इसमें 'विदेह' स्थिति का भी निर्वचन है। ये सारे तत्त्व योग-साधना से ही गृहीत हैं। समर्थ रामदास की हिन्दी रचनाएँ भी प्राप्त हैं। इनमें उन्होंने रामभक्ति पर बल दिया है।

अठारहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में कुछ सरस गेय पदों की रचना करने वाले कवियों की परम्परा विकसित हुई। इनमें सिद्धेश्वर महाराज और शिवदिन केसरी (१६९८-१७७४), इन दो कवियों के स्फुट हिन्दी पदों में योग-साधना के तत्त्व लक्षित होते हैं। सिद्धेश्वर महाराज का एक पद इस प्रकार है—

बँगला खूब बनाया बे उसमो माधव सोया बे।
पंचतत्व की भीत बनाई तीन गुनन का गारा।
रामनाम की छान छवाइ चानेहारा न्यहारा।
उस बंगले कु नव दरवाजे बीच पवन का खम्भा।
आवे जावे सब कोई देखे यही बड़ा अचम्भा।
आशा दुराशा माया नाचे मन मो ताल बजावै।
सुरत-निरत मिरदंग बजावै राग छतीसा गावै।
बँगला खूब बनाया बे उसमो माधव सोया बे॥

(मराठी का भक्तिसाहित्य, पृ. २४७)

यहाँ शरीर रूपी बँगले के वर्णन में योग-दृष्टि के आधार पर ही रूपक बाँधा गया है। शिवदिन केसरी के एक पद की अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

शिवदिन के प्रभु केसरि साहब, अगम निगम का राजा।
अनुहत डंका दिन-दिन बाजत, तन का बाजा॥

(मराठी का भक्तिसाहित्य, पृ. २४८)

किन्तु इस ज्ञान के बावजूद लोग माया के बन्धन से मुक्त होने के लिए योगपथ का अनुसरण नहीं करते। उपर्युक्त भक्तों के अतिरिक्त डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित द्वारा सम्पादित 'मराठी सन्तों की हिन्दी वाणी में' बहिणा वाई (१५२९-१७०० ई.), देवनाथ महाराज (१७५४-१८२१ ई.) तथा निपट निरञ्जन (औरंगजेब के समकालीन) इन तीन अन्य सन्तों में भी नाथ योग-साधना के तत्त्व मिलते हैं। वहिणा वाई तो मीराबाई की प्रतिकृति प्रतीत होती हैं। उन्होंने कृष्ण की आराधना की है किन्तु अपनी साधना को 'उल्टा पन्थ' कहा है और 'उन्मनी ध्यान' लगाने की बात भी कही है। (मराठी सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. १५२, पद १६)। देवनाथ महाराज (१७५४-१८२१ ई.) भी योग-साधना से प्रभावित हैं। यह त्रिकुटी के शिखर पर अलख निरञ्जन को बादशाही करते हुए अनुभव करते हैं और खनन-खनन अनाहत ध्वनि की नौबत बजती हुई सुनते हैं। (मराठी सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. १७७, पद २)। सन्त निपट निरञ्जन (औरंगजेब के समकालीन) सच्चे सिद्ध योगी हैं। कहा जाता है कि इन्होंने मुगल बादशाह आलमगीर को चुनौती देते हुए कहा था—

सुनना चाहता है तो सुन अनहद नाद
देखना जो चाहे तो दिव्य ज्योति दिख पड़े।
साँस लेना चाहे तो सोऽहं की साँस लेवे,
सोचना जो चाहता तो ब्रह्म सोच में अड़े।
चलना जो चाहता तो विहंगम मार्ग चले,
जपना जो चाहता तो अजपा जाप जपले।
कहै 'निपट निरञ्जन' सुनो आलमगीर,
ऐसी साध साधे नहीं सो ही जात हिजड़े॥

(मराठी सन्तों की हिन्दी वाणी, पद २१)

कहना न होगा कि निपट निरञ्जन ने जिस साधना को साधने की बात कही है, वह नाथ-योग की साधना ही है। अत: यह स्पष्ट है कि महाराष्ट्र में बारहवीं शती से लेकर अठारहवीं शती के अन्त तक योग-साधना भक्ति-धारा के साथ प्रवाहित होती रही है और महाराष्ट्र के भक्तों के आराध्य चाहे विट्ठलदेव रहे हों, चाहे 'राम', चाहे 'माधव', चाहे 'साहब' उनको मनोजगत् में मूर्त करने के लिए योगसम्मत-विरक्ति एवं मानसिक स्थिरता की आवश्यकता का अनुभव बराबर किया गया।

गुजरात में नाथ-योग का प्रभाव दो रूपों में लक्षित होता है। एक तो सीधे नाथपन्थ की गद्दियों के द्वारा, दूसरे विभिन्न सन्त-सम्प्रदायों के माध्यम द्वारा। नाथपन्थ का सीधा प्रभाव कच्छ और गिरनार की ओर विशेष रूप से लक्षित होता है। ऐसा माना जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसिद्ध शिष्यों में एक दादा गोरखनाथ (पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने चौदहवीं शती के पूर्व तक के सिद्धों के जो १३७ नाम उद्धृत किये हैं उनमें 'धोरंगनाथ' का उल्लेख है। सम्भवत: धोरंगनाथ ही घोरमनाथ के रूप में प्रसिद्ध हैं।) आठवीं शताब्दी में किसी समय उत्तर प्रदेश से चलकर सौराष्ट्र होते हुए कच्छ पधारे थे और उन्होंने मांडवी

बन्दरगाह के पास रियाणपट्टण में धूनी रमायी थी। कच्छ में गोरखपन्थी योगियों को पीर कहने की परम्परा है। अन्य नाथयोगियों में शरणनाथ, गरीबनाथ और कंथड़नाथ का नाम लिया जाता है। इन नाथ योगियों की वाणी का कोई संग्रह नहीं मिलता। पदसंग्रहों में गोरखनाथ के कुछ पद अवश्य मिलते हैं। (हिन्दी साहित्य को गुजरात के सन्त कवियों की देन, पृ. ५७)।

गुजरात में प्रतिष्ठित सन्त-सम्प्रदाय अनेक हैं। प्राय: इन पर कबीर-पन्थ का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। कबीरपन्थ के माध्यम से नाथयोग का प्रभाव प्राय: सभी सन्त-सम्प्रदायों पर पड़ा है। गुजरात के दो सन्त सम्प्रदाय कबीर से विशेष रूप से प्रभावित हैं—(१) रामकबीरिया पन्थ, (२) सन्त-कबीरिया पन्थ। रामकबीरिया पन्थ के लोग कबीरदास को राम का अवतार मानते हैं। इस पन्थ में कबीर की सातवीं पीढ़ी में भाण साहब हुए। इनके दो शिष्य थे—रवि साहब और खीम साहब। रवि साहब ने 'रविभाण सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया। इस सम्प्रदाय की अनेक गद्दियाँ स्थापित हैं। खीम साहब की अलग शिष्य-परम्परा चली। 'सन्तकबीरिया' पन्थ का सम्बन्ध कबीर के शिष्य धर्मदास से जोड़ा जाता है। इस परम्परा में भी अनेक सन्त हुए। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त, निर्वाण साहब की परम्परा, दादू पन्थ, प्रणामी पन्थ, रामसनेही-सम्प्रदाय, अखाप्रणालिका, निरान्त सम्प्रदाय, कुबेर पन्थ आदि कितने ही सन्त-सम्प्रदाय गुजरात में प्रचलित और प्रतिष्ठित हैं। इन पन्थों और सम्प्रदायों के अनेक कवियों ने हिन्दी में भी रचनाएँ की हैं। इन रचनाओं में नाथयोग के तत्त्व स्पष्ट लक्षित होते हैं।

सम्वत् १६०० में विद्यमान कबीरपन्थी परम्परा के सन्त समर्थदास ने अपने को 'अवधूत' कहा है और स्पष्ट शब्दों में 'अलख' से प्रीति लगाने की बात कही है—

''अलख से प्रीत लगाव पियारे,
तोहे यहाँ से एक दिन जाना है।''

(गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. ९४)

गुजरात के सन्त कवियों में 'अखा' (सम्वत् १६३०-१७१५ वि.) की विशेष प्रतिष्ठा है। इनमें वही मस्ती, फक्कड़पना और सहजता है, जो कबीरदास में थी। अखा ने योगियों की भाँति अपने को 'ज्ञानी' कहलाना पसन्द किया था और वे पुस्तक ज्ञान को महत्त्व न देकर 'नूर' (ज्योतिरूप परमतत्त्व) के साथ निकाह करने की बात को महत्त्व देते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि साधना की गति 'खेचरी' है। साधारण जीव इस साधना-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते। ('अखा' गति है 'खेचरी' जीव घरै क्यू पाग।) (गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. ९२) इनकी रचनाओं में एक 'कैवल्यगीता' भी है। निश्चय ही इसमें ज्ञानसम्मत कैवल्य परमपद का विवेचन किया गया होगा। इसी प्रकार अपनी 'ब्रह्मलीला' (४८ छन्दों की एक छोटी रचना) में भी इन्होंने निरञ्जन निराकार ब्रह्म के रहस्य का निरूपण किया है। आपका कहना है कि ज्ञानी नर की सारी साधना 'अकल की कला' को लेकर ही चलती है, ठीक वैसे ही जैसे समुद्र में सन्तरण करती हुई नाव के चालक का लक्ष्य ध्रुवतारा होता है। 'अकल कला खेलत नर जानी। जैसे हि नाव हिरे फिरे दसों दिश धुव तारे पर रहत निशानी॥' (हिन्दी साहित्य को गुजरात के सन्त कवियों की देन, पृ. १२४)। 'अखा' की परम्परा में उनके शिष्य लालदास (१८वीं शती पूर्वार्द्ध) हुए थे। इन्होंने स्पष्ट रूप से अष्टदल

कमल पर महारस की वर्षा होने की बात कही है—'अष्ट कमल पर महारस बरसे, चख्खा जाणै स्वाद' (हिन्दी साहित्य को गुजरात के सन्त कवियों की देन, पृ. १२७)।

धामी अथवा प्रणामी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त प्राणनाथ (सं. १६७५-१७५१ वि.) को एक समन्वयशील सन्त माना जाता है। इनके सम्प्रदाय का पूरे भारत में व्यापक प्रभाव है, इनकी वाणी पर योग-साधना का गहरा प्रभाव है। इन्होंने कहा है कि सारा संसार 'त्रिगुण' में परमतत्त्व का अनुसन्धान करने में लगा है, इसीलिए अलक्ष्यतत्त्व (जो त्रिगुण से परे है) को लक्षित नहीं कर पाता। 'त्रिगुण सरूप खोजत भये विसमय, पर अलख न जाए लखाय।' यही नहीं, सबको योग-साधना का यह मूल तत्त्व भी ज्ञात है कि सारा भ्रमजात मन की रचना है—

खोज थके सब खेल खसमरी।
मन ही में मन है उरझाना, होत न काहू गम री ॥ टेक॥
मन ही बाँधे मन ही खोले, मन तम मन की उजास री।
ये खेल है सकल मन का, मन नेहचल मनही को नास री॥

(गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. १२२)

यद्यपि सन्त प्राणनाथ ने परमतत्त्व को सर्वनिरपेक्ष मानते हुए उसे सारी साधना-पद्धतियों से परे दिखाया है किन्तु इसी क्रम में उन्होंने नाथ-योग के पारिभाषिक शब्दों—'सोहं', 'षट्चक्र', 'त्रिकुटी', 'अनहद', 'अजपा', 'आसन', 'उनमुनि'—का प्रयोग करके यह प्रकट कर दिया है कि नाथ-योग की साधना से उनका गहरा परिचय है। (गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पद-५, पृ. १२०)। सन्त प्राणनाथ के समकालीन मुकुन्द गुगली नामक कवि ने अपने भक्तमाल में 'गोरक्षचरित' लिखकर गोरखनाथ के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है।

१७वीं शताब्दी में गुजरात में आनन्दघन (सं. १६६०-१७३०) नामक जैन कवि का उल्लेख मिलता है। यद्यपि इनकी साधना प्रेमपरक है किन्तु इस प्रेम का आलम्बन योगियों का ज्योतिरूप परब्रह्म ही है। इनके विषय में डॉ. अम्बाशंकर नागर ने लिखा है—"आनन्दघन के पदों में भी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, ब्रह्मरन्ध्र, अनहदनाद, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, अजपाजाप आदि जोग-जुगति तथा आत्मनिवेदन, जिज्ञासा, प्रतीक्षा, ज्ञानोदय आदि अवस्थाओं का सुन्दर ढंग से निरूपण हुआ है।" (गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. १०४)। आपकी योगपरक भक्ति का परिचय निम्नलिखित पद से मिल जाता है।

आज सुहागन नारी, औधू, आज सुहागन नारी।
मेरे नाथ आप सुधी लीनी, कीनी निज अंग चारी॥

\+ + + + +

सहज स्वभाव चूरी मैं पेनी, थीरता कंकन भारी।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पियगुन भाल आधारी॥
सूरत सिन्दूर माँग रंग रातौ, निरते वेणी सभारी।
उपजी ज्योति उघोत घट, त्रिभुवन, आरसी केवल कारी॥

उपजी धूनी अजपाकी अनहद, जीत नगारे बारी।
जड़ी सदा 'आनन्द' मय बरखत, बीनमोर एक न तारी॥

(गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. १०६)

कबीर-पन्थी परम्परा में भाण साहब के शिष्य रवि साहब (सं. १७८३-१८६०) हुए। इनकी अनेक रचनाओं में 'रवि-भाण प्रश्नोत्तरी' भी एक रचना है। यह खड़ी बोली में है। इसमें योगसाधना का प्रभाव स्पष्ट है। रवि साहब ने लिखा है—

देख दीलदार दील मांही दे दार कर, नाभि के बीच निज नाम है।
सुरत नुरत शेरीसो जाल दे हिरदय कमल मन मार गेहे।
जलमल ज्योत अनहद बाजा बाजे, काम और क्रोध ब्रह्म अगन दहे।
बैठिया तखत तब अदल बादशाही है, ज्ञान गुरु गम से गले है।

(हिन्दी साहित्य को गुजरात के सन्त कवियों की देन, पृ. १५५)

उपर्युक्त पद में 'सुरत-निरत', 'हृदय-कमल', 'जल-मल-ज्योति', 'अनहद बाजा', 'ब्रह्म-अगन' आदि पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका सम्बन्ध नाथ-योग की धारा से है। यही नहीं, रवि साहब ने पिण्ड में ही परमतत्त्व के होने, अनाहत नाद के ध्वनित होने तथा शिव-शक्ति एवं ब्रह्मजीव के एक होने की बात पर बल देकर नाथयोग के तत्त्वदर्शन को स्वीकृति दी है—

तन माहीं निज तत्त्व है, देखे कोई पूरा।
ताथै ताताथै होई रह्या, बाजे अनहद तूरा॥
मूल मन्त्र आराधिये, शिव-शक्ति का मेला।

(गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. १४४)

गुजराती साहित्य के मध्ययुग के श्रेष्ठ कवियों में प्रीतम (सं. १७८०-१८५४) का विशेष महत्त्व है। प्रीतमदास को रामानन्द की परम्परा का सन्त समझा जाता है। इनकी अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनका 'साखी ग्रन्थ' महत्त्वपूर्ण है। इनकी साखियों में 'योग' पर विचार किया गया है। इनकी दृष्टि में परमपद का शुद्ध रूप वही है, जो योगियों को मान्य है; आपने लिखा है—

ब्रह्म अखण्डित अविनाश है, अज अव्यक्त अविकार।
कहे 'प्रीतम निर्लेप' है, निरालम्ब निरधार॥
निर्गुण निराकार नित्य, निजानन्द निज रूप॥
कहे प्रीतम व्यापी रह्यो, चैतन्य शुद्ध स्वरूप॥

(गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. २०७)

प्रीतमदास ने योगपरक भक्ति पर बल दिया है। प्रेमतत्त्व के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी इन्हें योग-साधना की महत्ता मान्य है। रामानन्दी साधु-परम्परा में ही ब्रह्मज्ञानी निरान्त (सम्वत् १८०३-१९०८ वि.) का उल्लेख किया जाता है। इनके गुरु रामानन्दी साधु गोकुलदास थे। निरान्त महाराज के शिष्यों ने उनके बाद 'निरान्त पन्थ' स्थापित कर दिया। इनके विषय में यह प्रचलित है कि किसी मुसलमान फकीर

के सम्पर्क में आने के बाद यह निर्गुण, निराकार के उपासक बन गये थे। आपने कहा है—

हम अनादि और न दूजा, पार भये पहेचान रे।
अलख खलक पूरण पारकाशा, अखण्ड ब्रह्म जाना रे॥
खण्ड-खण्ड में अखण्ड ब्रह्म है, अनभे होत अवाजा रे॥
बाहेर भीतर एक निरन्तर, घोर गमन में गाजा रे॥
जहाँ से रे उपना वोही समाना, शून्य रूप निरवानी रे।
निरान्त नाम अखर पद पूरन, वामे सुरत समानी रे॥

(गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. २२२)

रामानन्दी साधु-परम्परा में ही उन्नीसवीं शताब्दी में धीरा सन्त (सं. १८०९-१८८१) हुए थे। इन्होंने 'योग-मार्ग' नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। इन्होंने अनेक स्फुट पदों की भी रचना की है। इनके पदों में योग के अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इनके योगी होने का प्रमाण है। राग पंजाबी में लिखित इनका एक पद इस प्रकार है—

इंगला पिंगला सुछमना संगे। चार सखी मिली खेलत रंगे॥
त्रिवेनी तीर उनमुनि मन्दिर। अमृत रस नीर वृषा झड़ लागी गगनन में॥
झलमल ज्योति सो स्थल झमकारा। अनहद नाद बाजत रनकारा॥
सच्चिदानन्द आनन्द गोविन्द गुन गावै। संगो संग तानन में॥

(गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी, पृ. २२७)

यह योग-साधना से प्राप्त आध्यात्मिक अनुभूति का ही चित्र है। ब्रह्म या शिव के स्थान पर सच्चिदानन्द गोविन्द की कल्पना कर ली गयी है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य अनेक गुजराती सन्तों—गवरीबाई (१८१५-६५), सन्तराम महाराज (सं. १८८७ में समाधिस्थ), सन्त केवलपुरी (१८१५-१९०५ वि.), त्रिविक्रमानन्द (सं. १८१६-७६), ब्रह्मानन्द स्वामी (१८२८-१९०५ वि.), सन्त कुबेरदास (सं. १८८९-१९३४ वि.), सन्त हरिदास(सं. १८३०-१९०२ वि.), सन्त हरिसिंह (उन्नीसवीं शती का उत्तरार्द्ध), सन्त निर्मलदास (सं. १८८२-१९३५ वि.)—में भक्ति के साथ योग-तत्त्व विद्यमान हैं। बीसवीं शताब्दी के साधकों-मुडिया स्वामी (सं. १९०८-१९८५ वि.), नृसिंहाचार्य (१९१०-१९५३ वि.), रत्नोभगत (सं. १९३१-२००१ वि.), सागर महाराज (सं. १९३९-१९९२ वि.), माता ओंकारेश्वरीजी (सं. १९८९ में निर्वाण प्राप्ति), रंग अवधूत (सं. १९५५-२०२४ वि.)—में भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। पूर्व में सन्तों की जो वाणियाँ उद्धृत हैं, उनको देखने से यह प्रतीत होता है कि गुजरात की पूरी सन्त-परम्परा पर नाथ-योग की छाप है। वस्तुतः महाराष्ट्र और गुजरात इन दोनों ही प्रदेशों में वैष्णव-भक्तिधारा के प्रवाहित होने से पूर्व नाथ-योग की साधना किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रही है। इसलिए वैष्णव-भक्ति की राग-निष्ठा को स्वीकार करते हुए भी उपर्युक्त प्रदेश के साधकों ने योग-मत के मूल तत्त्वों को उसका साधक मानकर दोनों का सामंजस्य कर लिया। महाराष्ट्र और गुजरात के सन्तों की वाणियों का अध्ययन मध्यकालीन भारतीय साधनाओं के प्रवाह की

निरन्तरता को लक्षित करने के लिए महत्त्वपूर्ण है। महाराष्ट्र में हिन्दी-साहित्य की भाँति 'रीतिकाल' जैसा कोई काल नहीं हुआ। यही स्थिति गुजराती साहित्य की भी है। उपर्युक्त दोनों ही प्रान्तों में भक्ति-धारा आधुनिक सांस्कृतिक जागरण के पूर्व तक प्रवाहित हुई है। भक्तिधारा में स्वयं कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो योगमत के अनुकूल हैं। वैष्णवभक्त ज्ञान विरोधी नहीं हैं। वे आराध्य के निर्गुण, निराकार, अलक्ष्य या निरञ्जन स्वरूप का प्रत्याख्यान नहीं करते। नाम-जप, ध्यान और सांसारिक विषयों से विरक्ति ऐसे तत्त्व हैं, जो योगियों द्वारा भी मान्य हैं। इसलिए सारा मतभेद ध्येय और ज्ञेय को प्रेय बनाने के प्रश्न को लेकर ही हो सकता है। कबीर ने उसे प्रेय बना लिया। महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय के सन्तों ने पहले ही ऐसा कर लिया था। गुजरात के वैष्णव सन्तों को भी इसमें हिचक नहीं हुई। हिन्दी-प्रदेश में योग और भक्ति का विरोध अधिक मुखर था। इसका कारण सूरदास और तुलसीदास, इन दोनों ही भक्तों का भक्ति को अत्यधिक महत्त्व देना था। हिन्दी-प्रदेश की सामाजिक चेतना के इतिहास के पृष्ठ अच्छी तरह उल्टे नहीं गये। बहुत सम्भव है उत्तर-भारत में योगी अपनी मूल साधना से च्युत होकर अधिक अहंकारी और चमत्कार-प्रदर्शन में विश्वास करने वाले हो गये हों और कबीर के बाद के वैष्णव भक्तों ने सहज भक्तिधारा के विकास में इन्हें बाधक समझा हो। कुछ भी हो, महाराष्ट्र और गुजरात में वैष्णव भक्तिधारा के साथ योग और ज्ञान की धारा का अजस्र प्रवाह लक्षित किया जा सकता है।

(योग के विविध आयाम से)

□

नाथपन्थी योग और आपा साहब की भक्ति साधना

—डॉ. उदय प्रताप सिंह

अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतीय धर्मसाधना में परमपद प्राप्ति के लिए तीन मार्ग अपनाये जाते रहे हैं। वे क्रमशः योगमार्ग, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग हैं। नाना प्रकार की क्रियाओं, साधनाओं और चिन्तनधाराओं के घात-प्रतिघात से यह मार्ग (योगमार्ग) ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी में ही पनपने लगा था। कुछ समय अनन्तर इसी योगमार्ग का परिवर्तित एवं परिवर्द्धित रूप हठयोग साधना के नाम से जाना गया। योगमार्ग की प्राचीनता का प्रकरण कई एक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पाँचरात्र-साहित्य, विष्णु-संहिता इत्यादि में षडंग एवं अष्टांग योग का वर्णन बहुतायत से मिलता है। इसी प्रकार जयारव्य संहिता में भी इस साधना की चर्चा दो रूपों में परिलक्षित होती है—लयात्मक समाधि एवं मन्त्रध्यानाभ्यास। यहीं पर इसके प्रकारों की चर्चा करते हुए तीन भागों में विभक्त किया गया है—(क) प्राकृत, (ख) पौरुष, (ग) ऐश्वर्य। नारदीय पुराण में भी इसे ब्रह्मलय नाम से अभिहित किया गया है। नारद के अनुसार मन ही बन्धन एवं मोक्ष का कारण है। ब्रह्म से एकात्म स्थापित करना, मन की गति को लोक विरुद्ध करना ही योग है। 'आत्मप्रयत्नसापेक्षविशिष्टा या मनोगतिः। तस्याः ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते।' उक्त कथन से यह प्रमाणित हो जाता है कि योगमार्ग की परम्परा हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से ही निरन्तर प्रवहमान है।[१]

योगमार्ग के उपलब्ध प्रकारों में सर्वाधिक प्राचीनता महर्षि पतञ्जलिकृत राजयोग की है। कालान्तर में इसी का विकास तान्त्रिक हठयोग साधना के रूप में हुआ। यद्यपि दोनों के उद्देश्यों में विषमता थी। पातञ्जल-राजयोग में चित्तवृत्तियों के निरोध से ही मुख्य अभिप्राय ग्रहण किया गया है जबकि हठयोग जो उसके विकसित अथवा अग्र सोपान के रूप में स्वीकार किया जाता है, में कायाशोधन, स्वास्थ्य लाभ तथा रहस्यमयी चमत्कारिक सिद्धियों को लक्ष्य किया गया है।

वस्तुतः गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित (षडंग) योग मार्ग ही हठयोग है। यदि और स्पष्ट शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि नाथपन्थ की साधना पद्धति का नाम ही हठयोग है। नाथपन्थी प्रस्तुत साधना पद्धति पर पाशुपत एवं शाक्त मत का जबर्दस्त प्रभाव लक्षित होता है। ईसवी सन् के प्रारम्भ से ही पाशुपत एवं शाक्त

मत पुष्टता को प्राप्त हो रहे थे। अत: इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। फिर भी योगेश्वर गोरखनाथ ने इस मार्ग को एक सुव्यस्थित दृढ़ एवं नवीन कलेवर प्रदान किया। उन्होंने यथेष्ट संशोधन कर इसे क्रियाबहुल एवं श्रमसाध्य बना दिया जिसे बिन्दु, प्राण तथा मन के विविध साधना के रूप में अपनाया गया।

नाथपन्थी साहित्य का अनुशीलन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि हठयोग साधना में कायिक साधना पर विशेष बल दिया गया है। इस शरीर प्रधान साधना में प्राणायाम का महत्त्व सर्वोपरि है। वस्तुत: हठयोग क्रिया ज्ञान है। वह कुण्डलिनी की सहायता से ज्ञान अर्जित करता है। कुण्डलिनी शक्ति ही जब शिव से साक्षात्कार करती है तभी आत्मा को स्वरूप ज्ञान की सम्प्राप्ति होती है। एक प्रकार से हठयोग को हम स्थूल शरीर प्रधान साधना कह सकते हैं। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का बाह्य रूप होता है; अत: दोनों का नैकट्य निरन्तर विद्यमान रहता है। स्थूल शरीर का संयम-सदाचरण, सूक्ष्म शरीर के भाव रूप तथा वासना को असन्दिग्ध रूप से प्रभावित करता है। इसीलिए स्थूल शरीर का निर्माण सूक्ष्म शरीर के अनुकूल ही होता है। दोनों ही एक-दूसरे के पूरक तथा एकात्मकता से संयुक्त हैं। इस साधना में योग का विधान शरीर को अमरत्व प्रदान करने, वृद्धि देने तथा रोग मुक्ति के लिए ही होता है। हठयोग के स्वरूप का विवेचन करते हुए अंग्रेज विद्वान् 'जान उडरोफ' ने अपनी पुस्तक 'द सरपेन्ट पावर' में कहा है कि "इस योग में ज्योति का ध्यान किया जाता है जिससे यहाँ विधि समाधि की प्राप्ति होती है। इस समाधि की प्राप्ति का साधन प्राण एवं अन्य वायुओं का नियमन है। वायु नियमन से ही चित्त नियमन होता है क्योंकि चित्त और उसकी वृत्तियाँ वायु का अनुसरण करती हैं।"

इससे पूर्व कि हठयोग साधना का स्वरूप स्पष्ट किया जाए, हठयोग शब्द का अर्थ समझ लेना अपेक्षित लगता है। शास्त्रग्रन्थ में हठयोग सामान्यत: प्राण का निरोधन प्रधान साधना को ही कहते हैं। सिद्धसिद्धान्त पद्धति में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्र। सूर्य एवं चन्द्र के योग को ही हठयोग कहते हैं।

'हकारः कथित सूर्याठकारष्चन्द्र उच्चते। सूर्यचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगनिगद्यते'।[२]

ब्रह्मानन्द के मत से सूर्य का तात्पर्य प्राण वायु से है तथा चन्द्र का अपान वायु से। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। हठयोग प्रदीपिका में इसकी व्याख्या कुछ दूसरे ढंग से मिलती है। वहाँ सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं तथा चन्द्र पिंगला को (हठयोग प्र., ३/१५), इसलिए इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु को संचारित करने को हठयोग कहते हैं। इस हठयोग को हठसिद्धि प्रदाता भी कहा गया है। वस्तुत: हठयोग का यही अर्थ मूल अर्थ के सबसे निकट जान पड़ता है। हठयोगी शरीर की बनावट से अपरिचित रहकर कभी भी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। मेरुदण्ड जहाँ सीधे आकर वायु एवं उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहीं एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी अग्निचक्र या त्रिकोण में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। यह ब्रह्म द्वार को रोधकर सोई हुई है। इसे जगाकर शिव से समरस करना ही योगी का परम लक्ष्य है। अन्य अनेक विधियों से भी मोक्ष प्राप्त करने का विधान है, परन्तु चाबी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी के

उद्‌बोधन से हठात् मोक्ष द्वार अनायास ही खुल जाता है (गो.श. १/५१)। हठात् मोक्ष द्वार खोलने की विधि बताने के कारण ही इस योग को हठयोग कहते हैं।[३]

'शिव संहिता' में नाथपन्थी हठयोग साधना का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त मिलता है—हठयोग के सिद्धान्तानुसार महाकुण्डलिनी नामंक एक शक्ति है जो पूरे विश्व में परिव्याप्त है। इसकी स्थिति जब एक व्यक्ति में मिलती है तब इसे कुण्डलिनी संज्ञा से अभिहित करते हैं। ऐसी मान्यता है कि कुण्डलिनी और प्राण शक्ति को लेकर जीव मात्र कुक्षि में प्रवेश करता है। जीव की तीनों अवस्थाओं—जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न—में कुण्डलिनी नाम शक्ति निष्क्रिय पड़ी रहती है। यह त्रिकोण में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्पिणी की तरह पड़ी रहती है। ऐसी अवस्था में हठयोगी का मुख्य उद्देश्य कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध कर षट्‌चक्रों का भेदन करते हुए इसे सहस्रार चक्र में अवस्थित करना है। षट्‌चक्रों के प्रकार इस भाँति हैं—(१) मूलाधार चक्र—यह कुण्डलिनी के ऊपर चार दल वाला कमल है। (२) इसके ऊपर नाभि के निकट छः दलों के कमल के आकार का स्वाधिष्ठान चक्र है। (३) इसके ऊपर दस दल कमल के आकार का मणिपूर चक्र है। (४) उसके ऊपर हृदय के पास १२ दल के आकार का अनाहत चक्र है। (५) उसके ऊपर कण्ठ के पास १६ दल के आकार का विशुद्धाख्य चक्र है और उसके भी ऊपर भ्रूमध्य में दो दल वाला आज्ञा चक्र है। इन षट्‌चक्रों का भेदन करने के उपरान्त मस्तिष्क में वह शून्य चक्र मिलता है जहाँ उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी को पहुँचा देना ही हठयोगी का लक्ष्य होता है। सहस्रदलों के आकार से संयुक्त होने के कारण इसे सहस्रार चक्र भी कहते हैं। यहीं शून्य चक्र गगन मण्डल, पिण्ड का कैलाश, तथा यहीं शिव का निवास भी है।[४]

प्रस्तुत साधना में और आगे बढ़ने पर एक मेरुदण्ड पाया जाता है जिसमें प्राणवायु को वहन करने वाली कई नाड़ियाँ पायी जाती हैं। वाम भाग में स्थित नाड़ी को इड़ा तथा दक्षिण भाग में स्थित नाड़ी को पिंगला कहते हैं। ये दोनों निरन्तर चलायमान रहती हैं। इन्हीं दोनों के मध्य सुषुम्ना नाड़ी भी मिलती है। इसी के माध्यम से कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित की जाती है। इस सुषुम्ना के भीतर भी कई सूक्ष्म नाड़ियाँ पायी जाती हैं। सुषुम्ना के अन्तर भाग में वज्रा, उसके भी भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्मनाड़ी है जो कुण्डलिनी शक्ति का असली मार्ग है। इन सभी नाड़ियों को पंचस्रोत या पाँच धाराएँ भी कहते हैं (ह.प्र. ३-५२)। सिद्ध आचार्यों ने इन्हीं तीनों को ललना, रसना और अवधृति भी कहा है। हठयोग प्रदीपिका में यह भी कहा गया है कि नाड़ियाँ तो ३२ हजार तक हैं पर एक मात्र सुषुम्ना ही शाम्भवी शक्ति है; शेष नाड़ियाँ एक प्रकर से व्यर्थ ही हैं।[५] इन्हीं तीनों नाड़ियों को क्रमशः गंगा, यमुना, सरस्वती भी कहते हैं। तीनों के संगम को त्रिवेणी कहा जाता है। इसी संगम में स्नान करना योगियों का परम लक्ष्य होता है (शिवसंहिता ७-१२१), जिसे वे प्रयाग की संज्ञा प्रदान करते हैं।

हठयोगी और नाथपन्थी साधक अनेक प्रकार की साधनाओं द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर की ओर उद्‌बुद्ध करता है। कुण्डलिनी शक्ति जब जाग्रत होकर ऊपर की ओर उठती है तब स्फोट होता है जिसे योगियों की भाषा में 'नाद' कहते हैं। इसी नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का प्रत्यक्ष प्रकट रूप ही महाबिन्दु है। इस बिन्दु के भी तीन प्रकार होते हैं—ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा।

इन्हीं को कभी-कभी सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा कभी-कभी ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी कहा जाता है।

यही नाद और बिन्दु समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनहदनाद का व्यक्ति में व्यक्त रूप है। इसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तो उसे 'नाद' कहते हैं। मायाग्रस्त जीव निरन्तर इड़ा और पिंगला के आश्रय पर चल रहा है। सुषुम्ना का मार्ग प्राय: बन्द ही रहता है। परन्तु जब हठयोगी साधक क्रियाविशेष से सुषुम्ना का पथ उन्मुक्त कर लेता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है तो प्राण स्थिर होकर निरन्तर उस अनाहदनाद का श्रवण करने लगता है। अनुभवी योगियों का कथन है कि प्रथमत: शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जनभेदी ऊर्जा आदि का-सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शब्द घण्टा की हल्की सी आवाज सुनाई देती है और अन्त में किंकिणी वंशी भ्रमर और वीणा की सी मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है। साधक की स्थिति मकरन्दपायी भ्रमर की तरह हो जाती है। वह अन्य किसी तरफ देखता तक नहीं है। योगी का नादासक्त मन नाद में ही रम जाता है। वह विश्व के और किसी भी विषय की इच्छा नहीं करता।[६]

साधना की ओर उच्चतम अवस्था में पहुँचने पर साधक का मन विशुद्ध एवं स्थिर हो जाता है और वह इन शब्दों को सुनना कम करता जाता है। उस समय आत्मा अपने स्वरूप में समाहित हो जाती है तथा बाह्य परिस्थितियों एवं घटनाओं से साधक का कोई भी सम्बन्ध नहीं रह जाता है। शास्त्र में जिसे ॐकार या प्रणव कहते हैं वही उपाधिरहित शब्द तत्त्व है। इसी को साधकों की कुछेक तथा वैयाकरणों की अधिकांश संख्या स्फोट कहती है। स्फोट को ही शब्द ब्रह्म तथा सत्ता को ही ब्रह्म कहा गया है। यही स्फोट शब्द मूलाधार से उठकर सहस्त्रार में समाहित हो जाता है और साधक की साधना सम्पूर्णता को प्राप्त हो जाती है।

यद्यपि प्रारम्भ में हठयोग साधन का उद्देश्य शरीर के शुद्ध करने तथा मन के सम्मार्जन से ही था, लेकिन बाद में चलकर नाथपन्थी योगी कायासाधन से ही मुक्ति की कल्पना करने लगे। इसीलिए इनकी साधना कष्टसाध्य एवं क्रियात्मक अधिक हो गयी। काया की शुद्धि के लिए हठयोगी साधक शारीरिक क्रियाओं का अम्बार लगा देता है। इनके यहाँ षट्कर्म की क्रिया मिलती है जिसे क्रमश: धौति वस्ति, नेति, त्राटक, नौति, कपालभाति कहते हैं। हठयोगी साधक, आसन, मुद्राओं, प्राणायामों, ध्यानों और समाधि का एक समग्रीकृत रूप है। उनके यहाँ यह मान्यता है कि वैसे तो सभी आसन सिद्धि के ही सोपान हैं, लेकिन (सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं), खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा नहीं, केवल के समान प्रणायाम नहीं और नाद के समान समाधि नहीं।[७] सिद्धासन में नाभि के नीचे मेढ्रस्थान पर बाईं एड़ी और ऊपर दाहिनी एड़ी रखनी पड़ती है। साधक स्थिर होकर भ्रूमध्य में ध्यान अवस्थित करता है। प्राणायाम तीन प्रकार के होते हैं—रेचक, पूरक, कुम्भक। रेचक में साँस ले जाना ही गोमांस भक्षण है। जिस चन्द्रमा के अमृत का पान करता है वही अमर वारुणी है। इस प्रकार की क्रिया करने वाला ही सच्चा हठयोगी है।[८]

रेचक में साँस छोड़ी जाती है, पूरक में साँस भरी जाती है तथा कुम्भक में साँस रोकी जाती है। प्राण एकीभूत हो जाते हैं तथा चंचल मन स्थिर शान्त एवं वशवर्ती हो जाता है।

खेचरी मुद्रा इस साधना की सबसे कठिन क्रिया मानी जाती है। वायु की क्रिया भी भीतर-ही-भीतर संचालित हुआ करती है। एक बार यदि आधे क्षण के लिए भी यह मुद्रा प्राप्त हो जाए तो साधक को सारी सिद्धियाँ मिल जाएँ। इस क्रिया में योगी जीभ को उलटकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करता है तथा उसकी

दृष्टि भ्रुवों में निबद्ध होती है। (ह. ३-३२) यहाँ पर योनि नामक त्रिकोण शक्ति का केन्द्र है वहीं चन्द्रमा का स्थान है। यहीं से सदा अमृत झरा करता है। खेचरी मुद्रा में रत योगी वहाँ से अमृत का पान किया करता है। योगी को यहीं अमरत्व भी मिल जाता है। इसीलिए कहा गया है कि सच्चा एवं कुलीन योगी वही है जो सदैव गोमांस भक्षण करता है और अमर वारुणी नामक मदिरा का पान किया करता है। अर्थात् गो जिह्वा तथा भक्षण उसे उलटकर तालु प्रदेश में ले जाना ही गोमांस भक्षण है। जिस चन्द्रमा के अमृत रस का वह पान करता है वही अमर वारुणी है। इस प्रकार की क्रिया करने वाला ही सच्चा हठयोगी है। इस साधना के क्रम में साधक की उच्चावस्था ही मनोन्मनी कहलाती है। इसी को राजयोग, समाधि, उन्मनी, अमरत्व तथा सहजा भी कहा जाता है। मन और प्राण का सम्मिलन ही योगी का परम लक्ष्य है। यह इन्द्रियातीत आनन्द ही हठयोगी की साधना की सिद्धावस्था है।

आपा साहब मध्यकाल के एक अल्पख्यात किन्तु महान् सन्त साधक थे। विशाल एवं सशक्त साहित्य के प्रणेता सन्त आपा साहब का जन्म सत्रहवीं शताब्दी (१६१७-१८३०) के प्रारम्भिक दिनों में, सीतापुर जनपद के बिसवां तहसीलान्तर्गत परवतपुर ग्राम के एक स्वर्णकार कुल में हुआ था। दीर्घ जीवन प्राप्त इस महात्मा का हिन्दी-साहित्य को महत्त्वपूर्ण देन है। पुस्तकाकार ९ (नव) ग्रन्थों तथा अन्यान्य पदों एवं साखियों के रचयिता, योग मार्ग का घोर समर्थक यह महान् साधक आज तक हिन्दी-संसार से अज्ञात ही रहा। इसका मुख्य कारण पन्थ की गोपन प्रवृत्ति तथा साधना-स्थली मड़वाधाम (खीरी लखीमपुर) का अत्यन्त आन्तरिक भाग में स्थित होना है। इनकी कृतियों में उच्चकोटि की साहित्यिकता, उत्कृष्ट कोटि की योगसाधना तथा उत्तम कोटि की भक्ति का दर्शन होता है।

अत्यन्त प्राचीनकाल से भारतीय साधना में परमपद प्राप्त करने के तीन मार्ग प्रचलित रहे हैं—ज्ञान मार्ग, योगमार्ग और भक्तिमार्ग। हमारे यहाँ तभी से योग-विद्या की प्रतिष्ठा भी रही है। भगवत् प्राप्ति की अन्य साधनाओं की भाँति योग साधना का भी परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना ही रहा है। मानव-मन की स्वाभाविक गति लोकाभिमुख होती है। योग इन्हीं मानवोचित वृत्तियों का निरोध करता है। मन की गति बिना अन्तर्मुखी बनाये परमात्म तत्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है। योग के माध्यम से ही मन को आत्मोन्मुखी बनाया जाता है। किसी भी साधना की पूर्ति के लिए एकाग्रता अपेक्षित होती है। वह योग से ही सम्भव है। इसमें चित्तवृत्तियों के निरोधार्थ कतिपय क्रियात्मक उपायों का विधान होता है। इसीलिए मध्यकालीन सन्तों ने भक्ति की सिद्धि के लिए योग की भूमिका अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। सन्त कबीर ने इस बात की प्रामाणिकता 'जुगुति (योग) बिना भगति किन पाई', कहकर सिद्ध की। योगाभ्यास के मार्ग पर चलने वाले पथिक के लिए श्रद्धादि गुणों का होना आवश्यक है। ये गुण भक्ति के ही प्रमुख लक्षण हैं। इसलिए योग एवं भक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध प्राचीनकाल से ही मैत्रीपूर्ण रहा है। इसी कारण भक्तिमार्ग में योग भागवत् प्राप्ति का उत्तम माध्यम स्वीकार किया जाता रहा है।

आपा साहब एक उच्चकोटि के भक्त साधक थे। उनकी कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्हें योगमार्ग की प्रत्येक क्रिया का अच्छा ज्ञान था। उनके योगपरक कथनों में नाथपन्थी साधुओं का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके साहित्य का लगभग आधा अंश योगपरक कथनों से ही सम्पृक्त है। उनकी

दो कृतियों 'जोग सन्दी' तथा 'जोगनासिका' में यौगिक क्रियाओं का ही वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्यानेक पदों, साखियों तथा अन्य कृतियों में भी यौगिक क्रियाओं का विशद वर्णन हुआ है। भक्त होते हुए भी योग के प्रति उनकी गहरी आस्था इस बात की परिचायक है कि योग मार्ग को उन्होंने स्वयं के जीवन में आचरित किया था। अन्यथा इतनी गहरी अनुभूति व्यक्त कर पाना कोई सहज कार्य नहीं।

नाथपन्थ में प्रयुक्त योग उनकी कृतियों में उत्कर्षता प्राप्त करता दिखाई पड़ता है। नाथपन्थी त्रिविध साधना—बिन्दु, प्राण तथा मन का उनके साहित्य में प्रयोग बाहुल्य है। साधना के लिए उनकी प्रारम्भिक कृतियों में योगजन्य क्रियाओं को प्राथमिकता दी गयी है। मन को एकाग्र एवं आत्मकेन्द्रित करने के लिए उन्होंने योगमार्ग का सहारा लिया है। कायाशोधन की बात, मन परमोधन की चर्चा, भोजन कम करने की युक्ति, काया घोटने का प्रसंग उनके काव्य में सहजता से उपलब्ध हो जाते हैं जो नाथपन्थीय योगसाधना का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त शरीरस्थ पवन को उल्टा चढ़ाने की प्रक्रिया, धौति, कापालि, उन्मनी अवस्था, इंगला पिंगला, सुखमनि, गगन, सुरति, अनाहदनाद, सोऽहं, अजपाजाप आदि प्रक्रियाओं का वर्णन भी उनके साधनात्मक प्रसंगों में स्पष्टतया प्राप्त होते हैं।

उनका योग मात्र शारीरिक क्रिया ही नहीं अपितु हृदय में धारण करने की वस्तु है। सर्वप्रथम कायिक साधना पर ही बल देते हैं। यहाँ वे गुरु गोरखनाथ के 'जोगी भोजन थोरा करो काया घोटा करो' वाली बात से सहमति व्यक्त करते हैं। साधु को योग द्वारा विहित मार्ग पर चलने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे साधो! योग का धारण हृदय में करो। उस साधना के लिए भोजन अल्प मात्रा में करो, काया का शोधन करते रहो। गगन (ब्रह्मरन्ध्र शून्य) की खिड़की खोलकर पदुम (लोक विपरीत) दिशा की ओर देखा करो तथा इंगला-पिंगला (चन्द्र-सूर्य) नाड़ियों को समेटकर एकमुखी कर दो। सूर्य तथा चन्द्र की स्थिति का भानकर मूल (परमतत्त्व) के प्रति कथन करते रहो। अजपा जाप निरन्तर करते रहो जिससे अन्तर की वस्तु स्पष्ट रूप से दिखाई पड़े। इतनी योग यात्रा कर लेने के उपरान्त शरीरस्थ सोलह कमलों से आगे ध्यान लगाओ जिससे शून्य शिखर (ब्रह्मरन्ध्र) में आत्मविश्वास की गर्जना होती रहे। तीनों लोकों की माया त्यागकर जिस साधक ने उसे (ब्रह्म) को चौथे लोक में खोजने का उपक्रम किया उसी की साधना सफल होगी। अन्त में वे कहते हैं कि ऐसी उपलब्धि उसी साधक को सम्भव है जिसने काया का पूर्ण रूप से योग द्वारा 'शोधन' कर लिया है। अन्ततः उस साधक द्वारा सोऽहं-सोऽहं का शब्द स्वयमेव होने लगता है—जो साधना की उच्चतम परिणति है।[१]

आपा साहब की दृष्टि में योग साधना के बिना परमतत्त्व की उपलब्धि असम्भव है। इसीलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर यौगिक क्रियाओं का वर्णन किया है। एक स्थल पर प्राणायाम की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि योग मार्ग में प्राणायाम द्वारा पवन को उल्टी दिशा में चढ़ाकर सत्तर नाड़ियों से युक्त पिण्ड जिसमें दसेन्द्रियाँ दस दरवाजे के रूप में विद्यमान हैं, साधना की जाती है। वहीं पर पश्चिम दिशा में अमृतमयी धार स्रवित होती रहती है। उस महामृतमयी धार का पान कोई विरला साधक ही कर पाता है। सर्वप्रथम उसे प्राप्त करने के लिए 'वज्र केवल' नामक साधना का अभ्यास करना पड़ता है (एक प्रकार की वायु साधना) जिसमें साधक रेचक एवं कुम्भक के बिना ही प्राणायाम सिद्ध कर लेता है। इसी से साधक के हृदय में कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होती है। कुण्डलिनी जागृत हो जाने पर 'केवलिया' की

सिद्धि हो जाती है। तदुपरान्त वह अनाहद नाद का श्रवण करने लगता है।[१०] ध्यातव्य है कि यहाँ भी आपा साहब पूर्ण रूप से हठयौगिक क्रिया से प्रभावित हैं तथा साधना की उच्चता के लिए उक्त क्रिया विधान का पूर्ण समर्थन करते लगते हैं।

अपने साधना-क्रम में उन्होंने उन अनेक यौगिक क्रियाओं-प्रक्रियाओं का भी वर्णन किया है जिनके माध्यम से साधक साधना की उच्चतम स्थिति पर आसीन हो जाता है। उनके द्वारा प्रस्तुत योग की उच्चता की चरम परिणति तो तब देखने को मिलती है जब वे कायारूपी मन्दिर को योग द्वारा मथकर अर्क निकालते हैं; उसी का तिलक लगाते हैं; क्षमाशील रूपी प्रसाद का भोग लगाते हैं तथा धैर्य का धौति नेति करते हैं—

काया मंजिल अर्क उतारे माथे तिलक चढ़ावे जी।
क्षमाशील का भोग लगावै, धीरज धौती नेती जी। (जोगसन्दी २०८-९)

योग की साधना में नाड़ियों का महत्त्व अपरिहार्य है। आपा साहब ने अपनी साधना के क्रम में नाड़ियों के प्रसंग को बहुत ही आत्मविश्वास के साथ ठहराया है जिससे उनके नाड़ी-विषयक विस्तृत ज्ञान का परिचय मिलता है। कुछ प्रसंग दर्शनीय हैं—

(क) **यक नारी बंका में राहै ताका मारग काहा चाहे।**
दूजी नारी नाभि में राहै, ज्वालापति से बाता चाहै॥[११]

(ख) **बत्तिस हजार सोस दमराहै। आठ पहर का मारग काहै॥**
अकैस हजार छै सै दम आवे। एतनै काम ते साध चलावै॥[१२]

इंगला तथा पिंगला नाड़ियों का स्थान निर्धारित करते हुए दोनों को क्रमशः सूर्य एवं चन्द्र के अर्थ में प्रयुक्त किया है—

बाएँ चन्द्रा दहिने सुरिजा, पल-पल चले पवन लें गुंजा।—जोगलनासिका १०९

आसनों, योगासनों, मन नियन्त्रण, शरीर में ही 'अठसठ' तीर्थों की कल्पना आदि के भी उनके काव्य में दर्शन हो जाते हैं। वे तीर्थों का स्नान न करके पिण्डस्थ 'अठसठ' घाट पर ही स्नान करते हैं। वहीं उनका तीर्थस्थल भी है—

अठई घाटी अठसठ तीरथ, तहँ स्नान हमारा जी।[१३]

उनकी दृष्टि में उस योगी से देवता भी पराजित हो जाते हैं जिसने आसनों में श्रेष्ठतम पद्मासन लगाकर पवन को उलटा चढ़ाकर ॐकार ध्वनि सिद्ध कर ली है।[१४] सच्चा योगी तो वही है जिसने मन को पूर्ण वश में कर लिया है।[१५]

साधना-प्रसंग में आपा साहब ने सुरति शब्द साधना को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में सुरति शब्द योग ही एक प्रकार का लययोग है। आपा साहब ने अपनी साधना में आद्यन्त मन की एकाग्रता तथा स्थिरीकरण पर बल दिया है। उनकी दृष्टि में यदि मन वश में नहीं है तो विषय-बयार का एक ही झोंका योगजनित समस्त साधना को भ्रष्ट करने के लिए पर्याप्त है। मन की गति का चांचल्य तथा अस्थिरीकरण सर्वविदित है। उसकी मायावी प्रवृत्ति सर्वज्ञात है। अतः मन अविश्वसनीय है। इसीलिए उन्होंने मन-मारक सुरति शब्द साधना का प्रयोग किया था। इस साधना में साधक अहर्निश अपने मन को शब्द (ब्रह्म) में लगाए रहता है। उक्ति इस प्रकार है—

फिरि मारग कुछ ओरे कहेऊ। सूरति सोधि सबद मा रहेऊ॥[१६]

प्रस्तुत साधना मुख्य रूप से भावना के स्तर पर करणीय है। इसीलिए साधक आपा ने सुरति को रस्सी तथा शून्य रूप ब्रह्म को सरोवर कहा है। साधक उसी सुरति डोर से 'लौ' लगाने की बारम्बार चर्चा करता है। उनके विचार से उस साधक का काल तक नहीं बाल बाँका कर सकता है जिसने शून्य रूप ब्रह्म में अपनी सुरति को समाहित कर दिया है। उनकी प्रस्तुत सुरति शब्द साधना की चरम स्थिति तो तब होती है जब साधक को परमतत्त्व का स्पष्ट दर्शन होने लगता है, बिना कान के ही अनहद नाद सुनाई पड़ने लगता है तथा बिना जिह्वा के ही नामस्मरण स्वयमेव होने लगता है। सुरति साधना ब्रह्म में विलीन हो जाती है। उसमें 'सोऽहं' की ध्वनि होने लगती है। जिस साधक ने भी इस महासाधना को पूर्ण कर ली उसका मर्म पाना कठिन है। साधक की साधना इस उच्चतम स्थिति पर पहुँचकर द्वैत-अद्वैत, सुख-दुख सबसे परे हो जाती है और साधक निर्द्वन्द्व होकर अभीष्ट राम नाम का पाठ करने लगता है।

इस प्रकर हम देखते हैं कि सन्त आपा साहब की योगमार्गी साधना पर गोरखनाथ का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है। अनेक कथनों में पर्याप्त समता है। अन्तर अत्यल्प है। अपनी कृतियों में गोरखनाथ का बार-बार स्मरण भी इस बात का द्योतक है कि उनकी गोरखनाथ द्वारा स्वीकृत साधना पद्धति में अटूट एवं गहन आस्था थी। स्पष्ट शब्दों में हम कह सकते हैं कि उनकी साधना (योगमार्ग) के आदर्श गोरखनाथ ही थे।

आपा साहब मूलतः भक्त थे। उनकी साधना योगयुक्त अवश्य थी इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उन्होंने ब्रह्म प्राप्ति हेतु मात्र योग का ही सहारा लिया था। उनकी साधना में योग-तत्त्व के साथ-ही-साथ प्रेम-तत्त्व पर भी विशेष बल दिया गया है। इसी को उन्होंने 'भाउ भगति' कहा है। यहीं उनका योगियों से पृथकत्व होता दीखता है। एक उदाहरण—

प्रेम भगति का अमल चढ़ावै। अस रस माता पलक न लावै।
भरि प्याली अनहद को पीवे। भृकुटी डिस्टि अलख दरसावै॥

जलमतत्त पं. १३३-३४

उनकी साधना का गहनता से अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक की सिद्धि के लिए दूसरे का अस्तित्व अत्यन्त अनिवार्य है। प्रेम और योग का ऐसा अभूतपूर्व सम्मिलन बहुम कम ही देखने को मिलता है—

भींजै चुन्दरी प्रेम रस बूँदना॥ १॥
काहे को तोरी चुन्दरी सोहागिल, काहे के लागे फूँदना॥ २॥
जोग-जुगुति की चुन्दरी हमारी प्रेम के लागे फूँदना॥ ३॥
आरति साजि के चली सोहागिल अपने पिया को ढूँढ़ना॥ ४॥
झनक-मनक धनि चढ़िगे अँटारी, अपने पिया की लागी गोड़ना॥ ५॥
काहि मुनिदास सुनो भाई साधो, चरनि पकरि लागी झूलना॥ ६॥

भक्ति सन्देश अंक—४-५ पद ९२

इन पंक्तियों को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आपा साहब की रचनाओं में योग, प्रेम और भक्ति की त्रिवेणी बहती है।

सन्दर्भ

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ५१

२. नाथपन्थ और सन्त साहित्य, डॉ. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, पृष्ठ २४६

३. नाथ सम्प्रदाय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १२३-२४

४. अत ऊर्ध्वदिव्य रूपं सहस्रारं सरोरूहम।
ब्रह्माण्ड न्यस्त देहस्थ वाह्यतिष्ठति सर्वथा॥
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति... शिव संहिता ५/१५१-५२

५. द्वासप्तति सहस्राणि नाड़ी द्वार राशि पंजरे।
सुषुम्नां शांभवी शक्ति शेषलेष निरर्थका: ॥ हठयोग, ५-१८१

६. आदौ जलधि जीभूत भेरी सम्भव: ।
मध्ये मर्दल शंखोख्या: घंटाकाहल जास्तिव्य॥
मकरन्द द्विन् भृंगो गंधं नापेक्ष्यते यथा।
नादासक्तं तथा चितं विषयात्रहिकांक्षति॥

७. नासनम् सिद्धसदृशं न कुंभ: केवलोपम: ।
न खेचरी समा मुद्रा न नाद सदृशो लय: ॥

८. गोमांस भक्षेन्नित्यं विवेदभर वारुणीय।
गो शब्देनोपिता जिह्वा तत्प्रेवेशो ही तालुनी॥
गोमांस भक्षणं तस्तु महापातक नाशनम्।
चन्द्रात्सवति य: सा स्याद् वारुणी: ॥ हठयोग, ३,४६,८

९. भक्ति सन्देश अंक, ८-९, पृष्ठ १३

१०. जोगसन्दी पद, २९-३८

११. जोगनासिका पद, ३५,३६

१२. वही, पद, ८९,९०

१३. जोगसन्दी पद, ८२

१४. जोगनासिका पद, १२१

१५. वही पद, १४८

१६. वही पद, १६५।

□

पद्मावत में नाथ योग साधना

—सदानन्दप्रसाद गुप्त

भारतीय साधना पद्धति में नाथपन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भारतीय इतिहास की वह प्रबल धारा है, जो भारतवर्ष में अखण्ड रूप से कई शताब्दियों तक बहती रही और जिसने विभिन्न साधना पद्धतियों को आत्मसात करते हुए अपना एक स्वतन्त्र रूप स्थिर किया तथा परवर्ती काल की विभिन्न साधना पद्धतियों और साहित्य की धाराओं को प्रभावित किया। ऐतिहासिक रूप में नाथपन्थ बौद्धों की वज्रयान शाखा से सम्बद्ध माना जाता है, किन्तु गोरखनाथ ने बौद्धों की वज्रयान शाखा से उसे निकालकर एक परिष्कृत रूप दिया और उसे व्यवस्थित किया।[१] नाथ सम्प्रदाय भारतीय चिन्ताधारा के मध्य एक कड़ी के रूप में प्रस्फुटित हुआ, जिसकी पृष्ठभूमि में एक ओर वर्ण व्यवस्था और कर्मकाण्ड है, तो दूसरी ओर लोक जीवन में प्रचलित सामान्य विश्वास।[२]

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर नाथपन्थ की साधना का गहरा प्रभाव पड़ा है। सिद्धों की कविता से लेकर सन्त साहित्य तक जो गुणात्मक विकास हुआ है, उसे हम बिना नाथ-साहित्य की कड़ी के समझ नहीं सकते। सन्त साहित्य तथा सूफी साहित्य क्या सगुण भक्ति साहित्य तक को नाथपन्थ ने गहरे रूप में प्रभावित किया है।

सूफियों के भारत में प्रवेश करने के पश्चात् उन पर भारतीय योग साधना का और विशेष रूप से नाथपन्थ में प्रचलित हठयोग का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' महाकाव्य में स्थान-स्थान पर नाथपन्थ के प्रभाव को लक्षित किया जा सकता है। जायसी ने नाथ सम्प्रदाय के हठयोग की क्रियाओं का अनुभूत वर्णन किया है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—"हमारा अनुमान है कि सहजयान सिद्धों की परम्परा और नाथयोगियों की परम्परा इन दोनों के सम्पर्क में आकर जायसी ने जीवन में उनका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया था। उन्होंने दोनों की विशेषताओं को स्वीकार करके अपने काव्य में स्थान दिया।"[३] 'पद्मावत' में नाथपन्थी योगियों का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया गया है। योग की महत्ता स्वीकार करते हुए रत्नसेन कहता है—

जौं भल होत राज और भोगू। गोपिचन्द नहिं साधत जोगू॥[४]

भर्तृहरि का नाम भी कवि ने श्रद्धापूर्वक लिया है, जिससे नाथपन्थ में उसकी आस्था का पता लगता है—

जानौ ओहि गोपिचन्द जोगी। को सो आहि भरथरी बियोगी॥[५]

\+ + + + +

जस भरथरी लागि पिंगला। मो कहँ पद्मावति सिंघला॥[६]

इतना ही नहीं, राजा भर्तृहरि के नाथपन्थ में दीक्षित होने की बात भी 'पद्मावत' में आयी है—

राजा भरथरि सुना जो ज्ञानी। जेहि के घर सोरह सौ रानी॥
कुच लीन्हें तरवा सहराई। भा जोगी कोउ संग न लाई॥
जोगिहि कहा भोग सौं काजू। चहै न धन घरनी और राजू॥[७]

ये पंक्तियाँ नाथयोग के महत्त्व की स्वीकृति की सूचना देती हैं।

राजा भर्तृहरि, जिसे भोग-विलास की सारी सामग्री प्राप्त थी, वह भी सब कुछ त्याग कर नाथ योग की साधना में दीक्षित हुआ था—

पुँछहु बात भरथरिहि जाई। अमृत राज तजा विष खाई॥[८]

गुरु गोरखनाथ का नाम भी पद्मावत में कई बार आया है। हीरामन पद्मावती का सन्देश रत्नसेन को देता है, मानो गोरक्ष का उपदेश हो—

आइ पेमरस कहा सन्देसा। गोरख मिला मिला उपदेसा॥[९]

इसके अतिरिक्त अन्य स्थान पर गोरखनाथ का नाम इस प्रकार आया है—

परा माति गोरख कर चेला। जिउ तन छाँड़ि सरग कहँ खेला॥[१०]

\+ + + + +

कंथा पहिरि दंड कर गहा। सिद्धि होइ कहँ गोरख कहा॥[११]

एक अन्य जगह रत्नसेन के सिंहल द्वीप यात्रा प्रसंग में गोरखनाथ की चर्चा करते हुए कवि लिखता है—'तुम्हारे हाथ में गोरखनाथ ने सिद्धि दी'—

गोपिचन्द तुइँ जीता जोगू। औ भरथरी न पूज बियोगू॥
गोरख सिद्धि दीन्ह तोहि हाथू। तारी गुरु मछन्दरनाथू॥[१२]

नाथपन्थ में गोरखनाथ का महत्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोपरि है, धार्मिक दृष्टि से गोरखनाथ वहाँ सनातन माने जाते हैं। सिद्ध देह के रूप में योगी सदैव विद्यमान रहता है। सम्भवत: जायसी इसी ओर संकेत करते हुए लिखते हैं—

बिनु गुरु पन्थ न पाइय भूलै सो जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट॥[१३]

'पद्मावती-रत्नसेन-भेंटखण्ड' में जब पद्मावती को सखियाँ सजाकर रत्नसेन के पास ले जाती हैं तो राजा दिव्य रूप को देखकर मूर्छित हो जाता है, इस पर सखियाँ कहती हैं—

बोलहिं सबद सहेली कान लागि गहि माथ।
गोरख आइ ठाढ़ भा उठु रे चेला नाथ॥[१४]

गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का स्मरण जायसी ने इस प्रकार किया है—

लीन्हें सिधि साँसा मन मारा। गुरु मछन्दरनाथ सम्भारा॥[१५]

जायसी ने नौ नाथों तथा चौरासी सिद्धों की भी चर्चा की है। चौरासी सिद्ध सिद्धों के भी हैं और नाथ सम्प्रदाय में भी चौरासी सिद्धों की गणना की जाती है। नवनाथ में—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिणीनाथ, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, भर्तृनाथ, गोपीचन्दनाथ हैं—

नवौ नाथ चलि आवहिं औ चौरासी सिद्ध।
आजु महाभारत चले, गगन गरुड़ और गिद्ध॥[१६]

नाथ सम्प्रदाय में नाथ का अर्थ मुक्ति प्रदान करने वाला माना गया है। मुक्ति का दान वही कर सकता है, जो स्वयं मुक्त हो। नाथ को मुक्त पुरुष के रूप में स्मरण किया जाता है। जायसी ने भी 'नाथ' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

गुरु हमार तुम राजा, हम चेला तुम नाथ।
जहाँ पाँव गुरु राखै, चेला राखै माथ॥[१७]

नाथपन्थियों की वेशभूषा की चर्चा भी जायसी ने की है। नाथपन्थी जिस प्रकार मेखला, रुद्राक्ष आदि धारण किये रहते हैं, तथा समस्त शरीर में भस्म लगाये रहते हैं, उसी प्रकार की वेशभूषा रत्नसेन ने पद्मावती को प्राप्त करने हेतु सिंहल द्वीप के लिए प्रस्थान करने से पूर्व धारण किया—

तजा राज, राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहेउ बियोगी॥
तन बिसँभर मन बाउर लटा। अरुझा पेम, परी सिर जटा॥
चन्द्रबदन और चन्दन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा॥
मेखल, सिन्धी, चक्र धँधारी। जोगवाट, रुदराछ, अधारी॥
कंथा पहिरि दंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा॥
मुद्रा स्त्रवन, कण्ठ जपमाला। कर उदपान, काँध बघछाला॥
पाँवरि पाँव, दीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस करि राता॥[१८]

हठयोग में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु के बिना सिद्धि की प्राप्ति तो दूर रही, साधना पथ पर एक पग भी नहीं बढ़ा जा सकता। जब तक साधक गुरु उपदेश और गुरु के वचन के अनुसार आत्मतत्त्व का चिन्तन नहीं करता है, परमार्थ का रहस्य नहीं समझता, तब तक वह अज्ञान में भटकता है। जो आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहते हैं, वे गुरु की खोज करते हैं, क्योंकि बिना गुरु कृपा के परमार्थ-सिद्धि नहीं हो सकती—

गुरु की बाचा षोजै नाहीं, अहंकारी अहंकार करै।
षोजी जीवै षोजि गुरु कौं, अहंकारी का प्यंड परै॥[१९]

गोरखनाथ ने स्पष्ट किया है कि ज्ञान के प्रकाश में ही हम शरीर तथा आत्मा के भेद को समझ सके और उसी के फलस्वरूप जीवन्मुक्त हुए—

गुरु हमारे अतीत बोलिए। जिनि किया पिण्ड का उधारं॥[२०]

जायसी ने हीरामन को साधक रत्नसेन का गुरु बताया है—'गुरु सुआ जेहि पन्थ देखावा'[२१] इसी की पुष्टि करता है। जायसी ने नाथपन्थियों की इस मान्यता को भी पूर्णतया स्वीकार किया है कि गुरु कृपा से

ही सिद्धि की प्राप्ति होती है—

बिन गुरु पन्थ न पाइय, भूलै सो जो मेट।
जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट॥[२२]

नाथपन्थ में गुरु कृपा ही सब कुछ है। जायसी ने भी इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि गुरु कृपा से ही साधना का मर्म भी जानना सम्भव है—

चेला सिद्धि सो पावै गुरु सौं करै अछेद।
गुरु करै जो किरिपा, पावै चेला भेद॥[२३]

नाथपन्थ में भगवान् शिव को आदिनाथ स्वीकार किया गया है। जायसी ने भी शिव-पूजन की महत्ता को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि शिव देवताओं के पिता हैं और राम ने उनकी कृपा से ही राक्षसराज रावण पर विजय प्राप्त की—

महादेव देवन के पिता। तुम्हरी सरन राम रन जिता॥[२४]

जायसी यह भी मानते हैं कि महादेव की उपासना से इच्छित फल की प्राप्ति होती है—

महादेव कर मंडप जग मानुस तहँ आव।
जस हींछा मन जेहि के सो तैसे फल पाव॥[२५]

पद्मावती भी अपने लिए पति प्राप्ति का वरदान महादेव से ही माँगती है—

बर सौं जोगि मोहि मेरवहु कलस जाति हौं मानि।[२६]

अन्यत्र भी जायसी ने शिव की महत्ता स्वीकार की है। शिव से सिद्धि गुटिका प्राप्त करने के पश्चात् ही राजा शक्ति प्राप्त कर गढ़ में प्रवेश करने में सफल होता है—

सिधि गुटिका राजै जब पावा। पुनि भइ सिद्धिगनेस मनावा॥
जब संकर सिधि दीन्ह गुटेका। परी हूल जोगिन्ह गढ़ छेंका॥[२७]

योगियों द्वारा प्रतिपादित पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता का समर्थन जायसी ने पद्मावत में किया है—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥[२८]

'अखरावट' में भी पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता की बात जायसी करते हैं—

सातौं दीप नवों खण्ड आठो दिसा जो आहिं।
जो बरम्हण्ड सो पिण्ड है हेरत अन्त न जाहिं॥[२९]

गोरखनाथ की मान्यता है कि कठोर साधना के द्वारा ही जीव कर्ममुक्त होकर शिवत्व की प्राप्ति कर सकता है। 'पद्मावत' में भी जायसी ने शिव बनने के लिए कठोर तपश्चर्या की आवश्यकता पर बल दिया है—

जौं लहि आपु हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई॥[३०]

मरजिया भाव भी इसी के निकट है। साधक जब भौतिक रूप से मर जाता है, तभी साधना के उपयुक्त होता है—मरजिया में मरकर जीने का भाव निहित है—

जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेई जौ सरग-दुआरी चढ़ै सो सिंघल दीप॥[३१]

जायसी ने गगन दृष्टि या उल्टी दृष्टि का उल्लेख किया है—

उलटि दिस्टि लाव सो देखा[३२]

उलटि दीठि माया सौं रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी॥[३३]

शशिभूषणदास गुप्त ने लिखा है कि "नाथ योगियों में 'उलटा साधन' का बहुत प्रचार था, उसे उजान साधन भी कहा जाता है। चित्त की जो अधोमुखी वृत्तियाँ हैं, उनसे उन्हें हटाकर उद्यान या ऊर्ध्वमार्ग में लगाना उलटी साधना का लक्षण था। वैष्णव, वाउल और सूफी सभी ने इस परिभाषा को स्वीकार किया।"[३४] जायसी ने इसी प्रभाव के कारण पिपीलिका मार्ग की बात कही है—

भेदै जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि, भेद चढ़ै होइ चाँटी॥[३५]

जायसी ने प्रेमपन्थ को भी विपरीत मार्ग के रूप में ग्रहण किया है—

उलटा पन्थ प्रेम के बारा। चढ़ै सरग जो परै पतारा॥[३६]

यह विपरीतकरिणी मुद्रा है, जिसका नाथपन्थ में बड़ा महत्त्व है। योगसिद्ध पुरुष इसी मुद्रा के अभ्यास से सहस्रार में स्थित चन्द्र के मूलाधार में स्थित सूर्य द्वारा षोषित होने वाले अमृत को प्रत्याहरित कर स्वयं अपने मुख में रख लेता है और अमरत्व की प्राप्ति करता है—

उलटी सकति चढ़ै ब्रह्मण्ड नष सष पवनां षैले सबरंग।

उलटि चन्द्र राह कूँ ग्रहै, सिध संकेत जती गोरष कहै॥[३७]

शिव और शक्ति का, जीव और ब्रह्म का सामरस्य ही योगियों का काम्य है। शिव और शक्ति का पृथक् हो जाना ही जगत् प्रपंच का कारण है और दोनों के मिलन में प्रपंच की समाप्ति है। इनका मिलन स्थल कैलाश है, जहाँ सतत् आनन्दमय स्थिति रहती है, मृत्यु वहाँ तक नहीं पहुँच सकती। जायसी भी इसमें आस्था व्यक्त करते हैं—

तेहि पावा उत्तिम कबिलासू। जहाँ न मीचु सदा सुख बासू।[३८]

जायसी ने पद्मावती का चित्रण ब्रह्म रूप में किया है और उसके निवास को कैलाश के रूप में-

धौराहर पर दीन्हा बासू। सात खण्ड जहवां कबिलास॥

\+ + + + +

सात खण्ड सातौ कबिलासा। का बरनौ जग ऊपर बासा॥[३९]

नाथपन्थ में नाड़ी की चर्चा प्रमुख रूप से हुई है। सुषुम्ना नाड़ी का विस्तार मूलाधार से सहस्रार चक्र तक माना गया है। इसे ही जायसी ने कंचन वृक्ष या कल्पतरु कहा है, जिसका मूल पाताल में और शाखाएँ स्वर्ग में हैं—

कंचन बिरिख एक तेहि पासा। जस कल्पतरु इन्द्र कबिलासा॥

मूल पतार, सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव, को चाखा॥[४०]

श्वास-प्रश्वास को वहन करने वाली जिन दो नाड़ियों के मध्य सुषुम्ना स्थित है, उन्हें हठयोगी इड़ा-पिंगला कहते हैं। जायसी ने इन्हें नीर-खीर नामक दो नदियाँ कहा है—

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पनिहारी जैसे दुरपदी॥[४१]

जायसी ने सूर्य और चन्द्र प्रतीकों का भी पद्मावत में प्रयोग किया है—"हठ योगियों की साधना का उद्देश्य होता है चन्द्र-सूर्य, इड़ा-पिंगला, वाम-दक्षिण नाड़ियों को वश में करके सिद्धि प्राप्त करना।" प्राचीन बंगला लोक गीतों में चन्द्र-सूर्य का अभिप्राय बार-बार आता है—

'चाँद सुरुज राखचे दुई कानेर कुण्डल'

गोरखनाथ ने भी चन्द्र-सूर्य के प्रतीकों का उल्लेख किया है—

जिहि घर पर चन्द सूर नहिं ऊगे, तिहि घर होसि उजियारा॥[४२]

चन्द्र और सूर्य का ही नामान्तर गंगा-यमुना है। इन्हें ही इड़ा और पिंगला कहा जाता है। इस सरस प्रतीकों का भी जायसी ने कौशल से प्रयोग किया है। इन्हें ही जायसी ने धूप-छाँह, रात-दिन, साँवरी-गोरी, गंगा-यमुना कहा है। अपने प्रतीकवाद का और संवर्धन करते हुए इस जोड़ी को ही कवि ने पद्मावती नागमती माना है—

दूनौ सवति साम और गोरी। मरहिं तौ कहँ पावसि असि जोरी॥
अस गियान मन आव न कोई। कबहूँ राति, कबहूँ दिन होई॥
धूप छाँह दोउ पिय के रंगा। दूनौ मिली रहहि एक संगा॥
गंग जमुन तुम दोउ, लिखा मुहम्मद जोग।
सेब करहु मिलि दूनौ तो मानहु सुख भोग॥[४३]

सूर्य मूलाधार चक्र में स्थित विष प्रस्रावक तत्त्व है। सूर्य-चन्द्र का मिलन उसी स्थिति में सम्भव और मंगलकारक है जब सूर्य अपना विषय त्याग दे—

चलु सुरुज अथवै जहाँ ससि निरमल तू पावसि तहाँ॥[४४]

नाथपन्थ में मानव देह की उपमा गढ़ से दी गयी है। गोरखनाथ कहते हैं—

मनवा जोगी काया मढ़ी। पंच तत्त ले कंथा गढ़ी॥[४५]

जायसी ने इसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है—

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया॥[४६]

जायसी ने सूफी प्रेम साधना के अन्तर्गत कुण्डलिनी योग की सब परिभाषाओं को अंगीकार किया है। हठयोग साधकों द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्दों का प्रयोग प्रायः उन्हीं के अर्थ में किया है। सहस्रार में शिव शक्ति का मिलन नाथपन्थी साधना का अन्तिम सोपान है। सहस्रार को ही उन्होंने कैलाश नाम दिया। जायसी ने 'पद्मावत' में अनेक स्थानों पर 'कबिलास' का प्रयोग किया है—

जबहि दीन निअरावा जाई। जनु कबिलास निअर भा आई॥[४७]

\+ + + + +

सात खण्ड ऊपर कबिलासू। जहँ सोव नारि सेज सुख बासू॥[४८]

उसका मूल प्रेरणा-स्रोत हठयोग साधना ही है। वैसे जायसी ने स्वर्ग के अर्थ में भी 'कबिलास' का प्रयोग किया है—

बरनौ राज मन्दिर रनिवासू। अछरिन्ह भरा जानु कबिलासू॥[४९]

\+ + + + +

कंचन बिरिख एक तेहि पासा। जस कल्पतरु इन्द्र कबिलासा॥[५०]

नाथपन्थ में कुण्डलिनी योग साधना के अन्तर्गत नौ चक्रों की चर्चा की गयी है। 'पद्मावत' में भी जायसी ने लिखा है—

नव पौरी बाँकी नव खण्डा। नवौ जो चढ़ै जाइ बरम्हण्डा॥[५१]

नौ पौरी शरीर के नौ द्वार हैं, जिनका उल्लेख अथर्ववेद में 'अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्य' के द्वारा हुआ है। जायसी ने इन नौ द्वारों की कल्पना को शरीरस्थ चक्रों के साथ मिला दिया है और उन्हें नौ खण्डों के साथ सम्बन्धित करके एक-एक खण्ड को एक-एक द्वार कहा है। 'सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड' में ही जायसी लिखते हैं—

नवौं खण्ड नव पौरी औ तहं बज्र केवार।
चारि बसेरे जो चढ़ै सत सौ उतरै पार॥[५२]

यहाँ जायसी ने सूफी साधना के चार सोपानों और हठयोग की चक्रसाधना का समन्वय किया है—नाथ सम्प्रदाय में नौ चक्रों के बाद ब्रह्मरन्ध्र की कल्पना की गयी है। और उसे दसवाँ द्वार कहा गया है। गोरखनाथ ने ब्रह्मरन्ध्र को ही दसवाँ द्वार कहा है, जहाँ शिव का साक्षात्कार सम्भव है।[५३] इस दसवें द्वार की चर्चा जायसी ने भी की है—

नवौं पँवरि पर दसौं दुआरा। तेहि पर बाज राज घरियारा॥[५४]

\+ + + + +

दसवँ दुआर गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका॥[५५]

''मध्यकालीन युग में इस दसवें द्वार का उल्लेख बहुत बार आया है। कहा जाता है कि सहस्रार का अमृत इसी दशम द्वार में नीचे होकर झरता रहता है। सुषुम्ना जिस मार्ग से ब्रह्माण्ड या मस्तक में प्रवेश करती है, वहीं दसवाँ द्वार है।''[५६] जायसी ने 'घरियार' बजने की चर्चा की है, वह ब्रह्मरन्ध्र में सुनायी पड़ने वाला अनाहत नाद है।

'पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड' में भी योग के स्वरूप को देखा जा सकता है, जहाँ पद्मावती रत्नसेन से कहती है—

ऐसे राजकँवर नहि मानौं। खेलु सारि पासा तब जानौं॥[५७]

इसका एक अर्थ यह भी है, 'योग में तुम इड़ा-पिंगला को मिला सको तो समझूँगी कि तुम कुण्डलिनी या सुषुम्ना से सान्निध्य प्राप्त कर चुके हो।'[५८]

जायसी ने इसी में अष्टांग योग साधना त्रिक साधना (इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना) की भी चर्चा की है।[५९]

इस प्रकार जायसी ने 'पद्मावत' में नाथपन्थी साधना का अपने ढंग से उल्लेख किया है—सर्वत्र इसका प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। 'पद्मावत' में नाथपन्थ में स्वीकृत गुरु की महत्ता, पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता, विपरीतकारिणी मुद्रा साधना (उलटा साधन, उजान साधन) शिवशक्ति का सामरस्य नाड़ी साधना, चक्र साधना, काम साधना आदि उल्लेख करते हुए उसके महत्त्व को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त नाथपन्थ में स्वीकृत चन्द्र-सूर्य प्रतीकों की चर्चा की गयी है। इतना ही नहीं, योग को महत्त्व देने के लिए नाथ सम्प्रदाय

के प्रमुख योगियों तथा नाथ योगियों की वेशभूषा का भी उल्लेख किया गया है। जायसी ने प्रेम के लिए योग को आवश्यक माना है।

ओहि पथ जाइ जो होई उदासी। जोगी जती तपा संन्यासी॥
भोग किये जौं पावत भोगू। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू॥[६०]

असल में सूफी साधना पर नाथपन्थ का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सूफी साधना का जब भारत में प्रवेश हुआ तो यहाँ प्रचलित भारतीय साधना पद्धतियों ने उसे विभिन्न रूपों में प्रभावित किया। ये प्रभाव 'पद्मावत' में लक्षित किये जा सकते हैं।

जायसी ने 'पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड' में योग साधना तथा योगियों के लिए कटु शब्दों का प्रयोग किया है। पद्मावती रत्नसेन से कहती है—

हौं रानी तू जोग भिखारी। जोगिहि भोगिहि कौन चिन्हारी॥
जोगी सबै छन्द अस खेला। तू भिखारी केहि माहँ अकेला॥[६१]

\+ + + + +

जोगि भिखारी करसि बहु बाता। कहेसि रंग देखौं नहिं राता॥[६२]
जोगिन्ह बहुतै छन्द औराहीं। बुँद सेवातिहि जैस पराहीं॥[६३]
जोगी भँवर न थिर ये दोऊ। केहि आपन भए कहै सो कोऊ॥[६४]
तेहि सौं नेह जो दिढ़ करै रहहिं न एकौ देस।
जोगी भौंर भिखारी इन्हसौं दूर अदेस॥[६५]
जोगी भँवर जो थिर न रहाहीं। जेहि खोजहिं तेहि पावहिं नाहीं॥[६६]

एक ओर जायसी नाथपन्थ के प्रभाव को ग्रहण करते हैं, प्रेम मार्ग में सफलता प्राप्त करने के लिए योगमार्ग को आवश्यक समझते हैं, फिर योगी की आलोचना क्यों करते हैं? यह एक प्रश्न है। वस्तुत: जायसी की साधना सूफी साधना है और सूफी साधना में प्रेम साधना को महत्त्व दिया गया है। जायसी ने योग मार्ग पर प्रेम की प्रतिष्ठा की है। योगमार्ग को उतना ही स्थान दिया है जितना वह प्रेम साधना में सहायक होता है। बहुत सी बातों में उन दिनों योगियों और सूफियों में साम्य था, दोनों में अन्तर साधना के रूप में था। योगी प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के समर्थक थे, और सूफी अनन्य प्रेमनिष्ठा के पक्षधर थे। जायसी ने रत्नसेन को योगियों के समान साधक बताते हुए सूफी साधना का सच्चा उपासक और सौन्दर्योपासक चित्रित किया है। रत्नसेन योग मार्ग को ग्रहण करता है, तो पद्मावती के लिए। जायसी प्रेम साधना पर अधिक बल देते हैं और उसमें भी विरह साधना पर—

मुहम्मद चिनगी प्रेम की सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही और धनि हिया तहँ अस अगिनि समाइ॥[६७]

इस प्रकार अन्य साधना पद्धतियों के जो-जो तत्त्व जायसी को मान्य हैं, केवल उन्हीं का ग्रहण हुआ है। 'पद्मावत' में नाथ योग साधना पर विचार करते समय यह बात अवश्य ध्यान में रहनी चाहिए और इसी रूप में उसके प्रभाव का आकलन भी करना चाहिए।

सन्दर्भ :

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.सं. १६-१७। ''गोरखनाथ के नाथपन्थ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ (गोरक्ष) भी गिन लिए गये हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया।''
२. डॉ. सुमनराजे, हिन्दी साहित्येतिहास आदिकाल
३. पद्मावत (संजीवनी भाष्य) प्राक्कथन, पृ. ७४
४. पद्मावत जोगी खण्ड, ४/६
५. वही, वसन्त खण्ड, १०/६
६. वही, पार्वती महेश खण्ड १/३
७. वही, जोगी खण्ड ६/४-६
८. वही, प्रेम खण्ड ७/५
९. वही, पद्मावती-सुआ भेंट खण्ड ८/२
१०. वही, वसन्त खण्ड ११/६
११. वही, जोगी खण्ड ०/५
१२. वही, सिंहल द्वीप खण्ड १/२-३
१३. वही, पार्वती-महेश खण्ड /६
१४. वही, पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड /१४
१५. वही, राजा गढ़ छेका खण्ड २१/३
१६. पद्मावती, रत्नसेन सूली खण्ड /८
१७. वही, बोहित खण्ड /२
१८. वही, जोगी खण्ड ०/१-७
१९. गोरख बानी—१५१
२०. वही, पृ. २०२
२१. पद्मावत/उपसंहार
२२. वही, पार्वती-महेश खण्ड/६
२३. वही, गन्धर्वसेन मन्त्री खण्ड/१९
२४. वही, पार्वती-महेश खण्ड ४/६
२५. सिंहल द्वीप खण्ड-६
२६. वसन्त खण्ड-९
२७. राजागढ़ छेंका खण्ड ०-१/२
२८. पद्मावत, उपसंहार
२९. अखरावट ८
३०. पद्मावत, प्रेम खण्ड ५/२
३१. वही, पार्वती-महेश खण्ड ९
३२. वही, पार्वती-महेश खण्ड ९/१
३३. वही, प्रेम खण्ड ६/४
३४. शशिभूषणदास गुप्त अल्पज्ञात धार्मिक सम्प्रदाय, पृ. २६५-६६

उद्धृत वासुदेवशरण अग्रवाल, पद्मावत प्राक्कथन, पृ. ६३
३५. पद्मावत, पार्वती-महेश खण्ड ८/५
३६. वही, राजागढ़ छेंका खण्ड १२/६
३७. गोरख बानी—२१७
३८. पद्मावत, बोहित खण्ड ०/७
३९. पद्मावत, रत्नसेन-पद्मावती विवाह खण्ड १६/१, १७/१
४०. वही, सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड १८/४-५
४१. सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड १८/१
४२. उद्धृत, वासुदेवशरण अग्रवाल, पद्मावत, पृ.५९
४३. पद्मावत : नागमती पद्मावती विवाद खण्ड १२/२,५,६/१३
४४. वही, रत्नसेन पद्मावती विवाद खण्ड १६/४
४५. गोरखबानी, सबदी/४८
४६. पद्मावत, पार्वती-महेश खण्ड ८/१
४७. वही, सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड २/१
४८. वही, पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड ०/१
४९. वही, सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड २४/१
५०. वही, १८/४
५१. वही, १५/५
५२. वही, १७
५३. गोरखवानी १३५
५४. पद्मावत, सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड १७/१
५५. वही, पार्वती महेश खण्ड ८/४
५६. पद्मावत (वासुदेवशरण अग्रवाल) प्राक्कथन,
५७. वही, पद्मावती-रत्नसेन भेंट, २२/१
५८. पद्मावत (संजीवनी भाष्य), पृ. ३६७
५९. वही, पृ. ३६८-६९
६०. पद्मावत, प्रेम खण्ड ४/५-६
६१. पद्मावत, पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड, १५/२-३
६२. वही, १७/१
६३. वही, १९/१
६४. वही, १९/५
६५. वही, २१
६६. वही, २१/५
६७. राजा रत्नसेन सती खण्ड

□

नाथपन्थी साहित्य में हनुमद्भक्ति

—डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय

नाथपन्थी साहित्य के आलोड़न से ज्ञात होता है कि नाथसिद्धों में वायुपुत्र हनुमान के प्रति विशेष आदर भाव रहा है। 'अलख-निरञ्जन' के उपासक होते हुए भी नाथयोगियों ने हनुमान के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति निवेदित की है। नाथपन्थ में परम तत्त्व के रूप में शिव (योगीराज) की ही प्रतिष्ठा है। हनुमान और शिव अभिन्न हैं। अतः इस पन्थ में हनुमान के प्रति आदरभाव होने का कारण उनकी (हनुमान की) शिवावतार रूप में स्वीकृति हो सकती है। {(क) स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड, चतुरशीतिलिंग माहात्म्य, अध्याय ७९ तथा रेवाखण्ड अध्याय ८४, (ख) महाभागवत पुराण}।

रांगेय राघव का मत है कि दीनोघर-धर्मशाला पर नाथपन्थियों में हनुमान और रामचन्द्र के चित्र स्वीकृत हैं। टिला में वैष्णव मत की स्वीकृति है और पुरी में गरुड़ की। हनुमान-टीका लगाने में तथा रुद्राक्ष के दस मनकों में विष्णु के दस अवतारों की स्वीकृति है (गोरखनाथ और उनका युग, रांगेय राघव, पृ. १४५)। इससे विदित होता है कि नाथपन्थियों में विष्णु की प्रतिष्ठा होने से ही राम और उनके अनन्य प्रिय हनुमान को भी विशेष स्थान प्राप्त हो सका है। शिव के १८ विभिन्न अवतारों में लकुलीश आद्य अवतारों में माने जाते हैं (गोरखनाथ और उनका युग, रांगेय राघव पृ. ६०)। ऐसा माना जाता है कि लगुड या गदा धारण करने वाले किसी महात्मा को ही लकुलीश कहा गया है। इन्हीं महात्मा ने लकुलीश पाशुपत मत का प्रवर्तन किया था। प्रथम शती तक यह मत दक्षिण से गुजरात तक प्रसरित हो चुका था (जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, बाम्बे ब्रान्च, ऑन एकलिंगी स्टोन, पृ. १५१)। हनुमान भी गदाधारी हैं और दक्षिण से उनका सम्बन्धित होना निर्विवाद रूप से मान्य है। वे शिव के अंश और अवतार कहे ही जाते हैं। ऐसे में उनका शैव मत की स्थापना करना स्वाभाविक प्रतीत होता है और इस बात की सम्भावना भी बढ़ जाती है कि लकुलीश मत के प्रवर्तक लगुडधारी महात्मा पर हनुमान के व्यक्तित्व का आरोप हुआ हो और उन्हें हनुमान से अभिन्न मान लिया गया हो।

नाथयोगी प्रेमदास ने विभिन्न सिद्धों, योगियों की अभ्यर्थना करते समय हनुमान को भी भक्तिपूर्वक नमन किया है—

'नमो हनुमान निरञ्जनं पिछानं।' (नाथ सिद्धों की बानियाँ)

ग्यारहवीं शताब्दी के सिद्ध चौरंगीनाथ द्वारा वर्णित श्रीनाथाष्टक से उनकी हनुमान-भक्ति का पता चलता है। चौरंगीनाथ को गोरखनाथ का गुरुभाई माना गया है। चौरंगीनाथ उनके समकालीन हैं।

'श्रीरामचन्द्र वशिष्ठ हनुमत धुरु प्रहलाद रतिपति।' (नाथ सिद्धों की बानियाँ)

नाथपन्थ के प्रसिद्ध योगी धजनाथ को महावीर हनुमान का अनुयायी बताया जाता है (नाथ सम्प्रदाय—पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. १५२)। नाथपन्थ के छः यतियों, जो गुरु गोरखनाथ के शिष्य माने जाते हैं, में हनुमान भी एक हैं। सम्प्रदाय में ध्वजनाथ के रूप में हनुमान की प्रतिष्ठा है और नित्य उनकी आरती होती है। गोरखनाथजी के योगी-सम्प्रदाय के १२ प्रसिद्ध उपसम्प्रदायों (उपपन्थों), जिन्हें 'बारह पन्थी' कहा जाता है, में ध्वजानाथी या महावीरपन्थी भी एक है (नाथ सम्प्रदाय—पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. १५२)। ध्वजानाथी का पर्याय 'महावीरपन्थी' भी होना प्रसिद्ध नाथयोगी ध्वजानाथ से हनुमान की आत्यन्तिक एकात्मता को सिद्ध करता है। इसे हम सम्प्रदाय के अन्तर्गत हनुमद्भक्ति का ही परिणाम मान सकते हैं।

ऐसा प्रचलित है कि सिंहल में मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार करने गये हुए प्रख्यात योगी गोरखनाथ से हनुमान का संघर्ष हुआ और हनुमान को गोरखनाथ के योगबल के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा था। सम्भव है कि नाथपन्थ में गोरखनाथ के बढ़ते हुए महत्त्व को अक्षुण्ण और चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से सम्प्रदाय में ऐसी धारणा बना ली गयी हो। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने चौदहवीं शताब्दी के नाथसिद्धों की सूची में ध्वजनामधारी दो सिद्धों-विविकिधज और मगरधज का उल्लेख किया है। इनमें से एक मगरधज (मकरध्वज) के हनुमान के पुत्ररूप में प्रसिद्ध होने की बात भी प्रचलित है। आचार्य द्विवेदी ने विविकिधज और मगरधज के इस पन्थ से सम्बद्ध होने की सम्भावना भी प्रकट की है। आचार्य द्विवेदी ने डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा हनुमन्त को वस्तुतः वक्रनाथ नामक योगी का ही रूपान्तर माने जाने का भी उल्लेख किया है (नाथयोग-परिचयात्मक अध्ययन, अक्षयकुमार बनर्जी, द्वितीय हिन्दी संस्करण, पृ. १३)। इन बातों से नाथपन्थ में हनुमान की महत्त्वपूर्ण स्थिति, प्रसिद्धि और उनके प्रति सिद्धों की भक्ति का पता चलता है।

नाथसम्प्रदाय के परवर्ती सिद्धों में एक सिद्ध हणवन्तजी हुए हैं। इनके कुछ पदों का पता चलता है (नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ. १२४-१२५)। इन्हें रामभक्त हनुमान से अभिन्न माना गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ऐसा होना नामसाम्य के कारण माना है (नाथसम्प्रदाय: पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. १७७)। नाथसिद्धों का संक्षिप्त जीवन-परिचय लिखते हुए डॉ. शम्भुनाथ पाण्डेय ने भी नाथसिद्ध हणवन्तजी का वृत्त प्रस्तुत किया है और उन्हें हनुमान से भिन्न बताया है (आदिकालीन हिन्दी साहित्य—डॉ. शम्भुनाथ पाण्डेय, पृ. १८३, वि. वि. प्रकाशन वाराणसी, प्रथम सं. १९७० ई.)। उल्लेख्य है कि हणवन्त को हनुमान से भिन्न बताते हुए न तो आचार्य द्विवेदी ने कोई तर्क या कारण प्रस्तुत किया है और न ही डॉ. पाण्डेय ने। ऐसी दशा में नाथसम्प्रदाय के अन्तर्गत हणवन्त और हनुमान की अभिन्नता (भले ही वह नाम-साम्य के कारण हो) से सम्बन्धित लोकधारणा पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता है। जो हो, किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि इस पन्थ में हनुमान के महिमामय व्यक्तित्व के प्रति सहज आकर्षण अत्यन्त

प्राचीन काल से बना हुआ है, यह सम्प्रदाय के सिद्धों की हनुमान के प्रति भक्ति का ही परिणाम है कि उन्होंने नाथसिद्ध हणवन्त को हनुमान से अभिन्न मान लिया है। नाथपन्थ में हनुमद्‌भक्ति के उद्‌भव का प्रधान कारण योगीजनों (नाथसिद्धसन्त) की साधना-पद्धति में प्राणायाम का विशिष्ट महत्त्व प्रतीत होता है। प्राणायाम और वायुसाधना पर्याय हैं। हनुमान वायुपुत्र हैं। नाथसिद्धों में, अपनी प्राणायाम-साधना, वायुसाधना के वर्चस्व हेतु वायुपुत्र हनुमान के प्रति आकर्षण बढ़ा होगा और आगे चलकर क्रमशः घनीभूत होते हुए भक्ति का आकार ग्रहण कर लिया होगा।

नाथपीठों में हनुमान-मन्दिरों की स्थापना के पीछे भी सम्भवतः यह दृष्टि काम करती रही होगी। गोरखपुर के प्रसिद्ध गोरखनाथ-मन्दिर के समीपस्थ (पूर्वोत्तर पार्श्व में) हनुमान का अत्यन्त प्राचीन, लघु किन्तु भव्य, मन्दिर नाथयोगियों की हनुमद्‌भक्ति का ही द्योतक है। सन् १९२४ में भारत में गोरखनाथ से सम्बन्धित स्थलों का सर्वेक्षण करने वाले पाश्चात्य विद्वान् प्रो. जॉर्ज वेस्टन ब्रिग्स ने भी गोरखपुर स्थित गोरखनाथ-मन्दिर के पूर्व में हनुमान-मन्दिर की विद्यमानता का उल्लेख किया है (गोरखनाथ एण्ड दि कनफटायोगीज, जॉर्ज वेस्टन ब्रिग्स, पृ. ८८)। इसी प्रकार अटक नगर में बने विशाल किले के समीप श्रीनाथजी के मन्दिर में भी हनुमानजी की मूर्ति सुशोभित है ('योगवाणी', गोरखनाथ-मन्दिर गोरखपुर, फरवरी १९७७, पृ. ३७, मासिक पत्रिका में 'श्रीनाथ तीर्थों की झाँकी' शीर्षक श्रीराधेश्याम तिवारी का लेख)। पंजाब में झेलम के गोरखटिल्ला में, जो नाथसम्प्रदाय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थान है, टिल्ले के चारों ओर निर्मित दीवार के मध्य भाग में हनुमान-मन्दिर है (योगवाणी, फरवरी १९७७, पृ. ३८)। चण्डीगढ़ का हनुमान-मन्दिर भी नाथयोगियों के प्रसिद्ध केन्द्रों से सम्बद्ध है (योगवाणी, फरवरी १९७७, पृ. ४३)। जम्मू-कश्मीर के जम्मूतवी में पीरखोह नामक हनुमानजी का मन्दिर है, जो नाथसम्प्रदायानुरागियों का प्रसिद्ध आकर्षण केन्द्र है। (देवीपाटन-मन्दिर, तुलसीपुर (गोण्डा) के महन्त श्रीशान्तिनाथजी की वार्ता के आधार पर)।

इस प्रकार अनेक प्रख्यात नाथपीठों में हनुमान-मन्दिरों और उनकी मूर्तियों की स्थापना से यह बात स्वतः सिद्ध है कि नाथसम्प्रदाय में हनुमान की प्रसिद्धि और पूजा की पुरातन परम्परा रही है, आज भी उसी रूप में विद्यमान हनुमान के साथ नाथपीठों में पाण्डव योद्धा महाबली भीम की मूर्तियाँ भी स्थापित हैं। गोरखपुर में गोरखनाथपीठ में सरोवर के पश्चिम तट पर भीमसेन की एक विशाल प्रतिमा शयन की मुद्रा में स्थापित है। इसी प्रकार श्रीनगर (जिला-पौड़ी गढ़वाल) से लगभग १२ किमी. दूर स्थित देवलगढ़, जो नाथपन्थ का एक प्रसिद्ध स्थान है, में भी अनेक मूर्तियों के साथ ही भीम की मूर्ति स्थापित है ('योगवाणी'-गोरख विशेषांक, वर्ष २, अंक १, पृ. ३६६) नाथपीठों में हनुमान और भीम की मूर्तियों की स्थापना से इस अनुमान की पुष्टि हो जाती है कि नाथयोगियों में वायुपुत्र होने के कारण हनुमान और भीम (दोनों का भ्रातृत्व लोकमान्य है) सदा से पूज्य रहे हैं और गुरुओं के गुरु गोरखनाथ से सम्बन्धित प्रसिद्ध तीर्थों और पीठों से उनका प्रगाढ़ सम्बन्ध बहुत पहले से चला आ रहा है। गोरखदर्शन और साहित्य के प्रख्यात विद्वान् आचार्य अक्षयकुमार बनर्जी का अभिमत है कि एक पूजक-सम्प्रदाय के रूप में नाथपन्थी योगी मुख्यतः शैव होते हुए भी हिन्दुओं के सभी देवी-देवताओं को मान्यता एवं श्रद्धा प्रदान करते हैं। विष्णु और उनके

समस्त अवतारों की पूजा नाथयोगियों द्वारा श्रद्धापूर्वक की जाती है। एक पूजक-सम्प्रदाय के रूप में योगियों की दृष्टि में बड़ी उदारता है (नाथयोग, पृ. २१)। पूजा के सम्बन्ध में इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि यह सम्प्रदाय चरित्र की पवित्रता, नैतिक नियमों के कड़ाई से पालन और हृदय की सच्चाई और भक्ति की भावना को प्रमुखता देता है (नाथयोग, पृ. २२)। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि योगियों की पूजा-विषयक उपर्युक्त मान्यता और आदर्श यदि एक ही साथ किसी एक देवता (व्यक्तित्व के रूप में मानें तो भी) में पूरी तरह चरितार्थ होते हुए दिखाई देते हैं तो निश्चित ही हनुमान में। हनुमान एक आदर्श योगी के रूप में लोकमान्य हैं ही। चरित्र की पावनता, नैतिक मूल्यों की रक्षा, सेवा, त्याग, हृदयगत सच्चाई और भाव-भक्ति सम्बन्धी उच्चतम गहनता के लिए हनुमान से बढ़कर किसी अन्य आदर्श की कल्पना की ही नहीं जा सकती। इन सभी अर्थों में वे अपने समान स्वयं ही हैं। अतः कहा जा सकता है कि ऐसे सच्चरित्र योगी, निस्पृह समाजसेवी, अखण्ड ब्रह्मचारी, अद्‌भुत शौर्यसम्पन्न, सिद्धिप्रदायक, शिवरूप, महनीय व्यक्तित्व वाले हनुमान ही नाथ योगियों की पूजा के आदर्श बन सकते हैं।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि आलोच्यपन्थ या सम्प्रदाय में हनुमानोपासना की स्थिति और व्याप्ति के प्रमुख कारण योगियों के प्रमुख देवता शिव-रुद्र से हनुमान की अभिन्नता, नाथपन्थ में वैष्णव-मत की स्वीकृति, नाथयोगियों की साधना पद्धति में वायुसाधना (प्राणायाम की क्रिया) का महत्त्व, हनुमान की वायुपुत्र रूप में लोकप्रसिद्धि, उनका स्वयं उच्च भावसम्पन्न विरक्त योगी होना और योगी-चरित्र की पवित्रता, नैतिकता, ब्रह्मचर्य एवं भक्ति की अनन्यता के क्षेत्र में सर्वोच्च आदर्श के रूप में उनका ग्रहण है।

□

नाथयोग : तत्त्व-चिन्तन और हठयोग

—योगी रामानन्दजी महाराज

नाथयोग का मूल आधार शिवोपदिष्ट महायोग ज्ञान और आद्यन्त इसी परम्परा को 'पूर्वेषाम अपिगुरु काले नव अक्षेदात्।' आदिगुरु महायोगेन्द्रः मत्स्येन्द्रनाथ, शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ, जालन्धरनाथ, योगीराज भर्तृहरि, गोपीचन्द, चौरंगीनाथ, चर्पटीनाथ, रेवणनाथ, नागनाथ, गहिनीनाथ, रतननाथ, निवृत्तिनाथ और महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध महासन्त महायोगी ज्ञानेश्वरनाथ, बालगोदाई सुन्दरनाथ और गम्भीरनाथ आदि ने स्वसंवेद्य परमात्मबोध अलख निरञ्जन के साक्षात्कार के धरातल पर अपनी शिवमयी योग विभूति से प्राणान्वित कर गौरवान्वित करते हुए लोक कल्याण, लोकसंग्रह और आत्महित की सिद्धि की।

समस्त नाथसिद्ध अवधूत और योगियों के चरित्र भगवान् आदिनाथ परम योगेश्वर शिव की कृपा से सम्प्लावित और संस्कारित हैं। भगवान् शिव ने आद्याशक्ति, पराम्बा, जगदम्बा, पार्वती, गौरी को जगत् हित साधन के निमित्त स्वीकार कर महायोग ज्ञान का उपदेशामृत प्रदान किया।

शास्त्रों से निःसन्देह शिव योगीराज हैं। आद्याशक्ति ने इसी योगराज विशेषण से उनका स्तवन किया—

'नमस्ते योग राजायः सर्वज्ञायन नमो नमः' (योगबीज)

भगवान् शिव ने करुणापूर्वक शिव-विद्या, महायोग-विद्या का, जो गुप्त विद्या कही गयी है, भगवती पार्वती को उपदेश देकर जन साधारण के लिए योग साधना का सहज विषय बना दिया। शिव ने क्षीरसागर में सौम्यशृंग पर उपदेश देने के पहले पराम्बा जगदीश्वरी से कहा था—

शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरी। (शिव संहिता २४८)

योगराजेश्वर भगवान् शिव ने स्वसंवेद्य परम प्रतिपाद्य अलख निरञ्जन स्वरूप द्वैताद्वैतविवर्जित नाथयोग में स्वीकृत परमात्मतत्त्व का स्वरूप विवेचित कर इस बात को स्पष्ट कर दिया कि परब्रह्म परमेश्वर परमतत्त्व शिव के स्वरूप-विवेचन का प्राणाधार द्वैताद्वैत-विलक्षण माहेश्वर योगज्ञान में अभिव्यक्त श्रीनाथतत्त्व ही है—

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं नान्यत् किंचिद् वर्तते वस्तु सत्यम्।
यद्भेदोऽस्मिन्निन्द्रियो पाधिना वै ज्ञानस्यायं भास्यते नान्यथैव॥

द्वैताद्वैतविवर्जित परमतत्त्व ही—एक मात्र स्वसंवेद्य परम ज्ञान ही सर्वोपरि नित्य सनातन है, जिसका न आदि है न अन्त। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य वस्तु नहीं है। इन्द्रियों की उपाधि के द्वारा जो कुछ भी भेद प्रतीत होता है—पृथक्-पृथक् दीख पड़ता है, वह परमतत्त्व ज्ञान ही भासित होता है, अन्य कुछ भी नहीं। वह द्वैताद्वैत विलक्षण परमतत्त्व ही महायोग ज्ञान से सम्बन्धित परमाद्वय शिवस्वरूप का स्वसंवेद्य की महाप्रकाशिका आद्या शक्ति शिव की सिसृक्षा शक्ति ही है। महायोगी गोरखनाथजी ने महायोग ज्ञान के प्रकाश में इस विलक्षण सर्वोपरि परमतत्त्व परमेश्वर-परात्पर शिव-स्वरूप का प्रकाशन किया है।

अतएव परमकारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्व स्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वकारतया स्फुरितुं शक्नोतीप्यतः शक्तिमान

शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किंचन।
स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत्॥ (सिद्धसिद्धान्त पद्धति ४/१३)

आदिनाथ शिव सूक्ष्म, स्थूल समस्त भौतिक पदार्थों के परम कारण परमेश्वर हैं। वे अपने स्वरूप में परात्पर हैं, चैतन्यस्वरूप सबमें व्यापक हैं। वे शक्तिरहित होने पर ही कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते। निजाशक्ति से युक्त होने पर ही वे विश्व के साक्षी हैं—

शिवशक्तिसमायोगाज्जायते परमा स्थितिः। (योगबीज १२९)

शक्ति और शक्तिमान में नाम मात्र का भी अन्तर अथवा पार्थक्य नहीं है। वे दो हैं ही नहीं, स्तर अथवा तात्त्विक प्रक्रिया से दो भले ही भासित हैं, पर वे एक हैं, एक ही सत्ता हैं, कहा गया है—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरः शिवः।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

सम्पूर्ण सामरस्य के धरातल पर शक्ति और शक्तिमान दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। कूटस्थ असंग-शिव सर्वत्र व्यापक हैं। शिव को धारण करने वाली शक्ति स्वभावतः व्यापक है। शिव में शक्ति है, शक्ति में शिव है। जिस तरह चन्द्रमा और चाँदनी में स्वरूपतः भेद-भिन्नता किंवा द्वैत नहीं है उसी तरह शिव और शक्ति में भेद नहीं है। दोनों में कूटस्थता और असंगता की दृष्टि से व्यवहार में भेद परिलक्षित होता है और पारमार्थिक सत्ता में वे स्वरूपतः अखण्ड अभेद-अद्वय हैं। शिव-शक्ति एक है (सिद्धसिद्धान्त पद्धति ४/२६)। अतएव अलख निरञ्जन परमेश्वर, अद्वय परमेश्वर, द्वैताद्वैत विलक्षण महेश्वर की अभिन्न शिवमयी शक्ति स्वरूपता के सामरस्य-स्वरूपायित अद्वयत्व का निर्वचन इस प्रकार करने में शक्ति और शक्तिमान में अखण्ड एकरूपता सहज स्थापित हो जाती है कि अखण्ड शुद्ध चैतन्य सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म स्वसंवेद्य अलख निरञ्जन परमशिव सर्वत्र विद्यमान है। यह चेतन ही समस्त विश्व प्रपञ्च का आधार है। प्रकृति माया आदि तत्त्वों पर महिमा सहित शक्ति सर्वत्र प्रकाशित हो रही है। समस्त मानसिक व्यापारों में इसी शक्ति की सत्ता अभिव्यक्त है। आशय यह है कि सभी पदार्थों की समस्त व्यवस्थाओं में संवित् ही प्रकाशमान है। वही समस्त व्यावहारिक सत्ताओं के सीमित परिवर्तनशील तथा अनेक वस्तु-रूपों में स्वयं को प्रकट कर रहा है। सभी प्रकार के मानसिक अनुभवों में स्वयं को अनेक आत्म(गत) रूपों में प्रकट कर कौशल से वह संवित् ही अनेक सीमित विशेषताएँ धारण कर लेता है।

इस तरह से परासंवित-स्वरूप शिवशक्ति के सामरस्य का स्पष्ट निर्णीत रूप यह है कि व्यष्टि-समष्टि, भूत-भौतिक समस्त पदार्थों का अनुभवरूप सच्चिदानन्दस्वरूप चेतनब्रह्म परम शिव परमेश्वर ही निजा, परा सूक्ष्मा शक्ति-रूपों के द्वारा, समस्त पिण्डों सचराचर का परमाधार है। शिवशक्ति का सहज सामरस्य-अभिप्रेत शिवशक्तिस्वरूप सम्पूर्णनाथ का स्तवन है—

निर्गुणं वामभागे च सव्यभागे अद्‌भुता निजा।
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथायते नमः॥ (गोरक्षसिद्धान्त संग्रह-१)

जिनकी बायीं ओर निर्गुण स्वरूप (ब्रह्म) और दाहिनी ओर अद्‌भुत निजाशक्ति-इच्छाशक्ति (परमेश्वरी पराम्बा महामाया) और मध्य में सर्वाधार द्वन्द्वातीत (अलख निरञ्जन द्वैताद्वैत-विवर्जित स्वरूप) विद्यमान हैं, उन श्रीनाथ (आदिब्रह्म, आदिनाथ परमेश्वर) को नमस्कार है। हठयोग प्रदीपिका के रचयिता ने नादबिन्दुकलात्मा शिवस्वरूप गुरु को नमस्कार किया है कि उनकी उपासना से योगी निरञ्जन पद प्राप्त करता है—

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने।
निरजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः॥ (हठयोग प्रदीपिका ४१२)

अखण्ड ज्ञान स्वरूप निरञ्जन ही सर्वभावपदातीत हैं। यह द्वैताद्वैत विवर्जित शिवस्वरूप परमात्मतत्त्व ही नाथयोग का प्राणामृत है। इसी मूल तात्त्विक सिद्धान्त के आश्रय से नाथयोगी पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता का सिद्धरूप योगसाधना द्वारा प्रस्तुत करता है। हठयोग के आदिप्रणेता भगवान् शिव माने जाते हैं। उन्हीं की परम्परा को महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ, महास्वामी महायोगी गोरक्षनाथजी, मीननाथ, चौरंगीनाथ, स्वात्माराम आदि से लेकर भर्तृहरि एवं गोपीचन्द पर्यन्त नाथों ने जीवित रखा है। हठयोग से हम शरीर को स्वस्थ बनाकर राजयोग का पात्र बनाते हैं। जैसा कि स्वयं हठयोग प्रदीपिकाकार स्वात्माराम जी ने कहा है, 'केवल राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते'—केवल राजयोग में प्रवेश के लिए ही हठयोग का उपदेश किया जाता है। क्योंकि मन का शरीर पर और शरीर का मन पर प्रभाव पड़ता है। यदि हमारा शरीर स्वस्थ नहीं है तो उसका मन पर असर पड़ना स्वाभाविक है। योग शब्द वेदों, उपनिषदों, गीता एवं पुराणों आदि में अति पुरातन काल से व्यवहृत होता आया है।

भारतीय दर्शन में योग एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। योगदर्शन के उपदेष्टा महर्षि पतञ्जलि ने योग शब्द का अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध बताया है, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' श्री वेदव्यासजी अपने योगभाष्य में योग की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'योगः समाधिः योगदर्शन व्यासभाष्य।' योग समाधि है, जिसमें समस्त आधि-व्याधियों का, अशुभ कर्मों का क्षय हो जाता है। व्याकरण शास्त्र में योग शब्द की उत्पत्ति् युज् धातु से होती है। महर्षि पाणिनि के धातु पाठ के दिवादीगण में युज समाधौ, रुधादिगण में युजिर्योगे तथा चुरादिगण में युज् संयमने अर्थ में युज् धातु आती है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि संयमपूर्वक साधना करते हुए आत्मा का परमात्मा के साथ योग करके जोड़कर समाधि का आनन्द लेना योग है। जैनाचार्यों के अनुसार जिस साधना से आत्मा की सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह योग है। पुनः जैन दर्शन में मन-वाणी एवं शरीर की वृत्तियों को भी कर्मयोग कहा गया है।

२०वीं सदी के महान् योगी श्री अरविन्द के अनुसार परमदेव परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना तथा इसे प्राप्त करना ही सब योगों का स्वरूप है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति केवल योग से होती है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र का स्वरूप बिना योग के ज्ञात व प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए योग परमावश्यक है। श्री दत्तात्रेय योगशास्त्र तथा योगराज उपनिषद् में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग तथा राजयोग के रूप में योग के चार प्रकार माने गये हैं—

१. मन्त्रयोग—मातृकादियुक्त मन्त्र को १२ वर्ष तक विधिपूर्वक जपने से अणिमा आदि सिद्धियाँ साधक को प्राप्त हो जाती हैं।

२. लययोग—दैनिक क्रियाओं को करते हुए सदैव परमात्मा का चिन्तन करना लययोग है।

३. हठयोग—विभिन्न मुद्राओं, आसनों, प्राणायाम एवं बन्धों के अभ्यास से शरीर को निर्मल एवं मन को एकाग्र करना हठयोग कहलाता है।

४. राजयोग—यम, नियमादि के अभ्यास से चित्त को निर्मल कर ज्योतिर्मय आत्मा का साक्षात्कार करना राजयोग कहलाता है। राजयोग शब्द राजृदीप्तौ धातु से निष्पन्न होता है। राज का अर्थ है दीप्तिमान ज्योतिर्मय तथा योग का अर्थ समाधि अथवा अनुभूति से है।

बिना हठयोग के राजयोग सिद्ध नहीं होता है और बिना राजयोग के हठयोग सिद्ध नहीं होता। हठ का अर्थ है, 'हकारः कीर्तितः सूर्यः ठकारश्चन्द्रः उच्यते'। हकार सूर्यनाड़ी का प्रतीक है तथा ठकार चन्द्रनाड़ी का प्रतीक है। सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी के योग से हठयोग शब्द निष्पन्न होता है। सूर्य, चन्द्र नाड़ी हमारे शरीर में ही विराजमान हैं। इन्हीं के द्वारा हमें जीवनी शक्ति प्राप्त होती है। सूर्य नाड़ी का तात्पर्य अग्निशक्ति, अर्थात् बल-पराक्रम, शौर्य-वीर्य तथा दूसरी सोमशक्ति—श्रद्धा, शान्ति, धैर्य, सौहार्द, प्रेम, सहानुभूति, करुणा, ममता। ठीक उसी प्रकार से हमारे शरीर में सूर्य और चन्द्र स्वर हैं। चन्द्र स्वर सोम का प्रतिनिधित्व करता है। इससे व्यक्ति में श्रद्धा, दया, ममता, आनन्द, इच्छाशक्ति जागृत होती है। सूर्यस्वर शौर्य, वीर्य, पराक्रम एवं इच्छाओं की पूर्ति की क्षमता से परिपूर्ण है। इन दोनों शक्तियों के सम और सन्तुलित होने से तीसरी शक्ति का जागरण होता है जो इन दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है, इसे सुषुम्ना कहते हैं। इन्हीं स्वरों को हठयोग में गंगा, यमुना और सरस्वती के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। इड़ा अर्थात् वाम नाड़ी भगवती गंगा है, पिंगला अर्थात् दक्षिण नाड़ी यमुना नदी है। इन इड़ा और पिंगला के मध्य नाड़ी सुषुम्ना है, जिसे सरस्वती एवं कुण्डलिनी नाम से भी जाना जाता है। महान् योगी श्री गुरु गोरक्षनाथजी की शिष्य परम्परा के महान् हठयोगी स्वात्मारामजी के अनुसार सुषुम्ना शाम्भवी शक्ति है, जिसके जागने के उपरान्त मानव महामानव की यात्रा पर चल पड़ता है। भगवान् शिव जगदम्बा पराम्बा राजराजेश्वरी माँ पार्वती से कहते हैं कि जब गुरुकृपा से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है, तब मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपुर अनाहद विशुद्ध आज्ञाचक्र अन्त में जहाँ परमपिता परमात्मा विराजमान हैं, सहस्रदल कमल में, वहाँ कुण्डली का लय हो जाता है। अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन ही हठयोग है—

''सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागृति कुण्डलिनी।
तदा सर्वाणि पद्मानिभिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि॥''

□

नाथयोग और भारतीय सन्त साहित्य

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि समूचा भारतीय सन्त-साहित्य नाथ-योग से प्रभावित है। कुछ भाषाओं में तो निर्गुण सन्तमत को नाथयोग का ही परवर्ती प्रवाह स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिए हिन्दी का निर्गुण सन्तमत नाथयोग और वैष्णव-भक्ति के संश्लिष्ट स्वरूप को व्यक्त करता हुआ अपने मूल रूप में नाथयोग ही है। इसी प्रकार महाराष्ट्र के सर्वमान्य भक्तिसम्प्रदाय—वारकरी को व्यापक प्रतिष्ठा दिलाने वाले सन्त ज्ञानेश्वर और सन्त नामदेव, दोनों ही नाथयोग से प्रभावित हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने तो अपनी गुरु परम्परा का आरम्भ आदिनाथ से माना है। मराठी के आदि कवि श्री मुकुन्दराज (सन् ११२८-१२०० ई.) ने भी अपनी गुरु परम्परा आदिनाथ से ही मानी है। इससे यह तो प्रकट ही है कि महाराष्ट्र का सन्तकाव्य नाथ-योग से सीधे सम्बद्ध है। गुजरात के मध्यकालीन सन्तकवियों पर नाथ-योगियों का चाहे सीधा प्रभाव न हो, किन्तु कबीरपन्थ से विशेष प्रभावित होने के कारण यहाँ के सन्तसम्प्रदाय नाथयोग की अनेक तात्त्विक उपलब्धियों को आत्मसात् किये हुए हैं। सिखपन्थ या नानकपन्थ के प्रवर्तक गुरु नानक देव ने 'गोरखहटड़ी' में नाथ-योगियों से ज्ञान-चर्चा की थी। उन्होंने गोरखनाथ के शिष्य 'लोहारीपा' और 'चरपट' का उल्लेख किया है। उन्होंने 'अजपाजप', 'अनाहत नाद', 'षट्कर्म', 'निरञ्जन', 'नाद-बिन्दु', 'सहज', 'शून्य' आदि नाथयोग में प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी किया है। नाथ-योगियों से जो ज्ञान-चर्चा उन्होंने की है, वह 'सिद्ध-गोष्ठी' के रूप में विख्यात है। स्पष्ट है कि उन्होंने नाथयोग की अनेक तात्त्विक बातों को अपने मत में पचा लिया है। योग-साधना का तात्त्विक रूप सभी सिख गुरुओं को स्वीकार्य है। सिखों के अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह कहते हैं कि हे मन! ऐसा योग करो, जिसमें बाहरी दिखावे की आवश्यकता न हो—

रे मन! इहिं विधि जोगु कमाउ।
सिंगी साँच अकपट कण्ठला, धिआन विभूति चढाउ॥
ताती गहु आतम बसि करि कै भिच्छा नाम अधारं।
बाजे परम तार ततु हरि को उपजे राग रसारं॥

(गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता, पृ. २५९)

इससे सिख गुरुओं तथा पंजाबी साहित्य पर नाथयोग के प्रभाव की सूचना मिलती है। राजस्थानी

भाषा में नाथ-मत प्रभावित साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। यों तो राजस्थान में रचित पूरा सन्त-साहित्य नाथ-योग से प्रभावित है किन्तु 'जसनाथी', 'निरञ्जनी' और 'अलखिया' सम्प्रदाय का साहित्य विशेष रूप से योग-साधना को महत्त्व देने वाला है। जोधपुर के महाराजा मानसिंह नाथयोगियों के परम भक्त थे। उनके राजत्वकाल में प्रचुर मात्रा में नाथसाहित्य लिखा गया है। चित्तौड़ के राणावंश की स्वातन्त्र्य -चेतना, दृढ़ता एवं स्वाभिमान के मूल में गुरु गोरक्षनाथ का आशीर्वाद कार्य करता रहा है। राजस्थानी साहित्य पर नाथमत के प्रभाव के सम्बन्ध में अगरचन्द नाहटा का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है—

"राजस्थान में नाथ सम्प्रदाय का भी काफी प्रभाव शताब्दियों से रहा है। गोरखनाथ की ख्याति तो वैसे सारे भारतवर्ष में है पर राजस्थान के सन्त-सम्प्रदायों और लोक-मानस पर उनका काफी प्रभाव रहा है। नाथ सम्प्रदाय की कई शाखाएँ राजस्थान के अलग-अलग स्थानों में प्रभावशाली रही हैं। सन्तवाणी-संग्रह के गुटकों में नाथपन्थी कवियों की वाणियों का संग्रह भी रहता है। ऐसी बहुत-सी प्रतियाँ राजस्थान के संग्रहालयों में हैं।" (राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा, पृ. ११८)। श्री नाहटा का उपर्युक्त कथन इस बात का साक्षी है कि 'राजस्थानी' में नाथपन्थ का साहित्य दो रूपों में प्राप्त है। कुछ तो सीधे नाथमत के विचारों और आचारों को विषय बनाकर लिखा गया है और कुछ राजस्थान में प्रचारित और विकसित सन्त-सम्प्रदायों में अन्तर्भुक्त हो गया है। हिन्दी, मराठी, गुजराती, पंजाबी और राजस्थानी के सन्त साहित्य पर नाथयोग के सन्दर्भ में काफी विचार-विमर्श हो चुका है। अत: हम यहाँ संक्षेप में तमिल, कन्नड़, मलयालम, बंगला, उड़िया और नेपाली साहित्य की मध्यकालीन सन्तकाव्यधारा पर नाथयोग के प्रभाव की चर्चा करेंगे।

'तमिल' की अपनी समृद्ध सिद्ध-काव्य-पम्परा है। 'तमिल' सिद्ध कवियों के सिद्धान्त नाथ-सिद्धों से मिलते-जुलते हैं। 'तिरुमूलर' तमिल के आदि सिद्ध कवि हैं। इनकी परम्परा में १८ सिद्ध कवियों का उल्लेख मिलता है। 'तिरुमूलर' का समय निर्दिष्ट नहीं है। उन्हें प्राय: ईसा के जन्म से ६००० वर्ष पूर्व का बताया गया है। कुछ लोग उन्हें ८०० ई. में उत्पन्न मानते हैं। 'तिरुमूलर' की परम्परा में इराभत्तेवर, कुम्बमुनि, इडैक्काडर, तन्वन्तरि, वान्मीहि, कमलमनि, पोहनादर मंचमुनि, कोंगणर पदंजलि, नदित्तेवर, पोदगुरु, पाम्बादिटचित्तर, चट्टैमुनि, सुन्दरानन्दत्तेवर, कुदम्वौचित्तर और कोरवकर का उल्लेख किया जाता है। 'कोरवकर' ही गोरखनाथ हैं। 'तिरुमन्दिरम्' तमिल सिद्धों का मूल ग्रन्थ है। इसमें जीवन की अनित्यता, अहिंसा, तीर्थखण्डन, अष्टांगयोग, नाद-बिन्दु, ॐकार की व्याख्या, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों का रहस्य, षट्चक्र-विवरण, त्रिगुण-निर्गुण-स्पष्टीकरण, ज्योतितत्त्व विवेचन, मौन समाधि, वैराग्य-भक्ति-ज्ञान से शिवत्व-प्राप्ति आदि बातों का विस्तार से विवेचन किया गया है। तमिल के इतिहासकार यह मानते हैं कि इन सिद्ध कवियों में दो चीन के भी थे—पोह्वर और पुलिप्पाणि। इससे यह ज्ञात होता है कि सिद्धमत का प्रसार-प्रचार गोरखनाथ के समय में चीन देश तक हो गया था। यदि उत्तर भारत के गोरक्षनाथ और तमिल सिद्धों के 'कोरवकर' एक ही व्यक्ति हैं तो यह मानना होगा कि गोरक्षनाथ का प्रभाव सुदूर दक्षिण के सन्तों पर भी पड़ा है। (तमिल सिद्धों का परिचय डॉ. सु. शंकरराजू नायडू के 'तमिल के सिद्धकवि-तमिल चित्तरहल' शीर्षक लेख के आधार पर दिया गया है।)

कन्नड़ का मध्यकालीन साहित्य नाथयोग से विशेष रूप से प्रभावित है। कर्नाटक की परम्परा

के अनुसार गोरखनाथजी कर्नाटक के ही थे और उनका जन्म उत्तर कर्नाटक के पट्टकल्लु नामक गाँव में हुआ था। दक्षिण कन्नड़ जिले के मंगलूर के पास कदरी में आज भी गोरखपन्थियों का एक मठ है। कहा जाता है कि गोरखनाथ ने यहाँ आकर यहाँ के बौद्ध विहार को गोरखपन्थी मठ के रूप में परिवर्तित किया था। इस मठ के ताम्र लेख से इसका समर्थन होता है (हिन्दी एवं कन्नड़ साहित्य की प्रमुख धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. २१९)। गोरखनाथ कर्नाटक के रहे हों या न रहे हों, यह निर्विवाद है कि कन्नड़ का 'वीरशैव सम्प्रदाय' नाथमत से पूर्णतः प्रभावित है। इस सम्प्रदाय को पुनर्जीवन प्रदान करने वाले बसवेश्वर थे। बसवेश्वर के धर्म-सम्बन्धी विचार ठीक वैसे ही हैं, जैसे गोरखनाथ के। नाथमत से इस सम्प्रदाय की तुलना भी की गई है। बसवेश्वर के गुरु 'प्रभुदेव' या 'अल्लम प्रभु' का नाम नाथसिद्धों की सूची में भी आता है।

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोड़ाचौली च टिंटिणिः।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा॥ (हठयोग प्रदीपिका १/८)

'प्रभुदेव' या 'अल्लम प्रभु' को गोरखनाथ का प्रतिद्वन्द्वी भी माना जाता है। प्रभुदेव की जो जीवनी 'प्रभुलिंग लीलें' नाम से लिखी गई है, उसमें गोरखनाथ से उनकी एक मुठभेड़ का भी उल्लेख है। कहा जाता है कि अल्लम प्रभु ने गोरखनाथ पर जब तलवार का वार किया तो तलवार खनखनाकर रह गई और उन्हें लगा जैसे वह वज्र से टकरा गई हो। इसके बाद गोरखनाथ ने जब अल्लम प्रभु पर तलवार का वार किया तो तलवार हवा में लहराकर रह गई। इससे इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वीरशैवों के पहले कर्नाटक में नाथयोगियों का प्रभाव था। उन्हें अपदस्थ करने में वीरशैवों को घोर प्रयत्न करना पड़ा होगा। इसके बावजूद दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वे नाथ-योगियों से अलग किसी मौलिक तत्त्व की स्थापना नहीं कर सके। दोनों की विस्तारपूर्वक तुलना करने के बाद डॉ. हिरण्यमय ने कहा है—''वीरशैव तथा नाथ सम्प्रदाय के दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इन दोनों सम्प्रदायों के साधना-मार्ग में बहुत साम्य है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दोनों सम्प्रदायों के आराध्य देवता निर्गुण निराकार 'परमशिव' हैं। जीव और शिव के मिलन को ही 'समरस' कहा जाता है, जो दोनों सम्प्रदायों का चरम लक्ष्य है। यदि वीरशैव भक्ति-साधना पर बल देते हैं तो नाथयोगी काया-साधना को महत्त्व देते हैं।'' (कन्नड़ साहित्य सौरभ, पृ. १५१)

मलयालम में 'वीरशैव मत' की भाँति नाथमत-प्रभावित कोई सम्प्रदाय तो नहीं चला, किन्तु वहाँ के मध्यकालीन भक्ति-साहित्य को नाथयोग ने बहुत गहरे जाकर प्रभावित किया है। मध्यकाल में आचार्य तुन्चत्तु एषुत्तच्छन (जन्म १५२६ ई.) मलयालम के महान् कवि एवं अध्यात्मवेत्ता हो गये हैं। ये बहुअधीत साधक थे। अध्यात्मरामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, देवी-माहात्म्य, ब्रह्माण्ड पुराण, हरिनाम-कीर्तन, चिन्तारत्न आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं (मलयालम साहित्य का इतिहास, पृ. २४)। लगता है कि तुन्चत्तु एषुत्तच्छन ने किसी योगी का साथ अवश्य किया था। प्रो. एन. रामन नायर के अनुसार महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा चिन्तारत्न, इन तीन कृतियों में स्थान-स्थान पर नाथयोग के तत्त्व लक्षित होते हैं। 'महाभारत' के शान्तिपर्व में कवि ने योग की विशद व्याख्या की है। आसन और प्राणायाम के साथ

ही कुण्डलिनी जागरण, षट्चक्रभेदन तथा शिव-शक्ति-सामरस्य का विवेचन भी इस ग्रन्थ में मिलता है। इसी प्रकार 'श्रीमद्भागवत' में हठयोग की प्रचुर सामग्री प्राप्त है। 'चिन्तारत्न' में तो योग को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। प्रो. एन. रामन नायर का निष्कर्ष है कि ''केरल में भी नाथसम्प्रदाय के योगियों की चर्चा थी और योगी-सम्प्रदाय प्रचलित थे। तमिलनाडु और केरल के सिद्ध हठयोगविद्या के सहारे अपने को जीवन्मुक्त बना लेते थे और अपनी साहित्यिक रचनाओं में भी इस शास्त्र की चर्चा करते थे। गुरु की महिमा दक्षिण में अब भी प्रकीर्तित है। प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों में योग-शास्त्र ने अपनी व्यापक जड़ें जमा ली हैं। इसी कारण मध्यकालीन मलयालम-साहित्य में भी अन्य सभी सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए योग-सिद्धान्तों को सर्वोत्तम स्थान प्रदान किया गया है।'' (गोरक्षपीठ एवं गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित गोष्ठी में पठित निबन्ध।)

उड़िया भाषा में नाथसाहित्य की रचना प्रचुर परिमाण में हुई है। उड़ीसा के प्रायः सभी जिलों में नाथमत के अनुयायी पाये जाते हैं। बौद्ध सिद्धों के सहजिया धर्म के चर्यापदों का प्रचार मन्द होने पर उड़ीसा में नाथ-योग सम्बन्धी रचनाओं का प्रचार बढ़ा है। उड़िया में नाथ-योग की प्राचीनतम पोथी गोरखनाथ रचित 'शिशुवेद' मानी जाती है। इसकी रचना बारहवीं शती में हुई होगी, ऐसा अनुमान है। यह भी कहा जाता है कि स्वयं भगवान् शिव ने पंचम वेद के रूप में 'शिशुवेद' की रचना की है। 'शिशुवेद' उपलब्ध नहीं है। सारलादास रचित 'महाभारत' में 'शिशुमना' या 'शिशुम्ना' वेद के नाम से उसका विस्तृत परिचय दिया गया है। 'शिशुवेद' या 'शिशुमुनावेद' में वस्तुतः 'सुषुम्ना' नाड़ी के माध्यम से कुण्डलिनी जागरण, चक्रभेद और शिवस्थानगमन का विस्तृत वर्णन किया गया है। डॉ. अजयकुमार पट्टनायक का कथन है—'''शिशुवेद' योग-तत्त्व सम्बन्धी एक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है, जो नाथ धर्माचार्यों के कायासाधन में मार्ग-दर्शक साबित होता था। 'शिशुवेद' की महान् आध्यात्मिकता, अद्भुत योग-साधना-प्रणाली तथा इसमें निहित कूट भाषा का प्रभाव समग्र उड़िया सन्त-साहित्य में देखा जा सकता है।'' (उपर्युक्त गोष्ठी में पठित निबन्ध, पृ. २)

'सारला' महाभारत के बाद 'रुद्रसुधानिधि' ग्रन्थ प्राप्त है, जिसमें हठयोग का प्रामाणिक विवेचन किया गया है। इसी क्रम में 'पंचसखा-साहित्य', 'शून्य संहिता', आदि ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनमें भी नाथयोगियों एवं उनके सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा है। उड़ीसा में गोरखनाथ के नाम से 'अष्टांगयोग', 'सप्तांगयोग' एवं 'सप्तांग' ये तीन ग्रन्थ भी पाये जाते हैं। इन तीनों ही ग्रन्थों में 'हठयोगसाधना' की चर्चा विस्तार से की गयी है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त चन्द्रशेखरनामविरचित गोरखसंहिता' (सोलहवीं शती में रचित) भी उपलब्ध है। इसमें मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरखनाथ की कथा का विस्तृत वर्णन है। सोलहवीं शताब्दी के बाद की उड़िया लिपि में लिखित कुछ हिन्दी रचनाएँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें नाथयोगियों की स्फुट कथाएँ कही गयी हैं। उड़िया के लोक-गीतों में भी गुरु गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख मिलता है। मयूरभंज के राजघराने से सम्बद्ध मल्लिकानाथ के गोरखनाथ के शिष्य होने की कथा भी उड़ीसा में प्रचलित है। इससे प्रमाणित होता है कि उड़ीसा में गुरु गोरखनाथ और नाथयोग का व्यापक प्रभाव रहा है और बौद्ध सहजियों की विकृत साधना को परिष्कृत

करके नाथयोगियों ने जनता और शासक, दोनों के बीच प्रतिष्ठा अर्जित की थी।

उड़िया की ही भाँति बँगला भाषा में भी नाथमत का साहित्य पाया जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सिद्धों का सर्वाधिक प्रचार देश के पूर्वी प्रान्तों, विशेषतः बिहार, बंगाल और उड़ीसा में रहा है। इनमें सरहपा, लुइपा, कान्हपा, जालन्धरपा, शबरपा आदि के साथ 'मीनपा' और 'गोरक्षपा' भी प्रसिद्ध हैं। यह इतिहास स्वीकृत सत्य है कि सिद्धों में स्वीकृत होने पर भी गोरक्षनाथ की साधना भिन्न थी। सिद्धों में अन्ततः यौनपरक साधना का प्रचार अधिक हो गया था। गोरक्षनाथ ने नैतिक जीवन पर बल देकर मनोनिग्रह प्रधान काया-साधना को प्रतिष्ठित किया। सिद्धों का धर्म मुहम्मद गोरी के सेनापति बख्तियार खिलजी का आक्रमण इसीलिए नहीं झेल पाया कि वह यौनपरक एवं विकृत हो गया था। बख्तियार ने बिहार के बौद्ध मठों को तहस-नहस कर दिया था और नदिया के राजा लक्ष्मण सेन को मात्र तेरह सवारों के बल पर भागने को विवश कर दिया था। उसके बाद तो बंगाल का शासन बराबर अस्थिर रहा। अनेक मुसलमान शासक, एक के बाद एक, सत्ता हथियाते और सत्ताच्युत होते रहे। तेरहवीं शती का बंगला साहित्य एक प्रकार से शून्य युग का साहित्य माना जाता है। इस युग में पौराणिक धर्म के साथ महायान बौद्ध धर्म की परवर्ती धारा भी बंगाल में प्रवाहित होती रही, इसी के साथ नाथयोगी मत का प्रचार भी तेजी से हुआ। श्रीब्रजनन्दन सिंह ने 'बंगला भाषा की भूमिका' में 'गोरखबानी' के कुछ पदों को उद्धृत करते हुए उन पर बंगला भाषा का गहरा प्रभाव लक्षित किया है। पद इस प्रकार है—

दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा सुरति लुकाइबा कान।
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रह गया पद निर्वान॥
अहंकार तुटिबा निरकार फुटिबा, सोषीला संग जमुन का पानी।
चन्द सुरज सनमुषि राखीला, कहो हो अवधू तहाँ को सहिनाणी॥
सोने रूपै सीझै काज। तौ कत राजा छाँड़े राज।
पसुवा होई जपै नहि जाप। सो पसुवा भोंषि क्यों जात।
आओ देवी बैसो। द्वादिस अंगुल पैसो।
पैसत पैसत होइ सुष। तब जनम-जनम का जाइ दुष।

उपर्युक्त पदों के सम्बन्ध में श्री ब्रजनन्दन सिंह की टिप्पणी है—

''लक्षणीय है कि 'लुकाइबा', 'तुटिबा' जैसोर जिले का खास प्रयोग है। 'सिझै काज' यानी काज सिद्ध हो, यह भी बंगला का खास प्रयोग है और अन्तिम पद का सीधे बंगला अनुवाद हो सकता है—

एसो देवी, बसो, द्वादश आंगुले पशो।
पशिते पशिते होबे सुख। तखन जनम मरणेर जावे दुख॥

गोरखनाथजी की भाषा का बंगला भाषा के सन्निकट होना इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने या उनके विचारों के प्रचारक नाथयोगियों ने बंगाल में नाथपन्थ का व्यापक प्रचार किया था और तेरहवीं शती के आरम्भ से सोलहवीं शती तक बंगला लोकभाषा में नाथमत के पोषक विचार व्यक्त किये गये थे। मूलाधारस्थित कुण्डलिनीशक्ति के उर्ध्वगति प्राप्त कर शिवधाम में जाने और सहस्रार में स्थित शिव

से मिलने की भावना का बंगला साहित्य में इतना प्रचार हुआ था कि परवर्ती वैष्णव साहित्य में श्रीराधिका के संकेतकुंज में जाकर कृष्ण से मिलने का वर्णन ठीक उसी पद्धति पर किया गया, जिस पद्धति पर शक्ति-शिव-मिलन एवं सामरस्यप्राप्ति का वर्णन नाथमत में किया गया था।

भारत के पड़ोसी राज्य 'नेपाल' में नाथमत का न केवल प्रभाव पड़ा है, वरन् उसकी स्थापना और विकास में भी गोरक्षनाथ का आशीर्वाद ही कार्य करता रहा है। इस राज्य के प्रथम प्रतापी राजा द्रव्यशाह वि. सम्वत् १६२० में सिंहासनारूढ़ हुए थे। इन्हें गोरक्षनाथ का आशीर्वाद प्राप्त था। इसके बाद इस वंश के प्रत्येक राजा ने गोरक्षनाथ का आशीर्वाद किसी-न-किसी रूप में प्राप्त किया। द्रव्यशाह की परम्परा में सम्वत् १७७९ में श्रीपृथ्वीनारायण शाह का जन्म हुआ। इनका जन्म गोरक्षनाथजी की कृपा से ही हुआ था। सम्वत् १७९९ में यह राजसिंहासन पर बैठे थे। इनके समय में ही नेपाल में 'जोसमनी सम्प्रदाय' का प्रचार हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रथम सन्त धिर्जेदिल दास थे। इस सम्प्रदाय का साहित्य नाथमत से पूर्णतः प्रभावित है। इस सम्प्रदाय में गोरक्षनाथ का गुरुवत् समादर है। इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि शशिधर 'हठयोग' की पूरी प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। उन्होंने मानव-शरीर में चक्रों की स्थिति जिस रूप में मानी है, उसकी तालिका इस प्रकार है—(हिन्दी निर्गुण काव्य और नेपाली जोसमनी काव्य, पृ. ९४)

संख्या	चक्र	दल	वर्ण	देवता	अजपार्पण संख्या
१.	मूलाधार	४	लाल	गणेश	१६००
२.	स्वाधिष्ठान	८	पीत	ब्रह्मा	४३००
३.	मणिपूर	१०	नील	विष्णु	४५००
४.	अनाहत	१२	–	शिव	४५००
५.	विशुद्ध	१६	धूम	–	–
६.	आज्ञा	–	–	–	–
७.	सहस्रदल	–	–	–	–

उपर्युक्त तालिका में दिये गये ब्योरे और 'हठयोग' की स्वीकृत प्रणाली में कुछ अवश्य है, किन्तु यह तो निर्विवाद है कि शशिधर 'हठयोग' से अच्छी तरह परिचित और प्रभावित हैं। इस सम्प्रदाय में 'अजय गीता' का प्रचार है। यह एक प्रकार का स्तवन है। इसमें भी हठयोग की पूरी प्रक्रिया का संकेत मिलता है। इसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

पिंगला दक्षिणे मार्गे वाममार्गे तु ईड़या।
वहति सूर्य सोमात्मा सोषिते सिंचिते सदा॥

\+ \+ \+ \+ \+

सर्वांगव्यापिते नाड़ी रसेन्द्रिचित्तचारणि।
सनाड़िरोधिते साधु ज्ञात्वा तेन जयो जय॥
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
सुषुम्णा प्राणगायत्री योगिनां तत्त्वदायिनी॥

उपर्युक्त श्लोकों से प्रकट है कि नेपाल के प्रसिद्ध 'जोसमनी' सम्प्रदाय के सन्त नाथयोग की साधना से पूर्णतः प्रभावित थे। वस्तुतः नेपाल की पूरी संस्कृति पर नाथयोग की साधना का गहरा प्रभाव है। यदि कहा जाए कि 'कश्मीर' से लेकर 'असम' तक पूरे पहाड़ी अंचल पर नाथ-साधना का गहरा प्रभाव है, तो अत्युक्ति न होगी। उपर्युक्त सर्वेक्षण के आधार पर यह पूरे विश्वास से कहा जा सकता है कि बौद्धों का प्रभाव कम होने पर पूरे देश में नाथमत छा गया था। इसलिए भारतवर्ष की सभी भाषाओं में दसवीं से चौदहवीं शती तक नाथयोग प्रभावित साहित्य लिखा गया। इसके अतिरिक्त पूरे देश का लोक-साहित्य भी नाथमत से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हुआ है। हिन्दी, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, गढ़वाली आदि सभी भाषाओं के लोकसाहित्य में गुरु गोरखनाथ या भर्तृहरि या मत्स्येन्द्रनाथ या गोपीचन्द के गीत मिलते हैं। इन गीतों का संग्रह स्वतन्त्र अध्ययन और अनुसन्धान की वस्तु है। आवश्यकता इस बात की है कि इस पूरे साहित्य को समय रहते संगृहीत कर लिया जाय। (योग के विविध आयाम से)

□

नाथपन्थ का सन्तमत पर प्रभाव

सन्त कबीर (सम्वत् १४५६ से १५७५ वि.) से आरम्भ होने वाले निर्गुण सन्तमत को नाथपन्थ का विकसित रूप स्वीकार किया जाता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भोटिया साहित्य के अनुशीलन के आधार पर सिद्धों की काव्यधारा का प्रवाह बारहवीं शताब्दी तक स्वीकार करते हुए कबीर का सिद्धों से सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव किया था, किन्तु पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय ने सिद्धों के बाद नाथ सम्प्रदाय के साहित्य को विकास की मध्यवर्ती कड़ी मानकर सिद्ध-काव्यधारा को कबीर से विश्वासपूर्वक जोड़ दिया। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने गोरखबानी की भूमिका में उपर्युक्त तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा—"जो बात राहुलजी को कठिन जान पड़ी वही उपाध्यायजी को इसलिए सरल लगी कि उनके सामने 'हिन्दी-काव्य में योग प्रवाह' शीर्षक मेरा निबन्ध था जो राहुल जी के सामने नहीं था। इस निबन्ध में मैंने पहले-पहल नाथ-योगियों और उनकी कविता का परिचय दिया था। इस संक्षिप्त परिचय से विद्वानों ने मान लिया कि नाथ-योगियों की 'बानियाँ' हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास की लड़ी में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।"[१] पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाथ-योग और सन्त-मत का सम्बन्ध स्थापित करते हुए लिखा है—"भक्तिवाद के पूर्व निस्सन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था। इसीलिए भक्तिवाद में इनके शब्द और मुहावरे ही नहीं, इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गयी है।"[२] बाद के सभी लेखकों ने यह स्वीकार किया कि नाथ-मत का सिद्धान्त और साधन दोनों ही दृष्टियों से सन्तमत पर पर्याप्त प्रभाव है। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार, "सन्तों की साखियों तथा बानियों के पूर्व रूप हमें नाथपन्थियों की 'सबदियों' तथा 'जोगेसुरी' बानियों में दीख पड़ते हैं जिनके विषय लगभग एक ही ढंग के हैं।"[३] इधर नाथ-मत और सन्त-मत के सम्बन्ध में तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करने वाले दो शोध-निबन्ध—'नाथ और सन्त साहित्य' (१९६६ ई., नागेन्द्रनाथ उपाध्याय), 'नाथपन्थ और निर्गुण सन्त काव्य' (१९६६ ई., कोमल सिंह सोलंकी) भी प्रकाशित हुए हैं। अतः यह तो निर्विवाद है कि निर्गुण सन्तमत नाथ-मत से प्रभावित हैं किन्तु इस सम्बन्ध में तीन बातें विचारणीय हैं। पहली बात तो यह ध्यान देने की है कि नाथ-मत ने सन्तमत को उस रूप में प्रभावित नहीं किया है जिस रूप में दो समानान्तर प्रवाहित विचारधाराएँ परस्पर सम्पर्क में आने पर एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। नाथ-मत और सन्त-मत में पूर्वापर सम्बन्ध हैं। अतः प्रथम प्रकार के प्रभाव की सम्भावना नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह

ध्यान देने की है कि सन्तमत, नाथ-मत का शुद्ध परवर्ती रूप भी नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं है कि नाथमत की परम्परा ही पन्द्रहवीं शताब्दी में सन्त मत के रूप में परिवर्तित हो गयी हो। नाथ-मत की किन्हीं कारणों से, जनता में लोकप्रियता कम हुई और दक्षिण से वैष्णव भक्ति का उदार धार्मिक प्रवाह राघवानन्द और रामानन्द जैसे समन्वयशील महात्माओं के माध्यम से उत्तर भारत में आया। नाथ-मत और वैष्णव-भक्ति के सम्पर्क से योग और भक्ति समन्वित एक नवीन मत विकसित हुआ जिसे मुख्यत: निम्नवर्गीय जनता का समर्थन प्राप्त था। इस योग-भक्ति-समन्वित मत को सामान्यत: सन्त-मत कहा गया। इसलिए सन्त-मत को नाथ-मत से प्रभावित कहने से अच्छा है कि उसे नाथ-मत के लोक-सम्मत स्वरूप से समन्वित कहा जाय। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि सन्तमत पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक अनेक प्रभावों और परिवर्तनों को स्वीकार करके विकसित हुआ है। अत: नाथ-मत का प्रभाव सभी सन्त सम्प्रदायों पर एक जैसा नहीं पड़ा है। परवर्ती सन्तों में कई रामभक्तों की रसिक परम्परा से प्रभावित हैं। कुछ सूफी-साधना की ओर झुके हैं और कुछ कृष्ण-भक्ति धारा के निकट हैं। अत: सन्तमत पर नाथ-पन्थ के प्रभाव की चर्चा करते समय विशेष सतर्कता और सजगता अपेक्षित है।

सन्त-मत पर नाथपन्थ का प्रत्यक्ष प्रभाव है या परोक्ष, यह भी विचारणीय विषय है। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि ''कबीर आदि निर्गुण मतवादी सन्तों की वाणियों की बाहरी रूप-रेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णत: भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों ओर नाथपन्थी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छन्द, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्ग-दर्शक हैं।''[४] दूसरी ओर कुछ ऐसे विद्वान् भी हैं जो कबीरदास में योगमत सम्बन्धी बातों के लिए वैष्णव ग्रन्थों में विवेचित योग-साधना को आधार मानते हैं। वैष्णव ग्रन्थों में 'अहिर्बुधन्य संहिता', 'जयाख्यसंहिता', 'विष्णुसंहिता', 'नारदपंचरात्र' आदि में योगमत का पर्याप्त विवेचन किया गया है। कहा गया है कि ''सन्तों के योग पर पुनर्विचार करने के लिए वैष्णव ग्रन्थों में उपलब्ध योग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और उसका कारण यह है कि इन ग्रन्थों में भक्ति को ही 'उपाय' माना गया है। तन्त्र प्रभावित वैष्णव ग्रन्थों में योग के साधन की परम्परा का विकास आगे रामानुज तथा उनके पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती आचार्यों एवं वैष्णवों में भी दिखायी पड़ता है। कबीर को अधिक सम्भावना है, योग इसी परम्परा से मिला हो।''[५] इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय लेने के लिए स्वयं सन्तों के साक्ष्य को ही प्रमाण मानना उचित होगा। कबीरदास ने नाथमत के अन्यतम प्रचारक युग-पुरुष गोरक्षनाथ के प्रति सम्मान का भाव व्यक्त किया है—

गोरखनाथ न मुद्रा पहिरी मस्तक नहीं मुड़ाया।
ऐसा भगत भया भू ऊपरि गुरु पैं राज छुड़ाया॥[६]

कबीर के बाद भी अनेक सन्तों ने गुरु गोरखनाथ के प्रति पूज्य भाव प्रकट किया है। सुन्दरदास[७], मलूकदास[८], हरिदास[९] (निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त), दुखहरनदास[१०] जैसे सन्तों ने स्पष्ट रूप से गोरखनाथ के प्रति श्रद्धा प्रकट की है। कबीर और दादू की अनेक उक्तियाँ गोरखनाथ की उक्तियों से मिलती-जुलती

हैं। दादूपन्थी सन्तों की वाणियों के संग्रह ग्रन्थ 'सर्वंगी' में गोरखनाथ, भरथरी, चर्पटनाथ और गोपीचन्द की बानियाँ भी संगृहीत हैं। सन्तों की परम्परा में होने वाले 'साधपन्थी' सन्तों की वाणी संग्रहों में भी गोरखनाथ और गोपीचन्द के गीत संगृहीत हैं। सन्तों से मिलते-जुलते 'अघोर पन्थ' को गोरखपन्थ की एक शाखा के रूप में देखा गया है। इससे यह तो प्रकट है कि गोरखनाथ और उनके योगमत को निर्गुण सन्तों ने आदरपूर्वक स्वीकार किया है किन्तु इसके साथ ही वैष्णव परम्परा के आचार्यों में स्वामी रामानन्द के प्रति निर्गुण सन्तों ने उतना ही आदर और सम्मान का भाव व्यक्त किया है।[११]

आरम्भिक सन्तों में कबीर, रैदास, पीपा आदि को तो स्वामी रामानन्द का शिष्य कहा ही जाता है, परवर्ती सन्तों में धरणीदास ने अपनी गुरु-परम्परा स्वामी रामानन्द से ही स्वीकार की है। नाथ-पन्थ और सन्त-मत के बीच की कड़ी के रूप में स्वीकार किये जाने वाले निरञ्जनी पन्थ में प्रेम और योग-तत्त्व के समन्वय की चर्चा करते हुए डॉ. बड़थ्वाल ने सम्भावना व्यक्त की है कि "निरञ्जन पन्थ में प्रेम तथा योग-तत्त्व सम्भवतः रामानन्द या उन्हीं के सदृश किसी सन्त से आए हैं।"[१२]

इससे स्पष्ट है कि निर्गुण सन्तमत के सन्तों में गोरखनाथ के योगमत तथा वैष्णव भक्तों के प्रेम-तत्त्व दोनों के प्रति समान आदरभाव है। सन्तों द्वारा स्वीकृत योग को पूर्ववर्ती वैष्णव आचार्यों द्वारा विवेचित योग-तत्त्व से गृहीत कहना भी साहस का काम है। तन्त्र-शास्त्र से प्रभावित वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्रीय ग्रन्थों—अहिर्बुधन्य संहिता, विष्णुसंहिता, नारदपंचरात्र का अनुशीलन किसी निर्गुण सन्त ने नहीं किया था। स्वामी रामानन्द के माध्यम से इन सन्तों ने भक्ति-तत्त्व और साधना का मर्म प्राप्त किया था। वह मर्म यही था कि 'प्रेम' के अभाव में योग-साधना अपूर्ण है। योग-साधना साधन है, साध्य है भगवत्प्रेम। आज जब हम सन्त-साहित्य का अनुशीलन करते हैं तो यथासम्भव उसे शास्त्र-सम्मत प्रमाणित करना चाहते हैं। सन्तों की साधना एवं सैद्धान्तिक कथन जीवन-अनुभूत हैं। शास्त्रीय ज्ञान उनके लिए कभी भी प्रमाण नहीं रहा है। कबीरदास ने अवधूत योगी को कम नहीं फटकारा है। वैष्णव भक्त उन्हें प्रिय हैं किन्तु ऐसे वैष्णव को जो बाह्याचार को ही महत्त्व देता है कबीर कभी महत्त्व नहीं देते। सन्त-मत के प्रथम उन्नायक सन्त कबीर तथा उनके अनुयायी परवर्ती सन्तों में नाथ-मत का प्रभाव देखने के पूर्व आवश्यक है कि हम कबीर के उन कथनों पर भी दृष्टिपात कर लें जिनमें उन्होंने योगियों को भी भ्रान्त बताया है। वे कहते हैं—

कहैं कबीर जोगी अरु जंगम ए सब झूठी आसा।
रामहिं नाम रटौ चात्रिग ज्यों निहचै भगति निवासा॥[१३]
बुत पूजि पूजि हिन्दू मूए तुरुक मुए हज जाई।
जटा धारि धारि जोगी मूए तेरी गति किनहुँ न पाई॥[१४]
बन खण्ड जाई जोगु तपु कीन्हा कन्द मूल चुनि खाया।
नादी वेदी सबदी मोनी जमु कै पटै लिखाया॥[१५]
जोगी दुखिया जंगम दुखिया तपसी कौं दुख दूना हो।
आसा त्रिसना सबकौं व्यापै कोई महल न सूना हो॥[१६]

राज करन्ता राजा जाइया रूप दिपन्ती रानी।
जोग करन्ता जोगी जाइगा कथा सुनन्ता ग्यानी॥[१७]
जोगी जती तपी सन्यासी बहु तीरथि भ्रमना।
लुंचित मुण्डित मोनि जटाधर अन्ति तऊमरना॥[१८]
पीर मुवा पैगंबर मूवा मूवा जिन्दा जोगी।
राजा मूवा परजा मूवा मूवा वैद और रोगी॥[१९]
जोगी गोरख गोरख करै हिन्दू राम नाम ऊचरै।
मुसलमान कहै एक खुदाई कबीर का स्वामी (घटि घटि) रह्यो समाई॥[२०]
नांगे फिरे जोग जौ होई। बन का मिरग मुकुति गया कोई।
बिन्दु राखि जौ तरिऐ आई। तौ खुसरै क्यूँ न परम गति पाई॥[२१]
जोगी कहहिं जेगु भल मीठा और न दूजा भाई।
लुंचित मुण्डित मोनि जटाधर एहि कहिहिं सिधि पाई॥[२२]

उपर्युक्त उद्धरणों पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि कबीर की दृष्टि में जोगी साधक भी सत्य से उतने ही दूर थे जितने यती, तपस्वी, मौनी, संन्यासी, पीर, मूर्ति-पूजक हिन्दू या एकेश्वरवादी मुसलमान। योगियों से आशा करना व्यर्थ है। योगी भी जटा बढ़ाने में ही योग की सार्थकता देखते हैं। इससे मृत्यु से रक्षा नहीं हो सकती। योगी भी दुखी हैं। नंगे घूमने से मुक्ति नहीं हो सकती। जिन्दा समाधि लेने से भी मुक्ति सम्भव नहीं है। मात्र गोरखनाथ की रट लगाने से सिद्धि नहीं मिल सकती। 'बिन्दु' की रक्षा से भी मोक्ष सम्भव नहीं है। ये सारे कथन तत्कालीन योगी साधुओं के विरुद्ध पड़ते हैं। स्पष्ट है कि सन्त कबीर के समक्ष जो योगी सम्प्रदाय था उसे वे अनुकरणीय नहीं मानते थे। ठीक उसी प्रकार वे वैष्णवों के बाह्याचार के भी विरोधी थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

(कबीर) वैसनों हुआ त किया भइआ माला मेलीं चार।
बाहरि कंचनु बारहा भीतरि भरी भंगार॥[२३]

ऐसी स्थिति में जब कबीर और उनके अनुयायी सन्तों पर नाथपन्थ के प्रभाव की बात की जाती है तो उसका एक ही अर्थ होता है कि सन्त कबीर तथा उनके परवर्ती अन्य सन्तों की बानियों में ऐसी अनेक बातें हैं जो नाथपन्थ में भी मान्य हैं। कबीर एक सच्चे साधक थे। गोरखनाथ के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव था। गोरखनाथ ने भी अपने समय में अनेक साधनाओं कें समाविष्ट अवांछित आचारों का निषेध किया था, विशेषतः व्रजयानियों ने मुद्रा-साधना के नाम पर जो उच्छृंखल यौन सम्बन्ध-स्थापना की परम्परा चलाई थी उसका प्रबल विरोध गोरखनाथ ने किया था। गोरखबानी में शारीरिक भोग-विलास की तीव्र भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं—

भोगिया सूते अजहूँ न जागे। भोग नहीं ने रोग अभागे।
भोगिया कहें भल भोग हमारा। मनसई नारि किया तन छारा॥
एक बूँद नर नारी रीधा। ताही मैं सिध साधक सीधा।[२४]

कबीरदास ने भी शुद्ध आचरण पर बल दिया था। मन की शुद्धि के अभाव में कोई भी साधना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सन्त-साहित्य में नाथ-मत के चिन्तन और साधना का स्वर कई स्तरों पर लक्षित किया जा सकता है। नीचे कुछ ऐसे प्रमुख आधार प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिन्हें लेकर नाथ-मत और सन्त-साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा सम्भव है—

१. गुरु का महत्त्व
२. साधना पद्धति
३. तत्त्व-चिन्तन
४. रहस्यानुभूति
५. नैतिक और सामाजिक मूल्य
६. भाषा और शैली

गुरु का महत्त्व

नाथ-मत में गुरु का महत्त्व सर्वमान्य है। वस्तुतः गुरु का महत्त्व तान्त्रिक साधना की देन है। मन्त्र-योग संहिता में कहा गया है—

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन॥

गोरखनाथ ने भी कहा है—

गुर कीजै गहिला, निगुरा न रहिला।
गुर बिन ग्यान न पायला रे भाईला॥

अन्यत्र गुरु को शरीरस्थ देवता बनाते हुए वे कहते हैं—

गुरुदेव स्वयं देव सरीर भीतरिए।
आत्मा उतिम देव ताही की न जाणौं सेव।
आन देव पूजि-पूजि इमहि मरिए॥

गोरख-सिद्धान्त-संग्रह में कहा गया है—

"दुर्लभा सहजावस्था सदगुरोः करुणां बिना"

कबीरदास ने 'सतगुर महिमा कौ अंग' में विस्तार से गुरु का माहात्म्य गान किया है। उनकी दृष्टि में सतगुरु के समान कोई सगा नहीं है। वह संशय को मिटाने वाला है। वह सिकलीगर के समान है जो शब्द-ज्ञान के द्वारा चित्त को दर्पण के समान साफ कर देता है। वह भवसागर से पार लगाने वाला है। वह विवेक जागृत करने वाला है और पथ-प्रकाशित करने के लिए ज्ञान का दीपक प्रदान करने वाला है। गुरु अध्यात्म के बीज को अपने उपदेशों की वृष्टि से अंकुरित करने वाला है। वह गोविन्द को लक्षित कराने वाला है। हरि के रूठने पर गुरु शरण देने वाला है किन्तु गुरु के रूठने पर कोई शरण देने वाला नहीं है। अन्ततः वे यहाँ तक कह देते हैं—

सतगुरु की महिमा अनन्त अनन्त किया उपगार।
लोचन अनन्त उधारिया अनन्त दिखावन हार॥

परवर्ती सन्तों में भी गुरु का महत्त्व कुछ बढ़ा ही है, घटा नहीं है। दादू ने 'गुरुदेव जी कौ अंग' में गुरु को निरञ्जन रूप मानकर नमस्कार किया है। उसे मार्ग-दर्शक बताया है। उसे सभी प्रकार के कपाटों को खोलने वाला कहा है। उसे 'अमर अलेष' के आसन के निकट पहुँचाने वाला बताया है—

दादू उस गुरदेव की मैं बलिहारी जाउँ।
जहाँ आसन अमर अलेष का ले राषे उस ठांउँ॥

उनके अनुसार भक्ति और मुक्ति के भण्डार को देने वाला तथा सहज ही साहब का दीदार कराने वाला 'सतगुर' ही है—

सतगुर मिलै त पाइये भगति मुकति भण्डार।
दादू सहजै देनिये साहिब का दीदार॥

मलूकदास के अनुसार गुरु भ्रम को भगाने वाला तथा मोह को दूर करने वाला है—

भ्रम भागा गुरु बचन सुनि, मोह रहा नहि लेस।

इस प्रकार की उक्तियाँ सभी सन्तों में मिल जाती हैं। सुन्दरदास, दरिया साहब (बिहार वाले), दूलनदास, सहजोबाई, दयाबाई, पलटू साहब आदि अनेक सन्तों ने मुक्त हृदय से गुरु का महत्त्व प्रतिपादित किया है। योग-मत और सन्त-मत दोनों में गुरु के महत्त्व प्रतिपादन में अन्तर दिखाते हुए डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने लिखा है—

''नाथों की अष्ट परीक्षा और ३२-३६ लक्षणों की व्यवस्था पर आधारित गुरु-शिष्यवाद और अधिकार भेदवाद सन्तों में उपलब्ध नहीं, यद्यपि गुरु-शिष्य के लक्षणों, पात्रताओं और अधिकारों के संकेत यत्र-तत्र सन्त-साहित्य में मिल जाते हैं।''[२५] डॉ. उपाध्याय द्वारा निर्दिष्ट यह अन्तर लक्षित किया जा सकता है। कारण यह है कि नाथ-योगियों में हठयोग की साधना के लिए प्रत्येक स्तर पर गुरु की आवश्यकता होती थी। 'आसन', 'प्राणायम', 'मुद्रा', 'धौति', 'चक्रभेद', 'नाड़ी-शुद्धि' आदि सभी साधनाएँ सुयोग्य गुरु के निर्देशन में ही की जाती थीं। सन्तों में हठयोग की इन साधनाओं का साम्प्रदायिक विधान नहीं है। नाथ-योग अपेक्षाकृत संगठित सम्प्रदाय था। सन्तों की परम्परा में अनेक छोटे-मोटे सम्प्रदाय कुछ सामान्य विशेषताओं के साथ विकसित हुए। इसलिए साम्प्रदायिक नियमों का अनिवार्य विधान सन्त-मत में नहीं है। गुरु और शिष्य के लक्षणों का संख्याबद्ध निर्धारण सन्त-मत में सम्भव नहीं था। जहाँ तक गुरु के महत्त्व और स्थान का प्रश्न है वह सन्तों में भी किसी प्रकार कम नहीं है।

साधना पद्धति

नाथ-योगियों की साधना मुख्यतः योग-साधना है। योग-साधना की पूर्णता के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा, कुण्डलिनी-जागरण, नाड़ी-शोधन, नादानुसन्धान, पिण्ड-रहस्य आदि की जानकारी योगी के लिए अनिवार्य है। 'आसन' शारीरिक अवयवों का नियमित एवं निर्धारित व्यायाम है। हठयोग के ग्रन्थों

में ४८,००० आसनों का उल्लेख है जिसमें ७४ विशेष उपयोगी समझे जाते हैं। इनमें भी 'सिद्धासन', 'पद्मासन', 'सिंहासन' और 'भद्रासन' को अधिक महत्त्व दिया जाता है। सिद्धासन सर्वोत्तम है। इस आसन में 'प्राणायाम' के द्वारा 'श्वास-क्रिया' पर नियन्त्रण स्थापित करके प्राणतत्त्व को जाग्रत और प्राणिशक्ति को केन्द्रित करते हैं। महामुद्रा की साधना अपेक्षाकृत कठिन है। महामुद्रा साधना के अनेक भेद हैं। इनकी साधना के लिए शरीर की शुद्धता अपेक्षित है। इसके लिए षट्क्रिया-धौति, वास्ति, नेति, त्राटक आदि की व्यवस्था है। मुद्रा-साधना का लक्ष्य मनोभौतिक प्रकृति के अन्तराल में सुप्त आध्यात्मिक शक्ति को जाग्रत करना है। कुण्डलिनी-योग नाथ-परम्परा में महत्त्वपूर्ण माना गया है। ऐसा समझा जाता है कि परम आध्यात्मिक शक्ति मनुष्य मात्र में सुप्तावस्था में विद्यमान है। इस सुप्त सर्पिणी रूपी कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्ना नाड़ी के भीतर से षट्चक्रों को भेदते हुए सुषुम्ना नाड़ी की उच्चतम सीमा पर सहस्रार चक्र में स्थित शिवतत्त्व से मिला देना ही कुण्डलिनी-योग है।

योगशास्त्र के अनुसार शरीर की सभी बाहरी क्रियाएँ एवं चेष्टाएँ तथा आन्तरिक इच्छाएँ शरीरस्थ नाड़ी-मण्डल के द्वारा नियोजित हैं। नाड़ियों की कुल संख्या ७२ हजार है। यह नाड़ी-मण्डल भी इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियों से सम्बद्ध और शासित है। इड़ा और पिंगला दोनों श्वास-क्रिया में संचालित होती हैं। शरीर के भीतर कार्य करने वाली प्राण शक्तियाँ—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—श्वास-क्रिया की नियमित व्यवस्था पर निर्भर करती हैं। नाड़ी-चक्र के दूषित होने से प्राण-शक्ति क्षीण होती है। अतः नाड़ी-शोधन की आवश्यकता पड़ती है। नाड़ी-चक्र के विशुद्ध हुए बिना मनोनिवृत्ति या 'उनमनी' भाव भी सम्भव नहीं है। देह की कृशता, कान्ति, इच्छानुसार वायु धारण करने का सामर्थ्य, अग्निवृद्धि, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य ये सब लक्षण जब आविर्भूत हो जाएँ, तब समझना चाहिए कि सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयी हैं।[२६]

योग-साधना में 'नादानुसन्धान' एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वस्तुतः बद्धजीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इड़ा-पिंगला मार्ग में चल रहा है। उसका सुषुम्ना-पथ बन्द है। जगत् के अन्तस्तल में और आकाशमण्डल में जो अखण्डनाद ध्वनित हो रहा है उसे वह नहीं सुन पाता। जब साधक गुरु-कृपा से साधना-पथ पर अग्रसर होता है और क्रिया-विशेष से सुषुम्ना मार्ग उन्मुक्त हो जाता है तब मन उस सूक्ष्म मार्ग से निरन्तर अनाहत-ध्वनि श्रवण करता हुआ क्रमशः पूर्ण शान्त और स्थिर हो जाता है। इस स्थिति में आहत-ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। अनाहत-ध्वनि श्रवण करते हुए क्रमशः पूर्ण शान्ति प्राप्त करना ही उपाधि-रहित शब्द-तत्त्व 'प्रणव' (ॐकार) को उपलब्ध करना है। योगियों द्वारा अनाहतनाद का अवलम्बन करके 'शब्दब्रह्म' में लीन होना ही नादानुसन्धान है।[२७]

यह सम्पूर्ण विश्व शिव का परपिण्ड है। इसे अनादि पिण्ड भी कहते हैं। शिव-तत्त्व इस अनादि विश्वरूप महासाकार पिण्ड का प्रकाशक, धारण करने वाला और व्यवस्थापक है। इसी साकार पिण्ड से तथा इसी अनादि पिण्डान्तर्गत अगणित जीव-कोटियों की उद्भूति होती है जो उन्हीं तत्त्वों से विरचित, उसी शक्ति से संगठित तथा उसी आत्मा से प्रकाशित है। इन्हें व्यष्टि-पिण्ड कहते हैं। तत्त्वतः महासाकार अनादि पिण्ड और व्यष्टिपिण्ड एक ही हैं। प्रत्येक पिण्डधारी जीव के भीतर शिव-तत्त्व सदैव विद्यमान रहता है। पूर्ण विकसित मनोभौतिक मानव शरीर प्रत्यक्षतः शिव के भौतिक शरीर के स्वाभाविक विकास की उच्चतम

स्थिति है। 'व्यष्टि-पिण्ड' विश्वपिण्ड का संक्षिप्त रूप है। जब दृढ़ विश्वास के साथ यह अनुभूति हो जाती है तब यह समझा जाता है कि पिण्ड का रहस्य ज्ञान हो गया है। जब 'व्यक्ति-आत्मा' और 'विश्वात्मा' तथा व्यष्टि-पिण्ड और समष्टि-पिण्ड का अज्ञान-जन्य भेद मिट जाता है, तभी वास्तविक 'समरसीकरण' की स्थिति समझी जानी चाहिए। योगी के लिए यह पिण्ड रहस्य-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। गोरखबानी में उपर्युक्त सभी साधना-रूपों का उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत हैं—

ऊँकार आछै बाबू मूल मन्त्रधारा।
ऊँकार व्यापीले सकलसंसारा॥
नाद ही तौ आछै बाबू सब कछू निधानां
नाद ही थै पाइये परम पद निरवानां[२८] —नादानुसन्धान
बाई बाजै बाई गाजें बाई पुनि करै।
बाई षट चक्र बेधे अरधै उरधैं मधि फिरै।
सोहं बाई हंसा रूपी व्यंद बहै,
बाई कै प्रसादि व्यंद गुरमषु रहै।[२९] —नाड़ी शोधन
उलटिया पवन षट चक्र वेधिया, तातै लोहे सोषिया पाणीं।
चन्द-सूर दोऊनिज धरि राख्या, ऐसा अलष बिनांणी॥[३०]
—कुण्डलिनी जागरण एवं चक्र वेधन
आऊँ नीं जाऊँ निरञ्जन नाथ की दुहाई।
प्यंड ब्रह्मण्ड वोजन्ता अम्हे सब सिधिपाई॥
काया गढ़ भीतरि देव देहुरा कासी।
सहज सुभाई मिले अविनासी॥[३१] —पिण्डरहस्य ज्ञान

आसन एवं प्राणायाम का उल्लेख तो अनेक स्थानों पर हुआ है। अत: यह तो स्पष्ट है कि नाथ-मत में षडंगयोग के सभी तत्त्व अपने वास्तविक रूप में स्वीकार्य हैं। यह कहना अधिक उचित होगा कि नाथ-मत में हठयोग ने एक निश्चित वैज्ञानिक रूप प्राप्त कर लिया था। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि नाथ-योगी का अन्तिम लक्ष्य राजयोग ही था। राजयोग में चित्त-वृत्ति-निरोध पर बल दिया गया है। काया को कष्ट देकर जो सिद्धि की जाएगी वह महनीय नहीं होगी। गोरखबानी में अनेक स्थलों पर मनोनिग्रह की चर्चा है और उसी पर सर्वाधिक बल दिया गया है।

सन्तों में योग-साधना के उपर्युक्त सभी रूपों में स्फुट उल्लेख हुए हैं। कबीरदास ने मनोनिग्रह करने, मुद्रा साधने, कुण्डलिनी शक्ति को शिव से मिलाने, अनाहत नाद सुनने, शब्द के भुवन-मण्डल-व्यापी स्वरूप को मानव के भीतर लक्षित करके शब्द-साधना करने, अजपाजाप की साधना को महत्त्व देने तथा पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता को स्पष्ट रूप से समझने पर बल दिया है। सुन्दरदास ने तो योग-साधना की पूर्ण पद्धति—अष्टांग योग—का निरूपण किया है। उनके 'ज्ञान समुद्र' के तीसरे उल्लास में योग-शास्त्र का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। चरणदास ने हठयोग के षट्कर्म का विवेचन और

अष्टांग योग का पूरा वर्णन किया है। यह होने पर भी सन्तों की साधना में जो महत्त्व भक्ति का है वह योग का नहीं। समस्त योग-साधना उनके लिए साधन रूप हैं। सन्तों का अपना योग तो 'सहज योग' ही है। कबीर ने 'साधौ सहज समाधि भली' कहकर इस सहजयोग की व्याख्या कर दी है। सच्चा सन्त जो कुछ करता है, वह सभी साधना रूप है। सुन्दरदास ने भी कहा है—

ना मोहि योग यज्ञ की आसा, ना मैं करौ पवन अभ्यासा।
ना मैं कोई आसन साधौं, ना मैं सूती शक्त्याराधौं॥

इसलिए नाथ-मत की साधना और सन्तों की साधना में मौलिक अन्तर है। नाथ-मत में योग-युक्त-ज्ञान मान्य है। सन्तों के यहाँ ज्ञान और योग दोनों ही भक्ति के साधन हैं। यही स्थिति वैष्णवों की भी है। इस स्तर पर सन्त, वैष्णव-भक्ति-साधना के अधिक निकट हैं। योग-साधना का विधिवत और वैज्ञानिक पद्धति पर वर्णन करने वाले सन्तों ने भी अन्ततः 'प्रेम' को ही महत्त्व दिया है।

तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से भी नाथ-मत और सन्त-मत में एकता नहीं है। योगी जिस परम-तत्त्व का निरूपण करता है वह भाव और अभाव से मुक्त है। भेदाभेद से विनिर्मुक्त है। वह न साकार है न निराकार। वह ज्ञानामृत, समरस, गगनोपम है—

भावाभाव विनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते।
साकारंच निराकारं नेती नेतीति सर्वथा।
भेदाभेद विनिर्मुक्तं वर्तते केवलं शिव॥

\+ \+ \+ \+ \+

अद्वैत रूपमखिलं हि कथं बदामि।
नित्यं ह्यनित्यमखिलं हि कथं वदामि।
सत्यमसत्यमखिलं च कथं बदामि।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥[३२]

सन्तों में कबीरदास के प्रतिपाद्य निर्गुण राम के लिए कहा गया है कि वह योगियों के ही द्वैताद्वैत-विलक्षण-समतत्त्व का समानार्थी है। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के निर्गुण राम के विषय में कहा है— "इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत-विलक्षण, भावाभाव-विनिर्मुक्त, अलख, अगोचर अगम्य, प्रेम पारावार भगवान् को कबीरदास ने 'निर्गुण राम' कहकर सम्बोधन किया है।"[३३] इस मत से बाबू श्यामसुन्दर दास, डॉ. बड़थ्वाल और परशुराम चतुर्वेदी सहमत नहीं हैं। यदि हम यह मान भी लें कि कबीर का निर्गुण राम योगियों का केवल रूप, समरस, गगनोपम शिव-तत्त्व है तो भी निर्गुण सन्त-मत के व्यापक सन्दर्भ में इस मान्यता का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। परवर्ती सन्तों में कइयों ने सगुण ब्रह्म के प्रति अपना झुकाव व्यक्त किया है। चरणदास ने श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं का भी वर्णन किया है।[३४] धरनीदास ने सीधे अपना सम्बन्ध रामानन्द से जोड़ा है। अतः योगियों के 'समतत्त्व' से उनके प्रभावित होने का प्रश्न नहीं उठता। 'धामी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक सन्त प्राणनाथ ने तो अपने समय के प्रचलित सभी धर्मों का अध्ययन किया था और परमतत्त्व की व्याख्या करते समय सभी धर्मों की मौलिक एकता के प्रतिपादन पर भी दृष्टि रखी

थी। सन्त बाबा लाल, वेदान्त और सूफी मत से स्पष्टया प्रभावित है। योगियों के तत्त्व-दर्शन से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। स्वयं दादू भी सूफियों की ओर किंचित् झुके हुए प्रतीत होते हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि 'कबीर' के तत्त्वचिन्तन पर भले ही नाथ-मत के तत्त्वचिन्तन का प्रभाव हो, किन्तु सन्तों की विशाल परम्परा, जो अनेक प्रभावों, प्रेरणाओं और प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप एक लम्बी अवधि में विकसित हुई है नाथमत के तत्त्वचिन्तन से भिन्न भूमि पर प्रतिष्ठित है।

मध्ययुगीन धार्मिक मतवाद शुद्ध तर्क पर आधृत नहीं है। अत: उसमें रहस्यानुभूति के तत्त्व भी विद्यमान हैं। नाथ-मत के अन्तर्गत भी एक प्रकार की रहस्यवादी प्रवृत्ति विद्यमान है। गगन शिखर पर शब्द ब्रह्म के प्रकाश की समाधि दशा में की जाने वाली अनुभूति एक प्रकार की रहस्यानुभूति ही है क्योंकि तर्क-पद्धति से उसका विश्लेषण सम्भव नहीं है। गोरखबानी में कहा गया है—

गगन सिखर महिं सबद प्रकास्या। तहँ बूझे अलष विनांणी।

\+ + + + +

वेदे न सास्त्रे कतेवे न पुराणे पुस्तके न बच्या जाई।
ते पद जानां विरला जोगी और दुनी सब धंधे लाई॥[३५]

परमपद या परमतत्त्व को विरला जोगी इसीलिए जानता है कि वह अनुभूतिगम्य है। इस स्तर पर गोरखनाथ और नाथ-योगी रहस्यवादी कहे जाएँगे। रहस्यवाद की मूल प्रवृत्ति रहस्यमयी सत्ता के साथ साधक का पूर्ण आत्मिक तादात्म्य स्थापन है। यह प्रवृत्ति योगियों में विद्यमान है। व्यष्टि-पिण्ड और विश्वपिण्ड की एकता का रहस्यज्ञान भी रहस्यवाद का विषय माना जा सकता है। तात्पर्य यह कि नाथ-मत में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ हैं। कहना चाहें तो इसे साधनात्मक रहस्यवाद कह सकते हैं क्योंकि यहाँ परमतत्त्व की उपलब्धि का आधार 'प्रेम' न होकर 'योग' है। सन्तों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति तो सभी विद्वानों ने लक्षित की है। सन्त साधक तर्कमूलक विश्लेषण-परक चिन्तन से अधिक स्वानुभूति पर बल देता है। अत: वह मूलत: रहस्यवादी है। सन्त तर्क करता है तो सामाजिक और व्यावहारिक मूल्यों को लेकर। आध्यात्मिक सत्ता के साथ सम्बन्ध स्थापित करते समय वह स्वानुभूति पर ही बल देता है। प्रत्यक्ष और गोचर जगत् से परे रहस्यमयी सत्ता की प्रतीति, उससे रागात्मक सम्बन्ध (दाम्पत्य सम्बन्ध) और उसके पूर्ण तादात्म्य की अनुभूति का वर्णन प्रतीकात्मक पद्धति पर प्राय: सभी सन्तों ने किया है। उस परम सत्ता को प्रिय रूप में अनुभव करते हुए अपने को प्रिया (बहुरिया) मानकर मिलन और वियोग की अनेक अनुभूतियों का वर्णन कबीर ने किया है।

कबीर सुन्दरि यौं कहै, सुनि हो कन्त सुजान।
बेगि मिलौ तुम आइकै, नहितर तजौं परान॥
नैना अन्तरि आव तूँ, निस दिन निरखूँ तोहिं।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहि॥
कबीर सुपिनै हरि मिला, मोहिं सूता लिया जगाइ।
आँखि न मीचौं डरपता, मनि सुपिंना होई जाइ।

दादू ने भी कहा है—

दादू सुन्दरि सेज परि, सदा एक रस होई।
दादू भेटे पीव सौं, ता समि और न कोई॥
दादू पुरिष हमार एक है, हम नहिं बहु अंगि।
जे जे जैसी ताहि सौं, ते ते तिसही संग॥

इस प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूतियों का चित्रण परवर्ती सन्तों में भी मिलता है। अत: सन्तों में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति नाथ-योगियों की अपेक्षा अधिक हुई है। नाथ-मत में 'परमतत्त्व' से प्रेमपरक सम्बन्ध की स्थापना की प्रवृत्ति न होने के कारण रहयानुभूति के विस्तार का प्रश्न नहीं उठता।

नाथ-मत और सन्त-मत के तुलनात्मक अध्ययन में यहीं पर एक बात जो और विचारणीय हो जाती है वह है भक्ति-तत्त्व। सन्त-मत में परम तत्त्व और गुरु दोनों के प्रति भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति हुई है। नाथ-मत में यदि किसी प्रकार की भक्ति का प्रश्न उठता है तो वह है गुरु-भक्ति। अत: नाथमत और सन्त-मत में जो प्रधान अन्तर है वह इसी भक्ति-तत्त्व को लेकर है।

जहाँ तक नैतिक और सामाजिक मूल्यों का प्रश्न है, नाथ-मत और सन्तमत में विशेष अन्तर नहीं है। बाह्याचार का खण्डन, जातिगत भेदभाव की व्यर्थता, पुस्तक-ज्ञान एवं शास्त्र-ज्ञान की अनुपयोगिता, शुद्धाचरण पर बल, स्त्री-जाति का माया-मूर्ति मानना, कथनी-करनी की एकता पर बल, तीर्थ-व्रत का विरोध, आदि बातें नाथों और सन्तों दोनों में समान रूप से पायी जाती हैं। उच्च वर्गीय ब्राह्मण संस्कृति के प्रति विरोध की प्रवृत्ति योगियों से और पहले की है। नाथ-पन्थ इस वर्णाश्रम-व्यवस्था-विरोधी सांस्कृतिक धारा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। सन्त-मत में यह प्रवृत्ति परम्परा से आयी। इस विषय में नाथों और सन्तों में अन्तर यह है कि सन्तों के उद्‌भव काल में नाथ-योगी भी बाह्याचार और प्रदर्शन में उलझ गये थे। अत: सन्तों को उनका भी विरोध करना पड़ा। कबीर का योग-तत्त्व से विरोध नहीं था, विरोध उन योगियों से था जो योग के नाम पर या तो कृच्छ साधनाओं में उलझ गये थे या बड़े-बड़े मठाधीश बनकर भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने लगे थे। परवर्ती सन्तों में विरोध की प्रवृत्ति क्रमश: कम होती गयी और समझौते की प्रवृत्ति विकसित हुई।

नाथ-योगियों और प्रारम्भिक सन्तों की भाषा और शैली में पर्याप्त समानता है। कबीरदास ने मुख्यत: 'साखी और शब्दी' लिखा है। साखियों की रचना का प्रारम्भ बताते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है—

"हो सकता है कि इनकी रचना की परम्परा गुरु गोरखनाथ आदि योगियों के आविर्भाव काल से आरम्भ हुई हो क्योंकि खोज में कभी-कभी 'जोगेश्वरी' साखी जैसे पद्य-संग्रह भी मिल जाते हैं।"[३६] जहाँ तक 'शब्दी' का प्रश्न है गोरखबानी में भी शब्दियाँ हैं। इसी प्रकार 'चौंतीसा' और 'पद' भी गोरखबानी में हैं। कबीर द्वारा प्रयुक्त अन्य काव्य-रूपों की भी लोक-प्रचलित परम्परा रही होगी। इसी लोक-परम्परा से नाथों ने भी अपने 'काव्य-रूप' चुने होंगे। सन्तों ने भी नाथ-योगियों की भाँति मुक्तक शैली का प्रयोग किया है। दोनों में चोट करने वाली शब्दावली प्रयुक्त है। उलटवासियों की रचना नाथ-योगियों ने भी की

है। कबीर की कई उलटवासियाँ ठीक उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार गोरखनाथ की हैं। प्रतीक-शैली का प्रयोग नाथों और सन्तों में समान रूप से हुआ है। अनेक स्थलों पर गोरखनाथ और कबीर के कथनों में अद्‌भुत साम्य है—

गुरु गोरखनाथ—

हिन्दू आषैं राम कौं मुसलमान खुदाई।
जोगी आषैं अलष कौं, तहाँ राम अछै न खुदाई।

कबीर साहब—

हिन्दू मूये राम कहि मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुई में कदे न जाइ॥

गुरु गोरखनाथ—

नीझर झरणैं अमीरस पीवणां षट दल बेध्या जाइ।
चन्द विहूणां चाँदिणों तहाँ देष्या श्री गोरष राइ॥

कबीर साहब—

मन लागा उनमन्न सौं गगन पहूँचा जाई।
देख्या चन्द विहूँणां चान्दिणां, तहाँ अलख निरञ्जनराइ।

कबीर द्वारा प्रयुक्त काव्य प्रकारों में 'थिन्ती' और 'वार' भी है। 'थिन्ती' 'तिथि' का ही विपर्यय है। 'वार' से अभिप्राय सात वारों (दिनों) से है। ये दोनों ही काव्य-रूप गोरखबानी में भी पाये जाते हैं। गोरखबानी में पन्द्रह तिथि के अन्तर्गत अमावस से लेकर 'प्रन्यं' (पूनो) तक की सोलह तिथियों का क्रम वही है जो गोरखबानी में है। 'वार' नामक रचना में 'आदित' (आदित्य) वार से लेकर 'शनिवार' तक के नाम क्रमश: लिए गये हैं। गोरखनाथ ने काया के भीतर ही सातों वारों के साथ ही नव ग्रहों की स्थिति भी बतायी है। तात्पर्य यह है कि काव्य-प्रकार, भाषा और शैली की दृष्टि से नाथमत और सन्तमत में पर्याप्त समता है। परवर्ती सन्तों ने भी मुख्यत: 'साखी' और 'शब्दी' ही लिखा है। कुछ ने प्रबन्ध-काव्य भी लिखे हैं। इसके अतिरिक्त परवर्ती सन्तों में वह चोट करने वाली भाषा भी नहीं है जो प्रारम्भिक सन्तों में है। नाथ-मत और सन्त-मत में भाषा की दृष्टि से एक अन्तर यह भी है कि नाथ-मत के सिद्धान्त ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। जबकि सन्तों की रचनाएँ मात्र हिन्दी (भाषा) में ही हैं। संस्कृत को कूप जल और भाषा को बहता नीर बताकर जीवन की गतिशील प्रवृत्तियों को महत्त्व देने का अपार साहस प्रारम्भिक सन्तों में दिखाई देता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'नाथमत' और 'सन्तमत' एक ही सांस्कृतिक प्रवाह की परवर्ती और पूर्ववर्ती कड़ियाँ हैं अवश्य, किन्तु दोनों में सब कुछ एक जैसा नहीं है। दोनों ही अलग-अलग युगों में जीवन की गतिशील चेतना के साक्षी रहे हैं किन्तु नाथयोगी जहाँ योग और ज्ञान से ही जीवन के चरम उद्‌देश्य की प्राप्ति सम्भव मानता रहा है वहाँ सन्त 'भक्ति' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानकर ज्ञान और योग को साधन रूप में ही देखते रहे हैं। *(योग के विविध आयाम से)*

सन्दर्भ :

१. गोरखबानी, भूमिका, पृ. १
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. ६२
३. कबीर साहित्य की परख, पृ. १५
४. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. ३१
५. नाथ और सन्त साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ. ६१८
६. कबीर ग्रन्थावली, हिन्दी परिषद्, प्रयाग, प्रथम, पृ. १०१
७. गोरखनाथ भरतरी रतिया सोई कबीर अभ्यासा रे।
गुरु दादू परसाद कछू इक पायों सुन्दर दासा रे॥ —सुन्दर ग्रन्थावली, पृ. ४
८. हमारा सतगुरु बिरले जाने।
की नौ जाने दास कबीरा की हरिना कुस पूता।
की तौ नामदेव और नानक की गोरख अवधूता॥ —सन्तबानी संग्रह, भाग-२, पृ. १०२
९. नाथ निरञ्जन देखि अति संगी सुखदाई।
गोरख गोपीचन्द सहज निधि नवनिधिपाई॥ —उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृ. ४७०
१०. जस कबीर जस गोरख जस नानक जस व्यास।
तस कलिमल जग-हरन को प्रगटे मलूकदास॥ —पहपावती
११. उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृ. ६३०
१२. योग-प्रवाह, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ. ४९
१३. कबीर ग्रन्थावली, पद-६६, पृ. ३९
१४. वही, पद-८५, पृ. ५०
१५. वही, पद-८६, पृ. ५०
१६. वही, पद-९०, पृ. ५३
१७. वही, पद-९२, पृ. ५४
१८. वही, पद-१०१, पृ. ५९
१९. वही, पद-१०५, पृ. ६१
२०. वही, पद-१२८
२१. वही, पद-१७४, पृ. १०१
२२. वही, पद-१९९, पृ. ११६
२३. सन्त कबीर, डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. २६९
२४. गोरखबानी, पृ. १३८
२५. नाथ और सन्त साहित्य, पृ. ४५७
२६. भारतीय संस्कृति और साधना, कविराज गोपीनाथ, पृ. ३९६
२७. भारतीय संस्कृति और साधना, कविराज गोपीनाथ, पृ. ३८७
२८. गोरखबानी, पृ. ९८-९९
२९. वही, पृ. ९९
३०. वही, पृ. ३६
३१. वही, पृ. ११६

३२. गोरखनाथ और उनका युग, पृ. १४१
३३. कबीर, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. १२६
३४. उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृ. ६०२
३५. गोरखबानी, पृ. २-३
३६. कबीर साहित्य की परख, पृ. १८६

□

गोरखनाथ के निर्गुण मार्ग का बनादास पर प्रभाव

—डॉ. अनिरुद्ध सिंह

गुरु गोरखनाथ ने योगसाधना द्वारा सिद्धि का व्यापक प्रचार किया। इस साधना में ब्रह्म के निर्गुण, निरञ्जन, निराकार को ही उन्होंने मान्यता दी। परवर्ती सन्त कवियों कबीर, दादू, रैदास आदि पर इन विचारों का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा। पर आगे की सन्त-परम्परा ने सगुण और निर्गुण में सामंजस्य बैठाने का काम किया। इसी प्रकार सगुण भक्त कवियों ने भी सगुण ब्रह्म के साथ निर्गुण की भी मान्यता दी; और यह कहा कि सगुण और निर्गुण एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। तुलसी और सूर से ही यह परम्परा प्रारम्भ हो गई थी। महात्मा बनादास अयोध्या के प्रसिद्ध भक्त थे और उन्होंने काव्य में भक्ति और दर्शन की कई पुस्तकें लिखीं। उनकी भक्ति पर निर्गुण मार्ग का पर्याप्त प्रभाव था, जो आगे के विवरण से स्पष्ट है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मूलत: यह प्रभाव गोरखनाथ का प्रभाव था।

सगुण-निर्गुण की एकता

जैसा कि पहले इसका निर्देश किया जा चुका है कि महात्मा बनादासजी ने अपनी रचनाओं में 'परब्रह्म' के दो रूपों की प्रतिष्ठा की है और अपनी साधना द्वारा उन दोनों ही रूपों का साक्षात्कार प्राप्त किया है।[१] ये दो रूप हैं—स्थूल और सूक्ष्म।

स्थूल रूप में उन्होंने दशरथनन्दन 'राम' (सगुण ब्रह्म) को एवं सूक्ष्म रूप में हृदयस्थ (निर्गुण ब्रह्म) ईश्वर को माना है, किन्तु बनादास को हृदयस्थ ईश्वर का रूप ही अधिक प्रिय है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—

राम रूप स्थूल हैं, दशरथ राज किसोर।
सूछ्म सबके हिय कमल, लखि हुलसत मन मोर॥[२]

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं तो उन्होंने 'ब्रह्म' और दाशरथि 'राम' की एकता निरूपित करते हुए लिखा है—

ब्रह्म राम जो दुइ कहै, ताके मुख में धूरि।
बनादास दसरथ सुवन, रह्यौ सकल भरिपूरि॥[३]

कवि के मतानुसार 'ब्रह्म' मुख्यत: 'निर्गुण'[४] ही है किन्तु भक्तों पर कृपा करके उनकी रक्षा हेतु 'निर्गुण' से सगुण रूप धारण कर लेता है—

निर्गुण ते भयो सर्गुण रूप, कृपा जन पै करि कै अनुमाना।
सर्गुन ते पुनि निर्गुन होत, सनातन वेद पुरान बखाना॥[५]
होत सगुन है अगुन ते, सगुन ते निरगुन होय।
जाहि लखावत सो लखत, अवर न जानत कोय॥[६]

अन्यत्र उन्होंने सगुण साकार के विभिन्न योनियों में प्रकट होने का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि 'परब्रह्म राम' भक्तों की रक्षा एवं दुष्टों के दलन हेतु पृथ्वी पर अवतार धारण करता है—

जयति मीन वाराह, जयति नरहरि जय बामन।
परसुराम श्रीराम कृष्ण, जै कंस नसावन॥
बौद्ध कलंकी तुमहिं, तुमहिं छीराब्धि निवासी।
तुम नायक बैकुण्ठ, सदा कमलापति दासी॥
तुमही वृहद विराट् वपु, रचना अंग विचित्र वर।
कह बनादास दूजा नहीं, तुमहिं राम सब चर-अचर।[७]

आत्मा

अद्वैत वेदान्तियों ने आत्मा और परमात्मा में अभेद की स्थिति स्वीकार की है। उन्होंने आत्मा को ही परब्रह्म माना है। महात्मा बनादासजी ने भी आत्मा व जीव तथा ब्रह्म में अभिन्नता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ब्रह्म की ही भाँति आत्मा अथवा जीव को भी स्वप्रकाश, विज्ञानघन, आदि-मध्य-अन्त रहित, अज, अविनाशी, सच्चिदानन्द और सर्वव्यापक कहा है—

हौ अखण्ड विज्ञान घन, आतम स्वयं प्रकास।
अज अनादि मध्यान्त बिनु, नहिं कोउ स्वामि न दास॥[८]
सुद्ध सच्चिदानन्द तू, व्यापक विरुज स्वरूप।
अज अविनासी अमल अति, अनुभव अकथ अनूप॥[९]

कवि ने ब्रह्मस्वरूप 'आत्मा' की स्वयं प्रकाशरूपता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि वह जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि और नक्षत्रों में उसी का प्रकाश है; अर्थात् ये सभी उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं—

सोम भानु पावक नखत् सब में जासु प्रकाश।
अज अविनासी आतमा, पात-पात में बास॥[१०]

उसकी ज्योति सब में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार करोड़ों घड़ों में एक ही सूर्य की छाया

दिखायी देती है। जैसे घड़े के नष्ट होने पर प्रतिबिम्बित किरणें पुनः सूर्य में समा जाती हैं उसी तरह नष्ट होने पर जगत् की सम्पूर्ण वस्तुएँ आत्मा में समाहित हो जाती हैं—

आतम परिपूरन सदा सोयं जोति सब माहिं।
जैसे भरे करोण घट, भानु दूसरो नाहिं॥[११]
घट के फूटे ते भला, फूटत हैं कहुँ भान।
जग भानुहिं की किरन है, भानुहिं माहिं समाहिं॥[१२]

उनका कथन है कि 'आत्मतत्त्व' के पहले और बाद में भी कोई तत्त्व नहीं है। न वह नवीन है और न जीर्ण, न वह घटता है और न बढ़ता है। वह पानी में डूबता और उतराता भी नहीं है। न वह जन्म लेता है और न जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त होता है। वह तो अजन्मा है—

नहिं पर पूर्व वोर न परे। जीर्न नवीन न ऊपर तरै।
घटै बढ़ै नहिं बूड़ै तरै। आवै जाए न जन्मै मरै॥[१३]

'ब्रह्मायन परमात्म बोध' के 'विज्ञान अंग' में तो एक जगह कवि ने गीता की उस उक्ति का—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥[१४]

लगभग अनुवाद-सा कर दिया है। वर्णन इस प्रकार है—

अगिनि जलाय सकै नहीं, पवन न सोखै ताहिं।
जल बौरै नहिं ताहि को, सस्त्र न काटे जाहि॥[१५]

'आत्म' वर्णन में उक्त कथन से मिलती-जुलती उक्तियाँ उनके अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती हैं।[१६]

'आत्मा' सबसे विलक्षण है। कोई उसे स्पर्श नहीं कर सकता। वह आकाशवत् है। जिस प्रकार वायु और बादल आकाश में गतिशील रहते हैं किन्तु आकाश उसमें लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार 'आत्मा' शरीरादि का अधिष्ठान होते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहता है।[१७] संसार के विकार उसे दूषित नहीं करते। उसका स्वरूप जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से परे है। वह सर्व प्रकाशक और अनुपम है।[१८] वह तुरीयातीत है।[१९]

बनादास के अनुसार केवल एक आत्मा ही सत् स्वरूप अर्थात् अस्तित्व वाला है। उसके अतिरिक्त दूसरा सत्य नहीं है। उसकी सत्यता पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता—

एक आतमा, सर्वदा, दूजा नाहीं कोय।
बनादास सन्देह गत, आवा गौन न होय॥[२०]

उनका कहना है कि संसार के विभिन्न नामधारी पदार्थों की सत्यता का आभास मात्र भ्रमाच्छन्न बुद्धि या अज्ञान के कारण होता है। वस्तुतः वे सत्य नहीं हैं। एक आत्मा ही सत्य और सनातन है।[२१] कवि का अनुभव है कि आत्मज्ञान की स्थिति में 'हम-तुम', 'हमारा-तुम्हारा' जैसे भेदों की विषमता समाप्त हो जाती है। केवल 'आत्मा' की ही सत्ता रह जाती है जो समान रूप से जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में प्रकाशित होता है।[२२] 'आत्मा' में संसार के पाप-पुण्य, सत्-असत्, सुख-दुःख आदि नहीं हैं। इनका

अनुभव केवल मन के कारण होता है—

पाप पुन्नि औ सत् असत्, सुख-दुःख है कछु नाहिं।
मन को कारन जानिये, सो नहिं आतम माहिं॥[२३]

आत्मा विषयातीत है। जैसे बादल आकाश में अँधेरा करते हुए उसे रंचमात्र भी प्रभावित नहीं कर पाते उसी प्रकार जागतिक विषय भी आत्मा को विकारी या दूषित नहीं कर पाते हैं।[२४]

स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के साथ इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकारादि आत्मा में नहीं हैं। वे इन सबसे पृथक हैं—

अस्थूल सूछम कारन नहीं, इन्द्री प्रान तहँ नाहिं।
मन, बुद्धि चित हंकार नहिं, नहीं तीनि गुन माहिं॥[२५]

वह (आत्मा) वर्ण, नाम, आकार एवं रूप-रंग से रहित है। कवि ने आत्म स्वरूप के वर्णन में यत्र-तत्र उपनिषदों की भाँति निषेधात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। जैसे—वह न तो पीला है और न हरा है। दुबला और मोटा भी नहीं है। वह न ऊँच है और न नीच। वह मौन और वाचाल भी नहीं है।[२६] उन्होंने ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि 'आत्मा' ही कर्ता जगत् का अधिष्ठाता और चैतन्य स्वरूप परात्पर ब्रह्म है। वह ईश्वर स्वरूप सृष्टि में व्याप्त है। उसके अतिरिक्त अन्य की सत्ता नहीं है—

हौं ही करता भोगता, उत्पत्ति पालन हार।
हौं ही यह सब जगत हौं, आतम सर्वाधार॥[२७]
हौं अखण्ड चैतन्य अज, बासदेव देवेस।
ब्रह्म परात्पर परम पद, परमानन्द परेस॥[२८]
हौं ईश्वर व्यापक सकल, सत् चित आनन्द रूप।
मोते दूजा कोउ नहीं, सुद्ध सरूप अनूप॥[२९]

'आत्मा' में शत्रु-मित्र, स्तुति-निन्दा, प्रकृति-प्रपंच आदि धर्मों का अभाव है। वह अविद्याजन्य विकारों का अधिष्ठान होते हुए भी उससे उसी प्रकार असम्पृक्त रहता है जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए जल से प्रभावित नहीं होता। अर्थात् जल उसमें लिप्त नहीं होता।[३०] जैसे घनाच्छादित होते हुए भी सूर्य घन से अलग है वैसे विषयों के बीच आत्मा उनसे असम्पृक्त रहता है—

जथा भानु घन ते बिलग, छपा कहत सब लोग।
तथा आतमा बिलग है, कहौं बिठौ संजोग॥[३१]

जीव

अद्वैत वेदान्तियों की ही भाँति महात्मा बनादास ने भी 'ब्रह्म' और 'जीव' में पारमार्थिक अभेद की स्थिति स्वीकार की है—

चेतन अमल सहज सुखरासी, अविनासी है जीव।
सोई सरूप है ब्रह्म को, एक जीव औ सीव॥[३२]

इस विषय में उनका कथन है कि 'आत्मा-ब्रह्म' ही अविद्या से आच्छान्न होने के कारण 'जीव' कहलाने लगता है—

बादर वरषत वारि ज्यों, कारन ते बिलगात।
तथा अविद्या संगते, ब्रह्म जीव ह्वै जात॥[३३]

जिस प्रकार काँच गृह में कुत्ता अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर बारम्बार भौंकता है, सिंह अपनी छाया देखकर कुएँ में कूद जाता है, उसी प्रकार 'जीव' ब्रह्मस्वरूप आत्मा में भेद बुद्धि उत्पन्न कर नाना प्रकार के क्लेशों से दुःखी होता है।[३४] वस्तुतः जीव एवं ब्रह्म में भेद करना भ्रम है। जिस प्रकार बीज और वृक्ष, सोना और आभूषण तत्त्वतः एक ही हैं उसी प्रकार ब्रह्म एवं जीव में भी तात्त्विक रूप से कोई भेद नहीं है। उन्होंने जीव और ब्रह्म की तुलना नदी एवं समुद्र से करते हुए कहा है कि जैसे नदी समुद्र में मिलकर समुद्र स्वरूप हो जाती है उसी प्रकार उपाधि अथवा माया के नष्ट हो जाने पर 'जीव' ब्रह्म रूप हो जाता है—

बीज ते वृच्छ है वृच्छ ते बीज है बीज है बीज औवृच्छ कहे किमि दोई।
सोन से भूषन भूषन भूषन सोन है टूटै नहीं तबलै भ्रम होई॥
ज्यों सरि नीर समुद्र मिलै पर नाम औ रूप गयौ तब खोई।
दासबना तिमि जीव ते ईश्वर जो कोउ होत है जानत सोई॥[३५]
रुज अज्ञान गयो जबै, तबै ईस जिउ एक।[३६]

यह उल्लेखनीय है कि महात्मा बनादासजी ने 'आत्मब्रह्म' एवं 'जीव' में अभिन्नता का प्रतिपादन किया है किन्तु उन्होंने उसमें व्यावहारिक भेद भी निरूपित किया है।

'आत्म स्वरूप' पर विचार करते हुए यह निश्चित किया जा चुका है कि बनादास जी ने 'आत्मा' को पंच कोशातीत माना है, परन्तु 'जीव' के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह (जीव) पंच कोशों— अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय से घिरा हुआ है—

अन्नमय कोस अस्थूल सरीरा। प्रानमई है पंच समीरा॥
मनमै कोस कर्म इन्द्री पाँच। विज्ञान मई ज्ञान इन्द्री साँच॥
जाग्रत स्वप्न कोश यै चारी। अरुआनन्द सुषोप्ति मझारी ॥
येही सरूप जीव को मानौ, तुरिया मिलै जीवन्तु न जानौ॥[३७]

उन्होंने आचार्य शंकर की भाँति 'ब्रह्म' और 'जीव' में तब तक एकता स्वीकार नहीं की है जब तक जीव अपनी साधना से ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता—

जब लगि ब्रह्म को बोध नहीं, तब लगि है सो जीव।
निराकार एकै लखा, कौन जीव को सीव॥[३८]

कवि ने शंकराचार्य की ही भाँति 'जीव में ब्रह्म के समान एक रसता नहीं है' का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—

ब्रह्म सदा है एक रस, जीव एक रस नाहिं।
जब मिलिहैं तब एक रस, यामें संसे नाहिं॥[३९]

उन्होंने ब्रह्म को कामना रहित एवं 'जीव' को कामनायुक्त कहा है। इस सम्बन्ध में उनका मत है कि 'जीव' ही प्रारब्ध भोगता है किन्तु अन्ततः ब्रह्म से उसका अभेद है—

रहित कामना ब्रह्म है, सहित कामना जीव।
परारब्ध को भोगता, एक जीव नहिं सीव॥[४०]

अन्यत्र उन्होंने उपनिषदों[४१] के आधार पर 'ईश्वर' और 'जीव' को शरीर रूपी वृक्ष के ऊपर बैठे दो पक्षियों के रूप में चित्रित किया है। जिसमें से एक विषय वासना का फल खाकर जन्म-मरण के पाश में बँधता है और 'जीव' नाम से अभिहित होता है, किन्तु दूसरा शरीर का फल न खाकर मात्र साक्षी रूप में विद्यमान रहता है। वही 'ईश्वर' है। 'जीव' जब सुखफल का परित्याग कर शरीर में निर्लिप्त भाव रखता है तब वह ईश्वर से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और ब्रह्म रूप हो जाता है—

यह शरीर जड़ विटप समान। दुइ खग सोचे तन परमान॥
तामें एक तरुहिं मन लायो। ताही कारन जीव कहायो॥
देह विटप को सुख फल खावै। ताते जनम-मरन को पावै॥
परमातमा सोयं सुखरासी। साखी मात्र रहै अविनासी॥
सुखफल खाय तजै जिउ जबहीं, आतम परमातम यक तबहीं॥[४२]

निष्कर्ष यह कि महात्मा बनादास जी ने 'आत्मा' को अद्वैतवादियों की भाँति पारमार्थिक सत्य माना है। वे शंकराचार्य की ही भाँति 'जीव' में अविद्या एवं अज्ञान का आरोप करते हैं। अद्वैतानुयायियों की तरह उन्होंने भी अज्ञान के नष्ट हो जाने पर जीवत्व की 'ब्रह्मतत्त्व' में प्रतिष्ठा स्वीकार की है और अद्वैत दर्शन के अनुसार ही ब्रह्म एवं जीव की एकता निरूपित की है।

जगत्

अद्वैत वेदान्त में जगत् को नितान्त असत्य माना गया है। उसके सत्य दिखाई देने के मूल में लोगों के भ्रम या अज्ञान को स्वीकार किया गया है। महात्मा बनादास जी ने भी उक्त कथन के अनुरूप ही जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि वस्तुतः जगत् त्रैकाल में असत्य है।[४३] उन्होंने रज्जु एवं सर्प, चाँदी और सीपी तथा मृग तृष्णा का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए जगत् के असत्य होने की पुष्टि की है—

जिमि भ्रम भयौ सर्प रजु माहीं। रजत कहूँ सीपी में नाहीं।
ज्यौं मृग वारि सत्य सब कहई। तिहूँ काल में झूठ सो अहई॥[४४]

जिस प्रकार नदी गतिशील होते हुए भी स्थिर दिखायी देती है उसी प्रकार सत्य दिखायी देने वाला यह संसार असत्य है—

यह जग ज्यौं सरिता जग माहीं। थिर दीसै है पल थिर नाहीं॥[४५]

बनादास ने जगत् के मिथ्यात्व को अनेक उदाहरणों से समझाया है। उन्होंने लिखा है—जिस प्रकार धुँओं का कोट, बालू की दीवाल एवं तृण की ओस अस्तित्वहीन है उसी प्रकार यह जगत् भी असार है—

धूँवा ज्यों घवराहरो, अरुबालू की भीति।
सब दिन जगत असार है जथा तिरिनि की सीति॥[४६]

कवि ने कभी उसे भूत की आग, सूखा वृक्ष और सेमर का फूल कहा है—

भूत आगि सूखा विटप, सेमर सुमन समान।
यह संसार असार अति, सन्तन तजा निदान॥[४७]

इसी प्रकार कभी उसे आकाश की वाटिका और वन्ध्या के पुत्र के समान काल्पनिक माना है।[४८]

उनका कहना है कि जिस प्रकार रज्जु में सर्प, मृगतृष्णा में जल और सीप में चाँदी सत्य नहीं है अर्थात् सत्य होने का मिथ्याभास है। ज्ञानदशा के प्राप्त होने पर उसकी असारता प्रकट हो जाती है।

जेवरी में साँप नाहीं मृगजल आप नाहीं, सीपी माहिं रूप नाहीं भ्रम को पसार है।
बनादास जबहिं प्रकाश हिय सुद्ध, होय तब तिहुँ काल इमि जगत असार है॥[४९]

इसके अतिरिक्त कवि ने कदली के वृक्ष[५०], भूमि के दरार एवं श्मशान के पकवान[५१] से जगत् की तुलना करते हुए उसकी निस्सारता एवं दुःखमयता सिद्ध की है। इस जगत् को उन्होंने ब्रह्म द्वारा रचित माया का कार्य कहा है और उसे सत्य मान लेने पर जीव के लिए कष्टसाध्य बताया है—

यह माया है ईस की, यामें सार न लेस।
याको फुर माना जहाँ, तहँ पुनि अमित कलेस॥[५२]

उनकी अन्य रचनाओं में भी माया की व्यापकता एवं प्रचंडता का उल्लेख प्राप्त होता है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'माया की शक्ति अपार है। उसके वश में ब्रह्मा एवं महेश तक हैं। वह संसार के जीवों को नाना भाँति नचाती-फिरती है।'[५३]

महात्मा बनादास की दृष्टि में यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही विवर्त रूप है जिसमें केवल वही (ब्रह्म) सत्य है और शेष सभी वस्तुएँ मायिक हैं—

जगत ब्रह्म ब्रह्मै जगत, यह उपदेस, विसेषि।
जगत नास गत करत ही सबै ब्रह्म सब देस॥[५४]
तत्व सत्व कोउ है नहीं, सब है माया रूप।
राजित सदा अखण्ड है, केवल ब्रह्म अनूप॥[५५]

बनादासजी का कथन है कि भ्रम के नष्ट हो जाने पर जैसे सर्प आदि का भय समाप्त हो जाता है उसी प्रकार अज्ञान के नष्ट हो जाने पर मायिक जगत् का नाश हो जाता है।[५६] अज्ञान में जगत् से निवृत्ति नहीं होती। अतः संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए ज्ञान रूपी जहाज आवश्यक है—

जग समुद्र के तरन को, ज्ञान जहाज प्रमान।
पैरि पार कैसे लहै, बुद्धि मरै अज्ञान॥[५७]

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में महात्मा बनादासजी के विचारों पर सांख्य दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी मान्यता है कि आरम्भ में केवल ब्रह्म ही था। उस ब्रह्म से जड़ और चैतन्य नामक दो शक्तियाँ उत्पन्न हुईं। उन दोनों से महतत्त्व और सूत्र की उत्पत्ति हुई। महतत्त्व से सत्त्व, रज, तम

और सूत्र से अहंकार का प्रादुर्भाव हुआ। तामस अहंकार से पंचतत्त्व एवं पंच तन्मात्राओं की सृष्टि हुई। राजस अहंकार से पंच ज्ञानेन्दियाँ और पंच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। सात्त्विक अहंकार से मन एवं इन्द्रियों के देवता निर्मित हुए। इसके बाद ईश्वर ने सबको एक में सम्मिलित कर उसे अंड का रूप देकर जल में स्थापित कर दिया। ईश्वर की नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने ही सम्पूर्ण लोकों की रचना की। आरम्भ में ब्रह्म था, मध्य में माया हुई किन्तु अन्त में ब्रह्म ही शेष रह जाता है।[५८] उन्होंने सृष्टिक्रम को अनादि एवं अखण्ड माना है।[५९] उनका उल्लेख है कि जगत् के सभी पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होकर प्रलय में पुनः उसी ब्रह्म में समाहित हो जाते हैं—

ब्रह्मइ से सब होत है, जात है ब्रह्मइ माहिं।
ताते सब कुछ ब्रह्म है, यामें सन्सै नाहिं॥[६०]

अन्त में केवल एक चैतन्य सत्ता (ब्रह्म) ही रह जाती है। जागतिक प्रपंच मिथ्या है—

रह्यो एक चैतन्य ही, अवर कछू नहि रंच।
बनादास अचरज यही, मिथ्या जगत प्रपंच॥[६१]
ज्यौं क्रम क्रम ते सबको अन्ता, आपुहिं एक रहै भगवन्ता।[६२]

जैसे आचार्य शंकर ने सृष्टि को अनादि माना है वैसे बनादासजी ने भी सृष्टि को अनादि कहा है। शंकर ने सृष्टि की रचना का कोई क्रम नहीं दिया है किन्तु बनादासजी ने एक निश्चित क्रम रखा है। इस विषय में यह विचारणीय है कि उपनिषदों एवं ब्रह्म सूत्रों में सृष्टि क्रम का वर्णन प्राप्त होता है जिसका शंकराचार्य ने भाष्य प्रस्तुत किया है और उसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की है।[६३] अतः उनके और बनादासजी के विचारों में मतैक्य देखा जा सकता है।

निर्गुण मत से साम्य-वैषम्य

ब्रह्म, जीव, जगत् के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्तियों और महात्मा बनादास के विचारों में पूर्वपृष्ठों में जो समानता रेखांकित की गयी है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बनादासजी की दार्शनिक विचारधारा अद्वैत वेदान्त से अत्यन्त प्रभावित है किन्तु उसके साथ ही उनकी विचारधारा पर निर्गुणोपासक सन्तों का भी पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। इसका किंचित् दिग्दर्शन असंगत न होगा।

ब्रह्म-निर्गुणमार्गी सन्तों ने 'ब्रह्मतत्त्व' का वर्णन करते हुए प्रायः उसे निर्गुण-निराकार, अनादि, अनन्त, अखण्ड, अजन्मा, सर्वव्यापी और अद्वैत माना है।

सन्त कबीर ने परमतत्त्व का वर्णन करते हुए उसे अनादि एवं अजन्मा 'न आवै न जाइ न मरे न जीवै' कहा है। वह निरञ्जन (माया रहित) न जन्म लेता है और न विनष्ट होता है। वह अविनाशी है—

जांये मरै न संकुटिआवै, नाम निरञ्जन जाकौ।
अविनासी उपजै नहिं विनसै, सन्त सुजन कहैं ताकौ॥[६४]

उनका कथन है कि निर्गुण 'ब्रह्म' के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता—वह वर्ण-अवर्ण से परे, आदि, मध्य और अन्त रहित सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त है।[६५]

कबीर का कहना है कि 'उस ब्रह्म में न तो कोई शब्द होता है और न ही स्वाद। वह अनाम और अरूप है। उसके माता-पिता भी नहीं हैं।[६६] उसके स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। हल्का है या भारी, इसकी भी कोई तौल नहीं। वह भूख-तृष्णा, धूप-छाँह, सुख-दुःख आदि से रहित सबमें विद्यमान है। वह अविगत, अपरम्पार ब्रह्म ज्ञानरूप सर्वत्र वर्तमान है। उसके समान अन्य कोई नहीं है—

रूप स्वरूप न आवै बोला। हरुगरु कछु जाइ न तोला॥
भूष न तृष्णा धूप नहिं छाँहीं। सुख-दुःख रहित रहै सब माहीं॥
अविगत अपरम्पार ब्रह्म ग्यान रूप सब ठाँम।
बहु विचारि कारि देखिया, कोई न सारखि राम॥[६७]

सन्त सुन्दरदास जी ने भी ब्रह्म को नित्य निरीह, निर्गुण, निरञ्जन, अखण्ड एवं अद्वैत तत्त्व माना है—

ब्रह्म निरीह निरामय निरगुन नित्य निरञ्जन और न भासै।
ब्रह्म अखण्डित है अध उरध बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥[६८]

भीखा साहब ने भी उक्त सन्तों के ही समान ब्रह्म के सम्बन्ध में अपनी बात कही है।[६९] सन्तों के इस ब्रह्म विषयक कथन के अनुरूप ही महात्मा बनादासजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

ब्रह्म अचल अज अकल है, अति उत्कृष्ट अखण्ड।
व्यापक नित्ति निरीह अति, रहा पूरि ब्रह्मण्ड॥[७०]
नहिं पर पूर्व बोर न परे। जीर्न नवीन न ऊपर तरै।
घटै बढ़ै नहिं बूड़ै तरै। आवै जाए न जन्मै मरै॥[७१]

सन्तों ने ब्रह्म स्वरूप के वर्णन में यत्र-तत्र नकारात्मक शैली का प्रयोग किया है। सन्त कबीर की ब्रह्म निरूपण धारणा निश्चित करते हुए इस शैली का उदाहरण प्रस्तुत किया जा चुका है। सन्त सुन्दरदास जी ने ब्रह्म वर्णन में निषेधात्मक शैली का आश्रय लेते हुए कहा है वह (ब्रह्म) न तो पाप रूप है और न पुण्य रूप, न वह एक है और न दो। न वह स्थूल है और न सूक्ष्म। उसके न कोई आगे है और न पीछे। वह बाल-वृद्ध, कर्म और काल भी नहीं है। वह न तो बन्धन रूप है और न मोक्षरूप। उसे सुन्दर और असुन्दर भी नहीं कहा जा सकता—

पाप न पुण्य न स्थूल न सूछ्म न बोले न मौन न सौवै न जागै।
एक न दोइ न पूर्व न जोइ कहै कहाँ कोई न पीछ न आगै॥
बृद्ध न बाल न कर्म न काल न स्व बिसाल न जूझे न भागै।
बन्ध न मोक्ष अमोक्ष न प्रोक्ष न सुन्दर ह्वै न असुन्दर लागै॥[७२]

सुन्दरदास जी के उक्त कथन से साम्य रखती हुई महात्मा बनादास जी की अधोलिखित पंक्तियाँ उदाहरणार्थ रखी जा सकती हैं—

भूख अधान न सोवन जागै। आग न पीछ न जूझ न भागै।
नहिं मारै काहू सो न मरै। सब कर्ता औ नहिं कछु करै॥[७३]

निर्गुणिया सन्तों ने ब्रह्म स्वरूप के वर्णन में कहीं-कहीं अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए उनकी अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया है। सन्त कबीर लिखते हैं—

भारी कहूँ तो बहु डरूँ हल्का कहूँ तो झूठ।
मैं का जानू राम कूँ, नैनों कभी न दीठ॥[७४]

बनादास ने भी अनेक स्थलों पर ब्रह्म स्वरूप की अनिर्वचनीयता का वर्णन बड़े मनोयोग के साथ किया है।

शब्दातीत अगोचर अद्‌भुत अनृवाज्य का बोलै।
बनादास अब रही न बानी कैसे परदा खौले॥
अगम अगाध अपार अनूपम आदि न मधि अवसाना।
रूप अरूप सरूप भिनी है गया होय सो जाना॥[७५]

कबीरदास ने ब्रह्म को कुम्भकार के रूप में चित्रित करते हुए उसे ही जगत् सृष्टि की निमित्त और उपादान कारण माना है।[७६] सन्त रैदास ने ब्रह्म के वर्णन में सुवर्ण और आभूषण का उदाहरण देते हुए ब्रह्म तत्त्व की अद्वैतता प्रतिपादित की है।[७७] सन्त सुन्दरदास जी ने भी जल और लहर का उदाहरण प्रस्तुत करके अपनी अद्वैत भावना की अभिव्यक्ति की है—

देखहु एक है गोविन्द। जो तरंग बिचारिये तो वहै एकै तोह॥
पंच तत्वरूतीन गुन कौ कहत है संसार। तऊदूजौ नाहिं एकै बीज कौ विस्तार॥[७८]

सन्तों के उक्त कथन के समान ही बनादासजी ने भी बीज और वृक्ष एवं सुवर्ण और अलंकार का उदाहरण देते हुए 'ब्रह्म' की अद्वैतता प्रमाणित की है—

बीज तै वृच्छ है वृच्छ से बीज है, बीज और वृच्छ कहै किमि दोई।
सोन ते भूषन भूषन सोन है, टूटै नहीं तबलै भ्रम होई॥[७९]

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप निर्धारण में सन्तों एवं महात्मा बनादासजी के विचार लगभग एक से हैं। सन्तों के समान ही बनादास ने भी ब्रह्म में कार्य और कारण की अभेदरूपता स्वीकार की है।

इसी क्रम में हमें निर्गुणमार्गी सन्तों के सगुण ब्रह्म एवं अवतार आदि के सम्बन्ध में विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

सगुण ब्रह्म के स्वरूप और अवतार के सम्बन्ध में कबीरदास ने भक्त प्रह्लाद का दृष्यन्त प्रस्तुत करते हुए उनकी सहायता हेतु नृसिंह के प्राकट्य का उल्लेख करते हुए लिखा है—

प्रह्लाद पठाये पढ़न साल, संग सखा लीये बहुत बाल।
मोहिं कहा पढ़ाये आल जाल, मेरी पाटी लिखि दै श्रीगोपाल॥
तब काढ़ि खड्ग कोप्यो रिसाय, तोहि राखन हारो मोहिं बलाय।
खम्भा में तब प्रगट्यौ गिलारि हरिनाकस मार्यौ नख बिदारि।
महापुरुष देवाधि देव नर संघ प्रकट कियो भगति भेव।[८०]

राजा अबरीष कै कारणि चक्र सुदरसन जारैं।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो भगत की सरणि ऊबारैं।[८१]

इसी प्रकार सन्त सुन्दरदास जी ने भी श्रीकृष्ण और गोपांगनाओं के प्रेम का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है।[८२] दादूदयाल ने अपनी बानियों में श्रीकृष्ण की वन्दना करते हुए उनके सगुण स्वरूप में आस्था व्यक्त की है।[८३] सन्त दरिया साहब ने भी उक्त सन्तों की ही भाँति दयानिधि, संसार सागर के तारक, भक्त वत्सल, दुःख भंजक आदि कहकर ब्रह्म के सगुण स्वरूप की प्रतिष्ठा की है—

सुनहु सन्त सबहु निजु सारा। दयानिधि भव सिन्धु उबारा।
भक्त बछल सन्तन सुखदाई। जन कै दुःख मेटे प्रभुताई॥[८४]

सहजोबाई का तो यह स्पष्ट उल्लेख है कि निर्गुण ब्रह्म भक्तों के उद्धार हेतु सगुण रूप धारण करता है—

निर्गुन ते सर्गुन भये भक्त उधारन हार।[८५]

इस प्रसंग में यह पहले ही कहा जा चुका है कि महात्मा बनादासजी ने भक्तों की रक्षा एवं दुष्टों के संहार हेतु ब्रह्म के निर्गुण से सगुण रूप धारण करने का उल्लेख किया है।[८६]

यह उल्लेखनीय है कि निर्गुणमार्गी सन्तों ने अपनी बानियों में भक्तों की रक्षा एवं दुष्टों के संहार हेतु ब्रह्म के सगुण स्वरूप और अवतार लेने का उल्लेख किया है किन्तु वह उनका प्रतिपाद्य नहीं है। उन्होंने निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म को ही अपना आराध्य स्वीकार किया है। ब्रह्म के सगुण रूप और अवतार लेने का वर्णन उन लोगों ने भक्ति के प्रसंग में किया है। सन्तों ने 'आत्मा' को ही 'राम' बताते हुए उसकी पूजा की घोषणा की है। इस विषय में सन्त दादू ने अपनी मान्यता स्थापित करते हुए लिखा है—

दादू के दूजा नहीं, एकै आतम राम॥[८७]

यद्यपि कबीर ने भक्त की रक्षा हेतु नृसिंह के प्रकट होने का उल्लेख किया है किन्तु वह यह मानकर चलते हैं कि उनके राम दशरथ के घर उत्पन्न नहीं हुए थे।[८८] उन्होंने अपने ग्रन्थों में ब्रह्म के निर्गुण रूप का ही निर्वचन किया है। पलटू साहब ने भी अवतारों में अपनी अनास्था व्यक्त की है। इस विषय में उनका कहना है कि २४ अवतार भी अन्ततः काल कवलित हुए।[८९] जबकि ब्रह्म जन्म-मृत्यु से परे हैं।

निर्गुण मार्गी सन्तों में प्रत्यक्ष पूजा के लिए 'सन्त' को भगवान् से अभिन्न माना है। भीखा साहब कहते हैं—

प्रभु में सन्त सन्त में प्रभु है।[९०]

उपर्युक्त कथन के ही परिप्रेक्ष्य में डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत की ये पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं—"अधिकांश सन्त कट्टर निर्गुणवादी ही थे। यदि भक्ति के आवेश में उनमें से किसी एक-आध ने अवतारी सगुण ब्रह्म के प्रति आस्था प्रकट कर दी है तो उस आधार पर हम उन्हें सगुणवादी नहीं कह सकते। वे मूलतः निर्गुणवादी ही थे।"[९१]

यहीं पर हमें सन्तों एवं महात्मा बनादासजी के विचारों में वैषम्य दिखाई देता है। पीछे के प्रकरणों में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि बनादास की साधना मुख्यतः निर्गुणपरक ही है किन्तु निर्गुण के

साथ-ही-साथ उन्होंने सगुण साकार को भी स्वीकार किया है।[९२] उन्होंने सन्तों के विपरीत निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हेतु आरम्भ में राम के सगुण स्वरूप की उपासना की आवश्यकता को भी लक्षित किया है। इस विषय में उनका कहना है कि साधना में सबसे पहले सगुण राम की उपासना आती है तत्पश्चात् साधक को राम के निर्गुण रूप का बोध होता है—

प्रथम नाम जपि राम लहि, अद्‌भुत सर्गुन रूप।
बनादास पीछे मिलत, निर्गुन ब्रह्म अनूप॥[९३]

उन्होंने निर्गुणोपासकों की तरह 'दाशरथि राम' का विरोध नहीं किया है बल्कि उन्हें ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उनमें अगाध आस्था व्यक्त की है और इस रूप को ही सर्वजन सुलभ माना है—

ब्रह्म अमोलक लाल है, दसरथ सौदा कीन।
बनादास हमरे मते, तबहि सुलभ करि दीन॥[९४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बनादासजी ने निर्गुण ब्रह्म के साथ-साथ सगुण साकार को भी अपनाया है जबकि निर्गुण सन्तों में उसका अभाव है। यही उनकी साधना प्रणाली की विशेषता है जो निर्गुणियों से अधिकाधिक समानता रखते हुए भी उनको उनसे अलग कर देती है।

आत्मा अथवा 'जीव' के स्वरूप के सम्बन्ध में सन्तों एवं महात्मा बनादास के विचार लगभग एक से हैं। गोरखनाथ ने 'आत्मा' को अखण्ड मानते हुए लिखा है—'आत्मा को आकाश छिपा नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, पानी डूबा नहीं सकता एवं हवा उसे उड़ा नहीं सकती है। वह महि भार से भंग भी नहीं होता—

गगने न गोपतं तेजे न सोषन्त पवने न पेलन्त बाई।
महि भारे न भाजन्त उदके न डूबत कहौ तो को पतिआई॥[९५]

बनादासजी का भी यही मत है—

अगिनि जलाय सकै नहीं पवन न सोखै ताहि।
जल बोरे नहिंताहि को, सस्त्र न काटै जाहि॥[९६]

सन्त कबीर ने आत्मा को सत् स्वरूप एवं अस्तित्व वाला कहा है।[९७] उनके मतानुसार आत्मा ही सम्पूर्ण कार्य जगत् में स्थित होते हुए जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त है। वह आकाश की भाँति आदि, मध्य और अन्त में समान रूप से व्याप्त है।[९८] नानक एवं उनके शिष्यों आदि ने भी कबीर की ही भाँति आत्मा को जन्म-मृत्यु से परे कहा है।[९९] सन्त सुन्दरदास जी ने आत्मा को सूक्ष्मातिसूक्ष्म कहा है।[१००] निर्गुणिया सन्तों ने 'आत्मा' को ही ब्रह्म कहा है। भीखा साहब ने लिखा है—

आतम राम अखण्डित पूरन ब्रह्म स्वरूप अकार।[१०१]

कबीर ने 'आतम राम अवर नहिं दूजा'[१०२] कहकर उसकी अद्वैतता स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है आत्म ब्रह्म की उपाधि में आकर एक से अनेक दिखाई पड़ता है—

या करीम बल हिकमति तेरी।
खाके एक सुरति बहुतेरी॥[१०३]

कबीर की भाँति सन्त सुन्दरदास जी भी यह मानते हैं कि वस्तुतः जीव ही ब्रह्म है किन्तु अविद्याग्रस्त होने के कारण वह आत्म स्वरूप को विस्मृत कर चुका है।[१०४]

इसी प्रकार सन्त दादूदयाल ने भी जल और दुग्ध, पानी और नमक का उदाहरण देते हुए जीव और ब्रह्म की एकता निरूपित की है—

ज्यूँ जल पैसे दूध में ज्यूँ पानी में लूंण।
ऐसे आतम राम सौं, मन हठ साधै कूंण॥[१०५]

अन्य निर्गुण सन्तों की तरह पलटू साहब भी 'जीव' ब्रह्म की एकात्मकता स्वीकार करते हुए लिखते हैं—

जोई जीव साई ब्रह्म है, दृष्टि अयानी चर्मा॥[१०६]

'जीव' और 'ब्रह्म' की अभिन्नता के समर्थन में भीखा साहब की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

भीखा भौ पगि गयौ जीव सोई ब्रह्म मैं, सीव अरुशक्ति को मिलन साँची॥[१०७]

इस प्रसंग में पीछे ब्रह्मायन ग्रन्थों के अनुसार आत्मा अथवा जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए हम देख चुके हैं कि महात्मा बनादासजी ने भी उक्त सन्तों की ही भाँति आत्मा को सत् स्वरूप, अस्तित्व वाला अजन्मा और अद्वैत तत्त्व कहा है—

एक आत्मा सर्वदा, दूजा नाहीं कोय।
बनादास सन्देह गत, आवा गौन न होय॥[१०८]

उन्होंने निर्गुणिया सन्तों के अनुरूप ही आत्मा को सम्पूर्ण कार्य जगत् का अधिष्ठाता कहा है।[१०९] वे सन्तों के समान ही आत्मा और ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार करते हैं। जैसे सन्तों ने जीव में अविद्या और उपाधि का आरोप किया है वैसे बनादास ने भी जीव में उपाधि और माया का आरोप किया है। बनादास ने बीज और वृक्ष, सोना एवं आभूषण का उदाहरण देते हुए जीव और ब्रह्म की एकता निरूपित की है[११०], जो सन्तों के अनुकूल ही है।

इन तथ्यों के आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि निर्गुण सन्तों एवं महात्मा बनादास के 'आत्म निरूपण' में विचार साम्य है।

सन्दर्भ :

१. अगुन सगुन दो रूप को, बोध किये दुहुँ बर्न।
अब कुछ संसय ना रही, बिन प्रयास भव तर्न॥ —ब्रह्मायन द्वार, छन्द, २७
२. वि. स. उपासना अंग, छन्द, ५५
३. ब्र. सा. मु. छन्द, ७२
४. निरगुन नित्ति निरीह निरामय नैन न बैन न श्रौन में आवै॥ —ब्र. वि. छ. छन्द, १५
सदा तौ वह अकेला है, अनेकों खेल खेला है। अदि —वि.स.उ. अंग, छन्द ५१
५. ब्रह्मायन द्वार, छन्द........।
६. ब्र.प,बो, साधन अंग, छन्द, ३८

७. उ.प्र.रामायण, पृष्ठ, ४१७
८. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, ६९
९. ब्र. ज्ञा. मु. छन्द, ६६
१०. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, ७०
११. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, २७
१२. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, २८
१३. ब्र.त.नि. छन्द, ३०/२
१४. गीता, २/२३
१५. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, ७१
१६. गुरु माहात्म्य, छन्द, ४१-एकादश प्रसंग
१७. आत्म विलच्छन सकल ते, ताहि न परसत कोय।
बादर वाय निहारि जिमि, गगन लिप्त नहिं होय॥ —ब्र.प.बो. साधन अंग, छन्द, ७०
१८. ब्र.प.बो. ज्ञान अंग, छन्द, ४२
१९. ब्र. ज्ञा. छन्द, ७८
२०. ब्र.प.बो. ज्ञान अंग, छन्द, १२
२१. ब्र.प.बो. साधन अंग, छन्द, ६८
२२. ब्र. ज्ञा. मुक्तावली, छन्द, ९३
२३. ब्र.प.बो. साधन अंग, छन्द, ६९
२४. ब्र.प.बो. साधन अंग, छन्द, ७०
२५. ब्र. ज्ञा. मुक्तावली, छन्द, ७७
२६. ब्र. ज्ञा. सु. छन्द, ७
२७. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, १६
२८. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, १७
२९. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, १८
३०. ब्र.वि.छ. छन्द, १३
३१. ब्र.प.बो. ज्ञान अंग, छन्द, ३८
३२. ब्र.प.बो. वैराग्य अंग, छन्द, ५
३३. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, २३
३४. जिमि प्रतिबिंबिहि काँच गृह, भूँकि मरत लखि स्वान।
तिमि संसारी द्वैत गहि पचत मरन हैरान॥
जिमि छाया को देखि कै, सिंह परत है कूप।
तथा अविद्या पाय कै, खोयो रूप अनूप॥ —ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, ६४-६५
३५. ब्र.वि. छ. छन्द, २३
३६. ब्र.प.बो. साधन अंग, छन्द, ७३
३७. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, ८६
३८. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, ८
३९. ब्र.प.बो. कैवल्य अंग, छन्द, १७

४०. ब्र.प.बो. विशेष कैवल्य अंग, छन्द, ३५
४१. मुण्डकोपनिषद् ३/१/१
४२. विस्मरण सम्हार, तत्त्व अंग निरूपण, छन्द १
४३. है जग नहि तिहूँकाल, आदि मद्धि औ अन्त में।
एक ब्रह्म को ख्याल, जो जन जाए हेराय सो॥ —ब्र.त. नि, छन्द, ३१
४४. वही, छन्द, १३/२
४५. वही, छन्द, १२
४६. वही, ब्र.प.बो. वैराग्य अंग, छन्द, ३७
४७. ब्र.प.बो. वैराग्य अंग, छन्द, २१
४८. जिमि अकास का वाटिका, फूल्यौ नाना फूल।
लौटै बाझा को तनै, ऐसो यह जग भूल॥ —वही, विज्ञान अंग, छन्द ७५
४९. ब्रह्मायन द्वार, छन्द १९०
५०. जैसे कदली वृक्ष में, नाहीं निकरत सार।
भरमि भयौ अहि जानि कै देखौ भूमि दरार॥ —ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, ७६
५१. जग मसान पकवान है मति कोई चित देय।
हाड़ चांम मज रोम नख, भोर अन्त त्यों लेय॥ —वही, वैराग्य अंग, छन्द, २४
५२. ब्र.प.बो. वैराग्य अंग, छन्द, ३१
५३. हरि माया बसि सम्भु विधि सुर-मुनि सब संसार।
सबको नाच नचावती, कोऊलह्यौ न पार॥ —आत्मबोध, छन्द ५७
५४. ब्र.प.बो. शान्ति अंग, छन्द, ५
५५. वही, छन्द १०
५६. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, ३७
५७. ब्र.प.बो. वैराग्य अंग, छन्द, ३९
५८. ब्र.त. नि. छन्द ४ से १६
५९. गगन पवन जल अगिनि महि, पाँचौ तनु अखण्ड।
ताही करि कै रचित है, पिण्ड और ब्रह्मण्ड॥
ब्रह्म अखण्डित है सदा, येऊसर्व अखण्ड।
ताको खण्डित मानते यह अज्ञान प्रचण्ड॥ —ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, १६-१७
६०. वही, विज्ञान अंग, छन्द, ५८
६१. ब्र.प.बो. ज्ञान विज्ञान मिश्रित अंग, छन्द, १९
६२. ब्र.त.नि. २०/३
६३. ब्रह्मायन सूत्रभाष्य २/३/७ से २/३/१२ तक
६४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७४, पद ४८
६५. निरगुन राम निरगुन राम जपहुँ रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई। —वही, पद ४९, पृष्ठ १७५
बारन अबरन कथ्यौ न जाई। सकल अतीत घट रह्यौ समाई।
आदि अन्ति ताहि नहिं मथै, कथ्यौ न जाई अहि अकथै॥ —वही, अष्टपदी रमैणी २८७
६६. वही, पृष्ठ २४३, पद ४-८

६७. वही, बारह पदी रमैणी, पृष्ठ ३८९
६८. सुन्दर विलास, पृष्ठ १२९
६९. दृष्टि पुष्टि कबहीं नहिं आवत जनम मरन जुग बहुत सिरानी।
अगम अगोचर बसत निरन्तर जाके सीस न पांव न पानी॥
निर्गुन निर्विकार सुखसागर अपरम्पार अखण्डित बानी॥
ईसुर के केतहि ईसुरता साहब अवगित अकथ कथानी।
निरंकार निरुपाधि निरामय भीखा रंग न रूप निसानी॥ —भीखा साहब की बानी (भेद बानी)
७०. ब्र.स्र.वा. शुद्ध कैवल्य अंग, छन्द १
७१. ब्र.त.नि. छन्द ३०/२
७२. सुन्दर विलास, पृष्ठ १६८
७३. ब्र.त.नि. छन्द ३०/१
७४. कबीर ग्रन्थावली-परचाकौ अंग, पृष्ठ १७ (१९२८) सं. डॉ. श्याम सुन्दर दास
७५. अनिर्वाच्य वेदान्त, छन्द १,२
७६. कबीर वाङ्मय खण्ड-१, रमैणी, पृष्ठ ४८
७७. आदिहु एक अन्त पुनि सोई, मध्य उपाइ जु कैसे।
अहै एक पै भ्रम से दूजो, कनक अलंकृत जैसे॥ —रैदास की बानी, शब्द १०
७८. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २
७९. ब्र. वि. छत्तीसा, छन्द २३
८०. कबीर ग्रन्थावली, पद ३७९
८१. वही, माता प्रसाद गुप्त, पद १२१, पृष्ठ २१६
८२. सुन्दर गुटका, कीरतनी आसी दीवार से।
८३. दादू दयाल की बानी, शब्द ४२४
८४. दरिया सागर, पृष्ठ २७
८५. सहजोबाई, सन्त सुधार खण्ड १, पृष्ठ १९२
८६. ब्रह्मायन द्वार, छन्द १५०
८७. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १४
८८. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी
८९. दस चौदह अवतार काल के बसि में पाई—पलटू साहब की बानी, भाग १, पृष्ठ ४६
९०. भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ३
९१. हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ४०९, डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत
९२. कोऊतो सरगुन दिढ़ माना, कोऊनिरगुन के जोगी।
बनादास रघुनाथ कृपा हम, दोऊरूप के भागी॥ —ब्रह्मायन ज्ञान मुक्तावली, छन्द ९१
९३. ब्र.प.बो. साधन अंग, छन्द, ३६
९४. विस्मरण सम्हार उपासना पेम, छन्द १
९५. गोरखबानी
९६. ब्र.प.बो. विज्ञान अंग, छन्द, ७१
९७. कबीर ग्रन्थावली, द्रुपदी रमैणी २

९८. मैं सबनि में औरनि में हूँ सब।
मेरी बिलग-बिलग बिलगाई हो, कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो। —कबीर ग्रन्थावली, पद ५०
कौन मरै कौन जन्मै आई। सरग नरक कौन गति पाई॥
पंच तत्त्व अविगत थैं उतपना एकै किया निवासा।
बहुरे तन फिर सहज समाना रेख रही नहिं आसा॥
आदे गगन मद्धे गगना अन्ते गगना भाई।
कहै कबीर करम किस लगा झूठी संक उपाई॥ —कबीर ग्रन्थावली, पद ४६

९९. मरै न बिनसै अवै न जाई, नानक सदही रहिया समाई। —सुन्दर गुटका—सुखमनी साहिब

१००. सुन्दर विलास, पृष्ठ १०७

१०१. भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ४६

१०२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३१

१०३. वही, पृष्ठ १०८

१०४. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २

१०५. दादूदयाल की बानी, भाग १

१०६. पलटू साहब की बानी, भाग ३

१०७. भीखा साहब की बानी

१०८. ब्र.प.बो. ज्ञान अंग, छन्द, १२

१०९. हौं ही करता भोगता, उतपति पालन हार।
हौं ही यह सब जगत हौं आतम सर्वाधार॥ —वही, विज्ञान अंग, छन्द १६

११०. ब्र. वि. छ. २३।

□

नाथ परम्परा में दीक्षा

—डॉ. चन्द्रमौलि त्रिपाठी

नाथ शब्द अति प्राचीन है। वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता आया है; ऋग्वेद में नाथ शब्द कर्ता, ज्ञाता तथा सृष्टि के निमित्त रूपों में हुआ है।[१] अथर्ववेद में नाथित एवं नाथ शब्दों का उल्लेख मिलता है।[२] 'राज गुह्य' के अनुसार 'नाथ' वह तत्त्व है जो अनादि रूप है तथा भुवनत्रय-स्थिति का कारण है। संस्कृत टीकाकार मुनिदत्त ने नाथ शब्द को सद्गुरु के अर्थ में ग्रहण किया है।[३] हठयोग प्रदीपिका की टीका में ब्रह्मानन्द का कथन है कि सब नाथों में प्रथम आदिनाथ हैं जो स्वयं शिव हैं।[४] गोपीनाथ कविराज ने 'न' का अर्थ अनादि रूप और 'थ' का अर्थ भुवनत्रय से स्थापित माना है।[५] शक्ति संगम तन्त्र के अनुसार 'न' का तात्पर्य उस नाथ के ब्रह्म से है जो मोक्षद् (मोक्ष दान) में दक्ष है, ज्ञात और ज्ञेय दोनों है और 'थ' का अर्थ है अज्ञान को नष्ट करने वाला, अर्थात् नाथ वह तत्त्व है, जो मोक्ष प्रदान करता है और ज्ञान को स्थापित करता है।[६] इसी कारण श्रीगोरक्ष को नाथ कहा जाता है और उनके मतावलम्बी और सम्प्रदाय को नाथ सम्प्रदाय। दूसरे शब्दों में नाथ सम्प्रदाय उन साधकों का सम्प्रदाय है जो नाथ को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करके उसकी प्राप्ति के लिए योगसाधन करते हैं तथा इस सम्प्रदाय में दीक्षित होकर नामान्त में नाथ उपाधि धारण करते हैं। इस सम्प्रदाय को सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग अथवा अवधूतमत भी कहा जाता है। डॉ. नागेन्द्र उपाध्याय ने नाथ को नाथपन्थ का मान्य परम तत्त्व स्वीकार किया है।[७] आचार्य परशुराम शर्मा चतुर्वेदी का मत है कि नाथ शब्द भले ही कभी प्रभु व स्वामी जैसे कतिपय अर्थों का सूचक हो पर बाद में यह ऐसे महापुरुषों का बोधक मान लिया गया, जिन्हें अतिमानवत्व तथा देवत्व पद भी प्रदान किया जा सकता था,[८] अर्थात् परमात्मतत्त्व का अनुभव उसके तद्रूप तक पहुँचने वाला योगी साधक ही सिद्ध के नाम से अभिहित किया जाता है। वर्तमान समय में योगी एक-दूसरे के लिए नाथजी शब्द का व्यवहार करते हैं अतः इस अर्थ में आज नाथ शब्द सम्प्रदाय में उनके अनुयायी जनों के लिए प्रयुक्त होता है।

गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह में शंकराचार्य के अद्वैत मत के पराभव की कथा मिलती है। नाथ सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य अन्त में नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये और इसी अवस्था में उन्होंने

'सिद्धसिद्धान्तबिन्दु' नामक ग्रन्थ की रचना की।[९] शाबर-तन्त्र में कापालिकों के बारह आचार्यों में प्रथम नाम आदिनाथ का ही है, और उनके बारह शिष्यों में से कई नाथ मार्ग के प्रधान आचार्य हैं। इसके अतिरिक्त शाक्त मार्ग, जो तन्त्रमत को मानता है उसके उपदेष्टा भी नाथ ही थे, और उन्होंने ही तन्त्रों की रचना की है, क्योंकि षोडषनित्यांतन्त्र में शिव ने कहा है कि मेरे कहे हुए तन्त्रों का ही नव नाथों ने लोक में प्रचार किया। शाक्त आचार भी चार भागों में विभक्त है—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार; यह कौलमार्ग भी अवधूत मार्ग है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समस्त शाक्त तन्त्र भी नाथ परम्परा का अनुयायी है। कौलज्ञाननिर्णय नामक ग्रन्थ में योगिनी कौलमत का उल्लेख मिलता है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का सम्बन्ध इसी योगिनी कौल मार्ग से माना जाता है। त्रिपुरा सम्प्रदाय के अनेक सिद्धों के नाम वे ही हैं जो नाथपंथियों के हैं। त्रिपुरा मत के तान्त्रिकों के आचार्य अपने को नाथ मतानुयायी ही मानते हैं। महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नामक ग्रन्थ की रचना की, इसमें चौरासी सिद्धों के रचित पद संगृहीत हैं। इन सिद्धों में कान्हपाद या कृष्णपाद का नाम आता है, वे अपने को कापालिक कहते हैं। उन्होंने अपने गुरु का नाम जालन्धरपाद दिया है, यह जालन्धरपाद नाथपन्थ के प्रसिद्ध आचार्य थे। स्कन्दपुराण के काशी खण्ड में नवनाथों का उल्लेख किया गया है, जिनमें से एक जालन्धरनाथ हैं।[१०]

नाथ सम्प्रदाय की साधना पद्धति का मूल रूप औपनिषदिक योग धारा तथा आगम धारा में सन्निहित है। यौगिक प्रक्रिया तर्कसम्मत रूप में मुनि परम्परा से ही श्रमण धारा व आगम धारा के रूप में विभाजित हुई। ऋग्वेद के व्रात्य योगी, रुद्र की उपासना करते थे तथा प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं को महत्त्व देते थे तथा अपनी साधना के बल पर मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते थे तथा यज्ञादि कर्मों से दूर किसी अरूप वस्तु के ध्यान व चिन्तन में निरत रहते थे।[११] इन योगियों की तुलना उपनिषदों के ऋषियों से की जा सकती है। योग साधना के लिए मन और चित्त की निर्मलता का जो विधान नाथ योग में प्राप्त होता है वह किसी-न-किसी रूप में उपनिषद् और गीता में भी मान्य है। नाथ योगियों में शिव और शक्ति के स्वरूप का जिस अर्थ में निर्वचन किया गया है लगभग उसी रूप में वेदान्त में 'ब्रह्म और माया', सांख्य में 'प्रकृति और पुरुष' तथा वैष्णवागम में 'नारायण एवं लक्ष्मी', 'कृष्ण व राधा', 'राम एवं सीता' के स्वरूप में निर्वचन होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि परम तत्त्व के स्वरूप को जो चिन्तन उपनिषदों में दिया गया है वही नाथ योगियों के चिन्तन का आधार है।

योगधर्म वास्तव में एक ऐसा उदारतापूर्ण विराट् धर्म है कि उसमें सभी धर्म समाविष्ट हो जाते हैं। वैदिक व्रात्यों की साधना पद्धति, नाथ योगियों की साधना पद्धति से बहुत कुछ मिलती है। संन्यास प्रारम्भ में शैवमत से सम्बद्ध था और नाथपन्थी साधुओं के लिए भी संन्यासी शब्द व्यवहृत होता था। श्री घुरे ने नाथ लोगों को प्राचीन माहेश्वर, पाशुपत, कापालिक संन्यासियों का विकसित रूप स्वीकार किया है। घेरेण्ड संहिता के आधार पर नाथ योगियों का पाशुपतों, कापालिकों एवं अघोरियों से घनिष्ठ सम्बन्ध की सूचना मिलती है। विल्सन का मत है कि कापालिक लोग विशेषकर कनफटा सम्प्रदाय (नाथ) में अन्तर्भुक्त हुए। त्रिपुरा मत के आचार्य स्वयं को नाथपन्थी कहते हैं। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह के अनुसार नाथ मार्ग यद्यपि विशुद्ध साधनापरक है तथापि कौल, कापालिक आदिमार्ग नाथ द्वारा ही प्रकटीकृत है। आचार्य

विनय मोहन शर्मा ने नाथ मत को शैवधर्म से उद्‌भूत बताया है। ग्रियर्सन ने गोरखनाथ को शैवधर्म का श्रेष्ठ दीक्षागुरु स्वीकार किया है।[१२] पंचकड़ी बन्द्योपाध्याय का मत है कि बंगाल में गोरखनाथजी ने शैवधर्म का प्रचार-प्रसार किया।[१३] डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि गोरक्ष से पहले दो प्रकार के मत रहे होंगे—एक जो योगमार्गी है किन्तु शैव व शाक्त नहीं थे, दूसरे जो शैवागमवादी थे किन्तु योगमार्गी नहीं थे। दोनों ही प्रकार के कई सम्प्रदाय (जो पूर्ववर्ती थे) गोरक्षनाथ संगठन में सम्मिलित हो गये और उनके प्रवर्तकों को गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा।[१४] इसमें से वाममार्गी शाक्त, बौद्ध, अघोर आदि सम्प्रदाय भी रहे होंगे। औघड़मत गोरखनाथ व दत्तात्रेय दोनों के बीच की एक ही कड़ी है, इसकी सैद्धान्तिक पीठिका बाबा किनाराम की विचारधारा है। अपने विचित्र विचारधारा के कारण इनका सम्बन्ध कापालिकों से अधिक निकट दिखाई पड़ता है। इस पन्थ के पूर्व तक किनाराम के गुरु कालूराम थे। अवधूत परम्परा के प्रभाव से टेकमनराम तथा भीखमराम जैसे सन्तों की वाणियों में हठयोग की शब्दावली का प्रयोग मिलता है। सरभंग सम्प्रदाय, अवधूत या औघड़ परम्परा का ही एक रूप है इसका निकटतम सम्बन्ध शैव मत के शाक्त शाखाओं से है। भरत सिंह उपाध्याय का मत है कि औघड़ प्राचीन कापालिकों का अवशिष्ट रूपान्तरित मत है, यह नाथपन्थियों का दूसरा वर्ग है जो नाथ सम्प्रदाय की सम्पूर्ण दीक्षा प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं होते फिर भी अपने को नाथपन्थी स्वीकार कर गुरु गोरखनाथ के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं।[१५]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेदवाह्य साधनाएँ नाथपन्थ में योग के माध्यम से एकीकृत हुईं। डॉ. मलिक का मत है कि नाथ सम्प्रदाय धर्म उपनिषदों का धर्म है। इसमें जैनों का जत नामक चूड़ान्त ब्रह्मचर्य, बौद्धों का विज्ञान एवं शून्यवाद तथा वज्रयान व तन्त्र का लय तथा कुण्डलिनी योग सहजिपा मत, कौल मत, हठयोग साधना का अपूर्व मिश्रण है। डॉ. ईश्वरदत्त राकेश का मत है कि ज्ञान योग प्रधान ईश्वरवादी संयमपूर्ण साधना नाथयोगी सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुई और गोरखनाथ ने कायाशोधन, मनोकारण आत्मचिन्तन तथा रासायनिक सिद्धि के आधार पर नाथ सम्प्रदाय की पुनर्संरचना की और बारह सम्प्रदायों को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में स्थापित कर सम्पूर्ण वृहत्तर भारत में योगी सम्प्रदाय का प्रभाव फैला दिया।[१६]

गोरखनाथ ने जिस नाथ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया उसमें शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन व वैष्णव आगमों के न्यूनाधिक तत्त्व किसी-न-किसी रूप में अवशिष्ट हुए हैं। तन्त्रागमों का प्रभाव अपरिहार्य था, अतः सभी धर्मों में उनके तत्त्व अनुस्यूत (बिखरे) दिखाई पड़ते हैं, पर गोरखनाथ द्वारा नाथ सम्प्रदाय की पुनर्संरचना में शैवोपासक व्रात्य मुनियों की परम्परा को दृढ़ आधार दिया गया। यही कारण है कि नाथ सम्प्रदाय के योगियों ने मानव समाज में बिखरी हुई कुप्रथाओं, कुसंस्कारों एवं विकृत मान्यताओं को नष्ट करने का संकल्प किया। कालान्तर में इस प्रकार के छोटे-छोटे सम्प्रदाय नाथ सम्प्रदाय में विलीन होते गये। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय उन सभी साधकों का सम्प्रदाय है जो नाथ को परमपद स्वीकार कर उसकी प्राप्ति के लिए योग साधना करते हैं तथा इस सम्प्रदाय में दीक्षित होकर नामान्त में 'नाथ' उपाधि जोड़ते हैं।

गोरखवानी में नाथ के दो अर्थ प्रयोग मिलते हैं—एक जगह नाथ का प्रयोग रचयिता के रूप में हुआ है तो दूसरी ज़गह परमब्रह्म या परमतत्त्व के लिए।[१७] नाथेत्तर साहित्य में नाथ का प्रयोग मायाजेता के रूप में

किया गया है, वहीं पर उन्हें त्रिभुवनयती भी माना गया है और उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश के क्रम में स्वीकार किया गया है परन्तु योगशास्त्र में इसकी महत्ता और क्रम इस प्रकार बताया गया है—

शिव, भैरो, श्रीकण्ठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, सृष्टि। इससे स्पष्ट होता है कि नाथ इस सृष्टि क्रम से पूर्णतया परे हैं। वहीं पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि सिद्धों के इष्ट नाथ हैं जिन्होंने स्त्री व उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं किया। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवता तथा अण्डज, पिण्डज, उष्मज (नभचर, जलचर, थलचर) सभी स्त्रियों द्वारा विजित हैं, लेकिन नाथ ही मायाजेता है। नाथेत्तर साहित्य में यह शंका स्वाभाविक ही है कि नाथ शब्द का प्रयोग नाथ सम्प्रदाय के सिद्धों के लिए किया गया है जबकि नाथ शब्द एक उपाधि है। बंगाल के योगी लोग भी अपने-अपने नामों के अन्त में नाथ शब्द का प्रयोग करते हैं और अन्य व्यवसायी भी। नाथ सम्प्रदाय के विभिन्न नाम अन्य क्षेत्रों में भी प्रचलित दिखाई पड़ते हैं, यथा-योगी, कनफटा, दर्शनी और गोरखनाथी। इस परम्परा के भिक्षु और संन्यासी तथा गृहस्थ पंजाब से लेकर बंगाल और नेपाल तक मिलते हैं और ये सभी गोरखनाथ को अपना गुरु मानते हैं। किन्तु इसी के साथ यह भी सत्य है कि बहुत सी तान्त्रिक साधना परम्परा में जो सीधे नाथ परम्परा में नहीं आते वहाँ पर भी नाथ उपाधि लगायी जाती है। उदाहरण के लिए श्रीविद्या परम्परा में साधना करने वाले व्यक्ति की अभिषेक (दीक्षा) होती है इसके बाद नाथ उपाधि को वे अपने नाम के आगे लगा सकते हैं। 'ललितासहस्त्रनाम' के प्रसिद्ध टीकाकार भास्करानन्दनाथ इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त गृहस्थों में भी नामान्त के रूप में कहीं-कहीं नाथ शब्द का प्रयोग मिलता है यथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के सिद्धार्थनगर जनपद में पंक्तिपावन ब्राह्मणों का एक प्रसिद्ध गाँव चेतिया है। जहाँ के ब्राह्मण परिवारों में कुल नाम के रूप में 'नाथ' शब्द का अनिवार्यत: प्रयोग होता है। जबकि यह ज्ञात तथ्य है कि ये लोग नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं होते। इन विभिन्न प्रान्तों में नाथपन्थी लोगों के अनेक नाम मिलते हैं। ब्रिक्स के अनुसार ये लोग पंजाब, हिमाचल प्रदेश, बम्बई (महाराष्ट्र) आदि प्रदेशों में नाथ नाम से पश्चिमी भारत में प्राय: 'धर्मनाथी' नाम से तथा अन्य भागों में यह 'गोरखनाथी' व 'कनफटा' नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। पंजाब में मुसलिम योगी भी मिलते हैं जिन्हें 'रावल' नाम से पुकारा जाता है।[१८]

इन नामों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि ये नामकरण विभिन्न दृष्टियों से किये गये हैं, यह नाम कहीं सम्प्रदायगत है तो कहीं विशिष्टता के कारण। हठयोग की साधना के कारण उन्हें योगी कहा जाता है। यहाँ योगी शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है, उसमें ऐसे भी योगियों को समाहित किया जाता है जो कनफटे नहीं हैं, संन्यासियों के लिए भी योगी शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार कनफटा, दर्शनी और गोरखनाथी योगी में ही आते हैं। नाथपंथियों का मुख्य सम्प्रदाय गोरखनाथी योगियों का है जो मुख्यत: बारह शाखाओं में विभक्त है। अनुश्रुति के अनुसार स्वयं गोरखनाथ ने परस्पर विच्छिन्न नाथपन्थियों का संगठन करके इन्हें बारह शाखाओं में विभक्त कर दिया था जो इस प्रकार है—[१९]

१. सत्यनाथी	२. धर्मनाथी	३. रामपन्थ	४. नटेश्वरी
५. कन्नड़	६. कपिलानी	७. वैराग	८. माननाथी
९. आईपन्थ	१०. पागलपन्थ	११. धजपन्थ	१२. गंगानाथी

इन्हीं बारह पन्थों के कारण शंकराचार्य के दसनामी संन्यासियों की भाँति इन्हें बारह (द्वादश) पन्थी योगी कहा जाता है। प्रत्येक पन्थ का एक विशेष स्थान है जिसे ये लोग अपना पुण्य क्षेत्र मानते हैं साथ ही यह पन्थ किसी पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदि प्रवर्तक मानता है। एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार शिव ने बारह पन्थ चलाये थे और गोरखनाथ ने भी, दोनों दल आपस में झगड़ते थे; अत: स्वयं गोरखनाथ ने छ: अपने और छ: शिवजी के पन्थों को जोड़ दिया, वही आजकल नाथपन्थियों की बारहपन्थी शाखा बनी।[२०] इन अनुश्रुतियों से शिव का बारहपन्थी शाखा से सम्बद्ध होना सिद्ध है। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में शिव के दो प्रधान शिष्य बताये गये हैं—मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ। मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ हैं और जालन्धरनाथ के शिष्य बारह कापालिक हैं—

१. आदिनाथ	२. अनादि	३. काल	४. अतिकाल
५. कराल	६. विकराल	७. महाकाल	८. कालभैरवनाथ
९. बटुकनाथ	१०. वीरनाथ	११. भूतनाथ	१२. श्रीकण्ठ

इन शाखाओं की बहुत सी उपशाखाएँ हैं। गोरखपुर व आस-पास के परिक्षेत्र में धर्मनाथ शाखा का प्राधान्य है। इनका मुख्य स्थान उत्तर प्रदेश के गोरखपुर शहर में गोरक्षनाथ पीठ है जहाँ के वर्तमान महन्त श्री अवेद्यनाथजी हैं।

वेशभूषा

नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। मेखला, जनेव, शृंगी, सेली, कंथा, गुदरी, खप्पर, कर्णमुद्रा, धंधारी बाघम्बर झोला, डण्डा आदि चिह्न ये लोग धारण करते हैं। इनके वस्त्र भगवे, श्वेत तथा काले होते हैं पर अधिकांशत: भगवे वस्त्र ही पहनते हैं तथा कुछ नंगे सिर भ्रमण करते हैं, तो कुछ केश व दाढ़ी रखते हैं। नाथ योगियों की मुख्य विशेषता यह है कि ये लोग कान के मध्य भाग में कुण्डल पहनते हैं। यह प्रथा किस प्रकार प्रारम्भ हुई, इस विषय पर नाना प्रकार की दन्त-कथाएँ प्रचलित हैं। जिनमें एक तो यह है कि भगवान् शिव के आदेश से मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने कान में कुण्डल पहने और अपने शिष्यों को कुण्डल पहनाये। यह कुण्डल सामान्यतया हाथी के दाँत, विलोर पत्थर, गैंडों के सींग व सोने व अन्य धातुओं के होते हैं। दूसरी अनुश्रुति यह है कि गोरखनाथ ने भरथरी का कान फाड़कर मिट्टी के कुण्डल पहनाये पर मिट्टी के कुण्डल के टूटने की आशंका बनी रहती है इसलिए धातु या हिरण के सींग की कर्णमुद्रा धारण की जाती है। विधवा स्त्रियाँ तथा गृहस्थ योगियों की पत्नियाँ भी इसे धारण करते देखी जाती हैं।[२१]

गोरखनाथी लोग एक विशेष शुभ मुहूर्त (विशेषत: वसन्त पंचमी को) पर कान को चिरवा कर मन्त्र के संस्कार के साथ इस मुद्रा को धारण करते हैं। कुछ ऐसे नाथपन्थी हैं जो आजीवन कर्णमुद्रा धारण ही नहीं करते। कहा जाता है कि हिंगलाज में दो सिद्ध एक शिष्य का कान चीरने लगे, पर हर बार यह छेद बन्द हो जाता था। तभी से औघड़ लोग कान नहीं चिरवाते। कुछ उदारवादी योगियों का मानना है कि श्रीनाथ ने यह प्रथा इसलिए चलायी होगी कि कान चिरवाने की पीड़ा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में

प्रवेश नहीं कर सकेंगे। नाथ-पन्थ के अनुयायी मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं—दर्शनी और औघड़। दर्शनी (अघोरी) उसे कहते हैं जिसने कान फड़वाकर कुण्डल धारण कर लिया हो तथा औघड़ केवल नादजनेऊ धारण करते हैं। इसके अतिरिक्त योगियों के पास पहनने के लिए पीली अथवा भगवी धोती, कमीज, जैकेट तथा सिर पर टोपी अथवा पगड़ी एवं भगवे रंग का थैला भी रहता है जो भिक्षा के सामग्री संचयन में प्रयुक्त होता है, साथ ही एक डंडा व लोहे का चिमटा भी रहता है।

नाथ सम्प्रदाय में जनेऊ (यज्ञोपवीत) का विशेष महत्त्व है। यह जनेऊ काले भेड़ के ऊन से बनाये जाते हैं। कहा जाता है कि जनेऊ बनाने के लिए भेड़ की ऊन भी किसी कुवाँरी कन्या द्वारा संचित किया जाता है और उसे कातने के पश्चात् जनेऊ तैयार किया जाता है; उससे जुड़ी हुई एक पवित्री होती है जो गोलाकार छल्ले की भाँति होती है। पवित्री के साथ ही सूत के धागे से बँधी नादि होती है जो एक विशेष प्रकार की आवाज निकालती है। यह नादि साधारणतया काले हिरण की सींग या बारहसिंहे की सींग की बनी होती है। कुछ योगियों के पास पत्थर, लकड़ी या अन्य सस्ती धातुओं से बनी पायी जाती है। काले हिरण की सींग की नादि अधिक पवित्र मानी जाती है। इस नादि को योगी पूजा करते समय बजाते हैं, इसके अतिरिक्त जब भी कोई योगी गुरु से भेंट करता है तो एक हाथ से नादि पकड़कर बजाता है और दूसरा हाथ गुरु के चरणों में रखता है एवं गुरु की आँखों में आँखें मिलाकर आदेश-आदेश शब्द का उच्चारण करता है। यह शब्द इस सम्प्रदाय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नाथ सम्प्रदाय में सामान्य शिष्टाचार में भी इसी शब्द का प्रयोग किया जाता है।

नादि के बारे में यह धारणा प्रचलित है कि राजा भर्तृहरि ने काले हिरण के शिकार को सोचा पर कोई हिरण हाथ नहीं आया। पर एक हिरण इस शर्त पर शिकार बनने के लिए तैयार हुआ कि उसके मृत्यु के उपरान्त उसके सींग की नादि बनायी जाए, जिससे गुरु गोरक्षनाथ की पूजा हो सके, तब से नाथ सम्प्रदाय में काले हिरण का छाल तथा इसके सींग का कुंडल तथा नादि अत्यन्त पवित्र माना जाता है। नादि के साथ बँधा हुआ रुद्राक्ष का मनका होता है जो इस सम्प्रदाय में अत्यन्त पवित्र माना जाता है। रुद्राक्ष एकमुखी से लेकर इक्कीसमुखी तक होता है। कुछ योगी अपने माथे पर त्रिपुण्ड भी बनाते हैं। त्रिपुण्ड की तीन रेखाएँ होती हैं ये रेखाएँ या तो राख (भस्म) की अथवा मिट्टी व चन्दन की भी होती हैं। काल भैरव के पुजारी काले रंग की रेखाएँ तथा हनुमान के पुजारी लाल रंग की रेखाएँ लगाते हैं; कई योगी पूरे शरीर में भस्म लगाये रहते हैं। नाथपंथियों की भस्म धूनी से ली जाती है। प्रत्येक मठ में एक धूनी अवश्य होती है जिसे श्रीनाथजी की धूनी कहा जाता है। धूने में एक या अधिक त्रिशूल भी रखे रहते हैं। प्रसाद के रूप में धूने से भस्म दी जाती है। ऐसा लोक विश्वास है कि धूने की भस्म कई प्रकार के रोगों के उपचार व बाधाओं के शमन के लिए शक्तिशाली होती है। यह दैहिक, दैविक, भौतिक ताप भय विनाशी है। कई कनफटे योगी स्थान-स्थान पर छोटे मन्दिरों में डेरे लगाये बैठे मिलते हैं, ये तन्त्र विद्या में भी निपुण होते हैं, जिसके द्वारा अनेक रोगों के साथ-साथ भूत-प्रेतादि बाधाओं से मुक्ति मिलती है, कुछ साँप के काटे का भी इलाज मन्त्र द्वारा करते हैं। इनके बारे में प्रचलित है कि यह योग द्वारा प्रकृति पर भी विजय प्राप्त करते हैं। (योगस्तुप्रकृतोपरः)।

नाथ-पन्थ में कुछ अघोरी भी होते हैं जो सामान्यतया मुर्दाघाट पर होते हैं। यह लोग आम तौर पर अग्नि से शव निकालकर खा जाते हैं। यह लोग अधिकतर जंगलों में अथवा रात्रि के समय श्मशान घाट पर भ्रमण करते हैं। कहा जाता है कि इनके पास कई प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं और यह असाधारण कार्य भी कर सकते हैं। इसलिए इन्हें शव-साधक भी कहा जाता है।

दीक्षा-प्रक्रिया

किसी भी बड़े मठ में किसी भी नये व्यक्ति को सम्प्रदाय में प्रवेश करने के पूर्व उसके चरित्र के विषय में पूर्णरूपेण जाँच करायी जाती है। शिष्य की योग्यता भी इस प्रकार परमार्थ के मार्ग में कम महत्त्व नहीं रखती। यह मार्ग केवल शूर के लिए है, जिसमें अदम्य बल, उत्साह, त्याग, वितिक्षा, विवेक और वैराग्य हो। परमार्थ का साधन दिन-रैन का जूझना है यह मैदान शूर के ही हाथ रहता है।[२२]

शिष्य में यदि आवश्यक योग्यता नहीं है तो उसे शिष्य नहीं बनाना चाहिए। इस तरह की योग्यता सहस्रों में से किसी एक के पास होती है। अतः नाथ-पन्थ में अधिक शिष्य बनाने का निषेध किया गया है। अयोग्य को शिष्य बनाने में गुरु को दोष लगता है। ऐसे शिष्य भ्रष्ट हो जाते हैं। स्त्रियों के भ्रष्ट हो जाने पर जिस प्रकार से पति को लज्जित होना पड़ता है, उसी तरह शिष्य के भ्रष्ट हो जाने पर गुरु को लज्जित होना पड़ता है। नाथपन्थ में शिष्य के बत्तीस लक्षण कहे गये हैं।[२३]

ज्ञान परीक्षा	—	निरालम्ब, निर्भ्रम, निवासी, निःशब्द
विवेक परीक्षा	—	निर्मोह, निर्बन्ध, निर्शंक, निर्विषय
निरालम्ब परीक्षा	—	निष्प्रपञ्च, निरुतरंग, निर्द्वन्द्व, निर्लेय
सन्तोष परीक्षा	—	अचानक, अवांछक, अभान, अस्थिर
शील परीक्षा	—	शुचि, संयमी, शान्त, श्रोता
बमेक परीक्षा	—	सर्वांगी, सावधान, सन सारग्राही
सहज परीक्षा	—	सुहृदय, शीतल, सुखद, स्वभाव
शून्य परीक्षा	—	जय, लक्ष्यम्, ध्यानम्, समाधि

नाथपन्थियों में अनजान बने रहना उचित बताया गया है। इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि तत्त्वविद् होते हुए भी संसार में इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए कि जैसे कि कुछ नहीं जानते हों। गुरु के बनाने से लाभ होता है परन्तु शिष्य (चेले) बनाने से सदैव हानि की सम्भावना रहती है।[२४]

अन्धकार को प्रकाश में, अज्ञान को सुज्ञान में, मृतत्त्व को अमृतत्व में, आत्मा को परमात्मा में, अनिश्चय को निश्चय में, अशिव को शिव में, जर को अजर में, अनाथ को नाथ में परिणत करके सच्चिदानन्द में सुस्थिर होना नाथ गुरुओं का लक्ष्य व उद्देश्य है।

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारतः। भयाणाभैक्यसंभूतिरादेशः परिकीर्तितः॥

केन उपनिषद् में कहा गया है कि—

'यस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्यु तदा इदीन्य मीभिषदा इत्यादि देवतम्'

अर्थात् उस ब्रह्मा का सांकेतिक उपदेश है जो कि बिजली का चमकना-सा है; नेत्रों का झपकना-सा है, इस प्रकार यह अधिदैविक उपदेश है। इस आदि उपदेश में दीक्षा प्राप्त नाथ योगी जब आपस में मिलते हैं तो आदेश-आदेश अथवा 'ॐ नमः शिवाय' आदि से अभिवादन करते हैं।[२५] नाथ सम्प्रदाय में प्रवेश के लिए सर्वप्रथम उसको नाद जनेऊ पहनाया जाता है तथा वह औघड़ कहलाता है। यह संस्कार सामान्यतः मठ अथवा आश्रम में ही किया जाता है। इस संस्कार के समय गुरु शिष्य की चोटी अपने हाथ से काटता है; पुनः स्नान कराया जाता है, साथ ही उसके शरीर पर भस्म लगाया जाता है; अब वह औघड़ हो जाता है। इन सब क्रिया के बाद वह गुरु-सेवा करने लगता है। उसके योगाभ्यास तथा नवनाथ का बहुत महत्त्व बताया गया है, शरीर के नवद्वार को नवनाथ माना गया है। यह नवनाथ का क्रमवार वर्णन इस प्रकार है—

१. ज्योति स्वरूप ॐकार महेश्वर — आदिनाथ
२. धरणी स्वरूप पार्वती — उदयनाथ
३. जल स्वरूप ब्रह्मा — सत्यनाथ
४. तेज स्वरूप विष्णु — सन्तोषनाथ
५. वायु स्वरूप शेषनाग — अचलनाथ
६. आकाश स्वरूप गणेश — गजकैथाड़ीनाथ
७. वनस्पति स्वरूप चन्द्रमा — चौरंगीनाथ
८. माया स्वरूप करुणामय — मत्स्येन्द्रनाथ
९. अलक्ष्य स्वरूप आयोनिशंकर — त्रिनेत्र गोरक्षनाथ

इसके साथ ही योग साधना के क्रमशः आठ अंगों का भी उल्लेख किया गया है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि। नाथ सम्प्रदाय में दो प्रकार के शिष्यों का उल्लेख दिखाई पड़ता है; पहला प्रवर्जित—जो ज्ञान होने पर घर त्याग कर योग दीक्षा लेते हैं, और दूसरा प्रत्यर्पित—जो कि बालक के रूप में ही योगी की याचना से अर्पित किया जाता है। प्रत्यर्पित बालक योग के लिए सर्वश्रेष्ठ अधिकारी होता है। इससे जारणा योग और कुण्डल्युत्थान की आशा होती है। प्रवर्जित शिष्य केवल श्वास और घट विचार का ही अधिकारी होता है हठ योग का प्रत्याशी नहीं हो सकता; किन्तु बल, अबल, कर्मठता आदि के विचार से वह भी योग्य ठहरे तो उसके लिए भी द्वार खुले होते हैं।

गुरु अपने शिष्य की कई प्रकार की परीक्षाएँ लेते हैं। यदि गुरु शिष्य के चरित्र या अन्य उपलब्धियों से सन्तुष्ट हो तो अन्त में कर्ण बेध कर कुण्डल धारण कराया जाता है। कर्ण बेध के पश्चात् नये नाथ को कुछ दिन भिक्षाटन के लिए समीप के नगर में जाना पड़ता है। इस अवसर पर गुरु के आश्रम में नवनाथ एवं चौरासी सिद्धों के साथ बालसुन्दरी की पूजा की जाती है, तथा आरती, हलवा एवं लड्डू की भेंट भी चढ़ायी जाती है। इसके उपरान्त भण्डारा का आयोजन किया जाता है। कर्ण कुण्डल पहनने पर दीक्षित शिष्य उस पन्थ का सदस्य मान लिया जाता है जिससे उसका गुरु सम्बन्धित हो। नाथ सम्प्रदाय में बारह पन्थों का उल्लेख मिलता है।

१. सत्यनाथ	—	सत्यनामी पन्थ
२. रामनाथ (रामचन्द्र)	—	रामपन्थ या रामनामी पन्थ
३. धरमनाथ (युधिष्ठिर)	—	धर्मनाथी पन्थ
४. लक्ष्मणनाथ (लक्ष्मण)	—	नटेश्वरी पन्थ या लक्ष्मणनाथी पन्थ
५. दरियानाथ	—	दरियानाथी पन्थ
६. गंगानाथ (भीष्म)	—	गंगानाथी पन्थ
७. वैरागनाथ, विचारनाथ	—	वैरागी या वैरागीनाथ पन्थ
८. रावल, नागनाथ	—	रावल पन्थ
९. जालन्धरनाथ	—	जलंधर पन्थ
१०. आईनाथ (विमला)	—	आई पन्थ
११. कपिलनाथ	—	कपिलनाथी पन्थ
१२. धजनाथ (हनुमान)	—	धजनाथी पन्थ

इस सम्प्रदाय में मुख्यत: पाँच गुरु माने जाते हैं—

१. चोटी गुरु—चोटी गुरु उसे माना जाता है जो प्रथमत: शिष्य की चोटी काटता है। शिष्य का पन्थ भी चोटी गुरु के नाम से चलता है और वही अपने गुरु का हकदार भी होता है।

२. चीरा गुरु—यह उस गुरु को कहते हैं जिसने औघड़ के कान में चीरा दिया हो।

३. विभूति गुरु—वह है जो औघड़ शरीर पर कुण्डल पहनने से पहले प्रथम विभूति लगाता है।

४. उपदेशो गुरु—इसका तात्पर्य उस गुरु से है जो शिष्य को कान छेदने के समय उपदेश देता है।

५. शिक्षा गुरु—यह गुरु योगाभ्यास तथा अन्य प्रकार की शिक्षा देता है।

नया योगी कुण्डल धारण करने के पश्चात् गुरु के आश्रम में ही रहता है जब तक उसकी दीक्षा पूर्ण न हो जाए। कालान्तर में गुरु शिष्य को तमाम व्यावहारिक शिक्षा देकर तीर्थाटन के लिए भेज देता है जिससे वह अपना स्वतन्त्र रूप से जीवन शुरू कर सके। इस प्रकार दीक्षा के लिए चार संस्कारों की व्याख्या की गयी है जो शिखा, वेध, त्याग, उपदेश नाम से जाना जा सकता है। ऐसे योगी मन-पवन को वश में करके श्वासोच्छवास द्वारा अजपा जाप का पाठ करते हैं और अन्दर-बाहर से सेली, सिंगी, नाद, मुद्रा, रुद्राक्ष, त्रिपुण्ड, गैरिकाम्बर, विभूत्याम्बर, बाघम्बर धारण करके निश्चयात्मक वृत्ति में रहते हैं, ये नाथ योगी दर्शनी भी कहलाते हैं।[२६] योगी पुरुष नादि, मुद्रा, सेली, सिंगी आदि जो बहिरंग का भूषण बनाकर धारण करते हैं, उपदेश विधि संस्कार में भी सेवक को इन भूषणों को अन्तरंग का भूषण बनाकर पहनने की आज्ञा देते हैं। योगी नादि मुद्रादि को अन्दर-बाहर से धारण करते हैं और सेवक को अन्त:करण में धारण कराते हैं और समझाते हैं कि यह नादि मुद्रा तुम्हारे घट के भीतर मौजूद है।[२७] नाथपन्थी साहित्य में कहा गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ को अपना स्वरूप प्रदान करते समय महादेवजी ने स्वरूप का जो महत्त्व समझाया है, वह इस प्रकार है।[२८]

विभूति स्नान अभिप्राय—श्री महादेवजी बालक तपस्वी सहित कैलास आए और अगले दिन

अपना वेश स्वीकृति कराने लगे। प्रथम सिर में विभूति डालकर विभूति स्नान कराने के साथ-साथ उसका महत्त्व अर्थात् अभिप्राय भी समझाया कि 'हे शिष्य! हमने जो तेरे सिर पर डाला है यह भस्म अर्थात् मृत्तिका है। अतएव इसके डालने के द्वारा हम तुम्हें यह उपदेश देते हैं कि तुम आज से पृथ्वीवत हो जाना और जिस प्रकार अच्छी व बुरी वस्तु रखने से यह पृथ्वी कभी प्रसन्नता अप्रसन्नता नहीं प्रकट करती उसी प्रकार कोई भी सांसारिक मनुष्य अपने ज्ञान से व अज्ञान से तुम्हारे साथ अच्छा या कुत्सित व्यवहार करे, तुम पृथ्वी की तरह सदा एक रस ही बने रहना अर्थात् पृथ्वी तुल्य जड़ हो जाना। चेतनता केवल अलक्ष पुरुष का प्रिय बनकर आत्मोद्धार के लिए समझना अथवा इस भस्मी को डालने के द्वारा हमारा यह अभिप्राय मानना कि अग्नि के संयोग के पहले जिसकी यह भस्मी बनी है वह काष्ठ था। जिससे काठिन्यादि अनेक गुण थे और उसकी व्यावहारिक अनेक वस्तु भी बन सकती थी। परन्तु अग्नि के संयोग होने पर काष्ठ की यह दशा हो गयी कि इसके वे काठिन्यादि कुत्सित गुण न जाने कहाँ चले गये। अब इसमें से उन अनेक वस्तुओं का बनना भी सम्भव नहीं रहा। ठीक उसी प्रकार हमारे संयोग के पहले सम्भव है कि तुम अनेक सांसारिक व्यापार भी कर सकते थे परन्तु हमारे संयोग से प्राप्त कर अब ऐसा हो जाना कि उसमें काष्ठ की तरह उन कुत्सित कृत्यों को भस्मसात् कर डालना।'

जल स्नान अभिप्राय—महादेवजी ने जल स्नान का अभिप्राय समझाया कि 'हे शिष्य! जिसको हम तुम्हारे ऊपर छोड़ रहे हैं उसे बरसाने वाला मेघ है। इस जल को सिर पर छोड़ने का हमारा यह अभिप्राय है कि तुम आज से बरसाने वाला मेघ बन जाना और जिस प्रकार वह मेघ स्थल का भेद नहीं करता उसी प्रकार संसार के सभी श्रेणी के लोगों के साथ तुम्हारा समान बर्ताव होना चाहिए। अतएव तुम आज से जल बन जाना और जिस प्रकार हजार बार तपने पर भी यह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तथा ऊपर डालने पर शीतलता प्रदान करता है ठीक इसी प्रकार कोई सांसारिक पुरुष तुम्हारी परीक्षा के अभिप्राय में अथवा अपने कुत्सित स्वभाव के अनुरोध से तुम्हारे अनेक तर्क न लगाये तो भी तुम जल की तरह अपना स्वभाव नहीं छोड़ना अर्थात् अपने सात्विक आत्मबल द्वारा उसको शान्त कर देना।

नाद जनेऊ का अभिप्राय—यह काष्ठादि का बना हुआ यह नाद है, इसका दूसरा अर्थ शब्द है जो गुरु समझा जाता है अतएव आज से तुम नाद अर्थात् शब्द से अपनी उत्पत्ति समझना। नाद से उत्पन्न होने के कारण तुमने नूतन जन्म प्राप्त किया है। यह नाद जिसमें अवलम्बित है वह उर्णादि में निर्मित किया हुआ जनेऊ नाम से व्यवहृत किया जाता है। यह जिस प्रकार सांसारिक लोगों के जनेऊ से भिन्न है उसी प्रकार आज से अनेक अतथ्य व्यवहार परिणति सांसारिक व्यवहार में प्रवृत्त हो गये, तो कल्याण पथ प्राप्त करना तो दूर रहा तुम्हें अधिक हानि उठानी पड़ेगी। अतएव सदा अपने स्वच्छ उद्देश्य से मतलब रखना। इस अभिप्राय की आत्मा से जो दूर रहे वे भी व्यवहार में उपदेशी विधान के अवसर पर धातु की या बाँस की नली से शिष्य के कान में मन्त्र फूँकते हैं। कान में मन्त्र फूँकने की यह नली भी नाद संसर्ग के कारण 'नाद' कहलाती है।

भिक्षा का महत्त्व—नाथ योगी की भूख निवृत्ति के लिए भिक्षावृत्ति करनी होती है, अलख भैरव रूप में भिक्षावृत्ति के लिए जाने का विशेष महत्त्व है; भैरव, छोली, बटुआ, भभूत, घुँघरू, नगीने, सेली

आदि आवश्यक उपकरण हैं। उनकी चौबीस हाथ की सेली कमर से छाती तक बँधी रहती है। नौ हाथ की सेली गले में बँधी रहती है। दोनों भुजाओं में रंग-बिरंगे रुमाल बँधे रहते हैं। घुँघरुओं की ध्वनि गृहस्थों को योगी के आने की सूचना देती है। घंटे की आवाज सुनकर दरवाजे व रास्ते में भीख ले खड़े रहते हैं। योगी कहीं नहीं रुकता, झोली में प्राप्त एक दिन की वस्तु दूसरे दिन के लिए नहीं रखता क्योंकि यह कहा गया है कि आज खाय कल को रखै, ताको गोरख साथ न रखै।

नाथपन्थ में औघड़ शिष्य के लिए तीन दीक्षाएँ रह जाती हैं—बेध, उपदेश और त्याग।

चीरा बेध—बेध अर्थात् कर्ण भेदन, यह बड़ी कठिन क्रिया है। इसके लिए अनुभवी गुरु और अनुकूल देश-काल की आवश्यकता होती है, बड़ी योग्यता से सावधान होकर शिष्य को उत्तरामुखी के रूप में समक्ष बैठाकर नीम के पानी से पकायी गयी दुधारी पतली छुरिका से कर्ण बेध किया जाता है। इस क्रिया के बाद वह नया नाथ बन जाता है। नया नाथ को चालीस दिन तक लम्बा सोना वर्जित है। यदि बैठे हुए नींद आ जाए तो कोई आपत्ति नहीं पर इसमें चीरा गुरु और नया नाथ दोनों को विशेष सावधानी रखनी पड़ती है। नया नाथ के इन चालीस दिनों को चीला कहा जाता है। इसके पूर्व में बतायी गयी यौगिक क्रिया करायी जाती है और पथ्य की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है। उचित उपचार होने पर बीस-पच्चीस दिनों में यह ठीक हो जाता है लेकिन इस प्रकार का बन्धन चालीस दिन तक विद्यमान रहता है। सुधाकर चन्द्रिका में कहा गया है कि गोरखनाथियों का यह विश्वास है कि स्त्रियों के दर्शन से घाव पक जाता है, इसलिए जब तक घाव अच्छा नहीं हो जाता तब तक स्त्री दर्शन से बचने के लिए किसी कमरे में बन्द रहते हैं और फलाहार करते हैं।[२९] जिस योगी का कान खराब या फट जाता है, वह सम्प्रदाय से अलग हो जाता है और पुजारी बनने का अधिकार खो देता है।

उपरोक्त विवरण से नाथ सम्प्रदाय में 'कुण्डल मुद्रा' का महत्त्व स्पष्ट होता है। इस पन्थ में कर्णकुण्डल चलाने की प्रथा का श्रेय मत्स्येन्द्रनाथ व गोरखनाथ को दिया जाता है तथापि कर्णकुण्डल की प्रथा प्राचीन है। कुण्डलधारी शिव-मूर्तियाँ प्राचीन काल से ही बनती हैं। एलोरा गुफा के कैलास मन्दिर में शिव की एक महायोगी मुद्रा की मूर्ति पायी गयी है जिसके कान में बड़े-बड़े कुण्डल हैं। यह मन्दिर व मूर्ति आठवीं सदी ई. की है परन्तु यह कुण्डल कनफटा योगियों की भाँति नहीं पहने गये हैं। ब्रिग्स ने आठवीं सदी की सालसेटी, एलोरा, एलीफैण्टा की मूर्तियों के कुण्डल को कनफटा योगियों के कुण्डल जैसे बताया है।[३०] इसके अतिरिक्त मद्रास के उत्तरी आर्काट जिले के परशरामेश्वर का जो मन्दिर है उसके भीतर स्थापित लिंग पर शिव की एक मूर्ति है जिसके कानों में कनफटा योगियों के समान कुण्डल धारण कराया गया है। इस मन्दिर का पुनर्संस्कार ११२६ ई. में हुआ है; अतः निश्चय ही यह मूर्ति बहुत पुरानी होगी, पुरातत्त्वविद् टी.ए. गोपीनाथ राव ने इस मूर्ति की तिथि दूसरी, तीसरी सदी ई. माना है।[३१] इससे स्पष्ट होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ के पूर्व भी शैव मूर्तियाँ कुण्डलधारी होती थीं पर इससे इस परम्परा का विरोध नहीं होता क्योंकि नाथपन्थी साहित्य में कहा गया है कि शिवजी ने अपना वेश ज्यों-का-त्यों मत्स्येन्द्रनाथ को दिया था, जिसके लिए उन्हें कठोर तपस्या करनी पड़ी थी।

उपदेश—यह योगिधर के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण विधि है। यह मात्र योगियों के लिए ही नहीं,

अपितु प्रत्येक शिखा-सूत्रधारी के लिए भी है। इस विधान में सिद्ध नाथसाधकों द्वारा वाणी गायी जाती है। कभी-कभी तो प्रश्नोत्तर में मजबूत मण्डली जुट जाए तो दो-दो दिन भी बीत जाता है। कब रात हुई, कब दिन हुआ, इसका भी ध्यान नहीं रहता है। शब्दगान की शैली, चाल-ढाल, लय, ध्वनि आदि का पता ही नहीं चलता है। शब्द गाने वाले को शब्दी या मुनिवर कहते हैं। जब ये रस में या जिद में आ जाते हैं तो अपने शब्दों की अनवरत चाल को नहीं छोड़ते हैं। ऐसे मौकों पर इनके गले का ध्यान रखना बहुत आवश्यक होता है, इसके लिए केसर, पिस्ता, बादाम मिला गर्म दूध पिलाया जाता है। काली मिर्च, इलायची, मिश्री बार-बार काम में आते हैं जिससे गले व मुख में खुश्की नहीं होती है। इस विधान में उसी के शब्द गाये जाते हैं जो इस दीक्षा से दीक्षित हो। कबीर के शब्द गाये जाएँ या न गाये जाएँ इस बात पर कभी-कभी उपदेशी विधान में विवाद खड़ा हो जाता है। विधान में मर्मज्ञ और रसास्वादी होते हैं, तो ज्ञान की अमृत वर्षा होती है। बाह्य रूप से स्थान खूब सजा रहता है, समय-समय पर फूलों की भी वर्षा की जाती है। अभिमानी लोगों को बाहर कर दिया जाता है। मण्डलाचार्य विवेकी हों तो स्वर्ग के द्वार खुल जाने का वास्तविक आनन्द इन मण्डलियों में आता है। वार्षिकोत्सव या किसी के जन्मोत्सव के अवसर पर भी मण्डल रचाया जाता है यह मेल कहलाता है, मेल में किसी के लिए विवाद नहीं होता है। कबीर, तुलसी, सूर, नानक आदि भक्तों के भी शब्द गाये जाते हैं। टोली में जिद होने पर शब्दी शब्दकर्ता और प्रसंग को नहीं बदल सकता, प्रश्नोत्तर प्रासंगिक होना चाहिए। जिसने जिस कवि को अथवा कवि के विषय को बदला तो वह हार जाता है। प्राय: इन मण्डलों में निर्गुणी शब्दों का ही प्रयोग होता है; सितार, तम्बूरा, कुर्जी, मंजीरा, तबला, ढोलक आदि खुल जाते हैं और गानवाद्यों का धूम मच जाता है। सवाल-जवाब शुरू होने लगते हैं, रंग जम जाता है; हार-जीत के अवसर पर लोग हो-हो करने लगते हैं। इस उपदेश का विधान किसी मठ में या मढ़ी में रचा जाता है। यह विधान अपनी सामर्थ्य के आधार पर ही अवलम्बित होता है क्योंकि इसमें खर्च अधिक होता है। एक दिन पहले मठ-मढ़ी के अधिपति जो इस विधान के आचार्य होते हैं, मुनवरों सहित निमन्त्रित किये जाते हैं; निमन्त्रण में विधानाचार्य अपने-अपने मठ के मुनवरों को साथ लेकर ठीक समय पर आ जाते हैं। दीक्षा-क्रम आरम्भ होने पर मानधारी निमन्त्रित महन्त साखी कहने के बाद शब्द चढ़ाता है। प्रथम शब्द गणेश की स्तुति का होता है। शब्दों के गाने में काफी समय लगता है, स्वर के साथ स्वर मिलाना पड़ता है। स्वर टूटना नहीं चाहिए अत: तीन-चार मुनवर मिलकर शब्द गाते हैं तो अटूट आनन्द आता है। मनुष्यों की सम्पूर्ण बाह्य वृत्ति का शमन हो जाता है। शास्त्रीय संगीत का उपयोग यह लोग करते हैं इसलिए यह गायन मार्गी-गायन भी कहलाता है। गायन के शास्त्रों के तीन भेद मिलते हैं—साम गायन, शैव गायन, गन्धर्व गायन। इन लोगों के संगीत में शैव गायन और गन्धर्व गायन के तत्त्वों का योग मिलता है। एक शब्द को गाने में एक घंटे से कम नहीं लगता है, लेकिन आमन्त्रित प्रत्येक महन्त को समय मिलता है।

इनके यहाँ दीक्षा क्रम को विवाह से अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह जनेऊ (यज्ञोपवीत) के बाद की दीक्षा है, अतएव इसका आयोजन बड़े सजधज के साथ होता है। गुरु पीठ का मण्डप विशेष सजा रहता है। पाँच, सात, नौ संख्या के गुरु पीठ शिवनगरी जाग्रत स्थान की पूजा मन्त्रों के साथ होती है। ज्योति,

कला, पाठ, पूजा, नाद, मुद्रा का रहस्य प्रत्यक्ष उदाहरणों से समझाते हैं। कान में मन्त्र फूँका जाता है। कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं, ज्योति, कला आदि के दर्शन घट भीतर ही होते हैं। शिष्य को दृढ़ रहने का उपदेश मिलता है। दर्शनी योगी को जब उपदेश दिया जाता है तो उसे नाद मुद्रा नहीं देते हैं। अन्य सबको सेली, सिंगी पहनाकर दीक्षा देते हैं। दीक्षा क्रिया की समाप्ति पर भोजन प्रसाद देते हैं, आमन्त्रित महन्तों, ब्राह्मणों, भट्टों आदि को चीपी (दक्षिणा) दी जाती है। इस दीक्षा के आचार्य को सतगुरु या शब्द गुरु कहा जाता है।

नाथ सम्प्रदाय में सम्यक साधना का अनुष्ठान मुख्य माना जाता है इसीलिए इनकी साधना प्रणाली सर्वांगीण तथा विविधता लिए हुए होता है, क्योंकि यहाँ रुचिभेद से जिस साधक को जो रुचे, वह उसी में प्रवृत्त हो। नाथ मतानुसार परम पद पूर्णत्व अथवा शिवत्व लाभ का अधिकार जीव मात्र से है। परिश्रम करने पर फल लाभ अवश्यम्भावी है, और चेष्टा करने पर मनुष्य के लिए कोई भी वस्तु असाध्य नहीं है। यही चेष्टा अथवा परिश्रम पुरस्कार है जिसकी आवश्यकता साधना मार्ग की यात्रा में सर्वप्रथम अपेक्षित है।[३२]

नाथ सम्प्रदाय गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी कृपा को नहीं मानता। इस पन्थ में गुरु की बड़ी महिमा बतायी गयी है। गुरु ही समस्त श्रेयों का मूल है और एक मात्र अवधूत ही गुरुपद का अधिकारी हो सकता है। वह अवधूत जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करता है और प्रत्येक पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे हाथ में भोग, फिर भी जो त्याग और भोग दोनों में अलिप्त है;[३३] और जैसा कि सूत्रसंहिता में कहा गया है, वह वर्णाश्रम से परे है और समस्त गुरुओं का साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है और न बराबर।[३४] इसी प्रकार विनिर्मुक्त योगेश्वर को भी नाथ पद की प्राप्ति होती है क्योंकि सप्तधातु भय काया के पिंजरे में योग मुक्ति न जानने से जीव सुए की भाँति बद्ध पड़ा हुआ है, सतगुरु ही अपने कृपा-कटाक्ष से उबार सकते हैं, इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। गुरु की आवश्यकता के विषय में नाथपन्थी गण कठोपनिषद् का सहारा लेते हैं कि आत्म तत्त्व, अल्पज्ञ मनुष्य की शिक्षा से एवं बहुत प्रकार से स्व चिन्तन करने पर भी विज्ञेय नहीं हैं। इसलिए दूसरे ज्ञानी पुरुष के द्वारा उपदेश न किये जाने पर इस विषय में मनुष्य का प्रवेश नहीं होता है क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म और तर्कातीत तत्त्व है। वह ज्ञानी तत्त्ववेत्ता भी धन्य है और जिज्ञासु शिष्य भी धन्य है जो परस्पर इसका कथन करते हैं।[३५] नाथमतानुसार संसार में भटकते हुए तृषित जीव को एक मात्र सतगुरु का करुणावारि ही परम शान्ति दे सकता है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। गुरु का मूड़ा हुआ गुण में रहता है, जिसे गुरु नहीं मिला वह अवगुणों के गहन गर्त में भ्रमित हुआ जीवन यापन करता है।[३६] पूरा गुरु अगर नहीं मिला तो इस मार्ग पर पैर रखकर अपने कुल का नाश न करे। नाथ वाणियों की यह स्पष्ट उक्ति है ऐसा न होने पर न परमार्थ की सिद्धि होगी और संसार की।[३७]

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र सम्बन्ध से भी अधिक घनिष्ठ प्रेमयुक्त, निःस्वार्थ और महत्त्व का है। पुत्र लौकिक पिता की बिन्दु सन्तान है और शिष्य गुरु की नाद सन्तान है। पिता स्थूलदेह का जन्मदाता है और गुरु ज्ञानदेह का। शास्त्रों में जन्म को नेत्रोन्मीलन कहा गया है। मातृगर्भ से बाह्य संसार में पदार्पण करने के पश्चात् वैष्णवी वायु के सम्पर्क से शिशु का प्रथम नेत्रोन्मीलन उसका जन्म कहलाता है।

यह नेत्र खोलना ही जन्म है और लौकिक पिता इसी का दाता है। पिता भी नेत्रोन्मीलन रूपी जन्म का दाता है, परन्तु गुरु पिता ज्ञान नेत्रोन्मीलन रूपी जन्म का दाता है, गुरु अपनी कृपा शिष्य को चैतन्य का बोध कराकर आज्ञा चक्र स्थित उसके प्रज्ञाचक्षु को खोलता है। तब शिष्य के आध्यात्मिक जन्म का आरम्भ होता है। यह जीवन परमार्थ के संसार का जीवन है इसमें जरा-मृत्यु, रोग-शोक, अज्ञान और अबोध के लिए कोई स्थान नहीं है। गुरु इसका दाता है अतएव परात्पर पिता है।

नाथ साहित्य में जिस प्रकार शिष्य के लिए आवश्यक योग्यता व गुण की चर्चा की गयी है और अयोग्य शिष्य से जिस प्रकार नाथ सिद्ध गुरु को सावधान रहने के लिए कहते हैं शिष्य को भी अयोग्य गुरु के प्रति सचेत रहने के लिए कहना वे नहीं भूले। अयोग्य गुरु से योग के स्थान पर रोग मिलता है। अत: गुरु परखकर करना चाहिए। चेलों का दल बल बाँधकर भिक्षा से अघाकर खाने वाले असंयमी गुरुओं की सिद्ध चर्पटीनाथ ने बड़ी ही स्पष्टोक्ति में खबर ली।[३८] ध्यान की अवस्था में केवल ध्यान मात्र का ही सन्धान शेष रह जाता है। ध्यान के शास्त्र में सोलह भेद कहे गये हैं। साधारणतया दो निर्गुण एवं सगुण ध्यानों का ही उल्लेख मुख्य रूप से मिलता है। ध्यान की परिपक्व अवस्था में एक मात्र ध्येय का सन्धान जिसका स्वरूप अनिर्वचनीय कहा गया है, समाधि कहलाती है। समाधि के भी सवितर्क, सविचार, सम्प्रज्ञात, सविकल्प, जड़, असम्प्रज्ञात, निर्वितक, निर्विकार, निर्विकल्प, नित्यचैतन्य, अस्पर्श इत्यादि कई नामों का उल्लेख है। मन्त्र योग का नाथ सम्प्रदाय की विभिन्न साधना पद्धति में विशिष्ट स्थान है। प्राण वायु टंकार से बाहर जाता है, और सकार के भीतर प्रवेश करता है, श्वास, प्रश्वास की इसी गति के मध्य जीव 'हंस' मन्त्र का सर्वदा जाप करता है। गुरु कृपा से प्राण की विपरीत भावपन्न अवस्था में जब यह मन्त्र सोऽहं के रूप में परिणत हो जाता है तब मन्त्र योग आख्या इसे दी जाती है। यही नाद महान् अनहद नाद में लीन होकर साधक जीव को आज्ञा चक्र में लाता है। वहाँ बिन्दु स्थान भेदकर सहस्रारस्थ महाबिन्दु पर्यन्त पहुँचा होता है। हंस मन्त्र का सोऽहं में परिणत होना नाथ मतोपदिष्ट मन्त्रों की पूर्णाहुति यही है।[३९]

सन्दर्भ :

१. ऋग्वेद—१०.१३०, सिद्धनाथ संहिता विवेक सागर भाग-१, पृष्ठ-११

२. वही—पृ.१९

३. राजगुह्य—नाकारोऽनादि रूपं थकार: स्थाप्यते सदा। भुवनत्रयमेवैक: श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते॥

४. हठयोग प्रदीपिका—आदिनाथ: सर्वेषां नाथानां प्रथम:, ततौ नाथ सम्प्रदाय: प्रवृत्त इति नाथ सम्प्रदायिनो वदन्ति।

५. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह—महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, पृ.१८

६. शक्ति संगम तन्त्र—श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथ ब्रह्मानुबोधनात्। स्थागिताज्ञान विभवात् श्रीनाथ इति गीयते॥

७. गुरु गोरखनाथ—डॉ. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय।

८. गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ—आचार्य श्री परशुराम चतुर्वेदी

९. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह—वही, पृ.१८

१०. दे. स्कन्द पुराण (काशी खण्ड)

११. दे. प्राचीन भारतीय संस्कति में व्रत—डॉ. चन्द्रमौलि मणि त्रिपाठी (१९८९)(गोरखपुर वि.वि.का अप्रकाशित

शोध प्रबन्ध), प्राचीन भारतीय समाज, अर्थ एवं धर्म—प्रो. रमानाथ मिश्र, पृ.३०,३१

१२. गोरखनाथ और उनकी परम्परा का साहित्य—डॉ. दिवाकर पाण्डेय

१३. वही

१४. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, खण्ड ६—हजारीप्रसाद द्विवेदी

१५. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरत सिंह उपाध्याय, पृ.६८

१६. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास और दर्शन—डॉ. कल्याणी मलिक, पृ.१९१-१९३

१७. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह—नाथ कहें तुम आपा राखै, नाथ कहें तुम सुनहु रे अवधू
गोरखवाणी—डॉ. बड़थ्वाल, ते निश्चल सदा नाथ के संग, नाथ महन्ता सब जग नाथ्या

१८. गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज—जी. डब्ल्यू. ब्रिग्स
नाथ सम्प्रदायेत्तर इतिहास दर्शन और साधन प्रणाली—डॉ. कल्याणी मलिक

१९. गम्भीरनाथ प्रसंग—पृ.५०,५१

२०. ब्रिग्स—वही, पृ.६३, हजारी प्रसाद द्विवेदी का सुझाव है कि यह सर्वसम्मत सूची नहीं समझनी चाहिए।

२१. वही—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ.३३,३४

२२. गोरखवानी—पृ.१८५, सूर मांहि चन्द महि सूर, चन्दहि तीनि तेहुणा बाजल तूर।
मणन्त गोरखनाथ एक पर पूरा मांजन भौदू सांघति सूरा।

२३. वही, पृ.२४९
एती अष्टांग जोग पारछ्या, भगति का लक्षनं।
सिधापाई, साधिका पाई, जे जन उतरे पारं॥

२४. दत्त की सब्दी—जान तै अन्जान होइवा, तत लेबा छाणि।
गुरु किया लाभ है अवधू, चेला किये हाणि॥

२५. आदेश का अर्थ और अभिप्राय बताते हुए देवी पाटन मन्दिर, उ.प्र. के योगी सूर्यनाथ ने बताया कि यह समस्त गुरुओं को आदेश, सदगुरु को आदेश, मेरी भक्ति आपकी शक्ति प्राप्त हो को मन में पढ़कर नादि बजाकर आदेश करें।

२६. दर्शनी योगी शिव की काया, जोगी जोग जुगुत की राशि।

२७. मन, मदुरा, सत गुरु छुरी, षवन्दा वेध्या कान जोगी का घर कण्णा है कहवे क आसान॥

२८. 'योगिसम्प्रदायाविष्कृत'

२९. इस अवधूत की संगत करना, इस अवधूत से पार उतरना।
सून्य मण्डल में इसकी फेरी, काली नागिन इसकी चेरी॥
बटुआ भीतर नागन आई, नागन मार तले विधाई।
तब जोगी ने जुगुत कमाई, सलक भिष्य मांगू, घर पर मांगू॥
कर पर खाऊभले बुरे के संग न जाऊं।

३०. ब्रिग्स, वही

३१. इण्डियन एण्टिक्वैरी भाग-४, नाथ सम्प्रदाय—द्विवेदी, पृ.२७

३२. गोरखवाणी—
चार पहर आलंगन निंद, संसार जाई विषया वाही।
उमी वॉह गोरखनाथ पुकारे झूलम हारौ म्हारा भाई॥

३३. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह—पृ.१

वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे। दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोवधूतः श्रियेस्तुनः।
एक हस्ते धृतस्त्यागो योगश्चैककरे स्व्यम्। अलिप्त स्तत्याग योगाभ्यां सोवधूतः श्रियेस्तु॥

३४. अष्ट.—पृ.४५९
अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरुणां गुरु रुज्यते। न तत्समोधिको वास्मिन लोकेस्त्येव न संशयः॥

३५. वही—न नरेणा वरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेय बहुधा चिन्तयमान अनन्य प्रोक्ते
गतिरन्त्र नास्ति अणीयान हय तकर्पमण प्रमाणायात्।

३६. वही—सांच का शब्द सोना का रेख, निगुरा को चाणक सशुरा को उपदेश
गुरु का मुड्या गुण में रहे। निगुरा भ्रमे औ गुज नाहै।

३७. गोरखवानी—काज न मिट्या जंजाल न छुट्या, तब करि हुआ न सूरा,
कुल का वास करे मति मति कोई जे गुरु मिलै न पूरा।

३८. नाथ सम्प्रदाय—द्विवेदी, पृ. १६३

३९. गोरखवानी—ऐसा जाप करो मन लाई, सोऽहं अजपा गाई आसण दृढ़ करि धरो धियानं।

□

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में नाथपन्थ

—डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद

समालोचकों द्वारा किंचित् उपेक्षित ऐतिहासिक उपन्यासों में भारत के बहुआयामी जीवन को हम एक कलात्मक कथानक में तत्युगीन पात्रों की चिन्तना, क्रियाशीलता तथा अभिव्यक्ति के द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में देख सकते हैं, समझ सकते हैं और अनुभूत कर सकते हैं। युग का जीवन उपन्यास में जीवन्त हो उठता है। इतिहास में समाधिस्थ नायक जागृत हो जाता है। उस युग की सारी स्थितियाँ आँखों के सामने आ जाती हैं। उपन्यास के माध्यम से पाठक वर्तमान में रहकर अतीत में प्रवेश कर जाता है। हम कभी-कभी उस युग की गतिविधि और संघर्ष में सम्मिलित-से हो जाते हैं। वर्तमान का यथार्थ अतीत के यथार्थ के निकट आ जाता है। यह भविष्य की दृष्टि की ओर संकेतित कर देता है। यह ऐतिहासिक उपन्यास की सार्थकता है।

प्राचीन भारत वैदिक युग से चिन्तन, मनन, अनुसन्धान, उपासना एवं नवनिर्माण में रत रहा है। चिन्तन और उपासना की स्वतन्त्रता के कारण विभिन्न साधकों द्वारा अनेक साधना पद्धतियाँ उद्भूत हुई हैं। द्वन्द्व के साथ समन्वय होता रहा है। ईसा से पहले श्रमण-जैन और बौद्ध चिन्तना एवं साधना आ गयी थीं। बाद में बौद्ध चिन्तना एवं साधना हीनयान, महायान, वज्रयान, तन्त्रयान और सहजयान में बदलती रही है। वैदिक-अवैदिक जनजीवन में शिव का स्थान रहा है। शिव के साथ योग जुड़ा हुआ है। ईसा से डेढ़ सौ वर्ष पहले पतञ्जलि ने योग के सिद्धान्त एवं साधना को 'योगसूत्रम्' में प्रस्तुत कर दिया। योग प्राणतत्त्व (वायुतत्त्व) की शक्ति-साधना है। इसके द्वारा कुण्डलिनी को जागृत करके योगी ऊर्ध्वआरोहण करता है। वह शिवमय हो जाता है। यह विश्व को भारत का विशिष्ट अवदान है।

नाथपन्थ इसी योग पर आधारित है। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और गुरु गोरखनाथ ने इस नाथपन्थ को प्रतिष्ठित किया था। बौद्ध महायान के वज्रयान-तन्त्रयान-सहजयान की पंचमकार साधना के कामपरक रूप से क्षुब्ध साधक ने योग पर आधारित नाथपन्थ के शुद्ध सात्त्विक रूप को समाज के समक्ष रखा। आदिनाथ शिव से जुड़ा नाथपन्थ तेजस्वी रूप में प्रकट हो गया था।

औपनिवेशिक लेखनी से प्रस्तुत और वामपन्थी विरोध एवं विकृति से रचित भारतीय इतिहास

नाथपन्थ के योगदान को भूल सकता है। पर हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने नाथपन्थ के साधनामय एवं संघर्षमय जीवन को अपने उपन्यासों में दिखा दिया है। इस आलेख ने ऐतिहासिक उपन्यासों में चित्रित नाथपन्थी साधना के बहुआयामी अवदानों का विवेचन किया है।

सर्वश्री रांगेय राघव, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, शिव प्रसाद सिंह और शत्रुघ्न प्रसाद के ऐतिहासिक उपन्यासों में नौवीं सदी से लेकर पन्द्रहवीं सदी तक भारतीय जीवन में नाथपन्थ की साधना एवं सामाजिक-राष्ट्रीय क्रियाशीलता को देखकर हम अनुप्राणित हो सकते हैं। यह कालखण्ड नाथपन्थ के प्रभाव का काल है।

प्रसिद्ध चिन्तक और कथाकार रांगेय राघव ने नौवीं-दसवीं सदी में साधनारत गुरु गोरखनाथ को 'धूनी का धुआँ', तेरहवीं सदी के चर्पटनाथ को 'जब आवेगी कालघटा' और चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी के निर्भीक योगियों को 'लखिमा की आँखें' में प्रस्तुत किया है।

डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने नौवीं-दसवीं सदी के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ तथा गुरु गोरखनाथ—दोनों को 'जाग मछन्दर गोरख आया' में चित्रित कर जनजीवन में व्याप्त कहावत के अर्थ को स्पष्ट कर दिया है।

डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने १३वीं-१४वीं सदी से सम्बद्ध महाकाव्यात्मक उपन्यास 'दिल्ली दूर है' में नायक आनन्द बाशेक के माध्यम से सूफी सीदी मौला और बाबा फरीद के साथ नाथपन्थी रावलपीर की सांस्कृतिक ऐक्यसाधना को वर्णित किया है। चित्तौड़ के राजवंश की स्थापना के मूल में नाथयोगी के योगदान के अर्द्धज्ञात इतिहास की झलक मिल जाती है। आज 'रावलपिण्डी' नाम शेष है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तेरहवीं सदी से सम्बद्ध उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' में नागनाथ और विद्याधर—यह दोनों की द्विविध साधना को चित्रित कर दिया है।

शत्रुघ्न प्रसाद ने १२वीं सदी के मगध के बौद्ध पाल वंश के राजकुमार महेन्द्र पाल देव को बख्तियार खिलजी के आक्रमण से उदन्तपुरी की रक्षा के लिए पाटलिपुत्र के मार्ग में गंगा तट पर नाथ योगी से प्रेरणा दिलवायी है। १५वीं सदी से सम्बद्ध 'सुनो भाई साधो' में कबीरदास के युग में नाथपन्थ के प्रभाव को दिखाया है।

भारतीय इतिहास के तुर्क-मुगल आक्रमण, फतह और हुकूमत की रोमांचकारी घटनाओं पर लघु उपन्यास शृंखला के उपन्यासकार रांगेय राघव ने मार्क्सवादी प्रतिबद्धता का त्याग कर प्रगतिशील भारतीयता की दृष्टि को अपनाया है। इसलिए इन उपन्यासों में भारतीय जीवन का यथार्थ साकार हो गया है। इसी दृष्टि से सन् १९५९ ई. में उन्होंने 'धूनी का धुआँ' लिखा है। 'धूनी का धुआँ' योग साधक के तपोमय जीवन का प्रतीक है। इसमें गुरु गोरखनाथ के जीवन के तीनों महत्त्वपूर्ण प्रसंगों के आधार पर उपन्यासकार ने उनके तेजस्वी एवं क्रान्तिकारी व्यक्तित्व को आकलित कर दिया है। उन्होंने भूमिका में लिखा है—"भारत के भविष्य में सम्भवत: संसार को पथ दिखाने वाली ज्योति उदय होगी, जो रूस के अनुभवों की अच्छाइयाँ लेगी, अपनी परम्परा से मानवतावाद को लेगी और देशी योग में निहित मानव जाति की अपार शक्ति को। और नये समाज, संसार और व्यक्ति का उदय होगा जिससे समाज के विकास के साथ व्यक्ति घुटेगा नहीं, विकास करेगा।"

उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में दिखाया है कि गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) नाथपन्थी साधना के पहले बौद्ध अनंगवज्र थे। वे बौद्ध वज्रयान-तन्त्रयान साधना के पतनशील रूप से क्षुब्ध हो गये थे। वे पंचमकार कामपरकता से विद्रोह कर नाथ-पन्थ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के पास आ गये। वे अनंगवज्र से गोरक्षनाथ हो गये। उन्होंने हठयोग अपनाया। व्यष्टि और समष्टि के जीवन में ब्रह्मचर्य एवं योग से नया तेज जगाया। साथ ही उन्होंने सिन्ध प्रदेश में विदेशी अरबों के आधिपत्य के बाद राजस्थान की ओर उन्हें बढ़ते देखा। इधर गुरु मत्स्येन्द्रनाथ असम की ओर चले गये थे। अत: वे असम के स्त्रीप्रधान क्षेत्र के कामपरक केन्द्र में पहुँच गये। उन्हें पता लग गया कि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ कामपरक साधना में लीन हैं। उन्होंने मृदंग की थाप पर गुरु को सावधान किया। और फिर अरब आक्रमण के विरुद्ध सम्पूर्ण पश्चिम भारत में जागरण का शंखनाद-शृंगीनाद किया।

रांगेय राघव ने अरब-तुर्कों के आक्रमण को साम्राज्यवादी आक्रमण माना है। उनकी सांस्कृतिक चेतना ने राष्ट्रबोध का रूप ग्रहण कर लिया है। यह सांस्कृतिक राष्ट्रबोध इस लघु उपन्यास शृंखला का प्राणतत्त्व बन गया है। इस रूप में भारतीय इतिहास के एक सांस्कृतिक क्रान्तिकारी साधक की साधना का सच सामने आ गया है।

डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने मार्क्सवादी प्रतिबद्धता से मुक्त होकर 'जाग मछन्दर गोरख आया' का लेखन किया है। उन्होंने भूमिका में लिखा है—''मत्स्येन्द्रनाथ ही उपन्यास के केन्द्रीय पात्र हैं, नायक भी कह सकते हैं। उनका विरोधी पक्ष प्रस्तुत करने के लिए गोरक्षनाथ हैं, अत: उनको कम स्थान दिया गया है ताकि मत्स्येन्द्र की साधना को पूरे रंगरोगन के साथ पेश करने से गोरक्ष के हस्तक्षेप की आवश्यकता महसूस हो। तथापि गोरख के पक्ष की साधना, दर्शन और तर्क की भी प्रस्तुति आवश्यक थी अन्यथा दोनों पक्षों का रूप खड़ा नहीं होता और कला की दृष्टि से भी न्यूनता-सी रहती; अत: गोरक्ष के व्यक्तित्व और भूमिका को पर्याप्त मात्रा में उभारा गया है।

''दूसरा आयाम इतिहास का है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा—प्रसिद्ध राजस्थान इतिहासविद्—के नवीनतम इतिहास (राजस्थान का इतिहास) को पढ़ते समय मुझे आठवीं शताब्दी के अन्त और नौवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजस्थान के शासक समुदाय के द्वारा अरब आक्रमणकारियों के प्रतिरोध के विषय में नये तथ्य मिले। बस, इतना करना था कि गोरक्ष को मैं एकता-प्रेरक के रूप में चित्रित कर देता।''

डॉ. उपाध्याय ने अपने उपन्यास में बताया है कि मछली के चंचल स्वभाव के समान जल में छिपकर गुरु से योग का रहस्य समझने वाले का नाम मत्स्येन्द्रनाथ हो गया था। मत्स्येन्द्रनाथ ने नर्मदा तट पर धीवर कन्या (मूलत: राजकन्या) नर्मदा के साथ वामा साधना आरम्भ की। जाबालपुर (जबलपुर) में यह साधना आगे बढ़ी। स्त्रियाँ आकृष्ट हुईं। उन पर आरोप लगा। वे अपनी विशिष्ट शक्ति से आरोप मुक्त हुए। उधर उदयपुर की पहाड़ी पर गोरखनाथ के नेतृत्व में योगियों ने अरबों के आक्रमण के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त की। गुरु गोरखनाथ ने योग साधना और देश रक्षा—दोनों का सन्देश दिया। उनकी दृष्टि में युद्ध भी योग है। उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ के हठयोग में विराग मानकर अपनी योगिनी कौलसाधना में जीवन के मूलराग को सही घोषित किया। और वे नर्मदा के साथ असम के स्त्रीराज्य के लिए चल पड़े।

उपन्यासकार ने उपन्यास के मध्य में गया के क्षेत्र में शाक्त कापालिक कालघंट से चमत्कारपूर्ण संघर्ष का रोचक वर्णन किया है। वहाँ तान्त्रिक कालघंट और योगी मत्स्येन्द्र का मुकाबला हुआ है। मत्स्येन्द्रनाथ विजयी हुए। वे नर्मदा के साथ राजवधू प्रियम्वदा को भी लेकर कामरूप पहुँच गये।

इधर रमणवज्र से गोरखनाथ बनकर मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य ने उदयपुर क्षेत्र के सभी क्षत्रियों तथा मीणा वनवासियों के आपसी विरोध को दूर किया। और प्रत्येक घर से एक-एक नवयुवक को योगी सेना में आने का आवाहन किया जिससे विदेशी आक्रमणकारियों से संघर्ष हो सके। यह उनकी समष्टि चेतना और राष्ट्र चेतना का परिचायक है। पर गुरु मत्स्येन्द्रनाथ तो दूर चले गये थे। उनकी उपस्थिति आवश्यक थी। अत: वे स्त्रीवेश में अन्य के साथ कामरूप के कदलीवन में जा पहुँचे। वहाँ गुरु मत्स्येन्द्र ललिता के साथ वामा साधना में लीन थे। गोरखनाथ ने अपने गीत से गुरु को सावधान किया। 'जाग मछन्दर गोरख आया' नामक गीत गूँज उठा। सभी देश रक्षा के लिए पंचनद की ओर चल पड़े।

डॉ. उपाध्याय ने पहले गया की शाक्त कापालिक साधना और फिर कामरूप की वामा साधना का विस्तृत वर्णन कर हमें विस्मय विमुग्ध कर दिया है। उपन्यासकार विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने उपन्यास के अठारहवें अध्याय में गुरु गोरखनाथ के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय अवदान को उपस्थित किया है। वे लिखते हैं—''गुरु गोरखनाथ ने महाराष्ट्र से नेपाल तक और पुष्कलावती (पेशावर) से अंग-बंग तक वाममार्गियों को उखाड़ा, समाज में भेदभाव, बाह्याचार, आडम्बर, पांडित्याभिमान और पदसोपान क्रमवाली सामाजिक संरचना और जाति-पाँति के आग्रहों के विरुद्ध एक चेतना फैलाई और साधना में आन्तरिक तथा कठोर अनुशासन का चमत्कारी आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने आक्रान्ताओं-आततायियों के विरुद्ध जनयोग को सफल करने के लिए नाथानुशासन को कई अखाड़ों में बाँटा।''

उपन्यास में आए चिन्तनकण से नाथपन्थ का स्वरूप सामने आ जाता है। (क) गोरक्ष ने सृष्टि रहस्य को नादघोष में पाया। प्रपञ्च के मूल में नाद है। नाद ॐकार रूप है। अत: ॐ से सारा जगत् बना है। (ख) मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है—''योग में भेदभाव नहीं होता'' —अध्याय १३। यहाँ द्वैत नहीं, जाति नहीं, ऊँच-नीच, छुआछूत नहीं—यहाँ तक कि जड़-चेतन भी नहीं। सब शिवमय है।'' —अध्याय २. (ग) गोरक्ष ने गजनी में पहुँचकर एक मुल्ला से कहा—''हम योगी हैं और हम ना हिन्दू ना मुसलमान का नारा देते हैं। योग किसी सम्प्रदाय का नाम नहीं, यह कोई मजहब नहीं, यह तो शरीर की साधना है। चेतना का ऊर्ध्व विकास है।...हम भी एक ईश्वर को मानते हैं जो निराकार है।'' —अध्याय १३। (घ) गुरु गोरक्ष के योगपरक राष्ट्रभाव की हम अनुभूति करें—''मैं जम्मू द्वीप की कल्पना एक सम्पूर्ण हठयोगी के रूप में करता हूँ; दादा गुरु! इस महायोगी का शीश कश्मीर है, दाहिने हाथ का कमण्डल, माला और भुजा में पड़ी शृंगी अंग-बंग-उड्डीयमान हैं। बायें हाथ में त्रिशूल, उसके ऊपर स्थित डमरू और असि है, अगल-बगल परशु, भुजाली और धनुष बाण है, यही तो गुर्जर, सिन्ध, राजपुत्रस्थान, पंचनद और मेरी जन्मभूमि पश्चिमोत्तर के प्रदेश हैं...।'' —अध्याय-५।

ग्यारहवीं सदी के कथानक पर आधारित 'नीला चाँद' में उपन्यासकार डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने शील और शक्ति से सम्पन्न नायक कीर्ति वर्मा को प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास गजनवी के आक्रमण के बाद

के भारत के पूर्वी एवं मध्य भारत के राजाओं के आपसी संघर्ष से सम्बद्ध है। इसमें नायक कीर्ति वर्मा ने विन्ध्याचल की सिद्धयोगिनी शीलभद्रा माँ से आशीष पायी है। बंगीय योगिनी देवी की उपासिका हैं। वैष्णवी भी हैं। पर ये योग साधिका हैं। इसी रूप में कीर्ति वर्मा का मार्गदर्शन करती हैं।

शत्रुघ्न प्रसाद लिखित 'सिद्धियों के खंडहर' में बारहवीं सदी के मगध (उदन्तपुरी) के अन्तिम बौद्ध राजा गोविन्द पाल देव के समय बख्तियार खिलजी के आक्रमण, युद्ध और पराजय की मर्मान्तक गाथा है। बौद्ध राजा को बौद्ध सिद्धों की सिद्धियों पर विश्वास था; सैन्य संगठन कमजोर था। परन्तु राजकुमार महेन्द्र सैन्य संगठन चाहता था। इसी स्थिति में महेन्द्र पाल का पाटलिपुत्र में आना हुआ। मार्ग में विकटनाथपुर में नाथयोगी का साधना केन्द्र था। महेन्द्रनाथ योगी के पास पहुँचा। नाथयोगी ने मगध की दु:स्थिति पर कहा—''कुमार महेन्द्र! तन्त्रसाधना में तन्मय होना सो जाना ही कहलायेगा। ये सहजयानी सिद्ध महामुद्रा से सिद्धियाँ प्राप्त कर रहे हैं। वासना की गाढ़ी नींद में सो रहे हैं। फलत: मगध में न चरित्र रह गया है और न देश की चिन्ता है। सेना की शक्ति भी दुर्बल है।...पश्चिम भारत में सेना थी। शौर्य था तो भी वे अपने को बचा नहीं सके।''

''कुमार! गुरु गोरखनाथ ने ब्रह्मचर्य, योग और शिव को लेकर धर्म को पवित्र तथा तेजस्वी बनाने का प्रयत्न किया था। उसी पवित्रता तथा तेजस्विता को लेकर हमने देश-धर्म के लिए संघर्ष किया है।...आप चरित्र और सैन्य शक्ति के द्वारा सफल संघर्ष कर सकते हैं।'' —अध्याय ३।

'सिद्धियों के खंडहर' में बारहवीं सदी के पूर्वी भारत का मर्मान्तक यथार्थ हमारे सामने आ गया है। पर नाथयोगी का सन्देश गूँजता रहता है।

रांगेय राघव ने १३वीं सदी की नाथ परम्परा के चर्पटनाथ की साधना तथा उनके संघर्ष को 'ज़ब आवेगी कालघटा' में प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार के अनुसार चर्पटनाथ अपने पन्थ के आडम्बर को देख क्षुब्ध हो उठे थे। वे अपने पन्थ के बाह्याडम्बर से विद्रोह कर फक्कड़ बनकर भटकने लगे थे। उधर तुर्क सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का अत्याचार बढ़ रहा था। उसकी निरंकुश सत्ता का अट्टहास सुनायी पड़ रहा था। चित्तौड़ में रानी पद्मिनी का जौहर हो चुका था। इसी स्थिति में चर्पटनाथ ने अपने पन्थ के महन्तों के विरोध के बावजूद खिलजी के अत्याचार के खिलाफ योगीसमूह का सैन्यीकरण किया। अपने पन्थ से बहिष्कृत और तुर्क सुल्तान से प्रताड़ित चर्पटनाथ ने पन्थ को शुद्ध सात्त्विक बनाते हुए तुर्कों का सामना किया। तुर्कों ने गुरु गोरखनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। युद्ध में योगियों ने रक्ततर्पण किया। घायल चर्पटनाथ मन्दिर की रक्षा करने में असमर्थ हुए। पर वे भीतर से टूट नहीं सके। पुन: गोरखनाथ मन्दिर का नवनिर्माण हुआ। महन्त का दबाव समाप्त हुआ। चर्पटनाथ की साधना सफल हुई।

इस प्रकार रांगेय राघव ने गुरु गोरखनाथ और बाद के चर्पटनाथ की शुद्ध सात्त्विक साधना तथा तुर्कों से देश रक्षार्थ युद्ध-जीवन के दोनों पक्षों का प्रभावी वर्णन कर नये भारत के लिए सम्यक् जीवन दर्शन प्रस्तुत किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' में तेरहवीं सदी के तुर्कों के आक्रमण के बढ़ते संकट को दिखाते हुए उस युग के द्वन्द्व का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। अवन्तिका की

रानी चन्द्रलेखा पद्मिनी नारी थीं। इनके सहयोग से राजा सातवाहन चक्रवर्ती हो सकते थे। अत: रानी चन्द्रलेखा देशरक्षा तथा प्रजा-कल्याण के लिए योगी नागनाथ के सहयोग से कोटिवेधी रस की साधना में संलग्न हो गयी। राजा रानी की इस स्थिति से द्वन्द्वग्रस्त हो गये। और वे मैना की ओर आकृष्ट हुए। इधर नर समाज संघर्ष के लिए सन्नद्ध हो गया। तुर्कों की फौज बढ़ती रही। उसने उदन्तपुरी को जीत लिया। लेकिन तुर्क सिपहसालार शाह अपने सुल्तान से नाराज हो गया। वह अक्षोभ्य भैरव की अपहृता पुत्री भद्रकाली का प्रेमी बन गया। राजा की सेना ने मैना के नेतृत्व में उसे घेर लिया। शाह को भद्रकाली का अपहरणकर्ता समझकर प्रहार कर दिया। भद्रकाली हाहाकार कर उठी। अत: राजा सातवाहन और मैना ने संग्राम को रोक दिया। पर इस स्वातन्त्र्य संग्राम का रुक जाना इतिहासविरुद्ध और अस्वाभाविक है। सिद्धि के लिए साधना उस युग की विशेषता है।

डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने तेरहवीं सदी के बहुआयामी संघर्ष को अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास-'कुहरे में युद्ध' और 'दिल्ली दूर है'—दो खण्डों में प्रस्तुत किया है। इसमें जुझौती (जैजाक मुक्ति) के स्वातन्त्र्य संघर्ष की भीषणता तथा सांस्कृतिक ऐक्य-साधना की गम्भीरता—दोनों का प्रभावी वर्णन है। इसमें आज के लिए महत्त्वपूर्ण संकेत है। उपन्यासकार ने अतीत और वर्तमान का गहन अध्ययन-मनन कर पूर्णत: प्रगतिशील राष्ट्रीय दृष्टि का उपन्यास लिखा है जिसकी आलोचना भी हुई है। राजा त्रैलोक्यमल्ल देव और उनका नया सेनापति आनन्द बाशेक—मुख्यत: आनन्द के जीवनव्यापी संघर्ष को बुन्देलखण्ड से लेकर दिल्ली और पंजाब तक दिखाया है। आनन्द नयी रणनीति से 'कुहरे में युद्ध' में जीत गया। पर एक भूल से वाग्दत्ता देविका का अपहरण तुर्क सिपहसालार द्वारा हो गया। आनन्द दिल्ली पहुँचा। देविका अपने को तुर्क बीवी मानकर पास नहीं आ सकी। आनन्द ने तुर्क मल्लिका रजिया सुल्तान को सहयोग देकर देश को हिन्दू प्रजा को अत्याचार से बचाने का प्रयत्न किया। असफल हुआ, और तब आनन्द सूफी सीदी मौला के साथ नाथ योगी रावलपीर के पास पहुँचा। चिन्तन के साथ सांस्कृतिक ऐक्य साधना आरम्भ हुई। तुर्क सुल्तान ने इसे भी ठुकरा दिया। आनन्द हताश हो गया। हताशा में मृत्यु बड़ी मार्मिक है।

डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने ऐक्य साधना के मध्य नाथपन्थी रावलपीर और चित्तौड़ राजवंश की कहानी उपस्थित की है। अत: यह उपन्यास नाथपन्थ के महत्त्वपूर्ण अवदान को अंकित कर देता है।

'दिल्ली दूर है' के अध्याय २५ में लेखक ने वर्णन किया है—"चित्तौड़ की पहाड़ी पर एक शैव संन्यासी रहते थे। बप्पा नामक एक गरीब राजपूत चरवाहा गाय चराता था। एक गाय एक स्थान पर रुककर थन से दूध गिरा देती थी। हारीतराशि ने बताया कि वहाँ पर शिवजी की पिण्डी है। खुदाई में पिण्डी निकल आयी। योगी ने चरवाहे से कुछ माँगने को कहा। बप्पा ने एकलिंग महादेव के राज्य का सेवक बनना चाहा। संन्यासी ने कह दिया कि चित्रकूट यानी चित्तौड़ में इस राज्य की राजधानी होगी। वही बप्पा रावल उस राजवंश का प्रथम शासक बना। (पृष्ठ ३६७)। गुरु गोरखनाथ ने रावलों से कहा था कि हर पीढ़ी का एक लड़का नाथयोगी बनना चाहिए। वे ही रावल पीर के नाम से प्रसिद्ध हुए।

आनन्द बाशेक, सोमन बारी, बाबा फरीद और सूफी सीदी मौला के साथ रावलपीर के पास पहुँचा। वे आनन्द की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने चारों को अतिथि देवता मानकर स्वागत किया। सीदी मौला इस

भारतीय धारणा एवं सत्कार पर मुग्ध हो गये।

रावलपीर ने उनके समक्ष गीता दर्शन की चर्चा की कि जन के न्याय और अधिकार के लिए लड़ना धर्म है। उन्हें ज्ञात था कि पारसियों पर बहुत अत्याचार हुआ है। तभी तो सीदी मौला पारसी सूफी हो गये हैं। पारसी तो हिन्दुओं के भाई-बन्धु रहे हैं। यदि बाबा फरीद के लिए सारी दुनिया में सिर्फ रब है तो रावलपीर की दृष्टि में यह दुनिया शिव-शक्ति की लीला है। (पृष्ठ ३७३)

आनन्द ने रावलपीर के नाथ सिद्धान्त को रखा कि योगी समूह शिवजी की बारात है। योगी तीन तरीके—पवन, नाद और बिन्दु से रब की पहचान करता है। तीनों ईश्वर की देन हैं। पवन (साँस) से साधना करता है। नाद (ॐकार) द्वारा उसे पुकारता है। बिन्दु (वीर्य) की रक्षा कर शक्ति अर्जित करता है। अत: इन्हें ईश में लगाना है।

आनन्द बाशेक के अनुसार रावलपीर के गुरु गोरखनाथ ने ज्ञान क्षेत्र तथा कर्म क्षेत्र—दोनों को जोड़कर शिवतत्त्व-शिवलोक को जान लिया था। गुरु गोरखनाथ महायोगी थे। सबसे बड़े नेता भी थे। अत: उन्होंने हमारे धर्म के भीतर के मुर्दा हिस्सों को बेरहमी से काट कर फेंक दिया। उन्होंने छुआछूत, छोटा-बड़ा, जात-कुजात—सबको दकियानूसी बताया और उसे लात मारकर तोड़ दिया था। (पृष्ठ ३७७)

रावलपीर ने आनन्द को बताया कि शक्रद्वार-सकरदर्रा आततायी मंगोलों के बर्बर उपानह से मसल कर बालू का टीला बन गया। वहीं स्वात नदी की घाटी है। इसी में अश्वकों के गणतन्त्र की राजधानी वरणा स्थित है।...''क्या तुम्हारे समाज में लड़ने वाले ऐसे हिन्दवासी हैं? अगर नहीं हैं तो अपनी फूट और अनेकता को दार्शनिक आवरण में मत लपेटो। यह आगे और भी संकटपूर्ण घड़ियाँ आमन्त्रित करेगा, पुत्र!'' आनन्द द्वारा तुर्क आक्रमण और तुर्क शासन की भयानकता के वर्णन करने पर रावलपीर ने कहा—''हमें अभी भी अपनी धरती माँ पर विश्वास है। जो उसे एक बार माँ कहता है, उसकी नदियों को धात्री मानता है, उसके पर्वतों और वृक्षों को पिता कहता है वह बहुत समय तक इनसे खिलवाड़ नहीं कर सकेगा।'' (पृष्ठ ३८२)

रावलपीर ने आक्रमण और अत्याचार के परिणाम के बारे में कहा है—''बर्बरता जब दो जातियों के संघर्ष में खुलकर ताण्डव नृत्य करती है तब प्राय: मृदु और उदार संस्कारों वाली उच्च जाति पराजित होती है। तुर्कों की विजय के पीछे इस अमानवीय बर्बरता का भी हाथ रहा है। भारत की पराजय कौम की पराजय नहीं, एक परिष्कृत मानवता की पराजय है।'' (पृष्ठ ३८३)

रावलपीर मानवतापूर्ण हिन्दू की विजय का रहस्य बताते हैं—''तुम्हें अगर एक सन्तुलित मानवता चाहिए तो तुम्हें अपनी शुभ्रता, अपनी मृदुता की, अपनी कोमलता की रक्षा करनी पड़ेगी और वह आधार देती हैं किसी दधीचि की हड्डियाँ। इसी वज्र से आसुर शक्ति खण्डित होती है।...जब तक यह समन्वय नहीं होता, भारतभूमि स्वतन्त्र नहीं रह पायेगी। तुमने सरस्वती को तो जगाया, तुमने लक्ष्मी की कृपा भी पायी, पर तुम्हारे भीतर की महाकाली सो गयी।...रक्तबीजों को काटना और रक्त को पीते जाना बहुत दुस्तर कार्य होता है। आनन्द! इसके लिए अहिंसा की माला जपना समस्या का गलत समाधान कहलाता है।...नम्र बनो अच्छा है; पर अपनी रक्षा में समर्थ बनो ज्यादा जरूरी है।'' (पृष्ठ ३८५)

उपन्यासकार ने गुरु गोरखनाथ और रावलपीर के द्वारा भारत की दुर्बलता और सबलता, दोनों को स्पष्ट करते हुए वर्तमान के लिए बहुत कुछ कह दिया है। रांगेय राघव ने १४वीं सदी की विषम स्थिति में मिथिला के द्वन्द्व, संघर्ष और आस्था को 'लखिमा की आँखों' में उपन्यस्त किया है। विद्यापति की मृत्यु के बाद उनके प्रपौत्र के समय एक बंगीय ब्राह्मण अपने आचार्य से आज्ञा लेकर विद्यापति के पदों को लाने के लिए आया। उसे ज्ञात था कि नालन्दा और मिथिला के आस-पास तुर्कों का अत्याचार चल रहा है। वह किसी प्रकार विसपी पहुँच गया। पदों की प्रतिलिपि कर लौटने लगा। नाव नदी को पार करने लगी। यात्री की चेतना विद्यापति के युग में पहुँच गयी। कवि विद्यापति के गीतों के माधुर्य में मत्त मिथिला की झलक पाने लगा। तुर्कों ने नाव को घेर लिया। प्रतिलिपि को मिट्टी में फेंककर अट्टहास किया। परन्तु एक योगी ने शंख फूँककर योगियों को एकत्र कर लिया। उसने बंगीय यात्री की रक्षा की। उसे कन्धे पर बिठाकर वह गा उठा—'हम कभी न मरेंगे, न समाप्त होंगे। अक्षय और अमर हैं।'

शत्रुघ्न प्रसाद ने 'सुनो भाई साधो' नामक उपन्यास में कबीर युग के बुनकर समाज में नाथ-पन्थ के प्रभाव का मार्मिक वर्णन किया है। अध्याय १५ में उस स्थिति की अनुभूति करें—''कभी सब तो एक ही थे। सभी कोरी कहलाते थे। कुछ नाथपन्थी थे और कुछ सहजयानी। एक शैव थे।...मेरे दादा गांगू तो नाथपन्थी ही थे। दीनू चाचा ने कुल-खानदान की कहानी बतायी थी। एक बार एक नाथ जोगी 'अलख निरञ्जन' बोलता हुआ बस्ती में आ गया। सामने के पेड़ के नीचे खड़ा हो गया। नाथपन्थी कोरी घर-घर से निकलकर आ गये। सहजयानी भी थोड़ी दूरी पर खड़े हो गये। जोगी ने 'अलख निरञ्जन' की आवाज लगायी। सबने आसन लगाने की विनती की। जोगी वहीं बैठ गया।...वह बोल उठा—''वह निरञ्जन अलख है। पर उसे अपने भीतर देख सकते हो। शरीर को साधना पड़ेगा। फिर अलख को लख लो। अनहद नाद सुन लो। कुछ भी पा लो। यह सब तुम्हारे हाथ में है।''

जोगी ने बबूल के काँटे से अपनी जीभ को बींध दिया। आह तक नहीं की। सबकी आँखें टँगी रह गयीं। जोगी की आँखों में चमक दीख पड़ी।...जोगी की अधखुली आँखें सबको देख रही थीं। पल-पल बीत रहा था। आँखें बन्द हो गयीं। और सबने 'अलख निरञ्जन' की आवाज सुनी।

जोगी ने काँटे को जीभ से निकाल लिया। और कहा—''कुछ पाने के लिए जोग..साधना..मेरे साथ।'' दादा जोगी के साथ हो गये। कोई रोक नहीं सका।...बाद में वे लौट आए। (पृ. ५६-५७)

कबीर में प्रतीक, उपमान और बिम्ब या तो नाथसाधना से सम्बद्ध है या बुनकर एवं कृषि जीवन से। और मिथक तथा कथासूत्र हिन्दू पुराणों से। सूरदास के ऊधव पर भी नाथसाधना का प्रभाव स्पष्ट है।

इस प्रकार हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में गुरु मत्स्येन्द्रनाथ, गुरु गोरखनाथ, रावलपीर और चर्पटनाथ के तेजस्वी व्यक्तित्व की साधना एवं समर्पण को प्रभावी ढंग से चित्रित किया है। उनका चिन्तन आज के भारत के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह ऐतिहासिक उपन्यास का उल्लेखनीय अवदान है।

□

‘पन्थराज’ नाथपन्थ के पथद्रष्टा और भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक सन्त ज्ञानेश्वर महाराज का अवतार कार्य

—नरसिंह गणेश जोशी

विस्तार करो अपनी कीर्ति का, स्वधर्म-मान की वृद्धि करो।
असुरों के इस भार से, इस भूमि की मुक्ति करो ॥ ३/१९० ज्ञानेश्वर

भारत में इसलाम के अनुयायियों के आक्रमण के पश्चात् ही भारत में सन्त-परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ है। स्पष्ट है कि मुसलिम आक्रमण और सन्तों का उदय—दोनों घटनाओं का परस्पर सम्बन्ध है। इस दृष्टि से सन् १२७५ में जन्म धारण करने वाले सन्तशिरोमणि ज्ञानेश्वर महाराज के कार्य की महिमा का यथार्थ वर्णन करते हुए गीतारहस्य में लोकमान्य तिलक ने लिखा कि ‘इसलाम के आक्रमण के कारण हिन्दुस्थान में वैदिक धर्म (समूलंच विनष्यति) जड़मूल से नष्ट होता। परन्तु अपने यहाँ (अर्थात् महाराष्ट्र में) भगवद्गीता प्रणीत भागवतधर्म का पुनरुज्जीवन हुआ। इस कारण विनाश सम्भव नहीं हुआ। देवगिरी का हिन्दू राज्य मुसलमानों द्वारा नष्ट किये जाने से कुछ वर्ष पूर्व ही हमारे सौभाग्य से सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने प्राकृत अलंकरण अंकित मराठी भाषा में गीता की ब्रह्मविद्या का प्रसार किया।’ तिलकजी के कथन का आशय स्पष्ट है कि ज्ञानेश्वर महाराज की ज्ञानेश्वरी (गीताभाष्य) के कारण हम बच गये। तिलकजी के पूर्व न्यायमूर्ति रानडे ने भी अपने ‘मराठा सत्ता उदय’ (Rise of Maratha Power) ग्रन्थ में ज्ञानेश्वर से तुकाराम-रामदास तक चार शताब्दियों के विविध सन्तों के कार्य को शिवाजी के प्रादुर्भाव का आधार बताया है। तिलक और रानडे के बहुत पूर्व ज्ञानेश्वर के सखा और ज्ञानेश्वर की जीवनी के आद्यलेखक सन्त नामदेव ने भी ज्ञानेश्वर के जन्मधारण के बारे में स्पष्ट लिखा है कि ‘संसार में आसक्त और मायामोहरत जड़ जीवों के उद्धार का मार्ग बताने के साथ ही ज्ञानेश्वर महाराज ने भ्रष्ट यवन राज्य के प्रभाव से समाज में व्याप्त कलिदोष दूर करने हेतु अवतार धारण किया।’ इस प्रकार सन्त ज्ञानेश्वर महाराज के अवतार के शाश्वत और परिस्थितिसापेक्ष दो रूप प्रकट होते हैं।

सन्त नामदेव ने भी ज्ञानेश्वर महाराज की गीता टीका के कथन के आधार पर ही अवतार कार्य का

कारण बताया है। ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने प्राकृत गीताभाष्य (मराठी भावार्थ दीपिका) के निर्माण का कारण बताते हुए कहा है कि सद्‌गुरुगहिनीनाथ महाराज ने घोर कलि का ग्रास होने से जड़ जीवों की सुरक्षा हेतु निवृत्तिनाथ महाराज को आज्ञा प्रदान की। उस आज्ञा के अनुसार निवृत्तिनाथ ने ज्ञानेश्वर के माध्यम से गीताभाष्य निर्माण किया। ज्ञानेश्वर महाराज के जन्म से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व से कलियुग चल रहा था। कलि का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। इधर ४३०० वर्षों बाद कलि की प्रखरता अत्यधिक बढ़ गयी। सारा समाज कलि का ग्रास बनने जा रहा था। तुरन्त प्रभावशाली उपाय की आवश्यकता अनुभव हुई। यहाँ घोर कलियुग से संकेत स्पष्टतः इसलामी आक्रमण से है। ज्ञानेश्वर के शब्द को उद्धृत करते हुए नामदेव ने उनका अर्थ और आशय स्पष्ट किया है। नामदेव ज्ञानेश्वर की मूल शब्दावली को ही यहाँ (अर्थ सहित) उद्धृत करते हैं। ज्ञानेश्वर ने कहा है कि गहिनीनाथ ने निवृत्तिनाथ से कहा कि 'कलीगिकीतया जीवां। सर्व प्रकारें धांवा। करीं पांवेगे॥'—कलि जीवों को निगल रहा है। वेग से दौड़कर रक्षा का उपाय करो। नामदेव ने ज्ञानेश्वर की जीवनी में लिखा है कि 'राजेयवन् भ्रष्ट जाले। ठायीं ठायीं दोष घडले। मग इहीं अवतार घेतले। कलिदोष इरावया॥ नामा म्हणे पुढें इह्य जन। यवन संसर्गेकठिण होता गातां इरीचे गुण। इह्यउद्धरती सर्वथा।' सन्त नामदेव ने प्रतिकार के उपाय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि निकट भविष्य में यवन संसर्ग से कठिन परिस्थिति उत्पन्न होगी। तब श्रीहरि के गुणों का गान करने से जनता का उद्धार होगा। नामस्मरण करने की अपेक्षा सन्त नामदेव ने श्रीराम और श्रीकृष्ण के गुणों का गान, गुणों का चिन्तन करने के लिए कहा। आगे समर्थ रामदास ने अनुकूल परिस्थिति देखकर सन्त नामदेव के आशय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि श्री रघुनाथ के गुणों को ग्रहण करना चाहिए। अपने जीवन में उतारना चाहिए। 'दास म्हणे रघुनाथाचा गुण ध्यावा।' समर्थ रामदास के साथ ही तत्कालीन परिस्थिति में योग्य मार्गदर्शन के लिए सन्त ज्ञानेश्वर और सन्त नामदेव के यथार्थ उत्तराधिकारी सन्त तुकाराम महाराज ने कहा कि 'दया धर्म का मूल है। परन्तु दया का स्वरूप द्विधात्मक है। सन्तों का पालन और दुष्टों का दमन।' 'दया बिचें नांव सन्तांचे पालन। आणिक निर्दान कण्टकांचे॥'

महापुरुषों, सन्तों और विभूतियों के अवतारकार्य के स्वाभाविक दो पहलू होते हैं। एक पहलू है—मनुष्य जीवन के शाश्वत लक्ष्य को स्वयं प्राप्त करना तथा समाज को भी उस शाश्वत लक्ष्य की प्राप्ति की प्रेरणा देना, लक्ष्य प्राप्ति का सुगम मार्ग बताना। दूसरा पहलू है—जिस कालावधि में अपने देश और समाज की जिस परिस्थिति में जन्म धारण किया है, उस कालावधि और उस परिस्थिति में समाज के उत्थान के लिए प्रयत्न करना, मार्ग बताना। धर्म का दोहरा लक्ष्य होता है। निःश्रेयस और अभ्युदय। केवल निःश्रेयस की बात सन्त कर ही नहीं सकते। समाज की अवनति, दयनीय स्थिति देखकर सन्त हृदय उस स्थिति से मुख मोड़कर रहना सम्भव ही नहीं है। निःश्रेयस-मनुष्य जीवन के शाश्वत लक्ष्यप्राप्ति की प्रेरणा देना, मार्ग बताना है। समस्त सन्तों के मार्गदर्शन में इस दृष्टि से एक विशिष्ट समानता पायी जाती है। परन्तु उस विशिष्ट परिस्थिति में—अभ्युदय-सम्बद्ध-समाज के अपेक्षित उत्थान के लिए सन्तों के मार्गदर्शन और प्रयत्न में स्वाभाविक अन्तर रहेगा। रहता भी है। यह अभ्युदय-सम्बद्ध मार्गदर्शन ही सन्त का अवतारकार्य होता है। ज्ञानेश्वर महाराज के ऐहिक-अभ्युदय सम्बद्ध-मार्गदर्शन के वैशिष्ट्य से अवगत

होने के लिए हमें ज्ञानेश्वर ने जिस परिस्थिति में जन्मधारण किया, उस परिस्थिति का चित्र अपनी आँखों के सामने रखना होगा।

ज्ञानेश्वर के जन्म से लगभग ५०० वर्ष पूर्व इसलाम के अनुयायियों के आक्रमण का प्रारम्भ हुआ था। ज्ञानेश्वर के जन्म के समय (सन् १२७५) समूचे उत्तर भारत में इसलाम के अनुयायियों की सत्ता प्रस्थापित हो गयी थी। ज्ञानेश्वर के जन्म के लगभग २० वर्षों के पश्चात् ही अलाउद्दीन का नर्मदा के दक्षिण में प्रथम आक्रमण हुआ। और फिर शनैः-शनैः बार-बार होने वाले आक्रमणों ने दक्षिण के छोटे-बड़े राज्यों को नष्ट किया। ज्ञानेश्वर की संजीवन समाधि (सन् १२९६) के १७ वर्षों के पश्चात् देवगिरि के जाधवों-यादवों की सत्ता नष्ट हुई।

इसलाम के अनुयायियों के आक्रमणों के स्वरूप को वस्तुतः हम आज तक भी नहीं समझ पाये हैं। वह अकल्पनीय आक्रमण रहा है। विचार और उपासना स्वातन्त्र्य भारत की अपनी विशेषता रही है। तो असहिष्णुता और तलवार के बल पर इसलाम का प्रचार-प्रसार यह इसलाम के अनुयायियों का तन्त्र रहा है। 'रूचीनाम् वैचित्र्याद्' ऋजु कुटिल नाना पथ जुषाम्। नृणामे को गम्यस्वमसि पयसामर्णव इव॥ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥' यह भारतीय सनातन विचारधारा मुसलिम विचारधारा के पूर्णतः विरुद्ध है। मुसलिम आक्रमण बढ़ता गया। उत्तर भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के साथ—देहली को अपनी राजधानी बनाकर आक्रान्ताओं ने दक्षिण में प्रवेश किया। दक्षिण में बहामनी सल्तनत—और फिर उसकी पाँच राज्यशाखाएँ—पाँच सल्तनतें निर्माण हुईं। विजयनगर के हिन्दू साम्राज्य का नाश हुआ। देवगिरि के यादव पराजित हुए। समूचे भारत में हाहाकार मच गया। स्वाहाकार बन्द हुआ। हिन्दुओं के श्रद्धास्थानों पर प्रहार हुए। मान-बिन्दुओं पर आघात हुए। गौ, ब्राह्मण, महिला और मन्दिर संकटग्रस्त और असुरक्षित हो गये। आक्रान्ताओं और हिन्दुओं की धारणाओं में आकाश-पाताल का अन्तर था। 'निर्लज्ज म्लेंच्छ लजै नहीं, हम हिन्दू लजवान।' दोनों में बड़ा अन्तर था। भोग प्रधान और त्याग प्रधान संस्कृतियों का यह संघर्ष था। और इस संघर्ष में पहली बाजी भोग प्रधान संस्कृति ने जीती।

आक्रमण और अनवरत अत्याचार की इस प्रचण्ड लहर को रोकने और उसे लौटाने हेतु इस आक्रमण का अभिनव उपाय आवश्यक था। अपना धर्म, अपनी संस्कृति, अपना समाज जीवन, अपने श्रद्धास्थान, अपने मानबिन्दु, अपना सत्त्व और स्वत्व पुनर्प्रतिष्ठित करना था। अपनी संस्कृति की सनातन भगवी पताका पुनः सिन्धु सरिता के पश्चिम तट पर फहरानी थी। 'धर्म की प्रभात का उदय होगा, अधर्म का तिमिरनाश होगा, स्वधर्म सूर्य का प्रकाश फैलेगा। (दुरिताचे तिमिर जावो। विश्व स्वधर्म सूर्ये पाहे।) यह विश्वास परतन्त्र पराधीन समाज के मन में जगाने के लिए, उस भीषण संकट की घड़ी में आशा की ध्वनि-क्षीण ध्वनि सुनाना आवश्यक था। फिर एक बार अपने धर्म-संस्कृति का भव्य मन्दिर निर्माण होगा। उस मन्दिर पर अपनी सनातन भगवी पताका सम्मान से फहरायेगी। सज्जनों के हाथों सुख की गुदी (ज्ञानेश्वर की शब्दावली) उस मन्दिर पर रोपी जाएगी। यह विश्वास समाज में निर्माण करने के लिए ज्ञानेश्वर का अवतार हुआ था। भविष्य में निर्माण होने वाले उस दिव्य दैदीप्यमान देवालय की आधारशिला रखने का, नींव खोदने का कार्य ज्ञानेश्वर द्वारा सम्पन्न हुआ। और इस दृष्टि से भविष्य में सन्तों ने ज्ञानेश्वर के कार्य की

महत्ता का परिचय देते हुए, बखान करते हुए कहा—'ज्ञानदेवों रचिला पाया। (ज्ञानदेव ने नींव खोदी।)'

पन्थराज, नाथपन्थ और ज्ञानेश्वर

नाथपन्थ के संस्कारों से युक्त कुल में ही निवृत्ति, ज्ञानेश्वर, सोपान इन तीन बन्धुओं का और बहन मुक्ता का जन्म हुआ। पिताश्री का नाम विठ्ठल। पिताजी स्वयं परमार्थ मार्ग के पथिक रहे। ज्ञानेश्वर के प्रपितामह त्र्यम्बकजी को 'योगाब्जिनी सरोवर' गुरु गोरखनाथ महाराज का अनुग्रह प्राप्त था। ज्ञानेश्वर के पितामह श्रीगोविन्दजी और दादी मीराबाई को गुरु गहिनीनाथ महाराज से दीक्षा मिली थी। निवृत्ति (जन्म सन् १२७३), ज्ञानेश्वर (जन्म सन् १२७५), सोपान (जन्म सन् १२७७) और मुक्ता (जन्म सन् १२७९) चारों बालक योगभ्रष्ट ही थे। और पूर्वजन्मार्जित साधना के फलस्वरूप ही 'शुचीनाम् श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।' इस गीतावचनानुसार नाथपन्थ से संस्कारित कुल में जन्मे थे। किशोरावस्था में ही वे भगवद्भक्ति में लीन थे। और उग्र तपस्या करते हुए परमपद की प्राप्ति के प्रयत्न में गोदावरी नदी के उद्गम स्थान ब्रह्मगिरि की प्रदक्षिणा कर रहे थे। संयोग से परिक्रमा के क्रम में एक बार व्याघ्र को अपनी ओर आते देखकर भागते हुए निवृत्ति एक गुहा में घुस गये। गुहा में गुरु गहिनीनाथ महाराज विराजमान थे। गहिनीनाथ महाराज ने 'पिण्ड ही पिण्ड को ग्रासे' इस नाथपन्थ के मर्म के अनुसार शक्तिपात दीक्षा द्वारा निवृत्ति को 'निवृत्तिनाथ' बनाकर ब्राह्मस्थिति के ऐश्वर्य से सम्पन्न किया। इस गुहा में ही निवृत्तिनाथ को गुरु मत्स्येन्द्रनाथ महाराज और गुरु गोरखनाथ महाराज के दर्शन हुए। उनका उच्छिष्ट प्रसाद प्राप्त हुआ। और फिर गुहा से बाहर आकर निवृत्तिनाथ से ही शक्तिपात दीक्षा के माध्यम से ज्ञानेश्वर, सोपान और मुक्ता को भी भगवान् महेश-आदिनाथ शंकर भगवान् द्वारा प्रवर्तित नाथपन्थ में समाविष्ट किया गया। ज्ञानेश्वर महाराज ने अपनी गीताटीका ज्ञानेश्वरी में ६वें अध्याय में नाथपन्थ को 'पन्थराज' कहते हुए 'पिण्ड ही ग्रासे पिण्ड को ऐसा नाथमार्ग का मर्म जो है। मात्र संकेत में महाविष्णु ने इस प्रकार बतलाया है।'(६/२९१) पन्थराज के योगपन्थ का वर्णन किया है। और इस कारण ज्ञानेश्वर महाराज ने ६वें अध्याय को 'गीतार्थ का सार, विवेकसिन्धु का पार, योगवैभव भाण्डार' कहा है। श्रीकृष्णार्जुन संवाद के क्रम में ६वें अध्याय में अर्जुन ने 'तब ब्रह्म बनूँ मैं' इस प्रकार की इच्छा मन में की, तो उसके मन की उस इच्छा को सुना ध्यान से भगवन् ने॥ (६/१४७) और फिर विचारपूर्वक भगवान् ने कहा कि 'पन्थराज, यह सुनो, हे अर्जुन, पूर्णत: ध्यान देकर।' (६/१५२) निवृत्ति के कोटि फल यहाँ प्रवृत्ति-वृक्ष-जड़ में लगते। और जिस मार्ग पर स्वयं महेश भी पथिक समान चलते दिखते॥ (६/१५३) महर्षियों का पन्थ यही साधक तो यहीं पर सिद्ध बने। आत्मज्ञानी भी इस मार्ग से स्वश्रेष्ठता को प्राप्त हुए॥ चरण जहाँ पर रखे वहीं पर मोक्ष की खान खुल जाती है। यदि भूल भी जाए मार्ग तो फिर भी स्वर्ग सुख प्राप्ति होती है॥

प्रशान्तात्मा विगतभी ब्रह्मचारिव्रते स्थित:
मन: संयम्य मच्चिन्तो युक्त आसीत मत्पर:॥ ६/१४
युञ्जन्नैवं सदात्मानं योगी नियतमानस:
शान्ति निर्वाण परमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ ६/१५

इन दो श्लोकों के विवेचन के क्रम में ज्ञानेश्वर ने 'पन्थराज अथवा कुण्डलिनी योग' का वर्णन किया है। ज्ञानेश्वर ने स्पष्ट ही कहा है कि पिण्ड ग्रासे पिण्ड को ऐसा नाथमार्ग का मर्म (दंशु) जो है मात्र संकेत में महाविष्णु ने इस प्रकार बतलाया है—

हटाकर बन्धन ध्वनित अर्थ के खोल यथार्थ की तह मैंने
गुण ग्राहक श्रोताओं-सन्मुख कर दी है प्रस्तुत मैंने।।६/२९१/९२

कुण्डलिनी योग का विस्तृत वर्णन करते हुए समापन में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि—

पिण्डद्वार से प्रवेश कर शिव का ही शिव से ऐक्य यह पार्थ।
वैसे ही जैसे सरिता का सागर से मिलना रे पार्थ।।६/२९८

शब्दों में तो उसका वर्णन कभी भी करना शक्य नहीं।

इस कारण संवाद भी कोई उस सम्बन्ध में शक्य नहीं।।३११

तो अर्जुन ने भगवान् से कहा कि

कारण कि हे देव आपने साधन जो बतलाया है।
स्पष्ट रूप से ब्रह्मप्राप्ति का फल उससे मिल जाता है।।३२९
बतलाया यह जो योग आपने मेरे मन को भाता है।
परन्तु योग्यता नहीं इससे अनुष्ठान न सम्भव दिखता है।।३३३

अर्जुन की असमर्थता सुनकर—प्रतीत होता है कि भगवान् ने उस समय तो उस विषय को टालकर गीता के श्लोकों के क्रम में 'युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।' इस श्लोक का विवेचन प्रारम्भ किया। परन्तु अर्जुन की वह असमर्थता भगवान् के ध्यान में है और इसलिए अन्तिम १८वें अध्याय में

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।१८/६६

इस श्लोक की विवेचना के क्रम में भगवान् ने पन्थराज की अन्य विशेषता—शक्तिपात के प्रत्यक्ष प्रयोग से कुण्डलिनी योग का प्रत्यक्ष फल अर्जुन को प्रदान किया। वस्तुतः यह प्रसंग महाभारत में नहीं है। परन्तु सम्भवतः पन्थराज के 'स प्रभव अद्वयानन्द वैभव' का प्रभाव और आकर्षण के कारण ज्ञानेश्वर महाराज ने अभिनव अद्भुत प्रसंग बतलाया है।

अपने मन में कोई चिन्ता ना रखना तुम इस कारण।
अरे सुबुद्धि मुझे जानकर आना मुझ एक को शरण।।१८/१४१६

यह कहते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने शक्तिपात हेतु

फिर कंकणयुक्त दक्षिण बाहु श्याम हरि ने फैलाया
और शरणागत उस भक्तराज को आलिंगन में समा लिया।।१४१८
जिस स्थान को पाए बिना बुद्धि को बगल में दबाकर वाचा।
पूर्ण रूप से निष्फल होकर वापस लौट आती वाचा।।१४१९
ऐसा अशक्य ही होता है जो वाचा और बुद्धि को।

आलिंगन का निमित्त देव ने किया था वह ही देने को ॥१४२०
तब हृदय हृदय से एक हुआ, इस हृदय का उस हृदय में डाल दिया।
और द्वैतभाव बिन छोड़े पार्थ को अपने समान बना लिया ॥१४२१

'पिण्ड ही ग्रासे पिण्ड को' इस नाथपन्थ के मर्म का आशय है कि शक्तिपात द्वारा शक्ति प्रदान करते हुए शिष्य के शरीर की कुण्डलिनी शक्ति जागृत कर गुरु अपने सामर्थ्य से आध्यात्मिक अनुभूति कराता है। स्पर्शदीक्षा, दृष्टिदीक्षा, वेधदीक्षा आदि विविध प्रकारों से, केवल संकल्प से भी सद्गुरुशक्तिपात कर शिष्य को शक्तिसम्पन्न करते हैं। इस दीक्षा को शाम्भवी दीक्षा कहते हैं। आदिनाथ भगवान् शिवशम्भु से मत्स्येन्द्रनाथ को और फिर गुरुशिष्य परम्परा से ज्ञानेश्वर तक यह शक्ति संक्रमण दीक्षा से 'अद्वयानन्द वैभव' प्रदान हुआ है इसलिए इसे 'शाम्भवी' दीक्षा कहते हैं।

ज्ञानेश्वरी में इस प्रकार पन्थराज के कुण्डलिनी योग और शक्तिपात दीक्षा का वर्णन तो मिलता ही है। परन्तु १८वें अध्याय के अन्त में ज्ञानेश्वर का स्पष्ट कथन है कि यह ग्रन्थ—भावार्थ दीपिका अथवा गीता टीका—'आद्य गुरु श्रीशंकर से जो शिष्य की परम्परा द्वारा। इस संसार में पहुँचा हम तक बोध लाभ जो यह सारा ॥ गुरु परम्परा से प्राप्त अपना यह समाधिरूपी धन ऐसे। ग्रन्थ रूप में रचकर स्वामी किये मुझे प्रदान ऐसे ॥

गीता अर्थ की महती यह कि शम्भो थे जब चिन्तन में।
तो किस विचार में डूबे दिखते भवानी पूछे विस्मय में ॥
तब शंकर बोले हे देवि अथाह तुम्हारा स्वरूप जैसे।
यह गीतातत्त्व भी गहन अति और नित्यनूतन ही है वैसे ॥
क्षीरसिन्धु के परिसर में शक्ति की कर्णगुफा में जो।
श्रीशंकर ने बतलाया पर ज्ञान न कब कहा था जो ॥१८/१७५१
तब क्षीरकल्लोल में मकरोदर में गुप्त रूप से जो बैठा था।
उस मत्स्येन्द्र के हाथ में रहस्य इस प्रकार यह आया था ॥१७५२
फिर मत्स्येन्द्र ने अखण्ड समाधि इच्छापूर्ति हेतु से।
कहा था वर्म रहस्य ऐसा यह महिमामण्डित श्रीगोरख से ॥
योग सरोवर और विषय विध्वंसक वीर श्रीगोरख को।
सर्वेश्वर पद पर अभिषेकित मत्स्येन्द्र ने किया उनको ॥
फिर गोरखनाथ ने यह शाम्भव अद्वयानन्द था जो पाया।
वह भी गहिनीनाथ ने अपने प्रभाव सहित उनसे पाया ॥
कलिकाल सत्य में आया सबको ग्रसने जब देखा ऐसे।
तब श्री गहिनी ने श्री निवृत्तिनाथ को दी आज्ञा ऐसे ॥
कि आद्यगुरु श्रीशंकर से जो शिष्य परम्परा द्वारा।
इस संसार में पहुँचा हम तक बोधलाभ जो यह सारा ॥१७५८

यह समस्त ही लेकर कलि से ग्रसित सब जीवों हेतु।
सत्वर जाओ सर्वप्रकार से ले सहाय्य उनके हेतु॥
फिर कृपावन्त तो पहिले ही गुरु आज्ञा और हुई उस पर।
तो मेघ जोर से बरसे जैसे वर्षा गतु का संग पाकर॥१७६०
फिर आर्तों पर करुणा करके शान्तरस जो था बरसाया।
गीता अर्थ के निमित्त से वही यह ग्रन्थ बनकर आया॥
गुरु परम्परा से प्राप्त अपना यह समाधि रूपी धन ऐसे।
ग्रन्थ रूप में रचकर स्वामी किये मुझे प्रदान ऐसे॥

अर्थात् नाथपन्थ की–पन्थराज की गुरु परम्परा से 'भावार्थ दीपिका–ज्ञानेश्वरी' (गीताटीका) ज्ञानेश्वर को प्राप्त हुई है।

शक्तिपात द्वारा ही ज्ञानेश्वर महाराज ने दो शिष्य परम्पराओं का प्रारम्भ किया। वारकरी सम्प्रदाय (ज्ञानेश्वर–प्रवर्तित भक्ति सम्प्रदाय) के बीसवीं शताब्दी के अध्वर्यु प्राचार्य सोनोपन्त दाण्डेकर ने इन दो परम्पराओं का उल्लेख किया है। (१) ज्ञानेश्वर से सत्यामलनाथ—यह नाथपन्थ की परम्परा आज तक चलती आ रही है। (२) दूसरी परम्परा (भक्तिमार्ग) है—ज्ञानेश्वर–विसोबा खेचर—नामदेव–चोखामेला। चोखामेला अन्त्यज (महार) थे। चोखामेला के मस्तक पर हाथ रखते हुए नामदेव ने शक्तिपात से चोखामेला को शक्तिसम्पन्न किया। वारकरी सम्प्रदाय यह महाराष्ट्र में अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा बड़ा है। और उसकी परम्परागत शोभायात्रा में—आलन्दी से पण्ढूरपुर—प्रारम्भ से निश्चित क्रमानुसार चोखामेला की पालखी का स्थान अबाधित है।

स्वधर्म और स्वभाषा

इसलाम की सर्वग्रासी (सब कुछ निगलने वाली) भयंकर आक्रमण की प्रबल लहर को रोकने और लौटाने के लिए उतनी ही नहीं अपितु उससे भी अधिक प्रबलतम प्रतिलहर निर्माण करने की आवश्यकता थी। इस कार्य का श्रीगणेश ज्ञानेश्वर महाराज ने किया वह निर्विवाद है। स्वदेश पराधीन था। स्वराज्य नष्ट हुआ था। स्वधर्म और स्वभाषा भी संकटग्रस्त थे। इतिहास की उलटी दूरबीन से यह स्वच्छ और साफ दिखता है कि ज्ञानेश्वर महाराज द्रष्टा थे। द्रष्टा वही होता है जो अपने दिव्य चक्षुओं से भविष्य में समाज पर आने वाले संकटों को देखकर उस संकट पर मात करने के साधन का आविष्कार करता है। इसलामी आक्रमण की प्रचण्ड आँधी में समाज को अपने स्वधर्म और स्वभाव की विस्मृति न हो, आत्म विस्मृति न हो यह प्राथमिक आवश्यकता थी। इस दृष्टि से ज्ञानेश्वर महाराज ने संस्कृत के माध्यम से ग्रन्थ निर्माण के परम्परागत मार्ग का त्याग कर प्राकृत अर्थात् मराठी भाषा के माध्यम से अपने धर्म और संस्कृति के तत्त्वज्ञान का प्रचार करने का मार्ग अपनाया। अपने स्वत्व की विस्मृति न हो, अपने धर्म की शिक्षा मिले और विशेष रूप से अध्यात्म ज्ञान के साथ अध्यात्मानुकूल व्यवहार की शिक्षा मिले इस दृष्टि से ज्ञानेश्वर महाराज ने केवल १५–१६ की अवस्था में सन् १२९० में भगवान् श्रीकृष्ण के तेजस्वी तत्त्वज्ञान को

प्रचारित करना उचित समझकर श्रीमद्भगवद्गीता पर मराठी भाषा में भाष्य लिखा।

संस्कृत केवल पण्डितों की भाषा बन गयी थी। सारा तत्त्वज्ञान और उपदेश संस्कृत में ही था। सामान्य जनता संस्कृत से अनभिज्ञ थी। सामान्य जनता में अपने-अपने प्रान्त की प्राकृत भाषा और बोली का ही प्रयोग प्रचलित था। समूचे भारतवर्ष में प्राकृत भाषाओं में निर्मित ग्रन्थों में तत्त्वज्ञान का परिचय देने वाला श्रीमद्भगवद्गीता का सांगोपांग भाष्य प्राकृत भाषा-मराठी में सर्वप्रथम ज्ञानेश्वर की भावार्थदीपिका (ज्ञानेश्वरी) के रूप में निर्मित हुआ। शाश्वत और लौकिक, निःश्रेयस और अभ्युदय, पारलौकिक और ऐहिक—इस प्रकार दोहरे मार्गदर्शन के निमित्त से ज्ञानेश्वर महाराज ने धर्मसंग्राम की प्रेरणा देने वाले धर्म्यसंवाद का, भगवद्गीता का प्राकृत भाष्य समाज के सामने उपस्थित किया। प्राकृत भाषा में समाज शिक्षा के लिए ग्रन्थ 'गीताभाष्य का प्रणयन' महाराष्ट्र की विशेषता है। महाराष्ट्र और मराठी भाषा के लिए भूषणास्पद इस प्रकार का यह एक ही कार्य यदि ज्ञानेश्वर महाराज ने किया होता तो भी वे इस राष्ट्र के इतिहास में चिरंजीवी होते। ज्ञानेश्वर और उनके पश्चात् के विभिन्न प्राकृत-प्रान्तीय भाषाओं में लेखन करने वाले सन्तों के विरुद्ध संस्कृत के पण्डितों ने लगभग ४०० वर्षों तक (ज्ञानेश्वर से रामदास तक) प्रचण्ड विरोध किया। परन्तु सन्तों ने इस विरोध की चिन्ता न करते हुए सामान्य जनता को ध्यान में रखकर समाज प्रबोधन के लिए प्राकृत भाषाओं में ही लेखन किया। प्राकृत भाषाओं पर फारसी का अतिक्रमण हो रहा था। इस परिस्थिति में प्राकृत भाषा का माध्यम आग्रह (हठ)पूर्वक अपनाना ज्ञानेश्वर और अन्य सन्तों का महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। ज्ञानेश्वर महाराज ने सम्पूर्ण समाज के प्रति आत्मीयता के कारण समाज प्रबोधन को सर्वोपरि मानकर तत्कालीन परिस्थिति में प्राकृत-मराठी भाषा के माध्यम से ब्रह्मविद्या का प्रसार किया। सन्त एकनाथ महाराज ने कहा है कि संस्कृत की गाँठ खोलकर ज्ञानेश्वर ने ब्रह्मविद्या को सारे समाज के हित हेतु मुक्त किया। ज्ञानेश्वर ने स्वयं भी कहा है कि संस्कृत के अनुल्लंघनीय और शक्तिशाली तटों के कारण सामान्य समाज का वेदों तक पहुँचना सम्भव नहीं था। मराठी भाषा के सोपान (सीढ़ी) की रचना द्वारा वह हो गया। ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने गीताभाष्य में वेदों के बारे में अनेक स्थानों पर अत्यधिक आदर और श्रद्धाभाव प्रदर्शित किया है, वेदों की प्रशंसा की है। श्रुति जगतृ की माँ है। परन्तु वेद कृपण है। केवल तीन वर्णों के लिए वेदाध्ययन की छूट थी। 'स्त्रियो वैष्यास्तथा शूद्राः ते पियांति परांगतिम्' इस गीतावचन के आधार पर ज्ञानेश्वर का कहना है कि स्त्रियों, वैष्यों और शूद्रों के लिए वेदाध्ययन के लिए अवसर ही नहीं था। इस कारण भगवान् श्रीकृष्ण ने स्त्री, वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र और अन्य पापयोनिसम्भव (पापयोनयः) के लिए अर्थात् समस्त समाज के लिए गीता प्रदान की। आद्य श्रीमत् शंकराचार्य ने भी अपने शांकर भाष्य में कहा है कि 'सर्व लोकानुग्रहार्थं भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर गीतोपदेश प्रदान किया।' ज्ञानेश्वर का कथन है कि वेद को अपने बारे में लज्जा हुई और सारे समाज के हित हेतु वेद ही गीता के रूप में अवतरित हुए। और जब सामान्य जनता संस्कृत से दूर हुई, तो सामान्य जनता को उद्धार का मार्ग बताने हेतु ज्ञानेश्वर महाराज ने प्राकृत-मराठी भाषा में गीताभाष्य लिखा।

गीताभाष्य का ऐहिक मार्गदर्शन

'सन्त ज्ञानेश्वरस्य चरितानि महाद्भुतानि' सन्त ज्ञानेश्वर के जीवन में अनेक चमत्कार होते रहे हैं। उन विविध चमत्कारों की अपेक्षा अत्यद्भुत चमत्कार है—ज्ञानेश्वर का गीताभाष्य—(भावार्थदीपिका अथवा ज्ञानेश्वरी) यह ग्रन्थ मूलत: लिखा नहीं गया है। अपितु बोला गया है। प्रवचन के रूप में प्रतिदिन क्रमश: ज्ञानेश्वरी प्रस्फुटित हुई। केवल १५-१६ की अवस्था में सन् १२९० (शाके १२१२) में सद्गुरु कृपा प्रभाव से ज्ञानेश्वर बोलते रहते, सच्चिदानन्द बाबा लिखते जाते। 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'—ऋषि बोलते हैं और उनके शब्दों के पीछे अर्थ दौड़ता है। सामान्य लोग पहले मन में सोचते हैं और फिर उस सोच को शब्दों का जामा पहनाते हैं अर्थात् सोच के पीछे सोच की अभिव्यक्ति के अनुरूप शब्द दौड़ता है। 'अर्थंवाग्अनुधावति।' ऋषि परम्परा के अनुसार ज्ञानेश्वर गीताभाष्य क्रमश: बोलते गये और शब्दों के पीछे अर्थ दौड़ता रहा। इस प्रकार ज्ञानेश्वरी का अद्भुत उद्गम हुआ। इस अद्भुत चमत्कार से विगत ७-८ शताब्दियों तक निरन्तर अविच्छिन्न लाखों व्यक्तियों को प्रसाद मिला है; प्रेरणा मिली है।

ज्ञानेश्वरी का उद्देश्य

ज्ञानेश्वरी का उद्देश्य क्या है? हेतु क्या है? सरल उत्तर है कि जो गीता के अवतार का हेतु है, वही ज्ञानेश्वरी के अवतार का हेतु है। दोनों ही दो प्रकार के मानवों के मार्गदर्शन हेतु अवतरित हुए हैं। ज्ञानेश्वर महाराज का कथन है कि अर्जुन की पंक्ति में बैठकर श्रवण की योग्यता रखने वाले श्रोता सावधान होकर श्रवण करें। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता सुनायी। उसी प्रकार ज्ञानेश्वर भी अर्जुन के समान भक्तहृदय-सुहृदय सखा श्रोताओं को सुनाते हैं। दूसरा प्रकार है सामान्य जनों का। श्रीकृष्णार्जुन संवाद को ७०० श्लोकों में निबद्ध करते हुए महर्षि व्यास ने 'स्त्रियो वैष्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि' सबको अध्यात्म की परमोच्च स्थिति तक पहुँचाने का सरल मार्ग बताया। यह विचार अधिक स्पष्ट करते हैं ज्ञानेश्वर। वेदों के प्रति ओत-प्रोत आदर और श्रद्धा रखने के साथ ही ज्ञानेश्वर कहते हैं कि द्वापर में वेद केवल दो वर्णों-ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुषों तक सीमित है। और इसलिए महिला, वैश्य और शूद्रों के लिए तथा अन्य पापयोनियों के लिए गीता का अवतार हुआ। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि वेद कृपण हैं। और अपनी कृपणता के प्रति स्वयंग्लानि अनुभव कर वेद ही गीता का रूप धारण कर अपनी कृपणता को अपनी कमी को दूर करने पधारे। और फिर काल के प्रदीर्घ प्रवाह में—स कालेनेव महता—संस्कृत से दूर हो जाने के कारण—सामान्य जनों को अध्यात्म तथा अध्यात्मानुकूल व्यवहार के ज्ञान का साधन उपलब्ध नहीं रहा। स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के साथ चाण्डाल तक सबके लिए प्राकृत ज्ञानेश्वरी के माध्यम से अध्यात्म ज्ञान के द्वार खोल दिये गये। इस प्रकार एक ओर अर्जुन की पंक्ति में बैठने योग्य श्रोताओं के लिए अज्ञान दूर कर मोक्षप्राप्ति का साधन उपलब्ध किया गया है, वहीं दूसरी ओर ज्ञानेश्वरी के माध्यम से अन्त्यजों तक समस्त सामान्य मानवों के लिए नीचे से ऊपर के अन्तिम प्रकोष्ठ तक पहुँचने का क्रमबद्ध मार्गदर्शन उपलब्ध किया गया है।

स्वधर्म यज्ञ की कामधेनु

मूलत: गीता में स्वधर्म शब्द का प्रयोग पाँच हजार वर्षों पूर्व की परम्परा और परिस्थिति के सन्दर्भ में आया है। वहाँ स्वधर्म का सरल अर्थ स्वकर्तव्य है। सामान्य जनों को सामने रखते हुए वहाँ स्वधर्म का स्वाभाविक अर्थ है—अपने-अपने वर्णों के अनुकूल कर्तव्य। 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मोभयावह:।' गीता का यह बहुचर्चित श्लोक है। वस्तुत: अर्जुन अपने क्षत्रियोचित युद्ध कर्तव्य से पराङ्मुख होकर भिक्षा माँगकर जीवन व्यतीत करने की बात कहता है। उसी परिप्रेक्ष्य में दूसरे अध्याय में भगवान् ने उसे बताया कि अर्जुन श्रेयस्कर क्या है यह पूछते हो तो सुनो—

स्वधर्म का अपने करो आचरण व्यर्थ शोकाकुल क्यों हो रे।
जिस पर चलते कभी भी नहीं दोष लगेगा तुमको रे॥२/३१/८६
बने बनाये मार्ग पर चलते दुर्घटना नहीं होती।
दीप जलाकर चलने पर रे ठोकर भी नहीं लगती॥८७
उसी प्रकार स्वधर्म आचरण करते रहने पर हे पार्थ।
सब इच्छाएँ पूरी होकर सहज भाव से होती सार्थ॥८८
इस कारण से यह देखो कि तुम सारे ही क्षत्रियों को
एक संग्राम से अन्य कुछ करना उचित नहीं है तुम सबको॥८९
पूर्ण निष्कपट ऐसे मन से जमकर युद्ध ही करना है।
पर अधिक कहें क्या आज प्रसंग पर यही प्रत्यक्ष तो करना है॥९०

अर्जुन को सन्देह था कि इस युद्ध के परिणामस्वरूप अपने को नरक में जाना होगा। उस सन्देह का निवारण भगवान् ने यहाँ किया है कि स्वधर्माचरण से निश्चित मोक्ष प्राप्त होगा। तीसरे अध्याय में जहाँ भगवान् ने अर्जुन को बताया कि 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोयं कर्मबन्धन:।' यज्ञ के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे बन्धन का कारण नहीं बनते। ज्ञानेश्वर महाराज ने गीता के इस मूल विचार की विवेचना करते हुए एक पग आगे बढ़ाया और स्वधर्मयज्ञ का अभिनव और सरल मार्ग बताया। स्वधर्मानुसार किया जाने वाला कर्म ही यज्ञ है। 'सह यज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति:।' इस श्लोक के सन्दर्भ में आद्यशंकराचार्य महाराज ने यज्ञ अर्थात् स्थूल यज्ञ का ही विचार करते हुए—स्थूल यज्ञ का अधिकार त्रैवर्णिकों को ही होने के कारण प्रजा का अर्थ त्रैवर्णिक बताया। शंकराचार्य महाराज ने कहा कि 'यज्ञ सहिता: प्रजा: त्रयोवर्णा: ता: सृष्ट्वा।' प्रजा का अर्थ यहाँ त्रैवर्णिक करना वस्तुत: अव्याप्तिदोष-युक्त है। ज्ञानेश्वर महाराज ने यज्ञ अर्थात् सूक्ष्म यज्ञ और सूक्ष्म यज्ञ से आशय—निर्हेतुककर्तव्यकर्म—निष्काम भाव से स्वधर्मानुकूल कर्म यह व्यापक विचार व्यक्त किया। गीता कहती है कि प्रजापति ने प्रजा के साथ यज्ञ के साधन का सृजन करते हुए प्रजा के लिए यज्ञ को 'इष्टकामधुक्' साधन बताया। ज्ञानेश्वर ने कहा कि स्वधर्मयज्ञ ही कामधेनु है।

'स्वधर्म को ही नित्य यज्ञ तुम जानो हे अर्जुन प्यारे।
इस योजन में पापाचरण तो कभी नहीं इस कारण रे॥३/९/८१
इस निजधर्म को छोड़े जो वह कुकर्मासक्त रे हो जाता।

इस कारण से ही संसार के बन्धन में वह पड़ जाता ॥८२
स्वधर्म के ही आचरण द्वारा करे अखण्ड जो यज्ञयाजन।
इस बन्धन से मुक्त ही रहता वह तो एक इसी कारण ॥८३

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पति को पूजती है, उसी प्रकार कर्मफल का त्याग कर एकमेव स्वधर्मयज्ञ का आचरण करना चाहिए। नौका में जलयात्रा करने से कोई डूबता है क्या? विष के साथ सेवन करने से अमृत भी मारक हो जाता है। उसी प्रकार फलाशापूर्वक स्वधर्माचरण से हानि होती है। इसलिए कर्मफल का त्याग कर क्षात्रवृत्ति-अनुकूल वीरतापूर्वक युद्ध करना ही श्रेयस्कर है। अर्जुन बार-बार श्रेयप्राप्ति की बात करता है। श्रेय का सम्बन्ध सांसारिक सफलता अथवा यश से नहीं है। अपितु आत्मिक सन्तोष, आन्तरिक मानसिक सुख से है। स्वधर्माचरण से सांसारिक सुख प्राप्त होगा ही यह आवश्यक नहीं है। सांसारिक सुख के लिए स्वधर्माचरण का श्रेयस्कर मार्ग छोड़कर असत् मार्ग अपनाया जाता है। सांसारिक सुख प्राप्त भी होता है। परिणामतः एक तरफ अन्तःकरण में चुभन रहती है तो दूसरी तरफ श्रेय से दूरी बनती है। आत्मसुख दर्शन अप्राप्य हो जाता है। वस्तुतः स्वधर्मानुकूल अर्जन करना चाहिए और स्वधर्मानुकूल ही अर्जित का विनियोग करना चाहिए। सम्पूर्ण सम्पत्ति को हवन द्रव्य मानकर स्वधर्मयज्ञ में आदिपुरुष को अर्पण करना चाहिए। फिर जो हुतशेष हो, यज्ञशिष्ट हो, उसका उपयोग अपने परिवार के जीवन निर्वाहार्थ करना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराज ने स्वधर्मयज्ञ के माध्यम से स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के ही लिए नहीं, अपितु कुल, जाति, वर्ण के बारे में विचार न करते हुए समस्त प्राणिमात्र के लिए मोक्ष का द्वार खोल दिया। स्वधर्मानुष्ठान ही नित्ययज्ञ है। इस नित्ययज्ञ के फलस्वरूप पाप का संचार नहीं होता और कर्म भी बन्धनकारक नहीं होता। स्वधर्म रूप क्रतु न करने वाले उन्मत्त लोग पृथ्वी पर भार हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि क्षात्रवृत्ति ही तुम्हारा स्वधर्म है। अहैतुकी बुद्धि से स्वधर्मानुसार क्षत्रियोचित युद्धकर्म करने से तुम्हें पाप नहीं लगेगा। 'नैवं पापमवाप्स्यसि।' भिक्षा माँगना अर्जुन का स्वधर्म नहीं है।

कर्मयोगो विशिष्यते

लोकेस्मिन द्विविधा निष्ठा। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में दूसरे अध्याय में 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' से ही ज्ञानयोग और कर्मयोग इस द्विविधा निष्ठा का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। चतुर्थ अध्याय कर्मयोग विवेचन ही है। यहाँ भगवान् प्रारम्भ में ही कहते हैं कि

'फिर कहते हैं देव कि पूर्वकाल में भी यह योग कहा मैंने।
सर्वप्रथम हे अर्जुन यह था सूर्य को समझाया मैंने ॥'४/१/१६

और फिर सूर्य ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को बताया। किन्तु काल के प्रदीर्घ प्रवाह में वह योगमार्ग नष्ट हो गया। वही पुरातन योग अब आज मैं 'हे अर्जुन तुम्हें बता रहा हूँ।' सूर्य भगवान् कर्मयोग शास्त्र के प्रथम शिष्य हैं। और ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि जिस प्रकार अचल होते हुए भी उदय और अस्त के कारण सूर्य को चलायमान-गतिमान माना जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी कर्म करते हुए भी 'निष्कर्म्य' है। ज्ञान और कर्म का मिला-जुला विवेचन दूसरे से चौथे अध्याय तक सुनते-सुनते अर्जुन के मन में दुविधा होती

है। और श्रेयप्राप्ति का निश्चित एकमात्र मार्ग जानने हेतु पाँचवें अध्याय में प्रारम्भ में ही अर्जुन का प्रश्न है कि—

फिर कहता अर्जुन कृष्ण के प्रति कैसी बातें करते हो।
कुछ एकवाक्यता हो उनमें तो विचार उन पर सम्भव हो ॥५/१/१
पिछले वचनों में समझाया था परित्याग सब कर्मों का।
फिर पुरस्कार अब क्यों करते हो कर्मयोग के आचरण का ॥२
मेरे सम अनजानों को दो अर्थों की ऐसी बातें।
समझ में नहीं आती और कुछ निर्णय ना हम कर पाते ॥३

और एतदर्थ 'आप एक तत्त्व कहें, एक मार्ग बतावें' तब भगवान् ने स्पष्ट कहा कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही निःश्रेयस्कर है। परन्तु कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की अपनी विशेषता है। ज्ञानेश्वर यहाँ स्पष्ट ही कहते हैं कि जिस प्रकार नौका की सहायता से आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष नदी पार पहुँचते हैं, उसी प्रकार कर्मयोग के माध्यम से साधक और ज्ञानी—अनजान और जानकार—भवसागर से पार पहुँचते हैं।

गीता और ज्ञानेश्वरी एक तरफ सर्वसाधारण सामान्य समाज को, तो दूसरी तरफ श्रेष्ठ साधक अर्जुन को पाँती-पंगत में बैठने योग्य जानकारों को भी कर्मयोग के माध्यम से परमगति प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। विहंगम और पिपीलिका—दोनों मार्ग हैं। विहंगम मार्ग का साधक शनैः-शनैः इस शाखा से उस शाखा पर चढ़ते-चढ़ते यथावसर फलभक्षण करता है। विहंगम मार्ग के साधक की अवस्था भी अचानक अथवा एक ही जन्म में प्राप्त नहीं होती है। पिपीलिका मार्ग से ही साधना करते-करते अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त होते-होते किसी कारणवश योगभ्रष्ट अवस्था प्राप्त होती है। फिर वह योगभ्रष्ट 'शुचीनां श्रीमतां गेहे' पुनः जन्म धारण करते हैं और पूर्व जन्मों की साधना के बल से इस जन्म में विहंगम मार्ग से सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं। दोनों में से किसी भी मार्ग से सिद्धावस्था प्राप्त ज्ञानी पुरुष को लोकसंग्रह के लिए—लोकशिक्षा के लिए विहित कर्तव्य करना ही चाहिए। यह अपना अभिमत ज्ञानेश्वर महाराज ने पुनः-पुनः व्यक्त किया है। इतना ही नहीं, अपितु ज्ञानेश्वर स्पष्ट कहते हैं कि कर्मयोग की अवहेलना करने वाले, कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को गौणत्व-अप्रधानत्व देने वाले वस्तुतः भगवान् की अवज्ञा करते हैं।

महाभारत में भीष्म-युधिष्ठिर संवाद में भीष्म ने कहा है कि 'राजा कालस्य कारणम्।' और यहाँ गीता में भगवान् ने भी स्पष्ट कहा है कि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥' और इसलिए भगवान् लोकसंग्रहार्थ ज्ञानी को भी कर्मयोग के आचरण की आवश्यकता बताते हुए प्रथम जनक का और फिर अपना स्वयं का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। गीता के दूसरे अध्याय के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' इस बहुचर्चित श्लोक से लेकर अठारहवें अध्याय के 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' इस श्लोक तक कर्मयोग की विवेचना चलती रहती है। स्वाभाविक रूप से ज्ञानेश्वर महाराज भी दूसरे अध्याय की 'कर्मफल की आस न होवे न ही कुकर्म का संग ही हो। निष्काम भाव से सदाचार का पार्थ सदैव ही पालन हो ॥'(२/४७/६६)। इस ओवी से लेकर अठारहवें अध्याय की

'उस सर्वात्मक ईश्वर का हो अब स्वकर्मकुसुमों से पूजन। तो हे वीर उसके अपार सन्तोष का होता वह कारण॥'(१८/४६/१७)। इस ओवी तक कर्मयोग की विवेचना करते हैं।

पिपीलिका मार्ग द्वारा कर्मयोग की साधना से यथासमय ज्ञान प्राप्त करते हुए साधक मुक्तिपथ पर गन्तव्य स्थान पर पहुँचता है। योगभ्रष्ट भी पूर्वजन्मार्जित कर्मयोग की साधना से ही आत्मज्ञान सम्पन्न होते हैं। मोक्ष प्राप्त करते हैं। आत्मज्ञान सम्पन्न होकर भी सामान्य जनता की शिक्षा के लिए—लोकसंग्रह के लिए विहित और प्राप्त कर्तव्य का आचरण ज्ञानियों को भी करना ही चाहिए। यह गीता का अभिमत है और ज्ञानेश्वर का भी यही मत है। इस विचार के बारे में गीता का शब्द है—'ज्ञानयोग व्यवस्थिति।' गीतारहस्य में लो. तिलक ने लिखा है कि शांकरभाष्य के पूर्व ज्ञानयोग व्यवस्थिति-ज्ञानकर्मसमुच्चय का प्रतिपादन करने वाले गीताभाष्य उपलब्ध थे। अब वे भाष्य उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध गीताभाष्य के रूप में शांकरभाष्य ही प्रथम भाष्य है और वह है कर्मसंन्यास पक्ष का प्रबलतर पक्षधर। इस दृष्टि से मराठी सन्त-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् स्व. शं.दा. पेण्डसे ने अपने 'ज्ञानेश्वर का तत्त्वज्ञान' ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि ज्ञानेश्वर महाराज गीता के कर्मयोगशास्त्र के रूप में प्रथम और सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार हैं। वारकरी सम्प्रदाय (महाराष्ट्र) के बीसवीं शताब्दी के मूर्धन्य विद्वान् और अध्वर्यु प्राचार्य सोनोपन्त दाण्डेकर ने ज्ञानेश्वरी की विस्तृत प्रस्तावना में स्पष्ट लिखा है कि 'ज्ञान और कर्म में सामान्यत: लोग विरोध मानते हैं। परन्तु ज्ञानेश्वर महाराज के तत्त्वज्ञान में वैसा विरोध नहीं है। ज्ञानेश्वर गीता को संन्यासपरक (समर्थक) नहीं मानते। आत्मानन्द में डूबकर अर्जुन का कर्तव्यच्युत होना-कर्तव्यपराङ्मुख होना भगवान् को पसन्द नहीं था।' इस आशय के ज्ञानेश्वरी के विवेचन से ज्ञानेश्वर महाराज की कर्मयोगनिष्ठा प्रदर्शित होती है।

दैवासुर सम्पद्संघर्ष

'मानव मानव एक समान' यह नारा आज बहुत जोर से और बार-बार लगाया जाता है। यह नारा अत्यन्त लुभावना तथा प्रथम दृष्ट्या (प्राइमाफेसी) प्रभावी भी है। ऋषियों की अनुभूति रही है कि त्रिगुणों के आधार पर मानव मानव एक समान नहीं होते। उनमें स्वाभाविक अन्तर होता है। ऋषियों की इस अनुभूति को ही लगभग पाँच सौ वर्षों पूर्व गीता में (और फिर ज्ञानेश्वरी में) सत्त्व, रज, और तम का विस्तृत विचार व्यक्त करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने सोलहवें अध्याय में सत्त्वगुणप्रधान मानव को दैवीसम्पदायुक्त और तमोगुणप्रधान मानव को आसुर सम्पदायुक्त बताया है। जीवन का अर्थ जल भी होता है और जल का स्वाभाविक गुण है नीचे की ओर जाने का। नीचे की ओर बहने का। पानी को नीचे की ओर धकेलना नहीं होता परन्तु पानी को ऊपर की ओर ले जाने के लिए प्रयत्न करना होता है। जल के समान ही मानव जीवन भी नीचे की ओर भोग के मार्ग पर अध:पतन की ओर स्वभावत: गमन करता है। जल के समान ही मानव जीवन को ऊपर की ओर त्याग के मार्ग पर ऊर्ध्व दिशा में ले जाने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती है। गीता कहती है कि 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था: अधोगच्छन्ति तामासा:।' सत्त्वगुणप्रधान मानव ऊपर उठता है और तमोगुणप्रधान मानव का स्वाभाविक अध:पतन होता है। स्वधर्मयज्ञ के माध्यम से, संस्कार और साधना के बल पर मानव ऊर्ध्व दिशा की ओर बढ़ता है। यह दैवी सम्पदा का मार्ग है। स्वधर्मयज्ञ न करने

वाले उन्मत्त लोग पृथ्वी का भार बनते हैं। यह आसुरी सम्पदा का मार्ग है। सृष्टि के आरम्भ काल से ही दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा का संघर्ष अनवरत है। त्रिगुणात्मक प्रकृति का यह स्वाभाविक परिणाम है। प्रत्येक मनुष्य में तमोगुण के कारण पशुभाव होता ही है। इन्द्रिय सुख की प्रवृत्ति ही पशुभाव है। इस पशुभाव को नियन्त्रित करना ही मनुष्यत्व है। इन्द्रिय सुख की इस अनियन्त्रित प्रवृत्ति की प्रशंसा करने वाली फ्राइड और मार्क्स की विचारधारा का जन्म आधुनिक है, ऐसा नहीं है। इस प्रवृत्ति के साथ ही इस अत्याधुनिक कहे जाने वाले शास्त्रों का जन्म हुआ है। अर्थ और काम ही इनकी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। उनका उद्‌घोष है कि अर्थ और काम ये दो पुरुषार्थ ही मानव जीवन का ध्येय है। किंबहुना, अर्थ भी काम के लिए ही चाहिए। 'कामभोगार्थ अर्थसंचय। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान्॥'(गीता १६/१२) इस श्लोक के भाष्य में ज्ञानेश्वर कहते हैं—

इच्छित की तो प्राप्ति नहीं बस आशा से आशा बढ़ती
कोशकीट सम आशा के ही तन्तु की वृद्धि होती॥१६/१२/३८
अभिलाषा के पूर्ण न होने से ही द्वेष रे जन्म लेता
और उनके हेतु काम क्रोध से अधिक पुरुषार्थ नहीं होता॥३९
मन की ऐसी ठांव में इच्छाएँ तो खूब रे बढ़ जाएँ
पर उनकी पूर्ति हेतु धन की प्राप्ति कैसे हो पाए॥४२
तो उन भोगों की तृप्ति हेतु धन का प्रबन्ध करने को
मन में आए जैसा वैसे लूटते रहते हैं जग को॥४३

अपनी ही प्रशंसा करते हुए विश्व के सम्पूर्ण धन का स्वामी मैं अकेला ही बनूँगा और सारे काम-भोग उपभोगूँगा। काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है, मानव जीवन का ध्येय है। काम के बिना जगत् का अन्य मूल नहीं है। यह कहने वाले, मानने वाले असुर हैं। आसुरी सम्पदा हैं। पशु प्रवृत्ति के आधार पर मानव जीवन व्यतीत करने के दुराग्रहपूर्ण प्रयास का अर्थ है आसुरी सम्पदा। और इस सम्पदा के विचारानुसार स्त्री भी द्रव्य ही है, उपभोग का प्रमुख साधन है—

स्त्री का गायन ही सुनना, नयनों से देखे स्त्री को ही।
सभी इन्द्रियों से आलिंगन देना है बस स्त्री को ही ॥१६/११/३४
अमृत भी न्योछावर जिस पर वह सुख स्त्री बिन अन्य नहीं।
उनके मन में किया हुआ होता है निश्चय मात्र यही॥३५
फिर दौड़े दसों दिशाओं में स्त्रीभोग की प्राप्ति को।
उसी यत्न में एक कर देते स्वर्ग पाताल इन दोनों को॥३६

स्त्री का उपभोग ही परम सुख है, यह निश्चय होते ही फिर उस उपभोग की प्राप्ति हेतु आसुरी प्रवृत्ति के लोग स्वर्ग, मृत्यु, पाताल तीनों लोकों में दौड़ पड़ते हैं। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि यह आसुर प्रवृत्ति श्वान के समान द्रव्य और नारी के विषय में व्यवहार करते हैं। जिस प्रकार पेट भरने के लिए कुत्ता अन्न खुला है या ढका है, यह नहीं देखता; उसी प्रकार आसुर जन द्रव्य अपना है या पराया है, यह विचार नहीं

करता। कुत्तियों से मिलने के लिए जिस प्रकार कुत्ता स्थान उचित है या अनुचित यह नहीं सोचता, उसी प्रकार आसुर जन भी स्त्रीभोग के लिए किसी मर्यादा का विचार नहीं करते। वे शिश्नोदरपरायण होते हैं।

भक्ति आन्दोलन और वारकरी सम्प्रदाय

ज्ञानेश्वर महाराज के सामाजिक-राष्ट्रीय अभ्युदय के प्रेरणाप्रद कार्य में-ऐहिक मार्गदर्शन में—सन्त नामदेव का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मूलतः पण्ढरपुर निवासी नामदेव विठ्ठल भगवान् के अनन्य भक्त थे। वारकरी सम्प्रदाय की धारणा के अनुसार ज्ञानेश्वर श्रीकृष्ण के अवतार थे तो नामदेव सतयुग में प्रह्लाद, त्रेता में अंगद, द्वापर में उद्धव थे। एक ओर गीता के प्राकृत भाष्यकार के रूप में सन्त ज्ञानेश्वर की कीर्ति का परिमल बह रहा था तो दूसरी ओर भक्तराज नामदेव के अद्‌भुत कीर्तन की प्रशंसा प्रसारित हो रही थी। एक दिन ज्ञानेश्वर पण्ढरपुर पहुँचे। पन्थराज नाथपन्थ की धारणानुसार और श्रीमत् आद्य शंकराचार्य महाराज के कथनानुसार पण्ढरपुर 'महायोग पीठ' था। और आज तक पण्ढरपुर की ख्याति यथावत् है। ज्ञानेश्वर और नामदेव—ज्ञान और नाम (ज्ञान और भक्ति) की भेंट हुई। आयु में बड़े होते हुए भी नामदेव ने ज्ञानेश्वर को और ज्ञानेश्वर ने नामदेव को एक साथ ही झुककर प्रणाम किया। सम्भवतः इस प्रसंग के कारण ही वारकरी सम्प्रदाय में परस्परों को एक साथ झुककर प्रणाम की परिपाटी है। प्रथम भेंट में ही दोनों के बीच अद्‌भुत सखाभाव प्रगाढ़ हो गया। फिर दोनों ने अन्य सन्तसमूह को साथ लेकर देशभर में तीर्थयात्रा की और महाराष्ट्र में पण्ढरपुर वापस लौटे। इसलाम के अनुयायियों के लगभग चार शताब्दियों तक जारी निरन्तर आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत के मूल राष्ट्रीय समाज—हिन्दू समाज के संगठन पर प्रहार हुआ था। तीर्थयात्रा में ज्ञानेश्वर-नामदेव मण्डल ने इस स्थिति को अनुभव किया। मुसलिम आक्रमण के पूर्व राजा और राज्य के द्वारा देवधर्म और सांस्कृतिक श्रद्धास्थानों एवं मानबिन्दुओं के संरक्षण की चिन्ता होती रही थी। अब विधर्मी-विदेशी सत्ता के कारण शासन की ओर से संरक्षण प्राप्त होने के स्थान पर देवधर्म और मानबिन्दुओं पर प्रहार की प्रवृत्ति ने स्थान ग्रहण किया। अत्यन्त विपरीत, अनाकलनीय और भीषण परिस्थितियों में ग्रस्त समाज संन्यस्त था; बिखरा हुआ था। लोकसंस्था के बिखराव को अनुभव करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज ने सोचा कि 'यह सकल लोकसंस्था, रक्षणीय सर्वथा।' और रक्षणीय लोकसंस्था की चिन्ता के कारण भगवान् श्रीकृष्ण का तेजस्वी तत्त्वज्ञान समाज को उपलब्ध कर दिया। गीताभाष्य ज्ञानेश्वरी के माध्यम से राष्ट्रीय अस्मिता के पुनरुत्थान की दिशा बतायी। स्वधर्मयज्ञ और कर्मयोग का मार्ग बताया। जन्म से प्राप्त अधिकार-श्रेष्ठत्व को गौणत्व देकर स्वकर्मपुष्पों से विश्वात्मक भगवान् की पूजा को प्राधान्य दिया। विभिन्न आधिव्याधियों से ग्रस्त और त्रस्त समाज के प्रति अपना कर्तव्य न निबाहना नैष्कर्म्य नहीं है, यह अपने आचरण से बताया। समाज की दयनीय और शोचनीय अवस्था को सन्त नजरअन्दाज नहीं कर सकते। भगवद्‌गीता और ज्ञानेश्वरी का जन्म केवल निःश्रेयस साधना के लिए ही नहीं अपितु राष्ट्रीय अभ्युदय के लिए भी हुआ है। स्वधर्मयज्ञ और कर्मयोग के साथ ज्ञानेश्वर महाराज ने नामस्मरण का सरल मार्ग भी बताया। प्राप्त परिस्थिति में धर्मान्तरण के संकट से समाज को, सामान्य मानव को बचाने के लिए धार्मिक कठोर बन्धनों में जकड़े हुए समाज के लिए ज्ञानेश्वर-नामदेव के नेतृत्व

में भक्तिमार्ग के द्वारा उन बन्धनों को शिथिल करने का प्रयत्न हुआ। बन्धनों को शिथिल करने के साथ-ही-साथ अपनी प्राचीन परम्परा का स्मरण अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए आवश्यक था। भगवान् श्रीकृष्ण ने यह परम्परा-प्राप्त विचार ही अर्जुन को बताया था। जिस प्रकार ऋषियों के बताये हुए मार्ग पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने वाक्यरूप सूर्यकिरण डाले, उसी प्रकार ज्ञानेश्वर ने भी श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर अपने वाक्यरूपी किरण डाले।

कान्धे पर भगवी पताका

सामान्य मानव के आकलन हेतु प्राकृत में ज्ञानेश्वर महाराज ने विचार तो प्रस्तुत किया ही, परन्तु उस विचार को कृति में परिणत करने के लिए, आचरण में लाने के लिए ज्ञानेश्वर ने स्वयं अपने कान्धे पर भगवी पताका धारण कर पण्ढरपुर 'बारी' का नेतृत्व किया। पण्ढरपुर भगवान् पाण्डुरंग के भक्तों का वारकरी सम्प्रदाय का केन्द्र था ही। सम्प्रदाय की शिथिलता दूर कर ज्ञानेश्वर ने वारकरी सम्प्रदाय का पुनर्गठन और तेजस्वीकरण किया। धीरे-धीरे देवशयनी और प्रबोधिनी एकादशी को महाराष्ट्र के कोने-कोने से वारकरियों की संख्या पण्ढरपुर में चन्द्रभागा के किनारे दशमी, एकादशी और द्वादशी—तीन दिनों के लिए एकत्रित होना प्रारम्भ हुआ। गले में तुलसी की माला, भाल पर चन्दन का तिलक, कान्धे पर भगवी पताका, हाथ में मृदंग-झांझ-मंजीरा और वीणा लेकर शुभ्र धवल अंगरखा, पगड़ी, धोती, परिधान कर उपवस्त्र से कमर कसकर भगवन्नाम संकीर्तन करते हुए, सन्तों के अभंग और पदों को गाते हुए, नाचते हुए अपने-अपने ग्रामों से वारकरी निकलते हैं। समूह बनाकर मार्ग में अन्य वारकरी बन्धुओं और बहनों को साथ लेते हुए, ग्रामों में रात्रि को रुककर भजन कीर्तन करते हुए आगे बढ़ते हैं। वर्ष में दो बार देवशयनी और प्रबोधिनी के अवसर पर पण्ढरपुर पहुँचना, भगवान् विठ्ठल का पदस्पर्शपूर्वक प्रणाम कर दर्शन लेना, चन्द्रभागा नदी के किनारे सन्तों के नेतृत्व में भजन-कीर्तन का आनन्द लूटना और पुनः कीर्तन करते हुए ही अपने-अपने ग्रामों को वापस लौटना इसे वारी कहते हैं; और यह वारी करने वाले वारकरी कहलाते हैं। एकादशी और सोमवार का व्रत और वारी के अनुक्रम से सभी साम्प्रदायिकों का व्यवहार, आचार-विचार, उपास्य-उपासना पद्धति, नित्य नियम सब कुछ सहज एक विशिष्ट आकार लेता गया। ऊँच-नीच का भाव लुप्त होता गया। परस्परों को झुककर प्रणाम करना, परस्पर परिचय, आत्मीयता और सखाभाव स्थापित होना क्रम प्राप्त ही था। परदारागमन, असत्य बोलना, द्यूत खेलना, शराब पीना स्वयं प्रेरणा से प्रतिबन्धित था। सात्त्विक विचार और सात्त्विक आचार; यह एक 'सहज' आन्दोलन था, संगठन था। समाज में निर्भयता और कर्तव्यभाव (स्वधर्मयज्ञ) जगाते हुए आत्मा की अमरता के सिद्धान्त के आधार पर मृत्यु की चिन्ता अथवा मृत्यु का भय दूर करते हुए 'धृत्युत्साहसमन्वित' सात्त्विक कार्यकर्ताओं का समूह खड़ा होता रहा।

ज्ञानेश्वर महाराज नाथपन्थ के योगमार्ग के अधिकारी थे। आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न थे। परन्तु योगमार्ग सामान्य जनता के लिए सुगम नहीं है। वह अधिक कष्टप्रद-क्लेशोधिकतर मार्ग है। इसलिए ज्ञानेश्वर महाराज ने सामान्य जनता के लिए सरल भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। लोकसंग्रह, लोकशिक्षण के लिए

एक विशिष्ट पद्धति से विधिपूर्वक आचरण करने की प्रेरणा देने के लिए भगवी पताका हाथ में लेकर कीर्तन करते हुए पण्ढरपुर की वारी करना आदि सम्प्रदाय के नियमों का स्वयं पालन किया। भक्तिमार्ग में कुल, जाति, वर्ण के भेद को स्थान नहीं है। वारकरी वैष्णवों में सम्प्रदाय की विशिष्ट आचरण पद्धति का अनुसरण करने वालों के प्रति सहज आत्मीय तथा भ्रातृभाव जागता है। ज्ञानेश्वर महाराज के नेतृत्व में विविध बिरादरियों में सम्प्रदाय का प्रतिनिधि नेतृत्व खड़ा हुआ। दर्जियों में नामदेव, मालियों में सांवता, नाइयों में सेना, दासियों में जनी और कान्होपामा। इस प्रकार 'ईश्वरनिष्ठों का समूह' (ईश्वरनिष्ठां चीमान्दियाही) खड़ा हुआ। ज्ञानेश्वर महाराज के इस कार्य की प्रशंसा करते हुए तुकाराम महाराज (सन् १६०७-१६४९) ने कहा है कि ज्ञानेश्वर महाराज ने 'मेकविली मांदीवैष्णवांची' वैष्णवों का संगठन खड़ा किया।

भक्तिपन्थ से शक्तिपन्थ

ज्ञानेश्वर महाराज ने सन् १२९६ में इन्द्रायणी नदी के किनारे आलन्दीग्राम में संजीवन समाधि ग्रहण की। भगवान् की भक्ति से ओतप्रोत और आत्मज्ञान सम्पन्न सन्त नामदेव का अन्त:करण भी इस घटना से हिल उठा। 'संसार में रहना और फिर भी संसार से अलिप्त रहना' साधना की इस उच्चतम अवस्था प्राप्त नामदेव भी ज्ञानेश्वर की संजीवन समाधि ग्रहण की घटना से उद्विग्न होकर चल पड़े। घूमते-घूमते महाराष्ट्र से दूर पंचनद प्रदेश में पहुँचे। ज्ञानेश्वर के साथ तीर्थयात्रा में और अब अकेले इस भ्रमण में नामदेव ने उत्तर भारत की-विशेष रूप से पंजाब की स्थिति का अवलोकन किया। यद्यपि पूर्वयोजना से वे पंजाब नहीं पहुँचे होंगे, फिर भी उस विषम और भयावह परिस्थिति में उन्हें पंचनद में भ्रमण करने की प्रेरणा मिली होगी। लगभग १८ वर्ष नामदेव पंजाब में रहे थे। पंजाब भ्रमण में नामदेव को अनुभव हुआ कि विदेशी और विधर्मी आततायी आक्रान्ताओं के बार-बार के आक्रमणों से, प्रहारों और आघातों से समूचे पंजाब में अपना धर्म, अपनी संस्कृति नष्ट होने की स्थिति बन रही है। तीर्थयात्रा में नामदेव ने अनुभव किया कि कहीं भी वैष्णव भक्तजन एकत्र नहीं होते, कीर्तन का आनन्द नहीं लेते। 'दैत्यांचेनि भारे कांपती मेदिनी' दैत्यों के भार से मेदिनी काँप रही है। विदेशी विधर्मी आक्रान्ताओं के प्रहार पंजाब पर नामदेव के पूर्व और पश्चात् भी होते रहे। सप्तसिन्धु की, वैदिक सूक्तों की जन्मभूमि—पश्चिम पंजाब आज भी उन्हीं आक्रान्ताओं की भोगभूमि बनी हुई है।

पंजाब में भूतविण्ड ग्राम में नामदेव को प्रथम शिष्य मिला बहोरदास। फिर वे भवाल गये। भट्टीवाल के सरोवर को आज भी नामियाना तालाब-नामदेव का तालाब कहा जाता है। यहाँ ही जल्लो और लद्धा तथा घुमान में केशो (केशव) ये शिष्य मिले। 'भारत के सन्त महात्मा' इस ग्रन्थ में श्रीरामलाल ने लिखा है कि 'पंजाब में नामदेव ने कृष्णभक्ति का प्रचार किया। गुरुदासपुर जिले में घुमान में नामदेव ने अनेक भक्तों को सत्संग और विठ्ठलभक्ति का उपदेश दिया। नामदेव के ६१ हिन्दी पद गुरुग्रन्थसाहब में समाविष्ट हैं।' अनेक पंजाबी और हिन्दी ग्रन्थों में तथा पंजाबी जन्मसाखियों में नामदेव के पंजाब भ्रमण के उल्लेख मिलते हैं। इसलाम के एकेश्वरवाद के जवाब में पंजाब में नामदेव ने निर्गुण और सगुण के समन्वयात्मक पदों के माध्यम से प्रचार किया। नामदेव की मराठी प्रभावित हिन्दी वाणी गुरुनानक महाराज

के जन्म से लगभग सौ-सवा सौ वर्षों पूर्व पंजाब में घर-घर में तथा गाँवों की चौपालों और खेतों में गूँज रही थी। पंजाब-राजस्थान के नामदेव के शिष्य छीपा बिरादरी से जाने जाते हैं। पंजाब के गाँवों में गूँजने वाली नामदेववाणी को ही गुरुग्रन्थसाहब में स्वाभाविक रूप से स्थान मिला। घुमान में नामदेव मन्दिर है। उत्तर भारत में नामदेव के मन्दिर अनेक स्थानों पर हैं। ग्वालियर में भी नामदेव मन्दिर है। और ज्ञानेश्वर महाराज के नाथपन्थ की शिष्यपरम्परा के योगी महिपतिनाथ महाराज की समाधि भी है।

ज्ञानेश्वर नामदेव पेरित भक्तिपन्थ से महाराष्ट्र में जिस प्रकार शिवाजी महाराज के नेतृत्व में शक्तिपन्थ विकसित हुआ और १००-१२५ वर्षों तक विजिगिषु और वर्धिष्णु अवस्था में महाराष्ट्र से पंजाब तक समूचे भारत में हिन्दूपदपादशाही प्रस्थापित हुई, उसी प्रकार पंजाब में भी सिखपन्थ (भक्तिपन्थ) शक्तिपन्थ में परिणत होकर गुरु हरगोविन्दराय से बन्दा वैरागी और महाराजा रणजीत सिंह तक संघर्षरत रहा। अन्य किसी भी प्रान्त में भक्तिपन्थ शक्तिपन्थ में परिणत नहीं हुआ। इस दृष्टि से ज्ञानेश्वर-नामदेव के विचारों के प्रभाव का महाराष्ट्र और पंजाब में अनूठा अनुभव होता है। ख्यातनाम इतिहास लेखक डॉ. रमेश चन्द्र दत्त ने अपने 'भारत के इतिहास' में लिखा है कि 'गुरुनानक ने नामदेव से प्रेरणा लेकर सिखपन्थ निर्माण किया। वही पन्थ आगे राजनीतिक सत्ता (पोलिटिकल पॉवर) में परिणत हुआ।' धर्मसंग्राम की प्रेरणा देने वाले—निःश्रेयस के साथ ऐहिक अभ्युदय-सम्बद्ध मार्गदर्शन देने वाले गीताभाष्य (ज्ञानेश्वरी) का यह स्वाभाविक प्रभाव प्रतीत होता है।

सन्दर्भ

ज्ञानेश्वरी की प्रस्तावना—ले. प्राचार्य लोनोपन्त दाण्डेकर

श्रीशिवाजी महाराजांचे चरित्रभागन (मराठी-ले. बालशास्त्री हरदास)

ज्ञानेश्वरी का हिन्दी पद्यानुवाद—अनुवादक: डॉ. मोहन बाण्डे

□

नाथ-परम्परा एवं गोरखनाथ

—वीणा सिंह

नाथ योगी सम्प्रदाय—योगियों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आती है और योग-साधना का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में लगभग वैदिक युग से ही मान लिया जा सकता है। उस काल के व्रात्य लोगों के विषय में कहा गया है कि उनमें से कई एक रुद्र की उपासना करते थे तथा प्राणायाम को भी बहुत महत्त्व देते थे। उनके ध्यान की साधना वर्तमान योगाभ्यास से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी।[१] उसमें राजयोग के प्रारम्भिक रूप का—योगी परम्परा का भी आभास मिलता है। अपने शरीर के विभिन्न अंगों पर प्रभुत्व जमाकर उन पर प्राप्त विजय द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को भी वश में लाना उस समय सम्भव समझा जाता था। तदनुसार हम उस काल के साधकों में से बहुत को भिन्न-भिन्न प्रकार की तपश्चर्या में निरन्तर पाते हैं। तप के द्वारा उस समय एक अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होना समझा जाता था और उसकी क्रियाओं में निहित सृजन-शक्ति तक की कल्पना हमें ऋग्वेद के एक मन्त्र[२] में लक्षित होती है। उपनिषदों में से कई एक ऐसे हैं जिनमें योगाभ्यास के महत्त्व के अतिरिक्त उसका सांगोपांग किया गया विवरण तक पाया जाता है।[3] गौतम बुद्ध के समय तक हमें इस प्रकार की साधनाओं के प्रेमी बहुत बड़ी संख्या में मिलने लगते हैं और पहले पहल वस्तुत: योग-मार्ग का ही अनुसरण करने की ओर वे तथा तीर्थंकर महावीर स्वामी भी प्रवृत्त होते हुए पाये जाते हैं। महावीर स्वामी की प्रवृत्ति तो व्रत एवं तपश्चर्या की ओर कदाचित उनके अन्तिम समय तक दीख पड़ती है।

इसके सिवाय प्रसिद्ध है कि विख्यात यूनानी वीर सिकन्दर ने सं. २६९ वि. पू. के लगभग पश्चिमोत्तर भारत के किसी योगी से भेंट की थी और वैसे ही किसी एक को वह अपने साथ भी ले गया था। इसी प्रकार महर्षि पतञ्जलि के समय (वि.पू. दूसरी शताब्दी के लगभग) योग-विद्या की प्रधानता पायी जाती है और इस विषय को लेकर वे प्रसिद्ध योगसूत्रों की रचना कर डालते हैं जिनमें इसकी साधना एवं दार्शनिक रहस्यों का भी विवेचन सुव्यवस्थित ढंग से किया गया दिखलायी पड़ता है तथा जो योग-दर्शन वा योग-शास्त्र का एक प्रामाणिक ग्रन्थ बन जाता है।

गोरखनाथ का समय—गुरु गोरखनाथ के आविर्भाव का समय भिन्न-भिन्न विद्वानों के अनुसार ईसा की ७वीं शताब्दी से लेकर उसकी १२वीं शताब्दी तक अनुमान किया गया है। इसी काल में बौद्ध धर्म

का ह्रास एवं शैव सम्प्रदाय का पुनरुद्धार भारतवर्ष में हुआ था और ऐसा ही समय उसके विविध कार्यों के लिए उपयुक्त भी हो सकता था। फिर भी इतना लम्बा समय उनके जीवन काल के लिए कभी सम्भव नहीं कहला सकता।[४]

नाथ-परम्परा व गोरखनाथ—गुरु गोरखनाथ योगी सम्प्रदाय के सर्वप्रथम नेता थे और वास्तव में इसे संगठित करने एवं सुव्यवस्थित रूप देने में सबसे अधिक हाथ इन्हीं का था। इसके लिए इन्होंने असम से लेकर पेशावर से भी आगे तक पूर्व-पश्चिम तथा कश्मीर व नेपाल से लेकर महाराष्ट्र तक उत्तर-दक्षिण की पूर्व-पश्चिम तथा कश्मीर की लम्बी यात्राएँ कीं; कई स्थानों पर इसके केन्द्र स्थापित किये और वहाँ अपने योग्य शिष्यों को प्रचार के लिए नियुक्त किया। तदनुसार प्रसिद्ध है कि इनके प्रयत्नों व प्रभावों के कारण इसकी अनेक भिन्न-भिन्न शाखाएँ चल निकलीं, जिनमें से कम-से-कम १२ आज भी अधिक प्रसिद्ध हैं। इन प्रधान १२ शाखाओं में से (१) 'सत्यनारायण-पन्थ' का मुख्य स्थान उड़ीसा प्रदेश का पाताल भुवनेश्वर है और इसके प्रवर्तक सत्यनाथ माने जाते हैं; (२) 'धर्मनाथ-पन्थ' धर्मनाथ का चलाया हुआ कहा जाता है और इसका प्रधान केन्द्र कच्छ प्रदेश का थिनोधर स्थान माना जाता है; (३) 'कपिलानी पन्थ' का मुख्य स्थान गंगासागर के निकट दमदमा वा गोरखवंशी है; (४) 'रामनाथ पन्थ' के प्रवर्तक सन्तोषनाथ माने जाते हैं और इसका मुख्य स्थान गोरखपुर समझा जाता है तथा इसका सम्बन्ध दिल्ली से भी बतलाया जाता है; (५) 'लक्ष्मणनाथ पन्थ वा नाटेश्वर' का मुख्य स्थान झेलम जिले के अन्तर्गत गोरक्षटिल्ला नामक स्थान है और इसके मूल प्रवर्तक कोई लक्ष्मणनाथ माने जाते हैं; (६) 'वैराग्य पन्थ' के प्रथम प्रचारक भर्तृहरि समझे जाते हैं और इसका केन्द्र राताडुंगा स्थान है, जो पुष्कर क्षेत्र से ६ मील पश्चिम की ओर अवस्थित है; (७) 'माननाथी पन्थ' सम्भवतः 'पावननाथ पन्थ' भी कहा जाता है और इसका मुख्य स्थान जोधपुर का महामन्दिर है; (८) 'आईपन्थ' की मुख्य प्रचारिका विमला देवी मानी जाती हैं तथा इसका केन्द्र दिनाजपुर जिले का गोरक्षकुंई स्थान है। इस पन्थ का सम्बन्ध घोड़ाचोली से भी समझा जाता है; (९) 'गंगानाथ पन्थ' के प्रवर्तक गंगानाथ माने जाते हैं और इसका प्रधान केन्द्र गुरुदासपुर जिले का जथवार स्थान है; (१०) 'ध्वजनाथ पन्थ' का प्रधान केन्द्र सम्भवतः अम्बाला में वर्तमान है और इसके मुख्य प्रवर्तक चौरंगीनाथ माने जाते हैं और इसका मुख्य केन्द्र बोहर स्थान है, जो इन्द्रप्रस्थ-प्राचीन दिल्ली से ३५ मील पश्चिम की ओर वर्तमान है; (११) 'रावल' वा 'नागनाथ पन्थ' में अधिकतर मुसलमान योगी ही पाये जाते हैं और इसका प्रधान केन्द्र रावलपिण्डी है। इनके सिवाय दरियानाथ, कन्थनाथ आदि के नामों से भी कई शाखाएँ प्रचलित हैं।

इतिहास—नाथयोगी-सम्प्रदाय के प्रारम्भिक इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। बहुतों की धारणा है कि इसके मूल प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ थे, जिन्होंने सर्वप्रथम कनफटा योगियों की परम्परा चलायी थी और हठयोग की साधना को प्रचलित किया था। परन्तु विक्रम की ८वीं शताब्दी में रची गयी वाणभट्ट की पुस्तक 'कादम्बरी' तथा इसके भी पहले की रचना 'मैत्रेयी' उपनिषद् में कनफटा जैसे योगियों के उल्लेख नहीं मिलते हैं[५] और हठयोग के सम्बन्ध में भी एक जनश्रुति है कि उसका सर्वप्रथम प्रचार करने वाले मार्कण्डेय ऋषि थे जिनका हमें पौराणिक परिचय मात्र मिलता है तथा गुरु गोरखनाथ से सम्भवतः कहीं प्राचीन कुछ ग्रन्थों में भी हठयोग की कतिपय क्रियाओं की चर्चा की गयी मिलती है। इसके अतिरिक्त

हठयोग से अभिप्राय यदि हठपूर्वक वा बल प्रयोग द्वारा की गयी किसी योग साधना से है, तो वह वस्तुतः गुरु गोरखनाथ की नहीं हो सकती। गुरु गोरखनाथ का अधिक ध्यान कायाशोधन की ओर ही था, जो कतिपय आसनों व एक संयत जीवन का भी परिणाम हो सकता है और इनकी योग साधना की प्रणाली में भी अधिकतर इन्हीं बातों का समावेश था जो सहजयोग में पायी जाती है तथा जिनके कारण उसे शुद्ध हठयोग कहना वास्तविकता के नितान्त विरुद्ध जाना कहा जा सकता है। गुरु गोरखनाथ द्वारा निर्दिष्ट योग साधना के अन्तर्गत बीज-रूप में प्रायः वे ही बातें प्रधानतः दीख पड़ती हैं जिनका प्रचार आगे चलकर कबीर साहब आदि सन्तों ने भी किया था।

प्रमुख नाथपन्थी—उपर्युक्त १२ शाखाओं के अतिरिक्त नवनाथों की भी चर्चा की जाती है, जो ८४ सिद्धों की भाँति अधिक प्रसिद्ध हैं तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी माने जा सकते हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न तालिकाओं में इनके वही नाम नहीं दीख पड़ते और न यही जान पड़ता है कि उक्त नाम चुने जाने का आधार कौन सी बात हो सकती है। 'नाथों की परम्परा' में अनेक नाम ऐसे मिलते हैं जो प्रसिद्ध नाथपन्थियों के हैं, किन्तु जो किसी कारणवश विशेषणों की भाँति प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे नामों में उदाहरण स्वरूप 'चौरंगीनाथ', 'विचारनाथ', 'वैराग्यनाथ' आदि हैं जो क्रमशः पूरन भगत, भर्तृहरि, गोपीचन्द आदि के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऐसे नाथों के सम्बन्ध में अनेक रहस्यमयी कथाएँ भी प्रचलित हैं जिनमें उनके चरित्रों के विवरण अलौकिक शक्ति व चमत्कारों के प्रदर्शन मात्र-से जान पड़ते हैं। इस सम्प्रदाय के कई नाथों की रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जो भिन्न-भिन्न संग्रहों के अन्तर्गत अभी तक अप्रकाशित रूप में पड़ी हुई हैं। केवल गुरु गोरखनाथ की कुछ वानियों का प्रकाशन अब तक हुआ है[६] और शेष नाथों में से चर्पटीनाथ के कतिपय 'श्लोक' व 'सषाया' तथा गोपीचन्द वा वैरागनाथ की एक 'गाथा' अभी तक प्रकाशित रूप में देखने को मिली है।[७] इसके सिवाय जालन्धरनाथ, घोड़ाचोली, चौरंगीनाथ, चुरणकरनाथ, बालानाथ, देवलनाथ, पृथ्वीनाथ, रतननाथ आदि की भी एकाध फुटकर रचनाएँ कहीं-न-कहीं छपी हुई मिलती हैं, जिनसे इनके सिद्धान्त एवं साधना विषयक बातों पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

हठयोग—गुरु गोरखनाथ का कहना है कि "शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग यदि अवरुद्ध कर लिया जाए, तो उसका व्यापार ६४ सन्धियों में होने लगेगा। इससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक एक ऐसे सिद्ध में परिणत हो जाएगा जिसकी छाया नहीं पड़ती।" इसके सिवाय, "साधना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाने पर अनाहत नाद सुनाई पड़ता है तो समस्त सारतत्त्वों का भी सार है और गम्भीर से गम्भीर है। इससे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है जिसे स्वसंवेद्य होने के कारण कोई शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। तभी प्रतीत होने लगता है कि उसके अतिरिक्त सारा वाद-विवाद झूठा है।"[८] अतएव, वे बतलाये हैं कि "यदि तुम्हें मेरे वचनों में पूरी आस्था हो जाए और तुम उसके अनुसार कर देखो तो पता चलेगा कि बिना खम्भे के आधार पर स्थित आकाश में तेल व बत्ती के बिना ज्ञान का प्रकाश हो गया और तुम सदा उसके उजाले में विचरण कर रहे हो।"[९]

इसी कारण से प्राणायाम की साधना को पूरा महत्त्व देते हैं और बतलाते हैं कि उन्मनी योग इस प्रकार श्वासोच्छ्वास के इस 'भक्षण' द्वारा ही सिद्ध होता है इसलिए पण्डितों को चाहिए कि मेरे अध्ययन में ही लीन न रहकर उक्त सारी बातों को अपनी करणी द्वारा प्रत्यक्ष भी कर लें। इसी प्रकार यह भी कहते हैं

कि उक्त युक्तियों द्वारा शब्द को प्राप्त कर लेने पर परमात्मा आत्मा में वैसे ही दीखने लगता है, जैसे जल में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है और शरीर की शुद्धि होकर अमरत्व भी मिल जाता है। इन्होंने कायाशोधन, मनोरमा, संयत जीवन-यापन आदि पर विशेष रूप से जोर दिया है और कहा है कि इन साधनाओं की ओर ध्यान देना परमावश्यक है।

प्रभाव—गुरु गोरखनाथ के कायाकल्प वा कायाशोधन का अन्तिम उद्देश्य ब्रह्मपदोपलब्धि में सहायक होता है और उनकी लोकसेवा का भाव भी उसी में सिद्ध होने का परिणाम है। नाथयोगी-सम्प्रदाय के अन्य प्रचारकों की पर्याप्त रचनाएँ नहीं मिलतीं और जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे उक्त बातों का ही समर्थन होता है। इस सम्प्रदाय ने निरीश्वरवादी बौद्ध सिद्धों एवं जैन मुनियों की प्रचलित साधनाओं तथा योग की परम्परागत क्रियाओं के साथ शंकराद्वैतवाद व शैव सम्प्रदाय की अन्य कतिपय बातों का मेल बिठाकर एक नवीन पद्धति चलाने के प्रयत्न किये जिसके परिणाम का प्रभाव चिरकालीन सिद्ध हुआ और आगे आने वाले अनेक धार्मिक आन्दोलनों ने इसके किसी-न-किसी अंश को अपना लेना आवश्यक समझा।

स्वयं बौद्ध सिद्धों के भी कालचक्रमान नामक उपसम्प्रदाय ने इसकी बहुत-सी बातें ग्रहण कर लीं जिससे उसके धार्मिक हिन्दू समाज में खप जाते देर न लगी। गुरु गोरख द्वारा निर्दिष्ट निर्गुण व निराकार की उपासना भक्ति व प्रेम का आधार पाकर आगे और भी लोकप्रिय बन गयी और उनके द्वारा निर्मित तत्त्व विचार एवं योग साधना का ग्रन्थि-बन्धन आज तक भी प्राय: उसी रूप में वर्तमान समझा जा सकता है। इस सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी बड़े विद्वान, चरित्रवान, तथा लोकसंग्रही बनकर मानव समाज के समक्ष अपना आदर्श रखते गये। और उनके स्वस्थ शरीर, शुद्ध अन्त:करण एवं सात्त्विक जीवन की स्मृति किसी को भी अनुप्राणित कर जीवन में सानन्द अग्रसर कर सकती है।

सन्दर्भ :

१. डब्ल्यू. ब्रिग्स—'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' (रेलिजस लाइफ ऑफ इण्डिया सिरीज १९३८), पृ. २१२-१३

२. तम आसीत्तमसा गुढ़मग्रे प्रकेत सलिलं सर्वत्रा इदम्।
तुच्छचेनाम्वपिहितं यदासीत्तंपसस्तन्महिमा जायतैकम्॥ ३॥ (क्र.सं. १०, सू. १२९)

३. 'योगोपनिषद्' (संग्रह), ए.महादेव शास्त्री सम्पादित, (अडयार लाइबेरी), मद्रास।

४. हाँ, यदि इनके समकालीन मत्स्येन्द्रनाथ की 'मच्छन्द विभु:' (तन्त्रालोक भा., पृ. २५) के रूप में स्तुति करने वाले अभिनव गुप्त (११वीं शताब्दी) का भी विचार किया जाए, तो ये इससे कुछ पहले के भी समझे जा सकते हैं।

५. 'गोरखवानी' (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)

६. डॉ. मोहन सिंह—'गोरखनाथ एण्ड मिडीवल हिन्दू मिस्टिसिज्म', पृ. २०-३१

७. 'श्रीज्ञानेश्वरी', अध्याय ८, ओबी १७५०-४।

८. 'सारमसार' गहर गम्भीरं गगन उछलिया नादं।
मानिक पाया फेरि लुकाया झुठा वाद विवादं॥' १२॥ गोरखवानी, पृ. ५

९. 'थंम विहूणी गगन रचीलै विहूणी बाती।
गुरु गोरख के वचन पतिआया अब द्यौस नहीं वहाँ राती॥' २०४॥, गोरखवानी, पृ. ६८।

□

गोरखनाथ और कबीर की दृष्टि में परमतत्त्व

—डॉ. कमलेश कुमार गुप्त

अक्षय तृतीया संवत् १९९७ के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के 'संशोधित और प्रवर्धित संस्करण के सम्बन्ध में दो बातें' कहते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "वज्रयानी सिद्धों और नाथपन्थी योगियों ने कबीर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण सन्तमत के प्रचार के लिए पहले से रास्ता तैयार कर दिया था।"[१]

वज्रयान बौद्ध धर्म का विभाजित और विकृत रूप था जो सातवीं-आठवीं शताब्दी में देश के पूर्वी भागों में चल रहा था। बिहार से असम तक बौद्ध तान्त्रिक फैले थे। उनमें वामाचार चरम सीमा तक था। इन्हीं के बीच चौरासी सिद्ध भी हुए, जिन्हें आम जनता अलौकिक शक्ति सम्पन्न समझती थी और उनके करामातों से चमत्कृत और प्रभावित होती थी। यह स्थिति विक्रम की १०वीं शती तक पायी जाती है। गोरखनाथ का समय राहुल सांकृत्यायन ने विक्रम की १०वीं शताब्दी स्वीकार किया है।[२] आचार्य शुक्ल ने १३वीं शताब्दी। गोरखनाथ के नाथपन्थ का मूल बौद्धों की वज्रयान शाखा ही है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ (गोरक्षपा) भी गिने जाते हैं। लेकिन उन्होंने अपना अलग मार्ग बना लिया। उन्होंने पतञ्जलि के उच्च लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति को लेकर अपने हठयोग का प्रवर्तन किया। जहाँ वज्रयानी सिद्ध भारत के पूर्वी भाग में सक्रिय थे वहीं गोरखनाथ ने अपने मत का प्रचार देश के पश्चिमी भागों में राजपूताने और पंजाब में किया। गोरक्षनाथ को अपने युग का सबसे महान् धर्मनेता बताते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'नाथ सम्प्रदाय' में लिखा है—

"भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में इस सम्प्रदाय का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भक्ति आन्दोलन के पूर्व यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन रहा है और बाद में भी पर्याप्त शक्तिशाली रहा है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में से प्राय: सबके साहित्यिक प्रयत्नों की पृष्ठभूमि में इसका प्रभाव सक्रिय रहा है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की प्रेरक शक्तियों का अध्ययन इस सम्प्रदाय के अध्ययन के बिना अधूरा ही रह जाएगा।"[३]

नाथपन्थ के लिए मुसलमानों में भी आकर्षण था। "महमूद गजनवी के भी कुछ पहले सिन्ध और मुलतान में भी कुछ मुसलमान बस गये थे जिनमें कुछ सूफी भी थे। बहुत से सूफियों ने भारतीय योगियों

से प्राणायाम आदि की क्रियाएँ भी सीखीं।''[४] इसके अलावे नाथपन्थ में मुसलमानों को अप्रिय मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना की कोई आवश्यकता न थी। इस तरह गोरखनाथ ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों के विद्वेषभाव को दूर करनेवाला साधना का एक सामान्य मार्ग दिखाया, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। गोरखनाथ के साहित्य में ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गयी है, घट के भीतर ही ईश्वर की प्राप्ति पर जोर दिया गया है, वेदशास्त्रों के अध्ययन को व्यर्थ ठहराकर पण्डितों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गयी है, तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गये हैं। यह सब हमें आगे चलकर कबीर के साहित्य में लक्षित होता है। वैसे तो सम्पूर्ण भक्ति-काव्य पर गोरखनाथ का प्रभाव परिलक्षित होता है, लेकिन सन्तमत और विशेषत: कबीर पर उनका गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। कतिपय प्रसंगों और उनकी अभिव्यक्ति में तो गोरखनाथ और कबीर में अद्‌भुत साम्य है—

''यहु मन सकती यहु मन सीव।
यहु मन पाँच तत्त्व का जीव।
यहु मन ले जै उन मन रहै।
तौ तीन लोक की वातां कहै।''[५]
''इहु मनु सकती इहु मन सीउ।
इहु मनु पंच तत को जीउ।
इहु मनु ले जउ उनमनि रहै।
तउ तीनि लोक की बातैं कहै।''[६]

इसी तरह गोरखनाथ के पद कहीं कबीर के नाम से, कहीं नानक के नाम से तो कहीं दादू के नाम से प्रचलित हैं। इससे गोरखनाथ की लोक में मान्यता का पता चलता है।

कबीर के निर्गुण सन्त मत का सीधा सम्बन्ध नाथयोगियों से स्वीकार करते हुए डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने सिद्धों और नाथों से कबीर का सम्बन्ध मुख्यत: पाँच स्तरों पर माना है—(१) उच्चवर्गीय या ब्राह्मणों द्वारा अनुमोदित व्यवस्था का विरोध, (२) गुरु का महत्त्व, (३) पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता, (४) सहज तत्त्व (परमतत्त्व) की भावना, (५) भाषा-शैली एवं काव्यरूप।[७] यहाँ परमतत्त्व पर ही कुछ बातें रखने की कोशिश की जा रही है।

गोरखनाथ परमतत्त्व को स्वसंवेद्य मानते हैं। वह मन और बुद्धि से परे है, तर्कातीत और अनिर्वचनीय है। वह अनुभवगम्य है। उसे लेकर प्रकट किये गये द्वैत और अद्वैत मत भ्रान्त हैं। गोरखनाथ कहते हैं कि कुछ लोग अद्वैत की इच्छा करते हैं तो दूसरे लोग द्वैत की अभिलाषा रखते हैं, इसीलिए उन्हें समतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो पाती, जो द्वैत और अद्वैत से विलक्षण है। यदि वह परमदेव सर्वव्यापी, अचल, पूर्ण और अविनाशी है तो उसके लिए द्वैत-अद्वैत होने की कल्पना करना महान् अज्ञान है—मोह है, बहुत बड़ी भूल है—

''अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
सम तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना॥''[८]

वह सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर न ब्रह्मा है, न विष्णु, न रुद्र है, न इन्द्र। वहाँ तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशाएँ, काल, वेद, यज्ञ, सूर्य और चन्द्रमा, विधि और कल्प किसी की पहुँच नहीं है। वह सबसे विलक्षण स्वयं-ज्योति सत्य रूप है—

"न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुराः नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापि वायुर्न न गगनतलं नो दिशो नैव कालाः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जपति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते।"[९]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे ही कबीर का द्वैताद्वैतविलक्षण समतत्त्ववाद कहा है।[१०] कबीर का निर्गुण राम भी सबसे न्यारा निरञ्जन है। एकमात्र वही मायारहित तत्त्व है। वह सम्पूर्ण जगत् से परे एवं भिन्न है। यह सारा जगत् केवल माया का प्रसार है। आकार की उत्पत्ति भी माया से ही है। माया ने ही इन विभिन्न नाम-रूपों में विस्तार किया है। ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र तथा गोपियों के साथ रहने वाला कृष्ण सभी कुछ माया ही है। वाणी और वेद माया ही हैं। माया ही विद्या, पाठ और पुराण है—

"राम निरञ्जन न्यारा रे,
अंजन सकल पसारा रे॥
अंजन उतपति वो उंकार, अंजन माँड्या सब विस्तार॥
अंजन ब्रह्मा शंकर इन्द, अंजन गोपी संगि गोब्यन्द॥
अंजन बाँणी, अंजन बेद, अंजन की या नाँनाँ भेद॥
अंजन विद्या पाठ पुराँन, अंजन फोकट कथाहि गियाँना॥"[११]

गोरखनाथ का ॐकार निराकार है। वह न सूक्ष्म है, न स्थूल; न उसके पेड़ है, न पत्ते; न उसमें फूल है, न फल आते हैं। न उसमें डाल है, न जड़; न वह वृक्ष है, न लता; उसकी न साखी है, न उसका शब्द; न वह गुरु है, न चेला। वह न पाप में है, न पुण्य में; न मोक्ष में है, न मुक्त है। न ज्ञान में है, न ध्यान में; न योग में है न किसी युक्ति में। न वह उपजता है, न मरता है; न आता है, न जाता है; न उसकी जरा है, न मृत्यु; न उसकी माँ है, न उसका बाप—

"ॐकार निराकार सूछिम न अस्थूलं,
पेड़ न पत्र फलैं नहीं फूलं॥
डाल न मूल न वृष न बेला, साषी न सबद गुरु नहीं चेला॥
ग्यानें न ध्यानें जोगे न जुक्ता, पापे न पुंने मोषे न मुक्ता॥
उपजै न बिनसै आवै न जाई, जुरा न मरण वांके बाप न माई॥"[१२]

कबीर भी अपने ईश्वर के बारे में ऐसी ही बातें करते हैं—

"जाँमैं मरै न संकुटि आवै, नाँव निरञ्जन जाकौ रे।
अविनासी उपजै नहिं विनसैं, सन्त सुजस कहैं ताकौ रे॥"[१३]
"अलख निरञ्जन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई॥
सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा॥"[१४]

गोरखनाथ परमतत्त्व शम्भु को शरीर के भीतर ही स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा उत्तम देव है, उसी की सेवा करना नहीं जानते। अन्य देवों को पूज-पूज कर व्यर्थ मरते हैं। इसी शरीर के नव द्वारों में नव नाथ हैं, त्रिकुटी में जगन्नाथ हैं, दसवें द्वार अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में केदार हैं। यदि योग की सच्ची युक्ति मिल जाए, तो भवसागर पार हो सकते हो—

''गुरदेव स्यम्भदेव सरीर भीतरिये।
आत्मां उत्तिम देव ताही की न जांणौ सेव।
आंन देव पूजि-पूजि इमही मरिये॥
नवे द्वारे नवे नाथ, तृबेणी जगन्नाथ, दसवें द्वारि केदारं॥
जोग, जुगतिसार तौ भौ तिरिये पारं।
कथंत गोरषनाथ विचारं॥''[१५]

योग की उसी सच्ची युक्ति का वर्णन करते हुए कबीर मन को प्रबोधित करते हैं कि रे मन, यहीं बैठ। इसी अन्तरंग की साधना में केन्द्रित हो और कहीं मत जा। इस हृदय-सरोवर में अविनाशी भगवान् का निवास है। इसी सरोवर में करोड़ों तीर्थ हैं। इस काया में ही काशी है। इसी शरीर में कमलापति और वैकुण्ठवासी भगवान् का स्थान है। प्राणवायु के ऊर्ध्वगामी होने पर साधक जीव षटचक्रों का निवासी बन गया है। वह इड़ा रूपी गंगा के तट पर रहने लगा है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के सम्मिलित-क्षेत्र त्रिकुटि में निवास करने के कारण यह साधक आध्यात्मिक तीर्थराज प्रयाग का वासी बन गया है। सहस्रार कमल के स्थान पर गगन के सूर्य-चन्द्र नामक दो ताले हैं। उनमें प्राणवायु की उल्टी चाबी लग गयी है और उसके किवाड़ बन्द हो गये हैं। इस अवस्था में ज्योति प्रकट हो गयी है। जीव इन्द्रियों के पाँचों विषयों, पाँचों तत्त्वों और काम-क्रोधादि पाँच विकारों को नष्ट करके शुद्ध चैतन्य के रूप में बिल्कुल अलग दिखाई देता है—

''रे मन बैठि कितै जिनि जासी,
हिरदै सरोवर है अविनासी।
काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी॥
काया मधे कवलापति, काया मधे बैकुण्ठबासी।
उलटि पवन षट चक्र निवासी, तीरथराज गंगातट बासी॥
गगन मण्डल रवि ससि दोइ तारा, उलटी कूची लागि किवारा।
कहै कबीर भई उजियारा, पंच मारि एक रह्यो निनारा॥''[१६]

इन सबके बावजूद गोरखनाथ और कबीर की मान्यताओं में काफी अन्तर भी है। कबीर को ऐसे कोई आदिनाथ स्वीकार्य नहीं हो सकते जिनकी बायीं ओर निर्गुणस्वरूप ब्रह्म और दाहिनी ओर अद्भुत निजाशक्ति-इच्छाशक्ति (परमेश्वरी पराम्बा महामाया) विराजमान हैं और बीच में जो स्वयं पूर्ण अखण्ड (परमशिव) सर्वाधार-द्वन्द्वातीत विद्यमान हैं—

''निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा।
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः॥''[१७]

गोरखनाथ की मान्यता है कि जन्म-मृत्यु से परे परमेश्वर को भाव (प्रेम) और भक्ति से भी नहीं समझा जा सकता—

''भणत गोरखनाथ मछींद्र ना दासा,
भाव भगति और आस न पासा।''[१८]

जबकि कबीर की भक्ति 'भाव भगति' ही है। राम के प्रति आन्तरिक प्रीति में ही वे जीवन की सार्थकता मानते हैं। उनके अनुसार जिसके हृदय में राम के प्रति प्रेम नहीं है, जिसने प्रेमरस का आस्वादन नहीं किया और जिसकी जिह्वा पर राम का नाम नहीं आया वह इस संसार में व्यर्थ ही उत्पन्न हुआ—

''कबीर जिहि घटि प्रीत न प्रेम रस फुनि रसना नाहीं राम।
ते नर आइ संसार में, उपजि खये बेकाम।''[१९]

वस्तुतः गोरखनाथ और कबीर दोनों लोकनायक थे। दोनों ने अपने युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर अपने विचार और मत प्रकट किये। गोरखनाथ के समय धर्म के क्षेत्र में जो पाखण्ड और विकृतियाँ व्याप्त थीं, उनमें भक्ति की जगह ज्ञानयोग का प्रचार अपेक्षित था। कबीर के समय सूफियों का जोर अपेक्षाकृत अधिक था। समाज का निचला तबका आत्महीनता के गर्त में गोते लगा रहा था। पूजास्थल सुरक्षित नहीं थे। अतः कबीर ने ईश्वर का एक ऐसा स्वरूप सामने रखा जिसके लिए न तो मन्दिर जरूरी था न ही कोई अन्य बाह्याचार। भक्ति के एक सामान्य मार्ग से सब उस ईश्वर तक पहुँच सकते थे। हम कह सकते हैं कि कबीर ने गोरखनाथ के आदिनाथ परमेश्वर तक पहुँचने के लिए भक्ति का मार्ग सुलभ करा दिया।

सन्दर्भ :

१. शुक्ल, रामचन्द्र (सं.२०४७ विक्रमी), हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
२. वही, पृ. ९
३. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (१९९८), हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.१७
४. शुक्ल, रामचन्द्र (सं.२०४७ विक्रमी), हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
५. श्रीवास्तव, रामलाल, सम्पादक (सं.२०५१ विक्रमी), गोरखबानी, श्रीगोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, पृ.२४
६. वर्मा, डॉ. रामकुमार (१९९८), कबीर एक अनुशीलन, साहित्य भवन, इलाहाबाद, पृ.७६
७. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र (१९९२), कबीर मीमांसा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.६८
८. श्रीवास्तव, रामलाल, सम्पादक (सं.२०३६ विक्रमी), गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, श्रीगोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, पृ.२४
९. वही, पृ.२४
१०. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (२०१० ई.), कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.३८
११. श्याम सुन्दर दास, (सं.२०४९ वि.), कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.१५१
१२. श्रीवास्तव, रामलाल, सम्पादक (सं.२०५१ विक्रमी), गोरखबानी, श्रीगोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, पृ.१७५
१३. श्याम सुन्दर दास, (सं.२०४९ वि.), कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.८१

१४. वही, पृ.१७५
१५. श्रीवास्तव, रामलाल, सम्पादक (सं.२०५१ विक्रमी), गोरखबानी, श्रीगोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, पृ.१२८
१६. श्याम सुन्दर दास, (सं.२०४९ वि.), कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.१०८-१०९
१७. श्रीवास्तव, रामलाल, सम्पादक (सं.२०३६ विक्रमी), गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, पृ.१
१८. श्रीवास्तव, रामलाल, सम्पादक (सं.२०५१ विक्रमी), गोरखबानी, श्रीगोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, पृ.१७५
१९. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र (१९९२), कबीर मीमांसा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.७८

□

गोरक्षनाथ उपदिष्ट अमनस्क योग

—डॉ. बलवान सिंह

साधना के दो मार्ग हैं—१. शरीर को माध्यम बनाकर की जाने वाली साधना जैसे—आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्राएँ आदि। २. मन को माध्यम बनाकर की जाने वाली साधना, जैसे—ध्यान, नाम-जप, मन्त्र-जप, चिन्तन-मनन, एकाग्रता, त्राटक, नादयोग आदि। मन और शरीर एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित (एक-दूसरे पर अवलम्बित) होने के कारण प्रारम्भ कहीं से भी किया जा सकता है, किन्तु दोनों मार्गों का लक्ष्य एक ही होना चाहिए और वह है परम सत्य की उपलब्धि।

मन का सहारा लेकर की जाने वाली साधनाओं में दो स्थितियाँ होती हैं—(१) मन को किसी आलम्बन में विलीन कर देना या लय कर देना, किन्तु इस अवस्था में मन का अस्तित्व बना रहता है; जैसे—नाद-योग, लय-योग, तारक योग आदि। इस माध्यम से घटने वाली समाधि को महर्षि पतञ्जलि ने सम्प्रज्ञात समाधि का नाम दिया है। (२) बिना किसी आलम्बन के मन का अमनस्क हो जाना, प्रकृतिस्थ हो जाना, अस्तित्वगत हो जाना। मन की इस अवस्था का नाम अमनस्क योग है। इस प्रकार मन के पूर्ण अमनस्क होने की अवस्था को महर्षि पतञ्जलि ने असम्प्रज्ञात समाधि का नाम दिया है।

अमनस्क योग का सीधा सा अर्थ है—जहाँ मन की सत्ता नहीं है। जिस योग में मन, अमन हो जाता है, वह अमनस्क योग है। मन की अमनस्क स्थिति को समझने के लिए आवश्यक है कि हम पहले मन को समझें। प्रश्न उठता है कि मन क्या है?

मन चेतना का चंचल रूप है। सिद्ध पुरुष योगीराज गम्भीरनाथ ने (योग रहस्य, पृष्ठ-७६) में कहा है कि उठने वाले संकल्प-विकल्प ही मन है अथवा संकल्प-विकल्प के प्रवाह को ही मन कहा जाता है। मन अस्तित्व और प्रकृति के बीच सेतु का काम करता है। अस्तित्व में उठी हुई लहर मन है। मन भूत और भविष्य के चिन्तन में जीवित रहता है। वर्तमान में मन की कोई सत्ता नहीं होती। जहाँ मन नहीं है वहाँ परमात्मा है। मन का अर्थ है, और-और-और। मन कभी भरता नहीं। मन का स्वभाव है खाली रहना, दौड़ते रहना। दौड़ समाप्त होते ही अथवा तृष्णा एवं इच्छा समाप्त होते ही मन समाप्त हो जाता है।

मन को जानने के बाद यह समझना चाहिए कि मन का निर्माण कैसे होता है? मन का निर्माण होता

है संस्कारों से, सांसारिक ज्ञान से। जितना-जितना हम सांसारिक ज्ञान मस्तिष्क में भरते जाते हैं, उतना-उतना मन मजबूत और समृद्ध होता जाता है। इन्हीं संस्कारों, परम्पराओं और सांसारिक ज्ञान से युक्त मन को 'अहम्' कहते हैं। यही सांसारिक ज्ञान व्यक्ति को सीमित कर देता है तथा संसार चक्र अथवा भव चक्र अथवा जीवन-मरण के चक्र में फँसाए रखता है। अज्ञानतावश मन इसी ज्ञान में अपनी सुरक्षा समझता है, इसीलिए इसे मजबूती से पकड़े रहता है और बन्धनों में बँधा रहता है तथा दु:ख भोगता रहता है। यही मन मनुष्य के बन्धन और सीमित होने का कारण है। मन का होना ही मुक्ति में बाधक है। अत: प्रश्न उठता है कि अमन की अवस्था प्राप्त करने का उपाय ही 'अमनस्क योग' है। इस अमनस्क योग को भगवान् शिव ने शाम्भवी मुद्रा (शाम्भवी विद्या) कहा है। यह शाम्भवी मुद्रा अन्तर्लक्ष्य वाली है क्योंकि इसमें बहिर्दृष्टि होने पर भी अन्तर्लक्ष्य होता है और दृष्टि में निमेष और उन्मेष नहीं होते हैं। यह सब शास्त्रों में छिपायी गयी गोपनीय विद्या है। अमनस्क योग के सम्बन्ध में भगवान् शिव ने कहा है कि किसी एकान्त एवं पवित्र स्थान में जो मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाला (मनोहारी) हो, वहाँ योगी सम आसन में सुखपूर्वक सीधा बैठे तथा स्थिरचित्त एवं निश्चल होकर एक हाथ तक आगे की ओर दृष्टि लगाकर अभ्यास करे। शरीर के सम्पूर्ण अंगों को पैर के नख से लेकर शिखा तक शिथिल कर योगी, बाहरी और भीतरी सब चिन्ता और चेष्टा का त्याग कर जब उदासीन होगा, तब अमनस्क तत्त्व का प्रकाश होता है। उक्त तत्त्व के स्वयं प्रकाश में आने पर आत्मानन्द तत्क्षण प्राप्त होता है। आनन्द से सन्तुष्ट होकर सदा अभ्यास में निरत रहना चाहिए। सदा अभ्यास के स्थिर होने पर फिर न कोई विधि है और न कोई क्रम है।

शिव द्वारा बतलायी गयी अमनस्क विद्या, गुरु गोरखनाथ द्वारा लोक कल्याण के लिए साधकों को दी गयी है। गुरु गोरखनाथजी ने इस यौगिक कृति में बाह्याडम्बर तथा हठयोग के नाम पर प्रचलित बाह्य अनावश्यक साधन क्रमों (आसन, बन्ध, मुद्रा, चक्रभेदन आदि) की साधक के लिए उपेक्षा अथवा तटस्थता को ही श्रेयस्कर माना है। अमनस्क विद्या वास्तव में योग की महाविद्या है। गोरखनाथजी ने कहा है—

यहु मन शकती यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्त्व का जीव॥
यहु मन ले जै उनमन रहै। तो तीन लोक की बातां कहै॥ (गोरखवानी, सबदी-५०)

अमनस्क योग गुरु गोरखनाथजी की महत्त्वपूर्ण देन है, जो समाधि के परे की मन की महालयावस्था है। योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने इस महालयावस्था को शून्य के रूप में मन का वास स्थान बताया है। मन ऐसे तो हृदय में स्थित रहता है, किन्तु यदि हृदय से अतीत होता है, उन्मन होकर अमनस्क होता है तो वह शून्य में ही महालयस्थ हो जाता है। गोरखनाथ ने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से पूछा कि यदि हृदय न होता तो मन कहाँ रहता। मत्स्येन्द्रनाथ ने तत्काल उनकी जिज्ञासा का समाधान किया—

अवधू हिरदा न होता, तब सुंनि राता मन। (मछीन्द्र गोरष-बोध-२८)

वास्तव में मन की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती है। संकल्प-विकल्प के जाते ही मन चला जाता है। ये (संकल्प-विकल्प) तत्त्व प्रकाश में बाधा डालते हैं। संकल्प-विकल्प के नाश से ही मनोनाश हो जाता है तथा तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जैसे घी में घी मिलने से घी हो जाता है, दूध में दूध मिलने से दूध

हो जाता है, सागर में बूँद मिलने से सागर हो जाती है, उसी प्रकार अमनस्कता के स्तर पर तत्त्व में समाहित योगी तत्त्वाकार हो जाता है। वह परम शक्तिमान परमेश्वर हो जाता है। यही सिद्धमत का रहस्य है और अमनस्क योग का श्रेय है।

अवधूत के लिए गुरु गोरखनाथ का निर्देश है कि सम्पूर्ण जगत्, सृष्टि, विश्व-ब्रह्माण्ड तथा उसमें जन्म लेने वाले और मरने वाले शरीरधारी जीव सब-के-सब इसी मन के स्वरूप, अरूप और रूप हैं। इस मन को न तो रोकना चाहिए और न चंचल होने देना चाहिए। जहाँ से मन की चंचलता आरम्भ होती है, उसे वहीं वापस ले जाना चाहिए। परम शांत, लययुक्त, विलीन, स्थिर मन ही उन्मन अथवा अमनस्क होकर योग साधना को सिद्धि में रूपान्तरित कर देता है। अमनस्क योग के धरातल पर मन का सम्पूर्ण सहज स्वाभाविक उन्मनीकरण ही राजयोग सिद्धि की चरम अथवा अन्तिम अवस्था है। यही मन का आत्यन्तिक लय है, जिसका फल है ब्रह्मतत्त्व में समाहित होना। यह अमनस्क सिद्धान्त ही द्वैताद्वैत विलक्षण योगदर्शन का, निरुपाधि ब्रह्म साधन का अथवा अवाच्य निरञ्जन परमात्मा के साक्षात्कार का प्रकाश स्तम्भ है। इस अमनस्क विज्ञान से परम तत्त्व का निर्वचन सम्भव होता है।

महायोगी गुरु गोरखनाथ ने कहा है कि योगी को किसी भी विषयवस्तु का चिन्तन न करते हुए सहज स्वरूप में निरञ्जन परम शून्य तत्त्व में समाहित रहना चाहिए। जब तक संक्षोभ है, चिन्तन और संकल्प की कल्पना है, तब तक अमनस्क स्थिति की प्राप्ति नहीं हो सकती और न तत्त्व साक्षात्कार, स्वरूपावस्था ही सम्भव है। मन की उपस्थिति से भेद दृष्टि पैदा होती है और जब मन अमनस्क हो जाता है तो भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है। तब पुरुष और प्रकृति में भेद समाप्त हो जाता है और पूर्णता प्राप्त हो जाती है। यह अवस्था है—

अन्तः शून्यो बहिः शून्यो शून्य-कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्ण कुम्भ इवार्णवे॥

जिस प्रकार से आकाश में स्थित रिक्त घड़े के अन्दर शून्य है और बाहर शून्य है; जिस प्रकार सागर में डूबे घड़े के अन्दर पूर्णता है और बाहर पूर्णता है; उसी प्रकार उन्मना और समना दोनों के मूल में एक ही तत्त्व है, क्योंकि पुरुष और प्रकृति अन्ततः एक और ब्रह्म ही है। शिव से पृथक और स्वतन्त्र शक्ति की कोई सत्ता नहीं है। शक्ति के अभाव में शिव की अभिव्यक्ति असम्भव है। शिव का असीम गौरव शक्ति के रूप में प्रकट होता है। इसीलिए शक्ति को शिव के असीम वक्षस्थल पर शाश्वत रूप से नृत्य करती हुई मानकर परमतत्त्व के वास्तविक स्वरूप की कल्पना की जाती है। अमनस्क योग द्वारा शिवतत्त्व की अनुभूति होते ही शक्ति तत्त्व का भेदात्मक स्वरूप तिरोहित हो जाता है और व्यक्ति पूर्णता की अनुभूति करता है। वह परम तृप्त और कृतकृत्य हो जाता है। यही मानव जीवन की परम उपलब्धि है।

□

गोरक्षनाथ उपदिष्ट सिद्धि-मार्ग

—डॉ. अजय कुमार शुक्ल

योगी और दार्शनिक दोनों का चरम लक्ष्य उस सर्वव्यापी परमसत्ता को ढूँढ़ना है जो सबसे परे ब्रह्माण्ड का मूलाधार, मानव-अनुभव एवं समस्याओं का अन्तिम समाधान है। यद्यपि योगी और दार्शनिक दोनों का अन्तिम लक्ष्य एक ही है किन्तु उनके इस लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। दार्शनिक का मार्ग बौद्धिक है जबकि योगी का मार्ग आध्यात्मिक है। दार्शनिक विचारपूर्ण तर्क और चिन्तन के मार्ग पर अग्रसर होता है जबकि योगी नैतिक और मानसिक अनुशासन के मार्ग पर अग्रसर होता है। दार्शनिक तर्कातीत पूर्ण सत्य की तार्किक धारणा प्रस्तुत करना चाहता है। वह अपनी बौद्धिक सन्तुष्टि के लिए आध्यात्मिक पारमार्थिक सत्यान्वेषण के क्रम में एक दार्शनिक का प्रयास मुख्यत: परीक्षणपरक होता है। योगी अपनी आत्मा की मौलिक आवश्यकता की पूर्ति का सर्वथा ध्यान रखता है। एक दार्शनिक के व्यावहारिक जीवन और बौद्धिक धारणा में सामंजस्य न होने पर भी वह दार्शनिक बना रहता है लेकिन एक योगी तब तक योगी नहीं माना जा सकता जब तक उसका आचरण उसकी सैद्धान्तिक मान्यताओं के अनुरूप जीवन के सभी क्षेत्रों में पूर्णत: अनुशासित न हो जाय।

योग मार्ग में ऐसे किसी बौद्धिक विकल्प की आवश्यकता नहीं होती। इसमें न तो प्रकल्पना के निर्माण की जरूरत होती है और न तो उनकी तार्किक समीक्षा की, वह तो चेतना को उच्च आध्यात्मिक स्तर पर उठाकर परम सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करना चाहता है। इस प्रकार के अनुभव की यथार्थता में अटूट विश्वास रखकर योगी अपने मार्ग पर अग्रसर होता है।

परम सत्य की खोज योगी इस विश्वास के साथ करता है कि यद्यपि परम सत्य बौद्धिक धारणा या तार्किक विश्लेषण से परे है किन्तु वह स्वयं को मानवीय चेतना के समक्ष प्रकट कर देता है। इसीलिए योगी परम सत्य के बारे में निरर्थक तार्किक युक्तियों और धारणाओं के निर्माण के स्थान पर अपनी चेतना की, यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के आत्म अनुशासन मार्ग का अनुसरण कर उच्च स्तरीय बनाने का प्रयास करता है और यह प्रयास तब तक चलता रहता है जब तक अद्वैत सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती।

नाथ योग मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, दर्शन, धर्म एवं साधना के क्षेत्र में सर्वाधिक लोकप्रिय तथा जनमानस को प्रभावित करने वाला तत्त्व रहा है। इसका प्रधान कारण यह था कि इसमें एक साथ सैद्धान्तिक स्तर पर तत्त्व चिन्तन एवं व्यावहारिक स्तर चिन्त्य-तत्त्व को ग्रहण करने योग्य मनोभूमि के निर्माण के लिए शारीरिक साधना की व्यवस्था रही है। गोरक्षनाथ की हठयोग साधना प्रणाली एक ऐसी पुरानी परम्परा का ही किंचित् नया रूप है जो कदाचित् द्वितीय शती में भी प्रचलित थी। सामान्यतः हठयोग का अर्थ है—'हठेन बलात्कारेण योग सिद्धि' अर्थात् बलपूर्वक योगसाधना से सिद्धि-लाभ करना। वास्तव में वैषम्य से ही जगत् की उत्पत्ति होती है, समता प्रलयसूचक है। शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति आदि शब्द इसी द्वन्द्व के बोधक हैं। जीव देह में प्राण और अपान का संघर्षण ही जीवन है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है—'संयोगो योग इत्युक्तः जीवात्म परमात्मनो' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का संयोग ही योग है। 'स्कन्द पुराण' में आत्मा और मन के संयोग को योग कहा गया है। 'योगबीज' में अपान और प्राण, रजस और तेजस, सूर्य और चन्द्रमा तथा जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को 'योग' कहा गया है। 'ह' और 'ठ' क्रमशः सूर्य-चन्द्र, इड़ा-पिंगला, प्राण-अपान एवं बिन्दु-रज के भी द्योतक हैं।

गोरक्षनाथ ने अपने षडांग योग के अन्तर्गत यम और नियम की गणना न कर उन्हें मानव मात्र के लिए अनुष्ठेय माना है। फिर भी हठयोग प्रदीपिका में दस यम और दस नियमों की चर्चा की गयी है। पथ्यापथ्य का विशेष ध्यान दिया गया है। योग-साधन में गुरु महत्ता अपरिहार्य है। नाथों की योग साधना का आरम्भ गुरु तत्त्व से होता है। गुरु को ३६ लक्षणों से युक्त माना गया है। शिष्य में ३२ लक्षण ही होते हैं। साधक के इस ३२ गुणों की परीक्षा का उल्लेख गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह तथा नाथपन्थीय हिन्दी रचनाओं में प्राप्त होता है। साथ-ही-साथ गुरु की सुयोग्यता पर भी ध्यान दिया गया है। आत्म ज्ञान से वंचित करने वाला, ज्ञानहीन गुरु सर्वथा त्याज्य है। यम-नियम के सम्यक् अभ्यास के बाद हठयोग का वास्तविक आरम्भ होता है। वैराग्य की भावना जब हृदय में दृढ़ता से उत्पन्न हो जाती है तो वह अपनी अभिव्यञ्जना में तीन मार्ग—इन्द्रिय निग्रह, प्राण साधना और मन साधना का आश्रय लेती है। यद्यपि हठयोग का मूल तत्त्व प्राणायाम है पर इसकी सिद्धि के लिए आसन धैर्य की महती आवश्यकता है।

आसन शब्द उपवेशनार्थक आसन् धातु से बना है। जिस विधि से बैठा जाए उसी का नाम आसन है। 'आस्यते अनेन इति आसनम्'। पतञ्जलि ने इसका स्पष्टीकरण 'स्थिर सुखमासनम्' कहकर किया है। हठयोग के ग्रन्थों में आसनों की संख्या ४८००० बतायी गयी है जिसमें से ४४ आसनों की विशेष उपयोगिता सिद्ध की गयी है। पर योग साधना की दृष्टि से जिन चार आसनों की सार्थकता बतायी गयी है वे हैं—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन। हठयोग प्रदीपिका में सिद्धासन को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है तथा इसे ही वज्रासन, मुक्तासन तथा गुह्यासन के नाम से अभिहित किया गया है। धर्म साधन के लिए शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है। आसनों के अभ्यास से शरीर में आरोग्यता, स्थिरता एवं गुरुता का नाश तथा द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त होने से यथासुख तथा स्थित रूप अंग लाघव की प्राप्ति होती है। गोरक्षनाथ ने बड़ी दृढ़तापूर्वक कहा है—

आसण दिढ़ अहार दिढ़ जेन्यन्द्रा दिढ़ होई।
गोरख कहैं सणौ रे अवधू मरै न बूढ़ा होइ॥ (गो.वा. सबदी पृ.१२५)

सुयोग्य शिक्षक की देखरेख में सन्तुलित आहार एवं नैतिकता के साथ आसनों का नियमित अभ्यास साधक को इस योग्य बना देता है कि वह प्राणायाम मुद्रा और अन्य यौगिक विधियों को करने की क्षमता प्राप्त कर सके। सिद्ध, पद्म, वज्र एवं स्वस्तिक आदि आसनों में से किसी एक ही आसन पर बिना कष्ट के ३ घंटे ३६ मिनट तक बैठने से आसन सिद्धि मानी जाती है।[१] षडांग योग का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग प्राणायाम नाड़ियों से सम्बद्ध है। शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं। इनकी उद्‌गमस्थली पिण्ड में मेढ्र से ऊपर नाभि के नीचे स्थित पक्षी के आकार की कन्द योनि बतायी गयी है।[२] योग साधना की दृष्टि से इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों की विशेष महत्ता है। प्राणायाम के तीन प्रकार हैं—पूरक, कुम्भक, रेचक। श्वास को अन्दर की ओर खींचना पूरक है, श्वास को कुछ समय तक अन्दर रोकना कुम्भक है। श्वास को धीरे-धीरे बाहर की ओर छोड़ना रेचक है।

आसन और प्राणायाम के पश्चात् मुद्रा की साधना की जाती है। जीवात्मा और परमात्मा की एकता की जो उत्पत्ति है उसे 'मुद्रा' कहा गया है।[३] हठयोग की पुस्तकों में मुख्यतः दस उच्चतर मुद्रा विधियें की चर्चा की गयी है—महा मुद्रा, महाबन्ध, महाबेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, नलिधर बन्ध, विपरीतीकरण, वज्रोली एवं शक्ति चालन। इनमें से किसी एक की सफलता आश्चर्यात्मक अनुभूतियों का साक्षात्कार कराने में समर्थ है। 'हठयोग प्रदीपिका', 'शिव संहिता' एवं 'धेरेण्ड संहिता' के अनुसार मुद्राओं के अभ्यास से सभी नाड़ियों में प्राण का सहज गति से प्रवेश, वीर्य की स्थिरता कशायों और पातकों का नाश, सर्वरोगों का उपशमन, जठराग्नि की वृद्धि, शरीर की निर्मलकान्ति, जरा का नाश, पंचतत्त्वों पर विजय एवं नाना प्रकार की योग सिद्धियों की प्राप्ति बतायी गयी है। परन्तु इनका मुख्य कार्य है कुण्डलिनी शक्ति का उद्‌बोधन।[४]

प्रत्याहार के सम्बन्ध में गोरक्ष संहिता में कहा गया है कि चन्द्र की अमृतमयी धारा को सूर्य ग्रस्त करता है। उसे सूर्य से हटाकर स्वयं ग्रसना ही प्रत्याहार है। 'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति' एवं 'गोरक्ष पद्धति' में कहा गया है कि इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अलग करना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार की साधना से मानसिक विकार नष्ट होते हैं। इसकी साधना के लिए सतत प्रयत्न के साथ धारणा का भी अभ्यास वांछनीय है। धारणा एक निश्चित वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने की निश्चित प्रक्रिया है। हृदय में मन एवं प्राणवायु को निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पंच महाभूतों को पृथक-पृथक धारण करना 'धारणा' कहलाती है। धारणा के उपरान्त ध्यान की गणना की गयी है जिसका भाव परम अद्वैत है। धेरेण्ड संहिता में ध्यान के दो भेदों का निर्देश किया गया है—स्थूल एवं सूक्ष्म। गोरक्ष पद्धति में कहा गया है कि एकान्त एवं पवित्र स्थान में बैठकर पद्मासन या स्वस्तिकासन लगाकर शरीर को सरल बनाकर आधारादि चक्रों में मन लगाकर नासाग्र में दृष्टि देकर कुण्डलिनी सहित ध्येय वस्तु का ध्यान करने से योगी समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। साधक ज्यों-ज्यों शुद्ध, दृढ़, असम्पृक्त और पूर्वाग्रहरहित मन के साथ गहनतर ध्यान में मग्न होता जाता है वह मानव चेतना के अन्तर्तम प्रदेशों में छिपे हुए आध्यात्मिक रहस्यों को प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान से अनुभूत कर लेता है। उसका मन और प्राण-शक्ति एकनिष्ठ एवं अन्तरोन्मुख होने के कारण क्रमशः उत्तरोत्तर परमात्म तत्त्व से अभिभूत और ज्योतिमण्डित हो जाती है। इस निकास की स्थिति में उसकी व्यक्तिगत चेतना पूर्ण प्रकाशित ऊर्ध्वचेतन स्थिति तक उठ जाती है जिसमें वैयक्तिकता की सीमाएँ अतिक्रमित हो जाती हैं। जहाँ

विश्व का, अहम् और इदम् का, आत्म और मन पर का विरोध श्रमित हो जाता है। यह स्थिति 'समाधि' की स्थिति कहलाती है जो गहन ध्यानावस्था की पूर्णता है।[५]

मन के द्वारा ध्येय का ध्यान करते-करते उसका ध्येयाकार हो जाना ही समाधि की पूर्णावस्था है। पतञ्जलि ने इसी अवस्था की ओर संकेत किया है—

तदेवार्थ मात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।[६]

समाधि प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए गोरक्ष पद्धति में कहा गया है कि योगीसाधक सिद्धासन लगाकर दोनों हाथ के अँगूठों से दोनों कर्णछिद्र तर्जनियों से नेत्र, मध्यमाओं से नासिका और अनामिका तथा कनिष्ठा मुख बन्द कर अधिमुख द्वार से पूरित करके मूलाधार में रहने वाली अग्नि तथा अपान वायु सहित प्राण वायु को हृदय-कमल में धारण कर ऊर्ध्वस्थ का सहस्रार कमल में धारण करें। इस प्रकार समाधि का अभ्यास करने वाला योगी अपानवायु सम्मिलित प्राणवायु होकर सर्वद्रष्टा साक्षीभूत अन्तरात्मा के तुल्य हो जाता है।[७] समाधिस्थ योगी के चारों तरफ ब्रह्म ही अवस्थित रहता है। धीरेन्द्र ब्रह्मचारी का मत है कि कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर सैकड़ों वर्ष तक की समाधि लगायी जा सकती है।

परम विशुद्ध परात्पर चैतन्य, सर्वव्यापी परम सत्ता को प्राप्त करने तथा समाधि सिद्धि में 'गोरक्षनाथ उपदिष्ट सिद्धि-मार्ग' का विशेष महत्त्व है। गुरु गोरक्षनाथ ने जिन सिद्धि-मार्गों का वर्णन किया है उनकी विशेषता यह है कि उन मार्गों पर क्रमशः चलता हुआ व्यक्ति समाधि को तो प्राप्त होता ही है सर्वव्यापी परम सत्ता की प्राप्ति भी उसे हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचनाओं के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'गोरक्षनाथ उपदिष्ट सिद्धि-मार्ग' का परम तत्त्व के साक्षात्कार में विशेष महत्त्व है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि अष्ट मार्ग हैं जिनमें से गोरक्षनाथजी ने यम, नियम को छोड़कर शेष छः को ही अपने षडांग योग में स्वीकार किया है तथा यम, नियम की गणना न कर उन्हें मानव मात्र के लिए अनुष्ठेय माना है। फिर भी हठयोग प्रदीपिका में दस यम और दस नियमों की चर्चा की गयी है। गुरु गोरक्षनाथ के षडांग योग और हठयोग प्रदीपिका के अनुसार यही सिद्धि-मार्ग है जिन पर क्रमशः चलता हुआ व्यक्ति सर्वव्यापी, परम विशुद्ध परात्पर चैतन्य परम तत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है।

सन्दर्भ :

१. योग प्रदीपिका—ब्रह्मचारियाज्ञवल्क्येन प्रणीतने, पृ.५
२. नाथ और सन्त साहित्य—तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. ना.ना. उपा., पृ.२७८
३. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह—सं. भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी, पृ.७
४. योग वाणी—वर्ष २, फरवरी-१९९७, अंक २, पृ.३०
५. नाथयोग—एक परिचय—अक्षय कुमार बनर्जी, पृ.४७-४८
६. योग वाणी—वर्ष २, नवम्बर-१९९७, अंक १, पृ.१०
७. गोरक्ष पद्धति, प्र. खेमराज कृष्णदास, पृ.७०-७१

□

नाथपन्थ के प्रमुख सिद्धपुरुष

—इन्द्रजीत मौर्य

'नाथ' शब्द अति प्राचीन है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के १३०वें सूक्त में नाथ शब्द का प्रयोग सृष्टिकर्ता, ज्ञाता तथा सृष्टि के विभिन्न रूपों में किया गया है।[१] अथर्ववेद में भी 'नाथित' एवं 'नाथ' शब्दों का प्रयोग मिलता है।[२] संस्कृत टीकाकार मुनिदत्त ने 'नाथ' शब्द को 'सद्गुरु' के अर्थ में ग्रहण किया है। डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने 'नाथ' को नाथपन्थ का मान्य परमतत्त्व स्वीकार किया है।[३] 'नाथ' शब्द पहले प्रभु एवं स्वामी जैसे अर्थों का बोधक था पर बाद में यह ऐसे महापुरुषों (सिद्धों) का बोधक मान लिया गया, जिन्हें अतिमानवत्व तथा देवत्व का प्रतीक माना गया। इन सिद्ध महापुरुषों ने तत्कालीन मानव समाज में बिखरी हुई कुप्रथाओं, कुसंस्कारों एवं विकृत मान्यताओं को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया; जिसमें उन्हें सफलता भी मिली। विभिन्न छोटे-छोटे सम्प्रदायों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर उनके उदार एवं विस्तृत संगठन को आगे बढ़ाने में सहयोग किया। यहाँ नाथपन्थ में परिगणित कुछ प्रमुख नाथ-सिद्धों का विवरण प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

आदिनाथ—नाथ-परम्परा आदिनाथ से आरम्भ मानी जाती है। 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में आदिनाथ का उल्लेख शिव के रूप में हुआ है। 'हठयोग प्रदीपिका' में इन्हें 'सर्वेषांनाथानां प्रथम' कहा गया है। 'महार्जवतन्त्र' में नवनाथों में आदिनाथ का नाम प्राप्त होता है। 'शाबरतन्त्र' में कापालिकों के १२ आचार्यों में आदिनाथ का भी उल्लेख है। मत्स्येन्द्रनाथ कृत 'योग विषय' ग्रन्थ के आधार पर इनका समय ५२२ ईस्वी पूर्व माना जाता है। 'आदिनाथ' शब्द न केवल अपनी चिरकालीन अलौकिक सत्ता का आभास कराता है अपितु 'नाथपन्थ' से भी अपना सम्बन्ध जोड़ता हुआ प्रतीत होता है।

मत्स्येन्द्रनाथ—यद्यपि नाथपन्थ के आदि संस्थापक आदिनाथ (शिव) माने जाते हैं पर व्यक्ति रूप में इस परम्परा के प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ माने जाते हैं। नेपाल में इन्हें अवलोकितेश्वर के नाम से भी पूजा जाता है। नेपाल में अवलोकित होने के कारण उन्हें अवलोकितेश्वर नाम से सम्बोधित किया गया।[४] दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मत्स्येन्द्रनाथ ने नाथपन्थ का प्रचार किया। उनका जन्म बंगाल के एक धीवर परिवार में हुआ था। उन्होंने बंगाल और असम आदि विभिन्न स्थानों की यात्राएँ की और तत्पश्चात्

'योगिनीकौल' नामक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। 'कौलज्ञाननिर्णय' और 'अकुल वीरतन्त्र' नामक उनके ग्रन्थों में 'योगिनी कौल' सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा की गयी है।

जालन्धरनाथ—तिब्बती ग्रन्थों में जालन्धर की विशिष्ट ख्याति है। तिब्बती परम्परा के अनुसार जालन्धर ब्राह्मण कुलोत्पन्न बताये जाते हैं। तारानाथ इन्हें कृष्णाचार्य का गुरु एवं उनका समसामयिक बताते हैं।[५] जालन्धरपीठ एवं जालन्धर जैसे नगर जालन्धरनाथ की प्रभाव-सिद्धि के द्योतक हैं। तन्त्रमहापर्व में नवनाथों की निवास-भूमि का संकेत देते हुए जालन्धरनाथ को ज्वालामुखी क्षेत्र उत्तरापथ का निवासी होना कहा गया है। ज्वालामुखी क्षेत्र जालन्धरपीठ के अन्तर्गत ही है।[६]

कृष्णपाद—कृष्णपाद उच्च कोटि के विद्वान् थे। कृष्णपाद को कानफा, कानिफा, कान्डुपा, कुण्डपा तथा कणेरीपाव के नाम से भी जाना जाता है। डॉ. श्यामसुन्दर दास के अनुसार ये बिहार प्रान्त के निवासी थे, जो भिक्षु होने के बाद कुछ समय तक नालन्दा में ही रहे। ये नागार्जुन के शिष्य थे।[७] कृष्णपाद के प्रसिद्ध शिष्य वीणाया, भदेया, धर्मया, महीपाआदि के अतिरिक्त नरवला और मेखला दो शिष्याओं की चर्चा भी मिलती है।[८]

चौरंगीनाथ—'शून्यपुराण' में आदिनाथ, मीननाथ, सिंगा, चरांगेनाथ, दण्डपानि और किन्नरी का उल्लेख है। चरांगेनाथ से तात्पर्य चौरंगीनाथ से है। कलकत्ता का चौरंगी मार्ग सम्भवतः इन्हीं के नाम से सम्बन्धित है। पिण्डी के जैन ग्रन्थ-भण्डार में उपलब्ध 'प्राणसंकली' नामक हिन्दी रचना चौरंगीनाथ की बतायी जाती है।

चर्पटनाथ—नाथ सम्प्रदाय के अन्तर्गत चर्पटनाथ का एक अत्यन्त योगाचार्य एवं रससिद्ध महात्मा के रूप में स्वीकृत हैं। चर्पटनाथ के शिष्यों में राघवनाथ, बालनाथ, तोटकनाथ, जाम्बुनाथ, नित्यनाथ, सारेन्द्रनाथ, काकुत्सनाथ एवं भैरवनाथ इन आठ महासिद्धों की गणना की गयी है।[९]

भर्तृहरि—भर्तृहरि उज्जयिनी नरेश गन्धर्वसेन के पुत्र थे। गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) जनपद में भित्तरी (भर्तृहरि का प्राकृत रूप) ग्राम को भर्तृहरि की तपोभूमि बताया जाता है। उनकी एक गुफा भी इसी प्रदेश में बतायी जाती है। चुनार के किले में भर्तृहरि (भरथरी) की समाधि है। वहाँ अंग्रेजी भाषा में लिखित एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य ने चुनार के किले का निर्माण कराया था।

गोपीचन्दनाथ—गोरखपन्थ के माननाथी सम्प्रदाय के प्रवर्तक एवं गोपीयन्त्र के आविष्कर्ता गोपीचन्द बंगाल के पालवंशीय शासक मणिकचन्द तथा भर्तृहरि की बहन मैनावती के पुत्र बताये जाते हैं। १०२७ ई. में पिता के मर जाने पर गोपीचन्द भोग में आसक्त हो गये थे। मयनामति की प्रेरणा से उन्होंने जालन्धरनाथ से दीक्षा ली। माता के उपदेश से प्रभावित उन्होंने अपनी दो सुन्दरियों—उदुना और पुदुना का त्याग कर वैराग्य धारण किया था।[१०]

निवृत्तिनाथ—इनका जन्म शकसम्वत् ११९५ में गोदावरी के उत्तर तरफ 'आए' गाँव में हुआ था। लगभग नौ-दस वर्ष की आयु में निवृत्तिनाथ ने गैनीनाथ का शिष्यत्व स्वीकार कर उनसे दीक्षा ग्रहण की।[११] कहा जाता है कि अपने भ्रमण काल में एक समय निवृत्तिनाथ भटकते हुए अंजनी पर्वत की एक गुफा में जा पहुँचे, जहाँ गैनीनाथजी तप कर रहे थे। ये उनके चरणों में गिर पड़े।

अन्य सिद्ध पुरुष—नाथपन्थ की परम्परा में अनेक ऐसे सिद्धों की चर्चा की जाती है जिनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं होती; संक्षेप में, कुछ ऐसे सिद्धों के सम्बन्ध में क्रमबद्ध गणना प्रस्तुत कर रहे हैं। ऐसे सिद्धों में रतननाथ, नागार्जुन, नागनाथ, चुणकरनाथ, मल्लिकानाथ, चौलीनाथ, घोड़ाचौली, बालनाथ, हणवन्त, देवलनाथ, परवत सिद्ध, धूंधलीमल्ल, गरीबनाथ, अजयपाल, पृथ्वीनाथ आदि का नाम उल्लेखनीय है।

सन्दर्भ :

१. सिद्ध संहिता विवेक सागर, भाग एक, पृ.११
२. वही, पृ.१९
३. डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और सन्त साहित्य तुलनात्मक अध्ययन, पृ.२-५
४. भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी, गोरक्ष संहिता प्रथम भाग, पृष्ठ ग
५. रांगेय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, पृ.१८
६. गोरक्ष संहिता, प्रथम अध्याय, पृ.(ङ च)
७. डॉ. श्यामसुन्दर दास, हिन्दी साहित्य, पृ.१३६
८. शिवपूजन सहाय, हिन्दी साहित्य और बिहार, पृ.१९२
९. योगिसम्प्रदायाविष्कृति, पृ.९९-११५
१०. रांगेय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, पृ.२४
११. प्रो. देश पाण्डे, मराठी का भक्ति साहित्य, पृ. ३९-४२

□

गोरक्षनाथ के समय की धार्मिक परिस्थितियाँ

—स्वेजा त्रिपाठी

भारत के धार्मिक इतिहास में 'गुरु गोरक्षनाथ' एक महायोगी के रूप में अद्यावधि लोक जीवन में सम्पूज्य हैं। यद्यपि गुरु गोरक्षनाथ के समय सीमा के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है परन्तु अधिकांश विद्वानों का यह निष्कर्ष है कि गुरु गोरक्षनाथ छठवीं शताब्दी ईस्वी से लेकर बारहवीं शताब्दी ईस्वी तक निश्चित रूप से विद्यमान थे। विवेच्यकालीन सम्पूर्ण भारतीय जीवन विच्छृंखलित एवं विखण्डित दिखाई देता है। गुरु गोरक्षनाथ युग में प्रचलित प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय हैं—

वैष्णव धर्म—विवेच्ययुगीन आभिलेखिक स्रोतों में वैष्णव धर्म के कम सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। गुजरात के राजा जयसिंह सिद्धराज के काल का दोहद स्तम्भ अभिलेख एक मन्त्री द्वारा गोग (योग) नारायण के मन्दिर स्थापना की चर्चा करता है।[१] कुम्भशाल के शासनकाल में किसी राजा ने योगनारायण की पूजा-अर्चना हेतु कुछ भूमिदान किया था।[२] नाड्डूल के चाहमानों की एक दान विज्ञप्ति से ज्ञात होता है कि वासुदेव मन्दिर को कुछ दान किया गया है।[३] चन्देलों द्वारा भी वैष्णव धर्म को प्रोत्साहित किया गया था, जिसके प्रमाण खजुराहों के मन्दिर-समूह में विद्यमान कतिपय विष्णु मन्दिर हैं; यथा—लक्ष्मण मन्दिर,[४] वामन मन्दिर[५] आदि। परमर्दि के अभिलेख में एक विष्णु मन्दिर का वर्णन है।[६]

अजमेर प्रस्तर अभिलेख में[७] विष्णु के दशावतारों की सूची दी गयी है। भोज वर्मन के बेवाल ताम्रपत्राभिलेख में भी दशावतारों की सूची प्राप्त होती है।[८]

कच्छपघात नरेश की एक वि.सं. ११७७ की दान-विज्ञप्ति को 'ॐ नमो नारायण' से प्रारम्भ किया गया है तथा उसमें उस राजा की उपाधि 'परम वैष्णव' है। बंगाल में लक्ष्मणसेन के काल तक वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार बढ़ गया था। उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अपने अन्तिम दिनों में वह धार्मिक प्रवृत्तियों की ओर झुक गया था और उसने अपने को 'परम वैष्णव' घोषित कर दिया था।[९] किन्तु उत्तर भारतीय राजाओं में से बहुत कम ने ही वैष्णव उपाधियाँ धारण की।[१०]

विवेच्य युग के वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों ने संश्लिष्ट देवताओं का आविष्कार एवं प्रतिपादन करके धार्मिक सहिष्णुता तथा एकता का वातावरण निर्माण करने का प्रयास किया था। परिणामस्वरूप योगनारायण

हरिहर, प्रद्युम्नेश्वर, आदित्यनारायण एवं प्रजापिता ब्रह्मार्थ आदि देवताओं की मूर्तियों की सृष्टि हुई।

वैष्णव सम्प्रदाय की अवतारवादी अवधारणा के फलस्वरूप इसमें कई छोटी-छोटी शाखाएँ हो गयीं। कृष्ण, राम आदि की अलग-अलग उपासना होने लगी, उनकी विशिष्ट उपासना पद्धतियाँ विकसित हुईं। निम्बार्क तथा जयदेव ने कृष्णोपासना पर विशेष बल दिया तथा कृष्णभक्ति शाखा का सृजन करके भागवत् धर्म को खण्डित कर दिया।

शैव धर्म—साहित्यिक, आभिलेखिक एवं अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों के मन्थन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आलोच्य युग का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म शैव धर्म था। यह सम्पूर्ण भरत के अधिकांश भागों में प्रचलित था।[११] गुजरात के प्रसिद्ध जैन मतावलम्बी नरेश सिद्धराज ने गणनाथ नाम से शिव का एक मन्दिर स्थापित किया था।[१२] प्रभासपाटन के सोमनाथ मन्दिर को एक गाँव दान में देने तथा उसके मरम्मत करवाने के सम्बन्ध में एक अन्य जैन शासक कुमारपाल का नामोल्लेख किया जा सकता है। इसी नरेश ने चित्तौड़गढ़ के एक शैव मन्दिर को भी एक अन्य गाँव दान में दिया था और समिद्धेश्वर शिव की उपासना की थी।[१३] उसके एक सेनानायक ने शिव की उपासना करने के उपरान्त वहीं पर एक मूर्ति की स्थापना भी कर दी थी। कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के एक सामन्त ने भी उदयपुर में स्थित प्रसिद्ध शिव मन्दिर वैद्यनाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया था।[१४]

चाहमान वंश के नृपतियों ने भी शैव धर्म के प्रस्फुटन-पल्लवन में पर्याप्त योगदान दिया। विग्रहराजदेव ने शिव तथा पार्वती की स्तुति में एक प्रशस्ति का अंकन अजमेर शिलालेख में करवाया था।[१५] पृथ्वीराज द्वितीय की पत्नी सुहावा देवी ने सुहावेश्वर शिव मन्दिर हेतु दान दिया था।[१६] दोहद शिलालेख में भट्टारक प्रभावासि द्वारा कापालिक ऋषियों हेतु एक मठ बनवाये जाने का उल्लेख है।[१७] इस मन्दिर की स्थापना पृथ्वीराज ने ११६९ ई. में की थी।[१८] लोहारी शिलालेख के अनुसार सिद्धेश्वर मन्दिर के सामने पाशुपत सम्प्रदाय में एक पुरोहित द्वारा एक मण्डप की स्थापना की गयी थी।[१९]

कन्नौज के गाहड़वाल राजाओं की उपाधि 'परम माहेश्वर' थी, किन्तु राजा गोविन्दचन्द्र गाहड़वाल के एक अभिलेख में इस तथ्य का उल्लेख है कि उसने एक शैव मतावलम्बी ब्राह्मण को भूमि दान दिया था। उत्तर प्रदेश के बदायूँ जिले में बारहवीं शताब्दी में एक शैव मठ का निर्माण हुआ था जो कालान्तर में इल्तुतमिश द्वारा नष्ट कर दिया गया।[२०]

चन्देल राजवंश को भी शैव धर्म को प्रश्रय देने का श्रेय प्राप्त है। कतिपय अभिलेखों से यह सूचना प्राप्त होती है कि कालिंजर किले के सीमान्तर्गत स्थित नीलकण्ठ मन्दिर को बहुश: दान दिया गया था।[२१] खजुराहो में प्राप्त अवशिष्ट मन्दिर-समूह में अधिकांश का सम्बन्ध शैव सम्प्रदाय से है;[२२] यथा—कन्दरिया महादेव, विश्वनाथ, मातंगेश्वर आदि मन्दिर शिव भगवान् को ही समर्पित हैं।

कलचुरि नरेशों के शासन काल में मध्य भारत में शैव धर्म का विशेष रूप से विकास हुआ। विलासपुर से प्राप्त कोनी अभिलेख[२३] से यह ज्ञात होता है कि पुरुषोत्तम नामक मन्त्री ने एक पंचायतन शिव मन्दिर के अतिरिक्त कतिपय अन्य शैव मठों तथा मण्डपों का निर्माण करवाया था। इस युग में मालवा के परमारों ने भी शैव धर्म के विकास में योगदान किया।[२४] बंगाल के पाल एवं सेन राजवंशों से सम्बन्धित

कतिपय अभिलेखों से शैव-मत के प्रचलन के प्रमाण प्राप्त होते हैं।[२५]

इस युग में शैव सम्प्रदाय चार भागों में बँट गया था। शैव, पाशुपत, कापालिक तथा कालामुख नामक चार भागों की चर्चा रामानुज के श्रीभाष्य यथा यमुनाचार्य के आगम प्राभाष्य में प्राप्त है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी कई छोटे-छोटे विभाजनों की सूचना प्राप्त होती है।[२६] कर्पूरमञ्जरी में शैवों को कौल भी कहा गया है। प्रबोधचन्द्रोदय में सोमसिद्धान्त नामक एक अन्य सम्प्रदाय की भी चर्चा प्राप्त होती है।[२७] यह कापालिक से भिन्न था जबकि कापालिक के महाभैरवानुशासन तथा परमेश्वर सिद्धान्त जैसे अन्य नाम भी थे।

आभिलेखिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि उत्तरी भारत में अधिकांश भाग में पाशुपत धर्म प्रचलित था। वाराणसी से गुजरात जाकर सोमनाथ पत्तन का राज्यपाल नियुक्त होने वाला भाव-बृहस्पति पाशुपत धर्म का अनुयायी था। नारायणपाल के भागलपुर दानपत्राभिलेख से पता चलता है कि इस समय बंगाल में पाशुपत धर्म प्रभावी रूप से प्रचलित था। लिंग पूजा को ही मुख्य आधार मानने वाला यह सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है।[२८]

शाक्त तथा तान्त्रिक धर्म—शैव और वैष्णव धर्म के अतिरिक्त हिन्दू धर्म की एक और प्रमुख चिन्तनधारा थी जो शाक्त-तान्त्रिक उपासना पद्धति के रूप में ज्ञेय है। यद्यपि कुछ विद्वानों के मत में यह चिन्तनधारा पूर्व मध्यकाल में प्रमुखता को प्राप्त हुई, किन्तु कतिपय अन्य विद्वानों के मत से शाक्त अथवा तान्त्रिक पद्धति का उद्‌भव प्रागैतिहासिक काल में ही हो गया था। इस पद्धति पर अधिकृत ग्रन्थों का प्रणयन बारहवीं शताब्दी में हुआ, अतएव इनको स्थायित्व प्रदान करके लोकप्रिय बनाने का श्रेय आलोच्ययुगीन मनीषियों को ही प्राप्त होना चाहिए।

शाक्त एवं तान्त्रिक विचारधाराओं ने बारहवीं शताब्दी तक प्राचीन परम्परागत धार्मिक सम्प्रदायों को प्रभूतरूपेण प्रभावित कर लिया था। बौद्ध धर्म तो पूर्णरूपेण तान्त्रिक धारणाओं से प्रभावित हो गया था। कश्मीर का शैव धर्म सम्प्रदाय स्पष्टतया तान्त्रिक हो गया था। वैष्णव धर्म में भी तन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। जैन धर्म की देवी सचिवादेवी की पूजार्चना भी शाक्त विधि से होने लगी थी,[२९] तथा कतिपय जैनाचार्यों एवं साधुगणों ने चौसठ योगिनियों पर सिद्ध-प्राप्ति का प्रयास प्रारम्भ किया। तान्त्रिक प्रभाव की गतिशील बुद्धि में मन्त्रों की लोकप्रियता का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। नैषधचरित[३०] के लेखक ने सरस्वती मन्त्र की अत्यन्त प्रशंसा की है तथा दूसरी तरफ गुजरात के नरेश कुमारपाल की अपार श्रद्धा एक जैन नमस्कार मन्त्र में थी जिससे उन्हें सर्वत्र सफलता ही अधिगत हुई थी।[३१] इन शाक्त एवं तान्त्रिक विचारधाराओं का हमारे सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रभाव परिलक्षित होता है। किसी एक देवता की पूजा करने की अवधारणा से भक्ति सम्प्रदाय को प्रश्रय मिला, क्योंकि शाक्त सम्प्रदाय में एक ही देव-विशेष की भक्ति पर बल दिया जाता था। रसार्णव के अनुसार तन्त्र ने भारतीय रसायनशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।[३२]

तन्त्र-दर्शन की आधारशिला है 'शक्तिवाद'।[३३] इसी कारण कश्मीर का शैव धर्म शक्ति को भगवान् शिव में सन्निहित प्रकृति तथा सर्वोच्च शक्ति मानता है। तान्त्रिक सम्प्रदाय का लक्ष्य ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद पर केन्द्रित है। अतएव जप, शब्द और मन्त्र पर विशिष्ट ध्यान दिया जाता है। इन्हीं से सिद्धियाँ प्राप्त करके

स्वास्थ्य, धन तथा शक्ति की प्राप्ति की जा सकती है। असम के भैरवी तथा कामाख्या के मन्दिर, खजुराहो का चौसठ योगिनी, देवी जगदम्बी मन्दिर, भेड़ाघाट का चौसठ योगिनी मन्दिर, सुरद (उड़ीसा) का चौसठ योगिनी मन्दिर तथा अनेक शाक्तपीठ आलोच्य युग में तन्त्र तथा शाक्त दर्शन की लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

गोरक्ष के युग में प्रचलित विभिन्न धर्मों के वैभव एवं पराभव काल में ही 'गोरक्षपन्थ' का भी उद्‌भव हुआ। किन्तु गोरक्षनाथ ने अपने युग के प्रचलित धर्मों में व्याप्त कर्मकाण्डों, बाह्याडम्बरों, वाममार्गों में प्रचलित कुरीतियों का विरोध करते हुए विभिन्न धर्मों के श्रेष्ठ तत्त्वों को समाहित करते हुए योगसाधना का एक नवीन मार्ग प्रस्तुत किया। गोरक्षनाथ के धर्मप्रचार का यह परिणाम हुआ कि असम से लेकर पश्चिम में अफगानिस्तान तक और नेपाल से लेकर केरल तक की सम्पूर्ण भूमि और गुजरात से लेकर उड़ीसा तक अपने धर्म के मठों और मन्दिरों को स्थापित करते हुए गोरक्षपन्थ द्वारा भारत की धार्मिक एकता को राष्ट्रीय एकता के रूप में प्रस्तुत किया है, यह उस युग की महत्त्वपूर्ण देन है।

सन्दर्भ :

१. इ.ए. १, पृष्ठ २११।
२. डा.हि.ना.इ. २, पृ. ९७८।
३. तत्रैव, पृ. १११७।
४. आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट १, पृ. ६४।
५. देखिए, विद्याप्रकाश, खजुराहो।
६. ए.इ. १, पृ. २११।
७. ए.इ.,२९, अभिलेख संख्या २५।
८. तत्रैव, पृ. १७९।
९. डा.हि.ना.इ., १, पृ. ३७५-७६।
१०. वैद्य, हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, ३, पृ. ४२३।
११. यादव, बी.एन.एस., पूर्वनिर्दिष्ट, पृ. ३५।
१२. डा.हि.ना.इ., २, पृ. ९८३ तथा आगे।
१३. तत्रैव, पृ. ९७८।
१४. तत्रैव, पृ. ९९९।
१५. इ.ए., २०, पृ. २०, तथा आगे।
१६. डा.हि.ना.इ., २, पृ. १०७९ तथा आगे।
१७. तत्रैव, पृ. १०८२।
१८. तत्रैव, पृ. १०९-८०।
१९. डा.हि.ना.इ., २, पृ. १०७६।
२०. ए.इ., १, पृ. ६४।
२१. डा.हि.ना.इ., २, पृ. ७०५।
२२. जैन एन्टिक्वेरी, १९, १, जून १९५३, पृ. ५२-५३।
२३. ए.इ., २७, ४, पृ. २७६-८७।

२४. गांगुली, हिस्ट्री ऑफ परमार डाइनेस्ट्री, पृ. २४७।

२५. मजूमदार, एन.जी., इस्क्रिप्सन्स ऑफ बंगाल, ३, ४६, ६१, ७१, ८५, ९५, १०१, १०९, १२१, १२३।

२६. पाठक, वी.एस., शैवकल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया।

२७. तत्रैव, पृ. २२-२३।

२८. सांकलिया, एच.डी., आर्क्योलॉजी ऑफ गुजरात, पृ. २२४, पाद टिप्पणी।

२९. बागची, पी.सी., इ.हि.क्वा., ७, पृ. ४-५।

३०. नैषधचरित, १, १४५।

३१. तत्रैव, पृ. ११६।

३२. रसार्णव, रे, पी.सी., सम्पादित-एशियाटिक सोसाइटी १९१०।

३३. चटर्जी, जे.सी., कश्मीर शैविज्म।

□

गोरक्षनाथ के समय की धार्मिक और आध्यात्मिक परिस्थितियाँ

—राम कुमार

भारत के धार्मिक आध्यात्मिक एवं दार्शनिक इतिहास की यह सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है कि भारत के उच्च शिक्षा केन्द्रों, विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों के प्राचीन इतिहास विभाग, भारतीय दर्शन विभाग एवं संस्कृत विभाग में गुरु गोरक्षनाथ के धर्म, अध्यात्म तथा दर्शन विषय को पाठ्यक्रमों में योजित नहीं किया गया है। ध्यातव्य है कि तिब्बत से लेकर लंका तक और असम से लेकर गुजरात तक विस्तृत भू-क्षेत्र में विद्यमान गोरक्षनाथ के मठ, गोरखपन्थी योगी, गोरक्षपन्थ के सिद्धान्त एवं अध्यात्म के केन्द्र विस्तृत हैं।

गोरक्षनाथ का समय अधिकांश विद्वानों[१] ने ७वीं शताब्दी ईस्वी से लेकर १२वीं शताब्दी ई. तक माना है। विवेच्यकाल में अनेक धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म के पन्थ, मार्ग, सम्प्रदाय, मत प्रचलित थे; इनमें से कतिपय का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत शोध-पत्र में किया गया है।

जैन धर्म—भारत के धार्मिक एवं आध्यात्मिक इतिहास में जैन धर्म को प्राचीन धर्म माना जाता है। जैन धर्म में प्रचलित योग की दृष्टि सिद्धान्त और प्रयोग उनके दिगम्बर सम्प्रदाय में अधिक और श्वेताम्बर सम्पद्राय में सामान्यत: प्रचलित रही, जिसका प्रभाव नाथ सम्प्रदाय पर भी पड़ा। जैन धर्म जाति और लिंग के भेद को स्वीकार नहीं करता। ब्रह्मचर्य और अहिंसा इसका मूल अध्यात्म तत्त्व था। नाथ सम्प्रदाय में जाति, वर्ण, वर्ग, अस्पृश्यता को स्थान नहीं दिया जाता, इसी प्रकार जैन धर्म का प्रभाव अहिंसा और ब्रह्मचर्य के रूप में नाथ सम्प्रदाय ने भी स्वीकार किया, क्योंकि यह भारतीय धर्म एवं अध्यात्म का प्रमुख तत्त्व रहा है। यद्यपि परवर्ती काल में तन्त्र का प्रवेश जैन धर्म में भी हुआ। हेमचन्द्र ने योग-शास्त्र में हठयोग का भी वर्णन किया है और जैनियों ने कुण्डनीय को महत्त्व दिया है जो नाथपन्थ की अपनी एक विशेष देन है।[२] अवधेय तथ्य यह है कि जैन धर्म में नववर्णदेव, नववासुदेव तथा नवप्रति वासुदेव की त्रिखत्री बनायी गयी है, उसी प्रकार नाथ सम्प्रदाय में नवनाथ मूल प्रवर्तक माने जाते हैं। जैन धर्म के अहिंसा, सत्य,

अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य का प्रभाव नाथ सम्प्रदाय पर दिखाई देता है।[३] नाथ मत में मूल धारणा व्रत जैसे संस्कार को जैन प्रभाव भी माना जा सकता है।[४] मुम्बई के एक जैन मन्दिर में गोरखनाथ की एक मूर्ति विद्यमान है, इससे यह प्रमाणित होता है कि जैन धर्म का प्रभाव नाथपन्थ पर पड़ा।

बौद्ध धर्म—बौद्धों के विविध रूप संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। वाणभट्ट की रचना हर्षचरित में बौद्ध तान्त्रिक साधकों की चर्चा है, जो विन्ध्याचल पर्वत पर लाल रंग का चीवर पहनकर साधनारत थे। बौद्ध मांसाहारी नहीं थे, उनमें कुछ रचना प्रबोध चन्द्रोदय इनका अलग स्वरूप ही सामने लाती है। भिक्षु भी योगी हो गये तथा बौद्ध वाङ्मय का मनमानी अर्थ करने लगे थे। एक बौद्धाचार्य कहता है कि ''अरे, ओ उपासकों और भिक्षुओं! भगवान् सुगत के वचनामृत सुन लो। मैं दिव्य दृष्टि से लोगों की सुगति तथा दुर्गति देखा करता हूँ, सभी संस्कार क्षणिक है, स्थायी नहीं। अत: भिक्षु यदि स्त्रियों पर आक्रमण करे तो ईर्ष्या मत करना। ईर्ष्या चित्त का मल है। नेपथ्य की ओर देखकर चन्द्रे जरा इधर आना।''[५] नाथ सिद्धों में कितने सिद्ध शैव, जैन तथा कितने बौद्ध पक्ष से आए हुए हैं, अभी तक कोई प्रामाणिक सूची नहीं बन सकी है। गोरक्षनाथ तक को बौद्ध परम्परा में आगत माना जाता है, इसके नाम के आगे 'पा' उपाधि भी लगी मिलती है। कुछ लोगों के मत से बौद्ध धर्म की वज्रयान और सहजयान शाखाओं से नाथ सम्प्रदाय का बहुत अधिक सम्बन्ध रहा। आगे इन शाखाओं पर स्वतन्त्र विचार किया गया है।

बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा

परवर्ती बौद्धों की वज्रयानी शाखा तथा पूर्ववर्ती सिद्धों के तन्त्राचार का बड़ा निकट का सम्बन्ध रहा है। ब्रिग्स महोदय ने अपनी पुस्तक में इन पर विस्तार के साथ विचार किया है।[६] इसके साथ वज्रयानी साहित्य से ज्ञात होता है कि ये लोग तन्त्रों का प्रयोग और शाक्तोपासना करने लगे थे। वामा (नारी) का प्रयोग भी होने लगा था, इसका भ्रष्ट रूप सामने आया। पंचमकार भक्षण (मांस, मत्स्य, मदिरा, मैथुन, मुद्रा) तथा भिक्षुणी सेवन निर्बाध रूप से चलने लगा था। इनके सम्प्रदाय में विविध देवी-देवता भी हुए। स्त्री को वामा या पद्म कहा गया और पुरुष या साधक को वज्र। तान्त्रिक प्रयोग तथा चमत्कार भी प्राप्त होते हैं। विविध सिद्धियों और साधनाओं का पता चलता है।[७] पं. रामचन्द्र शुक्ल मानते हैं कौल, कापालिक आदि इन्हीं वज्रयानियों से निकले हैं। कैसा ही शुद्ध सात्त्विक धर्म एवं अध्यात्म हो, 'गुह्य' और 'रहस्य' के प्रवेश से वह किस प्रकार विस्तृत और पाखण्डपूर्ण हो जाता है, वज्रयान इसका प्रमाण है।[८] वज्रयान को अपने इस आचार से समाज में प्रतिष्ठा न प्राप्त हो सकी और वह धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगा। चूँकि बौद्ध धर्म एवं अध्यात्म का स्वरूप पवित्र नहीं रह गया था, इसलिए इसने नाथ सम्प्रदाय का आश्रय ग्रहण किया।

शैव धर्म

भारतीय वाङ्मय में शैव पूजा अति प्राचीन है। ऋग्वेद, तैत्तिरीयसंहिता, अथर्ववेद, वाजसनेयी संहिता, छान्दोग्य, वृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर में रुद्र एवं शिव का उल्लेख किया गया है। चन्द्रगुप्त के उदयगिरि लेख में इनकी पूजा का उल्लेख है। भारशिवि शिवलिंग को कन्धे पर लिए रहते थे। एक समय

था कि शैव धर्म लोकधर्मवत हो गया था, कई नरेशों को माहेश्वर की उपाधि से विभूषित किया गया था। हर्षचरित में सिद्धों की लिंग पूजा तथा अन्य चमत्कार वर्णित हैं। इनके रासायनिक प्रयोग भी उल्लिखित हैं। सिद्धगनाओं की भी चर्चा है।[९]

यही काल है जब शैव और बौद्ध धर्म एक स्थान पर आ गये थे। इनके साथ सबसे बड़ा परिवर्तन जो हुआ यह कि नास्तिक धर्म (जैन, बौद्ध एवं चार्वाक) आस्तिक होने लगे। शिवपद जो कल्याण वाचक था, वह देवता वाचक हुआ जिसके दो-दो पक्ष सामने आए; १. कल्याणकर्ता, २. संहारकर्ता तथा १. दक्षिण या सात्त्विक, २. वाम या तामसी। शिव मानव ही नहीं, बल्कि भूत-पिशाचों के भी नायक हुए। वेदों से लेकर उनकी तन्त्राचार तथा ग्राम देवता तक महिमा फैल गयी। इसके अतिरिक्त शैव मत भारत भूमि के बाहर भी दक्षिणी पूर्वी एशिया में भी फैल गया जो वहाँ से वहाँ गये उनमें सर्वधर्मावलम्बी थे, परन्तु बहुलता शैव बौद्ध की रही।

शैव परम्परा में कश्मीरी परम्परा का बहु अधिक महत्त्व है। इसके सबसे महान् आचार्य अभिनव गुप्त हुए, जिन्होंने 'प्रतिभिज्ञा दर्शन' की स्थापना की। इस परम्परा के ग्रन्थों पर विविध टीकाएँ १८वीं शताब्दी तक होती रहीं। फर्कुहर महोदय ने बताया है कि ८५० ई. में वसुगुप्त द्वारा शिव सूत्रों का उद्‌घाटन हुआ। आदि शंकराचार्य ने जब इस प्रदेश की यात्रा की तो इस पर अद्वैतवाद का प्रभाव पड़ा।[१०]

शैवमत पूर्व युगों में द्वैतवादी था, कश्मीर घाटी में बौद्धों के आदर्शवाद से द्वैतवादी शैवमत का प्रभाव कम हो गया था। परन्तु ८वीं शताब्दी में वसुगुप्त ने प्राचीन द्वैतवादी शैवमत की आदर्शवादी अद्वैतवादी-परक (इण्डियलिस्ट मानिस्टिक) व्याख्या करके बौद्ध प्रभाव से कश्मीर को मुक्त किया।[११] इनमें पूर्व प्रचलित प्रमुख ८४ तन्त्रों तथा अन्य अनेक तन्त्रों का प्रभाव था।[१२] शैव मत के दो रूप प्राप्त होते हैं—(१) उत्तर कश्मीर में स्पन्दशास्त्र, त्रिकदर्शन या प्रतिभिज्ञा दर्शन, और जो अद्वैत दर्शन से प्रभावित था। (२) दक्षिण में शैव—जो विशिष्टाद्वैत से प्रभावित था, पूर्वी शाक्त मत इन्हीं की एक शाखा के मत के रूप में है।

पुराणों में सिद्धों की नामावलियाँ मिलती हैं जो संख्या में ८८ हजार तक प्राप्त होती हैं। इनके साथ ही अनेक परम्पराओं का उल्लेख मिलता है, तथा इनकी संख्या ९ कोटि तक पहुँच जाती है। परन्तु कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि वे नवकोटि सिद्ध वस्तुत: उस प्रसिद्ध चीनी ताओधर्मी भोग द्वारा प्रभावित थे जो अपने देश से ईसा से पूर्व की किसी शताब्दी में यहाँ यात्री होकर आया था। उस भोग ने दक्षिण भारत के शैवागम एवं शाक्तागम को 'शुद्धमार्ग' की शिक्षा दी जिस कारण वहाँ के आगामी सिद्धों पर कुछ-न-कुछ ताओ धर्म का भी प्रभाव पड़ गया। इस शुद्ध मार्ग के अनुयायी सिद्धों में सर्वसिद्ध 'अष्टादश सिद्ध' समझे जाते हैं, और उनमें शैव भक्त मणिवाचक वागीश, ज्ञान, सम्बन्ध एवं सुन्दर की गणना की जाती है।[१३] शैव धर्म का परवर्ती काल में त्रिक दर्शन, वीरशैव, पाशुपत, लकुलीश, कालामुख, कापालिक, अघोरी, शाक्त आदि का प्रभाव हुआ।

वैष्णव धर्म—यह अत्यन्त प्राचीन धर्म है। गोरक्षनाथ के समय के पूर्व नाथों ने शिव के अवतारों के साथ शक्ति और शिव का अद्‌भुत समन्वय किया है।[१४] वैष्णव नाथ सिद्धान्त को वैष्णव की 'सात्त्विकता'

ने अधिक आकर्षित किया। वैष्णव धर्म में रामभक्ति शाखा में शिवावतार हनुमानजी की नाथपन्थ में बड़ी प्रतिष्ठा है। नाथ मठों, मन्दिरों, और केन्द्रों पर इनकी मूर्ति अवश्य मिलती है। नाथपन्थ के विश्वप्रसिद्ध गोरखपुर स्थित गोरक्षपीठ के उत्तराधिकारी योगी आदित्यनाथ तो प्रतिदिन दो नरवानरों अर्थात् बन्दरों को हनुमान का प्रतीक मानकर उनकी सेवा करते हैं। इस तरह से प्रमाणित होता है कि वैष्णव और नाथों का सम्बन्ध उनके आचार की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप स्वीकार कर लिया गया है।

पाँचरात्र—इसका आधार ऋग्वेद का पुरुष सूक्त है। इसका प्रमुख ग्रन्थ 'अहिबुध्न्य संहिता' है, इसकी निन्दा स्कन्दपुराण में तथा इस धर्म एवं सम्प्रदाय में विश्वास रखने वालों को हिन (निम्न) बताया गया है। इस सम्प्रदाय में प्रत्येक क्षण भक्त इसमें लीन रहता है। यह अष्टांग योग तथा नाड़ीयोग को महत्त्व देता है। विष्णु का मृदुल, मनोहर रूप इस सम्प्रदाय में अधिक स्वीकार है। चक्र साधना में सुदर्शन चक्र का ध्यान किया जाता है। वामाचार में इनका स्थान नहीं है इनमें भगवान् के ५ रूपों की ओर संकेत है। वैष्णव सम्प्रदाय में इन पाँचों रूपों को पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा (मूर्ति) का नाम दिया गया है, भगवान् वासुदेव अपनी इच्छा से इन रूपों को धारण करते हैं। इनके मत से समस्त सृष्टि का मूल रूप पौरुषी रात्रि (प्रलय) के रूप में वासुदेव में सम्मिलित है। इस सम्प्रदाय का विशाल साहित्य प्राप्त होता है।[१५]

सहजयान—इस सम्प्रदाय का एक अन्य नाम सहजिया सम्प्रदाय भी है। बंगाल में ७वीं शताब्दी से लेकर अद्यावधि यह परम्परा किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। बंग साहित्य में इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। १०वीं शताब्दी के आस-पास सिद्ध कण्हपा ने चर्यापदों के रूप में सहजिया गीत लिखे। तन्त्राचार एवं वामाचार से इसका सम्बन्ध रहा है। तान्त्रिक विधि से नारी पूजा का महत्त्व बढ़ा। यज्ञोपाय अथवा अद्वय साधना भी चली। अन्त में स्थूल रूप में यह सामान्य जन द्वारा निन्दित हुआ। जब बौद्ध धर्म के पतन और वैष्णव धर्म के उत्थान ने सहजिया वैष्णव धर्म को उत्पन्न किया जिससे परकीया प्रेम विकसित हुआ। इसके सिद्ध कवि चण्डीदास १४वीं शताब्दी में हुए। यह परकीया प्रेम कृष्णाश्रयी शाखा में अपनी चरम सीमा तक विकसित हुआ। इसके आस-पास बंगाल में अनेक उपसम्प्रदायों का उदय हुआ। गुह्य और रहस्यात्मक तथ्य भी सामने आए। 'सिद्धों' के समय सहज सम्प्रदाय में तीन मार्ग प्रचलित थे, उनमें एक का नाम 'अवधूति' था जिसका सम्बन्ध द्वैत ज्ञान से था; दूसरा मार्ग 'चाण्डाली' था, जिसे एक प्रकार का द्वैतवादी कहा जा सकता है, किन्तु जो तीसरा मार्ग 'डोम्वी' था वह अद्वैत ज्ञानपरक था।[१६]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सहज शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि सहज शब्द का भी खींचतान (तोड़-मरोड़) हुआ है। 'ह' और 'ज' ये दोनों हठयोग और जपयोग के लिए प्रतीक रूप में व्यवहृत किया गया है और जो साधना 'ह' और 'ज' को साथ-साथ लेकर चले उसके 'सहज साधना' कहा गया है। इस अर्थ में सभी योग मार्ग खिंच जाते हैं।[१७] इससे भी सहजयान और नाथ सम्प्रदाय का सम्बन्ध द्योतित होता है।

निरञ्जनी सम्प्रदाय—इसके विश्वसनीय साहित्य कम प्राप्त होता है; यह सम्प्रदाय उड़ीसा और बंगाल आदि क्षेत्रों में फैला हुआ है। इस सम्प्रदाय में धर्मगत कर्म तथा दर्शन आदि का वर्गीकरण का

अभाव मिलता है। कालान्तर में यह निर्गुण सम्प्रदाय में विलीन हो गया, यह उत्तरी भारत में विशेष रूप से प्रचलित हो अद्यावधि विद्यमान है। नाथ सम्प्रदाय में निरञ्जन शब्द का प्रयोग परम देवता के रूप में है। नाथ साहित्य में निरञ्जन शब्द का प्रयोग प्राय: मिलता है। इसको नाथ सम्प्रदाय का वेदान्त से प्रभावित रूप माना जाता है, वर्तमान स्वरूप के आधार पर इसको नाथ सम्प्रदाय और निर्गुण सम्प्रदाय का एक विकसित रूप है, जिसमें योग पूर्णत: वेदान्ती प्रभाव में आ चुका है; यह एक प्रकार से नाथ सम्प्रदाय एवं निर्गुण सम्प्रदाय का मध्यवर्ती है।[१८] निरञ्जन पन्थ कबीर के निर्गुण पन्थ से प्राचीन है; यह सहजयान, नाथपन्थ और सिद्धों के योगीपन्थ के साथ-ही-साथ प्रादुर्भूत प्रतीत होता है।[१९] नाथों की योग निष्ठा यहाँ परमतत्त्व या अद्वैत तत्त्व की ओर आकर्षित हो गयी।

वारकरी सम्प्रदाय—वार का शाब्दिक अर्थ है यात्रा एवं करी का अर्थ करने वाला; अत: वारकरी का अर्थ यात्रा करने वाला। ये भक्त यात्री थे जो पण्ढरपुर स्थित विट्ठल की मूर्ति की उपासना करते हैं। पांडुरंग की तुलसी की माला धारण करने के कारण इनको मालकरी भी कहते हैं। इसमें भक्त भगवान् को अपना सर्वस्व अर्पित कर देता है। यह भागवत सम्प्रदाय के अन्तर्गत है, इसके उद्भव काल का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्रसिद्ध सन्त बहिणाबाई ने एक पद में इनका संस्थापक ज्ञानेश्वर को कहा है, परन्तु ज्ञानेश्वरकालीन सन्त नामदेव अपनी पूर्व परम्परा की ओर संकेत करते हैं। अत: इसको ज्ञानेश्वर के पूर्व रखा जा सकता है। इस सम्प्रदाय के लोग विट्ठल को विष्णु का कृष्णावतार मानकर पूजा करते हैं, कालान्तर में इनका सम्बन्ध शैवों के साथ हुआ। विट्ठल की मूर्ति को कोई जैनमूर्ति तथा कोई बुद्धमूर्ति भी कहता है। हिंसा, स्तेय, व्यभिचार और ये चार वर्जित हैं। ये मान्यताएँ ही इनको बुद्ध के निकट ले जाती हैं। दर्शन की दृष्टि से ये अद्वैतवादी तथा उपासना की दृष्टि से भक्त हैं। इनकी गुरु परम्परा निम्नवत है—निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोमदेव, मुक्ताबाई, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, विलोवाराय ये अपना गुरु नाथ तथा परम्परा शैव बताते हैं। वर्णाश्रम धर्म तथा योग को न मानकर ये भक्ति पर बल देते हैं। ये एकादशी का व्रत भी रखते हैं, तुलसी की माला, ऊर्ध्वपुड़ और लकड़ी में भगवा वस्त्र की पताका को धारण करते हैं। इनका प्रमुख तीर्थस्थान पण्ढरपुर है। विट्ठल की मूर्ति के साथ रुक्मिणी भी हैं। भजन तथा भागवत चर्चा का बड़ा महत्त्व है।[२०]

सन्दर्भ :

१. (क) अक्षय कुमार बन्द्योपाध्याय, गोरख दर्शन, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, २०३८ विक्रमी सम्वत्।

(ख) रांगेय राघव, गोरखनाथ और उनका युग, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९६३।

(ग) नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, गोरक्षनाथ (नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, २०३३ विक्रमी सम्वत्।

(घ) राम मूर्ति त्रिपाठी, तन्त्र और सन्त, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९७५ ई.।

(ङ) राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्व निबन्धावली, किताब महल, इलाहाबाद, १९५८ ई.; हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, लोक भारती, इलाहाबाद, १९८१ ई.।

२. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय—प्रसंगधार, मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि।

३. गोरखवाणी, पृ.—५३, ३, ५, ११, १२, ६१ इत्यादि।
४. आचार्य विनय मोहन शर्मा, हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ. ६०।
५. प्रबोध चन्द्रोदय, पृ. १०५-०६।
६. गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज, पृ. १३।
७. तान्त्रिक बौद्धसाधना और साहित्य, डॉ. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, पृ. १११ से पूरा अध्याय।
८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. १६।
९. हर्षचरित प्रथम उच्छ्‌वास।
१०. दी रिलिजस गेस्ट इण्डिया, जे.न.फर्कुहर, १९२०, पृ. १९८।
११. स्पन्द-निर्णय, क्षेमराज, श्रीनगर, कश्मीर, १९२५, भूमिका भाग पृ. ३।
प्राप्ति स्थान—मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि, डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय।
१२. हिन्दुत्व, रामदास गौड़, पृ. ४८५-८६।
१३. बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक, परशुराम चतुर्वेदी, पृ. ११२।
१४. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, पृ. ४७-४८, गोरक्षनाथ मन्दिर, गोरखपुर।
१५. मध्यकालीन धर्मसाधना, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. ३७।
१६. बौद्धगान ओ दोहा (भूमिका), हरिप्रसाद शास्त्री, पृ. १२; बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक, पं.परशुराम चतुर्वेदी, पृ. १४२।
१७. सहज साधना-निवेदन, पृ. ०१।
१८. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ. ९।
१९. डॉ. भगीरथ मिश्र, तन्त्र और सन्त, डॉ. राम मूर्ति त्रिपाठी, पृ. १८।
२०. 'ही वाज दान्ते आफ मराठी लिटरेचर', इण्डियन साधूज, जी.ए.धुरे, पृ. ५७।

□

नाथपन्थ का उद्‌भव और गुरु गोरक्षनाथ

—डॉ. सुधा शुक्ल

नाथपन्थ या सम्प्रदाय का उद्‌भव तत्कालीन परिस्थितियों की प्रेरणा का परिणाम था। बौद्ध सिद्धों तथा शाक्तों के ऐतिहासिकतापरक जीवन और गुह्याचार से आतंकित समाज का त्राण गोरखपन्थ के प्रवर्तन का प्रधान उद्‌देश्य था। गोरख संहिता में कहा गया है कि ''सिद्धानां हठयोगो बौद्धेरङ्‌गीकृतः। सिद्ध सम्प्रदायो नाथ नाथ सम्प्रदायतया प्रथामगात्॥'' यद्यपि इसके प्रवर्तक आदिनाथ हैं—परन्तु व्यवहार में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, नवनाथ तथा ८४ सिद्धों ने भी प्रवर्तन कार्य किया। यह शिवनाथ में विश्वास करने वाला सम्प्रदाय है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने माना है कि ''सिद्ध कौल मत ही आगे चलकर नाथ परम्परा के रूप में विकसित हुआ। चाहे पूर्व परम्परा जो रही हो, परन्तु व्यवहार जगत् में गोरखनाथ द्वारा संगठित और प्रचारित सम्प्रदाय के लिए हिन्दी में नाथ मत या सम्प्रदाय शब्द ही अधिक प्रचलित है।''

नाथ मत के ही अवधूत मत, सिद्ध मत, योग मार्ग, योग सम्प्रदाय, अवधूत सम्प्रदाय आदि नाम होते हैं। इन पन्थों के अध्ययन एवं अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि नाथ सम्प्रदाय उन साधकों का सम्प्रदाय है जो नाथ को परम तत्त्व स्वीकार कर उनकी प्राप्ति के लिए योग साधना करते थे तथा दीक्षा के बाद नामान्त में 'नाथ' उपाधि जोड़ते थे।

डॉ. शान्ति प्रसाद चन्दोला ने अपना मत अन्य विद्वानों से कुछ हटकर दिया है—'''नाथों का सिद्ध मार्ग' अथवा 'नाथ मार्ग' उतना ही प्राचीन है जितना पुराना स्वयं 'शिव-शक्ति योग का इतिहास।'''

जिस अर्थ में अद्वैत वेदान्त का प्रवर्तक शंकर को नहीं माना जाता उसी अर्थ में मत्स्येन्द्र गोरख को भी 'नाथ मत' का प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता है।

इससे लक्षित होता है कि इस सम्प्रदाय का मूल रूप पूर्व में विद्यमान था, जिसको इन लोगों ने परिष्कृत, परिवर्द्धित, प्रचारित और प्रसारित तथा संगठित किया। इस सम्प्रदाय में संगठित पन्थों, नाथ योगियों के संस्कारों, वेशभूषा, साम्प्रदायिक चिह्नों, तीर्थ स्थानों एवं सम्बन्धित विशेष विवरणों के लिए डॉ. शान्ति प्रसाद चन्दोला का ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

अथर्ववेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'नाथ' शब्द का प्रयोग 'रक्षक' अथवा 'शरणदाता' के अर्थ में

मिलता है। महाभारत में स्वामी अथवा पति के अर्थ में, बोधि चर्यावतार में 'बुद्धि' के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

जैन और वैष्णव ग्रन्थों में 'सर्वश्रेष्ठ' के लिए यह शब्द व्यवहृत है। परवर्ती काल में योगपरक पाशुपत शैवमत का विकास 'नाथ सम्प्रदाय' के रूप में और 'नाथ' शब्द शिव के लिए प्रचलित हुआ और यही 'नाथ' शब्द नाथ सम्प्रदाय में 'गोरखनाथ', जो ब्रह्मस्वरूप शिवावतार हैं, उनके लिए भी प्रयुक्त है।

हिन्दी साहित्य के आदि ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि यह सम्प्रदाय कीचड़ से कमल की तरह विकसित हुआ। तत्कालीन समाज एक ओर तन्त्राचार और वामाचार से आवृत्त था तो दूसरी ओर परम्पराओं, रुढ़ियों और विविध पन्थ तथा सम्प्रदायों से। श्री केशव नारायण सिंह की तो स्वतन्त्र अवधारणा है कि "नाथ सम्प्रदाय तन्त्र शास्त्र से विकसित हुआ है। इसकी उपासना पद्धति एवं सिद्धान्त बीज रूप से तन्त्र शास्त्र में विद्यमान है। यही वह आधार स्थल है जिसके ऊपर हिन्दी साहित्य की नींव पड़ी है।"

नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुख्य रूप से गुरु गोरखनाथ माने जाते हैं। "गोरखनाथ ने विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं को लेकर नाथ सम्प्रदाय की स्थापना की थी। दर्शन के क्षेत्र में शिव के परम तत्त्व का महत्त्व एवं कुण्डलिनी साधना द्वारा दशम द्वार में जीव और शिव का मिलन नाथ सम्प्रदाय की प्रधान विशेषता मानी जाती है। जीव के स्वरूप के बारे में गोरखनाथ के विचार तान्त्रिकों से अधिक भिन्न नहीं है।"

डॉ. बड़थ्वाल के अनुसार, "गोरक्षनाथ का आविर्भाव विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। इसी समय बौद्ध धर्म की विकृतियों को दूर करके इसलाम के प्रभाव को रोकने की आवश्यकता का अनुभव सबसे अधिक किया जा रहा था। इस आवश्यकता की पूर्ति गुरु गोरखनाथ ने की। यह निर्विवाद है कि शंकराचार्य के बाद भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में गोरक्षनाथ से अधिक महिमामय व्यक्तित्व दूसरा नहीं हुआ।"

गोरखनाथ का आविर्भाव कहाँ हुआ था? यह आज तक निश्चित नहीं हो सका है। लेकिन यह निश्चित है कि गोरखनाथ का आविर्भाव जिस युग में भी हुआ था, वह भारतीय इतिहास में घोर उथल-पुथल का युग था। इस काल में देश की आर्थिक स्थिति बहुत चिन्त्य थी।

भारत में मुसलमानों के प्रवेश का सिलसिला शुरू हो गया था। मुसलमानों के भारत प्रवेश के साथ ही भारतीय समाज का उपेक्षित वर्ग इसलाम स्वीकार करने लगा था।

राहुल सांकृत्यायन का मत है कि कपड़ा बनाने वाली पटकार जातियों ने एक साथ धर्म परिवर्तन कर लिया था। वे कहते हैं—"कोई आश्चर्य नहीं यदि आत्म सम्मान रखने वाले पटकार इसलाम स्वीकार करने में अपनी धर्मदासता का अन्त समझने लगे और एक-एक करके नहीं बल्कि श्रेणी (गिल्ड) रूपेण इसलाम के झण्डे के नीचे चले गये।" ऐसी स्थिति में एक ऐसे क्रान्तिकारी सांस्कृतिक-धार्मिक आन्दोलन का उठ खड़ा होना इतिहास की आवश्यकता थी जो एक ओर हिन्दुओं की वर्ण एवं जाति-व्यवस्था पर प्रहार करे और दूसरी ओर मुसलमानों की विकृतियों को भी खुलकर सामने लाये। गुरु गोरक्षनाथ के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ने इसी ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की।

गुरु गोरक्षनाथ के उदय के पहले प्रायः सभी भारतीय धर्म-मत अनेक प्रकार की विकृतियों के

शिकार हो चुके थे। बौद्ध धर्म अपनी प्रगतिशील भूमिका खो चुका था। उस पर तान्त्रिक साधना का गहरा प्रभाव पड़ा था। सिद्ध सरहपा का उद्देश्य चाहे जितना पवित्र और उदात्त रहा हो, व्यावहारिक धरातल पर उसका 'सहजमार्ग' पाखण्ड बन गया था।

गोरखनाथ के आविर्भाव के पहले शिव और शक्ति उपासना की परिधि में कापालिक, अघोर, कौल, पाशुपत, लकुलीश आदि अनेक मत प्रचलित थे। इन मतों का तत्त्वदर्शन चाहे जितना ऊँचा हो, इनका आचरण निश्चय ही विकृत रहा होगा। पंचमकारों का सेवन इनके उच्छृंखल यौनाचार का द्योतक है। वस्तुतः तत्त्व को 'शक्ति' और 'शक्ति' को 'नारी' के प्रवेश की सम्भावना सबसे अधिक थी। इसीलिए शाक्त तान्त्रिक साधना से प्रभावित बौद्धों के 'वज्रयान' और 'सहजयान' मत में इन विकृतियों का प्रवेश हुआ जिसके प्रभाव से नाथयोग भी अछूता नहीं रहा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि 'गोरक्ष पद्धति' में 'वज्रोली' और 'सहजोली' मुद्राओं का समावेश 'वज्रयानी' और 'सहजयानी' साधनाओं के प्रभाव का द्योतक है।

भले ही तत्त्व-दृष्टि से नाथयोग पर शैव और बौद्ध तन्त्रों का प्रभाव लक्षित किया जाए, पर आचरण के स्तर पर गोरक्षनाथ ने दोनों ही मतों को परिष्कृत करके युग की आवश्यकता के अनुकूल नाथयोग को नये रूप में संघटित किया था। गोरखनाथ के युग-प्रवर्तक व्यक्तित्व में बहुत कुछ मौलिक है। गोरखनाथ ने वज्रोली मुद्रा की साधना का निषेध किया है। अपने उच्च नैतिक चरित्र के कारण ही गुरु गोरक्षनाथ ब्राह्मण और इसलाम दोनों ही धर्म की विकृतियों को चुनौती दे सके।

गोरखनाथ की हिन्दी रचनाएँ—डॉ. बड़थ्वाल ने गोरक्षनाथ के नाम से प्रचलित कुल ४० छोटी-बड़ी हिन्दी रचनाओं का उल्लेख किया है। इसमें से उन्होंने १४ रचनाओं को ही प्रामाणिक माना है। इसलिए यहाँ इन चौदह ग्रन्थों का उल्लेख ही समीचीन प्रतीत होता है। ये ग्रन्थ हैं—१. सबदी, २. पद, ३. शिष्या दर्शन, ४. प्राण संकली, ५. नरवै बोध, ६. आत्मबोध, ७. अभै मात्रा जोग, ८. पन्द्रह तिथि, ९. सप्तवार, १०. मछीन्द्र गोरखबोध, ११. रोमावली, १२. ग्यानतिलक १३. पंत्र मात्रा और १४. ज्ञान चौंतीसा।

संस्कृत रचनाएँ—गोरखनाथ के नाम से अनेक रचनाएँ संस्कृत भाषा में भी प्रचलित हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने २८ ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की है—१. अमनस्क योग, २. अमरौध-शासनम्, ३. अवधूत-गीता, ४. गोरक्षकल्प, ५. गोरक्ष-कौमुदी, ६. गोरक्ष-गीता, ७. गोरक्ष-चिकित्सा, ८. गोरक्ष-पंचय, ९. गोरक्ष पद्धति, १०. गोरक्ष-शतक, ११. गोरक्षशास्त्र, १२. गोरक्ष-संहिता, १३. चतुरशीत्यासन, १४. ज्ञान-प्रकाश-शतक, १५. ज्ञान शतक, १६. ज्ञानामृतयोग, १७. नाड़ी-ज्ञान-प्रदीपिका, १८. महार्थ-मंजरी, १९. योग-चिन्तामणि, २०. योग-मार्तंड, २१. योग-बीज, २२. योग-शास्त्र, २३. योग-सिद्धान्त-पद्धति, २४. विवेक-मार्तण्ड, २५. श्रीनाथ-सूत्र, २६. सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, २७. हठयोग, और २८. हठसंहिता।

उपर्युक्त सभी रचनाओं में नाथयोग के सिद्धान्त एवं साधना पक्ष का विवेचन किया गया है।

गोरक्षनाथ ने तत्त्व-चिन्तन के विषय के रूप में परमतत्त्व, जगत्, जीव-जागरण, नैतिक शिक्षा, रुढ़ियों के खण्डन पर विशेष बल दिया है। और तत्कालीन समाज जो पथ-भ्रष्ट हो चुकी थी उसे हताशा

और निराशा से निकालने का कार्य किया है। वास्तविक रूप से कहा जा सकता है कि ऐसा तत्त्वदर्शी और स्पष्ट वक्ता ही युगान्तरकारी हो सकता है। निश्चय ही गोरक्षनाथ एक युग-प्रवर्तक अवतारी महापुरुष थे।

सन्दर्भ :

१. निर्गुण सम्प्रदाय-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, डॉ. मोती सिंह
२. गोरखबानी—गोरखनाथ, सं. डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
३. नाथ सम्प्रदाय और साहित्य, डॉ. वेद प्रकाश जुनेजा
४. गोरक्ष-सिद्धान्त संग्रह, सं. श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय
५. गोरक्षनाथ (नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में), डॉ. नागेन्द्र नाथ उपाध्याय
६. कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत तथा नाथ सम्प्रदाय और तन्त्रशास्त्र
७. गोरखनाथ एवं उनकी परम्परा का साहित्य, डॉ. दिवाकर पाण्डेय
८. भारतीय दर्शन परम्परा, डॉ. हरवंश लाल शर्मा
९. गोरखनाथ और उनका युग, डॉ. रांगेय राघव
१०. सहज साधना, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
११. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ. रामचन्द्र शुक्ल

□

नाथपन्थ और भक्ति आन्दोलन

—डॉ. इन्दु पाण्डेय

'शीर्षक' में दो शब्द जुड़े हैं—पहला शब्द 'नाथपन्थ' और दूसरा शब्द 'भक्ति आन्दोलन' को संकेतित करता है। इतिहास के आईने में दोनों शब्द अपनी अलग-अलग महत्ता रखते हैं, साथ ही एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए प्रभावित करते दिखाई देते हैं।

अत: उक्त शीर्षक के सम्यक विवेचन के लिए उसे उपशीर्षकों में बाँटना आवश्यक है। इसका क्रम इस प्रकार है—

१. नाथपन्थ का उद्भव—'नाथपन्थ' का उद्भव बौद्धों की उपशाखा 'वज्रयान शाखा' से हुआ माना जाता है। 'वज्रयान शाखा' के 'चौरासी सिद्धों' का उल्लेख देखकर प्रतीत होता है कि यह सम्प्रदाय खूब फला-फूला है। किसी भी पवित्र धर्म में जब नामविधि विचारों का आगमन होने लगेगा, तब उसे गन्दला होने की सम्भावना अधिक हो जाती है। 'वज्रयान सम्प्रदाय' में 'अश्लील' और 'वीभत्स' विधानों का चलन हुआ। 'गोरक्षपा' इसी 'वज्रयान' के चौरासी सिद्धों में से एक थे। इन्होंने इसके वीभत्स और अश्लील विधानों से स्वयं को अलग किया और अपना अलग पन्थ 'नाथपन्थ' चलाया।

'नालन्दा' और 'विक्रमशिला' इन वज्रयानी सिद्धों के गढ़ थे। 'गोरख' ने 'राजपूताने' और 'पंजाब' को अपनी कार्यस्थली बनाया।[१] आचार्य शुक्ल ने गोरख का समय १०वीं शताब्दी अथवा १३वीं शताब्दी कह कर, इनके समय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।[२]

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि "नौवीं एवं दसवीं शताब्दी में नेपाल की तराइयों में 'शैव' और 'बौद्ध' सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से 'नाथपन्थी' योगियों का एक सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह सम्प्रदाय कालक्रम से हिन्दी जन समुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका।"[३] आचार्य द्विवेदी ने तर्क दिया है कि 'नेपाल माहात्म्य' के अनुसार—"जो बुद्ध की पूजा करता है वह शिव की पूजा करता है।" इसी प्रकार नेपाली बौद्धों का 'स्वयम्भू-पुराण' पशुपतिनाथ की पूजा को 'बुद्ध' की पूजा मानता है।'[४]

'नेपाल माहात्म्य' और 'स्वयम्भू-पुराण' के कथन डॉ. द्विवेदी के कथन को पुष्ट करते हैं। आचार्य शुक्ल के कथन के अनुसार—हो सकता है कि प्रारम्भ में वज्रयानियों के कृत्यों से घृणावश गोरक्षनाथ ने

अपनी कर्मस्थली राजपूताने और पंजाब में बनायी हो। समय के अन्तराल से घृणाभाव सीमित हो जाने पर, नेपाल के तराई क्षेत्र को अपनी तपोभूमि बनायी हो। जनता ने 'गोरक्ष' की तपस्थली को उन्हीं के नाम के आधार पर 'गोरखपुर' नामकरण कर दिया हो। इसी तरह 'गोरक्ष' का समय १०वीं शताब्दी ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि वज्रयानी सिद्धों की एक पुस्तक 'जोपम कथा' के आधार पर पं. राहुल सांकृत्यायन ने 'गोरख' का समय विक्रम की दशवीं शताब्दी माना है।[५]

२. गोरक्षनाथ के समय की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ—

(क) धार्मिक परिस्थिति—'नाथपन्थ' के उद्गम से पूर्व ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर छठीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म को राज्य संरक्षण मिला था। 'मौर्य वंश', 'शक-कुषाण वंश' और 'गुप्त वंश' द्वारा बौद्ध धर्म को विशेष प्रचार-प्रसार मिला।

'मौर्य वंश' के शासक 'अशोक' ने 'बौद्ध धर्म' के प्रसार के लिए श्रीलंका, बर्मा, चीन और जापान में धर्म प्रचारक भेजा। साथ ही भारत में उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक अनेक 'स्तम्भों' और शिलालेखों का निर्माण कराया, इनमें बौद्ध धर्म के उपदेशों को अंकित कराया। बुद्ध की अस्थियों को सुरक्षित रखने के लिए 'स्तूप' बनवाया। जिनमें 'सारनाथ का स्तूप', 'साँची का स्तूप' और 'भरहुत का स्तूप' मुख्य है।

शक राजा 'कनिष्क' की छत्रछाया में बौद्धों को संरक्षण मिला—इनके 'सिक्कों' पर नन्दी वृष के साथ खड़े शिव की मूर्तियाँ पायी जाती हैं।

मथुरा में 'कुषाण काल' में बुद्ध की आकर्षक मूर्तियाँ पहली बार बनीं। तक्षशिला में भी बुद्ध की अनेक मुद्राओं वाली हजारों मूर्तियाँ मिली हैं।

'गुप्त काल' की 'अजन्ता की गुफा' की चित्रकला बुद्ध के जीवन चरित्र को चित्रित करती है। आज भी इस गुफा की चित्रकारी और रंगों की चमक देखकर दर्शक दंग रह जाते हैं।[६]

छठीं शताब्दी से बौद्ध धर्म में ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगे। 'भिक्षुणियों' के संघ में प्रवेश 'वामाचार' और 'तान्त्रिक साधना' आदि ने 'बौद्ध धर्म' के ह्रास में मुख्य भूमिका निभायी।

सातवीं, आठवीं शताब्दी में 'शंकराचार्य' ने 'बौद्ध दर्शन' के 'शून्यवाद' और 'अनित्यवाद' को परास्त कर उसकी जड़ें हिला दी।[७] इसीलिए 'बौद्ध धर्म' की आचारहीनता का विरोध करते हुए 'गोरखनाथ' ने सदाचार की दिशा में मार्ग परिवर्तन किया।[८]

(ख) सामाजिक परिस्थितियाँ—इस काल में 'वर्णाश्रम व्यवस्था' गुणों पर आधारित न रहकर जन्म पर आधारित हो गयी। 'शूद्र' को अस्पृश्य कहा जाता था, इन्हें धर्मोपदेश सुनने और धर्मग्रन्थों को पढ़ने से भी वंचित किया गया, इससे समाज कमजोर हुआ और अनेक जातियों में विभक्त हुआ।

राजपूत राजाओं में शौर्य और पराक्रम प्रदर्शन की भावना थी। इनकी रानियों में मान-मर्यादा की रक्षा में 'जौहर-व्रत' का प्रचलन था। इसी से 'सती-प्रथा' का जन्म हुआ। राजाओं में बहुविवाह की प्रथा थी। नारी भोग-विलास की वस्तु बन गयी थी। मुगलों के आगमन से पर्दा-प्रथा का जन्म हुआ और स्त्रियों की दशा दयनीय हो गयी।

(ग) राजनीतिक परिस्थितियाँ—हर्षवर्धन के पश्चात् भारत अनेक राज्यों में विभक्त हो गया। गहरवार, चौहान, चन्देल, परिहार राजा आपस में लड़ा करते थे। आपसी फूट के कारण भारत पर विदेशी लुटेरों ने अनेक बार आक्रमण किया। ९९९ से १०२९ ई. के मध्य 'महमूद गजनवी' ने भारत पर १७ बार आक्रमण किया। १०२४ ई. में उसने 'सोमनाथ' के मन्दिर को लूटा और तोड़-फोड़ किया।

'मुहम्मद गोरी' ने ११९२ ई. में 'पृथ्वीराज' और उसके बाद 'जयचन्द' को पराजित किया। उसके उपसेनापति 'बख्तियार खिलजी' ने बौद्ध-विहारों के भिक्षुओं का कत्लेआम किया। विहारों, मठों और मन्दिरों को तोड़ा और भयंकर उत्पात मचाया।

इस तरह राजाओं की आपसी फूट से भारत देश की बहुत हानि हुई।

(घ) साहित्यिक परिस्थितियाँ—इस अशान्तिकाल में अनेक कालजयी रचनाएँ लिखी गयीं। श्री हर्ष ने 'हर्षचरित' लिखा। धार के राजा भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' और 'शृंगार प्रकाश' कृति को संस्कृत भाषा में लिखा। भोज के दरबार में 'जयदेव', 'सोमदत्त' जैसे कवि, 'कुन्तक', 'क्षेमेन्द्र', 'हेमचन्द्र', 'महिमभट्ट' और 'विश्वनाथ' जैसे आचार्य थे।

इसी काल में हेमचन्द्र ने 'हेमचन्द्र का शब्दानुशासन', मेरुतुंग ने 'प्रबन्धचिन्तामणि', विद्याधर ने 'जयचन्द प्रकाश', शारंगधर ने 'शारंगधर पद्धति' नामक काव्य लिखा। इस काल के कवियों ने उथल-पुथल की तत्कालीन परिस्थिति पर कुछ लिखने का प्रयास ही नहीं किया।

३. गोरक्षनाथ उपदिष्ट सिद्धिमार्ग और उसकी विशेषताएँ—गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग को 'हठयोग' कहते हैं। हठयोग के अनुसार—महाकुण्डलिनी सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। व्यक्ति में व्यक्त होने पर इसे 'कुण्डलिनी' कहते हैं। कुण्डलिनी शक्ति और प्राण-शक्ति को लेकर जीव माकृकुक्षि में प्रवेश करता है। सभी जीव सामान्य रूप से तीन अवस्थाओं में रहते हैं—'जाग्रत', 'सुषुप्ति' और 'स्वप्न'। इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। उस समय 'मानव शरीर धारण' का कार्य होता है।

मानव शरीर में पीठ में स्थित 'मेरुदण्ड' के निचले सिरे को 'अग्निचक्र' कहते हैं। इसी चक्र में स्थित स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्प की भाँति 'कुण्डलिनी' अवस्थित है। इसके ऊपर 'चारदल-कमल' है, इसे 'मूलाधार-चक्र' कहते हैं। उसके ऊपर नाभि के पास 'स्वाधिष्ठान चक्र' है, जो 'छह दलों के कमल' के समान है। इसके ऊपर 'मणिपुर चक्र' में 'दस दलों का कमल' है। इस मणिपुर के ऊपर हृदय के पास 'अनाहत चक्र' में 'बारह दलों के कमल' का आकार है। कण्ठ के पास 'विशुद्धरव्य चक्र' में सोलह दल कमल स्थित है। भ्रू-मध्य में 'आज्ञाचक्र' में केवल 'दो दल कमल' है। ये ही 'छह चक्र' योगियों के 'षट्चक्र' हैं। इन छह चक्रों का भेदन करके मस्तक में स्थित 'शून्य-चक्र' में पहुँचना हठयोगी का चरम लक्ष्य है। शून्य चक्र में 'हजारदल कमल' है, इसीलिए इसे 'सहस्रार-चक्र' कहते हैं।

मेरुदण्ड में प्राण-वायु को वहन करने वाली कई नाड़ियाँ हैं। बाईं ओर की नाड़ी 'इड़ा' और दाहिनी ओर की नाड़ी 'पिंगला' कहलाती है। इनके बीच 'सुषुम्ना' नाड़ी है। सुषुम्ना के भीतर 'वज्रा' और उसके मध्य 'चित्रिणी' नाड़ी है। चित्रिणी के मध्य 'ब्रह्मनाड़ी' है, जो कुण्डलिनी शक्ति का मुख्य मार्ग है।

'हठयोगी-साधक' अनेक प्रकार की साधनाओं से कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वमुख उद्‌बुद्ध करता है।

कुण्डलिनी जब उद्‌बुद्ध होकर ऊपर की ओर उठती है, तो उससे स्फोट या 'नाद' होता है। इसी नाद से प्रकाश होता है, जिसे 'महाबिन्दु' कहते हैं। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है—'इच्छा', 'ज्ञान' और 'क्रिया'। योगी इन्हें सूर्य, चन्द्र और अग्नि कहते हैं। इन्हें ही 'ब्रह्मा', 'विष्णु', और 'शिव' भी कहते हैं।

यह 'नाद' और 'बिन्दु' वास्तव में अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त 'अनाहत नाद' का व्यष्टि में व्यक्त रूप है।

योगी क्रिया विशेष से 'सुषुम्ना-पथ' को उन्मुक्त करता है और 'कुण्डलिनी-शक्ति' को जागृत करता है, तो 'प्राण' स्थिर होकर उस 'शून्य पथ' से निरन्तर उस 'अनाहतनाद' को सुनने लगता है। ऐसा करने से मन विशुद्ध और स्थिर होता है।

देह शुद्धि के लिए हठयोग के 'षट्कर्म' हैं। हठयोग के प्रतिपाद्य विषय हैं—'आसन', 'प्राणायाम', 'मुद्रा' और 'नादानुसन्धान'। यह सब सिद्ध हो जाने पर योगी को 'सिद्धियाँ' प्राप्त होती हैं।

इस जटिल योग-प्रक्रिया के लिए 'सद्‌गुरु' की अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिए नाथपन्थ में 'गुरु-महिमा' का मान हुआ है।[९]

नाथपन्थ की विशेषताएँ—नाथ सम्प्रदाय में ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा दिखाई गयी है और घट के भीतर ईश्वर को प्राप्त करने की साधना की गयी है। वेदशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ कहकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गयी है। तीर्थाटन और तीर्थस्नान को निष्फल कहा गया है। अन्त:साधना के वर्णन में हृदय को दर्पण कहा गया है, जिसमें आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

४. नाथपन्थ की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ और उनका समाज पर प्रभाव : नाथपन्थ के प्रवर्तक 'गोरखनाथ' के ग्रन्थों की संख्या चालीस मानी जाती है, किन्तु डॉ. बड़थ्वाल ने केवल चौदह ग्रन्थों को गोरखनाथ द्वारा रचित माना है। इन्होंने 'गोरखबानी' नाम से इन रचनाओं का संकलन एवं सम्पादन किया है।[१०]

गोरखनाथ द्वारा रचित ग्रन्थ हैं—'सबदी', 'पद', 'प्राण संकली', 'सिष्या दरसन', 'नरवै बोध', 'अभैमात्रायोग', 'आतम बोध', 'पन्द्रह तिथि', 'सप्तवार', 'मछीन्द्र गोरखनाथ', 'रोमावली', 'ग्यान तिलक', 'ग्यान चौतीसा' और 'पंचमात्रा'।

गोरखनाथ की इन रचनाओं में गुरु-महिमा, इन्द्रिय निग्रह, प्राण साधना, वैराग्य, मन:साधना, कुण्डलिनी जागरण, शून्य समाधि आदि का वर्णन हुआ है। इन रचनाओं में 'नीति' और 'साधना' की वृत्ति परिलक्षित है।

गोरखनाथ का कहना है कि मूर्त जगत् में ही अमूर्त परमात्मा विद्यमान है। जैसे 'तिल' का तेल दिखाई नहीं पड़ता किन्तु उसमें तेल विद्यमान रहता है।

अंजन माहि निरञ्जन भेट्या, तिल मुख भेट्या तेल।
मूरति माँहि अमूरति परस्या, भया निरन्तरि खेल॥

गुरु महिमा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

स्वामी तुम्हइ गुरु गोरसाईं अम्हे जो शिव सबद एक बूझिबा।
निरारंवे चेला कूण विधि रहै, सतगुरु होई स पूछ्या कहै॥

गोरखनाथ के अलावा अन्य नाथ कवियों में—चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, चुणकरनाथ, भरथरी, जलन्धरीपा आदि प्रसिद्ध हैं। इन कवियों की रचनाएँ तेरहवीं शताब्दी में रचित एवं गोरखनाथ से प्रभावित हैं। इन ग्रन्थों में 'उपदेशात्मकता' एवं 'खण्डन-मण्डन' वृत्ति का प्राधान्य है।

५. नाथपन्थ के महत्त्वपूर्ण मठ-मन्दिर—गोरखपुर में गोरखनाथ मन्दिर, नाथ मतावलम्बियों की तपोभूमि है। जनवरी माह में प्रतिवर्ष यहाँ 'खिचड़ी मेला' लगता है। इस मेले में माह पर्यन्त उमड़ता हुआ 'हिन्दू-जन-समूह' इसकी 'पवित्रता' एवं 'महत्ता' को स्वयं प्रमाणित करता है।

इस स्थली के तप:पूत महन्त अवेद्यनाथजी और उनके उत्तराधिकारी योगी आदित्यनाथजी आज के जन-मानस के अगुआ हैं। योगी आदित्यनाथजी की वाणी सुनने का अवसर मुझे भी 'रुद्रपुर नगरी' में मिला है। आज भी उनकी वाणी सुनने को जन-सैलाब उमड़ा चला जाता है और उनकी वाणी सुनकर कृतकृत्य हो जाता है। हिन्दुओं के हार्दिक मनोभावों का पक्षधर यह योगी, धरती का दूसरा 'आदित्य' जान पड़ते हैं।

अन्य नाथ मन्दिरों की परम्परा तो पूरे देश में व्याप्त दिखाई देती है—'दुग्धेश्वरनाथ', 'महेन्द्रनाथ', 'दीघेश्वरनाथ' (देवरिया), 'पशुपतिनाथ' (नेपाल), 'बाबा विश्वनाथ' (काशी), 'बदरीनाथ' (उत्तरांचल), 'द्वारिकानाथ' (गुजरात), 'जगन्नाथ' (उड़ीसा) और 'रामेश्वर' (मद्रास) में 'शिव' से 'नाथ' का अद्भुत योग महादेव 'शिव' से 'नाथ' परम्परा के जुड़ने की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है।

६. भक्ति आन्दोलन का विकास क्रम—आदिकाल में भारतवर्ष के पूर्व में 'सहजयानी' और 'नाथपन्थियों' की साधनामूलक रचनाएँ तथा पश्चिम की अपभ्रंश भाषा की 'वीरभाव', 'नीति' और 'शृंगार' विषयक कविताएँ, उस भावी जनसाहित्य की सृष्टि कर रही थीं, जिसे 'भक्ति आन्दोलन' कहा गया।

डॉ. ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है—"बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी।"

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका सम्यक समाधान लिखा है कि "उसके लिए सैकड़ों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे, फिर भी उसका प्रादुर्भाव तो एकाएक हो ही गया। उसका कारण था शास्त्र सिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से इनका योग होना।"[११]

जिस 'आन्दोलन' को डॉ. ग्रियर्सन ने 'बिजली की चमक' से तुलना की है और डॉ. द्विवेदी ने 'एकाएक प्रादुर्भाव होने' की बात की है, और वहीं डॉ. द्विवेदी ने सैकड़ों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र होने की बात में भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि को व्यक्त किया है। इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि का सम्यक परिचय इस प्रकार है।

बारहवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण के सुप्रसिद्ध 'शंकराचार्य' के 'अद्वैतवाद' या 'मायावाद' की प्रतिक्रिया में चार सम्प्रदाय आविर्भूत हुए, जो आगे चलकर सम्पूर्ण 'भारतीय साधना' को बदलने में समर्थ हुए। ये चार सम्प्रदाय हैं—

(क) श्री-सम्प्रदाय—दक्षिण के 'आलवार भक्तों' की परम्परा में 'रामानुजाचार्य' हुए। इन्होंने अपने मत को 'श्री-सम्प्रदाय' नाम दिया। इन्हीं की परम्परा में 'रामानन्द' हुए। अनुशासन सम्बन्धी किसी बात पर अपने गुरु 'राघवानन्द' से मतभेद होने पर इन्होंने मठ त्याग दिया और उत्तर भारत की ओर चले आए।[१२]

परगत किया कबीर ने, सप्त दीप नवखण्ड ॥

'रामानन्द' संस्कृत के पण्डित थे, लेकिन सर्वजनहिताय की भावना से इन्होंने 'लोकभाषा' में कविता लिखी। इनके बारह शिष्यों में सभी जाति के लोग थे—'रैदास', 'कबीर', 'धन्ना', 'सेना', 'पीपा', 'भवानन्द', 'सुखानन्द', 'आशानन्द', 'सुरसुरानन्द', 'परमानन्द', 'महानन्द' और 'श्रीआनन्द'।

रामानन्द के मतानुसार—"गुरु को आकाशधर्मा होना चाहिए, जो शिष्य रूपी पौधे को बढ़ने के लिए उन्मुक्तता दे।" स्वामीजी ने आकाशधर्मा वृत्ति का पालन किया।

इनके शिष्यों में 'रैदास' और 'कबीरदास' ने ख्याति प्राप्त की। 'कबीरदास' में अपने गुरु का 'मन्त्र बीज' अधिक प्रसार पाया। इन्होंने अपनी 'सन्तवाणी' की जो धारा प्रवाहित की वह आज तक लोगों का मार्गदर्शन कर रही है। कबीर के शिष्यों में से 'सुरतगोपाल' ने काशी में और 'धरमदास' ने मध्य प्रान्त में कबीर-पन्थ चलाया।

कबीर के पुत्र 'कमाल' के शिष्य 'दादू' थे। दादू के शिष्यों में से एक 'जगजीवन दास' ने 'सतनामी सम्प्रदाय' चलाया। सन्तपरम्परा में 'मलूकदास' भी प्रसिद्ध हुए। सन्त रैदास कर्ममय भक्ति में लीन थे। मीराबाई ने इनसे दीक्षा ली थी।

रामानन्दी भक्तों की दूसरी श्रेणी में 'तुलसीदास' हुए। इन्होंने 'रामचरितमानस' में विष्णु के अवतार 'राम' का सगुण-रूप चित्रित किया। समस्त उत्तर भारत में 'मानस' को आदर प्राप्त है। इस महाकाव्य में लोक चित्त का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। मानव चित्त का ऐसा सर्वांग चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

'राम-भक्ति' की परम्परा में आगे 'नाभादास' का नाम जुड़ता है। इनकी रचना 'भक्तमाल' अधिक लोकप्रिय हुई। इसके अनुकरण पर बाद में कई 'भक्तमाल' लिखे गये।

(ख) ब्राह्म सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'मध्वाचार्य' हैं। इस परम्परा में 'चैतन्य देव' का नाम आता है। चैतन्य की शिष्य परम्परा में 'गोपाल भट्ट' और 'जीव गोस्वामी' ख्यात हैं। 'जीव गोस्वामी' की शिष्या 'मीराबाई' हैं। मीरा ने बाद में 'रैदास' से भी दीक्षा ली है। भक्त मीरा की पदावली की भावविभोर कर देने वाली पंक्तियों से हिन्दी प्रेमी भली-भाँति परिचित हैं।

(ग) रुद्र सम्प्रदाय—'विष्णुस्वामी' रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। वल्लभाचार्य इसी सम्प्रदाय में आते हैं। 'वल्लभाचार्य' के चार शिष्यों—'सूरदास', 'कुम्भनदास', 'परमानन्द दास', और 'कृष्णदास' में से 'सूरदास' ख्यातिलब्ध कवि हैं। 'वल्लभ' के पुत्र एवं उत्तराधिकारी 'विट्ठलनाथ' ने अपने पिता के चार शिष्यों में अपने चार शिष्यों—'नन्ददास', 'छीतस्वामी', 'गोविन्दस्वामी' और 'चतुर्भुजदास' को मिलाकर 'अष्टछाप' की स्थापना की। ये आठ कवि श्रीनाथजी के मन्दिर में आठोयाम भजन-कीर्तन करते थे। इनमें 'सूरदास' और 'नन्ददास' प्रसिद्ध कवि हुए।

'सूरदास' कृष्ण-भक्ति के प्रमुख गायक हैं। 'सूरसागर' इनकी प्रसिद्धि का मूल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में 'ब्रजभाषा' में 'वात्सल्य' और 'शृंगार रस' का सुन्दर परिपाक हुआ है।

'नन्ददास' कृत प्रमुख ग्रन्थ 'रुक्मिणी मंगल', 'रासपंचाध्यायी' और 'भ्रमरगीत' हैं।

विट्ठलनाथजी के पुत्र 'गोकुलनाथजी' ने 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'चौरासी वैष्णवन

की वार्ता' नाम से दो गद्य ग्रन्थ लिखा। इसमें वैष्णव भक्तों की जीवनियाँ लिखी हैं।

इन्हीं कृष्ण भक्तों में एक कड़ी कवि 'रसखान' के नाम की जुड़ती है, जो एक सरस कवि एवं तन्मय भक्त के रूप में ख्यातिलब्ध हैं।

'कृष्ण-भक्ति' की तान 'रीति काल' से होते हुए 'आधुनिक काल' तक के कवियों की प्रेरणास्रोत रही है।

(घ) सनकादि सम्प्रदाय—इस शाखा का नाम 'निम्बार्क आचार्य' से जुड़ा है। इस सम्प्रदाय की प्रसिद्ध शाखा 'राधा वल्लभ' है। इसे 'हित हरिवंश' जी ने प्रवर्तित किया। इसमें 'राधा' के माध्यम से भक्त अपना निवेदन 'कृष्ण' तक निवेदित करता है। इसी की एक उपशाखा 'सखी सम्प्रदाय' है। इसमें 'सखी-भाव' से कृष्ण की उपासना की जाती है।

उक्त चार सम्प्रदायों के अतिरिक्त पंजाब में 'गुरुनानक' ने 'सिख-सम्प्रदाय' चलाया। नानक की रचनाओं पर कबीर का प्रभाव दिखाई देता है। इनकी वाणी 'गुरु ग्रन्थ साहब' में संग्रहीत है। आदि काल में ही 'मुल्ला दाउद' के 'चन्दायन' से 'सूफी काव्य परम्परा' चली आ रही थी। इस परम्परा में 'कुतुबन', 'जायसी', 'उसमान', 'शेखनवी', 'कासिम साह', 'नूरमोहम्मद' कवियों की कड़ियाँ जुड़ी हैं। इसमें 'जायसी' कृत 'पद्मावत' एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

इस चौमुखी वृत्ति को लेकर आए 'भक्ति-आन्दोलन' और इसके फलस्वरूप प्राप्त असंख्य कृतियों ने 'भक्ति-काल' को 'स्वर्णयुग' की उपमा से विभूषित किया।

७. भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख रचनाएँ और उन पर सिद्ध साहित्य का प्रभाव—भक्ति काल में अनगिनत रचनाओं ने अपने आलोक से समाज को प्रकाशित किया। इनमें से चार प्रमुख रचनाएँ हैं— 'बीजक', 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर'। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) बीजक—यह ग्रन्थ 'कबीर' की साधना का 'बीज मन्त्र' है। इसके तीन भाग—'रमैनी', 'सबद' और 'साखी' हैं। 'रमैनी' दोहा-चौपाई शैली में लिखा हुआ 'बीजक' का महत्त्वपूर्ण अंश है। 'सबद' गेय पद रचना है। 'साखी' में 'सन्त सम्प्रदाय' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है।

सन्त कबीर ने वैष्णव गुरु रामानन्द से 'राम-नाम' का मन्त्र लिया। 'निर्गुण राम नाम' का अजपा जाप किया। इस जप से 'राम' का दर्शन दुर्लभ प्रतीत हुआ।[१३] तब इन्होंने हरि से माँ का सम्बन्ध जोड़ा।[१४] इससे भी काम न बना, तो कबीर राम की 'बहुरिया' बन गये।[१५]

इस हठी सन्त को 'राम-प्रेम' के सहारे ब्रह्म राम का परिचय हुआ। कबीर को 'ब्रह्म-ज्ञान' हुआ। उनका अज्ञान दूर हुआ।[१६]

'कबीर' की रचना में 'हठयोग-साधना', 'गुरु-महिमा', 'बाह्याडम्बरों का विरोध', 'अहिंसा की भावना' आदि भावनाओं का सम्यक परिचय मिलता है। इन पर 'वैष्णव मत' और सूफियों के 'प्रेम-मार्ग' का भी प्रभाव पड़ा है। किन्तु कबीर 'नाथपन्थी' विचारों से सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं।[१७]

(ख) पद्मावत—जायसी का 'पद्मावत' 'मसनवी' शैली पर लिखा गया 'अवधी' भाषा का काव्य है। इसमें मानव-जीवन के सभी मार्मिक प्रसंगों का वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ के सभी पात्र अपने

प्रतीकों को व्यंजित करते हैं। रत्नसेन 'जीव'; पद्मावती 'परमात्मा'; सुग्गा 'गुरु'; नागमती 'सांसारिक आकर्षण' के प्रतीक हैं।

सूफियों की प्रेम साधना 'इश्कमजाजी' से 'इश्कहकीकी' तक पहुँचती है। अर्थात् सूफी-साधक लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम को प्राप्त करता है।

'सूफी साधकों' ने अपने मार्ग की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है—'नासूत', 'मलकूत', 'जबरूत' और 'हकीकत'। 'नासूत' साधक की प्रकृत अवस्था है। 'मलकूत' में वह भौतिक जगत् से ऊपर उठकर पवित्र हो जाता है। 'जबरूत' में वह परमात्मा का सान्निध्य सुख प्राप्त करता है। 'हकीकत' में साधक (प्रेमी) अपने देवाधिदेव (परमात्मा) के सामने स्वयं को पाता है। अन्तिम मंजिल (हकीकत) पर पहुँचकर साधक को 'अनहलक' (मैं ईश्वर हूँ) का बोध होने लगता है।

सूफी कवि जायसी ने 'पद्मावत' में 'रत्नसेन' (जीव) द्वारा 'पद्मावती' (परमात्मा) को पाने की परमविह्वलता और उसकी प्रेम-साधना को चित्रित किया है। प्रेम-मार्ग का पथिक ही उसका वास्तविक साक्षात्कार करता है।[१८]

जायसी ने 'लौकिक' प्रेमकथा के माध्यम से 'अलौकिक' प्रेम की व्यंजना की है।[१९] कवि ने योगियों की हठयोग-साधना का सम्मिश्रण कर अपने प्रेम-मार्ग को रहस्यमय बना दिया है।[२०] जायसी की मान्यता में जीव (रत्नसेन) ही नहीं, सरोवर (जड़ प्रकृति) भी परमप्रिय की राह देखता है। और उसका सामीप्य उसे मिलता है।[२१] वास्तव में जायसी 'प्रेम-मार्गी' कवि हैं। नाथपन्थियों की 'हठयोग-साधना' से अपने मार्ग की दुरुहता को स्पष्ट किये हैं।

(ग) रामचरितमानस—यह ग्रन्थ 'राम-भक्ति' के गायक तुलसीदास की सर्वोत्कृष्ट रचना है। रामभक्ति का आलोक फैलाकर ये जनता में व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर करना चाहते हैं। तुलसी ने 'मानस' में मनसा, वाचा, कर्मणा 'राम का भजन' करने पर बल दिया है।

तुलसी चातक की तरह अपने ईष्ट 'राम' की भक्ति चाहते हैं।[२२] वह अपने 'राम' से सेवक-सेव्य-भाव रखते हैं। ये 'दास्य-भक्ति' के संवाहक हैं। इनके काव्य में 'दैन्य' और 'विनय' की पराकाष्ठा देखने को मिलती है।[२३]

तुलसी ने 'रामचरितमानस' की रचना 'स्वान्तः सुखाय' की है, लेकिन उनका स्वान्तः सुख 'बहुजन हिताय' हो गया है। तुलसी के 'राम' प्रजा-वत्सल, गरीब-निवाज, साधु-पोषक, अछूतोद्धारक, और शक्ति के अपरिमेय व्यक्तित्व हैं। तुलसी के 'राम' सिंहासनारूढ़ राजा नहीं हैं। वह ग्यारह वर्ष की अल्पायु में 'सुबाहु' और 'मारीच' जैसे राक्षसों से 'यज्ञ' की रक्षा करते हैं। वह 'जनक' के दुःख-भंजक हैं। शंकर के धनुष को तोड़कर राम ने अतुलित पराक्रम का परिचय दिया है। सीता से विवाह के पश्चात् अभी विराम भी नहीं मिला था कि उन्हें चौदह वर्ष का वनवास दे दिया गया। ऐसे सुकुमार 'राम-लक्ष्मण-सीता' को वन-पथ पर देख सामान्य जन भी रो उठते हैं।[२४] वन के कठोर वातावरण में युवक राम, प्रजा के सुख-दुःख का निरीक्षण करते हैं; उनके सुख-दुःख के सहभागी बनते हैं। इसी क्रम में 'अहिल्या उद्धार', 'अत्रि मुनि का संसर्ग', 'सुग्रीव रक्षा' करते हुए अन्त में सारे दुष्चक्रों की जड़ आसुरी वृत्ति वाले 'रावण' का समूल नाश

करते हैं। लंका पर 'सदाचारी विभीषण' को शासक बनाकर, दीर्घ समय तक के लिए दक्षिण भारत को कंटक-रहित करते हैं।

ऐसे में तुलसी के 'राम' जन-जन में बस जाते हैं।

तुलसीदास ने अपने समय में प्रचलित नाथपन्थ के 'अलख', 'निर्गुण' ब्रह्म के रूप को , भक्त के प्रेम से सगुण रूप धारण करते हुए दिखाया है।[२५] इनके राम पतित पावन हैं; अत: वे सहज में ही सामान्य जन को मोक्ष दे देते हैं।[२६]

वास्तव में तुलसी सगुणमार्गी 'राम' के उपासक हैं। प्रसंगवश आयी व्यवस्थाओं पर टिप्पणी के रूप में योग-साधना का वर्णन किया है।

(घ) सूरसागर—कृष्ण-भक्ति के गायक 'सूरदास' ने मुक्तक शैली में गेय पदों में 'सूरसागर' की रचना की है। 'कृष्ण' की बाल-लीला-वर्णन में 'वात्सल्य रस' का सुन्दर परिपाक किया है। प्रत्येक बाल-वर्णन सम्बन्धी पदों में कवि ने चित्र-सा खींच दिया है। एक चित्र में बालक कृष्ण से माँ यशोदा दूध पीने का आग्रह करती हैं। न पीने पर, चोटी बढ़ने का लालच देती हैं। इस बात पर कृष्ण दूध पी लेते हैं और झट चोटी टटोलने लगते हैं। चोटी में कोई परिवर्तन न देख माँ से पूछने लगते हैं।[२७]

सूरदास ने इस प्रकार के अनेक शब्द-चित्र 'गोचारण' एवं अन्य प्रसंगों का चित्रित किया है।

आचार्य 'वल्लभ' की प्रेरणा से कवि 'सूर' कृष्ण के बाल-लीला-वर्णन में प्रवृत्त हुए। आचार्य 'विट्ठल' की प्रेरणा से कृष्ण-गोपी-राधा के 'श्रृंगार' का शब्द-चित्र खींचा।[२८] मानवीय भावनाओं के शब्द-चित्रों ने 'सूरसागर' को महिमा दी है।

सूरदास ने 'भ्रमर-गीत' की योजना करके सगुण-भक्ति की स्थापना और निर्गुण-भक्ति को सामान्य जन के लिए अनुपयोगी सिद्ध किया है। निर्गुण ब्रह्म की उपासना का वर्णन करते हुए उन्होंने उसे सब प्रकार से अगम बताया है।[२९] यहाँ सूरदास ने कृष्ण के सगुण लीला गान को सरल और सुलभ ठहराया है।

इस तरह सूरदास ने गेय पदों में कृष्ण की रूप माधुरी का जो चित्रण किया, वह भक्तिकाल के कवियों का प्रेरणास्रोत रहा ही, आगे चलकर 'रीतिकाल' का आकर्षण रहा। इससे आधुनिक काल के कवि 'भारतेन्दु' आदि भी प्रभावित रहे।[३०]

कुल मिलाकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में हिन्दू धर्म जब वज्रयानियों के चंगुल में हीन दशा को प्राप्त हो रहा था, तब गोरक्षनाथ ने हमें 'हठयोग' के माध्यम से हठपूर्वक रक्षित किया। यहाँ यह साधना दुर्गम हो गयी थी। कबीर ने अपनी सन्त वाणी से इसे सरल-सुगम बनाने की कोशिश की। जायसी के 'प्रेम' रसायन से यह साधना-पथ अधिक सुगम हुआ।

तुलसी के 'मानस' में आकर हिन्दू धर्म जनमानस का विषय हो गया। सूरदास कृत 'सूरसागर' की कृष्ण-लीला की लहरियों से जनमानस हिलोरें लेने लगा और हिन्दू धर्म सरल-सुगम होकर जनता जनार्दन के हृदय में समा गया। सबने इसे अंगीकार कर लिया।

सन्दर्भ :

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ-१०।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ-११।
३. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-१९।
४. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-२०।
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ-१०।
६. जैन, बौद्ध, धर्म और दर्शन; डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृष्ठ-८२ से ८४ तक।
७. जैन, बौद्ध, धर्म और दर्शन; डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृष्ठ-८५।
८. हिन्दी साहित्य के आदिकाल का पुनर्मूल्यांकन, यज्ञदत्त, पृष्ठ-२५।
९. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-६९।
१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नागेन्द्र, पृष्ठ-६७।
११. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-५३।
१२. भक्ति द्रविण ऊपजी, लाये रामानन्द। परगट किया कबीर ने, सप्त दीप नवखण्ड॥
१३. लम्बा मारग दूर घरि, दुर्लभ हरि दीदार। कबीर।
१४. हरि जननी मैं बालक तोरा। कबीर।
१५. हरि मेरो पीउ, मैं हरि की बहुरिया। कबीर।
१६. कबीर केवल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर। निसि अन्धियारी मिट गई, बाजे अनहद तूर॥ कबीर।
१७. सूर समाना चन्द में, दुहु किया घर एक। मन का चेता तब भया, कछु पूरबिला लेख॥ कबीर।
१८. प्रेम घाव दख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई॥ पद्मावत।
१९. मानुष पेम भएउ बैकुण्ठी। पद्मावत।
२०. नव पौरी बांकी नवखण्डा। नगै जो चढ़ै जाइ बरम्हंडा॥ पद्मावत।
२१. कह मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहां लगि आई।
भा निरमल तिन्ह पायेन्ह परसे। पावा रूप के दरसे॥ पद्मावत।
२२. एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास। तुलसी।
२३. तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी। तुलसी।
२४. आँखिन में सखि राखिबे जोग, इन्हें किमि के के बनवास दियो है। तुलसी।
२५. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम वस सगुन सो होई॥ मानस।
२६. जो गति योग विराग जतन करि, नाहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध शबरी कह, प्रभु न अधिक जिय जानी। तुलसी।
२७. मैया, कबहि बढ़ैगी चोटी, किती बार तोहि दूध पियत भई,यह अजहू है छोटी। सूरसागर।
२८. खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी, औंचक ही देखी तहँ राधा।
नैन विशाल भाल दिये रोरी, नैन-नैन मिलि परि ठगोरी। सूरसागर।
२९. अविगति गति कछु कहत न आवै। सूरदास।
३०. नैन, स्रोन, कर, पम सवै परवस भये। उतै चलि जात इन्हें कैसे के सम्हारिये। भारतेन्दु।

□

नाथपन्थ एवं शमप्रधानेषु तपोधनेषु

—बलविन्दर कुमार प्रजापति

धर्म-अधर्म के संत्रास के उदित अर्क के प्रथम सोपान के मयंक अंशु के रूप में उदित नाथ सम्प्रदाय का मूल उद्भव प्राचीन है। ब्रिग्स का उल्लेख है कि ९७१ ई. का एक लेख एक मन्दिर के संग्रह में पाया गया है, जिसके आधार पर यह अनुमान होता है कि वह मन्दिर नाथ सम्प्रदाय का रहा होगा।[१] इटैलियन विद्वान् टेसीटरी का मत है कि कनफटा योगी लोग बौद्ध-धर्म के प्रारम्भिक समय में भी विद्यमान थे किन्तु उनकी योग्यता का विकास बौद्ध-धर्म के पतन-युग में ही हुआ।[२] सालसेटी, एलोरा और एलीफेण्टा की गुफाओं में, जो ८वीं शताब्दी की हैं, शिव की ऐसी अनेक योग-मूर्तियाँ हैं जिनके कानों में बड़े-बड़े कुण्डल ठीक उसी ढंग से पहनाये गये हैं जिस ढंग से कनफटा योगी लोग धारण करते हैं। मद्रास के उत्तरी आरकाट जिले में परशुरामेश्वर का जो मन्दिर है उसके भीतर स्थापित लिंग पर शिव की एक मूर्ति है। टी.ए. गोपीनाथ राव का मत है कि यह लिंग सन् ईस्वी की दूसरी या तीसरी शताब्दी के पहले की नहीं है।[३]

प्रत्येक प्राणी में शक्ति एवं शिव के तत्त्व विद्यमान हैं। योग साधक योग-साधना के बल पर शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण कर परमतत्त्व शिव से मिलकर एकाकार हो जाता है। नाथ योग की साधना पद्धति के अन्तर्गत कुण्डलिनी शक्ति साधना का लक्ष्य योगी साधक की स्थूल चेतना शक्ति को जगाकर उसे क्रमशः सूक्ष्मतर सोपानों से आगे बढ़ाते हुए अन्ततः द्वन्द्वातीत स्थिति तक पहुँचकर परमतत्त्व शिव में लय कर देना है। इसी शिवत्व-प्राप्ति के लिए योग के छः या आठ अंगों—आसन, प्राणायाम आदि का विधान किया गया है। नाथ योगियों की दृष्टि में यह विराट् ब्रह्माण्ड और लघु मानव-पिण्ड तत्त्वतः एक ही है। जो शक्ति इस विराट् विश्व के मूलाधार से प्रसुप्त होकर इसकी विराट् सत्ता को स्थूल रूप में गतिशील बनाये हुए है वही मानव-पिण्ड में कुण्डलित एवं प्रस्तुत होकर उसे स्थूल जगत् की गतियों एवं व्यापारों में आसक्ति रखती है। कुण्डलिनी के जगने का अर्थ प्रसुप्त स्थूल चेतना का सूक्ष्म शाश्वत, द्वन्द्वातीत परमचैतन्य की ओर उन्मुख होना है। कुण्डलिनी-साधना, मन्त्रयोग, अजपाजाप और नादानुसन्धान आदि यौगिक क्रियाएँ इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए की जाती है। नाथ सम्प्रदाय की पद्धति का मूल रूप औपनिषदिक योग धारा तथा आगम धारा में सन्निहित है। यौगिक प्रक्रिया तन्त्रसम्मत रूप में

मुनिपरम्परा से ही श्रमण धारा और आगम धारा के रूप में द्विधा विभाजित हुई।

ऋग्वेद के व्रात्ययोगी 'रुद्र' की उपासना करते थे तथा प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं को महत्त्व देते थे। ये लोग अपनी साधना के बल पर मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते थे तथा यज्ञादि कर्मों से दूर किसी अरूप वस्तु के ध्यान व चिन्तन में निरत रहते थे।[४]

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि परमतत्त्व को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को निस्पृह एवं शुद्ध अन्त:करण वाला होना चाहिए। योग-साधना के लिए चित्त की निर्मलता का जो विधान अत्यन्त व्यवस्थित रूप में नाथ योग में प्राप्त होता है। कठोपनिषद् में तो स्पष्ट कहा गया है कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा ही योग है।[५] गण्डव्यूह में जो तान्त्रिक साधना का प्रारम्भिक रूप मिलता है उसका आधार नागार्जुन, आर्यदेव, असंग तथा वसुबन्धु से मिला। ६वीं एवं ७वीं शताब्दी में रचित 'तथागत गुह्यक' आदि बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर डॉ. मलिक का मत है कि हिन्दू एवं बौद्ध दोनों ही तन्त्रों का प्रवेश हुआ जिसके फलस्वरूप बौद्ध तान्त्रिकों एवं हिन्दू कापालिकों का उदय हुआ।[६] स्कन्द पुराण के हिमवत खण्ड में विरूपाक्ष तीर्थयात्रा के प्रकरण में गोरक्ष की सिद्धि-प्रदायकता का वर्णन है।[७] पुराणगत कपिलगीता में नवनाथों का उल्लेख दत्तात्रेय आदि सिद्धों की भाँति किया गया है। शिवपुराण एवं कल्पद्रुम तन्त्र में महादेव की स्वीकृति है कि "मैंने स्वयं ही गोरखनाथ के रूप में अवतरित हो योग मार्ग के प्रचार व प्रसार की कामना की है।"[८] श्री राजाराम मोहननाथ ने मत्स्येन्द्र एवं गोरक्ष नामधारी दो-दो व्यक्तियों के होने का अनुमान करके आदि मत्स्येन्द्र (मीननाथ) को नाथ धर्म के प्रचारक के रूप में तथा नवमत्स्येन्द्र (लुईपाद) को बौद्ध सहजिया धर्म के प्रचारक के रूप में स्वीकार किया है। इसी प्रकार उन्होंने आदि गोरक्ष को कार्य-साधन के नेता के रूप में तथा नवगोरक्ष को बौद्ध रमण वज्र के रूप में परिचित कराया है।[९]

वास्तव में जीवन की पूर्णता का अनुभव केवल तर्क द्वारा सम्भव नहीं है, आत्म चेतना से ऊपर भी कोई वस्तु है। ईश्वर मनुष्य की सबसे बड़ी मनोवैज्ञानिकता की आवश्यकता है। इसके अभाव में किसी धर्म का पनपना सरल नहीं है। बौद्धों का अन्तिम तान्त्रिक सम्प्रदाय काल चक्रयान अपने सिद्धान्त और धारणाओं के सम्बन्ध में शैव-शाक्त तान्त्रिकों से बहुत अधिक प्रभावित है। यहाँ काल चक्र को आत्यन्तिक सत्ता के रूप में वर्णित किया गया है जिसकी उत्पत्ति प्रज्ञा और उपाय के समरस सुहाग से सम्भव मानी गयी। योग-साधना को यहाँ सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। कायशुद्धि के अतिरिक्त ये लोग चित्तशुद्धि और पापशुद्धि में विश्वास करते थे।[१०]

सन्दर्भ :

१. गोरखनाथ और उनका युग—रांगेय राघव, पृष्ठ ९-१०
२. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना-प्रणाली—कल्याणी मलिक, पृष्ठ ३२-३३
३. नाथ सम्प्रदाय—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ९-१०
४. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ ५६-५७
५. कठोपनिषद् २-३-११

६. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना-प्रणाली—कल्याणी मलिक, पृष्ठ १६१-१६४
७. अमनस्कयोग-भूमिका भाग—नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृष्ठ ८
८. अहमेवास्मिगोरक्षो मद्‌पं तन्निबोधत। योग मार्ग प्रचारायमया रूपमिदं धृतम्॥
(कल्पद्रमतन्त्र) चारों युगों में योगीराज, पृष्ठ ३९-४४
९. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना-प्रणाली—कल्याणी मलिक, पृष्ठ ७१-८१
१०. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव—डॉ. सरला त्रिगुणायत, पृष्ठ ७७।

□

गोरखनाथ की साधना स्थलियाँ

—डॉ. अम्बरीश कुमार दूबे

नाथयोगी भ्रमणशील साधक थे। वे दूर-दूर की यात्राएँ किया करते थे। साधनोपयोगी, सुनसान व रमणीय स्थलों को पाकर कुछ समय तक वहाँ निवास करते थे तथा योग-साधना का अभ्यास करते थे। नाथपन्थ के इन योगी साधकों का किसी समय न केवल समूचे भारतवर्ष में ही प्रचार व प्रसार था अपितु पास-पड़ोस के अन्य देश भी उनके प्रभाव से अपने को विरत न रख सके। श्री मजुमदार ने बताया है कि भ्रमणकारी नाथों ने भारत के बाहर दुर्गम गिरि कान्धार और मरुदुस्तर पारावार का अतिक्रमण करके कैस्पियन सागर के तट पर स्थित तैलांचल बाकू में एक शिव मन्दिर की प्रतिष्ठा की थी जो अब भी विद्यमान है। तिब्बत की राजधानी ल्हासा नगरी में मत्स्येन्द्रनाथ की एक मूर्ति है। चीन और जापान में मत्स्येन्द्रनाथ (अवलोकितेश्वर) 'क्वानशाइन' के नाम से पूजे जाते थे। एलोरा की दो गुफाएँ मत्स्येन्द्रनाथ एवं आदिनाथ सभा कक्ष के नाम से प्रसिद्ध हैं। चीन में चुवानद्वीपकुंज के पुटो द्वीप में मत्स्येन्द्रनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर है। बाली, जावा, भूटान आदि देशों में नाथपन्थी मन्दिर पाये जाते हैं। पेशावर का गोरखक्षेत्र (गोरखात्री) कनफटा योगियों के लिए एक समय आकर्षण का केन्द्र था। कोहाट, काबुल एवं जलालबाद में भी इन योगियों के मन्दिर हैं। लाहौर में टक्षाला गेट पर 'आईपन्थ' के एक मठ में कुछ समाधियाँ एवं एक शिवमन्दिर स्थापित है।

नेपाल का सुप्रसिद्ध मृगस्थली स्थित गोरक्षपीठ गोरखनाथ की तपोभूमि है। यहाँ स्थित एक मन्दिर में गोरखनाथ की एक मूर्ति है जो नाथयोगियों द्वारा पूजित है। मुख्य मन्दिर के उत्तर तरफ विशाल त्रिशूल है तथा समीप ही अनेक शिवलिंग स्थापित हैं। पशुपतिनाथ मन्दिर के प्रांगण में मुख्य मन्दिर के दक्षिण तरफ ध्यानमग्न योगियों की कुछ मूर्तियाँ हैं जिनके कानों में कनफटों जैसे ही कुण्डल धारण कराये गये हैं। ये मूर्तियाँ पशुपतिनाथ मन्दिर की तरफ अभिमुख ही ध्यानमग्न हैं। मानो ये मूर्तियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं कि कुण्डलधारी योगी पशुपतिनाथ (शिव) की आराधना करते थे। पश्चिमी नेपाल में स्थित 'गोरखा' नामक स्थान में एक गुफा मन्दिर है जिसका ऊपरी एवं मध्य भाग ही स्पष्ट हो पाता है। यह मन्दिर तथा यहाँ की बस्ती गोरखनाथ के नाम पर आधारित है। कहा जाता है कि गोरख स्थान एवं पोखरा नगर के बीच

स्थित 'तमजुंगतनुहू' के राजा यशवन्त शाह के पुत्र द्रव्यशाह को गोरखनाथ की कृपा से गोरखा राज्य प्राप्त हुआ था। नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में इन्द्रचौक मुहल्ले में गोरखनाथ का एक मन्दिर है जिसमें उनकी मूर्ति स्थापित है। काठमाण्डू में मत्स्येन्द्रनाथ का एक काष्ठ मन्दिर एक ही वृक्ष के तने से बना हुआ बताया जाता है। इस मन्दिर के नाम पर ही काठमाण्डू शहर का नामकरण हुआ। पिउठाना में सिद्ध संसारनाथ का मठ तथा अष्टपुष्कर नामक स्थान पर गोरखनाथ का एक मन्दिर है। सवारीकोट—(कांगड़ा-टांग पहाड़) में स्थित सिद्ध रतननाथ के मन्दिर की एक मूर्ति में गोरखनाथ की आत्मा का निवास माना जाता है।

भारतवर्ष के उत्तरी भाग कुमायूँ-गढ़वाल की पहाड़ियों में भैरव के अनेक मन्दिरों में कनफटे लोग पाये जाते हैं। श्रीनगर के नीचे एक गुफा गोरक्ष की बतायी जाती है जिसमें योनि-लिंग स्थापित है। नैनीताल स्थित नन्दादेवी और भैरव के मन्दिर में कनफटा योगियों का आवागमन है। सिक्किम के चांग सिलिंग मठ में स्थित एक काले रंग की भैरव मूर्ति गोरखनाथ की बतायी जाती है। हरद्वार की एक गुफा बारहपन्थी योगियों का निवास स्थान है। हरद्वार में मदन मोहन मालवीय मार्ग पर एक गोरखनाथ का मन्दिर है; यहाँ अखिल भारतवर्षीय अवधूत भेष बारहपन्थ योगी महासभा का प्रधान कार्यालय है। मन्दिर में भर्तृहरिनाथ की एक प्रसिद्ध गुफा है। हरद्वार में गोरखनाथजी का अखाड़ा तथा कच्छ का गोरख कूप प्रसिद्ध है। गुजरात में गोरखनाथ की औघड़ गद्दी है। सिक्किम के एक विहार में तीन मूर्तियाँ हैं—मध्यस्थ मूर्ति अमिताभ बुद्ध की है, दाहिने गौतम बुद्ध और बाएँ गोरखनाथ की मूर्ति है। श्रीनगर से ८ किमी. दूर स्थित देवलगढ़ सत्यनाथपन्थ के योगियों का मुख्य केन्द्र है। जम्मू के पीरखोह नामक स्थान में महन्त सन्ध्यानाथ की प्रतिस्थापना है। उधमपुर में सिद्ध बालकनाथ की समाधि और 'सिद्ध गौरिया मठ' (जम्मू) नाथ योगियों के स्थान हैं।

नेपाल और भारत सीमा पर स्थित शक्तिपीठ देवीपाटन भारत के प्रसिद्ध शक्तिपीठों में एक है। कहा जाता है कि सती के मृत शरीर का पट वामस्कन्ध के सहित यहाँ गिरा था; अतः यहाँ की देवी 'पाटेश्वरी देवी' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ उपलब्ध एक शिलालेख में उल्लिखित है—

महादेव समाज्ञप्तः सती स्कन्धविभूषितम्।
गोरक्षनाथो योगीन्द्रस्तेन पाटेश्वरी मठम्॥

अर्थात् गोरखनाथ ने महादेवजी से आज्ञा प्राप्त कर उक्त पीठ की स्थापना एवं भगवती की आराधना की थी। चैतरामनवमी को आयोजित विशाल मेले के अवसर पर नेपाली अंचल से प्रतिवर्ष रतननाथ की सवारी लायी जाती है। देवीपाटन का यह मन्दिर गोरखनाथ मन्दिर से सम्बद्ध है। १५वीं शताब्दी में यह औरंगजेब द्वारा ध्वस्त कर दिया गया था।

नाथपन्थी योगियों के पीठ के रूप में गोरखपुर का उल्लेख 'मिरगावती' में किया गया है—'पुरुखनाथ गुरु आह हमारेउ गोरखपुर से ऊँमेल।' सैयद अहमद अलीशाह द्वारा लिखित 'महबूबतवारीख' से ज्ञात होता है कि गोरखपुर पहले एक उजाड़ स्थान था। यह अति प्राचीन काल से सन्तों-साधुओं से भरा पड़ा था। गोरखनाथ ने इसे अपनी तपोभूमि बनायी थी। उस्मान कवि की 'चित्रावली' की कुछ पंक्तियाँ भी इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं।

इलाहाबाद में गंगा के तट पर स्थित झूसी नगर गोरखनाथ से सम्बद्ध बताया जाता है। यहाँ के राजा हरवंग का पतन उस मठ के योगियों के द्वारा ही हुआ था। फर्रुखाबाद में कायमगंज नाथ तीर्थ के महन्त गंगानाथ हैं। दिल्ली के सुभाषनगर से पीर प्रेमनाथ का स्थान, कीर्तिनगर से महन्त वर्षानाथ का स्थान तथा रमेशनगर में शिवनाथ योगाश्रम तथा गोरक्षमठ नाथ योगियों के केन्द्र हैं। अमृतसर के पास मुण्डाल नामक स्थान पर सिद्ध उषानाथ की गुफा है। कहा जाता है कि यहाँ गोरखनाथ ने बलखबुखारे के राजा हाड़ी भंडग को दीक्षा दी थी। गोरखटिल्ला झेलम के मुख्य आराध्य देवता बालनाथ (बालगुन्दाई) है। इस टीले का प्राचीन भवन १७८४ ई. में अहमदशाह दुर्रानी द्वारा ध्वस्त कर दिया गया था। यहाँ स्थित भर्तृहरिनाथ की एक गुफा हेठनाथ पन्थ के अनुयायी योगियों के अधिकार में है। टीले पर स्थित एक शिला राँझा के बैठने की स्थली बतायी जाती है।

पश्चिम भारत का हिंगलाज नामक स्थान एक हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित है। इस प्रसिद्ध शक्तिपीठ के अग्निदेवी, हिंग्लाजदेवी, हिंगुदादेवी नाम प्रसिद्ध हैं। गोरखनाथ का अखण्ड धूना एवं अखण्ड दीप यहाँ प्रज्वलित है। अहमदाबाद के उत्तर में कुछ पहाड़ियाँ गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं। गणेशपुरी में गर्म पानी के कुछ स्रोत हैं, उनमें एक का नाम गोरख-मछेन्द्र है। यहाँ की दो पुरानी पहाड़ियाँ गोरखगढ़ और मछेन्दरगढ़ के नाम से जानी जाती हैं। आस-पास की कुछ गुफाएँ गोरक्ष और मत्स्येन्द्र से सम्बद्ध बतायी जाती हैं। कादरीमठ (मैसूर) के महन्त चन्द्रनाथ हैं। नासिक के द्वादशवर्षीय कुम्भ के अवसर पर गोदावरी के पात्र देवता की सवारी शिवरात्रि से तीन-चार दिन पूर्व ही यहाँ पहुँचती है, इसे झुण्डी कहते हैं। कादरी से ९ किमी. दूर मण्डली गाँव में गोरक्षनाथ का एक प्राचीन मठ है। पास ही गोरक्ष पहाड़ तथा श्रीनाथ मन्दिर है। चुंचनागिरि (कर्नाटक) में भैरवनाथजी क्षेत्रपाल माने जाते हैं। यहाँ से पश्चिम में एक पहाड़ी पर गोरक्षपादुका एवं गोरक्ष डिब्बी है।

उपर्युक्त नाथ केन्द्र स्थलों के विवेचन से स्पष्ट है कि यह परम्परा इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि वह भारत ही नहीं अपितु पड़ोसी राष्ट्रों के लोगों को भी धार्मिक व दार्शनिक दृष्टि देने में समर्थ थी। आज नवीन शोधों से नितनूतन 'नाथ सम्प्रदाय' के केन्द्र प्रकाश में आ रहे हैं।

सन्दर्भित ग्रन्थ :

१. नाथ सम्प्रदाय, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी।
२. गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज, ब्रिग्स।
३. राजगुरु योगिवंश, सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार।
४. गोरख विशेषांक, वर्ष-२, जनवरी-१९७७, अंक-१।
५. अस्थल बोहरमठ का संक्षिप्त इतिहास, प्र. महन्त श्रेयोनाथ योगी।
६. योगवाणी, वर्ष-२, फरवरी-१९७७, अंक-२।
७. महाराष्ट्र के नाथपन्थीय कवियों का हिन्दी काव्य, डॉ. अशोक प्रभाकर कामत।
८. मिरगावती, सं. परमेश्वरी लाल गुप्त।
९. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना-प्रणाली, कल्याणी मलिक।

१०. दोहाकोश, राहुल सांकृत्यायन।
११. नाथ और सन्त साहित्य—तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय।
१२. गोरखनाथ और उनका युग, रांगेय राघव।
१३. नाथ सिद्धों की वाणियाँ, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी।
१४. योगीराज गम्भीरनाथ, अक्षय कुमार बनर्जी।
१५. योगप्रवाह, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।
१६. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती।
१७. कदलीमुजुनाथ माहात्म्य।
१८. भारतीय दर्शन भाग-२, डॉ. राधाकृष्णन।
१९. उत्तर भारत के निर्गुण पन्थ साहित्य का इतिहास, डॉ. विष्णुदत्त राकेश।
२०. सिद्धनाथ संहिता विवेक सागर, भाग-१।
२१. मध्यकालीन धर्म साधना, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी।

□

नाथपन्थ का राष्ट्रीय जीवन पर प्रभाव

—डॉ. बृज भूषण यादव

गुरु गोरक्षनाथ ने अपने धार्मिक क्रान्ति के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र में अपने पन्थ, मत, सिद्धान्त से सम्बन्धित प्रसिद्ध मतों को गोरखपन्थ में समाहित करते हुए राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से सम्पूर्ण राष्ट्र में विभिन्न मठों, मन्दिरों, धर्मपीठों की स्थापना की और नाथपन्थ से सम्बन्धित विभिन्न नाथपन्थी शाखाओं को स्थापित करते हुए आदि शंकराचार्य के समान राष्ट्रीय एकता के सूत्र रूप में सबको बाँध दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पन्थों के नाम, मूल प्रवर्तक, स्थान आदि को विशेष विवरण के साथ प्रस्तुत किया है।[१] प्रत्येक पन्थ का एक-एक विशेष स्थान होता है जिसे उस पन्थ से सम्बन्धित नाथ लोग अपना पुण्यक्षेत्र मानते हैं। प्रत्येक पन्थ में एक-एक विशेष पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदि प्रवर्तक माना जाता है। इन प्रमुख विभिन्न नाथपन्थों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत है—

सत्यनाथी पन्थ—भारत में पुरी भेवा, थानेश्वर, करनाल, पाताल भुवनेश्वर (उड़ीसा), श्रीनगर, देवगढ़, मेवाड़ तथा गढ़वाल इस पन्थ के प्रमुख क्षेत्र हैं।[२] इस पन्थ के प्रवर्तक सत्यनाथ हैं।[३] गढ़वाल में सत्यनाथ का मन्दिर १६वीं शताब्दी के पूर्व का है।

रामनाथ पन्थ—इस पन्थ के योगियों का प्रधान मठ दिल्ली, गोरखपुर चौक और दक्षिण भारत में है। इसके अन्य प्रमुख क्षेत्र चौक तप्पे, जोधपुर है।[४] सूर्यवंशी रामचन्द्र इस पन्थ के प्रवर्तक हैं जिन्होंने गोरखनाथ से वर प्राप्त कर उत्तर में गोरखपुर में गोरक्षनाथ मठ की स्थापना की और दक्षिण में रामनाथ नाम से मठ बनवाये जो आज भी है। गोरखपुर में दशहरे का बहुत बड़ा उत्सव होता है।[५]

धरमनाथ पन्थ—इस पथ के प्रवर्तक धर्मराज युधिष्ठिर हैं और इस पन्थ का प्रमुख केन्द्र गोदावरी है।[६] इसके अलावा दुल्लुदेलक (नेपाल)[७], धिणोधरमठ (कच्छ)[८] भी इसके प्रमुख केन्द्र हैं।

लक्ष्मणनाथ पन्थ—इस पन्थ के प्रमुख क्षेत्र गोरखनाथ टिल्ला, अमृतसर[९], झेलम(पंजाब)[१०], पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान), अम्बाला, करनाल[११] हैं। इस पन्थ के प्रवर्तक लक्ष्मणनाथ हैं।

दरपानाथ पन्थ—इस पन्थ को दरिणापन्थ भी कहा गया है। इस पन्थ के प्रवर्तक गोरखनाथ हैं। इसके मुख्य क्षेत्र पंजाब, सिन्ध, मकन्द, कोडाष्ट, क्वेटा, गोरखपुर है। इस पन्थ के अनुयायी हिन्दू-

मुसलमान दोनों हैं।[१२] इस पन्थ का मुख्य स्थान सिन्ध (पाकिस्तान) में है।

गंगानाथ पन्थ—इस पन्थ के प्रवर्तक गंगानाथ हैं।[१३] इसके मुख्य स्थान जखवार गुरुदासपुर पंजाब है।[१४] इस पन्थ के मूल प्रवर्तक भीष्म पितामह हैं।

वैराग पन्थ—इस पन्थ के मूल प्रवर्तक भर्तृहरि हैं।[१५] इस पन्थ के प्रमुख स्थानों में दतढोंडा, पुष्कर-अजमेर, काबुल[१६], जलालाबाद (अफगानिस्तान), सरगोंधा (पंजाब), अम्बाला, नाभा, रतनढोंड, मालवा हैं।[१७]

नागनाथ पन्थ—यह पन्थ रावलपन्थ के नाम से भी जाना जाता है। इस पन्थ के प्रमुख क्षेत्र पेशावर, रावलपिण्डी[१८] (पाकिस्तान), हजारा (अफगानिस्तान), पंजाब, मालवा, बोहर-रोहतक (हरियाणा), हैदराबाद (आन्ध्रप्रदेश) हैं। इस पन्थ के प्रवर्तक चौरंगीनाथ (पूरन भगत) हैं।[१९]

जालन्धरिया पन्थ—इस पन्थ के मूल प्रवर्तक गोपीचन्द, गोरखनाथ तिब्बती (सिद्ध) हैं। इस पन्थ के मुख्य स्थान पंजाब, उत्तर प्रदेश[२०], जोधपुर[२१], अम्बाला, दिल्ली, जयपुर[२२] हैं।

आईपन्थ—इस पन्थ की प्रवर्तक विमला देवी[२३], चोलीनाथ हैं। इस पन्थ के मुख्य स्थान जोगी गुफा, गोरखकुई, बंगाल का दिनाजपुर जिला,[२४] टकसाल गेट लाहौर (पाकिस्तान), अमृतसर, अम्बाला जिला में लादवा के पास गूगा, रोहतक, पूर्व बंगाल (बांग्लादेश) है। हरद्वार इस पन्थ का प्रमुख स्थान है।

कपिलानी पन्थ[२५]—इस पन्थ के प्रवर्तक कपिल मुनि हैं। इस पन्थ के प्रमुख क्षेत्र गंगासागर, बंगाल, दमदम (कलकत्ता), पंजाब है। अजयपाल भी बाद में इस पन्थ के प्रवर्तक हुए।

धजनाथ पन्थ[२६]—इस पन्थ के मूल प्रवर्तक महावीर (हनुमानजी) हैं। इस पन्थ के प्रमुख स्थान पेशावर, अम्बाला, सिलोन, टिल्ला, मुल्तान, अफगानिस्तान हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तत्कालीन समय में नाथपन्थ की विभिन्न शाखाओं, उपशाखाओं का तेजी के साथ विकास हुआ। उनके द्वारा नाना तीर्थस्थलों को अपनाया गया तथा जगह-जगह नाथ मन्दिर तथा मठों की स्थापना की गयी जो आज भी विद्यमान हैं।[२७]

डॉ. एस.पी. चन्दोला ने भारत में यत्र-तत्र विद्यमान नाथों के प्रमुख क्षेत्र जालौर, सौगन्धिक पर्वत, गिरनार, गोरखभण्डी, जूनागढ़, प्रभास, धीणोधर, कच्छ, राणा और कन्यकोटग्राम, कच्छेली, दुमच, हिंगलाज, कद्रीमठ, मेंगलौर, मैसूर इल्वल षोड़शामण्डली ग्राम मेंगलोर, चुचुनागिरि, गोरखडिब्बी, सुनारी भैरव, आभीर मठ, कुशावर्त, चौपड़ा, अचलपुर, पंचवटी नासिक क्षेत्र, इशारा पर्वत और शुक्रतीर्थ, हांडीभडण्ग, बेलगाँव, हैदराबाद दक्षिण, चित्तौड़, उदयपुर, नेवाली, शेखावटी, गोरखपुर, चतुर्मुखग्राम, तुलसीपुर, काशी, हरिहर क्षेत्र और फाल्गुनतीर्थ, वैद्यनाथ, विशालक महानाद-गौरवशी आदि बंग देश में, महानाद हुगली जिले में, कलकत्ते में दमदम के पास, सिद्धकुण्ड और पुरुषोत्तम वन उड़ीसा में, कामाख्या (असम), नागदेश के आंकारेश्वर वर्मा की सीमा पर, नेपाल में काठमाण्डू, हरिद्वार, श्रीनगर, देवलगढ़, नागनाथ हरियाणा क्षेत्र, मुण्डाल, सरगोदा (पंजाब), गोरियापीठ, जखवा (चम्बा), ज्वालामुखी, धुँआरायी, शमशेरगाह खुरासान, काबुल, जलालाबाद, पेशावर, अटक, कटासराज, मखडड, कुरुक्षेत्र, कटिहार, फरीदाबाद, सुल्तानपुर, अहमदाबाद, उज्जैन, नासिक, पाहथुन्नी (बम्बई), मद्रास, आगरा, बीकानेर, जम्मू, ग्वालियर, बगुडा,

मेदिनीपुर, बर्दवान (बंगाल), सिक्किम क्षेत्र आदि शामिल हैं।[२८] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाथपन्थ द्वारा स्थापित मठ, मन्दिर वर्तमान समय में भी सर्वत्र अपना आलोक बिखेर रहे हैं।

गुरु गोरक्षनाथ के सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति के काल में विभिन्न धार्मिक पन्थों, मतों, सिद्धों, सिद्धान्तों, साधना मार्गों का प्रचलन था। गुरु गोरक्षनाथ ने अपने समकालीन सभी धार्मिक मार्गों, सिद्धान्तों को अपने गोरखपन्थ में समाहित कर सम्पूर्ण भारत में गोरक्ष मठ, मन्दिर, गुहा आदि की स्थापना करके भारत के राष्ट्रीय एकीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। भारतीय साधना पद्धति में नाथपन्थ की एक वेगवती प्रबल धारा प्रवहमान थी जो अखण्ड रूप से कई शताब्दियों तक बहती रही और आज भी उसका प्रवाह सम्पूर्ण भारत और भारत की सीमाओं से दूर विशेषकर नेपाल, तिब्बत आदि को प्रभावित किये हुए है। गोरखनाथ ने परवर्ती काल की विभिन्न साधना पद्धतियों, साहित्य की धाराओं (सगुण-निर्गुण), सन्तों, साधुओं, कवियों तथा राजा-महाराजाओं को प्रभावित किया।

एक जनश्रुति प्रचलित है कि मुगल शासक बाबर भी नाथ सिद्धों की अलौकिक यौगिक क्रियाओं, दार्शनिक सिद्धान्तों तथा योग साधना की ख्याति सूफी सन्तों के माध्यम से सुनकर प्रभावित हुआ। उन दिनों गोरखतारी नाथपन्थी साधना का प्रसिद्ध केन्द्र था। बादशाह बाबर स्वयं उस मठ का दर्शन करने गया जिसका उल्लेख 'बाबरनामा' में किया गया है।[२९]

गुरु गोरक्षनाथ के उत्साह, धर्म पराक्रम एवं शील ने भारत की अखण्डता का जो प्रयास किया वह आदि शंकराचार्य से भी विस्तृत था। नाथपन्थी साहित्य तथा उसकी शाखा एवं उपशाखाओं के साक्ष्य भारत ही नहीं नेपाल आदि देशों में भी बिखरे पड़े हैं। यद्यपि गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर से नाथपन्थ से सम्बन्धित 'योगवाणी' नामक पत्रिका प्रकाशित करके गोरखनाथ के सम्बन्ध को नेपाल के राजगुरु योगी नरहरिनाथ शास्त्री ने गोरक्षग्रन्थमाला के अन्तर्गत काशी योग प्रचारिणी गोरक्षटिल्ला, मन्दाकिनी काशी से लगभग १०० (एक सौ) ग्रन्थों को प्रकाशित किया जिससे नाथपन्थ तथा गुरु गोरक्षनाथ द्वारा किये गये राष्ट्रीय एकता का विपुल साहित्य सम्वर्धित हो रहा है। तथापि गुरु गोरक्षनाथ द्वारा राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का जो कार्य किया गया उससे सम्बन्धित साहित्य का सृजन अभी शेष है।

सन्दर्भ :

१. नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
२. नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
३. नाथ सम्प्रदाय और साहित्य—डॉ. वेद प्रकाश जुनेजा, पृ. २४-२५
४. तत्रैव
५. नाथपन्थ—डॉ. शान्ति प्रसाद चन्दोला, पृ. ६४
६. गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज—ब्रिग्स, पृ. ६४
७. नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
८. नाथपन्थ—डॉ. शान्ति प्रसाद चन्दोला, पृ. ६४
९. गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज—ब्रिग्स, पृ. ६४

१०. नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
११. नाथ सम्प्रदाय और साहित्य—डॉ. वेद प्रकाश जुनेजा, पृ. २५-२६
१२. गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज—ब्रिग्स, पृ. ६५
१३. तत्रैव
१४. नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
१५. तत्रैव
१६. नाथपन्थ—डॉ. शान्ति प्रसाद चन्दोला, पृ. ६५
१७. नाथ सम्प्रदाय और साहित्य—डॉ. वेद प्रकाश जुनेजा, पृ. २६-२७
१८. नाथपन्थ—डॉ. शान्ति प्रसाद चन्दोला, पृ. ६५
१९. नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
२०. गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज—ब्रिग्स, पृ. ६७
२१. नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
२२. नाथ सम्प्रदाय और साहित्य—डॉ. वेद प्रकाश जुनेजा, पृ. २८
२३. गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज—ब्रिग्स, पृ. ६८
२४. नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
२५. (अ) गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज—ब्रिग्स, पृ. ६८
(ब) नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
(स) नाथपन्थ—डॉ. शान्ति प्रसाद चन्दोला, पृ. ६५
(द) नाथ सम्प्रदाय और साहित्य—डॉ. वेद प्रकाश जुनेजा, पृ. २९
२६. (अ) गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज—ब्रिग्स, पृ. ६८-६९
(ब) नाथपन्थ—डॉ. शान्ति प्रसाद चन्दोला, पृ. ६५
(स) नाथ सम्प्रदाय और साहित्य—डॉ. वेद प्रकाश जुनेजा, पृ. २९
(द) नाथ सम्प्रदाय—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १२
२७. गोरक्ष दर्शन—विजय पाल सिंह, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, पृ. ४५
२८. नाथपन्थ—डॉ. शान्ति प्रसाद चन्दोला, पृ. ८६ से १०१
२९. योगवाणी, ना.यो.सा.वि.-पृ. ५६।

□

दक्षिण भारत में नाथपन्थ का प्रसार

—राखी रावत

भारतीय दर्शन एवं चिन्तन परम्परा में योग का प्रारम्भ आदि काल से है जिसमें नाथ परम्परा का हठयोग प्रमुख माना जाता है। उत्तर भारत में ही नाथ परम्परा का विकास और विस्तार नहीं हुआ वरन् दक्षिण भारत की विभिन्न भाषाओं में नाथ साहित्य का सृजन किया गया। प्रादेशिक भाषाओं में हिन्दी में जो नाथ साहित्य लिखा गया है उसमें सबसे पहली प्रवृत्ति जो भारतीय वाङ्मय में प्राय: सर्वत्र समान मिलती है, वह नाथ साहित्य है। दो-चार को छोड़कर प्राय: सभी भाषाओं के प्रारम्भिक साहित्य के विकास में नाथपन्थी तथा शैव साधुओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वभावत: नाथ साहित्य का सृजन दक्षिण में उत्तरी और पूर्वी भारत की अपेक्षा कम हुआ। दक्षिण में शैव धर्म का तो अत्यधिक प्रचार था, किन्तु वहाँ के कवि शैव-योगियों की अपेक्षा शिवभक्त ही अधिक थे। शैव दर्शन से प्रभावित तान्त्रिक साधनाओं का प्रचार वहाँ नहीं था वरन् शिव सगुण भक्ति ही प्रमुख थी। तमिल के नायनार, तेलुगु के पाल्कुरिकि तथा उनके परवर्ती कवि, कन्नड़ में वीरशैववाद के उन्नायक, वसवेश्वर आदि उत्तर भारत के नाथ और सिद्ध कवियों से मूलत: भिन्न थे। दक्षिणात्य कवि शुद्ध भक्त कवि थे, उत्तर और पूर्व के सिद्ध और नाथ कवि योगी और तान्त्रिक साधक थे, फिर भी नाथ प्रभाव दक्षिण तक पहुँच गया था। नवनाथ चरित्रम् (तेलुगु) आदि कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। मराठी और बंगला में नाथ-साहित्य की विशिष्ट धारा प्रवाहित हुई। मराठी में तो स्वयं गोरक्षनाथ की ही वाणी मिलती है जिसका नाम है 'अमरनाथ सनवड'—इस वर्ग में दूसरा प्रसिद्ध नाम है गैनीनाथ का।

नाथपन्थ की एक शाखा महानुभाव सम्प्रदाय के नाम से जानी जाती है जिसका प्रभाव दक्षिण भारत के मराठी क्षेत्र में अधिक था। महानुभाव सम्प्रदाय के लेखक मराठी में गद्य और पद्य साहित्य की विशाल निधि छोड़ गये। उन्होंने जानबूझकर संस्कृत का त्याग किया क्योंकि उनका धर्म जन-समुदाय का धर्म था। जब केशोबा ने अपने स्वामी का उपदेश संस्कृत में पद्यबद्ध करना चाहा तो नागदेव ने उनसे कहा—"केशव, ऐसा न करो। अन्यथा मेरे स्वामी के सामान्य भक्त उनके उपदेशों से वंचित रह जाएँगे।"—"नकोगा केशवा देय येबों माझिए स्वामीचा परिवारूनागवैल की।"

महानुभाव सम्प्रदाय के अनुयायी भगवान् श्रीकृष्ण, दत्तात्रेय और सम्प्रदाय के चक्रधर आदि तीन संस्थापकों की पूजा करते थे। उनके पवित्र ग्रन्थ हैं—लीला चरित्र (चक्रधर की जीवन-कथा) और गोविन्द प्रभु-चरित्र। इन दोनों ग्रन्थों की रचना म्हाइभट ने की थी। 'लीला चरित्र' १२८६ ई. के लगभग लिखा गया था। यह ग्रन्थ स्वामी-भक्ति से ओत-प्रोत है और इसमें चक्रधर की यात्राओं, सूक्तियों, दृष्टान्तों, उपदेशों और दैनिक जीवन-चर्याओं का उल्लेख है। केशोबा द्वारा संगृहीत 'सिद्धान्त-सूत्र' उसी प्रकार का ग्रन्थ है। दोनों ग्रन्थ सरल और स्पष्ट गद्य में हैं। चक्रधर ने स्वयं एक पंक्ति भी नहीं लिखी। परन्तु उनके भाषण की शुद्ध और स्पष्ट शैली को उनके शिष्यों ने यथावत सुरक्षित रखा है। जहाँ कहीं वह चाहते अपने दार्शनिक तत्त्वों का प्रकाशन दृष्टान्तों अथवा दृष्टान्त-कथाओं से करते थे। उन गुरु-वचनों का समावेश म्हाइभट के 'लीला-चरित्र' में और केशोबा के सूत्रपाठ और उत्तराधिकारी नागदेव और अन्य अनेक शिष्यों के वचनों का संग्रह 'स्मृतिस्थल' में है।

महानुभाव कवियों की पद्यात्मक रचनाएँ सात विशाल काव्यों के रूप में हैं। ये काव्य ओवी छन्दों में लिखे गये हैं जिनकी संख्या सैकड़ों में है। बच्छ-हरण, रुक्मिणी-स्वयंवर, शिशुपाल-वध और उद्धवगीता कृष्ण-चरित्र से सम्बन्धित हैं। उद्धवगीता और ज्ञान प्रबोध दार्शनिक ग्रन्थ हैं। सह्याद्रिवर्णन और रिधिपुर-वर्णन में महानुभाव के निवास-भूमि और उनके पवित्र स्थानों के वर्णन हैं। उनमें सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरुओं की स्मृतियों के सभी भावपूर्ण वर्णन हैं। भहदायिसा नामक शिष्या ने पृथक छन्द का प्रयोग किया है; वह है 'धवल' जो एक प्रकार का गीत है। ये धवल भक्ति-भाव से ओत-प्रोत हैं। उनमें रुक्मिणी-स्वयंवर का आख्यान है।

महानुभाव-साहित्य में अभी शोध की अपेक्षा है। मराठी के कुछ विद्वानों में इस साहित्य के विषय में अनेक मतभेद भी हैं। मराठी के कुछ विद्वानों ने इस साहित्य को पढ़े जाने के लिए वर्षों अध्ययन और श्रम किया है। सनातनी हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक बहिष्कार के भय से परवर्ती महानुभावों ने अपने साहित्य को कूटलिपि में लिपिबद्ध कर लिया था। इसी कारण वह साहित्य इतने काल तक अज्ञात रहा। पर इस कूटलिपि और महानुभावों की भक्ति भावना को ही इस साहित्य के विशुद्ध रूप में सुरक्षित रखने का श्रेय है। मराठी के विद्वान् इस कूटलिपि को पढ़ रहे हैं और उन रचनाओं का काल निर्धारण कर रहे हैं। और तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक जीवन विषयक सामग्री का तथा दार्शनिक विचारधारा का उन ग्रन्थों में से संग्रह कर रहे हैं।

□

नाथ परम्परा और गोरखनाथजी

—रत्ना सिंह

नाथयोग-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक परमाचार्य श्रीगोरखनाथ का नाम भारतवर्ष के सन्तों, सम्प्रदायकृत आचार्यों की सुदीर्घकालीन परम्परा में महत्त्वपूर्ण है। गोरखनाथ के आविर्भाव से नाथ परम्परा, आध्यात्मिक साधना एवं दर्शन के क्षेत्र के साथ ही सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश में क्रान्तिकारी परिवर्तन का जो श्रीगणेश हुआ उसका प्रभाव और स्वरूप देश और काल की सीमाओं को लाँघकर सारे भारतवर्ष में और इसके बाहर देखा जा सकता है। आदिनाथ द्वारा प्रकटीकृत और मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतरित सिद्धमत, अवधूतमत एवं योगमत को प्रतिष्ठित और लोक प्रतिष्ठित करने का श्रेय नाथ परम्परा में शिवावतार के रूप में प्रसिद्ध गोरखनाथजी के अनुपम लोकसंग्रही और अद्‌भुत व्यक्तित्व-कृतित्व को ही है।[1]

गोरखनाथजी ने अपने चरित्र और चिन्तन से न केवल अपने पूर्ववर्ती मत्स्येन्द्रनाथ तथा जालन्धरनाथ के कौल और कापालिक मतों का ही सारसंग्रह किया अपितु अतीत की अज्ञात कालकला से अपने आविर्भाव काल तक प्रचलित नाना आध्यात्मिक साधनाओं तथा योग पद्धतियों को जिनमें वैदिक परम्परा के अतिरिक्त श्रमण-परम्परा के सिद्धों, तान्त्रिकों और विशेषकर वज्रयानियों के मतों का भी उल्लेख एवं स्मरण अत्यन्त आवश्यक समझते हुए उन्हें सम्परीक्षित तथा परिष्कृत कर लोकमंगलकारी रूप में सभी वर्णों, जातियों और सम्प्रदायों के लिए उपस्थित कर दिया। फलस्वरूप अपनी योग्यता के अनुरूप सभी को आध्यात्मिक उत्थान का दिव्य जीवन में प्रवेश का निर्विशेष रूप में सुअवसर मिला और ध्यानी-ज्ञानी से लेकर पामर प्राणी तक गोरखनाथ से तथा नाथ परम्परा से सुपरिचित हो गया।[2]

क्रान्तिदर्शी मनीषी गोरखनाथ के जन्म-स्थान, स्थिति काल, कुल-वंशादि के विषय में अद्यावधि इदमित्थं रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। नाथ सम्प्रदाय में एक नित्य सिद्धकाय, अमर योगी के रूप में उनकी ख्याति है, जो चारों युगों में विद्यमान रहे हैं और इच्छानुसार जब जहाँ चाहते हैं प्रकट होते हैं। एक पथिक मान्यता के अनुसार गोरक्षनाथ सतयुग में आधुनिक पेशावर नामक स्थान में, त्रेतायुग में आधुनिक गोरखपुर में, द्वापर में द्वारिका से भी आगे हरभुज में और कलयुग में आधुनिक काठियावाड़ में आविर्भूत हुए थे। बंगीय परम्परा का विश्वास है कि वे बंगभूमि में ही उत्पन्न हुए थे। नेपाली और पंजाबी

परम्परा उन्हें मूलतः पंजाब का मानती है। मेवाड़ी इतिवृत्त के अनुसार उन्होंने चित्रकूट (चित्तौड़) में गुहिल राजवंश के संस्थापक बाप्पा रावल (आठवीं शताब्दी ई.) को प्रसन्न होकर एक दिग्विजयी खड्ग प्रदान किया था। योगिसम्प्रदायाविष्कृति ग्रन्थ के अनुसार वे गोदावरी के किनारे चन्द्र नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। गोस्वामी यदुनाथरचित वल्लभ दिग्विजय ग्रन्थ में (सत्रहवीं शताब्दी ई.) रैवतक पर्वत पर श्रीवल्लभाचार्य द्वारा सिद्धों को गोरक्षनाथजी का दर्शन कराने का उल्लेख है। वहीं नेपाल के वर्तमान शाहवंश के संस्थापक महाराज पृथ्वी नारायण शाह (अठारहवीं शताब्दी ई.) को गोरक्षनाथजी के आशीर्वाद से राज्य लाभ वृतान्त महत्त्वपूर्ण है। नेपाल दरबार पुस्तकालय में प्राप्त एक ग्रन्थ 'गोरक्ष सहस्रनाम स्तोत्र' में गोरखनाथजी की उत्पत्ति महामन्त्र के प्रसाद से दक्षिण दिशा में किसी बड़व नामक स्थान पर बताया गया है। नेपाल का गोरखा नामक स्थान, वहाँ की वीर गोरखा जाति, नेपाल के राजमुकुट में गुरु गोरखनाथ की पादुका का चिह्न नेपाल की राजमुद्रा में अंकित गोरक्षनाथ उस महायोगी की कृपा का जीवन्त स्मारक है। विभिन्न साहित्यों, विद्वानों एवं परम्पराओं में उनकी स्थिति, काल सर्वविदित है। स्पष्टतः कुछ भी कह पाना निश्चित नहीं है। ऐसी स्थिति में इस महान् योगी के सम्बन्ध में यदि लोकदृष्टि से कुछ कहना है तो यही कहना उचित होगा कि वे जब भी आविर्भूत हुए हों, भारत में ही आविर्भूत हुए हैं। वे श्रीमत्स्येन्द्रनाथजी के शिष्य हैं, स्वयंसिद्धकाय शैव योगी हैं और उन्होंने देश के प्रायः सभी भागों में भ्रमण कर लोकोपकारी उपदेश दिया है।[३]

गोरखनाथ की रचना के रूप में संस्कृत तथा हिन्दी में कई रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनकी बहुत सी रचनाओं का उल्लेख ब्रिग्स, फर्कुहर, आफ्रेक्ट तथा पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल प्रभृति विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में किया है। संस्कृत में उनके नाम से प्रसिद्ध अट्ठाइस रचनाओं में अमरौध शासन, गोरक्षसंहिता, महार्थमञ्जरी, सिद्धसिद्धान्त पद्धति तथा सिद्धसिद्धान्त संग्रह का शास्त्रीय विचार की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। हिन्दी में गोरखनाथ कृत प्रसिद्ध चालीस रचनाओं में कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं का संग्रह बड़थ्वाल ने गोरखवाणी नाम से प्रकाशित कराया है।[४] प्रामाणिकता और प्राचीनता की दृष्टि से हिन्दी ग्रन्थों की अपेक्षा संस्कृत ग्रन्थों का ही अधिक महत्त्व है; इसके दो मुख्य कारण हैं—एक तो यह कि—संस्कृत की रचनाओं में नाथपन्थी दर्शन और साधना पर शास्त्रीय शैली और परम्परा के अनुसार पर्याप्त विचार हुआ, जबकि हिन्दी या अन्य प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित गोरखबानियों में सामान्य जनों के लिए बोधगम्य नैतिक उपदेश पर ही अधिक बल है। सिद्धान्त पक्ष का यत्र-तत्र संकेत तो हुआ है किन्तु उस यत्किंचित उल्लेख में पन्थ में स्वरूप और दर्शन को सम्यकतया समझना सम्भव नहीं है। दूसरा कारण यह है कि संस्कृत रचनाओं की तुलना में हिन्दी या अन्य प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित तथा उपलब्ध गोरखबानियों में नाथ सम्प्रदाय का अवान्तरकालीन विकास भी जुड़ गया है। निश्चय ही तत्-तत् ग्रन्थों में नाथयोगी-परम्परा के साधु-सन्तों के विचार और अनुभव भी गोरखनाथजी के नाम से संग्रहीत हो गये हैं। क्योंकि भाषा-विज्ञान तथा तत्त्वविचार की दृष्टि से उनमें ऐसी बहुत सी बातें भी मिलती हैं जो गोरखनाथजी की कृति के रूप में प्रसिद्ध अन्य अपेक्षाकृत प्राचीन रचनाओं में नहीं हैं।[५]

सिद्धिदायी, सिद्धसेवित योगोपदेश संयम और सदाचार पर आधारित नियम गोरखनाथजी के प्रमुख

सन्देश रहे हैं। योगसाधना में सात्त्विकता और नैतिकता के समावेश के साथ ही लोकजीवन में संयम और सदाचार की स्थापना करना भी उनके लोकमंगलकारी चरित्र और चिन्तन का श्रेयस्कर प्रयोजन था। इसलिए उन्होंने पंचमकार की तत्कालीन पाखण्ड-साधना में लीन वाम-मार्गियों के प्रभाव से योग का उद्धार किया और इतने अंश में सदाचारमयी श्रुति-स्मृति परम्परा का आदर किया, वहीं श्रौत और स्मार्ताचार की कई कालातीत रुढ़ियों को भी तोड़कर सिद्ध परम्परा के अनुरूप सभी वर्णों एवं आश्रमों के लोगों के लिए आध्यात्मिक मुक्ति का द्वार खोल दिया। इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। उपेक्षित तथा हीन जातियों के लोगों ने बड़ी संख्या में इसे अपनाया, जाने कितने रूपाचार्य भी सिद्ध बनकर समाज के मार्गदर्शक हुए।[६]

अत: स्पष्टत: कहा जा सकता है कि नाथ परम्परा और गोरखनाथजी का योगोपदेश सामाजिक न्याय, समता और क्रान्तिकारी आन्दोलन से परिपूर्ण रहा है, जिससे बौद्धिक, अवैदिक ब्राह्मण-अब्राह्मण एवं हिन्दू-अहिन्दू सभी धाराओं के लोगों ने प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. गोरक्ष पद्धति—अनुवादक—महीधवर शर्मा, प्रकाशक एवं मुद्रक-खेमराज श्रीकृष्णदास, अध्यक्ष-श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, ७ वी खेंतवाड़ी, बम्बई, समय सम्वत् २०२४ तप्पा, गोरखनाथ मन्दिर का प्रथम संस्करण, २०४१ वि.।
२. गोरक्ष स्मृतिमञ्जरी—प्रकाशक—अवेद्यनहरि नाथौ वि.स. २००७, गोरक्षग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प।
३. वही, गोरक्षशतक—गोरक्षनाथ प्रणीत, प्रकाशक—गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, संस्करण १, सं.२०३८।
४. नाथ और सन्त साहित्य (तुलनात्मक अध्ययन)—डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण १, वर्ष १९६५ ई.।
५. नाथ सम्प्रदाय और साहित्य—डॉ. वेद प्रकाश जुनेजा, गोरखनाथ मन्दिर।
६. वही।

□

नाथपन्थ के प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ

—हरेन्द्र कुमार

'नाथ' शब्द अति प्राचीन है। अनेक अर्थों में इसका प्रयोग वैदिक काल से ही होता आया है। ऋग्वेद के दशम् मण्डल के सूक्त १३० में नाथ शब्द का प्रयोग सृष्टिकर्ता, ज्ञाता तथा सृष्टि के निमित्त रूप किया गया है।[१]

नाथपन्थ के आदि संस्थापक आदिनाथ (शंकर) माने जाते हैं, पर व्यक्ति रूप में इस परम्परा के प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ माने जाते हैं। बहुत से ग्रन्थों में इनके विविध नामों का उल्लेख मिलता है। नेपाल में इन्हें अवलोकितेश्वर के नाम से भी पूजा जाता है। नेपाल के एक शिलालेख (लिपि काल १६७२ ई.) से वर्णित है कि श्रेष्ठयोगी लोग उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं। शक्ति के उपासक उन्हें शक्तिनाथ कहते हैं। बौद्ध लोग उन्हें लोकेश्वर नाम से सम्बोधित करते हैं जो स्वरूपत: ब्रह्मा हैं, उस पुरुष की जय हो।[२] जनार्दन पाण्डेयजी इस बात की सम्भावना व्यक्त करते हैं कि कदली देश में माया के वशीभूत मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार कर उनके शिष्य गोरखनाथ उन्हें नेपाल लाये थे। नेपाल में अवलोकित होने के कारण उन्हें अवलोकितेश्वरनाथ से सम्बोधित किया जाता है।[३] मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु रूप में स्वीकार किये गये हैं। इस तथ्य की पुष्टि में बहुत से उल्लेख प्राप्त होते हैं। नेपाल का 'वज्रयोगिनी शिलालेख' भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है।[४]

गोरक्षनाथ की तरह मत्स्येन्द्रनाथ के व्यक्तित्व को भी परवर्तीकाल में दिव्य और मानवी दो-दृष्टिकोणों से देखने का प्रयास किया गया। दिव्यरूप में उन्हें शिवावतार कहा गया, चारों युगों में उनके वर्तमान रहने एवं सप्तशृंग पर शिव से महाज्ञान प्राप्त करने का प्रसंग निरूपित किया गया। उन्हें भगवती पुत्र कहकर सिद्धनाथ की संज्ञा से अभिहित किया गया।[५] कदली-मंजुनाथ माहात्म्य के १४वें, १५वें अध्याय में कहा गया है कि अध्यात्मनिधि नामक ब्राह्मण दम्पति की आराधना से प्रसन्न होकर मंजुनाथ ने स्वयं को शिशु रूप में कमल-पुष्प पर अवतरित किया।[६]

व्यक्ति रूप में भी मत्स्येन्द्रनाथजी के जन्म व कर्म के सम्बन्ध में विभिन्न मत मिलते हैं। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने इन्हें आसाम (असम) निवासी मछुआ जाति का होना बताया।[७] नाथलीलामृत नाम

मराठी पुराण ग्रन्थ में मत्स्येन्द्र को मल्ला देशवासी कहा गया है। कदली मंजुनाथ माहात्म्य के अनुसार वे दक्षिण के 'तुलु' भाषी राज्य के राजा थे तथा मंगला नामक उनकी कोई राजनगरी थी।[८]

डॉ. प्रबोध बागची ने मत्स्येन्द्रनाथ की संस्कृत रचनाओं का वैज्ञानिक सम्पादन कौलज्ञान निर्णय नामक संग्रह ग्रन्थ के रूप में किया है। इसमें प्रयुक्त हस्तलेखों का समय भी १२वीं शताब्दी है। डॉ. बागची द्वारा सम्पादित मत्स्येन्द्रनाथ की रचनाओं—कौलज्ञान निर्णय, अकुलवीरतन्त्र-ए, अकुलवीरतन्त्र-बी, 'कुलानन्द व ज्ञान कारिका' में ग्रन्थकर्ता के नाम भी डॉ. जोशी की पुस्तक में दिये गये हैं।[९]

सन्दर्भ :

१. सिद्धनाथ संहिता विवेक सागर, भाग-१, पृ. ११।
२. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना-प्रणाली, कल्याणी मलिक, पृ. ३२, ३४।
३. गोरक्ष संहिता प्रथम भाग—भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी, पृ.ग।
४. आदिनाथो गुरुर्पस्य गोरक्षस्य च यो गुरु।
५. गोरख विशेषांक—वर्ष २, जनवरी-७७, अंक-१, पृ. ९१-९५।
६. कदली मंजुनाथ माहात्म्य, पृ. ६३-८३-११९।
७. हिन्दी साहित्य—डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ. १३४-३५।
८. महाराष्ट्र के नाथपन्थीय कवियों का हिन्दी काव्य—डॉ. अ.प्र. का मत, पृ. ७८-७९।
९. नाथ सम्प्रदाय-उदय व विस्तार—डॉ. प्र.न.जोशी, पृ. २६५।

□

तन्त्र-साधना में नाथपन्थ का योगदान

—भगवान सिंह

जगत् में जो कुछ है वह परमार्थत: कैसा है? इस पर कभी भी न एक राय रही है न ही हो सकती है। व्यक्ति जिनके बीच जन्मता-पलता है; वे इस संसार को क्या और कैसे समझते हैं, यह उसे संस्कार रूप में अन्य बहुत कुछ के साथ स्वत: मिल जाता है और व्यक्ति जगत् को उन्हीं परम्परा-प्राप्त संस्कारों के सहारे देखता-समझता है। जो कुछ उसे नया समझ आता है उसके लिए कभी वह पुरानी भाषा में नये अर्थ जोड़कर अभिव्यक्त करता है, तो कभी नई अर्थ-सम्पत्ति वाली भाषा को जन्म देकर; किन्तु हर हालत में पुरानी भाषा का सहारा उसे लेना ही पड़ता है।

सन्तों के धार्मिक-दार्शनिक शब्दों के अध्ययन से स्पष्ट होता है उनके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की सबसे बड़ी संख्या योग और तन्त्रों की पारिभाषिक शब्दों की है। अत: निश्चित है कि योग और तन्त्र सन्तों की दार्शनिक विचार परम्परा के घने भाव से सम्बद्ध हैं। सन्तों की वाणियों, सबदियों और साखियों से प्रकट है कि वेदान्त, बौद्ध, जैन तथा इसलामी-सूफी साधना एवं साहित्य की अपेक्षा 'अनपढ़' या (लगभग अनपढ़) सन्त, योग और तन्त्रों की साधना तथा साहित्य से अधिक परिचित हैं और उनकी एक-एक अच्छाई-बुराई को अधिक सलीके से उद्घाटित कर सके हैं। अस्तु, सन्तों के मानसिक परिवेश के निर्माण में तान्त्रिक योग-साधना का काफी योगदान रहा है।

आर्यावर्त में प्राचीन काल से (तपस्वियों) तपप्रवण गुप्त-योग साधना की लम्बी परम्परा रही है। ईस्वी सन् की शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के बीच इस गुह्य योग-साधना को बड़ी ही व्यापक स्वीकृति मिली है। शैव, शाक्त, वैष्णव एवं बौद्ध दर्शनों से आच्छादित होकर इसने क्रमश: शैव तन्त्र, शाक्त तन्त्र, वैष्णव तन्त्र को रूप दिया है। इससे सम्बद्ध सम्प्रदाय उसी गुह्य योग साधना पर आधृत है।

अपने-अपने प्रवर्तकों एवं अनुयायियों की दार्शनिक-धार्मिक दृष्टियों में भिन्नता होने पर भी उक्त योग-साधना मूलत: एक ही है। नाथ परम्परा से विकसित होने वाले विभिन्न सन्त-सम्प्रदायों का गुह्य योग-साधना से अत्यन्त ही गहन सम्बन्ध है।

उक्त विभिन्न हिन्दू एवं बौद्ध मतों के आचार एवं दर्शन की आधार भूमि एक है। ये सभी एक ऐसी

आदि सत्ता में विश्वास करते हैं जो दो संयोजक तत्त्वों वाली है। इन दो संयोजक तत्त्वों में से एक स्थिर, निवृत्ति मूलक और स्वस्थ है, और दूसरा गतिशील, प्रवृत्तिमूलक और परिवर्तमान; एक भोक्ता है दूसरी भोग्या; एक पुरुष है, दूसरी प्रकृति। अपने पारमार्थिक रूप में आदि सत्ता के उक्त दो तत्त्व अद्वैत की हालत में एकमेव रहते हैं यही सामरस्य की स्थिति है। जब उस अद्वैत सत्ता में सिसृक्षा का उद्रेक होता है तो उनका द्वैत स्फुट हो जाता है। यह द्वैत या द्वन्द्व ही सभी दुःखों का कारण है। इनका अद्वैत या सामरस्य सभी दुःखों का विनाश करके महासुख, निर्वाण या मुक्ति का विधान करता है। संसार द्वैत से उद्भूत है, संसार के सभी दुःख इसी द्वैत के कारण हैं। यदि इस द्वैत को मिटा दिया जाए तो सारे दुःख-द्वन्द्व स्वयं मिट जाते हैं। सामरस्य से, अद्वय से, मैथुन से, युगनद्ध से, यामल, युगल या सहज समाधि से। सभी यौगिक तन्त्र इस दृष्टि से एक हैं। अपने-अपने आस्था-विश्वासों या विचार-परम्पराओं के कारण इसी मूल सत्य को इन तन्त्रों में बहुधा विवेचित किया गया है—"एको सद्विप्राः बहुधा वदन्ति"।

हिन्दू तन्त्रों में इस आदि सत्ता को परशिव, परब्रह्म आदि नाम दिये गये हैं। परशिव के दो तत्त्व हैं—शिव और शक्ति। पुरुष और स्त्री उन्हीं तत्त्वों के आरोपलब्ध भौतिक रूप हैं। क्योंकि शिव और शक्ति हर पुरुष और स्त्री में सूक्ष्म रूप से अवस्थित हैं अतः जो ब्रह्माण्ड में हैं वही पिण्ड में भी है। ब्रह्माण्ड (१. विश्व ब्रह्माण्ड और २. शून्य चक्र या ऊष्णीय कमल) दोनों में व्याप्त पर शिव सामरस्य के लिए पिण्डस्थ शिव शक्ति का सामरस्य अनिवार्य है जो मानव शरीर के सहस्रारस्थ शिव और मूलाधारस्था कुण्डलिनी के सामरस्य द्वारा सम्भव है।

वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में परब्रह्म का भोक्ता श्री कष्ष्ण हैं और भोग्या रूप राधा। आरोप द्वारा हर भौतिक पुरुष और हर भौतिक स्त्री उसी आदि सत्ता के स्थूल भौतिक प्रतिरूप हैं। अतः स्त्री-पुरुष का लौकिक प्यार आध्यात्मिक प्रीति या भक्ति ही है। युगल (राधा-कृष्ण, स्त्री-पुरुष) का यह संयोग परमानन्द का अनुभावक है। यद्यपि वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में 'प्रेम' का यह तत्त्व नई उद्भावना है फिर भी शारीरिक-मानसिक संयम के रूप में योग की प्रमुखता स्वीकार की गयी है।

गुह्य-योग साधना में हर पिण्ड में स्त्रीतत्त्व और पुरुषतत्त्व का अधिष्ठान तो माना ही गया है साथ ही यह भी माना गया है कि स्त्रीतत्त्व शरीर के वामांग में और पुरुष तत्त्व दक्षिण अंग में अवस्थित है। शैव तन्त्रों में यही धारणा शिव के अर्धनारीश्वर रूप की कल्पना का आधार है। इस सिद्धान्त के अनुसार हर पिण्ड में दो तत्त्व स्थित हैं, लेकिन पुरुष तत्त्व के बलवत्तर होने पर पुरुष को और नारी तत्त्व के बलवत्तर होने पर नारी की भौतिक शारीरिक स्थिति सम्पन्न होती है। नारी और पुरुष तत्त्वों की क्रमशः वामांग और दक्षिणांग में स्थित मानने के कारण ही सुषुम्ना की बायीं ओर स्थित इड़ा स्त्री तत्त्व का प्रतीक है और दाहिनी ओर स्थित पिंगला पुरुषतत्त्व का। इसी प्रकार इड़ा-पिंगला मार्ग से प्रवाहित अपान भी क्रमशः स्त्रीत्व और पुरुष तत्त्व के प्रतीक हैं। अतः प्राण और अपान के प्रवाह को संयमित करके उन्हें सुषुम्ना मार्ग में संचरित करने और इस प्रकार उन्मनी अवस्थाओं को प्राप्त करने वाली हठयोगी साधना का दार्शनिक आधार भी वैष्णव बौद्ध तन्त्रों जैसा है।

नाथ सम्प्रदाय में भी आदि सत्ता-परशिव के दो तत्त्व स्वीकृत हैं—सूर्य और चन्द्र। सूर्य कालाग्नि या

नाशक तत्त्व है और चन्द्र अमृत निधि। अतः पोषक तत्त्व इन सूर्य और चन्द्र को हठयोगी साधना द्वारा मिलाकर अद्वैत स्थिति या परशिव से सामरस्य की प्राप्ति सम्भव है। सूर्य-चन्द्र के मेल से दिव्यदेह और अमरता प्राप्त हो सकती है। दिव्यदेह और अमरता की प्रस्तुति नाथ योगी कल्पना रसेश्वर साधना जैसी ही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि गोरक्ष सम्प्रदाय (की हठयोगी साधना) में रसेश्वर मत भी अन्तर्भुक्त है।

इड़ा और पिंगला को 'हठयोग प्रदीपिका' में सूर्य और चन्द्र नाड़ी कहा गया है। अतः प्राण और अपान के प्रवाह को इड़ा और पिंगला से हटाकर सुषुम्ना मार्ग से प्रवाहित करने वाले योग को भी हठयोग कहा गया है। इस प्रकार हठयोग कायसाधना को केन्द्र करके चलने वाला योग है। योग स्वरोदय में इसके दो भेदों का उल्लेख है। आसन, प्राणायाम, धौति, वास्ति आदि 'षट्कर्म' जिससे शरीर की नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। नाड़ी शुद्धि के बाद प्राण-अपान आदि पंच प्राणों का शमन सहज हो जाता है। यह प्रथम भेद है। दूसरे में छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य तथा पाँच व्योमों की जानकारी अनिवार्य है। गोरक्षनाथजी का कहना है कि जो इन्हें नहीं जानता वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। अतः हठयोग कायासाधना को केन्द्र करके चलता है। यही काया साधना योगी को उसकी परमकाम्य कैवल्य अवस्था वाली 'सहज समाधि' तक पहुँचाती है।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है कि विभिन्न सम्प्रदाय नाथ-परम्परा से विकसित हुए हैं, अतः यहाँ नाथ परम्परा और नाथ-मत के सम्बन्ध में थोड़े विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

योग में आस्था रखने वाले सम्प्रदायों में नाथ सम्प्रदाय काफी महत्त्वपूर्ण है। योग के द्वारा शरीर को अजर-अमर बनाकर 'नित्य' आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिए कायसाधना पर विशेष बल देने वाले इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध भारत में अतीव प्राचीन सिद्ध-सम्प्रदाय से कहीं-न-कहीं अवश्य है, क्योंकि नाथों की ही तरह सिद्धों का प्रधान लक्ष्य भी मृत्यु को अपवारित करके 'अमरता' प्राप्त करना ही है। 'सर्वदर्शन संग्रह' में अन्य भारतीय दर्शनों के साथ ही रसायन दर्शन को भी विवृत किया गया है। विद्वानों का अनुमान है कि सिद्ध सम्प्रदाय के सिद्धान्त एवं आचार मूलतः रसायन सम्प्रदाय के सिद्धान्ताचारों पर आधृत हैं।

हिन्दू तन्त्रों के अनुसार सम्पूर्ण जीव एवं जगत् की सृष्टि के मूल उपादान शिव और शक्ति हैं। बौद्ध तान्त्रिकों ने प्रज्ञा और उपाय को इन सबका कारण माना है। शिव और शक्ति तथा प्रज्ञा और उपाय एक ही प्रकार की सत्ताएँ हैं। हिन्दू तन्त्र शिव को योग का आदि प्रवर्तक या आदि उपदेष्टा मानते हैं। बौद्ध तन्त्र वज्रसत्व, हवज्र या हेरूक को। वज्रसत्त्व की बौद्ध तान्त्रिक कल्पना भी ठीक ही है जैसी हिन्दू तन्त्रों में शिव की है।

आगे चलकर विकसित होने वाले नाथों का विश्वास भी ठीक ऐसा ही है। वे मानते हैं कि नाथों में 'आदिनाथ' सर्वप्रथम हैं और योग के सम्पूर्ण रहस्यों को उन्होंने ही सबसे पहले उद्घाटित किया है। अपने रूप-गुण में हिन्दू तन्त्रों के शिव, बौद्ध तन्त्रों के वज्रसत्त्व और नाथों के आदिनाथ एक जैसे ही हैं। हिन्दू तन्त्रों में शिव और बौद्ध तन्त्रों में वज्रसत्व के लिए 'आदिनाथ' या 'भूतनाथ' जैसे विशेषणों का प्रयोग बहुत

Abhinandan Granth (Part-3) - Farm32 - SideB

बार किया गया है। हिन्दू तन्त्रों के अनुसार शिव ने करुणाशीला शक्ति को तन्त्रों का उपदेश किया था। अनेक बौद्ध प्रमुख भी बौद्ध तन्त्र में इसी तरह के वार्तालाप विधि को उपदिष्ट करते हैं। नाथ भी मानते हैं कि क्षीरोद सागर में जिस समय भगवान् शिव देवी पार्वती को अमरकथा का उपदेश कर रहे थे, प्रथम मानव गुरु मत्स्येन्द्र नाथ मछली के पेट में बैठे-बैठे सारे उपदेश को सुनते रहे थे और बाद में शिव जी द्वारा अनुगृहीत और उपदिष्ट होकर महासिद्ध हुए थे। सहजावस्था, सहज-समाधि और सहजशून्य की बौद्ध सहजिया व्याख्या और नाथों की तत्सम्बन्धी व्याख्याएँ बहुत कुछ एक जैसी हैं। गोरक्षनाथ, चर्पटी, जालन्धर, चौरंगी आदि के चर्यागीतों और पदों में इसे सुगमतापूर्वक देखा जा सकता है। 'अकुल वीर तन्त्र' की 'सहज' सम्बन्धी व्याख्या भी देखने योग्य है। अन्य अनेक समानताओं के साथ ही योग की शब्दावली का व्यवहार भी इनमें एक ही जैसा है।

इन सबसे महत्त्वपूर्ण है हठयोग द्वारा सम्पन्न होने वाली काया साधना जिसे सभी हिन्दू-बौद्ध तान्त्रिकों और सहजयानियों ने स्वीकृति दी है। यह बात और है कि जहाँ दूसरे तन्त्र काया साधना को सहज स्वभाव, सहजानन्द या सहजप्रीति का साधन मानते हैं वहाँ नाथ काया साधन को ही साध्य मानते हैं।

प्राचीन नाथ योगियों की परम्परा पतञ्जलि से पहले की है जो मूलतः शैवमत से सम्बद्ध रही होगी। 'सर्वदर्शन संग्रह' में रसेश्वरदर्शन को शैव दर्शन भी कहा गया है। गोरखनाथ प्रवर्तित और ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दियों में नेपाल की तराइयों में उदित होने वाले नाथपन्थी योगियों का सम्प्रदाय निश्चय ही उसी पुरानी शैव-परम्परा का नया संस्करण है। जिसमें अनेक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कारणों से शैव, शाक्त और बौद्ध साधनाओं-दर्शनों को मिला लिया गया है। इस मिश्रण का कारण शैवों और बौद्ध तान्त्रिकों के दार्शनिक सिद्धान्तों की समानता तथा नाथपन्थ के प्रमुख सिद्ध मत्स्येन्द्र, जालन्धरनाथ, चौरंगीनाथ आदि का बौद्ध तान्त्रिक आचार-परम्परा से घने भाव से सम्बन्ध दोनों हो सकते हैं। सहजयानी सिद्धों और नाथों की जो प्राचीन सूचियाँ मिलती हैं उनमें नाथपन्थियों और सहजयानियों के अनेक सिद्ध एक से हैं। 'बौद्धगान दोहा' की भूमिका में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने बताया है कि शैवमत में जाने के पूर्व गोरखनाथ का बौद्ध नाम रमणवज्र था। तारानाथ के अनुसार जब गोरखनाथ बौद्ध थे तो उनका नाम अनंग वज्र था। कहा जाता है कि नेपाली बौद्ध गोरखनाथ के मतान्तर ग्रहण से बहुत रुष्ट हैं और घृणा भी करते हैं।

नाथ योगियों में प्रचलित किंवदन्तियाँ उनमें स्वीकृत नाथ-परम्परा तथा नाथों के प्राप्त साहित्य, सभी नाथों के शैव होने का संकेत देते हैं। नाथ सम्प्रदाय में शिव को आदिनाथ तो माना ही जाता है। स्वयं गोरखनाथ को भी साक्षात् शिव माना जाता है। गोरखपन्थी लोगों का विश्वास है कि नौ नाथों की उत्पत्ति श्री गोरखनाथ से (जिन्हें श्रीनाथ भी कहते हैं) हुई है। गोरख ही भिन्न-भिन्न समय में अवतार लेकर भिन्न-भिन्न नाथान्त नामों से अवतरित हुए हैं और गोरख ही अनादि-अनन्त पुरुष हैं। उन्हीं की इच्छा से ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि हुए हैं। योगी-सम्प्रदाय विष्कृति में शिव के गोरक्ष रूप धारण करने की मनोरंजक कथा मिलती है। ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक के पाँचवें-छठवें अध्यायों में काफी विस्तार से बताया है कि नाथयोगियों के तीर्थ एवं यात्राधाम प्रायः शैव महत्त्व के स्थान ही हैं और उन स्थानों के मन्दिरों में प्रायः शिव की मूर्तियाँ या शिवलिंग पाया जाता है, कान चिरवाकर धारण की जाने वाली जिस मुद्रा के कारण

गोरखपन्थी साधुओं को 'कनफटा' कहा जाता है उस तरह की मुद्रा धारण करने वाली बहुत पुरानी शिवमूर्तियाँ भी मिल जाती हैं। ऐलोरा और एलिफेण्टा की गुफाओं में शिव की ऐसी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं जिनके कान में वैसे ही बड़े-बड़े कुण्डल हैं जैसे कनफटा योगियों के होते हैं और उनको कान में उसी ढंग से पहनाया गया है जैसे कनफटा योगी पहनते हैं। उक्त गुफाएँ आठवीं शती की हैं, पर इससे भी पुराने समय लगभग दूसरी-तीसरी शताब्दी की एक शिवमूर्ति में भी कनफटा योगियों जैसी मुद्रा अंकित मिली है। नाथ परम्पराओं में यह बात प्रसिद्ध है कि शिवजी ने मत्स्येन्द्र की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर उन्हें अपना वेश ज्यों-का-त्यों दे दिया था। 'बम्-बम्' का नारा सिद्धों की विशेषता है—जो शिव से सम्बद्ध बहुत प्रचलित गूढ़ ध्वनि है। ध्यान देने की बात है कि बंगाल के योगियों के पुरोहित को 'बल्लालचरित' में 'रुद्रज ब्राह्मण' कहा गया है। आजकल भी बंगाल के योगी अपने को 'शिव-गोत्र' में उत्पन्न मानते हैं।

नाथपन्थ की मूल प्रवृत्तियों को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं-

१. चारित्रिक उत्कर्ष और पवित्रता का आग्रह।

२. स्मार्त आचारों की अवहेलना।

३. योग साधना का आध्यात्मिक स्वर।

४. निर्गुण साधना में विश्वास।

५. ज्ञान और व्यक्तिगत आदर्श की प्रतिष्ठा।

६. लोक भाषा द्वारा अभिव्यक्ति और व्यक्तिगत आदर्श की प्रतिष्ठा।

नाथ-पन्थ की साधना पद्धति ने भारतीय धर्मसाधना को अनेक रूपों में प्रभावित किया। सामाजिक एवं धार्मिक पुनर्जागरण के साथ हिन्दी भक्तियुग की पृष्ठभूमि के रूप में नाथ पन्थी-योगियों की अभिव्यक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निर्गुण सन्त कवियों की वाणियों में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है, उनमें जो रुढ़ि विरोधिता, खण्डनात्मकवृत्ति, छुआछूत को दूर करना एवं अक्खड़ता है वह सब नाथपन्थी योगियों और सिद्धों की देन है।

□

महायोगी गुरु गोरक्षनाथ

—रणविजय सिंह

नाद-नाद सब कोई कहै, नादहिं लै कोई बिरला रहै।
नाद बिन्दु है फीकी सिला, जिहिं साध्याते सिधै मिला॥

अर्थात् केवल नाद-नाद रटने से साधना की सिद्धि नहीं होती। यह शब्द ब्रह्म की उपासना है। उसमें मन को सम्पूर्ण रूप से एकाग्र कर उसे अमनस्क कर, चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध कर नाद की अन्तिम अवस्था जो शब्दातीत अवस्था है, उसमें प्रवाहित अनाहत में अपने आत्मस्वरूप को लेकर परमात्मा से तादात्म्य स्थापित किया जाता है।

योगसाधना, विशेषकर हठयोग-साधना सहित क्रान्तिकारी चरित्र और चेतना से प्रदीप्त सामाजिक और आध्यात्मिक क्रान्ति के क्षेत्र में युगान्तकारी महत्त्व रखने वाले महायोगी गुरु गोरक्षनाथ का नाम भारत के उन कुछ महापुरुषों में सम्मिलित है, जिनसे प्रेरणा और प्रकाश पाकर उनके समय में और उनके बाद भी आज तक लोग अपना जीवन और जन्म सफल बना रहे हैं। भारतवर्ष का शायद ही कोई भू-भाग हो, जहाँ गोरक्षनाथजी के नाम से सम्बन्धित कोई मठ, मढ़ी, टिल्ला या मन्दिर आदि न हो। भारतवर्ष की शायद ही कोई ऐसी भाषा हो, जिसमें गोरक्षनाथ या उनके अनुयायियों से सम्बन्धित कथाएँ न मिलती हों।

'नाथ कहै तुम आपा राखौं। नाथ कहैं तुम सुनहू रे अवधू।'

'नाथ सम्प्रदाय' उन साधकों का सम्प्रदाय है, जो 'नाथ' को परमतत्त्व स्वीकार कर उनकी प्राप्ति के लिए योग साधना करते थे तथा दीक्षा के बाद नामान्त में 'नाथ' उपाधि जोड़ते थे। नाथ सम्प्रदाय से सम्बद्ध साहित्य में नाथ शब्द के दो अर्थ हैं—परमतत्त्व या ब्रह्म और गुरु। सिद्ध विवेचन और नाथ विचार करते समय 'चौरासी सिद्ध और नवनाथ' की चर्चा की जाती है। सिद्धों की संख्या केवल ८४ ही क्यों रखी गई; नवनाथों को ८४ से अलग क्यों माना गया? कुछ के मतानुसार, ८४ सिद्धों का सम्बन्ध ८४ लाख योनियों से है। इन सिद्धों की सूचियाँ संख्या, काल और देश के प्रभाव से सीमित और भिन्न-भिन्न रूपों में देखने को मिलती हैं। सभी सूचियों में सभी सिद्धों के नाम समान रूप से नहीं मिलते। प्रथम और द्वितीय सूचियाँ भारतीय स्रोतों से तथा तीसरी सूची तिब्बती स्रोत से प्राप्त हुई है। नाथ-सिद्धों की भिन्न-भिन्न

सूचियों के कारण यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि इन सिद्धों में कितने और कौन-कौन से सिद्ध नाथ सिद्ध कहे जा सकते हैं। विस्तृत विवेचन के उपरान्त जितनी सूचियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें सबसे अधिक मान्यता प्राप्त सूची की नामावली में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, आदिनाथ, जालन्धरनाथ, चर्पटीनाथ, चौरंगीनाथ, कानिफानाथ, भर्तृहरिनाथ एवं गोपीचन्द्रनाथ के नाम आते हैं।

नाथपन्थियों की साधना में मद्य और स्त्री निषिद्ध है। नाथपन्थियों में मुद्रा शब्द कान में पहले जानेवाले एक प्रकार के कुण्डल के अर्थ में व्यवहृत होता है। यह कुण्डल दीक्षा देते समय पहनाया जाता है। नाथ सिद्धों की साधना का लक्ष्य था अमरता प्राप्ति तथा उससे महेश्वर की प्राप्ति। नाथसिद्ध जन्म और मृत्यु की सत्यता में विश्वास करते थे तथा परिवर्तनशील भौतिक शरीर को सूक्ष्म वायव्य शरीर में द्रव्यान्तरित कर उसे भी पुन: दिव्य देह में रूपान्तरित कर जन्म-मृत्यु चक्र का निवारण करते थे। नाथसिद्धों ने साधना में किसी भी प्रकार के नारी सम्पर्क का विरोध किया है ओर उसे बाघिन आदि शब्दों से सम्बोधित किया है। नाथों में शैव परम्परा के अनुकूल शिव निष्क्रियता, स्थिरता, अचंचलता, अमरता और परमार्थ के प्रतीक हैं तथा शक्ति सक्रियता, चंचलता, परिवर्तन संसार आदि का प्रतीक है। ऐसी अवस्था में नाथ योगियों ने अपनी प्रकृति के अनुकूल अमरता, विराग आदि के प्रतीक को ग्रहण किया तथा शक्ति को बलात् आक्रान्त कर अपनी साधना के अनुकूल नियन्त्रित करना उचित माना।

नवनाथों की विभिन्न सूचियाँ जो अब तक उपलब्ध हैं, उनमें से अनेक में गोरक्षनाथ का नाम अन्तर्गणित है। चौरासी सिद्धों की भी जो सूचियाँ अभी तक मिली हैं, उनमें से गोरक्षनाथ का वर्णरत्नाकर की 'चौरासी सिद्ध वर्णना' में दूसरा और शाक्य विहार की तिब्बती सूची में नौवाँ स्थान है। हठयोग प्रदीपिका में और महासिद्धों के गणना प्रसंग में आदिनाथ मत्स्येन्द्रनाथ, शंबरानन्द, भैरव, चौरंगी और मीन के बाद गोरक्ष का ही स्मरण किया गया है। मत्स्येन्द्रनाथ का नाम भी पर्याप्त प्रसिद्ध है। मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं। मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की गणना मानव गुरुओं में की गई है। ये दोनों ही महासिद्ध योगिराज और नाथाचार्य माने गए हैं। प्राचीन साधनात्मक और दार्शनिक ग्रन्थों में इन दोनों महासिद्धों का स्मरण यह बतलाता है कि ये दोनों ही अपने समय के बहुत प्रसिद्ध और अतिमान्य महासिद्ध थे। बहुत से आधुनिक दृष्टिवाले नाथपन्थी गोरक्ष को वाक्य प्रदीपकार भर्तृहरि का समकालीन मानते हैं। कुछ पौराणिक नाथपन्थी गोरक्ष को यदुवंशी श्रीकृष्ण के एक विग्रह का साक्षी मानते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि उन्होंने चारों युगों में अलग-अलग स्थानों में अवतार भी लिए थे।

इतना विस्तृत उल्लेख मिलने पर भी गोरक्षनाथ का प्रामाणिक जीवनवृत्त आज भी उपलब्ध नहीं है। उनके जन्म के सम्बन्ध में नेपाल की प्रचलित एक कथा के अनुसार, महादेव ने एक पुत्र आकांक्षिणी नारी को विभूति दी। नारी ने अविश्वास कर उसे गोबर के ढेर में फेंक दिया। बारह वर्षों के बाद महादेव के पुन: अनुसंधान के फलस्वरूप उस स्थान से गोरक्ष का आविष्कार हुआ। इन्हीं गोरक्षनाथ ने मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। बाद में गोरक्ष अपने गुरु के साथ नेपाल गए। वहाँ अनादृत होने पर उन्होंने मेघ समूहों को आबद्ध कर अनावृष्टि कर दी। अचानक उस मार्ग पर मत्स्येन्द्रनाथ के आने पर गोरक्षनाथ साष्टांग दण्डवत् करने के लिए उठे। मेघ मुक्त हो गए और वहाँ वृष्टि हुई।

नारदपुराण तथा स्कन्दपुराण में दी हुई कथा के अनुसार, किसी समय भगवती के हृदय में अहंकार का उदय हुआ। उन्होंने महेश्वर से कहा, 'हे आदिदेव आदिनाथ! जहाँ-जहाँ आप हैं वहाँ-वहाँ मैं आपसे पृथक नहीं, मेरे बिना आपकी कोई सत्ता नहीं। यदि आप विष्णु हैं तो मैं लक्ष्मी हूँ, आप महेश्वर हैं तो मैं माहेश्वरी हूँ, आप शिव हैं तो मैं शक्ति हूँ, आप ब्रह्मा हैं तो मैं सावित्री हूँ, आप इन्द्र हैं तो मैं इन्द्राणी हूँ, आप पुरुष हैं तो मैं प्रकृति हूँ, आप ब्रह्म हैं तो मैं माया हूँ। इस प्रकार आप मुझसे पृथक नहीं हैं।' जगदम्बा पार्वती के उक्त दम्भपूर्ण वचन सुनकर मूलनाथ महेश्वर ने कहा, 'हे देवी! जहाँ-जहाँ तुम हो वहाँ-वहाँ मैं अवश्य हूँ; यह कथन सत्य है, किन्तु जहाँ-जहाँ मैं हूँ, वहाँ-वहाँ तुम नहीं हो। जैसे जहाँ-जहाँ घट हैं वहाँ-वहाँ मृत्तिका अवश्य है, किन्तु जहाँ-जहाँ मृत्तिका है वहाँ-वहाँ घट नहीं।' बाद में भगवती पार्वती के अहंकार को मिटाने के लिए भगवान् आदिनाथ ने अपने को दो भागों में विभाजित किया। एक भाग में स्वयं अपने रूप में बने रहे, किन्तु दूसरे भाग को एक योगी के रूप में परिणत किया। इन्हीं का नाम गोरक्षनाथ है। गोरक्षनाथ एक निर्जन स्थान पर बैठकर समाधिस्थ हो गए। भगवान् शिव ने उस योगी का परिचय देते हुए पार्वती को बताया कि जिस योगी का तुमने दर्शन किया है, वह योगेश्वर गोरक्षनाथ हैं। वह माया से परे एवं काल के भी काल हैं। उन्होंने कहा, 'महादेवि! मैं ही गोरक्षनाथ हूँ, मेरा स्वरूप ही गोरक्षनाथ है। संसार का कल्याण हो, इसलिए मैंने गोरक्ष स्वरूप को धारण किया है।'

गोरक्षनाथ का जन्म वृत्तान्त रहस्यमय है। नेपाली परम्परा के अनुसार, मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे। गोरक्ष सिद्धांत संग्रह के अनुसार, गोरक्ष ईश्वर सन्तान थे। उनका चरित्र अत्यन्त शुद्ध और निर्मल था। स्वयं देवी भगवती उनके चरित्र की परीक्षा लेने में पराजित हुई थीं। उनके जन्मस्थान और जीवनवृत्त के विषय में विविध मत प्रचलित हैं। विभिन्न मतों की परीक्षा कर लेने के उपरान्त गोरक्षनाथ के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष निकलकर सामने आते हैं—

१. गोरक्षनाथ के जन्म स्थान के सम्बन्ध में अधिकांश मत और कथाएँ भारत के पश्चिमोत्तर भाग की ओर संकेत करती हैं।
२. उन्होंने अपने जीवन काल में नेपाल, बंगाल, कच्छ, काठियावाड़, नासिक, उड़ीसा आदि की यात्राएँ की थीं।
३. यात्राओं के सम्बन्ध में प्रचलित विश्वासों और कथाओं से ऐसा अनुमान होता है कि गोरक्षनाथ पंजाब से गोरखपुर गये। वहाँ से नेपाल गये। नेपाल से पुनः वे पंजाब लौटे और फिर नासिक के लिए प्रस्थान किया।
४. बंगाल की अपेक्षा पंजाब या भारत के पश्चिमोत्तर भाग से उनका सम्बन्ध रहा।
५. उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे।

शिवपुराण के अनुसार गोरक्षनाथ शिवावतार थे। गोरक्षगीता में बताया गया है कि इन्द्राणी के पातिव्रत की रक्षा में गोरक्षनाथ ने सुराचार्य बृहस्पति की सहायता की थी। स्कन्दपुराण के केदारखण्ड में, नवनाथों में गोरक्ष की भी गणना की गयी है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरक्षनाथ को शंकराचार्य के बाद दूसरा महिमाशाली व्यक्तित्ववाला महापुरुष घोषित किया। साधना की पवित्रता, चरित्र की परमोच्चता,

संयमपूर्ण जीवन की शक्तिमत्ता और आडम्बररहित जीवन की महिमा का उद्घोष गोरक्षनाथ ने किया था। वस्तुत: प्राचीन तान्त्रिक साधना परम्परा और उसके अवस्थागत क्रमिक विकास के महत्त्व को गोरक्षनाथ अच्छी तरह जानते थे। इसलिए उन्होंने तान्त्रिक साधनागत मूल सिद्धान्तों जैसे—गुरु-शिष्यवाद, दीक्षा, परीक्षा अधिकार भेदभाव की शैव सम्प्रदायों में पुन: पूर्ण प्रतिष्ठा की; क्योंकि उस समय अशैव बौद्धादि सम्प्रदायों में इन नियमों और सिद्धान्तों के उल्लंघन से तान्त्रिक साधना का विगर्हित रूप प्रकट हो रहा था। गोरक्षनाथ की संस्कृत और हिन्दी दोनों प्रकार की रचनाओं में उपर्युक्त नियम के प्रमाण पुष्कल परिणाम में प्राप्त हो सकते हैं।

गोरक्षनाथ ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य शैव-सम्प्रदायों को संगठित कर सम्पन्न किया। गोरक्षनाथ ने सदाचार परायण, संयमपूर्ण परम्परागत शैव दर्शन और साधना पर आधारित जीर्णप्राय शैव सम्प्रदायों से संगठित सिद्धमत अथवा नाथयोगी सम्प्रदाय का समारम्भ किया। लोककथाओं से पता चलता है कि गोरक्षनाथ बहुत चतुर और समय देखकर कार्य करनेवाले और विभिन्न प्रकार के वेष धारण करने में बहुत निपुण थे। विभिन्न प्रकार की विद्याओं में निष्णात होने के कारण उन्हें इसमें तनिक भी कठिनाई न होती थी। वे मृदंग वादन में निपुण थे। नृत्यकला का भी ज्ञान था। सूक्ष्म शरीर धारण करने की सिद्धि भी थी।

गोरक्ष चरित्र गुण और शक्ति दोनों का मणिकांचन योग है। ब्रह्मचर्य परायण और हठयोगाचारनिष्ठ नैतिकता से सम्पन्न योगिसम्प्रदाय के विकास का मूल श्रेय गोरक्षनाथ को ही है। चार महासिद्धों की पार्वती द्वारा जो परीक्षा ली गयी थी, उसमें गोरक्ष को छोड़कर और सभी विचलित हो गए थे। गोरक्ष ने अविचल भाव से ऐसी अप्रतिम सुन्दरी के मातृरूप की ही आकांक्षा की और उसकी गोद में बैठकर स्नेहामृत प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। गोरक्षनाथ ने स्त्री को केवल माता के ही रूप में देखा, जो स्नेह से बालक को पालती है, जिसमें वासना नहीं रहती। युवती स्त्रियों को गार्हस्थ धर्म में पतिव्रता के रूप में देखने के इच्छुक थे। लड़कियों का शीलपूर्ण होना उन्हें अत्यन्त भाता था।

गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं की गणना करते समय हिन्दी के इतिहासकारों ने उनकी संस्कृत रचनाओं का भी उल्लेख किया है। मिश्रबन्धुओं ने सर्वप्रथम गोरक्षनाथ के नौ ग्रन्थों का उल्लेख किया था—गोरक्षशतक, चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योग चिन्तामणि, योगमहिमा, योग मार्तंड, योग सिद्धान्त पद्धति, विवेक मार्तंड, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति।

गोरक्षनाथ की साधना का स्वरूप यह था कि जीवनन्मुक्ति की ही अवस्था आदर्श अवस्था है। देहपात में जो मुक्ति होती है, उसे यथार्थ मुक्ति नहीं कहा गया है। कारण यह है कि मुक्ति देहपात रूप प्रतिबन्धक द्वारा बाधित है। नाथगण कहते हैं कि जिस देह से परमपद प्राप्ति होती है, उसी देह की रक्षा, अजर-अमर करना कर्तव्य है। विदेह मुक्ति में इस देह का ही त्याग हो जाता है। नाथ मत में मोक्ष वह अवस्था मानी गयी है, जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को जीवन्मुक्ति पद कहा गया है। नाथयोगी का लक्ष्य होता है, ऐसे शरीर की प्राप्ति, जिसका पतन न हो, जिसके बाहर प्राण न जाता हो। इनका लक्ष्य वह अवस्था है, जिसमें शरीर भी ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। शरीर चिन्मय हो जाता है और फिर अनन्यता की प्राप्ति होती है।

सबदहिं ताला सबदहिं कुंजी सबदहिं सबद जगाया।
सबदहिं सबद सूं परिचय हुआ सबदहिं सबद समाया॥

अर्थात् योग साधना की दृष्टि से शब्द ही ताला है, क्योंकि यह परमात्म तत्त्व को गुप्त रखता है। शब्द की धारा ही सूक्ष्म परमात्म तत्त्व पर स्थूल आवरणों को बाँधकर सृष्टि का संयोजन तथा निर्माण करती है। इसलिए शब्द कुंजी भी है, जिससे परमात्मा का रहस्य खुलता है। गुरु के उपदेश से ही नाद का जागरण होता है।

गोरक्षनाथ का योग षडंग है अर्थात् इसमें आसन के बाद पतंजलि के ६ अंग स्वीकृत हैं। यम-नियम को सामान्यतया अनिवार्य समझकर छोड़ दिया गया है। षडंगयोग के दो उद्देश्यों की चर्चा है। सिद्धदेह या दिव्यदेह की प्राप्ति या जीवन्मुक्ति और द्वैताद्वैतविवर्जित नाथरूप में अवस्थान या पिण्ड पद का परमपद में समरसीकरण। संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर उपस्थित किए गए इस गोरक्षयोग में दो प्रधान साधन हैं—हठयोग और लययोग। इसी प्रकार दो कार्य हैं—बिन्दु रक्षा और नादानुसंधान। गोरक्षयोग साधना का मुख्य तत्त्व है—प्राणायाम। दोनों कार्य इसी से साणित होते हैं। इसी आधार पर नाथ लोगों का यह भी कथन है कि यह स्थूल शरीर भी मुक्ति प्राप्त करता है। सिद्धदेह की प्राप्ति के लिए अमृत साधन भी नाथों को स्वीकार है। गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग अथवा प्राणायाम सम्पन्न साधना का उपदेश दिया है, उसके अनेक आयाम हैं। प्राणायाम के चार लक्षण—रेचक, पूरक, कुम्भक और संघट्टकरण। प्राण और अपान के वशीभूत जीवन ऊपर-नीचे दौड़ता है। वाम और दक्षिण मार्ग से चंचलता के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता। अपना प्राण को तथा प्राण अपान को आकृष्ट करता है। प्राण 'हंकार' के साथ बाहर जाता है तथा 'सकार' के उच्चारण के साथ पुनः वह प्रवेश करता है। 'हंस-हंस' इस मंत्र का जप जीव सदैव करता रहता है। रात और दिन मिलाकर वह कुल २१,६०० बार जाप करता है। इसी को अजपा नाम की गायत्री कहते हैं, जो मोक्षदायिनी होती है।

गोरक्षनाथ के साधनमार्ग में 'गुरु' को बहुत महत्त्व दिया गया है। परमपद में समरसीकरण, जो नाथों का चरम लक्ष्य है, गुरु की कृपा से ही होता है। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में षोडश नित्यातंत्र का उद्धरण देकर गुरु रूप में शिव को नमस्कार किया गया है। गुरु की कृपा से स्वल्प कल्प मात्र से सहज सिद्धि प्राप्त होती है। इस गुरु को ३६ लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए।

गोरक्षनाथ के योग साधन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पिण्डब्रह्माण्डवाद है। सिद्धसिद्धान्त पद्धति के अनुसार, जो व्यक्ति या योगी पिण्ड में सम्पूर्ण चराचर का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे 'पिण्ड संवित्ति' कहते हैं। पिण्ड के अन्तर्गत जो कुछ भी है, वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतीक है।

अन्य नाथसिद्धों की तुलना में गोरक्षनाथ हिन्दी में विशेष रूप से कई कारणों से प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण रहे हैं। उनकी रचनाओं का मूल्यांकन भाषा, काव्यरूप, छन्द, रचना-शैली, योग एवं साधनात्मक पद्धति, शब्दावली, सामाजिक दृष्टिकोण आदि दृष्टियों से भी किया जाता रहा है। गोरक्षनाथ की रचनाएँ हैं—सबदी, पद, तिथि, वार, अभयमात्रायोग, संख्यादर्शन, प्राण संकलि, आत्मबोध, नरवैबोध, काफरबोध, अबलि सिलक, जाति भौंरावली, रोमावली, साषी, मछींद्र गोरखबोध, गोरख-गणेश-संवाद, गोरखदत्त संवाद।

गुरु गोरक्षनाथ का नाथयोग एक साधनापरक तत्त्वचिन्तन है। वह बौद्धिकता की विडम्बना में भी नहीं पड़ता। उनका मानना है कि पिण्ड ही पृथ्वी आदि पंचभूतों का केन्द्र है। ब्रह्माण्ड और पिण्ड की एकता के लिए सदा प्रयास करता है। इसी में परम शिव रहता है। वह स्वयं प्रकाशित एवं स्फुरित होता है। महापिण्ड ज्ञान की निधि है। इसमें इन्द्रियाँ समुद्र में नदी की तरह समाहित होती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध सहित पंचभूत इसी में रहते हैं। यह शरीर स्वयं में एक महापीठ है।

□

महाद्रष्टा श्री गोरखनाथ

—**प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय**

हिन्दू-चिन्तन विचार की अविराम यात्रा है। अन्य धर्मावलम्बी समाजों में, विशेष रूप से सेमेटिक धर्मों में एक धर्मदूत या एक पुस्तक अथवा उसकी कुछ व्याख्याओं के बाद विचार-परम्परा जहाँ अवरुद्ध दिखायी देती है, किसी नये चिन्तन या तत्त्वज्ञान के अंकुरित-पल्लवित होने की उनमें कोई सम्भावना परिलक्षित नहीं होती, वहीं हिन्दू-समाज में चिन्तन की निरन्तर नवीन परम्पराएँ, नयी सरणियाँ पाती रही हैं। ज्ञान इतिहास के अनुसार, वेद इस यात्रा की यदि प्रथम महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है तो उसके परवर्ती धर्मग्रन्थों, आध्यात्मिक विचारकों, समाज-सुधारकों और नियामकों का भी अपना विशिष्ट योगदान हिन्दू-समाज के सांस्कृतिक विकास में है। सभी का स्वयुगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में समाज के हित में किया गया चिन्तन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

योगीश्वर श्री गोरखनाथ का आविर्भाव हिन्दुत्व की इसी विराट् परम्परा में सूर्योदय के सदृश अत्यन्त प्रशस्त कड़ी है। नाथ-सम्प्रदाय की दृष्टि से यद्यपि उनका स्थान आदिनाथ भगवान् शिव, योगीश्वर श्री मत्स्येन्द्रनाथ के बाद है, किन्तु नाथ-तत्त्वदर्शन की संरचना में उनका योगदान सर्वाधिक है। आध्यात्मिक संरचना में उनका योगदान सर्वाधिक है। आध्यात्मिक संरचना के तीन महत्त्वपूर्ण सोपान माने जाते हैं। इनमें से तत्त्वज्ञान सर्वप्रथम है। यही किसी धर्म की आधारपीठिका है। दूसरा तत्त्व है, आचार अथवा नीतिगत नियम। व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में इसकी भूमिका भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक जीवन का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है कर्मकाण्ड अथवा बाह्याचार, जिसका आरम्भ तो प्रतीकात्मक सन्दर्भों में होता है, लेकिन धीरे-धीरे प्रतीकात्मकता तिरोहित होती जाती है और समाज में स्थूल कर्मकाण्ड भर शेष रहता है। यही स्थिति तत्त्वज्ञान और नैतिकता की भी कालान्तर से होती है, जो क्रमशः शिथिल होती जाती है। महायोगी गोरखनाथ ने वस्तुतः इसी शिथिलता को दूर करने, तत्त्वज्ञान को प्रतिष्ठित करने तथा नैतिकता और सदाचार को सुदृढ़ करने के लिए अवतरण किया। स्थूल कर्मकाण्ड पर उनका विशेष बल नहीं दिखायी देता। मात्र पुस्तकीय ज्ञान भी उनका अभीष्ट नहीं है, लेकिन व्यष्टि और समष्टि, मानस के परिष्कार में उनके द्वारा निरूपित विधि-विधान भारतीय अध्यात्म की पावन उपलब्धि है।

योगीश्वर गोरखनाथ के आविर्भाव का समय बहुत सुनिश्चित नहीं है, विद्वानों ने विभिन्न युक्तियों के आश्रय से प्राय: उनका समय नवीं-दसवीं शताब्दी के आस-पास निर्धारित किया है, जो भारतीय समाज में गहरी उथल-पुथल का ही युग है। विदेशी आक्रमणों से टूटती हुई नैतिक मर्यादाओं और अभावग्रस्त जन-जीवन का ही प्रतिबिम्ब इस कालखण्ड में प्राय: दिखता है। वैदिक तत्त्वज्ञान का यथार्थ दुर्बोध और लगभग तिरोहित सा हो चला था, बौद्ध मत समाज को सन्मार्ग पर ले चलने में असमर्थ हो गया था, छिन्न-भिन्न आस्थाएँ व्यक्ति को सम्बल प्रदान नहीं कर पा रही थीं, तान्त्रिक शब्दावली की व्याख्या अल्पज्ञ अपने-अपने ढंग से करके समाज में भ्रम ही फैला रहे थे। इन विषम परिस्थितियों में श्री गोरखनाथ ने समाज को सत्पथ पर चलाने के लिए श्रेष्ठ तत्त्वदर्शन का उपदेश तो दिया ही, पाखण्ड और भ्रमों का निवारण करते हुए उदात्तजीवन-मूल्यों, आदर्शों और आचरण की शुचिता को भी प्रतिष्ठित किया, बिखरी हुई आस्थाओं को नया सम्बल दिया और योगमार्ग का पुनरुद्धार करते हुए उसे धर्म-साधना के केन्द्र में स्थापित किया।

जैसा कि अंग्रेजी की सूक्ति है—Nothing can be painted in the air कोई भी निर्माण नितान्त आकाश अथवा निराधार रूप में नहीं किया जा सकता। श्री गोरखनाथ के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वधान और साधना-क्रम भी इसी प्रकार हिन्दुत्व की अखण्ड वैचारिक परम्परा के आधार पर ही पुरोवर्तित हुआ। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' के 'आशीर्वचनों' के रूप में श्रद्धेयप्रवर महन्त श्री अवेद्यनाथजी का यह कथन अत्यन्त प्रासंगिक प्रतीत होता है—'इस मौलिक योगवाङ्मय में शैवयोग के प्रतिपादन के साथ-ही-साथ निगमागम पुराण, स्मृति-सम्मत योगाचार, वैराग्य और मोक्ष के सैद्धान्तिक और प्रक्रियात्मक साधनात्मक पक्षों का समीचीन समन्वय भी बोधगम्य शैली में निरूपित है।' यह अभिमत यद्यपि नाथ-सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रतिष्ठित मठ के अधिपति का है, तथापि साम्प्रदायिक आग्रह से पूर्णतया मुक्त और युक्तियुक्त है।

श्री गोरखनाथ के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-विभूति में हमारी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ दाय का नि:सन्देह कमनीय समावेश है। वे संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान् थे। यह 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' जैसे ग्रन्थ की परिष्कृत भाषा से स्वयंसिद्ध है। अत: वैदिक एवं वैदिकोत्तर परम्पराओं से वे निश्चित ही सुपरिचित थे। विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। परन्तु परम्परा में आयी सामयिक विकृतियों से भी वे परिचित थे। कुछ विद्वानों ने उन्हें वेदेतर परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया है, लेकिन वह अयथार्थ ही है। जिस प्राणोपासना पर श्री गोरखनाथ का विशेष बल है, उसका मूल वैदिक वाङ्मय में है। अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र इस सन्दर्भ में विमृश्य हैं—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(अथर्व सं. ११.४.१)

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते। प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(अर्थर्व सं. ११.४.१५)

प्राणो विराट् प्राणे देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते। प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥

(वही ११.४.१२)

जिस ब्रह्मचर्य पालन पर श्री गोरखनाथ का सर्वाधिक जोर है और कंचन तथा कामिनी दोनों से उन्होंने अपने गुरु श्रीमत्स्येन्द्र को भी पृथक् किया, वह अवधारणा भी अथर्ववेद में है—११वें काण्डगत पञ्चम सूक्त के पूरे २६ मन्त्र ब्रह्मचर्य की ही महिमा के उद्घोषक हैं। कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा और आचार्य शिष्य को शिक्षित करता है, कन्या युवक पति का वरण करती है और देवों ने ब्रह्मचर्य के तप से ही मृत्यु पर विजय पाई—

'ब्रह्मचर्येण तपसा राष्ट्रं विरक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥
ब्रह्मचर्येण कन्या सुवानं विन्दते पतिम्॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वाराभरत्॥

(अथर्व सं. ११.५.१७.१९)

आधुनिक युग में परमहंस श्री रामकृष्णदेव ने भी नरेन्द्र (बाद में स्वामी विवेकानन्द) को यही शिक्षा दी—'बेटा! कामिनी-काञ्चन के त्याग के बिना कुछ भी नहीं होगा।' यह सही है कि स्वयं श्रीगोरखनाथ निवृत्तिमार्गी थे। उनके योगदर्शन और साधना-प्रणाली में भी निवृत्तिमूलक तत्त्वों का आधिक्य है, लेकिन नाथपन्थ के अनुयायियों में संन्यासी और गृहस्थ दोनों ही परम्पराएँ आज भी जीवित हैं। श्री गोरखनाथ के तत्त्व-चिन्तन में विकृतियों का निषेध तो है, लेकिन जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का निषेध है। उनकी हिन्दी-रचनाओं में प्राप्य निम्नलिखित सुचर्चित पंक्तियाँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं—

'हँसिबा षेलिबा रहिबा संग। काम क्रोध न करिबा संग।
हँसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ कर राशि आपना चीत॥
हँसिबा षेलिबा धरिबा ध्यान। अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान।
हँसै षैलै न करै मन भंग। ते निश्चल सदा नाथ कै संग॥'

(गोरखबानी, सबदी, पृ. ३-४)

अथर्ववेद (११.८.२४-२५) में ऋषि कौरुपथि ने भी उपर्युक्त प्रवृत्तियों को अस्वाभाविक नहीं माना है। आनन्द, मोद, प्रमोद, हास्य, नृत्यादि सभी जीवन के स्वाभाविक व्यवहार हैं—

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन्॥
आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च से। शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः॥

इसी वेद के १४वें काण्ड में ऋषिका सावित्री सूर्या ने दम्पतियों के पुत्रों, पौत्रों और नातियों के साथ खेलते-कूदते और हँसी-खुशीपूर्वक सानन्द जीवन जीने को अनुमन्य किया है—

'क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदयमानौ स्वस्तकौ' (अथर्व. १४.१.१२)

तथा—

'हसामुदौ महसा मोदमानौ' (वही १४.२.४३)

श्रीगोरखनाथ ने भी स्त्री के मातृस्वरूप को सर्वाधिक वरीयता दी है—ऋग्वेद में भी माता के रूप में उसके आन्तरिक सौन्दर्य को उद्भाषित किया गया है। साथ ही, खेलता-कूदता हुआ बाल-वृन्द गृह का सर्वाधिक आकर्षण बतलाया गया है—

'ते हर्म्येष्ठा शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रकीडिनः पयोधाः' (ऋ.सं. ७.५६.१६)

आगे गोरख बानी के 'हँसिबा-खेलिबा' का ही अनुवर्तन किया स्वामी विवेकानन्द ने। अपने अनुयायियों को यह निर्देश देकर कि वेदान्त के तत्त्वज्ञान का यथार्थ अनुभव तो उन्हें खेल के मैदान में होगा—फुटबाल खेलते हुए।

वास्तव में समाधि के क्षणों में जिसे अहंशून्यता, निर्विचारशीलता और कालशून्यता (egolessness, thoughtlessness & timelessness) का अनुभव होता है, वही अनुभव खेल में डूब जाने पर भी होता है—उस समय व्यक्ति को न समय का होश रहता है और न अपनी सामाजिक स्थिति का। श्रीगोरखनाथ ने इस तथ्य का साक्षात्कार आज से हजार वर्ष पूर्व ही कर लिया था, फिर हमारे खेल मात्र शारीरिक प्रदर्शन भर नहीं हैं। उनमें से बहुतों में प्रतीकात्मक रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधात्मिक संकेत सन्निहित हैं। उदाहरण के लिए बहुप्रचलित कबड्डी के खेल में 'पुनरपि मरणं, पुनरपि जननम्' अर्थात् पुनर्जन्म का सिद्धान्त अपने आप प्रस्फुटित हो जाता है। हँसते-खेलने जैसे जीवन के स्वभाविक क्रियाकलाप के साथ ही ध्यान करने के श्रीगोरखनाथ के निर्देश की अनुगूँज आगे सुनाई पड़ती है मध्वाचार्य के इस उपदेश में—

'कुरु भुङ्क्ष्व च कर्व निजं नियतं
हरिपाद विनम्रधिया सततम्'

तात्पर्य यह कि हम अपने लिए पूर्वनिर्धारित कर्म का अनुष्ठान करते रहें, कर्म के साथ ही भोग भी निर्धारित है, उसका उपभोग करते रहें, लेकिन साथ ही विनम्रतापूर्वक अपनी बुद्धि को भगवान् के चरणों में भी लगाये रहें। सम्भव है, गोरख-दर्शन में नियति की वह मान्यता न हो, जो माधव दर्शन में है, लेकिन भगवच्चरणों में ध्यान लगाये रहने की समानता तो है ही।

अभिप्राय यह कि योगीश्वर श्री गोरखनाथ के द्वारा निरूपित साधन-प्रणाली अपनी सम्पूर्ण विलक्षणताओं के बावजूद पारम्परिक भारतीय तत्त्वज्ञान की विभिन्न पद्धतियों में समन्वय की ही प्रतीक है। यह साधना-प्रणाली अपने अजातिवाद, पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड के साक्षात्कार, प्राण की सर्वोपरि शक्तिमयता, प्रभृति निगूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ ही सत्यनिष्ठा, नियम-संयम, सदाचार सम्पन्न जीवनचर्या के कारण भारतीय समाज के सामान्यतः सभी वर्गों में सुदीर्घकाल से ही आस्था और श्रद्धा की आस्पद रही है। महायोगी श्री गोरखनाथ जनसमाज में ही नहीं, विशिष्ट मनीषा में भी आकर्षण के केन्द्र रहे हैं और उनका जीवन और दर्शन भारतीय तत्त्व ज्ञान की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में अन्यतम है।

□

नाथपन्थ और भक्ति-आन्दोलन

—प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी

आदिनाथं शिवं नौमि गुरुं तं करुणामयम्।
अनादिनिधनं देवं योगीशं भुक्तिमुक्तिदम्॥ १॥
वन्दे मत्स्येन्द्रनाथञ्च योगसिद्धं तपःपरम्।
शिष्यः प्रतिष्ठितो येन भोगरोगविनाशकः॥ २॥
शिवावताररूपं तं प्रणमामि निरन्तरम्।
गोरक्षनाथयोगीन्द्रं नाथपन्थ प्रवर्तकम्॥ ३॥
अनन्यभावो नाथीयां वन्दे गुरुपरम्पराम्।
अद्यापि राजते लोके येयं कल्याणकारिणी॥ ४॥
योगेन तपसा भक्त्या ये रमन्ते बुधास्सदा।
तेषु-तेषु विशेषेषु तेऽपि वन्द्या यतीश्वराः॥ ५॥
भक्ति-आन्दोलनं जातं मध्यकाले तु भारते।
नाथपन्थस्य सम्बन्धस्तत्समीक्ष्य प्रकाश्यते॥ ६॥
दत्तं विषयमाश्रित्य व्याख्यानं सद्वितन्वितम्।
प्रस्तूयते तदेवात्र कृत्वा वर्णविडम्बरम्॥ ७॥

हमारा देश भारतवर्ष विविधताओं का देश है। जितनी चित्र-विचित्र विविधताएँ यहाँ पायी जाती हैं, उतनी विश्व के किसी भी अन्य देश में नहीं। यहाँ की प्रकृति और यहाँ का समाज, दोनों ही विविधता की खान हैं। धर्म-संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान, वस्त्र-आभूषण, बोली-भाषा—इनके रंग अनेक और अपने आप में बेजोड़ हैं, एक से बढ़कर एक। सबकी एक परम्परा है, एक इतिहास है और एक विशिष्ट दर्शन है। अनेकता में एकता और एकता में अनेकता के दर्शन करने हों, प्रत्यक्ष अनुभव करना हो तो इस देश की माटी से मिलना होगा, इस देश के क्षितिज को निहारना होगा, ऋषियों के कण्ठ से फूटती हुई

श्रुतिधारा में अवगाहन करना होगा। सूर्यरश्मियों के समान, उस अनन्त उत्स से न जाने कितनी धाराएँ फूट रही हैं। किसी एक के भी अमृतनिष्यन्द का सीकरमात्र भी जो स्पर्श कर पाया, सौभाग्य है उसका। ऐसी ही एक धारा की ओर हम आपको उन्मुख कराने जा रहे हैं।

भारत की धार्मिक और आध्यात्मिक साधनाओं का लक्ष्य एक ही है—परमपुरुषार्थ की सिद्धि। साध्य एक है किन्तु साधन अनेक हैं, गन्तव्य एक है किन्तु मार्ग अनेक हैं। यही कारण है कि अति प्राचीन काल से ही यहाँ समय-समय पर अनेक महापुरुषों ने अवतरण कर प्रज्ञापूर्वक अपने-अपने अभीष्ट मार्गों का प्रवर्तन किया, जिन्हें हम विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों (अथवा पन्थों) के रूप में जानते-पहचानते हैं। नाथ सम्प्रदाय (पन्थ) भी इन्हीं में से एक है। धार्मिक साधना और लोक कल्याण की दृष्टि से नाथ सम्प्रदाय का योगदान उल्लेखनीय है। सामाजिक समरसता की भूमि से पनपा यह नाथ सम्प्रदाय अपने क्रान्तिकारी और योगानुशासित मत (सिद्धान्त) के कारण एक विशिष्ट गौरव का भाजन है।

नाथपन्थ और हठयोग साधना के मुख्य प्रतिष्ठापक परमाचार्य के रूप में महायोगी गुरु गोरखनाथ ही प्रसिद्ध हैं। यद्यपि हठयोग साधना और यह पन्थ उनसे पहले प्रवर्तित हो चुका था, किन्तु उसकी प्रतिष्ठा और लोकमान्यता का श्रेय गुरु गोरखनाथ को ही जाता है। नाथपन्थ के मूल आचार्य आदिनाथ (शिव) माने जाते हैं। गुरु गोरखनाथ के विषय में प्रसिद्ध है—

'आदिनाथ नाती मछीन्द्रनाथ पूता
निज तत निहारै गोरख अवधूता॥'[१]

अर्थात् गुरु गोरखनाथ, आदिनाथ शिव के पौत्र और मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र थे। अभिप्राय यह है कि वे मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य और आदिनाथ के प्रशिष्य रहे। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि गुरु गोरखनाथ, नाथपन्थ के आचार्य कुल की तीसरी पीढ़ी में हुए। गोरखनाथ, आदिनाथ शिव के अवतारी पुरुष के रूप में सर्वमान्य हैं। शिव के द्वारा प्रवर्तित योग साधना अपने गुरु से मत्स्येन्द्रनाथ को प्राप्त हुई और मत्स्येन्द्रनाथ ने उस योग का उपदेश अपने योग्य शिष्य गोरखनाथ को दिया। गोरखनाथ ने सम्प्रदाय क्रम से प्राप्त उस योग को लोककल्याण की भावना से चतुर्दिक् प्रचारित-प्रसारित किया तथा उसे नाथपन्थ के मूल सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया और इसीलिए वे 'गुरु' की पदवी से विभूषित होकर 'गुरु गोरखनाथ' कहलाये।

नाथपन्थ में प्रचलित मान्यताओं के अनुसार, गुरु गोरखनाथ प्रत्येक युग में भारत के भिन्न-भिन्न पुण्यक्षेत्रों में इस धराधाम पर अवतरित होते हैं। 'कनफटा योगीज' के लेखक ब्रिग्स के अनुसार, गुरु गोरखनाथ पाताल में तपोनिरत रहते हैं और जब विष्णु प्रकट होते हैं, तब सृष्टि रचना में उनकी सहायता के लिए वे पृथ्वी पर आते हैं। इसका तात्पर्य है कि गुरु गोरखनाथ अमर हैं। 'श्रीनाथ तीर्थावली' ग्रन्थ में जोधपुर नरेश राजा मानसिंह ने उल्लेख किया है कि द्वापर युग में प्रभास क्षेत्र में श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह में कंगन बाँधना श्री गोरखनाथ की कृपा से सम्भव हुआ था।[२] इसके अतिरिक्त भी गुरु गोरखनाथ से सम्बद्ध अनेक वृत्तान्त परम्परागत रूप से उपलब्ध होते हैं, जहाँ उनकी उपस्थिति मात्र से किसी विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस प्रकार, ऐतिह्य और इतिहास—दोनों ही गुरु गोरखनाथ को विशेष

महत्त्व प्रदान करते हैं। ईस्वी पूर्व के कालखण्ड में महाराज विक्रमादित्य के अग्रज भर्तृहरि के वैराग्य प्राप्त होने पर उन्हें योग की शिक्षा गुरु गोरखनाथ ने दी थी—'सतगुरु सबदै सिधा भरथरी गुरु गोरष वचन प्रमाणं जी।' कहा जाता है कि आठवीं शताब्दी ई. में मेवाड़ के यशस्वी राणा बप्पा रावल की सेवा से प्रसन्न होकर गुरु गोरखनाथ ने वरदानी खड्ग उन्हें दिया था, जिसकी पूजा मेवाड़ में आज भी नाथपन्थी करते हैं। विभिन्न समय में हुए आचार्यों एवं साधुसन्तों के साथ गुरु गोरखनाथ के मिलन प्रसंग, यथा—गोरख-शंकराचार्य, गोरख-वल्लभाचार्य, गोरख-पूरन भगत, गोरख-गोपी चन्द, गोरख-झूलेलाल, गोरख-नानक देव (जपुजी), गोरख-जंभाजी, गोरख-कबीर; आज भी समाज में कहे-सुने जाते हैं। इससे गुरु गोरखनाथ के विलक्षण व्यक्तित्व और अद्भुत सार्वकालिक व्यापकता का सहज अनुमान किया जा सकता है। वे योगसिद्ध अवतारी महापुरुष के रूप में विख्यात हैं। ऐसे अवतारी महापुरुष काल और देश के सीमा से परे होते हैं। यही कारण कि गोरखनाथ का स्थितिकाल कोई निश्चित नहीं कर पाया। यदि भर्तृहरि को योग के उपदेश को हम ऐतिह्य मान भी लें तो मेवाड़ के राणावंश के संस्थापक बप्पा रावल (आठवीं शताब्दी ई.) को वरदानी खड्ग देने की बात को सहसा अस्वीकार भी नहीं कर सकते। तथापि, हिन्दी साहित्य के अधिकांश समीक्षक गुरु गोरखनाथ का स्थितिकाल दसवीं शताब्दी ई. मानते हैं। इस विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ओर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल की मान्यता विशेष महत्त्वपूर्ण है। दोनों ही यही समय स्वीकार करते हैं।

काल के साथ ही गोरखनाथ के किसी एक नियत स्थान का निर्धारण करना भी अत्यन्त दुष्कर है। वे अपने योग-प्रभा (व) से प्राय: समस्त भारत में विद्यमान रहे। उनका कार्यक्षेत्र हिमालय से दक्षिण सागर पर्यन्त था। असम से पेशावर तक की भूमि उनकी योगसाधना की साक्षी है। नेपाल के राजवंश को उनका प्रत्यक्ष आशीर्वाद प्राप्त था। नेपाल की राजकीय मुद्रा पर गुरु गोरखनाथ के खड़ाऊँ की छाप रहती है। इसी प्रकार, उत्तर भारत से दक्षिण में गोदावरी तट के चन्द्रगिरि नगर तक उनके पदचारण के प्रमाण प्राप्त होते हैं। हिमाचल प्रदेश के काँगड़ा (ज्वाला देवी के धाम) से गोरखनाथ खिचड़ी माँगते हुए चले और पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक स्थान पर, जो अचिरावती (वर्तमान राप्ती नदी) के तट पर अवस्थित है, वे रुके और योग बल से अग्नि उत्पन्न करके खिचड़ी पकायी। प्रसाद ग्रहण करने के पश्चात् यहीं तपोलीन हुए। गुरु गोरखनाथ की तप:स्थली होने के कारण ही इस स्थान का नाम 'गोरखपुर' पड़ गया। नाथपन्थ की मान्यता के अनुसार, गोरखनाथ ने त्रेतायुग में इसी पुण्य स्थान पर अपनी धूनी रमाई थी। लोकवृत्त भी इस मत की पुष्टि करते हैं। वैसे तो समग्र भारतवर्ष में गोरखटीले और गोरखमन्दिर मिलते हैं, किन्तु आज गोरखपुर का गोरखनाथ मन्दिर नाथपन्थ के सर्वमान्य एकमात्र प्रमुख केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित है। वह धूनी आज भी अखण्ड रूप से यहाँ जल रही है और गोरखनाथ की खिचड़ी का अक्षय भण्डार भरने के लिए यहाँ भक्तजनों द्वारा खिचड़ी चढ़ाने की परम्परा अक्षुण्ण रूप से चल रही है। जैसे खिचड़ी में पके सभी अन्न मिलकर 'एकरस' हो जाते हैं, उसी तरह गुरु गोरखनाथ की खिचड़ी सामाजिक समरसता का प्रतीक है।

वर्तमान गोरखपुर में गोरखनाथ की तपोभूमि पर प्रथम मन्दिर के निर्माण का कोई साक्ष्य तो नहीं उपलब्ध होता, किन्तु उसकी अतिप्राचीनता को कोई नकार भी नहीं सकता। उपलब्ध ऐतिहासिक अभिलेखों

से ज्ञात होता है कि पन्द्रहवीं ई. शताब्दी के मध्य अलाउद्दीन खिलजी की कुदृष्टि इस गोरखमन्दिर पर पड़ी थी।[३] इस मन्दिर के प्रथम महन्त के रूप में गुरु गोरखनाथ के शिष्य बरदनाथ का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है। शिष्य परम्परा के परवर्ती महन्त बुधनाथ ने १७०८ से १७३१ ई. के बीच इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। शिष्यों की महन्त परम्परा में बुधनाथजी के पश्चात् रामचन्द्रनाथ, बालकनाथ, वीरनाथ, पियारनाथ, मनसानाथ, सन्तोषनाथ, मेहरनाथ, गोपालनाथ, बलभद्रनाथ, दिलावरनाथ और सुन्दरनाथ उल्लेख्य हैं। महन्त गम्भीरनाथजी ने पाँच वर्ष की आयु वाले राणा नान्हू सिंह को राजस्थान से लाकर गद्दी पर आरूढ़ कराया। दीक्षा प्राप्त करके योग साधना से तप:सिद्ध होकर ये महन्त दिग्विजयनाथ के नाम से प्रख्यात हुए। वर्तमान काल में उनके शिष्य महन्त अवेद्यनाथजी हैं और इनके दीक्षित शिष्य तथा उत्तराधिकारी योगी आदित्यनाथजी हैं, जो अत्यन्त तेजस्वी, धर्मप्राण समाज—संरक्षक, श्रद्धेय प्रखर वक्ता सांसद के रूप में अद्भुत प्रभावशाली हैं। नाथपन्थ का यह सर्वमुख केन्द्र गोरखनाथ मन्दिर, धार्मिक और आध्यात्मिक सत्प्रेरणा प्रदान करने के साथ ही लोककल्याणकारी योजनाओं के कार्यक्रम में अग्रणी भूमिका का निर्वाह करनेवाला विख्यात सिद्धपीठ है।

नाथपन्थ की शिक्षाओं को जन-जन तक पहुँचाने में नाथपन्थ के पारम्परिक शिष्यों का महान् अवदान है। गोरखनाथ ने भारतवर्ष में भ्रमण करते हुए अपने उपदेशों के माध्यम से समाज में गहरी पैठ बनायी। वे सिद्ध सन्त और योगी होने के साथ ही प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे। अत: उनके द्वारा नाथपन्थ के सिद्धान्तों का पथप्रदर्शक साहित्य भी रचा गया। प्रसिद्ध समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन्हें 'गोरखपन्थ की रचना' कहते हैं। उनके अनुसार, ''देशभाषा में लिखी गोरखपन्थ की पुस्तकें गद्य और पद्य दोनों में हैं और वि.सं. १४०० के आस-पास की रचनाएँ हैं।...जो पुस्तकें पायी गयी हैं, उनके नाम ये हैं—गोरखगणेश गोष्ठी, महादेव-गोरखसंवाद, गोरखजप की सत्रह कला, गोरखबोध, दत्त-गोरख संवाद, योगेश्वरी साखी, नरवैबोध, विराण-पुराण, गोरखसार, गोरखनाथ की बानी। ये सब ग्रन्थ गोरख के नहीं, उनके अनुयायी शिष्यों के रचे हैं।[४]'' डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने गोरखनाथ की चौदह पुस्तकों का उल्लेख किया है—सबदी, पद प्राणसंकली, सिख्या दरसन, नरवै बोध, अभैमात्रा योग, आतमबोध, पन्द्रहतिथि, सप्तबार, मछिन्द्र गोरख बोध, रोमावली, ग्यानतिलक, ज्ञान चौंतीसा, पंचमात्रा। डॉ. बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' नाम से गोरखनाथ की रचनाओं का एक संकलन भी तैयार किया है।[५] स्व. रामलाल के सम्पादन में गोरखनाथ की रचनाओं का एक संकलन 'गोरखबानी' नाम से, गोरखनाथ मन्दिर से वि.सं. २०३५ में प्रकाशित हुआ है। इसमें गोरखनाथ विरचित सत्ताईस ग्रन्थ स्वीकार किये गये हैं। गोरखनाथ की ये रचनाएँ हमें नाथपन्थ के सिद्धान्तों और मान्यताओं को जानने-समझने में आधारभूत सामग्री सिद्ध हो सकती हैं।

नाथपन्थ का अपना विशिष्ट सिद्धान्त (दर्शन) और उसकी अपनी मान्यताएँ हैं। गुरु गोरखनाथ स्वयं में परम तपस्वी और पहुँचे हुए साधक थे। वे योगीश्वर सन्त थे। उनकी दृष्टि आत्म केन्द्रित न थी। वे उच्चकोटि के चिन्तक और समाज सुधारक थे। वे धर्म और मनुष्य मात्र के हित-साधन में सदैव निरत थे। वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के दार्शनिक मतों से प्रभावित जान पड़ते हैं। गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्तपरक प्रतीत होते हैं।[६] इसी प्रकार नाथपन्थ की साधना में योगसिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण

भूमिका है। सबसे बड़ी बात यह है कि गुरु गोरखनाथ ने आत्मानुभव को शास्त्रीय पचड़े में न डालकर सीधे लोक की झोली में डाल दिया, क्योंकि वे समर्थ और सहज कवि थे। उनकी 'बानियों' ने परवर्ती सन्त कवियों के लिए सुगम मार्ग प्रशस्त किया।

गुरु गोरखनाथ की समकालिक धार्मिक प्रवृत्तियाँ समाज को विकृत करने में सहायक सिद्ध हो रही थीं। यद्यपि आदिशंकराचार्य ने सनातन धर्म के पुनरुद्धार के साथ ही समग्र भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता को स्थापित करने का महान् प्रयत्न किया था तथापि जैनों और बौद्धों का प्रभाव समाज पर कमोबेश था ही। वे भी स्वयं के साथ ही समाज को भी चारित्रिक पतन की ओर ले जा रहे थे।[७] सर्वाधिक चिन्तनीय था उच्छृंखल कौलाचार का बढ़ता हुआ नितान्त भ्रष्टाचारमूलक प्रभाव—

तंतो ण मंतो ण ण किंपि जाणे
झाणं च णो किंपि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिबामो महिलं रमामो
मोक्खं च जामो फुलमग्गलग्गा॥[८]

(मैं तन्त्र-मन्त्र कुछ नहीं जानता। ध्यान-योगसाधना भी कुछ नहीं जानता। केवल गुरु की कृपा से, मदिरापान करता हूँ, महिलाओं के साथ रमण करता हूँ और इस प्रकार कौलमार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की ओर जाता हूँ॥)

गुरु गोरखनाथ ने समाज को इन विकृतियों से बचाने का भरसक प्रयास किया। इसके लिए उनका सर्वाधिक जोर कायशुद्धि और आचारशुद्धि पर था। वे अन्त:करण की पवित्रता के साथ ही बाह्य पवित्रता के भी पक्षधर थे। यही कारण है उनके सिद्धान्त मात्र शास्त्रीय न होकर व्यावहारिक थे। गुरु गोरखनाथ की कहनी (कथनी=बानी), करनी और रहनी में अभेद है। चूँकि शरीर को सदा से ही धर्म-साधन के रूप में स्वीकार किया गया है (शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्) अत: नाथपन्थ में चरित्र रक्षा के साथ ही शरीर रक्षा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इन दोनों रक्षाओं की साधिका बिन्दुरक्षा अर्थात् ब्रह्मचर्य धारणा है। अत: उन्होंने साधनामार्ग के रूप में 'हठयोग' की पद्धति का प्रवर्तन किया। योगसाधना का एकनिष्ठ प्रयोजन है, चित्तवृत्तियों की बहिर्मुखता को अन्तर्मुखता में परिणत करना[९], ताकि साधक के सभी भाव, ज्ञान तथा कर्म एक आत्मतत्त्व की ओर केन्द्रित हो जाएँ, जिससे साधक के व्यावहारिक जीवन में साम्य और शान्ति आ जाय और वह पूर्णत: आत्मनिष्ठ हो जाय।

गुरु गोरखनाथ के द्वारा प्रवर्तित हठयोग का स्वरूप उनकी बानियों से प्रकट होता है। उनका कथन है—"शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके वायु सञ्चरण निरुद्ध कर देने पर उसका व्यापार चौंसठ सन्धियों में होने लगेगा। इससे निश्चित ही कायाकल्प होगा और साधक को वह सिद्धि प्राप्त हो जायेगी, जिससे उसकी छाया भी नहीं पड़ती"—

अवधू नव घाटी रोकि लै बाट, बाई वणिजै चौंसठि हाट।
काया पलटै अविचलविध, छाया बरजित निपजै सिध॥[१०]

इसके अतिरिक्त, "साधना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाने पर अनाहत नाद सुनायी पड़ता है, जो

समस्त सारतत्त्वों का भी सार है और गम्भीर से भी गम्भीर है। इससे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है, जो स्वसंवेद्य होने के कारण वाणी का विषय नहीं हैं। तब लगता है कि उसके अतिरिक्त सारा वाद-विवाद झूठा है—''

सारमसारं गहर गम्भीर गगन उछलिया नादं।
मानिक पाया फेरि लुकाया झूठा वाद-विवादं॥[११]

अतएव, गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि यदि तुम्हें मेरे वचनों में पूरी आस्था हो जाय और तुम कुछ कर देखना चाहो तो तुम देखोगे कि बिना स्तम्भ के आधार पर स्थित आकाश में बिना तेल और बाती के ज्ञान का प्रकाश हो गया और तुम सदा उसी उजाले में विचरण कर रहे हो—

थंभ विहूणी गगनरचीलै तेल विहूणी बाती।
गुरु गोरख के वचन पतिआया तब द्यौस नहीं तहाँ राती॥[१२]

नाथपन्थ द्वारा स्वीकृत 'हठयोग' का अभिप्राय, हठपूर्वक योग (साधना) से कदापि नहीं है। वहाँ 'हठयोग' पारिभाषिक है और योग की एक अतिविशिष्ट पद्धति है। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धतिः' के अनुसार,

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते॥

अर्थात् 'हं' कार सूर्य है और 'ठ' कार है चन्द्रमा। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा के योग को 'हठयोग' कहा जाता है। यहाँ 'सूर्य' का अर्थ है प्राणवायु और 'चन्द्र' का अर्थ है अपान वायु। इन दोनों की स्वाभाविक गति का निरोध करके साधक सुषुम्णा (नाड़ी) से प्राणवायु का सञ्चार कराता है। इस क्रिया के निरन्तर अभ्यास से वह ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जिसमें उसे कुण्डलिनी जागरणकी सामर्थ्य आ जाती है। तब साधक हठात् मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है जैसे सही चाबी लगते ही बड़ा-से-बड़ा, मजबूत ताला तत्काल ही खुल जाता है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार, सूर्य इड़ा नाड़ी का और चन्द्र पिङ्गला नाड़ी का वाचक है। इन दोनों नाड़ियों पर नियन्त्रण करके आत्मभाव की (प्राणायामपूर्वक) साधना ही 'हठयोग' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाथ सम्प्रदाय में हठयोग साधना का प्रमुख स्थान है। इसका एकमात्र उद्देश्य है कायशुद्धि और जितेन्द्रियता अर्थात् ब्रह्मचर्य, क्योंकि इन दोनों को सिद्ध किये बिना योगी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहता है।

नाथपन्थ में शास्त्र पर कम, लोक पर अधिक बल दिया गया है। शास्त्रार्थ से लोक का भला क्या लेना-देना! सामान्य लोक जीवन में शास्त्रीय मर्यादाओं का पालन तो परम्परागत लोक व्यवहार से ही होता है। लोक जो सर्वगम्य ऋजुमार्ग का ही अभिलाषी और अनुगामी होता है। शास्त्रीय सिद्धान्तों की जटिलता में वह उलझना नहीं चाहता। कहते भी हैं—

'अक्के चेन्मधु विन्देत् किमर्थं पर्वतं व्रजेत्?'

(यदि घर के कोने में मधु मिल जाय तो दुर्गम पर्वत पर कौन जाय?)

लोक कल्याणकामी नाथपन्थ के आचार्यों ने इस बात का भरपूर ख्याल रखा और अपने मत का

लोक में प्रचार करने हेतु लोकभाषा को ही अपनाया। अतीत में महात्मा बुद्ध और तीर्थंकर महावीर भी ऐसा कर चुके थे। समकालीन भक्ति आन्दोलन के प्रणेता सन्त कवियों ने भी यही भाषा सिद्धान्त अपनाया। नाथपन्थ के आचार्यों की मान्यता रही—''संस्कीरत है कूप जल, भाषा बंहतानीर।'' अर्थात् संस्कृत, गहराई में स्थित कुँए का बँधा हुआ पानी है और लोकभाषा तो निरन्तर प्रवहमान (सरिता का) पानी है। लोक प्रसिद्ध है कि 'रमता जोगी बहता नीर'—ये दोनों ही निर्विकार होते हैं। इस उक्ति को कुछ लोग कहते हैं—''चलता फकीर औ' बहता नीर।'' आशय दोनों का एक ही है। बहता पानी साफ, तरोताजा और सर्वजन सुलभ होता है, जबकि कुँए का पानी बँधा हुआ और प्रयत्न श्रम-लभ्य होता है। उपयोग की निरन्तरता के अभाव में वह सड़ने भी लगता है। अत:, अपने प्रयोजन के सुकर साधनत्व की अपेक्षा से संस्कृत और लोकभाषा में यह अन्तर प्रकट किया गया है, न कि संस्कृत की हेयता बताकर उसे त्याज्य कहा गया है। आचार्य कवि राजशेखर ने भी अपने 'कर्पूरमंजरी' में संस्कृत और लोकभाषा की विशेषता कुछ इसी अन्दाज में बतायी है—'परुषा: संक्किअबंधा पाउदबंधो वि होइ सुउमारो' (परुषा: संस्कृतबन्धा: प्राकृत बन्धोऽपि भवति सुकुमार:) अर्थात् संस्कृत रचनाएँ कठोर होती हैं और प्राकृत=लोकभाषा की रचनाएँ कोमल होती हैं। अस्तु, अपनी-अपनी सोच है—'सो सबको नीको लगे जेहि जेही सों काज।' निस्सन्देह नाथपन्थ के साहित्य में लोकभाषा को ही प्रश्रय मिला, क्योंकि लोक को उनकी ही भाषा में समझाना सरल और प्रभावकारी होता है।

अब हम दृष्टि डालते हैं, विषय के उत्तर पक्ष की ओर और देखते हैं कि नाथपन्थ का भक्ति-आन्दोलन से सरोकार था (है) या नहीं।

विश्व के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के सर्वप्रथम मन्त्र—'अग्निमीडे¨॥' में ही भक्ति का बीज सन्निहित है। वैदिक ऋषियों के द्वारा अपने अभीष्ट देवताओं की दृष्ट (कृत) स्तुतियाँ इस ग्रन्थ में संकलित हैं। इन्हीं स्तवनों ने परवर्ती काल में स्तोत्र साहित्य को जन्म दिया। यह वैदिक भक्ति धारा पुराणों और इतिहास (रामायण-महाभारत) ग्रन्थों से होती हुई लौकिक संस्कृत साहित्य में आयी। ऋषियों ने अपने अभीष्ट देवताओं की स्तुति करके उनकी प्रसन्नता और अपने योग-क्षेम की कामना की थी, वही भाव कालान्तर में समाज-व्यापी हो गया। यद्यपि मोक्ष की कामना से ज्ञान[१३] और स्वर्ग की कामना से यज्ञीय कर्मकाण्ड[१४] का एक समानान्तर मार्ग भी चला, किन्तु भक्तिमार्ग को वह अतिक्रान्त न कर सका। ज्ञानमार्ग कठिन था और यज्ञ (कर्मकाण्ड) मार्ग व्यय साध्य था। भक्ति मार्ग सहज के साथ ही व्यय साध्य भी नहीं। अत: जनमानस भक्तिमार्ग की ओर स्वभावत: आकृष्ट हुआ।

भक्ति का स्वरूप निर्धारित करने के लिए आचार्यों ने इसे भी शास्त्रीयता से आवृत किया। श्रीमद्भागवत महापुराण और श्रीमद्भगवद्गीता जैसे महनीय ग्रन्थों ने तो भक्ति का स्वरूप प्रतिपादित किया ही, 'नारदभक्तिसूत्र' जैसे भक्ति के नियामक सूत्र ग्रन्थों का प्रकल्पन भी किया गया। श्रीमद्भागवत् महापुराण भक्ति विषयक एक रूपक (-कथा) भी प्रस्तुत करता है। भागवतमाहात्म्य के अन्तर्गत ही भक्ति विषयिणी कथा निबद्ध है। तरुणी भक्ति के दो पुत्र—ज्ञान और वैराग्य जराजर्जर और कृशकाय हो पृथिवी पर पड़े हैं। भक्ति कहती है कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई हूँ और गुर्जर प्रान्त में आते-आते वृद्धा

हो गयी, किन्तु वृन्दावन पहुँचकर पुनः तरुणी हो गयी हूँ।[१५] वस्तुतः वृन्दावन भक्तिधाम है। वहाँ निरन्तर भक्तिसुधा बरसती रहती है। सम्भवतः श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त कथन के आलोक में ही यह आमाणक प्रचलित हुआ होगा—'भक्ति द्राविड़ी ऊपजी लाये रामानन्द।' किन्तु भक्ति के प्रचार-प्रसार में आदिशंकराचार्य का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि उन्होंने अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की किन्तु ज्ञानमार्ग के प्रदर्शक इस वीतरागी संन्यासी जगद्गुरु शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषदें और श्रीमद्भगवद्गीता) पर प्रौढ़ भाष्य लिखने के साथ ही अनेक देवी-देवताओं के भावपूर्ण स्तवन में विपुल स्तोत्र साहित्य की भी रचना की है। इन स्तोत्रों के माध्यम से उन्होंने जनमानस में व्यापक रूप से भक्ति का बीजारोपण किया। सच कहें तो भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात यहीं से हुआ।

आचार्य शंकर का आविर्भाव जिस काल में हुआ, उस काल में दक्षिण और मध्य भारत में कौलमत का बड़ा जोर था। वे कौलमतानुयायी तान्त्रिक सिद्धियों और पञ्चमकारोपासना के माध्यम से जनता को भ्रमित कर सामाजिक विकृतियों को खूब हवा दे रहे थे। आचार्य शंकर ने अनुभव किया कि कोरे वेदान्तोपदेश से काम चलने वाला नहीं है। अतः उन्होंने जनता का भ्रम तोड़ने और उन्हें भ्रष्टमार्ग पर जाने से रोकने के लिए भक्तिमार्ग का आश्रय लिया। चारों दिशाओं में अपने पीठ स्थापित किये, तीर्थों का जीर्णोद्धार कराया, मन्दिरों का निर्माण कराया, देवी-देवताओं की प्राणप्रतिष्ठा पूर्वक पूजा-आराधना प्रारम्भ करायी और इस प्रकार, जनता को पथभ्रष्ट होने से बचाया। अल्पायु आचार्य शंकर का भक्तिमार्ग के प्रवर्तन में यह महनीय योगदान था। आचार्य शंकर ने भक्ति को एक नवीन आयाम दिया। जब ज्ञान में प्रीति की सुगन्ध बस जाय तो वही भक्ति होती है। अतः शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित भक्ति का मार्ग व्यावहारिक वेदान्त के दरवाजे से होकर जाता है।

यदि सांख्य और योग एक-दूसरे के पूरक हैं तो वेदान्त भी योग से अस्पृष्ट नहीं है। वेदान्त जिस आत्म-साक्षात्कार की बात करता है, वह समाधि में पहुँचे बिना सम्भव नहीं। अतः वेदान्ती का योगी होना आवश्यक है। इसी तरह एक सच्चा भक्त भी योगी ही है, क्योंकि वह अनन्य भाव से अपने इष्टदेव के प्रति समर्पित होता है।[१६] भक्ति वस्तुतः योग की कसौटी है। जो अनन्य प्रेम किसी का अपनी आत्मा के प्रति होता है, वही यदि गुरु, देव अथवा परमात्मा के प्रति हो तो उसे भक्ति कहा जायेगा। यदि ऐसा नहीं है, तो वह भक्ति नहीं भक्ति का आडम्बर होगा—"मन न रंगाय रंगायो जोगी कपड़ा।" मार्ग या साधन की विविधता के कारण भक्ति के अनेक प्रकार हैं। 'नवधा भक्ति' प्रसिद्ध है। जिस किसी मार्ग का आश्रयण करके भक्त एकनिष्ठ होकर, अनन्तभाव से ईश्वर की उपासना करता है वह तो शाश्वत शान्ति और मोक्ष की प्राप्ति कराता है। कभी-कभी भक्ति की दृढ़ता के कारण अपने इष्ट देवता में अनुरक्त भक्त मुक्ति की आकांक्षा न कर जन्म-जन्मान्तर में अपने आराध्य की अजस्र भक्ति की कामना करता है।

जब हम 'भक्ति-आन्दोलन' की बात करते हैं तो बात जाती है, भक्ति के व्यक्तिगत स्तर से उठकर सामाजिक स्तर की ओर। यह स्थिति हमें मध्यकाल अर्थात् चतुर्दश शताब्दी ई. के आसपास मिलती है। हम देख चुके हैं कि भक्ति आन्दोलन का बीजवपन आचार्य शंकर ने आठवीं शताब्दी में ही कर दिया था और उस समय की सामाजिक स्थिति स्वेच्छाचारी 'स्वधर्मियों' के कारण विषम हो रही थी।

आचार्य शंकर का भक्ति आन्दोलन उन स्वेच्छाचारियों की अधार्मिक कुचालों से समाज की रक्षा के लिए था और अपने इस प्रयास में आदि शंकराचार्य को सफलता भी मिली थी, किन्तु मध्यकाल के इस भक्ति-आन्दोलन की परिस्थितियाँ कुछ भिन्न थीं। इस समय भारतीय समाज पर संकट अभारतीय विधर्मियों के कारण था, जो दुर्योग से शासक थे। उनका समग्र प्रयत्न था कि भारतीय धर्म और संस्कृति को समूल नष्ट कर दिया जाय। इसके लिए वे अत्याचार की किसी भी सीमा तक जाने को कटिबद्ध थे। जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी और अपनी रक्षा के लिए किसी सबल आश्रय की आशा में थी। इन्हीं विकट परिस्थितियों में स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य का शुभ प्राकट्य हुआ। उन्होंने देखा कि सनातन धर्म के सभी सम्प्रदाय अपने को श्रेष्ठतर किं वा, श्रेष्ठतम सिद्ध करने की प्रतिद्वन्द्विता में वैर-ईर्ष्या से भरे हुए परस्पर ही विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं और उधर विधर्मी जनता को आक्रान्त करते जा रहे हैं। उनका प्रतिकार कोई भी नहीं कर रहा है। इसके लिए जिस परस्पर सद्‌भाव और एकजुटता की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति निःसन्देह स्वामी रामानन्द ने की। अपनी सिद्धियों और चमत्कारों के प्रभाव से उन्होंने विधर्मियों को भी हतोत्साहित किया। जनता में आत्मविश्वास दृढ़ करने के लिए उन्होंने आदर्श चरित्र लोकनायक एवं लोकरक्षक श्रीराम को परमाराध्य के रूप में स्थापित कर रामभक्ति की प्रबल धारा लोक में प्रवर्तित की। उनके दीक्षित शिष्यों और अनुयायियों ने सशक्त रूप से इस सत्प्रयत्न में भरपूर सहयोग किया। राष्ट्रीय चेतना के पुट के साथ इस भक्ति आन्दोलन ने जन आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया। आगे चलकर यह निर्गुण और सगुण— दो धाराओं में विभक्त हो गया। निर्गुण भक्ति का आधार था परमात्मा का निराकार रूप और सगुणभक्ति का आधार बना परमात्मा का साकार (अवतारी) रूप।

नाथपन्थ के सिद्धान्तों का अवगाहन करने के पश्चात् जब हम भक्ति आन्दोलन की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि योग-साधना समान रूप से दोनों में अनुस्यूत है। चित्तवृत्तियों के निरोध[१७] के बिना अनन्या भक्ति की साधना कहाँ सम्भव है भला! इसीलिए भक्तिमार्गी आचार्य भी योग पर विशेष बल देते हैं। यदि सूक्ष्म निरीक्षण करें तो पायेंगे कि निर्गुण भक्ति की साधना में नाथपन्थ का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें भी कबीर और दादू विशेष उल्लेखनीय हैं। कबीर की मस्ती और फक्कड़पन में हमें नाथपन्थ के योगी साधकों की जीवनचर्या झलकती है। गोरखबानी और कबीरबानी के स्वर एक जैसे लगते हैं। गोरख के समान ही कबीर की साखियों में 'अवधू' सम्बोधन प्राप्त होता है। कबीर स्वयं में एक विलक्षण हठयोगी थे। मनसा, वाचा, कर्मणा कबीर जैसे गोरखनाथ की ही परछाईं हैं। क्योंकि गोरखनाथ भी लोकोन्मुखी सन्त क़वि थे। शास्त्रीय जकड़बद्धता की अस्वीकृति कबीर को गोरखनाथ से ही मिली थी। गोरखनाथ की ही तरह कबीर भी पारम्परिक ज्ञान के स्थान पर स्वसंवेद्य ज्ञान को ही वरीयता देते थे। कबीर ने भी नाथपन्थानुमोदित जाति-पाँति के भेदभाव से ऊपर उठकर सामाजिक समरसता का पक्ष लिया। वे भी रूढ़ियों के विरुद्ध थे, क्योंकि रूढ़ियाँ सामाजिक विभेद तो पैदा करती ही हैं, साथ ही कुण्ठाग्रस्तता के कारण प्रगतिशील चिन्तन में अवरोधक भी होती हैं। गोरखनाथ की तरह कबीर ने भी इनको त्यागने का उपदेश दिया है।

''गुरु गोरखनाथ द्वारा स्वीकृत योगमार्ग की प्रभविष्णुता इतनी बढ़ गयी थी कि तमाम भक्ति-

सम्प्रदायों में यौगिक क्रियाओं की अन्विति देखी जा सकती है। मध्यकालीन कोई भी ऐसा सन्त कवि नहीं, जो मन की एकाग्रता विषयक प्रसंग में गुरु गोरखनाथ का स्मरण न करता हो। वह सगुण हो या निर्गुण, कृष्ण काव्य हो या राम काव्य, सूफी की प्रेम रस साधना हो या निर्गुणियों का ज्ञानमार्ग हो, सर्वत्र गोरखनाथ अपने योगदर्शन के रूप में उपस्थित हैं। एक समय तो ऐसा आया जब समस्त भारतीय धर्मसाधना में योग केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्वीकार कर लिया गया। गोस्वामी तुलसीदास जैसे युगकवि को भी कहना पड़ा—"गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।[१८]" (सूफी सन्त कवि)। जायसी ने कहा—"जोगी सिद्ध होय तब, जब गोरख सों भेंट।[१९]"

कालान्तर में हिन्दी साहित्येतिहास के समीक्षकों ने यहाँ तक कह डाला कि भक्ति की उत्पत्ति योग की भूमि में ही सम्भव हुई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन बड़ी ही प्रसिद्धि को प्राप्त हो गया—"योग के थाले में प्रेम का बीज पड़ने से भक्ति रूपी लता लहलहा उठी।[२०]" तात्पर्य यह है कि समस्त मध्यकालिक (भक्ति) साहित्य गोरखनाथ के व्यक्तित्व की तेजस्विता से भासमान है। योग, बल की वैज्ञानिकता को हृदयंगम करता है। सामाजिक जीवन के दर्शन को आत्मसात् करता है तथा एक विशाल जन समाज को अपनी अन्तश्शक्ति से दूर-दूर तक प्रभावित करता है। राघवानन्द, रामानन्द, कबीर, रैदास, दादू, दरियासाहब आदि भक्तिमार्गी सन्त कवियों ने, सम्प्रदाय प्रमुखों ने गोरखनाथ और उनके योग को भूरि-भूरि सराहा।"[२१] इस प्रकार, गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रदर्शित योगमार्ग की भक्ति आन्दोलन में महती भूमिका सिद्ध होती है।

गुरु सदैव सर्वत्र पूज्य हैं। वैदिक, पौराणिक और लौकिक वाङ्मय गुरु की महिमा से अटे-पटे हैं। नाथ सम्प्रदाय में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। गुरु की महत्ता को भक्ति सम्प्रदायों ने भी अविकल रूप से स्वीकार किया है—

'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काको लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपणे गोविन्द दियो बताय॥'
'बहे बहाये जात थे लोक (ग) वेद के साथ। पैंड़े में सतगुरु मिले दीपक दीन्हा हाथा॥'
'गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृगदोष विभंजन॥'
'बन्दउँ गुरु पद पदुम परागा।'

इत्यादि निर्गुण भक्तिधारा में 'सद्गुरु' की सविशेष प्रतिष्ठा है।

निष्कर्षतः कहना समीचीन होगा कि मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन नाथपन्थ से पर्याप्त रूप से प्रभावित है॥ इति शम्॥

सन्दर्भ

१. गोरख बानी, रागरामग्री, पद ३७।
२. डॉ. उदय प्रताप सिंह : पूरब रंग की साधु कविता, पृ. ७, पाद टिप्पणी २।
३. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका।
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ११

५. डॉ. नगेन्द्र (सम्पादक) : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ६०
६. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, द्वितीय संस्करण, पृ. ५७
७. जैन मुनियों ने चरित्ररक्षा के प्रति सावधान किया है—"चारित्तं खलु धम्मो।"
८. राजशेखर : कर्पूरमञ्जरी, जवनिकान्तर १, पद्य २२।
९. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' —पतञ्जलि : योगसूत्र, १.१।
१०. गोरखबानी, उत्तर भारत की सन्त परम्परा से उद्धृत।
११. गोरखबानी (सबदी-९) —पूरब रंग की साधु कविता, पृ. १५
१२. वही, उत्तर भारत की सन्त परम्परा से उद्धृत।
१३. ऋते ज्ञानान्नं मुक्ति:।
१४. स्वर्गकामो यजेत्।
१५. उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता। क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
वृन्दावनं पुन: प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी। जाताऽहं युवती सम्यक् श्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥—श्रीमद्भागवत १.१.४८.५०।
१६. (क) 'अनन्य चेता: सततं यो मां स्मरति नित्यश:।
तस्याहं सुलभ: पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन:॥'—श्रीमद्भग., ८.१४
१६. (ख) 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासतें।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षमं वहाम्यहम्॥—श्रीमद्भगवद्गीता, ९.२२
१७. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' — पातञ्जलयोगसूत्र, १.१
१८. मेरी दृष्टि में पाठ होना चाहिए—"भगति भगायो भोग।" 'लोग' पद चिन्त्य है।
१९. डॉ. उदय प्रताप सिंह : पूरब रंग की साधु कविता, तथागत प्रकाशन, सारनाथ, पृ. ९
२०. सूखे थाले में बीज कैसे अंकुरित होगा? अत: कथन होना चाहिए—"समर्पण रूपी जल से भरे योग के थाले…।"
२१. डॉ. उदय प्रताप सिंह : पूरब रंग की साधु कविता, पृ. ९

□

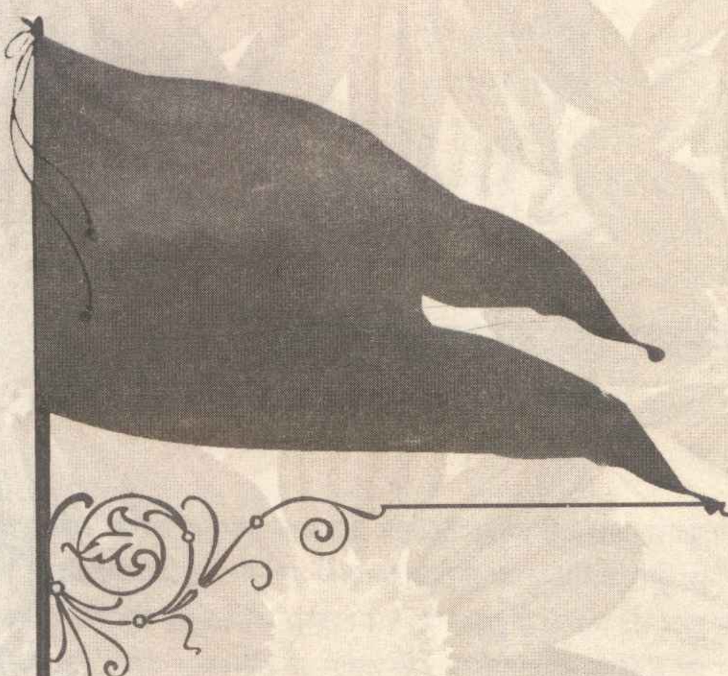

हिन्दू धर्म के विविध मत

भारतीय दर्शन की परम्परा

—**डॉ. श्रीप्रकाश दुबे**

प्रत्येक व्यक्ति अनुभव-जगत् को अपने दृष्टिकोण से देखता-समझता है। दार्शनिक या फिलॉसफर की दृष्टि यद्यपि सामान्य-जन जैसी ही होती है परन्तु अधिक तर्क-संगत और व्यवस्थित होने के कारण 'दर्शन' का रूप ले लेती है। संस्कृत के 'दृश्' धातु से उत्पन्न इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ है 'सत्' को देखने की 'विधा'। अनुभूति के आधार पर तर्क के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार ही दर्शन का लक्ष्य है। अंग्रेजी के 'फिलॉसॅफी' शब्द का प्रयोग इसके समानार्थक माना जाता है जो ग्रीक भाषा के दो शब्दों 'फिलो' तथा 'सोफिया' के योग से बना है। 'फिलॉसॅफी' ज्ञान का प्रेम है तो दर्शन 'सत्य का ज्ञान'। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरस (ई.पू. ५७०-८९०) ने किया था।

प्रकृति को देखकर आश्चर्यचकित मन इसके आधार, प्रारम्भ और प्रयोजन के बारे में प्रश्न करता है और समाधान न मिलने पर भी इन्हें अतिप्रश्न न मानकर सुलझाने में तत्पर रहता है। असन्तुष्ट सुकरात से लेकर रमण महर्षि के जिज्ञासु मन की दार्शनिक परम्परा के प्रारम्भ का साहित्यिक उल्लेख प्राग्वैदिक इतिहास में नहीं मिलता है परन्तु वैदिक ऋषि के 'कस्मै देवाय हविषा विधेम्?' तथा केनोपनिषद् के 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' इत्यादि प्रश्नों में मनुष्य की मूलभूत जिज्ञासा का उदय स्पष्ट है। यहाँ इसका संक्षिप्त परिचय इस विश्वास के साथ दिया जा रहा है कि यह आज के युवामन को अपनी अनुपम धरोहर के प्रति जिज्ञासु बनाने में सहायक हो सकेगा।

१. प्राग्वैदिक काल—भारतीय धर्म-दर्शन का आधार प्रायः वैदिक युग का साहित्य रहा है। वेदों में अन्य प्राचीन सन्दर्भों के उल्लेख से हम प्राग्वैदिक संस्कृति का केवल अनुमान लगाते रहे हैं। परन्तु १८५६ में कनिंघम ने मुल्तान और लाहौर के बीच रेल लाइन बनवाने के समय उस क्षेत्र का सर्वेक्षण करते हुए हड़प्पा (हरिपूयीय) के अवशेषों का उद्घाटन किया। सिन्ध के लरकाना क्षेत्र में १९१७ और १९२२ के बीच पुरातत्त्वविद् जॉन मार्शल तथा आर.डी. बनर्जी ने मोहनजोदड़ो (मृतकों का टीला) की खुदाई कर हड़प्पा की ही श्रृंखला में इसके अवशेषों को जोड़ते हुए इस नागर-संस्कृति को लगभग १५ हजार वर्ष ईसा-पूर्व का स्वीकार किया। पुरावशेषों के उत्खनन में प्राप्त पशुपति मुद्रा में योग-साधना और शैव-दर्शन

का प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है। मृण्मूर्तियों में शाक्त-दर्शन का प्रारम्भ परिलक्षित है। पशुपति के निकट स्थित वृषभ जैन तीर्थंकर ऋषभ देव का प्रतीक माना जाता है।

सिन्धु घाटी की नागर संस्कृति आर्यों की आरण्यक संस्कृति से संघर्ष में पराजित, नष्ट और लुप्त हो गयी ऐसा कुछ लोग अनुमान करते हैं। पुरियों का नगरियों के निर्माण में दक्ष असुरों का आर्यों के प्रमुख सेनानी देवता पुरन्दर (इन्द्र) ने विनाश किया या जलप्लावन से वे नष्ट हुए यह प्रश्न अब गौण है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि हजारों वर्ष पूर्व सिन्धु के तटवर्ती प्रदेश एक विकसित नागर-संस्कृति से सम्पन्न थे जिसे हम लोकायत, आसुर या अनार्य जीवन-पद्धति कहते हैं।

२. वैदिक युग—विश्व के उपलब्ध साहित्य में ऋग्वेद संहिता को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है और भाषा के आधार पर इसका काल कम-से-कम लगभग ५ हजार वर्ष ईसा-पूर्व अनुमानित है। ऋक्, (मन्त्र या प्रेरित गीत) का यह संकलन (संहिता) ज्ञान (वेद) का प्राचीनतम अभिलेख है। ऋग्वेद के कुछ प्रमुख देवताओं (इन्द्र, वरुण, मित्र, नासत्य) का वैवाहिक प्रसंग में आवाहन ई. पू. १४वीं शताब्दी में बेबीलोन के हिचानी राजा की कन्या से राजकुमार मितानी के विवाह पर राजकुमार के अभिलेख (कंकारा के समीप) में भी हुआ है। वैदिक संस्कृति की प्राचीनता को सिद्ध करने वाले भारत के बाहर के साक्ष्यों में यह सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेद का प्रधान देवता इन्द्र है। परन्तु ऋग्वेद संहिता में सबसे पहले अग्नि का आह्वान किया गया है। आज भी भारतीय धर्म-व्यवस्था में अग्नि का प्रमुख स्थान है जबकि इन्द्र की उपासना समाप्त हो गयी है। मित्र, वरुण, द्यावा-पृथिवी इत्यादि प्राकृतिक तत्त्वों को देवता माना गया क्योंकि उनमें दिव्यता (चमक) पाई गई। उषा और सन्ध्या के सौन्दर्यमय रूप ने भी ऋषियों को लोभित किया और उनकी रूप-राशि का वर्णन मन्त्र-द्रष्टाओं ने मुग्ध होकर किया।

कालक्रम के अनुसार वैदिक साहित्य विपुल हो गया। ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्व वेदों का सम्पादन हुआ। प्रत्येक वेद में मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों का निर्धारण किया गया। व्यक्ति के जीवन के चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) में वैदिक अध्ययन का क्रमशः विधान हुआ। वेदों के मन्त्र या संहिता भाग पद्यात्मक हैं और देवताओं की उपासना से सम्बद्ध हैं। ब्राह्मण भाग यज्ञयागादि या कर्मकाण्ड से सम्बन्धित हैं और गद्यात्मक हैं। आरण्यक भागों में गृहस्थाश्रम के उपरान्त विरक्त जीवन की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्तियों का निरूपण है। इनमें गद्य-पद्य दोनों ही माध्यमों से रचनाएँ हुई हैं। उपनिषदों में शिष्य गुरु के समीप बैठकर अध्यात्म का गूढ़ चिन्तन करता है और मोक्ष प्राप्त करने का अभ्यास करता है। ये भी गद्य तथा पद्य दोनों में रचित हैं। दर्शन की दृष्टि से संहिताओं में ऋग्वेद संहिता के पुरुष सूक्त (X-१०) तथा नासदीय सूक्त (X-१२९) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पुरुष सूक्त में सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में एक विराट् पुरुष की कल्पना की गयी है। सृष्टि के चराचर सभी तत्त्व उसी के अंश हैं। चार वर्णों का सर्वप्रथम उल्लेख यहीं मिलता है। नासदीय सूक्त स्पष्ट करता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में न असत् था न सत्; केवल असीम का साम्राज्य था। बाद में सभी तत्त्वों का विकास होता है। ऋग्वेद संहिता में ही वरुण, अग्नि तथा इन्द्र जैसे प्रमुख देवताओं की उपासनाओं में गत् के प्रत्यय

का उल्लेख (देखिए—१/१२३) मिलता है जो ग्रीक 'लोगस' तथा चनिक 'ताओ' के समान ही विश्व को धारण करने वाले विधान या कर्म के रूप में विकसित होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में शतपथ और आरण्यकों में बृहदारण्यक में दार्शनिक रुचि स्पष्ट दीखती है।

उपनिषद् साहित्य वस्तुतः दर्शन का शाश्वत स्रोत है। प्रायः सभी वेदों के अन्तिम अंश उपनिषद् होने के कारण इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। 'वेदान्त' शब्द इस अर्थ में भी सटीक है क्योंकि वेदों की श्रेष्ठतम शिक्षा या विद्या इनमें निहित है। इन उपनिषदों को आधार मानकर विकसित दार्शनिक परम्परा का नाम भी 'वेदान्त' हो गया। उपनिषदों में कथानकों तथा संवादों के माध्यम से तात्त्विक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। बृहदारण्यक का याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद, छान्दोग्य का आरुणि-उद्दालक संवाद तथा कठोपनिषद् का यम-नचिकेता संवाद परम तत्त्व के विवेचन के महत्त्वपूर्ण प्रसंग हैं जिनमें मानव चेतना की उच्च भूमिका परिलक्षित होती है। परम तत्त्व को सच्चिदानन्द मानकर उससे अद्वैत सम्बन्ध बताना उपनिषदों को अभीष्ट है। 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' के महावाक्यों के माध्यम से ब्रह्मात्मैक्य का निरूपण किया जाता है। यद्यपि उपनिषदों की संख्या १०८ तक मानी जाती है परन्तु प्रमुख उपनिषदों के रूप में उन्हीं को मान्यता प्राप्त है जिन पर शंकाराचार्य के भाष्य उपलब्ध हैं और ऐसे उपनिषद् लगभग १० ही हैं।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य अलौकिक ज्ञान से युक्त होने के कारण अपौरुषेय माना जाता है क्योंकि ईश्वर किसी व्यक्ति या समुदाय में ऐसी शक्ति नहीं जो इनकी रचना कर सके। ईश्वरवादी इसे ईश्वर-कृत मानते हैं क्योंकि वह सर्व-शक्तिमान है। अनीश्वरवादी वैदिक दर्शन (मीमांसा) वेदों को स्वयम्भू मानता है। जो भी हो, वैदिक दर्शन वेदों की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं करते और इसे आप्त मानते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में वेदों की ज्ञान-राशि का कोई विकल्प नहीं है।

३. महाकाव्य-युग—ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी के आस-पास से कतिपय शताब्दियों में अनेक प्रकार के साहित्य, सूत्र और शास्त्र की रचना हुई। सुविधा की दृष्टि से इसे महाकाव्य-युग कहा जा सकता है। महाभारत और रामायण इस काल की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। व्यास ने कृष्ण के चरित्र को केन्द्र बनाकर मनुष्य के व्यवहार तथा अध्यात्म का सर्वांगीण चित्रण किया है। चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष तथा वर्णाश्रम का सम्यक् विवेचन यहाँ मिलता है। मनुष्य की गरिमा और श्रेष्ठता का प्रतिपादन ही इस महाकाव्य का अभीष्ट है। रामायण में आदि कवि वाल्मीकि ने राम के आदर्श चरित्र का अंकन मानवीय दुर्बलताओं की पृष्ठभूमि में जिस ढंग से किया है वह विलक्षण है। परवर्ती साहित्य-रचना के लिए यह महाकाव्य उपयोगी सिद्ध हुआ।

महाभारत के भीष्म पर्व (अध्याय २३-४०) को श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्धि मिली है। सप्तशती के रूप में प्राप्त इस ग्रन्थ में युद्ध-भूमि में संवाद के माध्यम से श्रीकृष्ण ने अर्जुन को (तथा प्रकारान्तर से मनुष्य मात्र को) विषम परिस्थितियों में भी कर्तव्य या धर्मच्युत न होने का उपदेश दिया है। कर्म-योग के इस मूल उपदेश के साथ ही ज्ञान तथा भक्ति का प्रवाह भी इस ग्रन्थ में मिलता है जिसके कारण सभी प्रकार की प्रवृत्तियों वाले लोग इससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं तथा अपनी रुचि के अनुसार इसकी व्याख्या करते हैं। भारत के प्रायः सभी प्रमुख आचार्य और मनीषी भगवद्गीता पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत

करते हैं। विश्व के धर्म-ग्रन्थों में इसका विशिष्ट स्थान है।

महाकाव्य-युग में ही रचित विभिन्न स्मृतियों में समाज-दर्शन का विस्तृत विवेचन मिलता है। मनुष्य के संस्कारों, कर्तव्यों, अधिकारों इत्यादि का मनु, पराशर, गौतम इत्यादि स्मृतिकारों ने सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है। आज भी हिन्दू समाज-व्यवस्था पर इनका विपुल प्रभाव है। धर्मशास्त्रों के इस साहित्य-समूह के अतिरिक्त अर्थ और काम शास्त्रों पर भी साहित्य संरचना हुई। कौटिल्य (ई.पू. ३२१-२९८) ने अपने अर्थशास्त्र में समाज-नीति तथा अर्थ-व्यवस्था का विशद विवेचन किया है। कराधान एवं दण्ड का जो विधान कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है वह अनुकरणीय है। वात्स्यायन का कामसूत्र जीवन के आनन्द का अनोखा ग्रन्थ है। प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी के बीच कैसे सम्बन्ध हों, इनका मानक विधान यहाँ मिलता है। सामाजिक शिष्टाचार का भी यहाँ समुचित विवेचन किया गया है। मोक्ष-शास्त्र से सम्बन्धित सूत्र-ग्रन्थों की रचना का युग भी यही रहा। ब्रह्मसूत्र, मीमांसा-सूत्र, योग-सूत्र इत्यादि इसी काल की रचनाएँ हैं। इन्हीं सूत्रों का आधार मानकर कालान्तर में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ।

पुराणों की रचना भी महाकाव्य युग में ही शुरू हुई। महाकाव्यों-इतिहास तथा पुराणों को संयुक्त रूप से पंचम वेद कहा जाता है। धार्मिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार में पुराणों का विशेष योगदान है। विष्णु के दस अवतारों का विशद विवेचन भी सृष्टि-वर्णन के साथ ही इनमें उपलब्ध है। मुख्य पुराणों की संख्या अठारह मानी गयी है जो निम्नलिखित है—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ तथा ब्रह्माण्ड। आगम ग्रन्थों में शैव, वैष्णव तथा शाक्त सम्प्रदायों की विशिष्ट धार्मिक परम्पराओं की विवेचना मिलती है जिनका उल्लेख बाद में किया जाएगा।

४. दार्शनिक सम्प्रदाय—प्रस्थान भेद के कारण परम्परागत दार्शनिक चिन्तन में अनेक सम्प्रदायों का निर्माण हुआ। भारतीय दर्शन के इतिहास के सम्भवतः सर्वप्रथम लेखक हरिभद्र सूरि (छठीं से आठवीं शताब्दी के मध्य) ने अपने 'षड्दर्शन समुच्चय' में छः दर्शनों का परिचय दिया है—बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय। चौदहवीं शताब्दी के अद्वैतवादी विचारक मध्वाचार्य ने अपने 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में पन्द्रह सम्प्रदायों का निरूपण किया है—चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, लकुलीश पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनीय, पाणिनि, सांख्य और पातञ्जल। इन दर्शनों को मुख्यतया दो खण्डों में विभाजित किया जाता है—आस्तिक और नास्तिक। वेदों में आस्था रखने वाले सम्प्रदाय आस्तिक और इनकी निंदा करने वाले दर्शन नास्तिक कहलाते हैं।

पश्चिमी दार्शनिक चिन्तन की अपेक्षा भारतीय चिन्तन-परम्परा धर्म-प्रधान रही है। कारणार्थक 'कृ' धातु से उत्पन्न 'कर्म' मानव-जीवन के प्रधान लक्ष्य का निर्धारण करता है। चार्वाकों और माध्यमिकों के अतिरिक्त सभी दर्शन धार्मिकता-युक्त हैं। धर्म का स्थूल आकार कर्म होता है अतः अधिकांश दर्शन (चार्वाकों को छोड़कर) कर्मवाद में विश्वास करते हैं। कारण-कार्य नियम से सम्बद्ध होने के कारण कर्म-सिद्धान्त पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म का भी विधान करता है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में हम मुख्यतया चार प्रकार के विवेचन पाते हैं—तत्त्व, ज्ञान, आचार और मोक्ष। परम तत्त्व एक है या अनेक इसकी विचारणा

तत्त्व-शास्त्र में होती है। तत्त्व-ज्ञान किस प्रकार से होता है यह ज्ञान मीमांसा या प्रमाण-शास्त्र के अन्तर्गत विश्लेषित होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि में से एक या अधिक प्रमाण दार्शनिक चिन्तन में आवश्यक है। आचार या नीतिशास्त्र में व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों का मूल्यात्मक विवेचन होता है और आदर्श के परिप्रेक्ष्य में व्यवहार का निर्देश होता है। प्राय: सभी दर्शन पंच-महाव्रतों या शीलों का विधान करते हैं। मोक्ष-विवेचन भी लगभग सभी दर्शनों का अनिवार्य अंग है। जीवन और जगत् के यथार्थ का भ्रामक बन्धन से मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ने का प्रयास मानव मस्तिष्क के लिए सहज एवं स्वाभाविक है। दु:ख से आत्यन्तिक मुक्ति को निर्वाण, कैवल्य, मुक्ति या मोक्ष, जो भी कहें प्राप्त करना अभीष्ट है। यह मुक्ति जीवन-काल में ही सम्भव है या मरणोपरान्त, यह प्रश्न विवादास्पद है। यहाँ इन प्रश्नों पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के विचारों को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किया जाएगा।

(अ) नास्तिक-दर्शन—भारतीय दर्शन में चार्वाक, जैन और बौद्ध सम्प्रदाय नास्तिक कोटि में माने जाते हैं। आजीवकों का एक लुप्त दार्शनिक सम्प्रदाय भी नास्तिक परम्परा के अन्तर्गत आता है।

१. चार्वाक—यथार्थवादी चिन्तन-पद्धति को लोकायत या चार्वाक दर्शन में सम्यक् प्रतिनिधित्व मिला है। स्वभाववाद, देहवाद या असुरमत को नास्तिक-शिरोमणि भी कहते हैं क्योंकि इसमें वेदों की निन्दा प्रखर ढंग से की गयी है। इस मत के प्रवर्तक चार्वाक नाम के कोई ऋषि थे या देवताओं के गुरु बृहस्पति ने असुरों के शिविर में प्रच्छन्न रूप से इस भ्रामक चिन्तन-पद्धति का प्रतिपादन किया, यह अनिर्णीत है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, सिन्धु घाटी की सभ्यता के कर्णधार इसी असुर मत के अनुयायी थे, ऐसा अनुमानित है। धर्म एवं मोक्ष का निषेध करने और काम तथा अर्थ के प्रति आग्रह प्रदर्शित करने के कारण लोकायत मत अन्य दर्शनों द्वारा पूर्व-पक्ष के रूप में ही प्रस्तुत है। मानवीय स्वभाव के अनुरूप विकसित इस स्वभाववाद का खण्डन किये बिना आध्यात्मिक पक्ष का विकास सम्भव भी नहीं। 'महाभारत', 'तत्त्व-संग्रह', 'सर्वदर्शन संग्रह' इत्यादि ग्रन्थों में इसके ग्रन्थ बृहस्पति सूत्र का उल्लेख मिलता है। इस मत के प्रतिपादक प्रामाणिक ग्रन्थों का अभाव-सा है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गुजरात में जयराशि भट्ट कृत एक लघु ग्रन्थ 'तत्त्वोपल्पवसिंह', (पाण्डुलिपि बड़ौदा से १९४० में प्रकाशित) इसका आज एकमात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण का भी खण्डन मिलता है। लोकायत दर्शन के अनुसार यह जगत् पूर्णत: सत्य है।

जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं उसका कोई अस्तित्व नहीं हो सकता क्योंकि इनके अनुसार केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अत: पूर्व-जन्म, पुनर्जन्म, परलोक, मोक्ष इत्यादि की धारणाओं में इनकी आस्था नहीं है। चार्वाक कर्म-काण्ड के घोर विरोधी हैं और यज्ञ-यागादि को कर्मकाण्डी पण्डितों का पाषण्ड या जीवनयापन का माध्यम मानते हैं। इसी जीवन में अधिकाधिक सुख प्राप्त करना इनका मुख्य लक्ष्य है। इस सुखवाद में दु:ख को आगन्तुक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है जैसे मछली में काँटा।

२. आजीवक—चार्वाकों से मिलता-जुलता परन्तु शुद्ध नियतिवादी आजीवक सम्प्रदाय आज लुप्त हो चुका है। बुद्ध और महावीर के काल में ही इसके प्रवर्तक मक्खलि गोशाल ने नियति की प्रधानता तथा पौरुष-हीनता का प्रतिपादन किया था। इस जीवन में किये गये भले या बुरे सभी कर्म दैव द्वारा

निर्धारित हैं, हम उनके क्रम में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं कर सकते। जीव को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना ही होगा, तभी मुक्ति होगी। मानव-स्वातंत्र्य के पूर्ण-निषेध के कारण यह सम्प्रदाय लोकप्रिय नहीं हो सका और पूर्ण कश्यप तथा प्रबुद्ध कात्यायन जैसे उन्नायकों के बावजूद कालक्रम में लुप्त हो गया।

३. जैन दर्शन—प्रागैतिहासिक परन्तु जीवन्त धर्म-दर्शन की परम्पराओं में जैन सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान है। सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राप्त मुद्राओं में वृषभ का चिह्न आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का प्रतीक है यह धारणा आधारहीन नहीं। ऐतिहासिकता की दृष्टि से चौबीस तीर्थंकरों में से अन्तिम दो महत्त्वपूर्ण हैं। पार्श्वनाथ (ई.प. ८७२-७७२) तथा वर्धमान महावीर (ई.पू. ५९९-२७) क्रमशः वाराणसी तथा वैशाली के राज-परिवारों में जन्म लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के प्रेरणा-स्रोत बने। इन दोनों परम्पराओं में पंच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) में से ब्रह्मचर्य (या अपरिग्रह) को लेकर मतभेद है। दिगम्बर ब्रह्मचर्य को साधना के लिए अपरिहार्य मानकर अन्तिम भूमिका में निर्वस्त्र होना वांछित समझते हैं। परन्तु दोनों ही सम्प्रदाय अधिकांश बातों में एकमत हैं। भौतिक प्रवृत्तियों और वासनाओं का शमन करने (श्रमण) या उन पर विजय प्राप्त करने (जिन) से जीव जन्म-मृत्यु के प्रवाह से या भव-सागर से पार जा सकता है, तीर्थंकर बन सकता है, ऐसा विश्वास ही जैन धर्म का आधार है। व्यक्ति स्वयं दर्शन, ज्ञान और चरित्र से कर्म के बन्धनों को छिन्न कर अपने मूल स्वरूप (अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य) को प्राप्त कर केवली, जिन या तीर्थंकर बन सकता है, ईश्वर जैसा सम्बल आवश्यक नहीं।

यथार्थवादी होने के कारण जैन दर्शन किसी भी वस्तु को असत् नहीं मानता। जीव और अजीव, चेतन और जड़ एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं। पूर्वजन्म के कर्मों के कारण जीव जड़तत्त्व (पुद्गल) के बन्धन में आता है, मोक्ष प्राप्त करता है, केवली हो जाता है। जड़ तत्त्व में भी चेतना सुप्तावस्था में रहती है। ज्ञानेन्द्रियों के विकास की अवस्था में भेद के कारण जड़-चेतन का भेद दीखता है। जैन धर्म में अहिंसा-सिद्धान्त का विकास इसी तथ्य की पृष्ठभूमि में हुआ है।

अर्हत् दर्शन में एक ही तत्त्व के अनेक पक्षों (अनेकान्त) को समझाने के लिए अन्धों के हाथी का उदाहरण प्रसिद्ध है। जैसे हर अन्धा व्यक्ति हाथी के अंग-विशेष को ही पूरा हाथी मानता है वैसे ही मनुष्य का ज्ञान एकदेशीय (नय) या एकान्तिक होता है। पूर्ण ज्ञान केवल मुक्त व्यक्ति को ही सम्भव है। अतः प्रबुद्ध मनुष्यों को अपने निर्णयों को सापेक्ष मानना चाहिए और प्रत्येक न्याय-वाक्य में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। ज्ञान-मीमांसा के इस सिद्धान्त को स्याद्वाद कहते हैं। इसके अनुसार चूँकि सभी प्रकार के कथनों (नयों) को हम सात भागों में समाहित कर सकते हैं अतः इसे सप्त-भंगी नय भी कहते हैं। स्यात् है (१), नहीं है (२), है भी और नहीं भी (३), अवक्तव्य है (४), है परन्तु अवक्तव्य (५), नहीं है और अवक्तव्य भी है (६), न है न नहीं तथा अवक्तव्य (७)। ये सात प्रकार के कथन नागार्जुन के चतुष्कोटि तथा शंकराचार्य के अनिर्वचनीय से तुलनीय है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद जैन सम्प्रदाय के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त हैं पूर्वोक्त ज्ञान मीमांसा का मत है तो उत्तरोक्त तत्त्वमीमांसा का।

४. बौद्ध दर्शन—भारतीय धर्म-दर्शन में पाश्चात्य धर्मों की भाँति प्रसारवादी (मिशनरी) प्रवृत्ति केवल बौद्ध धर्म में मिलती है। सम्राट अशोक के युग से ही इसका प्रचार-प्रसार वृहत्तर भारत तथा एशियाई

देशों में होना प्रारम्भ हो गया। मानव-मात्र को दुःख से मुक्त करने का संकल्प गौतम बुद्ध (ई.पू. ५६३-४८३) के महान् व्यक्तित्व में मिलता है। आज के नेपाल में कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ बचपन से ही संवदेनशील थे और गृहस्थ जीवन से उदासीन। कठिन तपस्या के परिणामों से भी सन्तोषजनक समाधान न मिलने पर इन्हें गया में अतिवादों में मध्य के मार्ग का बोध हुआ और काशी के निकट सारनाथ में पाँच शिष्यों को उपदेश देकर इन्होंने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया। कार्य-कारण वाद पर आधारित द्वादशांग-चक्र या प्रतीत्य-समुत्पाद में दुःख का मूल कारण अविद्या निरूपित है। अविद्या का नाश अष्टांग-मार्ग (सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाक् कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि) का अनुशीलन करने से होगा। निर्वाण में दुःख का आत्यन्तिक नाश हो जाता है जैसे अग्नि की ज्वाला बुझ जाती है। क्षणिक, दुःख-मय और अनात्म जगत् में निर्वाण-प्राप्ति होती है। इस सन्देश को प्रसारित कर अस्सी वर्ष की आयु में बुद्ध ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया के निकट कुशीनगर में स्वयं महापरिनिर्वाण प्राप्त किया।

बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त उनके उपदेशों का संग्रह पालि भाषा के त्रिपिटकों (विनय, सुत्त तथा अभिधम्म) में हुआ। हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध इन्हें ही आधार मानकर निर्वाण-प्राप्ति का प्रयास करते हैं। हीनयान का अर्थ है 'छोटा वाहन'। इसके अनुयायियों का विश्वास है कि निर्वाण-प्राप्ति स्वयं के प्रयास से होती है, कोई दूसरा व्यक्ति इसमें सहायक नहीं हो सकता। बुद्ध का 'आत्म दीपो भव' कथन इनका मूल मन्त्र है। आज दक्षिण-पूर्वी एशिया में इसके अनुयायी अधिक हैं। महायान बौद्धों की यह मान्यता है कि बोधिसत्व की कृपा से अनेक लोगों को एक साथ निर्वाण प्राप्त हो सकता है—समग्र-निर्वाण सम्भव है। इस उदारवादी सिद्धान्त ने इसे अधिक लोकप्रिय बनाया और उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी एशिया में इसका पूर्ण विकास हुआ। भाषाई औदार्य के कारण इसका साहित्य संस्कृत, तिब्बती तथा चनिक भाषाओं में प्रचुर मात्रा में मिलता है। नालन्दा, विक्रमशिला और तक्षशिला के विद्यापीठों में इसका गहन दार्शनिक विवेचन भी हुआ।

महायान की दो शाखाओं में माध्यमिक दर्शन या शून्यवाद के प्रमुख आचार्य नागार्जुन (द्वितीय शताब्दी) ने अपने प्रखर तर्कों को चतुष्कोटि प्रणाली में ढालकर यह सिद्ध किया कि सभी पदार्थ स्वभाव-शून्य हैं तथा तत्त्व चतुष्कोटि (अस्ति, नास्ति, उभय, नोभय) से परे हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मध्यमक-शास्त्र' पर चन्द्रकीर्ति (६वीं शताब्दी) की 'प्रसन्न पदा' टीका विख्यात है। योगाचार या विज्ञानवादी शाखा के बौद्ध विचारक विज्ञप्ति मात्र की ही सत्ता मानते हैं और जगत् को विज्ञानों का प्रतिभास। चित्त की दश भूमियों में विहार करता हुआ योगी आलय-विज्ञान का साक्षात्कार एवं निर्वाण की प्राप्ति करता है। मैत्रेय नाथ द्वारा प्रवर्तित इस दर्शन में असंग, वसुबन्धु, दिंगनाग, शान्तरक्षित और धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध तार्किक हुए हैं। धर्मकीर्ति का प्रमाण-वार्तिक तथा शान्त रक्षित का तत्त्व-संग्रह का प्रमाण-शास्त्र में अनुपम योगदान माना जाता है।

४. (ब) आस्तिक दर्शन—वेद की निन्दा न करने वाले या उनमें श्रद्धा रखने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय आस्तिक कहलाते हैं। सूत्र-युग में प्रवर्त्तित सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा-वेदान्त के युगल सम्प्रदाय षट्-दर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ समीचीन है।

(१) सांख्य-योग—परस्पर पूरक होने के कारण इन्हें युगल-दर्शन कहा जाता है। सांख्य अधिकांशत: सैद्धान्तिक पक्ष का तथा योग प्रायोगिक पक्ष का प्रतिपादन करता है। वैदिक दर्शनों में सांख्य सर्वाधिक प्राचीन है। इसके प्रवर्तक कपिल ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी के रहे हैं। यथार्थवाद और द्वैतवाद को प्रतिष्ठित करने वाले आदि विद्वान् कपिल ने दु:खमय (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के नाश का उपाय प्रकृति एवं पुरुष के पच्चीस तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान को बताया है। आत्म-ज्ञान के कारण पुरुष प्रकृति से अनासक्त हो जाता है और प्रकृति के त्रिगुण (सत्व, रजस्, तमस) साम्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। सांख्य-कारिका में जगत् के मूलकारण प्रकृति के स्वरूप तथा पुरुष की मुक्ति के लिए प्रवृत्ति में विकासक्रम के साथ सत्कार्यवाद का सम्यक् विवेचन मिलता है।

प्रकृति से भिन्न आत्मा (पुरुष) का ज्ञान चित्त की पाँचवृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति) को निरुद्ध करने से होता है यह सिद्धान्त हिमवासी पतञ्जलि (ई.पू. पाँचवी शताब्दी) ने 'योगसूत्र' में प्रतिपादित किया है। ईश्वर में श्रद्धा और अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि) के अनुसरण से चित्त निर्बीज हो जाता है; जीव कैवल्य प्राप्त कर लेता है। योग-सूत्र पर व्यास-भाष्य (ई.पू. चौथी शताब्दी) तथा भोजवृत्ति (ग्यारहवीं शताब्दी) में समाधि की विभिन्न अवस्थाओं का विशद विवेचन है।

(२) न्याय-वैशेषिक—प्रमाणों और पदार्थों का विवेचन कर निष्कर्ष से परस्पर सहमति व्यक्त करने वाले न्याय और वैशेषिक दर्शन भी सांख्य-योग की भाँति यथार्थवादी हैं। इनका ईश्वरवाद अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और विकसित है। न्याय-सूत्र के रचयिता मैथिल ब्राह्मण गौतम या अक्षपाद (प्रथम शताब्दी) की धारणा है कि पदार्थों के प्रामाणिक ज्ञान से ही मोक्ष सम्भव है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विशद विवेचन होने के कारण इस दर्शन को प्रमाणशास्त्र, हेतु-विद्या, तर्कशास्त्र, आन्वीक्षिकी इत्यादि भी कहा जाता है। अनुमान को इस प्रमाण-शास्त्र में सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। 'जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग है', को प्रमुख न्याय-वाक्य मानकर हेतु हेत्वाभास का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। उदयन (नवीं शताब्दी) की 'न्याय कुसुमांजलि' में ईश्वर-सिद्धि के लिए दिये गये तर्क प्रसिद्ध हैं। नवीं शताब्दी के अन्त में जयन्त भट्ट की 'न्याय मञ्जरी' के बाद न्याय की यह परम्परा शुद्ध वाक्यार्थ-विवेचन में संलग्न हो जाती है और पदार्थ-विवेचन गौण हो जाता है। मिथिला के ही गंगेश उपाध्याय (१२वीं शताब्दी) के ग्रन्थ 'तत्त्व-चिन्तामणि' से प्रारम्भ नव्य-न्याय की परम्परा के कारण आज भारत को विदेशों के तर्कशास्त्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। 'तत्त्व चिन्तामणि' पर वासुदेव सार्वभौम (१६वीं शताब्दी) तथा ईश्वर कृष्ण (६वीं शताब्दी) की टीका (केवल अनुमान खण्ड, अप्रकाशित), गौड़ या नदिया (नवद्वीप) मत का प्रतिनिधित्व करती है तथा मिथिला के रघुनाथ शिरोमणि (१७वीं शताब्दी) की 'दीधिति' टीका मिथिला मत को।

महर्षि कणाद (ई.पू. तृतीय शताब्दी) के वैशेषिक-सूत्रों में पदार्थ-धर्म विवेचन मिलता है। पदार्थ-ज्ञान से ही अभ्युदय और नि:श्रेयस् की प्राप्ति होती है। सांख्य के द्वैतवाद से अधिक युक्ति संगत या विशिष्ट होने के कारण तथा 'विशेष' को अगोचर परमाणुओं का व्यावर्तक पदार्थ मानने के कारण इसे वैशेषिक कहा जाता है। परवर्ती वैशेषिक विचारकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय के

अतिरिक्त अभाव को भी पदार्थ माना है।

३. पूर्व-मीमांसा—वेदों की प्रामाणिकता के प्रचण्ड उद्घोषक मीमांसा दर्शन का आधार ग्रन्थ महर्षि जैमिनि (ई.पू. चौथी शताब्दी) का मीमांसा-सूत्र है। यज्ञ और कर्म की विवेचना के कारण इसे कर्म या धर्म-मीमांसा भी कहते हैं। इसकी मान्यता है कि वेद-विहित यज्ञ-यज्ञादि कर्मों में स्वर्ग प्राप्ति कराने की अपूर्व शक्ति है और वेदों का सम्पूर्ण उद्देश्य कर्म-परक है। विधि-निषेधात्मक वाक्यों के सूक्ष्म विवेचन में भारतीय भाषा-दर्शन का विकास मिलता है। जैमिनि के सूत्रों पर शबर स्वामी (चतुर्थ शताब्दी) के भाष्य के उपरान्त प्रभाकर मिश्र (६१०-९०) की 'वृहती' तथा कुमारिल भट्ट (६००-६० ई.) के 'श्लोक-वार्त्तिक' को प्रस्थान मानकर गुरुमत और भाट्ट मत इसके पृथक उप सम्प्रदाय बने। प्रभाकर के अनुसार वैदिक ज्ञान की स्वत: प्रामाण्यता ज्ञान के स्वयं-प्रकाशत्व के कारण है जबकि कुमारिल इसे ज्ञातता पर आधारित मानते हैं। मुरारि मिश्र तृतीय पन्थ का प्रवर्तन करते हुए अनुव्यवसायात्मकता को प्रामाणिकता का आधार स्वीकार करते हैं।

४. उत्तर-मीमांसा—उपनिषदों की मोक्ष-परक शिक्षाओं को सूत्रबद्ध किया वादरायण (ई.पू. तृतीय शताब्दी) ने अपने वेदान्त सूत्र (या ब्रह्मसूत्र) में। वेदों के उत्तर भाग पर आधारित होने के कारण इसे उत्तर-मीमांसा या वेदान्त भी कहते हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार सम्पूर्ण मीमांसा-दर्शन १६ अध्यायों में समाहित सूत्रों पर आधारित हे जिनमें से पहले द्वादश अध्याय पूर्व-मीमांसा और परवर्ती ४ अध्याय का अनुशीलन सम्भव है। आचार्य शंकर दोनों ग्रन्थों में पूर्वापर सम्बन्ध का खण्डन कर स्वतन्त्र रूप से अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। रामानुज, मध्व इत्यादि आचार्य भी अपने-अपने भाष्यों में वेदान्त सूत्रों का अपने अभीष्ट के अनुसार अर्थ करते हैं।

४. (क) अद्वैत वेदान्त—भारतीय दर्शन का सर्वाधिक प्रसिद्ध सम्प्रदाय अद्वैत वेदान्त ही है। इसके सिद्धान्तों का मुख्य आधार आचार्य शंकर (७८८-८२० ईसवी) का वेदान्त-सूत्रों पर शारीरक-भाष्य है। शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है और चूँकि ब्रह्म तथा आत्मा में अद्वैत सम्बन्ध है अत: ब्रह्म-ज्ञान के लिए कर्म या भक्ति की आवश्यकता नहीं। ज्ञान के लिए शंकर केवल साधन-चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, शमदमादि साधन-सम्पत् एवं मोक्ष की प्रवृत्ति) को आवश्यक मानते हैं। जीव तथा जगत् अविद्या (या माया) के कारण ब्रह्म से भिन्न दिखते हैं। माया-जन्य संसार रज्जु-सर्प की भाँति न तो सत् न असत्, अत: मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है।

केरल के कालड़ी ग्राम में उत्पन्न शंकर ने अल्पायु में ही बदरिकाश्रम के निकट ज्योतिर्मठ में आत्म-ज्ञान प्राप्त कर प्रस्थान-त्रयी पर भाष्य लिखकर अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा एवं पूरे देश का भ्रमण कर सनातन धर्म की पुन: स्थापना की। सुरेश्वर, वाचस्पति मिश्र, श्री हर्ष, प्रकाशात्मयति, विद्यारण्य, मधुसूदन सरस्वती इत्यादि अन्य प्रसिद्ध अद्वैतवादी आचार्य हैं।

४. (ख) विशिष्टाद्वैत—ब्रह्म को अद्वैत मानते हुए भी उसे चित्-अचित् से विशिष्ट विभूषित किया वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य रामानुज (१०१७-११३७) ने तथा वेदान्त-सूत्र पर लिखे श्रीभाष्य में ईश्वर और जीव के बीच विशेष-विशेष्य, शारीरी-शरीर, अंगी-अंग भाव माना। मद्रपुरी के निकट

श्री पेरुम्बुदूर में ब्राह्मण कुलोत्पन्न रामानुज ने अपने युग में व्याप्त वर्ण-भेद की कटुता को समाप्त करने के लिए निम्न वर्णों के साथ देवस्थानों में भोजन का विधान किया। श्रीमद्भागवत पुराण, पांचरात्र आगम तथा आलवार सन्तों से भक्ति तथा यादव प्रकाश से निर्गुण-ब्रह्म विषयक ज्ञान प्राप्त कर ये श्रीरंगम् के प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य यामुन की प्रेरणा से परम वैष्णव बन गये। रामानुज के अनुयायियों में ईश्वरानुकम्पा एवं मनुष्य के प्रयत्न को लेकर जो मतभेद हुआ उसके कारण दो सम्प्रदाय बने। इनमें वडकले (औदीच्य) मर्कट-न्याय स्वीकार करते हैं, जिसके अनुसार जीव को ईश्वर-कृपा की प्राप्ति के लिए उससे आसक्त होना पड़ेगा, जैसे बन्दर का बच्चा माँ के पेट से चिपका रहता है। टेंक्ले (दाक्षिणात्य) मार्जार-न्याय के प्रतिपादक हैं जिनके अनुसार ईश्वर भक्त का स्वतः ध्यान रखता है, जैसे बिल्ली अपने बच्चे को मुँह में दबाकर ले जाती है।

(ग) द्वैतवाद—ईश्वर और जीव के बीच आत्यन्तिक भेद का प्रतिपादन मध्वाचार्य (११९७-१२७३) ने अणुभाष्य में किया। पूर्णप्रज्ञ या आनन्दतीर्थ नामों से विख्यात द्वैतवादी आचार्य ने ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत्, जीव और जीव, जीव और जगत् तथा जड़ और जड़ के मध्य भेदों को प्रमुख माना जिसे पंच-भेद कहते हैं। कर्णाटक के उडीपि नगर (बंगलूर के निकट) भट्ट ब्राह्मण कुल में उत्पन्न मध्व ने अपने भारत-भ्रमण की अवधि में पशु-बलि का निषेध कर पूजा में फल-फूल को अर्पित करने का विकल्प प्रस्तुत किया। ये मध्यवर्गीय लोगों की इच्छाओं की पूर्ति करने वाले वृक्ष (मध्व-मन्दार) के रूप में वे विख्यात हुए।

(घ) द्वैताद्वैतवाद—ब्रह्म, चित् तथा अचित् तीनों को समानरूप से सत् एवं शाश्वत मानने वाला दर्शन भेदाभेद या द्वैताद्वैत कहलाता है। इसके प्रवर्तक निम्बार्क (जन्म, १४७९) तेलुगु ब्राह्मण थे पर वृन्दावन में रहा करते थे। ब्रह्म-सूत्र पर इनका भाष्य 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' के नाम से विख्यात है।

(ङ) शुद्धाद्वैत—ब्रह्म माया से अलिप्त होने के कारण शुद्ध है यह पुष्टिमार्गी वल्लभ (१४८१-१५३३) के शुद्धाद्वैत का आधारभूत सिद्धान्त है। माया ब्रह्म की शक्ति नहीं है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही है। जीव एवं जगत् ईश्वर के अंश हैं। ईश्वर का अनुग्रह ही मुक्ति का एक मात्र मार्ग है। वल्लभ के ये सिद्धान्त वेदान्त-सूत्र पर उनके अणुभाष्य एवं बृहद्-भाष्य में मिलते हैं। वल्लभ तैलंग ब्राह्मण लक्ष्मण भट्ट को इन्होंने अपनी साधना-भूमि बनायी।

(च) अचिन्त्य भेदाभेद—चैतन्य (१४८५-१५३३) के अनुसार ईश्वर की शक्ति असीम होने के कारण वह अचिन्त्य है। साथ ही ईश्वर, जीव और जगत् मे भेद है या अभेद यह हभ अचिन्त्य है। अतः इस मत को अचिन्त्य भेदाभेद कहते हैं। नवद्वीप के विश्वम्भर मिश्र (कृष्ण चैतन्य) की प्रसिद्ध प्रेभाभक्ति पंचधा-भक्ति कहलाती है जिसे पाँच रूप है:—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। चैतन्य ने शंकर-कृत भाष्य का अपने उपदेशों में खण्डन किया, परन्तु इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। जीव गोस्वामी ने 'षट् सन्दर्भ' में इनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तथा बलदेव विद्याभूषण (१८वीं शताब्दी) ने ब्रह्म-सूत्र पर अपने गोविंद-भाष्य में चैतन्य-मत को शास्त्रीय रूप दिया।

(छ) विशिष्ट शिवाद्वैत—वेदों तथा आगमों का समन्वय करते हुए वेदान्त-सूत्र को शिव-परक

अपने सूत्र-भाष्य में सिद्ध किया तमिल आचार्य श्रीकण्ठ (१३वीं शताब्दी) ने। इनके अनुसार परम तत्त्व शिव ही हैं, जो ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शिव ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर्ता है।

(५) आगम परम्परा के धर्म--वैदिक (या निगम) परम्परा के समानान्तर आगम या तन्त्र परम्परा मुख्यत: धार्मिक रही है। स्थानीय या क्षेत्रीय धार्मिक प्रणाली तथा साहित्य का आश्रय लेकर प्राग्वैदिक भारतीय संस्कृति ने वैदिक साहित्य के प्ररिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्र सम्प्रदायों का रूप ग्रहण किया। कुलार्णव तन्त्र ने वैदिक एवं तान्त्रिक पद्धतियों को सर्वथा अभिन्न बताया है। शिव, शक्ति, विष्णु (सूर्य और गणपति) को आधार मानकर मुख्य तन्त्रों का विकास हुआ और तन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई। महिलाओं तथा सभी वर्णों को अध्ययन एवं साधना का अधिकार देने से ये सर्वप्रिय भी हुए। इसके आचार्यों ने दिव्य तत्त्वों के भयावह स्वरूप के साथ-साथ मधुर पक्ष का भी विधान किया और मूर्ति-पूजा का प्रचलन हुआ। धार्मिक अवस्था के मूल-स्रोतों—भय एवं प्रेम—का प्रभावी सम्मिलन हुआ जो शताब्दियों से भक्ति-प्रधान धार्मिकता का आधार रहा और आधुनिक विज्ञान-बोध के बाद भी करोड़ों भारतीयों की जीवन-पद्धति का नियामक है।

(क) शैव-मत—शैव परम्परा की प्रामाणिकता सिन्धु घाटी की पशुपति-मुद्रा से प्रमाणित है। ऋग्वेद में रुद्र के उग्र रूप का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। अथर्ववेद में रुद्र-विषयक मान्यता का स्पष्ट विकास मिलता है। महाभारत में शिवलिंग की उपासना का विधान भी दृष्टव्य है। अट्ठाईस शैव आगमों में शैव धर्म का विस्तार मिलता है। शिव-पुराण इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

शिव, शर्व, भव, रुद्र, पशुपति, महादेव इत्यादि नामों से ख्यात तत्त्व ही शैवागमों का केन्द्र-बिन्दु है। कई धर्म-दर्शन के सम्प्रदाय इसे आधार मानकर प्रचलित हैं। सर्व-दर्शन संग्रह में लकुलीश-पाशुपत मत का उल्लेख किया गया है जिसे ११वीं शताब्दी के सोमेश्वर सूरि नकुलीश (लकुल धारण करने वाले) नामक किसी व्यक्ति ने प्रवर्तित किया था। उसी ग्रन्थ में उल्लिखित रसेश्वर दर्शन भी शैव परम्परा का ही मत प्रतिपादित करता है जिसके अनुसार शिव के शरीर से उत्पन्न पारद (वीर्य, रस) गौरी से उत्पन्न अभ्रक के साथ मिलकर दारिद्र तथा मृत्यु का नाशक होता है।

कश्मीर का प्रत्यभिज्ञा-दर्शन भी शिवाद्वैत प्रतिपादित करता है। सोमानन्द (१०वीं-११वीं शताब्दी) की शिव-दृष्टि और इस पर अभिनव गुप्त (९९३-१०१५ ई.) की टीका के अनुसार शिव-तत्त्व का प्रत्यभिज्ञान ही मोक्ष है। सृष्टि को चित् का स्पन्दन मानने के कारण इसे त्रिक दर्शन कहते हैं। कुल (शक्ति) की सम्यक् उपासना-विधान के कारण इसे कौल दर्शन भी कहा गया है जो कलियुग में विशेष प्रभावशाली माना गया है। अर्धनारीश्वर की अवधारणा यहाँ विशिष्ट है। दक्षिण के तमिल आगमों पर आधारित शैव मत 'सिद्धान्त' नाम से प्रचलित है। प्रत्यभिज्ञा-मत के विपरीत यह जगत् की सत्ता को वास्तविक मानता है। पशु का बन्धन (पाश) चूँकि वास्तविक है अत: शिव (पशुपति) की कृपा के साथ ही जीव को मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होना आवश्यक है। विद्या, क्रिया, योग और अर्चा से ही जीव (पशु) कर्मबन्धन से मुक्त हो सकता है।

कन्नड़ साहित्य पर आधारित वीरशैव या लिंगायत मत शक्ति-विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन करता

है। इसके प्रवर्तक आचार्य बसव (११३२-६८ई.) ने बीजापुर में जन्म लेकर कर्णाटक में अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन का नेतृत्व किया। गुरु-कृपा से भक्त के सारे शरीर में शिव (लिंग) का वास हो जाता है। अत: भक्तों में वर्ण-भेद को स्थान नहीं, यह लिंगायत सम्प्रदाय का समाज-दर्शन है।

उपरोक्त दक्षिण पन्थी शैव मतों के अतिरिक्त कापालिकों और कालमुखों के वामपन्थी शैव सम्प्रदाय भी प्रचलित रहे हैं, जिनका स्थानाभाव के कारण यहाँ केवल नाम-स्मरण ही सम्भव है। विपरीत उपासना-पद्धति के कारण कुछ शैव और शाक्त सम्प्रदायों को वामपन्थी कहते हैं (तथा ज्ञान, कर्म और भक्ति के मार्ग को स्वाभाविक या दक्षिण-मार्ग)।

नाथपन्थ—इस पन्थ को नाथ-योग या अवधूत मत भी कहते हैं। इस पन्थ के प्रवर्त्तक शिव माने जाते हैं एवं इसके प्रमुख स्तम्भ गोरखनाथ (९वीं-१०वीं शताब्दी) स्वयं शिव-स्वरूप हैं। इस पन्थ में 'समतत्त्व' या सामरस्य को प्रतिष्ठा दी गई है। यह तत्त्व तर्क-वितर्क का विषय न होकर चेतना के उच्च स्तर पर सत्य का प्रत्यक्ष कराता है जिसे समाधि की अवस्था कह सकते हैं।

गोरक्षपीठाधीश्वर स्व. महन्त दिग्विजयनाथजी ने गोरखपन्थी साहित्य का प्रकाशन गोरखपुर से कराया। उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रीयता के अनन्य साधक महन्त अवेद्यनाथजी ने इस परम्परा के विकास में अनुपम योगदान दिया। उनके सम्मान में योगी आदित्यनाथजी द्वारा एक विशिष्ट ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वथा श्लाघ्य है।

(ख) शाक्त-मत—शैव मत का शक्ति-परक सम्प्रदाय शाक्त धर्म कहलाता है। इसकी प्राचीनता भी सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त मृण्मयी मातृका मूर्तियों से सिद्ध होती है। केन-उपनिषद् में उमा हेमवती को रक्षा करने वाली देवी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ९९ शाक्त तन्त्रों में शक्ति को आद्या माना गया है। यह शिव की क्रिया या विमर्श भी है। नाद या स्त्री-तत्त्व शिव तत्त्व (बिन्दु) से मिलकर मिश्र-बिन्दु या काम का सृजन करता है और देवी इसी काम-प्रधान रूप की तान्त्रिक उपासना करती हैं (देवी के सौम्य रूप की उपासना सामान्य-जन तथा प्रचण्ड रूप की अर्चना कापालिक शाक्त करते हैं)। लिंग को शिव-तत्त्व का तथा योनि को शक्ति का प्रतीक माना जाता है। वामाचार पद्धति में पंच-मकारों (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन) के माध्यम से देवी की उपासना करके कृपा-प्राप्त कर तान्त्रिक मुक्त होता है। (त्रायते इति तन्त्रम्: देवी की कृपा के विस्तार से त्राण पाना)। तन्त्र-विद्या में वर्णित दस महाविद्याओं की दस देवियों (काली, तारा, त्रिपुर-सुन्दरी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी या पीताम्बरा, मातंगी तथा कमला) में से किसी के साक्षात्कार के लिए कुण्डलिनी या जप-योग का अनुसरण विहित है। शरीर के षटचक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनहत, विशुद्धि तथा आज्ञा) में सुप्त शक्ति को जागृत कर तान्त्रिक सहस्रार-चक्र में पहुँच जाता है और शक्ति में लीन हो जाता है। भौतिक उपलब्धियों के लिए कुछ तान्त्रिक षट्कर्म (शान्ति, आकर्षण, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेशन तथा मारण) भी करते हैं परन्तु यह अपवादों को छोड़कर वर्जित है।

(ग) वैष्णव-मत—ऋग्वेद में विष्णु एक गौण देवता हैं। वैदिक साहित्य में विष्णु-नारायण के रूप में वैष्णव धर्म का प्रारम्भ मिलता है। पुरुष-सूक्त के सृष्टिकर्त्ता नारायण हैं एवं शतपथ ब्राह्मण तथा

तैत्तिरीय आरण्यक में इनका विकसित रूप मिलता है। पांचरात्र आगम (अभिगमन, उपादान, पूजा, स्वाध्याय और समाधि के पंचविध ज्ञान का विधान करने वाला साहित्य) श्रीमद्‌भागवत पुराण तथा नारायणीय (महाभारत का अंश) की साहित्य-सम्पदा पर आधारित वैष्णव मत में विष्णु को प्रधान तत्त्व माना गया। ईश्वर के पाँच रूपों—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चा—में अर्चा को प्रमुखता देने के कारण विष्णु के दशावतारों (मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण तथा कल्कि) के विग्रह या मूर्तियों की उपासना वैष्णव भक्त अत्यन्त श्रद्धा से करते हैं। शैव मत की भाँति वैष्णव भी शक्ति को परम तत्त्व के साक्षात्कार के लिए सहायक मानते हैं। विष्णु-पद की प्राप्ति के लिए लक्ष्मी की कृपा का महत्त्व सभी वैष्णवतन्त्रों में वर्णित है। रामानुज, मध्व, वल्लभ, चैतन्य, रामानन्द, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि वैष्णव सन्तों का भारतीय धार्मिकता में योगदान उल्लेखनीय है।

गणपति की उपासना का आगम-शास्त्रीय स्वरूप अब कमजोर हो गया तथा गाणपत्य-सम्प्रदाय ने प्रार्थना-समाज के माध्यम से महाराष्ट्र में गणेश-पूजन के रूप में नव-जीवन पाया। सूर्य के उपासकों की संख्या सम्प्रदाय के रूप में आज भारत में नगण्य है।

आगम परम्परा प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं मध्ययुगीन भक्ति परम्परा के बीच सेतु भी है। मध्यकालीन विदेशी आक्रमणों के बीच हिन्दू संस्कृति की रक्षा के गुरुतर दायित्व का निर्वाह भक्ति मार्गीय आचार्यों ने भली-भाँति किया। मानव-जीवन के गरिमा की रक्षा के लिए उन्होंने ससीम मनुष्यों को असीम परमेश्वर की गोद में डाल दिया। समय पाकर भक्त ने पुनः आत्मस्थ होकर राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद किया और स्वतन्त्र नागरिक बनकर विश्व-मानवता का सन्देश देने लगा।

आज भारतीय दर्शन योग एवं नैतिकता के क्षेत्र में विश्व की अग्रणी सभ्यता का परिचायक है।

सर्व-धर्म-समभाव, अहिंसा एवं विश्व-दर्शन के इसके आयाम अन्य देशों के लिए आकर्षण बन गये हैं। अतः भारतीय दर्शन की परम्परा की भविष्य में सार्थकता बनी रहेगी।

□

भारतीय दर्शन परम्परा में योग-विचार

—प्रो. डी.एन. यादव

सामान्यत: भारतीय दर्शन में योग को बहुत व्यापक अर्थ में लिया गया है। भारतीय दर्शन में योग को अनेक परिभाषाओं, अर्थों व स्वरूपों में वर्णित किया गया है। इसी कारण योग की कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती है और न ही योग के स्वरूप का पूर्णतया एक निश्चित विवरण दिया जा सकता है। योग की जो परिभाषाएँ दी जाती हैं, उनमें से कोई एक परिभाषा योग के सभी पक्षों को समाविष्ट नहीं कर पाती है। योग के स्वरूप को समझने के लिए उसके शाब्दिक अर्थ को समझना आवश्यक है। योग का शाब्दिक अर्थ जोड़, संयुक्त, मिलन, एकलन आदि है। योग शब्द 'युज्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है: समाधि। योग के इन शाब्दिक अर्थों के अनुसार योग का अर्थ 'एकत्व' प्राप्त करना है। योग के इस स्वरूप को भारतीय दर्शन में तत्त्व-साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार के अर्थ में लिया जाता है। सामान्यत: योग शब्द के साथ अन्य अर्थ भी जुड़ा रहता है जो शारीरिक मुद्राओं आदि क्रिया-प्रक्रियाओं को सूचित करता है। उपरोक्त दोनों अर्थों या स्वरूपों को समाविष्ट करने के उपरान्त स्पष्टत: कहा जा सकता है कि योग एक ऐसा मार्ग है जो साधना या क्रिया-प्रक्रिया का मार्ग है तथा जो मिलन या एकत्व प्राप्ति का मार्ग है।

भारतीय दर्शन में योग को कर्म-सिद्धान्त के रूप में, क्रिया-प्रक्रिया के रूप में, साधना-मार्ग के रूप में लिया जाता है; किसी ज्ञान-मीमांसा के रूप में नहीं लिया जाता है। भारतीय दर्शन में सांख्य एवं योग एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण के रूप में प्राप्त है। सांख्य और योग सम्बद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय है। सांख्य और योग के मिलन से पूरक रूप में एक पूर्ण दर्शन बनता है। 'सांख्य' सिद्धान्तों का या तत्त्वों का वर्णन करता है; अर्थात् बौद्धिक तत्त्व-चिन्तन है और 'योग' तत्त्व की ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रायोगिक साधना का विवेचन करता है। इस प्रकार 'सांख्य' योग दर्शन का सैद्धान्तिक पक्ष तथा 'योग' प्रायोगिक पक्ष है। श्रुति एवं स्मृति में सांख्य एवं योग शब्द ज्ञान व कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। सांख्य एवं योग ने प्राय: सभी भारतीय दर्शनों को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया है। वैदिक एवं अवैदिक (जैन एवं बौद्ध) दर्शनों में योग की उपादेयता सर्वमान्य है। सविकल्प बुद्धि को निर्विकल्प प्रज्ञा में परिणत करने हेतु योग-

साधना की उपादेयता निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। संहिता, आरण्यक और उपनिषद् में योग की महनीयता का वर्णन उपलब्ध है। योग के कई प्रकार हैं। गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग तथा ध्यानयोग का वर्णन है। राजयोग एवं हठयोग भी प्रसिद्ध है। अत: हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में 'योग' शब्द को एक व्यापक एवं विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, जिन्हें मुख्यत: निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

भगवद्गीता में योग का प्रसंग आचार्य रजनीश के शब्दों में इस रूप में मिलता है, "कृष्ण एक अनूठा प्रयोग करना चाह रहे हैं, शायद विश्व के इतिहास में पहला, और अभी तक इसके समानान्तर कोई दूसरा प्रयोग हो नहीं सका। वह प्रयोग यह करना चाह रहे हैं, युद्ध को एक धर्मयुद्ध बनाने की कीमिया अर्जुन को देना चाह रहे हैं। युद्ध के क्षण में किसी को योगी बनाने की यह चेष्टा बड़ी इम्पोसिबल है, बड़ी असम्भव है¨। ये कृष्ण जैसे लोग सदा ही असम्भव प्रयास में लगे रहते हैं, उनकी वजह से ही जिन्दगी में थोड़ी रौनक है¨। वह असम्भव प्रयास यह है कि अर्जुन, तू योगी भी बन और युद्ध में भी खड़ा रह। तू हो जा बुद्ध जैसा, फिर भी तेरे हाथ से धनुष-बाण न छूटे¨। कृष्ण कोई व्यक्ति की बात नहीं हैं, कृष्ण तो चैतन्य की एक घड़ी हैं, चैतन्य की एक दशा हैं, परम भाव हैं। समय बदलता गया, शब्दों के अर्थ बदलते गये, लेकिन गीता को हम नया जीवन देते चले गये। गीता आज भी जिन्दा है।"[१]

भगवद्गीता योग शास्त्र है। भगवद्गीता में योग को विभिन्न रूपों एवं अवस्थाओं में प्रस्तुत किया गया है। मुख्यत: योग की तीन प्रमुख शाखाएँ हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। गीता में इन तीनों शाखाओं का विलक्षण समन्वय हुआ है जो गीता के गौरव का प्रतीक है। ध्यान, धारणा और समाधि जिसे 'ध्यानयोग' कहते हैं। ध्यान मार्ग साधना का मार्ग है जो ज्ञान, भक्ति एवं कर्म तीनों में उपादेय है। योग स्थितप्रज्ञ की द्वन्द्वातीत ब्राह्मी स्थिति है जिसे 'ज्ञानयोग' कहते हैं। योग निष्काम कर्म है; कर्मकौशल अर्थात् कामनारहित कर्म जिसे 'कर्मयोग' कहते हैं; योग भक्ति द्वारा भगवत्-तत्त्व का सम्यक् ज्ञान और भगवत् प्रवेश है जिसे 'भक्ति-योग' कहते हैं।

गीता में कहा गया है कि योगी द्वन्द्वातीत है, समदृष्टि और समबुद्धि है, जिसे 'समत्वयोग' की स्थिति कहा जाता है। समत्व बुद्धि योग का सार है। समत्वबुद्धि का अर्थ है—सन्तुलन, द्वन्द्व के बीच सम हो जाना। योग वह है, जिसमें स्थित योगी तत्त्वज्ञान से विचलित नहीं होता एवं अतीन्द्रिय तथा शुद्ध ज्ञानगम्य अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है जिसे 'ब्रह्मभाव' की अवस्था या स्थिति कहा जाता है। जो दु:ख संयोग से सर्वथारहित है वही योगी है। आचार्य रजनीश कहते हैं—"योग-जीवन की विधायक कीमिया है। पॉजिटिव केमेस्ट्री है और उसका अभ्यास करना पड़ेगा¨अशुभ पर-भाव है, शुभ स्वभाव है।"[२]

जैन दर्शन में योग का प्रसंग इस रूप में मिलता है। जैन दर्शन में योग का स्वरूप जानने से पहले कर्म का स्वरूप जान लेना उपयुक्त होगा, क्योंकि कर्मों (कर्म-बन्धनों) से छुटकारा पाना ही परम लक्ष्य या परम श्रेय माना गया है और जैन दर्शन में कर्म को एक विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म पौद्गलिक (मैटेरियल) अर्थात् जड़ पदार्थ है। कर्म के इन पौद्गलिक अणुओं को 'कर्मवर्गण'

भी कहते हैं। मुख्य रूप से कर्म के दो भेद हैं—(१) घातीय कर्म तथा (२) अघातीय कर्म। घातीय कर्म के चार भेद हैं—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, अन्तराय कर्म और मोहनीय कर्म। अघातीय कर्म के भी चार भेद हैं—आयुश कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और वेदनीय कर्म। जैन दर्शन के अनुसार ये आठ तरह के कर्म ही बन्धन के कारण हैं। जैन दर्शन में कहा गया है—"कर्म-पुद्गलों का जीव को पकड़ लेना बन्धन तथा जीव का कर्म-पुद्गलों से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है।"[३] जैन दर्शन जीवन के साथ कर्म का सम्बन्ध और विच्छेद, संयोग और वियोग दिखाने के लिए पाँच अवस्थाओं का, जिन्हें पदार्थ की संज्ञा दी गयी है, निरूपण करता है। ये पदार्थ हैं—आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जैन दर्शन के अनुसार परम श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म-पुद्गलों का नाश आवश्यक है। जैन दर्शन में कर्म-पुद्गलों के प्रवेश को रोकने के लिए मुख्यत: निम्नलिखित उपाय बताये गये हैं—

१—समितियाँ, २—गुप्तियाँ, ३—पंचमहाव्रत, ४—धर्म, ५—अनुप्रेक्षाएँ, ६-पुरीषह, ७—चरित्र।

जैन दार्शनिकों ने बन्धन से मोक्ष या परम श्रेय तक की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण खोजबीन की है। जैन दर्शन एक क्रमिक या पदानुक्रमानुसार कर्म-पुद्गल से परम श्रेय की ओर गति करता है। इस प्रकार उपरोक्त उपाय को जो एक विशिष्ट अनुक्रम में अर्थात् 'समिति···से···चरित्र' तक सभी पुद्गल के नाश की प्रक्रिया है, निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो भेद हैं—'भाव निर्जरा' तथा 'द्रव्य निर्जरा'। जब भावावस्था में निर्जरा की भावना उत्पन्न होती है, उसे भाव-निर्जरा कहते हैं तथा इसके बाद कर्म-पुद्गलों के वास्तविक नाश को द्रव्य-निर्जरा कहते हैं।

भाव-निर्जरा के दो भेद हैं—(१) सविपाक या अकाम निर्जरा—भोग के बाद कर्म-पुद्गलों के स्वयं नाश हो जाने को सविपाक या अकाम निर्जरा कहते हैं। (२) अविपाक या सकाम निर्जरा—यदि भोग की समाप्ति के पूर्व ही कर्मों का नाश हो जाए तो वह अविपाक या सकाम भाव निर्जरा कहलाती है। जैन दर्शन में सविपाक तथा अविपाक निर्जरा के लिए तपों का वर्णन मिलता है जो जैन दर्शन में तप, योग, ध्यान आदि साधना की आधारशिला के रूप में स्वीकारे गये हैं। जैन दर्शन में बारह तपों को एक विशिष्ट क्रम व्यवस्था में रखा गया है जिनमें प्रथम छः तप बाह्य तप तथा अन्तिम छः आन्तरिक तप कहलाते हैं; जो इस प्रकार हैं—(अ) बाह्य तप—१. अनशन, २. अवमोदार्य (ऊणोदरी), ३. वृत्ति-संक्षेप, ४. रस-परित्याग, ५. काया-क्लेश, ६. संलीनता (विविक्त-श्ययासन)। (ब) आन्तरिक तप—७. प्रायश्चित, ८. विनय, ९. वैयावृतय, १०. स्वाध्याय, ११. ध्यान, १२. कायोत्सर्ग।

जैन दर्शन में उपरोक्त बारह तपों को साधना के लिए एक क्रम व्यवस्था में ही रखा गया है जिसका अपना विशेष महत्त्व है। जैन दर्शन एक वैज्ञानिक पद्धति या प्रणाली के आधार पर ही आन्तरिक यात्रा करता है। अन्ततः साधक उपरोक्त उपायों एवं तपों की सहायता से निर्जरा अवस्था को प्राप्त करता है। निर्जरा अवस्था के पश्चात् साधक को एक विशेष उपलब्धि प्राप्त होती है जिसे जैन दर्शन में त्रिरत्न कहा जाता है; अर्थात् 'सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र'। जैन दर्शनानुसार त्रिरत्न को प्राप्त साधक ही परमश्रेय या मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जैन दर्शन में इन उपायों एवं तपों को साधना की दृष्टि से एक अन्य नाम भी दिया जाता है जिसे अनुप्रेक्षा या प्रेक्षा ध्यान योग कहते हैं। विशेषत: जैन दर्शन में योग को 'सामयिकी

ध्यान योग' नाम से प्रसिद्धि मिली है जिसका साधक के लिए विशेष महत्त्व है। जैन दर्शन में (महावीर) परम श्रेय की प्राप्ति हेतु 'जाति स्मरण' नामक प्रक्रिया को भी स्वीकारा जाता है।

बौद्ध दर्शन में योग का स्वरूप इस रूप में मिलता है जब महात्मा बुद्ध से जीव, जगत् आदि के विषय में दार्शनिक प्रश्न किये जाते थे तो वे मौन रह जाते थे, उनका मौन केवल यही सूचित करता था कि ये प्रश्न स्थापनीय हैं, व्याकरणीय नहीं हैं। इसलिए इन्हें अव्याकृत कहा जाता है। सविकल्प व सापेक्ष बुद्धि इनका उत्तर नहीं दे सकती है। बुद्धि उनके उत्तर में विरोधों को जन्म देती है साथ ही यह भी संकेत करती है कि केवल निर्विकल्प अनुभूति ही इनका उत्तर साक्षात्कार द्वारा दे सकती है। बुद्ध वचन है, ''भिक्षुओं! ये प्रश्न न तो अर्थयुक्त हैं, न धर्मयुक्त, न आदि-ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त; ये न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न दुःख निरोध के लिए, न शान्ति के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न सम्बोधि के लिए, न निर्वाण के लिए। इसलिए मैंने इन्हें अव्याकृत कहा है। भिक्षुओं! तथागत इन सबको जानते हैं और इनसे भी अधिक जानते हैं। इन बुद्धिकोटियों में न फँसने के कारण तथागत निर्वाण का साक्षात्कार करते हैं।''[४]

इस प्रकार कह सकते हैं कि बौद्ध-दर्शन तत्त्व चिन्तन या तात्त्विक बातों की व्याख्या पर ध्यान न देकर साक्षात्कार या कर्म-साधना पर ध्यान या बल देता है। भारतीय दर्शन में योग दर्शन को भी प्रायोगिक प्रणाली या कर्म साधना के रूप में स्वीकारा जाता है। अतः कहा जा सकता है कि जो दृष्टि भारतीय योग दर्शन में निहित है वही दृष्टि बौद्ध दर्शन में भी निहित पायी जाती है। योग दर्शन की मूल दृष्टि दो शब्द पर केन्द्रित है जिन्हें दुःख (चित्तवृत्तियाँ) एवं दुःख निरोध (चित्तवृत्तिनिरोध) कहते हैं। महात्मा बुद्ध प्रायः कहा करते थे—''भिक्षुओं! मैं दो बातों का ही उपदेश देता हूँ—दुःख और दुःख निरोध; दुःख संसार है और दुःख निरोध निर्वाण है।''[५] इस प्रकार कह सकते हैं कि बौद्ध दर्शन भी मूलतः योग दर्शन ही है, जिसकी अपनी विशिष्ट शैली व प्रणाली है। बौद्ध दर्शन को केवल चार आर्य-सत्य में ही समाविष्ट किया जाता है; ये चार आर्य-सत्य हैं—दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध और दुःख निरोध मार्ग।

बौद्ध दर्शन में उपरोक्त चार आर्य सत्यों के अलावा विशिष्ट मार्ग से साधक के लिए एक व्यवस्था, एक नियमावली दी गयी जिसमें मुख्यतः ध्यान-चतुष्टय, समाधित्रय, पारमिताष्टक, चार ब्रह्मविहार और भूमिदशक है। बौद्ध दर्शन में बोधिसत्त्व, साधक का साधना मार्ग अत्यन्त विस्तृत तथा विशद रूप में निरूपित है, दर्शन की उपशाखा योगाचार का दूसरा नाम 'विज्ञानवाद' है। जिस प्रकार योग दर्शन के अष्टांगयोग के प्रथम पाँच अंग बहिरंग-साधन तथा अन्तिम तीन अंग अन्तरंग-साधन माने जाते हैं। यही दृष्टि बौद्ध दर्शन में भी मिलती है। उपरोक्त साधन बहिरंग के रूप में शुद्धीकरण करते हैं। बौद्ध दर्शन में अन्तरंग साधन के रूप में विपश्यना (विपस्सना) ध्यान विधि को माना गया है जिसे अनापानसती योग भी कहते हैं। बौद्ध दर्शन में (बुद्ध) जाति स्मरण को भी साधन मार्ग के रूप में विशेष महत्त्व दिया जाता है। विपश्यना के सम्बन्ध में आचार्य रजनीश कहते हैं, ''विपस्सना ध्यान की सरलतम विधि है। बुद्ध विपस्सना के द्वारा ही बुद्धत्व को उपलब्ध हुए थे और विपस्सना के द्वारा जितने लोग उपलब्ध हुए हैं उतने किसी विधि से नहीं हुए हैं। विपस्सना विधियों की विधि है और बहुत सी विधियाँ हैं। लेकिन उनसे बहुत कम लोगों को मदद मिली है। विपस्सना से हजारों लोगों की सहायता हुई है संसार को बुद्ध ने सबसे बड़ा

योगदान दिया है वह है विपस्सना। उन्होंने जो विधि दी है इतनी वैज्ञानिक है, इतनी सरल और गहरी, कि एक बार तुम्हारा उसके साथ तालमेल बैठ जाए तो वह तुम्हारे जीवन का अमिट अंग बन जाता है।''[६]

पतञ्जलि योग-सूत्र में योग को एक वैज्ञानिक तथा आन्तरिक अनुशासन की एक व्यवस्थित प्रायोगिक प्रणाली के रूप में लिया जाता है। पतञ्जलि योग-सूत्र को ही 'राजयोग' की संज्ञा दी जाती है। पतञ्जलि ने योग को चित्तवृत्तियों का निरोध बताया है (योगश्चित्तवृत्ति निरोध:)। चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में होता है। अत: योग को समाधि भी कहा गया है (योग: समाधि:); इस आकार को ही वृत्ति कहते हैं। पतञ्जलि योग-सूत्र में प्रथम चार सूत्र इस प्रकार हैं—'अथयोगानुशासनम्' अब योग का अनुशासन; 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है; 'तदा दृष्ट: स्वरूपेऽवास्थानम्' तब साक्षी स्वयं में स्थापित हो जाता है; 'वृत्तिसारूप्यमितत्र:' अन्य अवस्था में चित्त का वृत्तियों के साथ तादात्म्य हो जाता है। पतञ्जलि योग-सूत्र का मूल केन्द्र है कि चित्तवृत्तियों का निरोध कैसे सम्भव है? और यही केन्द्र अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का भी रहा है।

पतञ्जलि चित्तवृत्तिनिरोध के लिए शरीर इन्द्रियों एवं चित्त की शुद्धता को अपरिहार्य मानते हैं। पतञ्जलि योग-सूत्र में शरीर इन्द्रियों व चित्त की शुद्धि के लिए निम्नलिखित उपाय बताये गये हैं—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध' अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्तियों की समाप्ति की जा सकती है। पतञ्जलि बुनियादी तौर पर एक वैज्ञानिक हैं जो नियमों की ही भाषा सोचते-विचारते हैं। पतञ्जलि योग-सूत्र अभ्यास व वैराग्य के पश्चात् अष्टांगयोग की चर्चा करता है जिसके लिए अभ्यास व वैराग्य पूर्वांग रूप में स्वीकारे गये हैं; जो इस प्रकार हैं—'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टांवङ्गानि।'[७] योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—यह पाँच प्रकार का संयम है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

नियम—यह भी पाँच प्रकार के हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्राणिधान।

आसन—यह शरीर का संयम है; स्थिरसुखमासनम्।

प्राणायाम—यह प्राण वायु का श्वास-प्रश्वास का संयम है।

प्रत्याहार—यह इन्द्रियों का संयम है। इन्द्रियों के स्वभाव को, बहिर्मुखवृत्ति को अन्तर्मुख बनाना।

उपर्युक्त पाँच अंग योग के बहिरंग साधन हैं। निम्नलिखित तीन अंग योग के अन्तरंग साधन माने गये हैं—

धारणा—किसी देश में जैसे नासाग्र आदि में, चित्त का लगाना। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

ध्यान—ध्येय वस्तु के ज्ञान की एकतानता का नाम ध्यान है। तत्तप्रययैकतानता ध्यानतम्। (निर्विचार अवस्था)

समाधि—चित्त की विक्षेपरहित एकाग्रता। दृष्य्या दृश्य का विलीन हो जाना।

इस प्रकार पतञ्जलि योग-सूत्र आन्तरिक विज्ञान है। पतञ्जलि ने मनुष्यता के इतिहास में धर्म को पहली बार विज्ञान की अवस्था तक पहुँचाया है; अर्थात् विश्वास अन्धानुसरण आदि के स्थान पर अन्वेषण या खोज की दृष्टि दी है जो एक आन्तरिक प्रयोग है। पतञ्जलि ने अन्तस जगत् के निरपेक्ष नियमों का

निगमन करके सत्य और मानवीय मानस की चरम कार्य प्रणाली के विस्तार का अन्वेषण किया है। इस प्रकार कह सकते हैं कि अध्यात्म जगत् में 'योग' सम्भवत: रूपान्तरण की एक कीमिया है, एक वैज्ञानिक व्यवस्था है। आचार्य रजनीश कहते हैं—''योग एक विज्ञान है, कोई शास्त्र नहीं है। योग का हिन्दू, जैन, इसलाम, ईसाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। योग एक सम्पूर्ण विज्ञान है, यह विश्वास करना नहीं सिखाता, यह जानना सिखाता है, यह तुमसे नहीं कहता है कि अन्धे अनुयायी हो जाओ, यह कहता है कि अपनी आँखें खोलो¨। पतञ्जलि बुद्ध पुरुषों की दुनिया के आइंस्टीन हैं। वे अद्भुत घटना हैं, उनकी अभिवृत्ति और दृष्टि वही है जो किसी परिशुद्ध वैज्ञानिक मन की होती है। यदि तुम पतञ्जलि का अनुगमन करो तो तुम पाओगे कि वे गणित के फार्मूले जैसी सटीक बात कहते हैं, तुम वैसा करो, जैसा वे कहते हैं; परिणाम निकलेगा ही, ठीक दो और दो चार की तरह सुनिश्चित। इसलिए मैं कहता हूँ कि पतञ्जलि बेजोड़ हैं। इस पृथ्वी पर पतञ्जलि जैसा दूसरा कोई नहीं हुआ है और इस बात की कल्पना करना भी कठिन लगता है कि एक व्यक्ति ने अकेले पूरा विज्ञान निर्मित किया, कुछ भी छूटा नहीं। लेकिन प्रतीक्षा में है कि मनुष्यता थोड़ा करीब आए ताकि विज्ञान को समझा जा सके।''[८]

सूफी-सन्तों की परम्पराओं में योग का प्रसंग निम्न रूप में पाया जाता है। सूफी हिन्दू व मुसलमान के बीच की कड़ी है। कुछ मुसलिम समुदाय के व्यक्तियों ने उपनिषदों का अध्ययन किया था। उपनिषदों के अध्ययन के प्रभाव के कारण ही वे स्वयं को मुसलमानों से अलग कोटि में रखते थे जिनको सूफी या दरवेश कहा जाता था। सूफी-सन्तों में उपनिषद् जैसी रहस्यवादिता भी दिखाई देती है। सूफी सन्त मुख्यत: अरब के निवासी माने जाते हैं जबकि सूफी शब्द का शाब्दिक अर्थ ज्ञान, साफिया अर्थात् पवित्र, सूफ अर्थात् ऊनी कम्बल है। इसका अर्थ है कि सूफी-सन्त 'सूफी' शब्द को ज्ञान एवं पवित्र के पर्याय के रूप में स्वीकारते थे। सूफी सन्तों की भी स्वयं को रूपान्तरित करने की अपनी रूपान्तरण विषयक विधियाँ हैं जो विशेषत: हठयोग, भक्तियोग आदि का मिश्रित रूप है।

मूलत: सूफी सन्त स्वयं में एक अजनबीपन पैदा करते हैं। यही उनका मूल दर्शन है। इसके लिए सूफी सन्तों ने कई विधियाँ खोजी हैं जिनमें से कुछ मुख्यत: इस प्रकार हैं—१. रात्रि जागरण विषयक विधि, २. दरवेश नृत्य और ३. ऊन के वस्त्र।

झेन-सन्तों की परम्पराओं में योग का प्रसंग इस रूप में मिलता है। झेन बौद्ध धर्म की ही एक उपशाखा है। महात्मा बुद्ध पालि भाषा का उपयोग करते थे जिसमें 'ध्यान' को चान कहा जाता है। इसके पश्चात् अर्थात् ईसा के बाद प्रथम शताब्दी में बौद्ध-धर्म चीन देश में पहुँच गया था जहाँ पर चान शब्द का रूप 'ध्यान' शब्द हो गया था। चीन के पश्चात् लगभग ११४१ ई. में बौद्ध धर्म जापान पहुँच गया था जहाँ पर ध्यान शब्द झेन या जेन हो गया। इस प्रकार कह सकते हैं कि ध्यान का ही रूपान्तरित रूप झेन है जो आज मूलत: जापान में पाया जाता है। जापान में सूजुकी नाम के एक सन्त हुए थे जो झेन सन्तों में मुख्य थे। सूजुकी झेन के सन्दर्भ में कहते हैं कि झेन क्या है? झेन बुद्धत्व का अनुशासन है। इस अनुशासन को प्राप्त करने के लिए झेन सन्त आकस्मिकता को केन्द्र मानते हैं अर्थात् स्वयं में अजनबीपन पैदा करने के लिए आकस्मिकता का प्रयोग करते हैं।

झेन सन्तों में भी रूपान्तरण विषयक विधियाँ पायी जाती हैं; जैसे—झेन सन्त अचानक सिर पर डंडे का प्रयोग, अचानक खिड़की का प्रयोग व अन्य अनेक प्रयोग साधक के लिए करते हैं। झेन के सम्बन्ध में आचार्य रजनीश कहते हैं, "जापान में ध्यान के लिए उनके पास एक शब्द है—झा-झेन। इसका अर्थ है मात्र बैठना, कुछ नहीं करना। यदि तुम बैठ सको, कुछ न करते हुए तो यही ध्यान परम सत्य है। किसी दूसरी चीज की कोई आवश्यकता नहीं है। झा-झेन में ध्यान ही एकमात्र चरण है···झेन तो उन थोड़े से दुर्लभ लोगों के लिए है, उन साहसी लोगों के लिए जो बिना किसी आकांक्षा के, सभी कुछ दाँव पर लगा सकते हैं···झेन सभी के लिए सम्भव नहीं है।"[९]

समकालीन दर्शन में मुख्यत: स्वामी विवेकानन्द तथा श्री अरविन्द 'योग' के प्रसंग पर विस्तृत विवेचना करते हैं। स्वामी विवेकानन्द योग के समन्वित संगठित रूप की चर्चा करते हैं जबकि श्री अरविन्द सर्वांगयोग की चर्चा करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार सामान्यत: 'योग' शब्द के साथ दो अर्थ जुड़े होते हैं। इसका एक अर्थ है 'मिलन' तथा दूसरे अर्थ में यह एक विशेष प्रकार की 'साधना' सूचित करता है। विवेकानन्द ने इस शब्द को बड़ा ही व्यापक अर्थ दिया है। इनके द्वारा दिये गये योग के अर्थ में ऊपर बताये दोनों अर्थ समाविष्ट हैं। अत: कहा जा सकता है कि 'योग', जिसके द्वारा अमरत्व की अनुभूति सम्भव है, एक ऐसा मार्ग है जो 'साधना' का मार्ग है तथा जो 'मिलन' का मार्ग है। योग के अन्तर्गत ऐसे अनुशासन आते हैं जिनके द्वारा 'मिलन' की अनुभूति सम्भव होती है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार 'योग' के अन्तर्गत कुछ विशेष प्रकार के अनुशासन आते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार इन अनुशासनों का सम्बन्ध ज्ञान-संज्ञान से हो सकता है या भावना से भी हो सकता है या मानवीय क्रियाओं या कर्मों से भी हो सकता है या फिर एक ऐसे अनुशासन से हो सकता है जिसमें इन तीनों अनुशासनों का समन्वित संगठित रूप उभरे। स्वामी विवेकानन्द इस अन्तिम विकल्प को अधिक महत्त्व देते हैं। किन्तु यह समन्वित रूप व्यापक तो है ही, एक विशेष प्रकार का संगठन भी है। वे यह नहीं कहते कि कोई ऐसा एक प्रकार का योग है जिसमें ज्ञान, भावना तथा कर्म से सम्बन्धित अनुशासन समाविष्ट है, बल्कि स्वामी विवेकानन्द के अनुसार इन तीनों प्रकार के अनुशासनों को भी पृथक-पृथक रूप में कहा जा सकता है क्योंकि इन तीनों में मुक्ति प्राप्त करने की क्षमता निहित है; वे एक-दूसरे से असंगत भी नहीं हैं बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। स्वामी विवेकानन्द तो यहाँ तक स्वीकार कर लेते हैं कि योग शब्द का एक प्रचलित उपयोग है जो विभिन्न शारीरिक आसनों एवं मुद्राओं का योग है—जो मोक्ष-साधन का एक समुचित विकल्प हो सकता है। अन्तत: स्वामी विवेकानन्दजी ने चार योग मार्गों—ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा राज की पृथक-पृथक विवेचना की है तथा अन्त में एक व्यापक समन्वित रूप भी प्रस्तुत किया है जिसे समन्वित-संगठित रूप कहते हैं।

कर्मयोग के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—"Karma-Yoga...is a system of ethics and religion intended to attain freedom through unselfishness and by good works. The Karmayogi need not believe in any doctrine whatsoever. He may not ask what

his soul is, nor think of any metaphysical speculation. He has got his own special aim of realizing selflessness and he has to work it out himself...He works best who works without any motive, neither for money nor for fame, nor for anything else, and when a man can do that he will be a Buddha, and out of him will come the power to work in such a manner as will transform the world. This man represents the highest ideal of Karma-Yoga."[10]

श्री अरविन्द ने अपने शब्दों में योग के स्वरूप की विवेचना इस प्रकार की है; "Yoga means Union with the Divine, a Union either transcendeutal (above the Universe) or Cosmic (Universal) or idividual, or as in our yoga all three together."[11]

उपर्युक्त पंक्तियों में योग की सभी विधाओं का उल्लेख है। योग का अर्थ ईश्वर-मिलन है। किन्तु यह पारलौकिक स्तर पर हो सकता है। सार्वभौम स्तर में सर्वमुक्ति के रूप में हो सकता है या वैयक्तिक स्तर में हो सकता है। योग का प्रतिपादन करने वाले विभिन्न विचारों में इन्हीं विधाओं में से किसी एक का चयन किया गया है। श्री अरविन्द का कहना है कि उनका योग ऐसा है कि ये तीनों विधाएँ एक साथ जुटी हुई हैं। उनके अनुसार योग वह प्रक्रिया है जो चेतना के विस्तृत करने, उच्चतर उठने तथा अन्ततः एकरूप होने की प्रक्रिया को रूप देता है (Widening, Hightening & Integrating)।

श्री अरविन्द का कहना है कि उनका योग पूर्ण अद्वैत योग है। ऐसा कहने के उनके दो मुख्य आधार हैं—एक तो यह कि उनके योग में योग के सभी रूपों का समन्वय है, और दूसरा आधार यह है कि उनकी योग-विधि में कुछ ऐसे अनुशासन भी समाविष्ट हैं जिनकी ओर अन्य योग-दर्शनों ने ध्यान नहीं दिया है। श्री अरविन्द का कहना है कि योग की मूल विशिष्टता यह है कि यह 'सर्वांगीण' विकास पर बल देता है, आंशिक विकास पर नहीं। यदि हम मात्र ज्ञान पर बल दें, या केवल भक्ति पर बल दें, तो यह सब आंशिक ही होगा, सर्वांगीण नहीं। आवश्यकता है कि मनुष्य (आत्मा) के सभी पक्षों यथा उसके भौतिक, जैविक, मानसिक आदि सभी अंशों का पूर्ण स्थानान्तरण हो जाए। अतः पूर्ण योग उसे ही कहा जा सकता है जो इस प्रकार के पूर्ण स्थानान्तरण पर बल देता हो।

श्री अरविन्द योग के स्वरूप का विवेचन विभिन्न प्रकार से करते हैं;

(१) 'योग मानव की सम्पूर्णता में ईश्वर का उत्प्रवाह है' (The outflowing of the Divine in collective Humanity)

(२) 'योग प्रकृति के मोक्षत्व का प्रयत्न है—मात्र प्रकृति से मोक्षत्व का नहीं' (Liberation in and of Nature and not simply from Nature)

(३) 'योग को आत्म-चेतना नहीं समझ कर उसे आध्यात्मिक आत्म-अभिव्यक्ति कहना चाहिए' (Spiritual Self-manifestation as distinguished from self-realization)

योग अनिवार्यतः किसी अतिप्राकृतिक जीवन में प्रवेश नहीं है। इसका लक्ष्य है भौतिक, जैविक, मानसिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन लाना। श्री अरविन्द कहते हैं कि योग लक्ष्य उत्थान तथा अवतरण दोनों में

है यह विकास प्रक्रिया में घिरे आत्मा के उत्थान का प्रयत्न है तथा साथ-साथ उच्चतर रूपों के अवतरण का प्रयत्न है। यह उच्चतर शक्तियों को मानस पर ही नहीं जड़तत्त्व में भी उतारने का प्रयत्न है। इस प्रयत्न की परिणति अतिमानसिक रूपान्तरण में है। श्री अरविन्द कहते हैं; "Our yoga is a douále movement of ascent and decent, one rises to higher and higher levels of consciousness, but at the same time one brings down their power not only into mind and life, but in the end even into the body. And the highest of these levels, the one which it aims, supermind. Only when that can áe árought down is a divine, transformation possiále in the earth consciousness."[12]

महर्षि महेशयोगी भी आधुनिक विचारधारा में योग के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण विचार व विधियाँ प्रस्तुत करते हैं। उनकी विधियों में मुख्यत: 'भावातीत-योग' महत्त्वपूर्ण योग निधि है जो आज के मनुष्य को अत्यधिक प्रभावित कर रही है। महर्षि महेशयोगी एवं जे. कृष्णमूर्ति से अपनी तुलना करते हुए आचार्य रजनीश कहते हैं, ''महर्षि महेशयोगी हैं विधियों के उन्मुख, जैसे कि विधियाँ ही सब कुछ हों और इस प्रकार वे जे. कृष्णमूर्ति के एकदम विरुद्ध हैं और मैं हूँ—विधियों के पक्ष में और विरुद्ध भी।''[१३]

आचार्य रजनीश योग के स्वरूप की चर्चा निम्न रूप में करते हैं। वे कहते हैं; योग एक विज्ञान है, कोई शास्त्र नहीं है। योग का इसलाम, हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिख या ईसाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। विज्ञान हमारी धारणाओं पर निर्भर नहीं होता बल्कि विज्ञान के कारण हमें धारणाएँ परिवर्तित करनी पड़ती हैं। कोई विज्ञान हमसे किसी बिलीफ या किसी तरह की मान्यता की अपेक्षा नहीं करता है। विज्ञान सिर्फ प्रयोग की, एक्सपेरिमेंट की अपेक्षा करता है। विज्ञान मान्यता से शुरू नहीं होता, खोज जिज्ञासा, अन्वेषण से शुरू होता है। इसलिए योग के लिए सिर्फ प्रयोग करने की शक्ति की आवश्यकता है; प्रयोग करने की सामर्थ्य की आवश्यकता है; खोज के साहस की जरूरत है और कुछ भी जरूरी नहीं है।

योग विज्ञान है, जब आचार्य रजनीश ऐसा कहते हैं तो वे कुछ सूत्रों को प्रस्तुत करते हैं जो योग-विज्ञान के मूल आधार हैं। इन सूत्रों का किसी धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि इन सूत्रों के बिना कोई भी धर्म जीवित रूप से खड़ा नहीं रह सकता है। इन सूत्रों का किसी धर्म से सहारे की जरूरत नहीं है, लेकिन इन सूत्रों के सहारे के बिना धर्म एक क्षण भी अस्तित्व में नहीं रह सकता है।

योग का प्रथम सूत्र है—जीवन ऊर्जा है (Life is Energy)।[१४]

बहुत समय तक विज्ञान इस सम्बन्ध में सहमत नहीं था, पर अब सहमत है। बहुत समय तक विज्ञान सोचता था; जगत् पदार्थ है, मैटर है। लेकिन योग ने विज्ञान की खोजों से हजारों वर्ष पूर्व ही यह घोषणा कर रखी थी कि पदार्थ एक असत्य है, एक झूठ है, एक इल्यूजन (illusion) है, एक भ्रम है। भ्रम का मतलब जैसे दिखाई पड़ता है वैसा नहीं है, और जैसा है वैसा दिखाई नहीं पड़ता है। लेकिन विगत तीस वर्षों में विज्ञान को एक-एक कदम योग के अनुरूप जुट जाना पड़ा है। अब विज्ञान की नजरों में यह सारा जगत् ऊर्जा है, शक्ति है।

योग का द्वितीय सूत्र है—शक्ति के दो आयाम हैं—अस्तित्व और अनस्तित्व (Existence and Non-Existence)।[१५]

शक्ति अस्तित्व में भी हो सकती है और अनस्तित्व में भी। अनस्तित्व में जब शक्ति होती है तो जगत् शून्य हो जाता है और जब अस्तित्व में होती है तो सृष्टि का विस्तार हो जाता है। योग मानता है, जो भी चीज 'है', वह 'नहीं है' भी हो सकती है। जो भी है, वह न होने में समा सकती है। जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु है। जिसका होना है उसका न होना है। जो दिखाई पड़ती है, वह न दिखाई पड़ सकती है। योग का मानना है, इस जगत् में प्रत्येक जो दिखाई पड़ती है, वह न दिखाई पड़ सकती है; प्रत्येक चीज दोहरे आयाम की है, डबल डायमेंशन की है; कोई भी चीज एक-आयामी नहीं है।

इसलिए अन्य शब्दों में कह सकते हैं, योग का दूसरा सूत्र है—प्रत्येक अस्तित्व के पीछे अनस्तित्व जुड़ा है। योग का अर्थ ही होता है दि टोटल, समग्र। सब रिलेटिविटीज हैं, होना और न होना साथ-ही-साथ है। इसलिए योगी नास्तिक को भी कह सकता है कि तुम भी आ जाओ, क्योंकि आधा सत्य है तुम्हारे पास; आस्तिक को भी कहता है, तुम भी आ जाओ, क्योंकि आधा सत्य है तुम्हारे पास। दूसरे सूत्र का अन्य रूप यह भी हो सकता है—द्वन्द्व के बीच शक्ति का विस्तार है। इसलिए योग अच्छे और बुरे का ट्रासेन्डेन्स है। दोनों के पार हो जाना है। योग सुख और दु:ख का अतिक्रमण है, दोनों के पार है, बियांड है।

योग का तृतीय सूत्र है : अस्तित्व के दो रूप हैं—चेतन तथा अचेतन।[१६]

व्यक्ति को चेतन तथा अचेतन में भ्रान्ति हो जाती है अर्थात् चेतन अलग, अचेतन अलग या शरीर अलग, आत्मा अलग। जबकि ऐसी अलगता नहीं है। ठीक से समझें, तो आत्मा का जो हिस्सा इन्द्रियों की पकड़ में आ जाता है उसका नाम शरीर है; शरीर का जो हिस्सा इन्द्रियों की पकड़ में नहीं आता उसका नाम आत्मा है। चेतन और अचेतन, अस्तित्व के दो रूप हैं, दो अस्तित्व नहीं। इसलिए वे रूपान्तरित हो सकते हैं; चेतन से अचेतन आ सकता है, अचेतन चेतन में जा सकता है। योग का कहना है कि हमारे भीतर शरीर और मन, ऐसी दो चीजें नहीं हैं। हमारे भीतर चेतन और अचेतन, ऐसी दो चीजें नहीं हैं।

योग का चतुर्थ सूत्र है—जगत् में कुछ भी असम्बन्धित नहीं है (Everything is related, the world is a family)।[१७]

सूत्रानुसार यह जगत् एक परिवार है। यहाँ असम्बन्धित कुछ भी नहीं है, यहाँ सब संयुक्त है, अलग-अलग होने का उपाय नहीं है। क्योंकि योग का चतुर्थ सूत्र कहता है—ऊर्जा संयुक्त है, ऊर्जा एक परिवार है। न चेतन अचेतन से टूटा है, न अस्तित्व अनस्तित्व से टूटा है, न पदार्थ मन से टूटा है, न शरीर आत्मा से टूटा है, न परमात्मा पृथ्वी से टूटा है, न प्रकृति से टूटा है। टूटा होना शब्द ही झूठा है। सब जुड़ा है, सब इकट्ठा है, संयुक्त है। इसलिए योग कहता है—जब एक व्यक्ति बुरा विचार करता है तो आस-पास के व्यक्ति तत्काल बुरे होने शुरू हो जाते हैं। उस विचार को प्रकट करने की जरूरत नहीं है। जब एक व्यक्ति अच्छा विचार करता है तो आस-पास एक अच्छे विचार की तरंगें फैलनी शुरू हो जाती हैं। अच्छे विचार को प्रकट करने की जरूरत नहीं है। ये सब चारों तरफ से घेर रही तरंगें हमको छू रही हैं। इस अनन्त विस्तार में सब संयुक्त है। सारा जगत् ऊर्जा का एक प्रवाह है।

योग का पंचम सूत्र है—जो अणु में है, वह विराट् में भी है।[१८]

इस सूत्र की सदा से योग ने घोषणा की थी, लेकिन विज्ञान ने अब इसको भी स्वीकार किया है। व्यक्ति ने कभी सोचा भी नहीं था कि अणु के भीतर इतनी ऊर्जा, इतनी शक्ति मिल सकेगी, अत्यल्प के भीतर इतना छिपा होगा, अणु के विभाजन ने योग की इस अन्तर्दृष्टि को वैज्ञानिक सिद्ध कर दिया है। परमाणु तो आँख से दिखाई भी नहीं पड़ता लेकिन न दिखाई पड़ने वाले परमाणु में, अदृश्य में विराट् शक्ति का संग्रह है। वह विस्फोट हो सकता है। व्यक्ति के भीतर आत्मा का अणु तो दिखाई नहीं पड़ता है, लेकिन उसमें विराट् ऊर्जा छिपी है और परमात्मा का विस्फोट हो सकता है। योग की घोषणा है कि क्षुद्रतम में विराटतम मौजूद है, कण-कण में परमात्मा मौजूद है और यही अर्थ रखती है। इस सूत्र पर योग ने क्यों जोर दिया होगा? इसे निम्न सूत्र से समझ सकते हैं।

योग का षष्टम् सूत्र है—जो क्षुद्र दिखाई पड़ता है वह और जो विराट् दिखाई पड़ता है वह, इनमें विराट् दाता हो और क्षुद्र सिर्फ ग्राहक हो, ऐसा नहीं है।[१९]

योग के इस सूत्रानुसार दान और ग्रहण, भिखारी होना और सम्राट होना, सबका अपना महत्त्व है। यहाँ बूँद भी सागर को दान देती है और सागर से दान लेती है। यहाँ क्षुद्र भी विराट् को देता है और विराट् भी क्षुद्र में अपने को उड़ेलता है। यहाँ देना और लेना बिल्कुल बराबर चल रहा है। इस सन्दर्भ में कबीर ने बहुत अद्‌भुत वचन कहे हैं—

हेरत-हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराई।
बूँद समानी समुन्द में, सौकत हेरी जाई॥

कबीर कहते हैं कि पहली बात को काट देना क्योंकि उसमें कुछ गलती हो गई है कि बूँद सागर में गिर गई। अब मैं तुमसे ज्यादा वास्तविक बात कहता हूँ कि सागर बूँद में गिर गया क्योंकि यदि बूँद सागर में गिरी होती तो निकाल भी लेते लेकिन अब सागर बूँद में गिर गया, अब कहाँ निकालेंगे? और कैसे? अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता।

योग का सप्तम् सूत्र है—स्वचेतन और स्वअचेतन (Self-conscious and self-unconscious)।[२०]

चेतन के भी दो आयाम हैं—स्वचेतन (self-conscious) और स्वअचेतन (self-unconscious)।

ऐसी चेतना जिसे पता है अपने होने का और ऐसी चेतना जिसे पता नहीं है अपने होने का। सातवें सूत्र में इस भेद को समझने की कोशिश सबसे उपयोगी है। अब तक जो कहा है, वह सातवें सूत्र को समझने के लिए भूमिका थी। सातवें सूत्र से योग की साधना-प्रक्रिया शुरू होती है। इसलिए इस सूत्र को ठीक से समझ लेना उपयोगी है।

योग मनुष्य को सात तलों में, सात केन्द्रों में, सात चक्रों में विभाजित करता है और चेतना या होश इन चक्रों को कैसे खोल देगा? इस सम्बन्ध में भी आचार्य रजनीश कुछ वैज्ञानिक तथ्य प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार योग का आठवाँ सूत्र प्राप्त होता है।

योग का अष्टम् सूत्र है—स्वचेतना से योग का प्रारम्भ होता है और स्व के विसर्जन से अन्त।[२१]

सातवें सूत्रानुसार चेतन जीवन के दो रूप हैं—स्वचेतन (self-conscious) और स्वअचेतन

(self-conscious)। स्वचेतन होना मार्ग है, स्वयं से मुक्त हो जाना मंजिल है। स्वयं के प्रति होश से भरना साधना है और अन्ततः होश ही रह जाए, स्वयं खो जाए, यह सिद्धि है। इस सूत्र को समझना बहुत—शायद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। स्वयं को पाने की साधक की उत्कृष्ट आकांक्षा होती है, लेकिन स्वयं को खोना कठिन बात है। इसलिए बहुत से साधक योग के सातवें सूत्र तक आते हैं, आठवें सूत्र पर नहीं आ पाते हैं। सातवें सूत्र के बाद साधक प्रश्न उठाता है कि स्वयं को खोना किसलिए? स्वयं ही न होंगे तो जो भी होगा उसका क्या प्रयोजन है? क्या अर्थ है? स्वयं ही न होगा तो फिर क्या होगा मोक्ष? क्या होगा परमात्मा? क्या होगा योग? क्या होगा धर्म? स्वयं के लिए मुक्ति छोड़ी जा सकती, स्वयं से मुक्ति बड़ी कठिन बात है (Freedom from the self is very difficult)। 'मन' वहाँ आखिरी छलाँग की तैयारी में है। लेकिन योग के पास मार्ग है, जिनसे उस आखिरी छलाँग को भी पूरा किया जा सकता है।

मैं क्या हूँ? मैं कहाँ तक हूँ? यह सातवें सूत्र तक ज्ञात हो जाता है। लेकिन मैं कौन हूँ? यह सातवें सूत्र तक ज्ञात नहीं होता है और इसकी खोज ही आठवाँ सूत्र बन जाता है।

योग का नवम् सूत्र है—मृत्यु भी ऊर्जा है (Death is too Energy)।[२२]

प्रथम सूत्रानुसार जीवन ऊर्जा है। जीवन ही ऊर्जा है ऐसा नहीं, मृत्यु भी ऊर्जा है। जीवन ही जीवन है, ऐसा नहीं, मृत्यु भी जीवन है। और जो साधक मृत्यु के लिए तैयार नहीं है वह जीवन से वंचित रह जाता है। इस सूत्रानुसार मृत्यु ऊर्जा है, मृत्यु भी परमात्मा है। यह योग का परम और अन्तिम सूत्र है। जो साधक मृत्यु को भी जीवन की तरह देख पाता है तभी साधक को ज्ञात होता है कि मैं नहीं हूँ। और फिर मृत्यु कैसी? कौन मर सकता है? और यह सब आठवें सूत्र के बाद ही सम्भव हो पाता है। यह केवल एक आयाम में योग के नौ सूत्र हैं। ये बारह ढंग से कहे जा सकते हैं। प्रत्येक सूत्र से एक ध्यान की विधि विकसित हो जाती है और उस तरह एक सौ आठ ध्यान की विधियाँ बन जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन के विभिन्न सन्दर्भों, जैसे भगवद्गीता, जैन, बौद्ध, पतञ्जलि योग-सूत्र, सूफी, झेन सन्तों, आधुनिक विचारकों जैसे स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, महर्षि महेशयोगी एवं आचार्य रजनीश के विशेष सन्दर्भ के अन्तर्गत योग की परिभाषा, अर्थ एवं स्वरूप को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार योग का क्षेत्र बहुत विशाल व विस्तृत है इसी विडम्बना के कारण योग को किसी निश्चित ढाँचे या सीमा में परिभाषित और व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है। योग को समझने के लिए विस्तृत दृष्टिकोण और सामयिक दृष्टि की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त योग के विभिन्न आयामों एवं पहलुओं को भी ध्यान में रखना होगा तभी हम योग की विशालता से परिचित होने में सक्षम हो सकते हैं। तभी हम योग को समग्र रूप में समझ पाएँगे अन्यथा इसके अभाव में केवल रुग्ण ही हो सकते हैं या किसी धर्म, पन्थ, संगठन से जुड़ सकते हैं जो योग का संकुचित या कुण्ठित रूप ही हो सकता है।

सन्दर्भ :

१. आचार्य रजनीश, गीता दर्शन-३, रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि. पुणे, १९९९, पृ. ८०
२. वही, पृ. ११३
३. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, मोती, बनारसी, बंगलो रोड, जवाहरनगर दिल्ली, १९९८, पृ. ४१
४. वही, पृ. ५४
५. वही, पृ. ५८
६. ओशो टाईम्स इन्टरनेशनल, रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि. पुणे, सितम्बर १९९३, पृ. १७
७. आचार्य रजनीश, पतञ्जलि योग-सूत्र भाग-३, रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि. पुणे, १९९७, पृष्ठ सं.८०-८५
८. आचार्य रजनीश, पतञ्जलि योग-सूत्र भाग-१, रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि. पुणे, १९९७, पृष्ठ सं.८
९. आचार्य रजनीश, पतञ्जलि योग-सूत्र भाग-४, रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि. पुणे, १९९७, पृ. ७५
१०. बी.के. लाल, समकालीन भारतीय दर्शन (उद्धृत) मोती, बनारसी, बंगलो रोड, जवाहरनगर दिल्ली, १९९५, पृष्ठ सं. ४३-४५
११. वही, पृ. २६९
१२. वही, पृ. २६९
१३. आचार्य रजनीश, पतञ्जलि योग-सूत्र भाग-२, रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि. पुणे, १९९७, पृ. ८१
१४. आचार्य रजनीश, योग—नये आयाम, रेबल पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि. पुणे, २००२, पृ. ५
१५. वही, पृ. ६
१६. वही, पृ. १५
१७. वही, पृ. २२
१८. वही, पृ. ३०
१९. वही, पृ. ३६
२०. वही, पृ. ५१
२१. वही, पृ. ७४
२२. वही, पृ. ८६

□

वैष्णव मत में भक्ति मार्ग की महत्ता

—डॉ. शिवभानु सिंह

मैं अपने लेख का प्रारम्भ आचार्य नाभादास के निम्न छप्पय से करना चाहता हूँ जिसमें उन्होंने कलियुग में प्रकट भगवान् के चार व्यूहों का उल्लेख किया है—

श्री रामानुजउदार सुधानिधि अवनिकल्पतरु।
विष्णुस्वामि वोहित्थ सिन्धु संसार पार करु॥
मधवाचारज मेघ भक्ति सर्वऊस मरिया।
निम्बादित्य आदित्य कुहर अज्ञान जु हरिया॥
जनम करम भागवत धरम सम्प्रदाय थापी अघट।
चौबीस प्रथम हरि बपु धरै त्यों चर्तुव्यूह कलियुग प्रगट॥ —नाभादास

भक्त नाभादास के अनुसार रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य तथा निम्बार्काचार्य चार व्यूह हैं। इन चार आचार्यों ने प्राचीन नारायण-धर्म, सनातन धर्म या भागवत धर्म को एक नया रूप दिया है। इन्होंने वैष्णव धर्म को प्रतिष्ठित करके इस एक परमधर्म एवं परमदर्शन के रूप में स्थापित किया। विष्णु भक्त श्री या महालक्ष्मी द्वारा प्रवर्तित श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रखर प्रणेता आचार्य रामानुज थे। निम्बार्काचार्य द्वारा प्रणीत सम्प्रदाय हंस सम्प्रदाय के रूप में ख्यातिलब्ध है। इसके आदि प्रवर्तक विष्णु भक्त सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन हैं। वे सभी परमहंस हैं। मध्वाचार्य का सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय है, विष्णु भक्त ब्रह्मा इसके आदि प्रवर्तक हैं। विष्णु स्वामी का सम्प्रदाय रुद्र सम्प्रदाय के रूप में अभिहित किया जाता है। इसके आदि संस्थापक विष्णु भक्त रुद्र हैं। इनके प्रमुख प्रचारक आचार्य वल्लभ हैं।

श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर ने 'Vaishanvism, Shaivism and Minor Religious sects' नामक पुस्तक में वैष्णव मत के विकास में चार महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का उल्लेख किया है। प्रथमतत्त्व वेद के विष्णु से वासुदेव की तादात्म्य है और दूसरा तत्त्व सात्त्वतों या यादवों के ऐतिहासिक राजा वासुदेव से भगवान् वासुदेव का तादात्म्य है। अन्तिम चतुर्थ तत्त्व वासुदेव का गोपाल-कृष्ण या कृष्ण से तादात्म्य है। रामानुज तथा मध्वाचार्य के सम्प्रदायों में प्रथम तीन तत्त्व ही अधिक परिलक्षित हैं। निम्बार्क, वल्लभ और

चैतन्य के सम्प्रदाय में चतुर्थ तत्त्व की प्रधानता है।

वैष्णव मत के उपरोक्त सभी सम्प्रदायों में भक्ति को ही परम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है परन्तु भक्ति के साथ ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय को भी महत्त्व प्रदान किया गया है। वैदिक कर्मकाण्ड को मान्यता देने के साथ-ही-साथ इनमें मूर्ति पूजा का भी विधान द्रष्टव्य है। सभी वैष्णव सम्प्रदाय वैकुण्ठ को परम धाम मानते हैं तथा यह प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् के साथ साकार हो जाना है। अहिंसा, दया, परोपकार तथा त्याग वैष्णव के मुख्य लक्षण हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी वैष्णव भक्त नरसी मेहता के निम्न भजन का निरन्तर उल्लेख करते रहते थे—

वैष्णव जन तो तेने कहिये रे।
जो पीर पराई जाणे रे॥

विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रखर प्रणेता आचार्य रामानुज मोक्ष को जीव का परम पुरुषार्थ मानते हैं जिस अवस्था में जीव का ब्रह्म से सायुज्य लाभ होता है। इस मोक्ष का साधन भक्ति है। इसके अंग रूप में कर्मयोग, ज्ञानयोग और ध्यानयोग है। कर्मयोग से सत्त्वशुद्धि होती है। सत्त्वशुद्धि से ज्ञानोदय होता है; तदनन्तर भक्ति का उदय होता है। भक्ति ईश्वर के प्रति अनुरक्ति है जिसे साधनसप्तक से प्राप्त किया जा सकता है। ये साधन हैं—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष। कायशुद्धि विवेक है। काम, क्रोधादि से मुक्त होना विभोक है। अन्तर्यामी का सतत ध्यान करना अभ्यास है। कर्त्तव्य-पालन करना क्रिया है। सत्य, आर्जव, दान और अहिंसा का पालन करना कल्याण है। दुःख से रहित होना अनवसाद है। असन्तोष और अतिसन्तोष के मध्य की वृत्ति रखना अनुद्धर्ष है। इन साधनों से सम्पन्न जीव भगवान् का नित्य ध्यान करता है। इसके फलस्वरूप भक्ति प्राप्त होती है।

उपरोक्त साधन की दुरूहता को देखते हुए रामानुज ने प्रपत्ति मार्ग का प्रतिपादन किया है। जिसे शरणागति भी कहा जाता है। अपने अहंकार का त्याग करके भक्त भगवान् की शरण में ईश्वराधीनता को स्वीकार कर लेता है। प्रपत्ति के निम्न छः अंग हैं—आनुकूल्य संकल्प, प्रतिकूल्य वर्जन, महाविश्वास, कार्पण्य, गोप्तृत्व-वरण और आत्मनिक्षेप। ईश्वर की इच्छा का पालन, ईश्वर को जो अप्रिय है, उसका त्याग, भगवान् के अनुग्रह में अटूट विश्वास, ज्ञान, कर्म और भक्ति करने की असमर्थता का भावोदय, भगवान् को तारक के रूप में वरण करना, तथा भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण में ही छः प्रपत्ति के अंग हैं। भगवान् की अहेतुकी कृपा के बिना भक्ति असम्भव है। प्रपन्न या शरणापन्न जीव भगवान् की लीला में ही आनन्द लेता है। वह वीतराग, आप्तकाम तथा प्रशान्तचित्त रहता है। नाभादास ने रामानुज के योगदान का उल्लेख करते हुए उन्हें अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य के समान, कृपणपाल तथा करुणासमुद्र कहा है जिन्होंने भक्ति का वितान बनाया और एक श्रेष्ठ सम्प्रदाय की स्थापना की। रामानुज के मत से ही रामानन्द तथा तुलसीदास को प्रथम सेतु, द्वितीय सेतु और तृतीय सेतु के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी परम्परा में आगे चलकर घनश्याम ने स्वामी नारायण वेदान्त की स्थापना की।

आनन्दतीर्थ तथा पूर्णप्रज्ञ के रूप में ख्यात मध्वाचार्य ने माध्व वेदान्त का प्रवर्तन किया। अभेद का खण्डन करके उन्होंने भेदवाद या द्वैतवाद की प्रतिष्ठा की। मोक्षरूपी परमपद की प्राप्ति भगवान् विष्णु के

प्रसाद के बिना सम्भव नहीं है। उनके अनुसार मुक्ति का अर्थ परमात्मा या विष्णु का साक्षात् दर्शन है। उसे परमात्मा की कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए भगवान् के प्रति अगाध प्रेम की अपेक्षा होती है; इसे ही परमभक्ति या परमानुग्रह कहा जाता है। इस अनुग्रह से जीव संसार से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अगाध प्रेम उपासना से होता है जिसकी द्विविधि है शास्त्र का अभ्यास तथा ध्यान। श्रवण, मनन, निदिध्यासन के साथ भेद का ज्ञान और तारतम्य का ज्ञान अपेक्षित है। भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ, श्रेष्ठ तथा कल्याण विधान हैं। भक्ति में ज्ञान, कर्म तथा ध्यान सहायक हैं।

माध्व के अनुसार भगवान् की कृपा में तारतम्य होता है। उसी के अनुरूप जीव को स्वर्ग-प्राप्ति तथा जललोकादि ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति होती है। प्रकृति और अविद्या आदि आवरणों से मुक्ति भगवान् के परम अनुग्रह से ही सम्भव है। भगवान् के दर्शन से आत्म-सम्बद्ध प्रकृति, सत्वादि गुण, कर्म और सूक्ष्म देह जल जाते हैं। किन्तु प्रारब्ध कर्म रहते हैं। वे जले हुए ईंधन की भाँति पुनः-पुनः आविर्भूत और तिरोहित होते हैं। अतएव जीवन्मुक्ति असम्भव है। कर्ममुक्ति ही एकमात्र मुक्ति है। देहपात के अनन्तर भगवद्भक्त अचिरादि मार्ग से गमन करके ब्रह्मलोक जाता है। वहाँ वह दिव्य भोग भोगता है। माध्व-मत में मुक्ति के चार प्रकार हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति लय, अचिरादिगमन और भोग। भोग भी चार प्रकार का होता है—सालोक्य, सारुप्य, सामीप्य और सायुज्य। वैकुण्ठ धाम या ब्रह्मलोक चिन्मय तथा नित्य है। वह लक्ष्यात्मक है। वहाँ कोई कुण्ठा नहीं रहती है। वह अप्राकृत है।

निम्बादित्य, निम्बा भास्कर, नियमानन्द आदि उपनामों से विभूषित निम्बार्काचार्य भेदवाद या द्वैताद्वैतवाद के प्रवर्तक थे। वे जीव को ईश्वर का अंश मानते थे। उनके अनुसार अंश ईश्वर की शक्ति के रूप में है। ईश्वर अंशी या सर्वशक्तिमान है। भगवान् के प्रसाद से जीव को अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। 'उपासनीयं नितरांजनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः' अर्थात् स्वल्प-ज्ञान प्राप्त करने के लिए नित्य ब्रह्मविद्या का अभ्यास करना चाहिए।

निम्बार्क के अनुसार मुक्ति भवबन्धन की उच्छेद है और उसका मुख्य साधन प्रपत्ति रूप-भक्ति है। कर्म, ज्ञान, ध्यान, योग इसी भक्ति के सहायक अंग हैं। इस मत में भगवान् के ऐश्वर्य से अधिक भगवान् के माधुर्य पर बल दिया जाता है। निम्बार्क ने ऐश्वर्य-प्रधान भक्ति के स्थान पर माधुर्य प्रधान भक्ति तथा दास्य भाव पर अधिक बल दिया था। निम्बार्क ने भगवान् के मधुर रूप तथा कान्ता-भक्ति पर अधिक बल दिया था। उनके ब्रह्म कमलनयन कृष्ण हैं। वे कृष्ण के साथ सखियों समेत राधा को भी नित्य संयुक्त करते हैं और राधाकृष्ण के रूप में ही भगवान् का ध्यान करते हैं। ध्यातव्य है कि निम्बार्क मत में ही सर्वप्रथम राधा का प्राकट्य धार्मिक क्षेत्र में हुआ। इसके पूर्व राधा के स्थान पर लक्ष्मी थीं और कृष्ण के स्थान पर नारायण या विष्णु थे। कृष्ण-प्रेम पाँच प्रकार का होता है—शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य तथा प्रियता (या माधुर्य)। इन्हीं से ही भक्ति के पाँच रस निकलते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। निम्बार्क ने माधुर्य भाव को ही भक्ति की सर्वोच्च अवस्था माना है, जो दिव्य-प्रेम की अवस्था है जिसमें वासना और स्वार्थ का अंश मात्र नहीं है। जीव इसी परम पुरुषार्थ की अवस्था में ब्रह्म से अभिन्नता की अनुभूति करता है। निम्बार्क मत में भी कर्ममुक्ति की ही मान्यता है और उनके उन भेदों को भी माना जाता है, जो

माध्व मत में है।

रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णु स्वामी माने जाते हैं परन्तु इसे पुनर्जीवन प्रदान करने का श्रेय वल्लभाचार्य को दिया जाता है। ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य लिखकर उन्होंने शुद्धाद्वैतवेदान्त का प्रतिपादन किया। वल्लभ-वेदान्त में ब्रह्म भगवान्, ईश्वर, पुरुषोत्तम कृष्ण आदि नामों से वाच्य है। ब्रह्म का वर्णन स्वरूप ब्रह्म, कारण-ब्रह्म और कार्य-ब्रह्म के रूप में किया जाता है। ब्रह्म के विविध रूप के अनुसार कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग तथा भक्ति मार्ग मुक्ति के साधन हैं। इनमें सर्वोच्च मुक्ति से लभ्य होती है तथा भक्ति मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वसुगम मार्ग है। वल्लभमत में वैकुण्ठधाम के ऊपर गोलोकधाम को महत्त्व देकर प्रतिष्ठित किया गया है। यही गोलोक नित्य चिदानन्दमय गोकुल है जहाँ राधा-कृष्ण अपने सखा तथा सखियों के साथ नित्य प्रतिष्ठित हैं। यह पुष्टि शब्द भागवतपुराण के पोषण शब्द से ही निकला है। वल्लभ का मत है कि कर्म से साध्य ज्ञान भक्ति रूप साधन शास्त्र से जाना जाता है—मर्यादा भक्ति और पुष्टि-भक्ति। मर्यादा भक्ति से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार फल मिलते हैं। उसमें फलाकांक्षा बनी रहती है जबकि पुष्टि भक्ति में फल की आकांक्षा समाप्त हो जाती है। पुष्टि भी दो प्रकार की होती है—सामान्य पुष्टि और विशिष्ट पुष्टि। सामान्य पुष्टि से चारों प्रकार के फल मिलते हैं जबकि विशिष्ट पुष्टि से भगवत्स्वरूप को प्राप्त कराने वाली भक्ति ही प्राप्त होती है। इस भक्ति को पंचम पुरुषार्थ माना जाता है। मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति दोनों ही भगवान् की कृपा पर निर्भर हैं। वल्लभ ने पुष्टि भक्ति के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—(१) प्रवाह-पुष्टि भक्ति, (२) मर्यादा-पुष्टि भक्ति, (३) पुष्टि-पुष्टि भक्ति और (४) शुद्धि-पुष्टि भक्ति को परा भक्ति कहते हैं जो प्रेम प्रधान भक्ति है जिसमें 'रसो वै सः' अर्थात् ब्रह्मरस का ही नित्य अनुभव होता है। उल्लेखनीय है कि वल्लभमत भागवत पुराण से ही निःसृत है तथा भागवत का भक्ति दर्शन पुष्टि मार्ग में विकसित हो गया। ज्ञातव्य है कि हिन्दी साहित्य में भक्त शिरोमणि सूरदास तथा अष्टछाप के कवि वल्लभाचार्य के ही अनुयायी थे।

उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन और क्रमिक विश्लेषण से मैंने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि वैष्णव मत के प्रायः सभी सम्प्रदायों में भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। तथा मुक्ति-प्राप्ति के सशक्त साधन के रूप में इसे प्रतिष्ठित किया गया है जिसका प्रभाव न केवल दार्शनिक और धार्मिक जगत् में परिलक्षित होता है अपितु साहित्य में भी स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होता है।

□

बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा

—डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष पर विचार करते हुए उसे दो प्रकार के मूल्यों के सन्दर्भ में सम्यक् रूप से समझा जा सकता है। इसमें पहले प्रकार को 'संज्ञानात्मक मूल्य' और दूसरे प्रकार को 'अवधारणात्मक मूल्य' कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष को उसका संज्ञानात्मक मूल्य लोकव्यवस्था एवं लोकप्रतीति की अनुरूपता में निरूपित किये जाने से प्राप्त होता है लेकिन वह अपने अवधारणात्मक मूल्य को एक विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि की अनुरूपता में निरूपित करते हुए प्राप्त करता है। अब भारतीय दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रत्यक्ष को एक आधारभूत प्रमाण माना गया है, क्योंकि यह किसी वस्तु की साक्षात् उपलब्धि का साधन और साथ-ही-साथ उपलब्धि के प्रत्यक्षेतर साधनों का उपजीव्य होता है, परन्तु ऐसा होने पर भी प्रत्यक्ष की आधारभूत महत्ता को केवल उसके संज्ञानात्मक मूल्य तक सीमित नहीं किया जा सकता। उपजीव्यता[१] के करणमूलक साधारण अर्थ से भिन्न एवं विशिष्ट इसके आधारभूत महत्त्व का एक वृहत्तर आयाम भी होता है। वह यह कि प्रत्यक्ष ही अपने ऊपर किसी प्रमाण-मीमांसा पर पड़ने वाले सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसीय अधिभारों का वहन करता है। प्रत्यक्ष ही वह द्वार है जिसके माध्यम से तत्त्वमीमांसा किसी प्रमाणमीमांसा में अपनी 'विश्वदृष्टि' के साथ संक्रमित होती है। वास्तव में एक विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को आत्मसात् करते हुए ही कोई प्रमाणमीमांसा अपने स्वतन्त्र एवं समानान्तर स्वरूप को विज्ञापित कर पाती है। इस रूप में तत्त्वमीमांसीय अधिभारों को किसी प्रमाणमीमांसा विशेष के प्रति 'नीति निर्देशक तत्त्व' के रूप में समझा जा सकता है। सर्वप्रथम प्रत्यक्ष ही उपजीव्य प्रमाण होने के चलते इससे निर्दिष्ट होता है और तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के आलोक में निरूपित होते हुए अपने को अपने संज्ञानात्मक मूल्य से ऊपर अवधारणात्मक मूल्य में स्थापित करता है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि प्रत्यक्षपूर्वक ही अन्य प्रमाण फलित होते हैं तो इसका तात्पर्य यह भी है कि तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के आलोक में स्वयं निरूपित होकर प्रत्यक्ष उन तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों को अन्य प्रमाणों तक अग्रसारित करते हुए ही उनका उपजीव्य होता है।

साधारण तौर पर प्रत्यक्ष को बड़ा ही सरल एवं शुद्ध प्रमाण माना जाता है। यह इन्द्रियों के माध्यम से प्रदत्त वस्तु को उसी रूप में उपलब्ध कराता है, जैसी वह होती है। परन्तु उपर्युक्त रूप में प्रत्यक्ष के अवधारणात्मक महत्त्व (तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के वाहक रूप में) को स्वीकार कर लेने पर प्रत्यक्ष के सरल एवं शुद्ध स्वरूप का निर्धारण प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से उतना ही सरल एवं शुद्ध नहीं रह जाता। प्रमाणमीमांसा के वैकल्पिक प्रारूपों के सम्भव होने के कारण उनके मध्य यह निश्चित कर पाना और भी कठिन हो जाता है कि प्रत्यक्ष का कोई सरल और शुद्ध स्वरूप होता भी है अथवा नहीं। वास्तव में प्रत्यक्ष का होना जितना निर्विवाद है उतना ही विवादास्पद यह है कि प्रत्यक्ष किसका और कैसे होता है? यदि प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता अर्थात् सद्यः एवं साक्षात्कारी ज्ञान को कम-से-कम प्रत्यक्ष का सरल एवं शुद्ध स्वरूप मान भी लिया जाए तो भी साक्षात्कारित्व की आधारभूमि पर प्रत्यक्ष अपनी बहुविध व्याख्या का विरोध करता हुआ प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः प्रत्यक्ष की ऐसी तथाकथित सरलता एवं शुद्धता ऐन्द्रिक संवेदन की एक ऐसी प्रभावाभिनत् स्थिति है कि उसके स्वरूप एवं व्याख्या को आसानी से प्रभावित करते हुए प्रत्यक्ष विषयक एक से अधिक अवधारणाओं को निर्मित करने का लाभ लिया जा सकता है। इसीलिए तो विभिन्न दर्शनों के प्रस्थान भेद से प्रत्यक्ष की भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ हुई हैं और तब भी सब-के-सब प्रत्यक्ष के नितान्त वास्तविक स्वरूप को ही उद्घाटित करने का दावा करते हैं। अवधेय है कि यदि किसी प्रमाणमीमांसा विशेष के अन्तर्गत प्रत्यक्ष पर संशोधनात्मक तरीके से विचार करते हुए उसके सरल एवं शुद्ध स्वरूप को उद्घाटित करने का एक नवीन दावा किया जाता है तो ऐसे प्रयासों में भी प्रत्यक्ष को किसी अन्य प्रकार के तत्त्वमीमांसीय अधिभारों से युक्त रूप में निरूपित किये जाने का आग्रह ही अन्तर्निहित होता है। अतएव प्रत्यक्ष की बहुविध व्याख्या की सम्भावना को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक दृष्टि से प्रत्यक्ष का संज्ञानात्मक मूल्य जितना महत्त्वपूर्ण नहीं होता, उससे कहीं अधिक उसका अवधारणात्मक मूल्य होता है। प्रत्यक्ष को ऐसा अवधारणात्मक मूल्य किसी तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता की अनुरूपता में निरूपित किये जाने से प्राप्त होता है और वहीं से वह अपने निर्दिष्ट स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए युक्तियों एवं तर्कों को भी आहरित करता है। दो या दो से अधिक दर्शनों के मध्य प्रत्यक्ष विषयक जो मतभेद होते हैं उन्हें प्रत्यक्ष के अवधारणात्मक मूल्य के सन्दर्भ में ही सम्यक् रूप से समझा जा सकता है।

प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की त्रिपुटीय संरचना (प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय) में करण एवं विषय उसके दो महत्त्वपूर्ण घटक होते हैं। ज्ञान के स्वरूप और उसकी व्याख्या में बदलाव के प्रति दोनों घटकों की निर्णायक भूमिका होती है। एतदर्थ तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियों के आलोक में प्रत्यक्ष अपने को निरूपित करे, इसके लिए प्रत्यक्ष को अपने करण एवं विषय में परस्पर सामंजस्य स्थापित करते हुए दोनों ही दृष्टियों से अपने को निरूपित करना पड़ता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के करणोपकरण एवं विषय को लेकर रोचक विवादों का एक लम्बा इतिहास देखने को मिलता है। प्रमाणों के लक्षण, संख्या, विषय और फल सम्बन्धी विवाद का मूल भी यही है। इसका एक प्रमुख निहितार्थ यह भी रहा है कि

प्रत्यक्ष के करणात्मक पक्ष की व्याख्या में किसी प्रकार का बदलाव प्रत्यक्ष के स्वरूप को प्रभावित करते हुए उसके विषय-पक्ष में भी बदलाव के पूर्वग्रह को न्यूनाधिक रूप से सूचित करता है। दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष के करणात्मक पक्ष की व्याख्या ही प्रत्यक्ष की उस पात्रता को निर्धारित करता हुआ प्रतीत होता है कि निर्दिष्ट प्रत्यक्ष का विषय क्या और कैसा होगा। अब यदि विषय का स्वरूप एक तत्त्वमीमांसीय निर्धारण है तो प्रत्यक्ष के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वह तदनुरूप ही अपने को इस तरह निरूपित करे कि प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता और निर्दिष्ट विषय के प्रति उसकी प्रमाणता दोनों ही सुरक्षित रह सकें। प्रत्यक्ष का ऐसा निरूपण इस बात पर आवश्यक रूप से निर्भर करता है कि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के करणोपकरण की प्रस्थिति और भूमिका को किस रूप में स्वीकार किया गया है।

भारतीय दर्शनों के प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रत्यक्ष के करणात्मक पक्ष से सम्बन्धित कतिपय भिन्न-भिन्न प्रकार के सिद्धान्तों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। इनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षवाद (न्याय-वैशेषिक), सामग्रीकारणवाद (जरन्नैयायिक जयन्तभट्ट), ज्ञातृव्यापारवाद (मीमांसक), इन्द्रियवृत्तिवाद (सांख्य-योग), अन्त:करणवृत्तिवाद (अद्वैतवेदान्त) एवं सारूप्यवाद (बौद्ध) इत्यादि प्रमुख हैं। ऐसे ही प्रत्यक्ष के विषय से सम्बन्धित जातिविशिष्ट व्यक्ति, सामान्य-विशेषाश्रय व्यक्ति, महासामान्यब्रह्म एवं सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षण इत्यादि सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। इन सभी सिद्धान्तों की यथास्थिति में उनके करणपक्ष एवं विषयपक्ष के मध्य तत्त्वमीमांसीय हस्तक्षेप कुछ मूलभूत अवधारणाओं के माध्यम से प्रसवित होता है। इन्हें ज्ञान की सविषयता, निराकारता और परप्रकाशता तथा ज्ञान की निर्विषयता, साकारता और स्वयंप्रकाशता के रूप में मोटे तौर से रेखांकित किया जा सकता है। अवधेय है कि उपर्युक्त दोनों वर्गों के सिद्धान्त ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में दो परस्पर विरोधी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि (अपने विकसित रूपों में वस्तुवाद और विज्ञानवाद) का प्रतिनिधित्व करते हैं और साथ-ही-साथ ज्ञान की संरचना और स्वरूप को बहुत गहरे अर्थों में प्रभावित भी करते हैं।

II

बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा अनात्मवाद और क्षणभंगवाद की तात्त्विक पृष्ठभूमि में कुछ ऐसी विशिष्टताओं को लेकर विकसित हुई है जिसके चलते भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सारूप्यवाद को छोड़कर उपर्युक्त रेखांकित सभी सिद्धान्त ज्ञान को किसी-न-किसी तरह से प्रकाशक मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध प्रकाशक और प्रकाश्य का सम्बन्ध है। इसके लिए दृष्टान्त भी प्राय: दीपक और उसके प्रकाश में प्रकाशित होने वाली वस्तुओं का दिया जाता है। यहाँ अवधेय है कि जब ज्ञान का स्वभाव ही है—पर का प्रकाशन तो दूसरे को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को भी किसी अन्य से ही प्रकाशित मानना पड़ेगा। तब या तो अनवस्था की स्थिति उत्पन्न होगी अथवा मूल में एक ऐसे तत्त्व को स्वीकार करना पड़ेगा जो स्वयं प्रकाशित हो। जब स्वयं प्रकाशित तत्त्व के द्वारा अन्य का प्रकाशन और अन्य से प्रकाशित होकर किसी अन्य का प्रकाशक होना एक ही तरह एवं एक ही स्तर का प्रकाशन नहीं कहा जा सकता। इन दोनों प्रकार के प्रकाशनों का अन्तर इस बात में निहित है कि स्वयंप्रकाशित तत्त्व आवश्यक रूप से आत्मचेतन होती है जबकि दूसरे से प्रकाशित होकर दूसरे को

प्रकाशित करने वाला तत्त्व चेतन तो हो सकता है लेकिन उसका आत्मचेतन होना आवश्यक नहीं। वस्तुतः चेतना केवल ज्ञानात्मक ही होती है जो अपने प्रभाव क्षेत्र में आने वाली वस्तुओं का यथावत प्रकाशन मात्र करती है। इससे भिन्न आत्मचेतना महज ज्ञानात्मक नहीं होकर सृजनात्मक भी होती है और किसी वस्तु को आत्मसात् कर उसे प्रतिभासित करती है। बौद्धों के 'सारूप्यवाद' का उद्गम इसी मूलगामी दृष्टि में है कि ज्ञान, वास्तव में, प्रकाशक नहीं अपितु प्रतिभासक होता है क्योंकि सभी ज्ञानात्मक स्थितियाँ अपने स्वरूप में ही आत्मचेतन हुआ करती हैं। प्रत्येक चेतना का आत्मचेतन होना एक अनिवार्य लक्षण है (सर्व चित्त चैत्तानामात्मसंवेदनम्)। किसी विषय का प्रकाशक होना, यह विषय की अपेक्षा होने से विषयाधिशासी दृष्टि है जहाँ हमें चेतना का महज ज्ञानात्मक स्वरूप प्राप्त होता है। परन्तु ज्ञान के आत्मचेतन स्वरूप की यह अपेक्षा है कि वह विषय का प्रतिभासक हो अर्थात् विषय को अपने आयाम में आत्मसात् कर उसे प्रकाशित करे। अतएव प्रतिभासवाद, वास्तव में, विषयितामूलक दृष्टि है जहाँ हमें चेतना का न केवल ज्ञानात्मक स्वरूप बल्कि आत्मचेतना का सृजनात्मक स्वरूप भी प्राप्त होता है। इस रूप में अर्थप्रकाशक चेतना और अर्थप्रतिभासक चेतना की अवान्तर निष्पत्ति भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की दो आधारभूत दृष्टियों अर्थात् निराकारज्ञानवाद और साकारज्ञानवाद में होती है जो ज्ञान के स्वरूप को अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं। पुनः सारूप्यवाद के अतिरिक्त सभी सिद्धान्त ज्ञान के विषय को ज्ञान-क्रिया से स्वतन्त्र स्थापित करने का हर सम्भव प्रयास करते हैं जिससे कि ज्ञान एक सकर्मक क्रिया बनी रहे लेकिन बौद्धों का सारूप्य सिद्धान्त अकेले ही इसका विरोध करता है और अपनी चरम परिणति में ज्ञान के विषय को ज्ञान-क्रिया में ही अन्तर्मुक्त कर देता है जिससे ज्ञान की अपने स्वरूप में ही अवगति बनी रहे और अपना ही अतिक्रमण करने के दोष से भी मुक्त रह सके (स्वरूपस्य स्वतो गतिः)। ज्ञान अपना अतिक्रमण नहीं कर सकता, इसका मतलब यह नहीं कि ज्ञान की व्यवहारसम्मत विषयमूलकता और विषयप्रापकता का उच्छेद हो जाता है। हम आगे देखेंगे कि सारूप्यवाद में यह किस प्रकार सुरक्षित रहता है। अन्त में उपर्युक्त दोनों प्रकार के अभ्युपगमों की एक महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति प्रमाण और प्रमाणफल के भेद और अभेद में होती है। सारूप्यवाद प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद का समर्थक सिद्धान्त है। इस प्रकार, वास्तव में, सारूप्यवाद बौद्ध प्रमाणमीमांसा की एक आधारभूत दृष्टि है जो अपनी सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ उसे व्यावर्त्तक स्वरूप प्रदान करता है। अपने विकास क्रम में सारूप्य के सिद्धान्त की व्याप्ति न्याय-वैशैषिक, मीमांसा इत्यादि दर्शनों के साधारण वस्तुवाद के विरोध से लेकर निरालम्बनवादी विज्ञानवाद और उसके विभिन्न प्रारूपों तक देखी जा सकती है। परन्तु सारूप्यवाद का वास्तविक स्वरूप साधारण वस्तुवाद और निरालम्बन विज्ञानवाद के मध्य ही न्यूनाधिक रूप से उभरता है।

बौद्ध साहित्य में सारूप्य की अवधारणा के आरम्भिक सन्दर्भ कथावत्थु[२] और अभिधम्मत्थसङ्गहो[३] इत्यादि पालि ग्रन्थों में प्राप्त होता है लेकिन ज्ञानमीमांसीय महत्त्व की दृष्टि से इसका प्रारम्भिक रूप इन्द्रियों की साकारता (इन्द्रिय विकार) के रूप में वैभाषिकों को प्रत्यक्ष सम्बन्धी अवधारणा में मिलता है। यद्यपि स्वयूथ्य एवं परयूथ्य के दार्शनिकों द्वारा वैभाषिक बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी के रूप में मान्य किये गये हैं, लेकिन स्वयं वैभाषिकों ने प्रत्यक्ष की ज्ञानमीमांसा उस रूप में प्रस्तुत नहीं की है जैसा कि प्रमाणशास्त्र में रुचि

रखने वाले अन्य दर्शन करते हैं। वस्तुतः प्रत्यक्ष की एक विशेष अवधारणा वैभाषिकों के द्वारा किये गये धर्म प्रविचय में अन्तर्निहित है क्योंकि प्रविचित धर्मों की संज्ञा ही है—'अवबोधोपयोगिनः पदार्थाः'।[४] अवबोधोपयोगी पदार्थों के रूप में धर्मों के प्रविचय के पीछे वैभाषिकों की मूलभूत दृष्टि इस संसार में चेतना की लोक प्रवृत्ति को समझ कर चेतना की लोक निवृत्ति के सूत्रों को खोजना था। इसीलिए अभिधर्म की व्याख्या 'प्रज्ञाऽमलासानुचराभिधर्मः'[५] अर्थात् निर्वाणोन्मुखी धर्म के रूप में की गई है। चित्त की लोक प्रवृत्ति अर्थात् विषयोन्मुखता के साथ ही संवेद की प्रक्रिया और उससे सम्बन्धित एक सिद्धान्त का जन्म हो जाता है। संवेद की प्रक्रिया और उसके विभिन्न पहलुओं की जाँच-पड़ताल किये बिना हम चित्त की लोक प्रवृत्ति को पुंखानुपुंख समझ भी नहीं सकते हैं। वैभाषिकों ने इसके लिए 'ये धम्मा हेतु प्रभवः…' नामक बुद्ध वचन को आधार बनाकर अवबोधोपयोगी तत्त्वों का प्रविचय अर्थात् छान-बीन स्कन्ध, आयतन और धातुओं के रूप में किया है। स्कन्ध के अन्तर्गत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान परिगणित हुए हैं। आयतन के रूप में पंच ज्ञानेन्द्रियों और एक मन तथा तत्तद् इन्द्रियों के रूप-शब्दादि विषयों को सम्मिलित किया गया है। इसी तरह द्वादश आयतनों में षडविध इन्द्रियविज्ञानों को सम्मिलित कर अष्टादश धातुओं की व्यवस्था की गई है। हमारा जीवन और जगत् इन्हीं धर्मों की एक सुसंहत व्यवस्था है। इस व्यवस्था में धर्मों की ही यथार्थ सत्ता है, धर्मसंघात को कल्पित अथवा अविद्या दृष्टि के रूप में मान्य किया गया है। वस्तुतः संघात दृष्टि ही वैभाषिक सम्मत पुद्गल नैरात्म्य दृष्टि है। प्रत्येक धर्म संस्कृत अर्थात् हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण एक-दूसरे से सर्वथा पृथक्-पृथक् क्षणिक, स्वलक्षणात्मक, प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं अनात्मलक्षण से संयुक्त होते हैं। यहाँ तक कि इन्हें बाह्य एवं आन्तरिक धर्म के रूप में वगीकृत नहीं किया जा सकता। धर्मों का बाह्य और आन्तरिक धर्म के रूप में विभाजन एक औपचारिक अभिनिवेश है क्योंकि विज्ञान जिस रूप में एक संस्कृत धर्म है, विज्ञान का विषय भी उसी रूप से एक संस्कृत धर्म है। प्रत्येक धर्म एक-दूसरे के लिए बाह्य ही है और अपनी-अपनी स्वायत्तता का उपभोग करते हुए भाव, लक्षण, अवस्था एवं कारित्र की दृष्टि से क्षण-क्षण अध्व संक्रमण करते रहते हैं परन्तु द्रव्यात्मक दृष्टि से इनके त्रैयकालिक अस्तित्व को मान्य किया गया है।[६] ऐसे पृथक्-पृथक् धर्मों की सुसंहत व्यवस्था प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम के अन्तर्गत की एक व्यापक निर्मिति है।[७]

वैभाषिक सम्मत अवबोधोपयोगी धर्मों की उपर्युक्त व्यवस्था में प्रत्यक्ष विषयक प्रमाणमीमांसीय प्रश्न उनकी क्षणिकता के चलते तनिक जटिलता के साथ इस रूप में प्रस्तुत होते हैं कि ज्ञान के क्षणभंगुर घटक ज्ञानोत्पत्ति में किस प्रकार का सहयोग करते हैं? पारमार्थिक रूप में प्रदत्त धर्मों की प्रत्यक्षोपलब्धि कल्पित धर्म-संघात दृष्टि की व्याख्या के लिए आवश्यक है अन्यथा प्रदत्त और कल्पित का भेद ही समाप्त हो जाएगा। ज्ञानोत्पत्ति के सम्बन्ध में बौद्ध दार्शनिकों की एक सामान्य मान्यता है कि नील-पीत इत्यादि विज्ञानों की उत्पत्ति आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय और सहकारी प्रत्यय के अधीन होती है।[८] नील-वस्तु नील विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय है क्योंकि इसी के चलते नील विज्ञान नील वस्तु विषयक होता है। इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय हैं क्योंकि नीलादि विज्ञानों के आश्रय होने के साथ-साथ रूपादि ज्ञान का परिच्छेदक इन्द्रियाँ ही होती हैं। समनन्तर प्रत्यय बौद्धों की एक विशेष अवधारणा है। चित्त की सनातन धारा में पूर्ववर्ती

क्षण उत्तरवर्ती क्षण के प्रति समनन्तर प्रत्यय होता है। इसी के चलते विज्ञान में 'इदं नीलं' रूप बोधरूपता आती है। इसके अतिरिक्त प्रकाश आदि को सहकारी प्रत्यय के रूप में परिगणित कर लिया गया है। कोई भी ज्ञान इन्हीं कारणभूत प्रत्ययों से प्रतीत्यसमुत्पन्न एक मिश्रित उत्पाद है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि ज्ञान के कारणभूत घटकों में प्रत्यय रूप से उन्हीं आयतनों एवं धातुओं को प्रकारान्तर रूप से ग्रहण किया गया है जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र एवं पृथक्-पृथक् क्षणों में विभक्त हैं। ऐसा होने से प्रथमतया ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या में आपाततः यह कठिनाई प्रतीत होती है कि ज्ञान के कारणभूत घटकों का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार होता है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध उतना ही आवश्यक है जितना कि स्वयं ज्ञान का घटित होना। परन्तु क्षणिक धर्म आखिर किस प्रकार एक-दूसरे से सम्बन्धित हो सकते हैं। पुनः ज्ञान के कारणभूत घटकों का कालिक अनुक्रम में विनियोग भी सम्भव नहीं है जो विषय-वस्तु और उसके ज्ञान में कारण-कार्य सम्बन्ध और स्वयं ज्ञान की क्रिया मीमांसीय व्याख्या के लिए आवश्यक है। वस्तुतः क्रिया की उत्पत्ति प्रक्रिया में ज्ञानोत्पत्ति का विश्लेषण जब स्थैर्यवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत किया जाता है तो क्षणिकवादी दृष्टि से ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या में उपर्युक्त विपत्तियों का दिखाई पड़ना स्वाभाविक ही है। परन्तु ज्ञानोत्पत्ति का क्रियामीमांसीय सिद्धान्त कोई अन्तिम और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं।[९] इसकी व्याख्या दूसरे सिद्धान्त के द्वारा भी की जा सकती है। सर्वास्तिवादी वैभाषिकों ने 'सर्वः स स्पर्श प्रतीत्य' की दृष्टि से ज्ञानोत्पत्ति को कालिक अनुक्रम में न देखकर सन्निपात के प्रारूप व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानोत्पत्ति के कारणभूत घटकों का समवधान, वास्तव में, कालिक अनुक्रम में न होकर समानान्तर और युगपद् रूप से होता है। ये सभी घटक अपनी समानान्तर और युगपद् उपस्थिति के अतिरिक्त ज्ञान को उत्पन्न करने में किसी अन्य प्रकार की क्रिया नहीं करते जैसा कि परयूथ्य के दार्शनिकों ने कर्ता, करण, करणनिष्ठ व्यापार तथा फल के रूप में ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या करते हैं। ज्ञानोत्पत्ति के घटक तत्त्वों का स्वभाव ही ऐसा है कि उनके बीच न कोई वास्तविक सम्बन्ध और न ही उनके मध्य कोई वास्तविक क्रिया-प्रतिक्रिया, फिर भी उन कारण सामग्रियों के युगपद् सन्निपात से विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है। वैभाषिकों के अनुसार आलम्बन, इन्द्रिय विकार और विज्ञान का त्रिक सन्निपात होना ही प्रत्यक्ष का घटित होना है। त्रिक सन्निपात को पारिभाषिक शब्दावली में 'फस्सो' (पालि) अथवा स्पर्श (संस्कृत) कहा जाता है।[१०] त्रयी के स्पर्श होने से इन्द्रियाँ विकारी होती हैं[११] और तत्तद् इन्द्रियाश्रित विज्ञानों के द्वारा तत्तद् विषयों का साक्षात्कार होता है। उदाहरण के लिए चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण, रूप का एक क्षण और विज्ञान का एक क्षण इन तीनों के युगपद् स्पर्श से चक्षुरिन्द्रिय में रूप का विकार अर्थात् रूपाकारवृत्ति होती है और तदाश्रित चक्षुर्विज्ञान द्वारा रूप-स्वलक्षण का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। ऐसे ही सभी इन्द्रियों का विकारी होना और तत्तद् आश्रित इन्द्रिय विज्ञानों द्वारा उनसे परिच्छेदित विषयों का प्रत्यक्ष समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में वैभाषिकों की एक विशेष मान्यता है कि चक्षुरिन्द्रिय देखती है और विज्ञान जानता है।[१२] यहाँ चक्षुरिन्द्रिय सभी इन्द्रियों का उपलक्षण रूप से विवक्षित है। प्रत्यक्ष के घटित होने की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया कारण सामग्रियों के युगपद् सन्निपात से ठीक वैसे ही होती है जैसे सूर्य का उदय और दिवस का होना।

इस प्रकार यदि वैभाषिकों के प्रत्यक्ष-विचार में सारूप्य जैसी किसी अवधारणा को खोजने का प्रयास किया जाए तो कहा जा सकता है कि उनके मत में सारूप्य का ग्रहण इन्द्रियविज्ञानों के द्वारा न होकर इन्द्रिय-विकार के रूप में फलित होता है। इस सम्बन्ध में तीन बातें विचारणीय हैं। प्रथमत: यह कि वस्तुक्षण (आलम्बन प्रत्यय), इन्द्रियक्षण (अधिपति प्रत्यय) और विज्ञानक्षण (समनन्तर प्रत्यय) का स्पर्श-सन्निपात होने से इन्द्रियाँ विकारी होती हैं। इन्द्रियों के विकारी होने का तात्पर्य उनमें वस्तुक्षण के आकार का आकारित होना है जिसे इन्द्रियाँ अपनी सम्प्राप्तग्राही और असम्प्राप्तग्राही[१३] प्रकृति के अनुसार ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों में वस्तुप्रतिभास गृहीत होने के पीछे वैभाषिकों का एक साधारण तर्क यह था कि चूँकि सप्रतिध (मूर्त व्यवधान युक्त) रूपों का प्रतिभास नहीं होता और 'तद्भावभावित्व' के नियम से रूपादि विषयों का परिच्छेद इन्द्रियों द्वारा ही निर्धारित होता है, अतएव इन्द्रियों के द्वारा ही प्रतिभास ग्रहण समीचीन है।[१४] आँख से देखना, कान से सुनना इत्यादि लोकव्यवहार भी इसी का समर्थन करते हैं। द्वितीयत: यह कि वैभाषिक निराकारज्ञानवादी हैं।[१५] इनके मत में इन्द्रियाँ साकार और इन्द्रियाश्रित विज्ञान निराकार होता है। इन्द्रियाश्रित विज्ञानों के द्वारा वास्तव में इन्द्रियगत प्रतिबिम्बों का साक्षात्कार किया जाता है। यदि विज्ञान में ही रूपादि का प्रतिभास माना जाए तो सप्रतिध रूपों का भी ग्रहण होने लगेगा।[१६] विज्ञान का चूँकि स्वभाव ही अप्रतिध होता है, अतएव प्राचीर, कुड्यादि रूपी धर्म उसके गमन में बाधक नहीं होते। तृतीयत: यह कि वस्तुक्षण, इन्द्रियक्षण और विज्ञानक्षण के त्रिक सन्निपात होने से ज्ञेय वस्तुक्षण अपने विज्ञान काल में मृतपूर्ववर्ती क्षण नहीं बल्कि अपने ज्ञान के साथ-साथ जीवित रहती है। वैभाषिकों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे सहभूहेतुओं की अन्योन्य हेतु-फल व्यवस्था कहते हैं।[१७] अपनी इसी मान्यता के चलते उन्हें बाह्यार्थों के अव्याहत प्रत्यक्ष को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

III

सौत्रान्तिकों ने वैभाषिकों के प्रत्यक्ष की व्याख्या और उससे सम्बन्धित उपर्युक्त त्रिविध निष्पत्तियों की कटु आलोचना करते हुए कुछ मूलभूत परिष्कारों को प्रतिपादित किया है। ऐसे परिष्कार मूलत: क्षणिकता की अवधारणा के तार्किक स्वरूप को लेकर किये गये हैं लेकिन सर्वास्तिवादी ज्ञानमीमांसा पर उनका जैसा प्रभाव पड़ा है, उससे ज्ञान के विषय और कारण पक्ष की व्याख्या बदली है और परिणामस्वरूप 'सारूप्य' की अवधारणा को आधारभूत ज्ञानमीमांसीय प्रस्थिति एवं भूमिका प्राप्त हुई है।

सौत्रान्तिकों के द्वारा किया गया पहला परिष्कार संस्कृत धर्मों के स्वरूप लक्षण से सम्बन्धित है। बुद्ध वचनों में संस्कृत धर्मों को उत्पाद, व्यय और स्थित्यन्थात्व नामक तीन लक्षणों से प्रज्ञात बताया गया है।[१८] वैभाषिक इसके आधार पर संस्कृत धर्मों की व्याख्या जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता नाम चतुर्विध लक्षणों के अन्तर्गत करते हैं।[१९] जाति संस्कृत धर्मों का उत्पाद लक्षण है, स्थिति उनका स्थापनीय लक्षण है, जरा उनके ह्रास लक्षण को सूचित करती है और अनित्यता उनका विनाशी लक्षण है। इस तरह वैभाषिक संस्कृत धर्मों के अतीत, वर्तमान और अनागत कारित्र के आधार पर उनकी त्रैयकालिकता और क्षणिकत्व (द्रव्यगत त्रैयकालिकता और भाव, लक्षण, अवस्था एवं कारित्र की दृष्टि से क्षणिकत्व) का समन्वय करते हें। सौत्रान्तिक इसकी आलोचना करते हुए पूछते हैं कि यदि धर्मों के वर्तमानकालिक

अस्तित्व की तरह ही उनका अतीत और अनागत अस्तित्व है तो उन्हें आखिर किसलिए अतीत और अनागत कहा जाता है। ऐसा मानने से तो धर्मों के त्रैयकालिक लक्षणों का किसी भी एक काल में व्यामिश्रण हो जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि धर्मों की सत्ता तो तीनों कालों में रहती है लेकिन कारित्र केवल वर्तमानिक होता है, क्योंकि वास्तव में कारित्र से पृथक् एवं परे धर्मों की कोई अन्य सत्ता ही नहीं। वैभाषिकों के ऐसे विचार शाक्यगोत्रीय न होकर एक प्रकार का प्रच्छन्न शाश्वतवाद जैसा है जो स्वयं के तर्कबल पर खड़ा न होकर बुद्ध वचनों के विनेयजनसुलभ अर्थ को उसका गूढ़ार्थ समझता है। सौत्रान्तिकों के अनुसार यावत् संस्कृत धर्मों का केवल उत्पाद और विनाश ही वास्तविक लक्षण है।[२०] उत्पाद और विनाश के निरन्तर प्रवाह में वैभाषिकों के चारों लक्षणों का अन्तर्भाव एवं समन्वय हो जाता है। उत्पाद अभूत्वाभाव है, स्थितिप्रबन्ध है, जरा इसकी पूर्वापर विशिष्टता है और अनित्यता प्रवाह का उच्छेद है।[२१] इस तरह संस्कृत धर्मों का केवल अभूत्वाभाव और भूत्वाभाव होता है। धर्मों का वास्तविक स्वभाव कारित्र (या भूति सैव क्रिया) है। इस दृष्टि से तत्क्षण क्रिया को समाप्त कर निरन्वय विनाश ही क्षणिकता है।[२२]

सौत्रान्तिकों के द्वारा किया गया दूसरा महत्त्वपूर्ण परिष्कार सहभू हेतुओं की अवधारणा से सम्बन्धित है। वैभाषिकों के अनुसार सभी धर्म स्वत: से अन्य सभी संस्कृत धर्मों के कारण हेतु हैं, क्योंकि उत्पन्न होने वाले सभी धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविघ्न भाव से अवस्थान होता है।[२३] परन्तु कुछ एक धर्म सहोत्पन्न अर्थात् साथ-साथ उत्पन्न होने से सहभू हेतु कहलाते हैं। सहभू हेतुओं की विशिष्टता यह है कि उनका परस्पर हेतु-फल भाव होता है।[२४] उदाहरण के लिए चक्षु, रूप और विज्ञान क्षण सहभू हेतु के रूप में उत्पत्तिमान धर्म कहे जाते हैं। इनके मध्य परस्पर अर्थक्रिया होने से परस्पर हेतु-फल भाव व्यस्थित होता है। सौत्रान्तिक इसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि लोक में कुछ वस्तुओं का हेतु-फल भाव सदैव इस रूप में व्यवस्थित है कि हेतु फल का नियत पूर्ववर्ती होता है। परन्तु सहोत्पन्न धर्मों में इस न्याय की प्रयुक्ति नहीं देखी जाती।[२५] यहाँ न्याय शब्द का प्रयोग लौकिक निर्धारण के अर्थ में हुआ है जो इस बात का द्योतक है कि सौत्रान्तिक मत में परमार्थत: और वास्तविक रूप में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि वास्तव में सभी धर्म निर्व्यापार हैं। वैभाषिकों का इस पर कहना है कि 'तद्भावभावित्व' रूप अन्वय-व्यतिरेक हेतु-फल व्यवस्था का सुष्टु लक्षण है और यह नियम सहोत्पन्न धर्मों पर लागू होता है।[२६] यहाँ सौत्रान्तिकों का पक्ष यह है कि सहोत्पन्न धर्मों में एक धर्म दूसरे धर्म का हेतु तो हो सकता है परन्तु सहोत्पन्न धर्म परस्पर हेतु और फल के रूप में व्यवस्थापित नहीं किये जा सकते।[२७] क्षणिकवाद में फलोत्पत्ति के क्षण में हेतु क्षण का सहावस्थान सम्भव नहीं। यह बात सही है कि आलम्बनप्रत्यय (रूप), अधिपतिप्रत्यय (इन्द्रिय) और समनन्तरप्रत्यय (पूर्ववर्ती विज्ञान) की सहोत्पत्ति हेतु रूप से प्रथम क्षण है लेकिन इन्द्रिय विज्ञान रूप फलोत्पत्ति द्वितीय क्षण में होता है।[२८] इस द्वितीय क्षण में सहोत्पन्न रूप-इन्द्रियादि निरुद्ध हो चुके रहते हैं। वास्तव में हेतु-प्रत्ययतावाद के अन्तर्गत विषयपरिच्छेद इन्द्रिय विज्ञान सहोत्पन्न नहीं बल्कि समनन्तरोत्पन्न हुआ करता है। हेतु और फल को सहोत्पन्न मानने पर फल जो कि जन्य धर्म है, उसका अतिक्रम होगा और यह कथमपि उचित नहीं।[२९] वस्तुत: सौत्रान्तिकों के अनुसार संज्ञान की व्याख्या में कारणभूत घटकों अर्थात् सहभू हेतुओं का परस्पर हेतु-फल भाव इसलिए व्यवस्थापित

नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे सभी परस्पर अर्थक्रियाकारी नहीं होते बल्कि सहभू हेतु एकार्थक्रियाकारिता के द्वारा इन्द्रिय विज्ञान रूपी फल को उत्पन्न करते हैं। सहभू हेतुओं की एकार्थक्रियाकारिता मानने पर ही हेतु और फल (इन्द्रिय विज्ञान) का पूर्वापर भाव व्यवस्थित रहता है।

सौत्रान्तिकों के द्वारा किया गया तीसरा परिष्कार इन्द्रियों और इन्द्रियाश्रित विज्ञानों की संज्ञान विषयक भेदपूर्ण भूमिका से सम्बन्धित है। यह परिष्कार पूर्व के दोनों संशोधनों की पृष्ठभूमि में सारूप्य की अवधारणा को सीधे-सीधे प्रस्तावित करता है। कश्मीरी वैभाषिकों का मानना है कि चक्षु के द्वारा रूप को देखा जाता है और विज्ञान के द्वारा उसे ही जाना जाता है (चक्षुःपश्यति, विज्ञानं विजानाति)।[३०] इस प्रश्न पर वैभाषिकों एवं सौत्रान्तिकों के बीच बहुत लम्बा वाद-विवाद हुआ है। दोनों अपने-अपने तरीके से आगमों की व्याख्या एवं युक्तियों का संग्रह करते हैं। अन्त में सौत्रान्तिक[३१] इस टिप्पणी के साथ विवाद को समाप्त कर देता है कि चक्षु देखता है और विज्ञान को वस्तु की चेतना होती है—दोनों में अन्तर करते हुए विवाद करना शून्याकाश को चबाने जैसा है। कौन द्रष्टा है, कौन सी क्रिया है, यह सब निरर्थक प्रश्न हैं। धर्मों के अतिरिक्त किसी अन्य का अस्तित्व नहीं। वे ही निर्व्यापार धर्म हेतु-प्रत्यय रूप से समुत्पन्न होते हैं और आवश्यकतानुसार चक्षु देखता है, विज्ञान को ज्ञान होता है, जैसी अभिव्यक्तियों का लौकिक प्रयोग होता है। इस प्रकार की लोक प्रचलित अभिव्यक्तियों का वास्तव में सैद्धान्तिक निर्धारण की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। ऐसा स्वयं बुद्ध का वचन भी है—'जनपद-निरुक्तिं नाभिनिविशेत संज्ञा च लोकस्य नाभिधावेद्'।

वस्तुतः इन्द्रियों और इन्द्रियाश्रित विज्ञानों के कार्यों का 'पश्यति' और 'विजानाति' के रूप में द्वैधिकरण करते हुए वैभाषिक विद्वानों की निराकारता और इन्द्रियों की साकारता का प्रतिपादन करना चाहते थे। इस आधारभूमि पर बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी दृष्टि से सर्वास्तिवाद की प्रतिष्ठा करना अपेक्षाकृत आसान था। परन्तु सौत्रान्तिकों को ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में इन्द्रियों के साकार होने जैसा हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं है। वास्तव में इन्द्रियों की साकारता और साकारेन्द्रियों में निराकार विज्ञान की आश्रयता, जैसा कि वैभाषिक मानते हैं, कथमपि उचित नहीं। उनकी दृष्टि में इन्द्रियाँ एक तटस्थ और पारदर्शी द्वार की तरह हैं। इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय के रूप में विज्ञानाश्रय होती हैं लेकिन स्वयं को ज्ञान में निविष्ट नहीं करतीं। भर्तृहरि के प्रसिद्ध टीकाकार हेलराज[३२] का भी ऐसा ही मानना है कि ज्ञानोत्पत्ति में सहयोगी होते हुए भी स्वयं को ज्ञान में निविष्ट न करना, ज्ञान के कारणों में से कुछ का स्वभाव ही ऐसा होता है। ज्ञानेन्द्रियों का स्वभाव ऐसा ही समझना चाहिए। ज्ञानश्री मित्र ने भी इन्द्रियों की भूमिका को 'कल्याणकामनामेतत्' रूप से ही निर्धारित किया है।[३२-क] इस प्रकार सौत्रान्तिक अपना पक्ष इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूपादि में प्रवृत्त नहीं होतीं, अपितु चक्षुर्विज्ञान अर्थात् चक्षु को सम्मुख करता हुआ विज्ञान ही रूप का ग्रहण करता है। विज्ञान के द्वारा सप्रतिध रूपों के ग्रहण का प्रसंग (वैभाषिक आपत्ति) तो तब उत्पन्न होता है यह माना जाए कि विज्ञान चक्षुरिन्द्रियों से निरपेक्ष होकर रूपादि के ग्रहण में प्रवृत्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रसंग में एक और परिष्कार अवधेय है कि वैभाषिक विज्ञान का स्वसंवेदन स्वीकार नहीं करते जबकि सौत्रान्त्रिक स्वसंवेदन को अनिवार्य मानते हैं।

IV

अब यदि उपर्युक्त परिष्कारों के साथ सौत्रान्तिक आख्या की दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रत्यक्ष का स्वरूप कुछ भिन्न रूप में सामने आता है। साथ-ही-साथ वैभाषिकों का बाह्य प्रत्यक्षवाद कतिपय विरोधाभासों से भरा हुआ प्रतीत होता है। वस्तुत: वैभाषिकों ने क्षणिकता की अवधारणा को गम्भीरता से नहीं लिया है और तदनुरूप प्रत्यक्ष की व्याख्या भी उसी अगम्भीरता के साथ प्रस्तुत हुआ है। प्रत्यक्ष साधारण अर्थ में प्रदत्त का साक्षात् बोध है। सौत्रान्तिक समीक्षा में प्रदत्त का स्वरूप अर्थक्रियाकारी होने से क्षणिक है, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही रूपों में क्षणिकत्व को ही सिद्ध करता है। अतएव प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय भी वही क्षणिक धर्म होना चाहिए। परन्तु कठिनाई यह है कि न केवल धर्म क्षणिक है बल्कि प्रत्यक्ष बोध भी अपने आप में एक क्षणिक धर्म है और ऐसा होने से प्रत्यक्ष की प्रक्रिया भी उतनी ही क्षणिक है। यहाँ क्षणिक विज्ञानों के निरन्तर उत्पाद-विनाश के अतिरिक्त किसी आधारभूत नित्य आत्मा को भी नहीं स्वीकार किया गया है जो ज्ञायमान वस्तु में होने वाले सतत परिवर्तन को ग्रहण कर सके। पुन: प्रत्यक्ष की प्रक्रिया और प्रत्यक्ष का विषय यदि समान रूप से क्षणिक हैं तो दोनों में किस प्रकार सम्बन्ध सम्भव है—जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष रूप फल उत्पन्न हो सके। यह सब कुछ प्रत्यक्ष के उस अर्थ की असम्भावना प्रदर्शित करते हैं, जिस अर्थ में प्रत्यक्ष को बाह्यार्थ का ग्राहक माना जाता है। प्रत्यक्ष के लिए विज्ञान और वस्तुक्षण में इन्द्रियों के माध्यम से किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य अपेक्षित है लेकिन क्षणभंगुर तात्कालिकता इसके लिए पर्याप्त आधार प्रदान नहीं करती। इसके लिए वस्तुक्षण को कम-से-कम प्रत्यक्ष की प्रक्रिया पूर्ण होने तक स्थिर रहना चाहिए ताकि एक क्षण दूसरे क्षण को प्राप्त कर ग्रहण कर सके। परन्तु ऐसा स्वीकार किया जाना अन्ततः क्षणभंगुरता का ही विरोध होगा।[३३] पुन: यदि वस्तुक्षण को ज्ञानक्षण का कारण अर्थात् आलम्बन प्रत्यय माना जाता है तो कारण को कार्यरूप फल का पूर्ववर्ती होना चाहिए लेकिन उसकी पूर्ववर्तिता भी किसी काम का नहीं, क्योंकि पूर्ववर्ती क्षण क्षणिक होने से कार्य के समुत्पन्न होने के पूर्व ही विनष्ट हो जाता है।[३४] अत: परमार्थत: कुछ भी नहीं जाना जा सकता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह जो हमारे वर्तमान ज्ञान के विषय के रूप में प्रकट होता है, अस्तित्व का कोई वस्तुनिष्ठ क्षण नहीं। जब वस्तुक्षण रहता है तो ज्ञानक्षण नहीं होता और जब ज्ञानक्षण होता है तो वस्तुक्षण नहीं रहता।[३५] सौत्रान्तिकों के अनुसार अतीत क्षण असत् है क्योंकि वर्तमान में उसका उपलम्भाभाव है। अनुपलम्भ हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता और यदि होता है तो अतीत-अनागत सब कुछ अनायास ही हमारे ज्ञान के विषय हो जाएँगे।[३६] अत: क्षणभंगुरता की परिकल्पना के अन्तर्गत वर्तमान ज्ञान का कोई बाह्य प्रतिरूप स्थिर नहीं किया जा सकता। वस्तुसत्ता की क्षणभंगुरता एवं उसकी प्रत्यक्ष वेद्यता में पारस्परिक असमंजसता है।

ऐसा नहीं है कि वैभाषिकों को इस विरोधग्रस्त स्थिति का आभास नहीं रहा होगा। सम्भवत: इसीलिए उन लोगों ने प्रत्यक्ष के कारण रूप से तीन धर्मों (आलम्बन, इन्द्रिय विकार, विज्ञान) के परस्पर स्पर्श को ही 'ज्ञान' स्वीकार किया था और साथ-ही-साथ तीनों सहोत्पन्न धर्मों के मध्य ही एक प्रकार से 'अन्तर्गत हेतु-फल व्यवस्था' मान ली गई थी। दूसरे शब्दों में ज्ञान के कारणों और उत्पन्न ज्ञान में हेतु-

फल व्यवस्था नहीं, बल्कि ज्ञान के कारणों में ही हेतु-फल व्यवस्था अन्तर्निहित रूप से मान ली गई थी, क्योंकि ज्ञान के त्रिविधकरणों का सन्निपात होना ही ज्ञान है, ज्ञान उस सन्निपात का फल रूप एक नवीन धर्म नहीं। सौत्रान्तिकों की दृष्टि में वैभाषिकों का ऐसा विचार कोई अविचाररमणीयता नहीं फिर भी समस्या के मूल की अनदेखी करने वाला है। दो या दो से अधिक वस्तुओं की समकालिक उपस्थिति को हेतु की भूमिका में रखा जा सकता है, लेकिन इन्हीं समकालिकों के बीच हेतु-फल व्यवस्था का विधान नहीं किया जा सकता।[३७] यह तभी सम्भव है जब ज्ञान के कारणों और ज्ञान को समानकालभावी और सहजीवी माना जाय। परन्तु ऐसा मानने पर ज्ञान के यावत् कारणभूत घटकों की ज्ञान-विषयता माननी पड़ेगी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं हो सकता कि आखिर रूपादि धर्म ही क्यों ज्ञान के विषय होते हैं, इन्द्रियाँ नहीं होती हैं, जबकि दोनों सहभावी और समान रूप से कारण होने के कारण प्रकाशित होने के अधिकारी हैं।[३८] वैभाषिकों का निराकारज्ञानवादी अभ्युपगम इस आक्षेप को और भी दृढ़ता प्रदान करता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि सौत्रान्तिकों द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त विरोध से प्रत्यक्ष का सर्वतोभावेन् उच्छेद नहीं समझा जाना चाहिए। वास्तव में इससे बाह्यार्थ का बाह्यार्थत्वेन प्रत्यक्ष की अनुपपन्नता विवक्षित है। एतदर्थ विचारणीय हो जाता है कि यदि बाह्यार्थ क्षणिक होने के कारण ज्ञान, ग्राह्य अर्थात् प्रत्यक्षवेद्य नहीं हो सकता (ज्ञानेन् प्रापयितुम अशक्यत्वात्) तो क्या अनुमेय हो सकता है? बाह्यार्थ ज्ञान के अनुरोध से सौत्रान्तिकों को नित्यानुमेयवादी कहा भी जाता है।[३९] परन्तु बाह्यार्थ की अनुमेयता भी तो प्रत्यक्षपूर्वक ही सम्भव है अन्यथा कुछ भी ज्ञेय नहीं हो सकेगा और जगदान्ध प्रसक्ति होगी। अत: प्रत्यक्ष का कोई-न-कोई आकार अवश्य होना चाहिए। सौत्रान्तिक यहाँ अपने पक्ष को बहुत ही मौलिक दृष्टि के साथ उपस्थापित करते हैं। वह यह कि वास्तव में 'प्रत्यक्ष' बाह्यार्थ का बाह्यार्थ रूप से नहीं होकर बाह्यार्थाकार रूप से उपलब्ध होता है। इसी आकार के अनुरोध से क्षणसन्तान में एकत्व का आरोप करके बाह्यार्थ अनुमित होता है और अनुमेय बाह्यार्थ में ही हमारा अभिनिवेश होता है।

सौत्रान्तिक व्याख्या में 'चक्षु: प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्' चक्षु एवं रूप को प्राप्त कर चक्षुर्विज्ञान समुत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने कारणों से उत्पन्न चक्षु, रूप और समनन्तर विज्ञान क्षण का संयोगवश जब सन्निपात होता है तो उसके फलस्वरूप चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है। चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में उसके कारणभूत क्षण वास्तव में कोई क्रिया नहीं करते बल्कि तीनों का सांयोगिक सन्निपात रूप हेतुता ही समवेत रूप से चक्षुर्विज्ञान की जनिका होती है। इस प्रकार से चक्षुर्विज्ञान जब उत्पन्न होता है तो चक्षु और रूपादि क्षण सहकालजीवी नहीं होते, बल्कि उनका निरोध हो चुका रहता है, जिनका सन्निपात चक्षुर्विज्ञान को उत्पन्न किया था। यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि इस रूप से उत्पन्न चक्षुर्विज्ञान को विषयिता निरुद्ध हो चुके अतीत अर्थात् असत् क्षण में होनी चाहिए जो वास्तव में एक अतिप्रसंग है। पुन: यदि उत्पन्न चक्षुर्विज्ञान विषयता से रहित है तो ऐसा अन्धप्रत्यक्ष किसी काम का नहीं। विज्ञान की विषयता बनाये रखने के लिए यदि चक्षुर्विज्ञान के क्षण तक उसके कारणभूत घटकों की स्थिति मानी जाए तो क्षणभंगबाध की इष्टापत्ति होगी।

सौत्रान्तिकों के अनुसार इस प्रकार के आक्षेपों की उद्‌भावना निराकारविज्ञानवादी और स्थैर्यवादी ही कर सकते हैं, क्योंकि उनके मत में ज्ञान प्रकाशक होता है। प्रतिभासवादी दृष्टि में इस प्रकार के आक्षेपों के लिए कोई स्थान नहीं। अवधेय है कि उपर्युक्त प्रक्रिया में चक्षुर्विज्ञान निराकार उत्पन्न नहीं होता है जैसा कि वैभाषिक मानते हैं, बल्कि साकार अर्थात् अपने आलम्बन का सारूप्य धारण करते हुए उत्पन्न होता है। अत: आकार का ही प्रत्यक्षात्मक ग्रहण होता है, उस वस्तु का नहीं जिसने आकार को अर्पित किया है, क्योंकि वह वस्तु तब तक निरन्वय रूप से निरुद्ध हो चुकी रहती है। हमारे पास केवल साकार विज्ञान ही अवशेष रहता है और उसी का ग्रहण हमें संसारोन्मुख करता है। विज्ञान में विषयसंवेदन, वास्तव में विपर्ययसरूप स्वरूपसंवेदन मात्र ही है।[४०] विषयसंवेदन की दृष्टि से क्षणिक आलम्बन की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है। प्रथमत: यह कि उत्पाद लेता हुआ विषय विज्ञान का आलम्बन बनता है, परन्तु उत्पाद पूर्ण होने के पूर्व विषय की सत्ता नहीं होती कि उसकी आलम्बनता स्थापित हो सके। द्वितीयत: यह कि उत्पन्न होने के पश्चात् विषय विज्ञान का आलम्बन बनता है। परन्तु ऐसा मानने पर विषयोत्पाद का क्षण न होकर विज्ञानोत्पाद का क्षण होगा, जिसमें विषय प्रतिभास रूप उत्पत्ति को छोड़कर विज्ञान की अन्य क्रिया नहीं हो सकती कि विज्ञान द्वारा विषयालम्बन का ग्रहण हो सके।[४१] धर्मकीर्ति[४२] ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि क्षणिकवाद में वस्तु और समुत्पन्न विज्ञान का काल भिन्न-भिन्न होने से भी विज्ञान के द्वारा बाह्य वस्तु का वस्तुत्वेन ग्रहण सम्भव नहीं। विज्ञान के प्रति वस्तु की हेतुता इतने से सिद्ध हो जाती है कि वस्तु अपने आकार को विज्ञान में अर्पित-संक्रान्त कर देती है। अतएव अपने स्वगत आकार में नि:शेष विज्ञान के लिए आकार ही ग्राह्य होता है। आकार का ग्राह्य होना वास्तव में उसका स्वसंवेद्य होना है। वह अपना अतिक्रमण कर वस्तु को वस्तुत्वेन ग्रहण नहीं कर सकता। कहा भी गया है कि विज्ञान को साकार मानने पर वस्तुप्रतिभास ही वेद्य हो सकता है, स्वयं वस्तु नहीं। (साकार ज्ञान पक्षे च तन्निर्भास्य वेद्यते)। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि वस्तु-प्रतिभास ही वेद्य है तो इन्द्रिय-प्रतिभास की वेद्यता क्यों नहीं मानी जाती, जबकि वस्तु जैसे ज्ञान का हेतु है वैसे ही इन्द्रियाँ भी हेतु होती हैं। इस पर धर्मकीर्ति का कहना है कि वस्तुओं में (आलम्बनप्रत्यय) ज्ञान की हेतुता और ग्राह्यता दोनों होती हैं लेकिन इन्द्रियों में (अधिपतिप्रत्यय) ज्ञान की हेतुता तो होती है लेकिन ग्राह्यता नहीं। इसका कारण यह है कि वस्तुएँ बुद्धि में अपना प्रतिभास-आकार समर्पित करती हैं लेकिन इन्द्रियाँ ऐसा नहीं करती हैं। इसलिए वस्तुओं में ज्ञान की हेतुता और तदाकार रूप से उनकी ग्राह्यता भी होती है।[४३] तदाकारता के अतिरिक्त ग्राह्यता और कुछ हो ही नहीं सकता।

V

इसी तदाकारता को बौद्ध दर्शन में प्रतिभास, निर्भास, अर्थाभास, सादृश्य, सरूप एवं सारूप्य इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। इन सभी पदों से ज्ञान में एक आकार की संकल्पना को अवधारित किया गया है जो उनकी दृष्टि में ज्ञानमात्र के लिए आवश्यक शर्त है।[४४] परन्तु यह आकार क्या है जिसे सारूप्य पद से सम्बोधित किया जाता है? दो वस्तुओं के सादृश्य के साधारण अर्थों में कम-से-कम इसे नहीं समझा जा सकता। बौद्ध दार्शनिकों ने यदा-कदा इसे समझाने के लिए दर्पण और उसमें प्रतिबिम्बित

आकार को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया है। यह दृष्टान्त भी एक कामचलाऊ स्थूल उदाहरण मात्र है जो सारूप्य के वास्तविक भाव को प्रकट नहीं करता है। देखा जाए तो प्रतिबिम्ब किसी बिम्ब का समानकालिक हुआ करता है लेकिन सारूप्य की बौद्ध अवधारणा बिम्ब की अनुपस्थिति में उसका प्रतिरूप होता है। इस प्रतिरूप की विलक्षणता इसमें निहित है कि यह आत्मसंचित होता है। अतएव कहा जा सकता है कि सारूप्य विज्ञान का स्वरूप ही है, क्योंकि यह इसी रूप में उत्पन्न ही होता है। यह किसी वस्तु का सचेतन-भाव में रूपान्तरण अथवा पुनर्जन्म है। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु के ज्ञात होने के लिए उसका सचेतन-भाव रूप में पुनर्भव आवश्यक है। अन्यथा कोई वस्तु 'वस्तु' ही बनी रहेगी,[४५] कभी सचेतन-भाव रूप वस्तुता को प्राप्त नहीं हो सकेगी। सारूप्य इसी अर्थ में वस्तु का विज्ञानाकार प्रतिरूप है। यह विज्ञानाकार प्रतिरूप एक आत्मचेतन स्थिति है जो विषयचेतना का समानुपातिक होता है।

यहाँ अवधेय है कि ज्ञान के आकार की संकल्पना एक-दूसरे रूप में भी अवधारित की जा सकती है। वह यह कि ज्ञान भाषा के आकारों में आकार ग्रहण करता है अर्थात् शब्दाकार अथवा वाक्याकार होता है। नैयायिक एवं मीमांसक ज्ञान को यद्यपि स्वभाव से सविषयक मानते हैं तथापि ज्ञान उनके मत में निराकार ही होता है।[४६] उनकी दृष्टि में आकार एक देशीय संकल्पना है और ज्ञान को देशीय संकल्पना के अन्तर्गत अवधारित नहीं किया जा सकता। एतदर्थ सावयव वस्तुएँ ही आकारवान होती हैं, तद्विषयक बुद्धि-ज्ञान स्वरूपत: निराकार होती है। चूँकि शब्दों के द्वारा अभिलषित होने की योग्यता ज्ञान के स्वरूप में ही निहित है, अतएव सविषयक ज्ञान शब्दों अथवा वाक्यों के आकार द्वारा निरूपित होता है, जो उसे अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। वस्तुत: न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसकों के लिए ज्ञान की आकार विषयक समस्या शब्दाकार अथवा वाक्याकार की स्वरूप विषयक समस्या ही है। ज्ञान स्वभावत: सविषयक होते हुए भी निराकार होता है लेकिन स्वविषय के आकार में उसकी विषयता होने से वह साकार भासित होता है। अत: ज्ञान का आकार वास्तव में ज्ञाननिष्ठ नहीं बल्कि जगन्निष्ठ है। जगन्निष्ठ सावयव पदार्थों के आकार का संसर्ग ज्ञान के साथ भाषा के माध्यम से होता है, क्योंकि ज्ञान को अभिलषित करने वाले शब्दों अथवा वाक्यों का आकार वास्तव में ज्ञान के विषय का ही आकार है।[४७]

न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसकों की, थोड़े-बहुत साम्प्रदायिक भेद के साथ, ज्ञान की आकारयोगिता के सम्बन्ध में उपर्युक्त व्याख्या निश्चित रूप से एक मौलिक दृष्टि है। यह ज्ञानविषयक एकरूपीय और समस्तरीय अवधारणा को प्रस्तावित करता है। इसे उनकी वस्तुवादी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक संगत भी कहा जा सकता है। यह बात भी सही है कि ज्ञान और भाषा का सम्बन्ध भी बहुत गहरा और अन्तरंग होता है। परन्तु विचार करने पर यह सम्बन्ध उतना ही ऋजु और पारदर्शी नहीं, जितना कि समझा जाता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा 'विकल्पयोनि' और विकल्प 'भाषायोनि' होती है।[४८] ऐसा होने से भाषा में आकारित ज्ञान वास्तविकता को वास्तव में आकारित करे, यह आवश्यक नहीं है। भाषा एक मूलगामी प्रवृत्ति अपोहन है। अपनी इसी प्रवृत्ति के चलते भाषा अतद्व्यावृत्तिपूर्वक ही ज्ञान को आकार प्रदान कर सकती है जिसे नैयायिक ज्ञान के घट-पटादि विषयों का आकार समझते हैं। इस तरह भाषा पहले वास्तविकता को विकल्पित करती है और विकल्पित वास्तविकता ही शब्दों एवं वाक्यों के

आकार में भासित होती है। अतएव ज्ञान को आकारयोगिता, वास्तव में, यदि भाषा की आकारयोगिता है तो उनकी व्यवस्था में निर्विकल्पक ज्ञान की कोई स्थिति नहीं बनती, जहाँ वास्तविकता अपने निर्विकल्पक रूप में उपलब्ध होती हो। उपर्युक्त व्याख्या के सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि भाषीय आकार में जो कुछ निरूपित होता है, उसे पदार्थ की संकल्पना में सम्मिलित करने की बाध्यता उत्पन्न हो जाती है। पुनः ज्ञान को देशीय आकार से बचाने के लिए ज्ञान को भाषा के आकारों में निरूपित करने का उपक्रम किया गया था लेकिन इस अभ्युपगम में स्वयं ज्ञान ही प्रमेय-पदार्थ का रूप ग्रहण कर लेता है।

इसलिए बौद्ध नैयायिकों का मानना है कि ज्ञान की आकारयोगिता का प्राथमिक सम्बन्ध चेतना से है और उसका द्वैतीयक सम्बन्ध भाषा से होता है। चेतना अपने में सर्वप्रथम विषयाकार सारूप्य को ग्रहण कर विषय को प्रतिभासित करती है और तदनन्तर भाषा उसे विकल्पित कर अपने सविकल्पक आकारों (नामजात्यादि योजना) में निरूपित अथवा अध्यवसित करती है। इस तरह हमें वास्तविकता के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक प्रतिभास के धरातल पर उसका निर्विकल्पक रूप और पुनः भाषा के आकारों में अनुविद्ध उसका सविकल्पक रूप। बौद्ध दार्शनिक अपनी शब्दावली में इसे स्वलक्षण और सामान्य लक्षण कहते हैं। अतएव बौद्ध नैयायिकों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि ज्ञान भाषा के आकारों में निरूपित होकर ही सविकल्पक रूप में व्यवहार योग्य होता है, लेकिन वह ज्ञान स्वयं में निराकार नहीं होता बल्कि विषय के सारूप्य को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। ज्ञान को ही मूलतः अपने विषय का संग्राहक सन्दर्भ होना चाहिए। इसके लिए ज्ञान में विषयाकार सारूप्य जैसा कुछ स्वीकार किया जाना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा ज्ञानमूलक प्रतिकर्म व्यवस्था अनेक प्रकार की कठिनाइयों से ग्रस्त हो जाती है। कोई भी ज्ञान अपने विषय के आकार से रहित नहीं हो सकता। ज्ञान को निराकार मानने पर उसकी सभी स्थितियाँ एक समान हो जाती हैं। उनके बीच का पारस्परिक भेदक उनकी संरचना में नहीं होता, जबकि प्रत्येक ज्ञान को अपनी संरचना में ही एक-दूसरे से भिन्न होना चाहिए। तब किस प्रकार नील-ज्ञान को पीत-ज्ञान से भिन्न किया जाना सम्भव हो सकेगा।[४९] यह ज्ञान में निहित आकार ही है जो नील-ज्ञान को पीत-ज्ञान से अलग करता है। निराकार ज्ञान किसी विषय का ज्ञापक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञापक होने के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान अपने में विषय का आकार धारण करे। तभी कोई ज्ञान अपने विषय का अन्यव्यावृत्त रूप से ज्ञापक हो सकता है।

नैयायिकादि बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए ज्ञान को साकार मानना इसलिए भी कठिन हो जाता है कि तब ज्ञान के आकार जगन्निष्ठ नहीं होकर ज्ञाननिष्ठ हो जाते हैं और जगत् की सारी विचित्रता ज्ञान में निहित हो जाती है। पुनः ज्ञान ज्ञानेतर पदार्थों को प्रकाशित करने के बजाय उनके अस्तित्व की तात्त्विक स्वतन्त्रता को अन्तर्भुक्त कर लेता है। इस तरह ज्ञाननिष्ठ धर्मों का प्रकाशन ही ज्ञान के विषय का प्रकाशन समझा जाता है। वस्तुतः सारूप्यवादी बौद्धाभित का निहितार्थ भी यही है कि नीलाकार विज्ञान का स्वरूप संवेदन ही नील विषय के वेदन के समतुल्य होता है। ज्ञान का विषय ज्ञान में सात्मीकृत (आत्मभावावस्थित) हुए बिना ज्ञात नहीं हो सकता। इस तरह से नील-विज्ञान का स्वरूप-संवेदन नीलादि विषयों के अनुभव की लोकव्यवस्था और लोकप्रतीति को आहत भी नहीं करता, क्योंकि ज्ञान की विषयता तो वस्तु में होती है

लेकिन वेद्यता वस्तवोल्लेखी आकार में होती है।[५०] नैयायिक ज्ञान में केवल विषयता मानते हैं और भाट्टमीमांसक वस्तुओं में ज्ञातता नामक धर्म स्वीकार करते हैं तथा ज्ञान की वेद्यता की व्याख्या क्रमशः अनुव्यवसाय और अनुमान द्वारा करते हैं। यदि देखा जाए तो ज्ञान का अपने आप में विदित होना ही पर्याप्त है जो उसकी स्वरूप योग्यता है। इसके लिए ज्ञान की विषयता और ज्ञान की वेद्यता को अलग-अलग व्याख्यायित करना कदाचित् अनावश्यक भी प्रतीत होता है। पुनः सारूप्य की अवधारणा में जगत् की सम्पूर्ण विचित्रताओं का स्रोत नितान्त ज्ञानान्तर्गत नहीं होता, बल्कि जगन्निष्ठ विचित्रताएँ ही ज्ञान में प्रतिभासित होती हैं। जगन्निष्ठ विचित्र वस्तुओं की विचित्रता यह है कि वे सभी विज्ञान में अपना प्रतिभास छोड़कर नष्ट हो जाती हैं और उनका सारूप्य लिए हुए विज्ञान को ही व्यवस्थापक एवं व्यवस्थाप्य की भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है।

VI

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा की शुरुआत सार्वभौमिक क्षणभंगुरता के अन्तर्गत एक सुसंगत ज्ञानमीमांसा प्रस्तुत किये जाने के प्रयास से होती है, परन्तु इसमें कुछ ऐसी विशिष्टताएँ भी हैं जिसके चलते इसका विकास एक समानान्तर ज्ञानमीमांसीय दृष्टि के रूप में सम्भव हुआ है। सारूप्यवाद अपने मूलरूप में प्रकाशवाद के समानान्तर प्रतिभासवाद है। एक बार जब हम स्वीकार कर लेते हैं कि ज्ञान प्रतिभासक होता है तो ज्ञान के आलम्बन चाहे क्षणभंगुर हों या स्थिर अथवा ज्ञान निरालम्बन ही क्यों न हों, उसके प्रतिभासक चरित्र पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि सैद्धान्तिक निर्धारण की दृष्टि से अन्तर भी किया जाए तो वह यह हो सकता है कि स्थिर आलम्बनों का प्रतिभास अपने आलम्बन का प्रतिनिधि होता है, लेकिन क्षणिक आलम्बन का प्रतिभास चूँकि अपने आलम्बन का सहजीवी नहीं होता इसलिए उसे वैकल्पिक प्रतिरूप अथवा 'सरूप' कहा जा सकता है। नीलाकार विज्ञान, वास्तव में, नीलवस्तु का 'सरूप' ही है। इस तरह प्रतिभासवाद का सामान्यीकरण केवल इस तथ्य को पूर्वगृहीत करता है कि प्रत्येक ज्ञानात्मक स्थितियाँ आवश्यक रूप से आत्मसंवित् होती हैं। आत्मसंवित्ति के अभाव में इस बात का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि ज्ञान किसी-न-किसी रूप में विषय को प्रतिभासित करता है।[५१] वैसे दार्शनिक जो ज्ञानात्मक स्थितियों को आत्मसंवित् नहीं मानते, उनकी ज्ञान-मीमांसा परप्रकाशवाद, निराकारवाद और सविषयतावाद की मूलभूत दृष्टियों को अपनाकर अग्रसारित होती है। इसके विपरीत वैसे बौद्ध दार्शनिक जो ज्ञान को स्वरूपतः आत्मसंवित् मानते हैं, उनकी ज्ञानमीमांसा स्वप्रकाशवाद, साकारवाद और निर्विषयतावाद को लेकर आगे बढ़ती है। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों दृष्टियाँ भारतीय दर्शन के ज्ञानमीमांसीय चिन्तन की आधारभूत दो समानान्तर दृष्टियाँ हैं—जो ज्ञान के करण एवं विषय पक्ष की व्याख्या अपने-अपने तरीके से करते हुए प्रत्यक्ष को तदनुरूप ही अवधारणात्मक मूल्य प्रदान करती हैं।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

१. न्यायकोश: भीमाचार्य, पृ. १५९-उपजीव्यं च द्विविधं। स्वसत्ता प्रयोजकत्वम् स्वज्ञानप्रयोजकत्वम् च। उपजीव्योपजीवकभावश्च ज्ञान सत्त्वयो: प्रयोज्यप्रयोजक भाव:। यथा एकस्यान्यसत्ताप्रयोजकत्वम् अपरस्य च तत्प्रयोज्यसत्ताकत्वम्। एवम् अन्यज्ञानप्रयोजकत्वम् अन्याधीनं ज्ञानविषयत्वम्।

२. कथावत्थु—सम्पा. जगदीश काश्यप, पृ. ३७४।

३. अभिधम्मत्थ सङ्गहो—४/८।

४. अभिधर्मकोश, पृ. २०, उद्धृत—बौद्ध विज्ञानवाद (पी.टी.राजू) हिन्दी अनु.-यशदेव शल्य, पृ. २०, १९५८ (प्रका.—अखिल भारतीय दर्शन परिषद)।

५. अभिधर्मकोश, १/२।

६. वही, २/४६-प्रतिक्षणं चापि संस्कृतस्यैतानि लक्षणानि युज्यन्ते, विनापि द्रव्यान्तर कल्पनया। कथमिति? प्रतिक्षणमभूत्वाभाव उत्पाद:, भूत्वाऽभावो व्यय:, पूर्वस्यपूर्वस्योत्तरोत्तर क्षणानुबन्ध स्थिति, तस्या विसदृशत्वं स्थित्यन्यथात्वमिति।

७. वही, २/४७, ३/१८—वसुबन्धु ने धर्म संकेत का अभिप्राय ही प्रतीत्यसमुत्पाद प्रतिपादित किया है।

८. वही, २/६१—चत्वार: प्रत्यया उक्ता:। हेत्वाख्या: पंच हेतव:। यद्यपि अभिधार्मिक बौद्ध दर्शन में ज्ञानोत्पत्ति के प्रति चारों प्रत्ययों को कारण सामग्री के रूप में सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है लेकिन तदन्तर महायान दर्शन में इनकी व्याख्याएँ बदलती रही हैं।

९. परयूथ्य दार्शनिकों में यथा नैयायिक-मीमांसकों द्वारा ज्ञानोत्पत्ति सम्बन्धी क्रियामीमांसीय व्याख्या में एक विरोधाभास दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए कारक सिद्धान्त के अनुसार सकर्मक क्रियाओं का फल कर्म में आश्रित होता है और अकर्मक क्रियाओं का व्यापार कर्ता में आश्रित होता है। अब जानना (ज्ञान) एक सकर्मक क्रिया ही है लेकिन नैयायिक ज्ञान का आश्रय प्रमाता को ही मानते हैं। मीमांसक यद्यपि ज्ञातता रूपी धर्म का आश्रय कर्मस्थानीय घटादि पदार्थों को ही स्वीकृत करते हैं लेकिन ज्ञातता सिद्धान्त की अपनी कठिनाइयाँ हैं।

१०. अभिधर्मकोश—३/३०—त्रयाणां सन्निपाताज्जाता इन्द्रियार्थ विज्ञानानाम्।

११. वही, १/४५—तद्विकारविकारित्वादाश्रययाँश्चक्षुरादय:।

१२. वही, १/४२—चक्षुपश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्। विज्ञानं दृश्यते रूपं न किलानतरितं यत: ॥—वैभाषिकों की यह एक ऐसी मान्यता है जिसका विरोध प्राय: सभी परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों के द्वारा किया गया है और अन्तत: उसको परिष्कृत ही कर दिया गया।

१३. वही, १/४३—चक्षु:श्रौतमनोऽप्राप्तविषयन्त्रयमन्यथा।

१४. वही, भाष्य—१/४२—यस्मात् किल रूपं कुड्यादिव्यवहितं न दृश्यते। वही, स्फुटार्थ—विस्तर: ≈—तेषां चक्षुरादीनां विकारस्तद्विकार:, तद्विकारेण विकार: तद्विकारविकार:, स एषामस्तीतितद्विकार विकारीणि विज्ञानानि, तद्भाव: तद्विकारविकारित्वम्।

१५. प्रमाणवार्तिक (मनोरथनन्दी)—२/१३—निराकारबुद्धिवादिवैभाषिकमते -।

१६. अभिधर्मकोश भाष्य—१/४२—यदि हि विज्ञानं पश्येत्, तस्याप्रतिधत्वात् कुड्यादि प्रतिघातो नास्ति इत्यावृत्तमपि रूपं पश्येत्।

१७. द्रष्टव्य, वही, १/५०।

१८. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.), पृ. २५४—सूत्रे—त्रीणीमानि भिक्षव: संस्कृतस्य संस्कृत लक्षणानि। कतमानि त्रीणि? संस्कृतस्य भिक्षव: उत्पादोऽपि प्रज्ञायेत्, व्ययोऽपि प्रज्ञायेत्, स्थित्यन्यथात्वमपि।

१९. अभिधर्मकोश—२/४५।

२०. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.) पृ. २६१—तस्मादन्तयशब्दार्चि:—क्षणप्रभृतिनामुत्पादव्ययावेव द्वै लक्षणे इत्यभिप्रेयेते।

२१. अभिधर्मकोश भाष्य (संग्रह श्लोक)—२/४६—जातिरादि: प्रवाहस्य व्ययश्छेद: स्थितिस्तु स:। स्थित्यन्यथात्वं तस्यैव पूर्वापरविशिष्टता॥ जातिरपूर्वोभाव: स्थिति: प्रबन्धो व्ययस्तदुच्छेद:। स्थित्यन्यात्वमिष्टं प्रबन्धपूर्वापरविशेष: इति॥

२२. वही—क्षणिकस्य हि धर्मस्य विना स्थित्या व्ययोभवेत्। न च व्येत्येव तेनास्य वृथा तत्परिकल्पना॥

२३. अभिधर्मकोश भाष्य—२/५० (द्वारिकादास सं.), पृ. २८०—संस्कृतस्य हि धर्मस्य स्वभाववर्%ज्या: सर्वधर्मा: कारणहेतु: उत्पादं प्रति अविघ्नभावावस्थानात्।

२४. वही, २/५०—सहभूर्ये मिथ:फला—भाष्य—मिथ: पारम्पर्येण ये धर्मा: परस्परफलास्ते परस्पर: सहभूहेतुर्यथाकथम्।

२५. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.), पृ. २९०—सहोत्पन्नयोर्हेतुफलभावलक्षणो न्यायो न दृष्ट:। पूर्वं हि बीजं पश्चादङ्कुर:, पूर्वमभिघात: पश्चाच्छब्द इति।

२६. अभिधर्मकोश भाष्य, वही, पृ. २९०—एतद्धि हेतुहेतुमतो लक्षणमाचक्षते हैतुका:यस्य भावाभावयो: यस्य भावाभावौ नियमत:, स हेतु, इतरो हेतुमानिति।

२७. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ (द्वारिकादास सं.), पृ. २९० -सहोत्पन्नानां हेतु फलभाव इश्यते। तद्यथा—चक्षु: सहोत्पन्नमपि चक्षुर्विज्ञानेन तदुत्पत्तौ हेतुर्भवति। परस्परं तु कथम् ?

२८. वही, पृ. ४७४—तत्रापि पूर्वमिन्द्रियार्थौ पश्चाद् विज्ञानमिति। प्रथमक्षणोत्पन्नाविन्द्रियार्थौ, विज्ञानं तु द्वितीये क्षण इति।

२९. वही, पृ. ४७४—जनकधर्मातिक्रमाच्चायुक्तमिति।

३०. वही, पृ. ११७—विभाषायामप्युज्यते—'चक्षुसम्प्राप्तं चक्षुर्विज्ञानानुभूतं दृष्टभित्युज्यते इति। तस्याच्चक्षु: पश्यतित्येवो%यते, न विज्ञानातीति। विज्ञानं तु सान्निध्यमात्रेण रूपं विजानातित्युज्यते। यथा सूर्यो दिवसकर: इति।

३१. वही, पृ. ११८—अत्र सौत्रान्तिका आहु—किमिदंमाकाशं खाद्यते। -उपचारा क्रियन्ते—चक्षु: पश्यति, विज्ञानं विजानातीति नात्राभिनिवेष्टव्यम्।

३२. द्रष्टव्य—हेमन्त कुमारा गांगुली—फिलासफि़ ऑफ लॉजिकल कॉन्सट्रक्शन-संस्कृत पुस्तक भण्डार, कलकत्ता, पृ. ७१।

३२. (क) ज्ञानश्रीमिश्र निबन्धावली, पृ. ३५०—कल्याणकामतामात्रमेतत्।

३३. मध्यान्तविभाग सूत्रभाष्य टीका: सम्पा. भट्टाचार्य एवं टुच्ची, पृ. २१—वर्तमानालम्बन ग्रहणे च क्षणभङ्ग बाध:।

३४. न अविद्यमानस्य स्वरूपेण दर्शनम्, हेतुत्वेन च ज्ञानात् पूर्ववत्वम्, पूर्ववत्व च क्षणिकतया न ज्ञानकालेऽस्तित - उद्धृत्—कॉन्सेप्ट ऑफ सारूप्य इन बुद्धिस्ट फिलासफि़—प्रो. ए.के. चटर्जी—भारती—हीरक जयंती अंक, बी. एच.यू.,१९८४, पृ. ४४।

३५. प्रमाणवार्तिक (मनोरथनन्दी)—२/४१७-१८—यदाऽर्थस्तदा न ज्ञानम्, यदाज्ञानं तदा नार्थ इति कुतो व्यङ्ग्यव्य - जकभावस्तयो:।

३६. अथ यदैव अस्ति तदैव ग्रहणं हेतुभावं अन्तरेणाऽपि¨ न समानकालयोश्चहेतुता तथा अप्रतीते:, असम्बन्धग्रहण च सर्वं एव गृह्यते। -उद्धृत्—प्रो. ए. के. चटर्जी, वही, पृ. ४५।

३७. समानकालयोश्च हेतुफल अयोगात्-

३८. शेरवात्स्की (सेन्ट्रल कॉन्सेप्शन ऑफ बुद्धि., पृ. ५६) ने इस प्रश्न को उपस्थापित करते हुए अभिधर्मकोश का सन्दर्भ देकर विज्ञान और वस्तु में सारूप्य की अवधारणा द्वारा उत्तर देने का प्रयास किया है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि यह उत्तर वैभाषिक सम्मत है अथवा सौत्रान्तिक सम्मत। इससे एक भ्रान्त दृष्टि का प्रचार हुआ है कि वैभाषिकों को भी विज्ञान और वस्तु में सारूप्य मान्य था। परम्परा वैभाषिकों को निराकार ज्ञानवादी के रूप

में स्वीकृत करती है। यदि वैभाषिक निराकारवादी हैं तो उनके मत में विज्ञान और वस्तु के बीच सारूप्य के लिए कोई अवकाश नहीं है। परन्तु बसुबन्धु कृत अभिधर्मकोश भाष्य के अष्टम् कोशस्थान में ''पुद्गल विनिश्चय' प्रकरण के अन्तर्गत इस प्रकार का कथन मिलता है जो प्रकृत प्रश्न की अन्विति को और अधिक उलझा देता है— ''यत्तर्हि विज्ञानं विजानाति'' इति सूत्र उक्तम्, किं तत्र विज्ञानं करोति? न किंचित करोति। यथा तु कार्यं कारणमनुविधीयत इत्युज्येत, सादृश्येनात्मलाभादकुर्वदपि किंचित। किं पुनरस्य सादृश्यम्? तदाकारता। अतएव तदिन्द्रियादप्युत्पन्नं विषयं विजानातीत्युज्येत, नेन्द्रियम्। भाष्य की इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से''सादृश्य'' पद से विज्ञान में वस्त्वाकारता का प्रतिपादन किया गया है लेकिन यदि ऐसा ही है तो—'चक्षुपश्यतिरूपाणि सभागं न तदाश्रितम्'—१/४२ की वैभाषिक व्याख्या से इसकी अन्विति नहीं बैठती।

३९. सर्वसिद्धान्तसंग्रह, पृ. १३—नील पीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारेरिहान्तरैः। सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते॥— द्रष्टव्य—प्रमाणवार्तिकालङ्कार भाष्य-२/२३१-४३९-नित्यानुमेये दृष्टान्तः केन सिध्यति तत्त्वतः। अनुमानान्तरासिद्धौ सेयमन्धपरम्परा॥

४०. ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली, पृ.२४-अथ सौत्रान्तिकस्येदुमभयमसम०जसमितीयन्मात्रमुच्यते, तदपि नास्ति। साकारवदनोदयपक्षस्थितौ हि द्वितीयक्षणानुवृत्तावप्यर्थस्य जडतया प्रकाशानुपपत्तेः विपर्ययसरूपस्वरूपसंवेदनमेव ज्ञानस्य विषयवेदनम्। एवं च न वर्तमानानुरोधः, अतीतेऽपि तत्प्रत्ययासत्तेरप्रच्युतेः। न चातिप्रसंगः, विषयान्तरेणापि सारूप्यसमर्पणात्।

४१. मध्यान्तविभाग टीका—१/७—उत्पद्यमानमुत्पन्नं वा विज्ञानं विषयालम्बेत? तत्रोत्पद्यमानं विषयंनालम्बेत, उत्पद्यमानस्यासत्त्वात्। नोत्पन्नमपि, विषयप्रतिभासत्मनोत्पन्नत्वात्। न च विषयप्रतिभासात्मनोत्पत्तिं युक्तवा विज्ञानस्यान्या क्रियास्ति यां कुर्वद विज्ञानं विषयमालम्बत इत्यु%यते।

४२. प्रमाणवार्तिक—२/२४७—भिन्नकालं कथं ग्राह्यमितिचेद् ग्राह्यतां विदुः। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥

४३. प्रमाणवार्तिक—२/२२४—हेतभावदृते नान्या ग्राह्यता नाक केचन। तत्र बुद्धिर्यदाभासा तस्याः तद्ग्राह्यमुच्यते॥ —२/३७०—तद्धेतुत्वेन तुल्येऽपि तदन्यैर्विषये मतम्। विषयत्वं तदंशेन तदभावे न तद्भवेत्॥

४४. न्यायबिन्दु. २०-२१—अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति।

४५. प्रज्ञाकरगुप्त—प्रमाणवार्तिकालंकार भाष्य (स्वामी योगीन्द्रानन्द)-१०४८-अन्तरेणापि बाह्यार्थं प्रतिभासो न दुष्यति। विना तु प्रतिभासेन बाह्यं बाह्यं सदा भवेत्॥

४६. १. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका (सम्पा.-राजेश्वर शास्त्री द्राविड़), पृ. १५३—तस्मान्निराकारं ज्ञानमर्थमात्मनो भिन्नं गोचरयति।

२. आत्मतत्वविवेक (भगीरथ ठक्कुर), पृ. ५२३ -निराकारत्वाद्बुद्धिनां विषयकृत एव विशेषः।

३. शाबरभाष्य—निराकाराचनोबुद्धि आकारवान बाह्योऽर्थः।

४७. विश्वम्भर पाही—वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, पृ. २८, दर्शन-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय।

४८. दिङ्नाग—विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः।

४९. धर्मोत्तरप्रदीप (दलसुखभाई मलवाणिया), पृ. ८२—यदि ज्ञानमर्थसरूपं न स्यात् किन्तु निराकारं बोधैकरूपं तदाऽनुभवैकरूपतया तदविशिष्टं, सर्वत्र परिच्छेद्यतया कर्मस्थानप्राप्ते नीलपीतादाविति नीलस्यैवेदं संवेदनम्, इदं पीतस्यैवेत्यनुभवसिद्धः प्रतिकर्मविभागो हीयेत।

५०. द्रष्टव्य—प्रमाणवार्तिक—दृश्य-दर्शन प्रत्यासत्ति—२/३२४-३२९।

५१. ''सारूप्य एवं स्वसंवेदन'' दिङ्नाग, धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष की अवधारणा के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। -द्रष्टव्य—प्रमाणवार्तिक—२/४२३-४८४।

□

भगवद्गीता में दैवी सम्पत्ति योग

—डॉ. द्वारका नाथ

गीता के १६वें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का वर्णन है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को मोहपाश से मुक्ति-प्राप्ति के मार्ग का निर्देशन है। ये दैवी सम्पदाएँ सार्वजनिक सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इनके बिना मानव आत्म-कल्याण तथा विश्व-कल्याण नहीं कर सकता। मानव जाति को गीता की यह महत्त्वपूर्ण देन है। दैवी सम्पत्तियाँ मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पत्तियाँ बन्धनकारी हैं—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता।

दैवी सम्पत्तियाँ मानव व्यक्तित्व के उच्चतम धरातल का स्पर्श करती हैं। उसके प्रगति की अनन्त सम्भावनाओं के द्वार खोलती हैं। ये मानवता की प्रतीक हैं। ये पाशविक-प्रवृत्ति के मनुष्यों को देव रूप में ढालने की दिशा देती हैं। गीता व्यक्ति को संयम की आग में तपा कर कुन्दन बनाना चाहती है। उसका आदर्श है—सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। परपीड़ा एवं लोकदमन से भौतिक वस्तुओं का संग्रह भारतीय मनीषा को स्वीकार नहीं है। हमें दैवी गुणों की अपेक्षा और आकांक्षा है। इसीलिए दैवी सम्पत्तियों को उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है।[१]

सामाजिक सन्दर्भ में गीता जीवन के दो मार्गों का निर्देश करती है। एक है—दैवी मार्ग और दूसरा है—आसुरी या राक्षसी मार्ग; एक प्रकाश का, दूसरा अन्धकार का; एक पुण्य का, दूसरा पाप का; एक प्रेम का, दूसरा घृणा का; एक योग का, दूसरा भोग का; एक शान्ति का, दूसरा अशान्ति का; एक अहिंसा का, दूसरा हिंसा का; एक जिजीविषा का, दूसरा मुमूर्षा का। गीता इन्हीं मार्गों को शुक्ल एवं कृष्ण गति की संज्ञाओं से भी अभिहित करती है।[२] यह व्यक्ति की प्रकृति, उसके स्वभाव और नियति पर निर्भर है कि वह किसका चुनाव करता है, पर इतना निश्चित है कि अनार्य मार्ग पर प्रवृत्त होने वाले जनों का कल्याण नहीं होता—

अनार्यजुष्टेन पथा प्रवृत्तानां शिवं कुतः।

'दैवासुर-सम्पद्-विभाग-योग' नामक सोलहवें अध्याय में अभय, सत्त्व-संशुद्धि, ज्ञानयोग-व्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, प्राणिदया, अलोलुपता,

मृदुता, ह्री, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और निरभिमानिता—इन छब्बीस दैवी-सम्पदाओं का वर्णन है। इनके अभावात्मक या निषेधात्मक जो भी रूप हैं, वे सभी आसुरी गुण हैं।

इनकी संख्या छब्बीस क्यों है? दैवी गुणों की इस सूची को और बढ़ाया जा सकता है, पर सम्भव है गीताकार ने सांकेतिक रूप से इसे ही यथेष्ट माना हो। इनमें कोई सोपान क्रम नहीं है। ये गुण और मूल्य हैं। इनमें से अभय, सत्त्व-संशुद्धि, ज्ञानयोग में व्यवस्थिति तथा न-अतिमानिता को साध्य-मूल्य और बाकी को साधन मूल्यों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

गीता दैवी तथा आसुरी प्रवृत्तियों को जन्मजात मानती है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति दैवी अथवा आसुरी सम्पदाओं के साथ जन्म लेता है।[३] पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आसुरी सम्पदाओं को लेकर पैदा होने वाले व्यक्तियों के लिए वह विकास की सम्भावनाओं के द्वार बन्द कर देती है, अपितु वह तो उन्हें बार-बार प्रबोधन देती है कि आसुरी वृत्तियों के आचरण से अधम योनियों तथा अधम गति-नरकों की प्राप्ति होती है। अतः व्यक्ति को इनसे छुटकारा पाकर भलाई हेतु आत्मोत्थान की चेष्टा करनी चाहिए। इस साधना से व्यक्ति अपने उत्कर्ष की उच्चतम दशा को, परमगति को, ब्राह्मी भाव को प्राप्त कर सकता है[४] क्योंकि मनुष्य योनि धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र दोनों ही है। भोग और कर्म का अधिकार जीव को केवल इसी योनि में प्राप्त होता है, अन्य योनियाँ तो केवल योनियाँ हैं, अतः मनुष्य यदि चाहे तो अपने संकल्प स्वातंत्र्य का प्रयोग करके अपने भविष्य का निर्माण करा सकता है।

गीता आसुरी और दैवी—दोनों सम्पत्तियों को त्रिगुणात्मक मानती है, अतः इनसे परे जो पुरुषोत्तम तत्त्व है, उन परमात्मा तक पहुँचने की दिशा निर्देशित करती है। परमात्मा ने जीवात्मा को चयन की स्वतन्त्रता, उसकी योग्यता तथा क्षमता प्रदान की है। उसे बुद्धि, ज्ञान तथा विवेक की शक्तियाँ दी हैं, जिनके उपयोग से वह सत् या शुभ का चयन कर सकता है। उसे राग-द्वेष—दोनों से ऊपर उठना चाहिए। गीता का समत्वयोग ऐसी साधना है, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि पर विजय पाई जा सकती है। समत्व योगी कर्म करता है, पर राग-द्वेष से प्रेरित नहीं होता है। उसके समस्त कार्य यज्ञ तथा लोकहित के लिए होते हैं। जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है—इस समत्वयोग से युक्त आत्मा वाला सर्वत्र समदर्शी एकात्म-भाव में स्थित व्यक्ति कभी नष्ट नहीं होता है।[५] वह किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाता, अशुभ का चयन नहीं करता और सुख-दुख की द्वन्द्वात्मक अनुभूति नहीं करता।

गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने दैवी सम्पत्तियों का जो वर्णन किया है, उसमें 'अभयम्' को प्रथम स्थान दिया है। 'अभयम्' अर्थात् भय का अभाव। साहित्य दर्पणकार ने 'भय' को परिभाषित करते हुए लिखा है—रौद्रशत्तन्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यं भयम्—अर्थात् किसी भी भीषण वस्तु की विभीषिका शक्ति से उत्पन्न चित्त की विकलता का नाम भय है। कारणों के आधार पर भय कई प्रकार का हो सकता है, जैसे—धर्म का भय, अधर्म का भय, मृत्यु का भय, लोक का भय, शारीरिक, मानसिक क्षति का भय और जन तथा धन की हानि का भय। भय सकारण और निष्कारण दोनों ही होता है। निष्कारण भय अज्ञान पर आधारित होता है। अर्जुन कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रांगण में विपक्षी सेना में अपने बन्धु-बान्धवों को देखकर घबड़ा गया था, भय से काँपने लगा था, बाण चढ़ाकर ताने हुए धनुष को ढीला कर युद्ध न

करने की इच्छा से रथ में बैठ गया था। वह अपने आप को मारने वाला समझ रहा था और मोह में आसक्त था। उसे अज्ञान था। इसीलिए उसे भय था। जिससे छुटकारा उसे तब मिला जब उसने देख लिया कि असली मारने वाले तो भगवान् स्वयं हैं। वह तो एक निमित्त है।

निश्चय ही भय वह किसी प्रकार का हो, सर्वथा अवांछनीय है। वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है—

यथा धौश्च पृथिवी च
न विभीतो न रिष्यतः।
एव मे प्राण मा विभेः॥[६]

"जिस प्रकार आकाश और पृथिवी नहीं डरते और न दुःख देते हैं, वैसे ही मेरे प्राण भी न डरें।"

कहा गया है—"व्यक्ति भय से तभी तक डरता रहे, जब तक वह आ न जाय। आने पर तो उसका यथोचित प्रतिकार करना चाहिए।"

तावद् भयाद् भेतव्यं बि यावद्भयमनागतम्।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्यात् यथोचितम्।

दैवी-सम्पत्तियों में 'अभयम्' के बाद 'सत्त्व-संशुद्धि' की गणना है। 'सत्त्व-संशुद्धि' का अर्थ सत्त्व की अथवा सत्त्व से सम्यक् शुद्धि है—सत्त्वस्य संशुद्धि सत्त्वेन संशुद्धिः सत्त्वात् संशुद्धिर्वा। श्रीधरी व्याख्या में इसे—सत्त्वस्य चित्तस्य संशुद्धिः सुप्रसन्नता अर्थात् चित्त की प्रसन्नता और शांकर भाष्य में—सत्त्वस्य अन्तःकरणस्य संव्यवहारेषु पर-वंचन मायानृतादि वर्जनं शुद्ध भावेन व्यवहार इत्यर्थः—अर्थात् अन्तःकरण का दूसरों के प्रति छल-कपट, झूठ आदि से रहित शुद्ध व्यवहार लिखा है।

मनः शुद्धि के कुछ उपाय निम्नांकित हैं—

(१) आहार-शुद्धि—सत्त्व शुद्धि के लिए आहार-शुद्धि ही पहली आवश्यकता है। सादा, सात्त्विक तथा सन्तुलित भोजन मन को पवित्र बनाता है। राजस एवं तामस वस्तुओं के सेवन से वह उत्तेजित होता है। मादक पदार्थों का सेवन स्वभाव में विकृति पैदा कर आसुरी भावों की वृद्धि करता है, जिससे व्यक्ति के पतन का मार्ग सुनिश्चित हो जाता है। गीता में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—तीन प्रकार के आहारों का प्रतिपादन किया गया है।[७]

आहार शुद्ध होने पर सत्त्व की शुद्धि होती है और तब स्मृति का स्तम्भन होता है। उसके बाद मन की सारी गाँठें खुल जाती हैं। कुण्ठाएँ उदात्तीकृत और संशय उच्छिन्न हो जाते हैं—आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति। स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।[८]

महाभारत में भीष्म के उदाहरण से ज्ञात होता है कि 'जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन' की लोकोक्ति यथार्थ है। मृत्यु शय्या पर पड़े भीष्म से द्रोपदी पूछती है—महाराज! दुर्योधन की सभा में जब मुझे निर्वस्त्र किया जा रहा था, तब आप मौन क्यों थे? तटस्थता क्यों धारण की थी? भीष्म बोले, 'पुत्री, तब मैं कौरवों का पापमय अन्न खा रहा था, जिससे मेरी बुद्धि नष्ट हो गई थी।' पाप से अर्जित अन्न अशुद्ध होता है। धर्मार्जित अन्न ही मन-बुद्धि को पुनीत रख सकता है।

(२) विचार-शुद्धि—विचारों की शुद्धता मानसिक शुद्धता का द्वितीयक आधार है। विचार व्यक्ति

के चरित्र का मापदण्ड है। जिस व्यक्ति के जैसे विचार होंगे, वह व्यक्ति भी वैसा ही होगा—

विचारा हि मनुष्याणां प्रतिमानाः परन्तप।
विचारो यादृशो यस्य मर्त्यो भवति तादृशः॥

उपनिषद् का कथन है कि मनुष्य मन में जो सोचता है, वाणी से उसे ही प्रकट करता है। वाणी से जो बोलता है, वही कर्म में उतारता है। इसलिए प्रथमतः मन की सोच ही ठीक होनी चाहिए।

(३) शिव-संकल्प—मन की यह दुर्बलता है कि उसमें बुरे विचार पहले और अच्छे विचार बाद में आते हैं। वैदिक ऋषि इस बात को अच्छी तरह जानते थे, इसीलिए उन्होंने प्रार्थना की थी—हे प्रभो, मेरा वह मन शुभ संकल्पों वाला बने—तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु। उसे ऐसा होना चाहिए कि उसमें उदारता, शिवता, सत्यता तथा निर्हेतुक सर्वमांगल्य की भावनाएँ निहित हों।

(४) वासनाओं का संस्करण—मनुष्य कामनाओं का दास है। कामनाओं को संस्कारित करके ही उनके दुष्फल से छुटकारा पाया जा सकता है। इन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता। इनकी दिशा में परिवर्तन करना होगा, इन्हें विषयों की ओर से हटाकर प्रभु की ओर मोड़ना होगा। इससे कामनाओं का संस्कार होगा, मन की सफाई होगी तभी मन को समाधि की झलक मिलेगी।

(५) सत्संग—मन की अन्तर्यात्रा का आरम्भ बिन्दु सत्संग है। सत्संग के बिना विवेक नहीं होता—बिनु सतसंग विवेक न होई। बिना विवेक के मोह का विनाश नहीं होता—तेहि बिनु मोह न भाग। और मोह सभी व्याधियों का मूल है, जिससे अनेक पीड़ाओं की उत्पत्ति होती है—मोह सकत व्याधिन्ह कर मूला, तिन्हतें पुनि उपजहि बहु सूला (मानस)। काम-क्रोध आदि मोह से पैदा होते हैं।

(६) अहंकार त्याग और समत्वभाव—अहंकार से वशीभूत व्यक्ति स्वयं को कर्ता और भोक्ता मानता है। सभी कार्यों का श्रेय स्वयं लेना चाहता है। दूसरों के अस्तित्व को, गरिमा और अच्छाई को स्वीकार नहीं करता। मन की शुद्धता के लिए अहंकार को त्यागना आवश्यक है।

जिसके मन में समत्वभाव हैं, जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है वह चांडाल, पशु आदि में वैसे ही आत्मभाव का दर्शन करता है, जैसे अपने शरीर के विभिन्न अवयवों में अपनेपन की अनुभूति करता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिनका मन समत्व भाव में लगा हुआ है, उनके द्वारा इसी जीवन में संसार जीत लिया गया है और वे परमात्मा में ही स्थित हैं। ईश्वर समस्त प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है। वही भक्त उन्हें प्राप्त कर सकता है, जिसकी सभी भूतों में समदृष्टि है और उसी का अन्तःकरण भी शुद्ध है।

(७) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तशुद्धि—चित्त चंचल है। उसके निग्रह के बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता, परन्तु उसका निग्रह कैसे किया जाए? अर्जुन के पूछने पर योगीराज श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—"हे महाबाहो अर्जुन! निःसन्देह मन बड़ा चंचल है और कठिनता से वश में आने वाला है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसका निरोध सम्भव है।"[९]

(८) निष्काम कर्म—निष्काम कर्म चित्तशुद्धि का एक महत्तम उपाय है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, यदि तू योग के द्वारा समाधि लगाकर अपने चित्त को मुझमें स्थिर नहीं कर सकता है,

तो अभ्यास कर। अभ्यास में भी यदि तू असमर्थ है, तो सभी कर्मों को मेरे निमित्त कर और यदि यह भी तुझसे नहीं होता, तो उन सभी कर्मों के फल त्याग दे। अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान और ध्यान से सर्वकर्मफल त्याग उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। (२/९-१२)। हे अर्जुन, तू जो कुछ करता है, खाता है, यज्ञ करता है, देता है और तपस्या करता है, वह सब मुझे अर्पित कर दे। इस प्रकार तू कर्मों के बन्धन से छूट कर मुझे ही प्राप्त करेगा।[१०] जो व्यक्ति सारे कर्म परमात्मा को अर्पित कर आसक्ति को त्याग कर पूरा करता है, वह आत्मशुद्धि हेतु कर्म करने वाला जल में स्थित कमल-पत्र की भाँति पापों से लिप्त नहीं होता।[११]

(९) भगवद्भक्ति—यह मन की पवित्रता का परम उपाय है। अन्तःकरण की पवित्रता का सरलतम उपाय भगवद्भक्ति है। प्रभु के प्रति अनन्य अनुराग, अविचल श्रद्धा, अनन्त विश्वास, उसकी अहैतुकी कृपा के प्रति कृतज्ञता तथा सर्वात्मना समर्पण-भक्ति है। भगवान् का भक्त किसी से द्वेष नहीं करता। सबका मित्र है, सबके प्रति सहानुभूति रखता है। वह अनासक्त, निरहंकार, दुःख-सुख में समान, क्षमाशील, संयमी, निष्काम तथा सन्तुष्ट रहता है। वह सर्वत्र प्रभु का दर्शन करने वाला, मान-अपमान में सम रहता है।

बिना भक्ति के मनुष्य जलविहीन मेघों के समान है। मन में तभी तक लोभ-मोहादि खलों का निवास होता है, जब तक प्रभु का निवास नहीं होता। भगवान् की शरण में पहुँचा हुआ व्यक्ति निष्पाप एवं निष्कलुष हो जाता है। उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का मल शेष नहीं रहता। उसका कभी विनाश नहीं होता।[१२] भक्त ही भगवान् को तत्त्वतः जान और देख सकता है।[१३] जो अपने मन को परम श्रद्धा से परमात्मा में लगाकर उसकी नित्य उपासना करता है, वही परम योगी है। वह तीनों का अतिक्रमण कर जन्म, मरण आदि दुःखों से मुक्त हो अमरता का उपभोग करता है।[१४] श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

बाधमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

"मेरा अजितेन्द्रिय भक्त विषयों के द्वारा विवश किया जाता है। फिर भी मेरी प्रगल्भ भक्ति उसे उन विषयों से पराजित नहीं होने देती।"

भगवान् श्री कृष्ण आगे कहते हैं—"हे उद्धव, जैसे अग्नि ईंधन को जला देती है, वैसे ही मेरी भक्ति समस्त पापों को नष्ट कर देती है।"

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरूद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥[१६]

यदि हमारा मन पवित्र है, तो अभय का वरदान हमें स्वतः प्राप्त है। चित्त की शुद्धता के बिना निर्भीकता का आगमन सम्भव नहीं है। हमारी सम्पूर्ण साधनाओं का उद्गम तथा लक्ष्य चित्तशुद्धि है।

गीता के दैवी-सम्पद् विभाग में 'अभयम् और सत्त्वसंशुद्धिः' के अनन्तर 'ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः' का उल्लेख है, जिसे आचार्य शंकर ने प्रधान दैवी-सम्पत्ति कहा है।

ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः—यह समासयुक्त पद है और इसके विग्रह से दो अर्थ निकलते हैं। पहला है—ज्ञानरूपी योग में निष्ठा और दूसरा अर्थ है—ज्ञान और योग में निष्ठा। प्रथम विग्रह में ज्ञान की प्रधानता है तथा योग गौण और दूसरे में ज्ञान तथा योग दोनों स्वतन्त्र व स्वयंपूर्ण पद हैं, जिनसे ज्ञाननिष्ठा व योगनिष्ठा—

इन दो निष्ठाओं का बोध होता है। ज्ञान का तात्पर्य विधा, परावाणी, सद्-असद्-विवेक तथा सांख्य दर्शन की विवेक ख्याति से है। गीता के १३वें अध्याय में ७ से ११ के ५ श्लोकों में ज्ञान के बीस (२०) लक्षणों का उल्लेख है—

(१) **अमानित्वम्**—अभिमान का अभाव।

(२) **अदम्भित्वम्**—अपने स्वभाव तथा कार्य का वर्णन दम्भ है और उसका अभाव अदम्भिता।

(३) **अहिंसा**—मन, वाणी और कर्म से अहिंसा।

(४) **क्षान्ति**—क्षमाशीलता।

(५) **आर्जवम्**—मन और वाणी की सरलता।

(६) **आचार्योपासनम्**—श्रद्धा भक्ति सहित निश्छल भाव से गुरुसेवा।

(७) **शौचम्**—शारीरिक मलों को मिट्टी और जल आदि से साफ करना और अन्तर्मन के आसक्ति आदि मलों का प्रतिपक्ष भावना अर्थात् विरुद्ध-गुणाश्रय से अपनयन।

(८) **स्थैर्यम्**—अन्तःकरण की स्थिरता।

(९) **आत्मविनिग्रह**—शरीर और मन का निग्रह।

(१०) **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्**—इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों और सांसारिक तथा पारलौकिक भोगों में आसक्ति का अभाव।

(११) **अनहंकार**—अहंकार का अभाव।

(१२) **जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्**—जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, शारीरिक व मानसिक रोग और दैविक तथा भौतिक तापों के कारणों का अनुचिन्तन।

(१३) **आसक्ति**—आसक्ति विषयक वस्तुओं में प्रीति का अभाव।

(१४) **अनभिष्वंग**—पुत्र, पत्नी, गृह, परिजन आदि में विशेष ममता का अभाव।

(१५) **समचित्तत्वम्**—इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति पर चित्त की एकतुल्यता।

(१६) **भक्ति**—अनन्य योग से ईश्वर की अव्यभिचारिणी भक्ति।

(१७) **विविक्त-देश-सेवित्वम्**—निर्जन, पवित्र, शान्त और हिंसक प्राणियों के भय से रहित स्थान में रहने का स्वभाव। निर्जन स्थान में मन प्रसन्न रहता है और आत्मा आदि की भावना उत्पन्न होती है।

(१८) **जन-संसदि अरति**—संस्कारहीन, विनयरहित और विषयासक्त लोगों में अनुराग का अभाव।

(१९) **अध्यात्म-ज्ञान-नित्यत्वम्**—अध्यात्म-ज्ञान की नित्यता।

(२०) **तत्त्व-ज्ञानार्थ-दर्शनम्**—तत्त्वज्ञान के अर्थ-फल की आलोचना-विवेचना तथा तत्त्वज्ञान के अर्थ-विषय परमात्मा का सर्वत्र दर्शन।

चूँकि ये ज्ञान के साधन हैं, अतः सब ज्ञान है और इससे जो इतर है वह अज्ञान है। ज्ञान रूपी नौका से पापों के सागर को पार किया जा सकता है।[१७] ज्ञान के समान पवित्र करने वाला दूसरा कुछ भी नहीं है।[१८] ज्ञान को प्राप्त कर जीवात्मा शीघ्र ही परमशान्ति को प्राप्त होता है।[१९]

दानशीलता मनुष्य का दैवी गुण है, इसीलिए गीता ने दान को दैवी सम्पत्ति में समाविष्ट किया है। दान स्वोपार्जित या निसर्गतः प्राप्त वस्तु का स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक किया गया त्याग है। दान मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। गीता में सात्त्विक, राजसिक व तामसिक तीन प्रकार का दान निरूपित है। जो दान देश, काल और पात्र का विचार कर अनुपकारी के लिए दिया जाता है, वह सात्त्विक है। प्रत्युपकार और फल को लक्षित कर दिया जाने वाला दान राजसिक और देशकाल के विचार के बिना असत्कार तथा अपमानपूर्वक अपात्र को दिया जाने वाला दान तामसिक है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥[२०]
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् राजसमुदाहृतम्॥[२१]
अदेशकाले यद्दानंमयात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम्॥[२२]

दैवी सम्पत्ति में परिगणित दम, सुरता की ओर मनुष्य के अधिरोहण का प्रमुख सोपान है। मनु ने दश-लक्षण धर्म में दम की गणना की है और गीता में इसे स्वाभाविक कर्म प्रतिपादित किया गया है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥[२३]

दम का अर्थ है इन्द्रियों का नियन्त्रण। यह आत्मनियन्त्रण, आत्मानुशासन, दुष्कर्मों से परावर्तन, शक्ति का अपव्यय से संरक्षण तथा इन्द्रियों के विषयों में समता का व्यवहार। दम बाह्य वृत्तियों का निग्रह है। कुत्सित कर्म से चित्त को हटा लेना ही दम है। गीता के शांकर भाष्य में बाह्य-करणानाम् उपशमः दमः और श्रीधर भाष्य में—दमो बाह्येन्द्रिय-संयमः—कहकर दम को परिभाषित किया गया है।

गीता की दैवी सम्पदाओं में यज्ञ एक ऐसी सम्पदा है, जो हमारी समूची संस्कृति का प्रतीक और हमारे हिन्दू धर्म का मेरुदण्ड है। यज्ञ एक प्रतीक है—हमारे त्याग और समर्पण का, श्रद्धा और विश्वास का, साधना और निष्ठा का। यज्ञ एक साधन है, जिसके द्वारा जीवात्मा परमात्मा के प्रति अपनी कृतज्ञता एवं समर्पण की भावना ज्ञापित करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में निम्नांकित प्रकार के यज्ञ निरूपित हैं—

(१) **देवयज्ञ**—पूर्ण समर्पण सहित श्रद्धा भाव से किया गया देव-पूजन। इन्द्रादि देवों के लिए अग्नि में द्रव्य समर्पण।

(२) **आत्मयज्ञ**—जिसका साक्षात् करना है, उस उपाधि रहित शुद्ध ब्रह्म रूपी अग्नि में उपाधियुक्त आत्मा का हवन। ब्रह्म और आत्मा के एकत्व-बोध में स्थित हुए वे ज्ञानी लोग ऐसा हवन करते हैं।

(३) **संयम यज्ञ**—संयमरूपी अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन—इन्द्रिय निग्रह रूपी दम की साधना।

(४) **इन्द्रिय यज्ञ**—इन्द्रियों रूपी अग्नियों में शब्द आदि विषयों का हवन। राग-द्वेष आदि से रहित

होकर श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा शास्त्र-सम्मत विषयों का ग्रहण।

(५) **आत्मसंयम यज्ञ**—ज्ञानदीप्त आत्मसंयम रूप अग्नि में सभी इन्द्रियों तथा प्राणों की क्रियाओं का अर्पण।

(६) **द्रव्य यज्ञ**—आचार्य शंकर के अनुसार यज्ञ की भावना से तीर्थों में निर्माण करना द्रव्य यज्ञ है। देवताओं के लिए अग्नि में हविष्य का अर्पण भी द्रव्य यज्ञ है।

(७) **तपोयज्ञ**—अपने कर्तव्य के निर्वाह में आने वाली कठिनाइयों तथा बाधाओं को सहन करना और कृच्छ, चान्द्रायण आदि कठोर व्रतों की पारणा करना तपोयज्ञ है।

(८) **योग यज्ञ**—चित्त की वृत्तियों का निरोध, शम-दम आदि का पालन, यम-नियम आदि का अनुवर्तन और सुख-दुखात्मक स्थितियों में समता का भाव योग यज्ञ है।

(९) **स्वाध्याय यज्ञ**—नियमपूर्वक वेदादि सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय यज्ञ है।

(१०) **ज्ञानयज्ञ**—आत्मा और परमात्मा विषयक खोज तथा सत्य-शोधन की वृत्ति ज्ञान यज्ञ है।

(११) **प्राणायाम यज्ञ**—पूरक, रेचक और कुम्भक की विधियों से प्राणायाम करना प्राणायाम यज्ञ है।

(१२) **नियताहार यज्ञ**—नियमित आहार-विहार अथवा इन्द्रियों के विषयों का शास्त्र सम्मत उपभोग करना नियताहार है। नियताहार करने वाले साधक ही प्राणों में हवन कर सकते हैं।

(१३) **जपयज्ञ**—भगवान् ने यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि[२४] कहते हुए जप को भी एक यज्ञ निरूपित कर उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, क्योंकि मन्त्रों से जितने भी यज्ञ किये जाते हैं, उनमें अनेक पदार्थों तथा विधियों की आवश्यकता होती है। भगवन्नाम स्मरण रूप जपयज्ञ में जप से सर्वात्मना कल्याण ही होता है। गीता यज्ञों के तीन भेद[२५] बताती है—

(१) **सात्विक यज्ञ**—शास्त्रोक्त विधान के अनुसार बिना किसी कामना के जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्विक यज्ञ है।

(२) **राजसिक यज्ञ**—जो यज्ञ फल की आकांक्षा और दम्भाचरण के लिए ही किया जाता है, वह राजसिक यज्ञ है।

(३) **तामसिक यज्ञ**—जो यज्ञ शास्त्रीय विधि से रहित, अन्नदान के बिना, मन्त्रहीन, दक्षिणा तथा श्रद्धा के बिना किया जाता है, वह तामसिक यज्ञ है।

सातवीं दैवी सम्पत्ति स्वाध्याय है। गीता के चौथे अध्याय में इसे यज्ञ की उपाधि से विभूषित किया गया है।[२६] स्वाध्याय का अर्थ है नियमपूर्वक धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना। वेदादि सद्ग्रन्थों का ध्यानपूर्वक किया गया अध्ययन स्वाध्याय है। स्वाध्याय के माध्यम से हम ज्ञान की उपासना करते हैं। पतञ्जलि ने लिखा है—स्वाध्यायाद् इष्टदेवता सम्प्रयोगः अर्थात् स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।

आठवीं दैवी सम्पत्ति तप है। तप से अभिप्राय सर्दी-गर्मी आदि सहने का अभ्यास, कठिन व्रत का पालन करना आदि है। संयतेन्द्रिय, निराकांक्ष, निराहार या मिताहार मन को एकाग्र करते हुए शरीर तथा गर्दन को अचल व स्थिर करके नासिका की अग्र दिशा में देखते हुए प्रसन्नचित्त, निर्भीक ब्रह्मचर्य, व्रती, एकान्त

या पवित्र स्थान में एकाकी कुशासन पर बैठकर इष्ट देवता के ध्यान के साथ मन्त्र जप सामान्यत: तप है।[२७]

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में स्थूल एवं सूक्ष्म दृष्टियों से तप के तीन प्रकार निरूपित किये गये हैं। देव, गुरु व ज्ञानी जनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है। दूसरों को उद्विग्न न करने वाली, सत्य प्रिय व हितकारी वाणी, स्वाध्याय, अभ्यास तथा मन का निग्रह करना—वाणी का तप है। मन की प्रसन्नता, मौन, आत्मसंयम और भावों की पवित्रता—मानसिक तप है। फल को न चाहने वाले व्यक्ति के द्वारा परम श्रद्धापूर्वक किया गया तप सात्त्विक है। सत्कार, मान तथा पूजा पाने हेतु दम्भपूर्वक किया जाने वाला तथा चंचल तथा अस्थिर फल देने वाला तप राजसिक है और मूढ़ता एवं हठपूर्वक पीड़ा के साथ दूसरों का अनिष्ट करने हेतु जो तप किया जाता है, वह तामसिक तप है।[२८]

यज्ञ, तप और दान सत्कर्म हैं। वे मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं। इन्हें श्रद्धा और फल की निराकांक्षा से करना चाहिए। यज्ञ तथा तप के भोक्ता तो भगवान् हैं फिर व्यर्थ में अपने आपको कर्ता, भोक्ता मानना उचित नहीं है।[२९]

आर्जव अर्थात् सरलता नौवीं दैवी सम्पत्ति है। सरलता बनावटीपन का अभाव है। कपटाचरण, धोखाधड़ी, मुखौटेबाजी, ऊपरी तड़क-भड़क, मिथ्याडम्बर आदि सरलता के विपर्यय हैं। मन, वाणी और कर्म की एकरूपता ऋजुता का लक्षण है। गीता के अनुसार यह शारीरिक तप है और ज्ञानी का स्वाभाविक कर्म है।[३०] यह योग और क्रियापरक व्यवहार है। इसे साधु-सन्तों की संगति से जानकर जीवन में उतारा जाता है।

दसवीं दैवी सम्पत्ति अहिंसा है। महाभारत में कहा गया है कि जो कर्म अहिंसा से युक्त है, वही धर्म है—यत्स्याद् अहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चय:।

अहिंसा हिंसा का पूर्ण अभाव है। अहिंसा के अन्तर्गत कायिक, वाचिक तथा मानसिक तीनों रूप आते हैं। महाभारत में अहिंसा को परमधर्म, परम तप, परम विधा और परम गति कहा गया है—

अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमा विद्या, अहिंसा परमा गतिः॥

अहिंसा वैयक्तिक और सामाजिक मूल्य है। सामाजिक मूल्य की दृष्टि से गीता निरपेक्ष अहिंसा का प्रतिपादन नहीं करती, क्योंकि समाज में जब तक आसुरी शक्तियों की सत्ता है, तब तक निरपेक्ष अहिंसा की कल्पना सम्भव नहीं है। भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है—हे अर्जुन! क्षत्रिय के लिए अन्य ऐसा कोई मार्ग नहीं है, जो धर्म्य अर्थात् धर्मानुकूल युद्ध की अपेक्षा श्रेष्ठ हो—धर्म्यादि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यक्षत्रियस्य न विधते।[३१] भारतीय मनीषा मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए ही किये गये युद्ध को ही 'धर्मयुद्ध' मानती है। हिंसा के पीछे जब किसी प्रकार के काम-क्रोध-लोभादि भावों के वैयक्तिक आधार न होकर, समष्टि हित के संरक्षण का सात्त्विक संकल्प निहित होता है, तब हिंसा अहिंसा का पवित्र रूप ले लेती है।

सत्य ग्याहरवीं दैवी सम्पत्ति है। यह महत्तम जीवन मूल्यों में से एक है। सत्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है—यथार्थ भाषणं सत्यम् अर्थात् यथावत् बोलना सत्य है। जैसा देखा-सुना, वैसा ही कह देना सत्य है। वेद ने सत्य बोलने का आदेश दिया है, लेकिन साथ यह परन्तुक भी जोड़ा है कि वह प्रिय हो; अप्रिय सत्य कदापि न बोला जाए—सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। महाभारत में भीष्म ने

युधिष्ठिर को सत्य की महत्ता समझाते हुए कहा है—''सत्य बोलना सर्वोत्कृष्ट है। सत्य से अधिक श्रेष्ठ कुछ नहीं। सत्य ने ही पूरे विश्व को धारण किया है, सत्य ही सबका आधार है। अति पापकर्मा भयंकर लोग भी यदि परस्पर शपथपूर्वक सत्य का व्यवहार करें, तो उसके आश्रय से द्रोह तथा प्रतारणा के बिना उनके व्यवहार चलते हैं, किन्तु यदि वे इस शपथ का पालन न करें तो नि:सन्देह उनका नाश होता है—

अपि पापकृताः रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक्।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः॥[३२]

गीता में अक्षर अविनाशी तत्त्व ही सत्य है। क्षर तत्त्व असत्य है। अक्षर सत्य से श्रेष्ठ सत्य और है जो पुरुषोत्तम रूप परम सत्य है।

अक्रोध अर्थात् क्रोध का अभाव दैवी सम्पत्तियों में बारहवीं सम्पत्ति है। आचार्य शंकर के मतानुसार अक्रोध का अर्थ है—दूसरों के द्वारा गाली या ताड़ना दिये जाने पर भी उत्पन्न क्रोध को शान्त कर लेना—अक्रोध: परै: आक्रुष्टस्य अभिहितस्य वा प्राप्तस्य क्रोधस्य उपशमनम्।

गीता में काम से क्रोध की उत्पत्ति निरूपित हुई है। काम विषयों के निरन्तर चिन्तन से उद्भूत आसक्ति का फल है। (२/६२) जब एक व्यक्ति की कामनाओं की पूर्ति में कोई अन्य व्यक्ति बाधक बनता है या बाधक बनने की सम्भावना होती है, तो वह दु:ख का कारण हो जाता है। फिर उसे मार्ग से हटाने, दण्डित करने या उसे अपनी भावनाओं से अवगत कराने के लिए व्यक्ति पहले क्रोध करता है। क्रोध से चित्त में मोह उत्पन्न होता है और मोह से स्मृति के विलुप्त होने पर सत्यासत्य का निश्चय करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, इसके उपरान्त व्यक्ति का विनाश अवश्यम्भावी है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सस्तेषूपजायते।
सात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥[३३]
क्रोधाद् भवति संमोहः सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥[३४]

गीता कहती है—काम और क्रोध से रहित, नियन्त्रित चित्त वाले योगीजन, जिन्होंने आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उन्हें न केवल मृत्यु के उपरान्त ही, अपितु जीवितावस्था में भी परमात्म-पद प्राप्त होता है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

त्याग दैवी सम्पत्तियों में तेरहवीं सम्पत्ति है। त्याग जीवन का मूल आधार है। निषेधात्मक रूप में यह लोभ का विपर्यय है। अपने से इतर तत्त्वों को सुख का स्रोत मानकर उनके संग्रह की प्रवृत्ति लोभ है और उन प्राप्त तत्त्वों का वितरण या संग्रह की अप्रवृत्ति त्याग है। त्याग का सामान्य अर्थ उसे छोड़ना है, जिसे हमने चारों ओर से पकड़ रखा है। अपनी आवश्यकता से अधिक साधनों की, सुखोपभोग की वस्तुओं पर स्वामित्व स्थापन या उनकी लालसा परिग्रह है और इसका अभाव अपरिग्रह या त्याग है।

गीता में जिस त्याग की बात कही गई है वह कर्मफल का त्याग है। कहा गया है कि कर्मों का त्याग

न करके उनके फलों का त्याग कीजिए। विचक्षण पुरुष इसी को त्याग कहते हैं (१८.२)—

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।[३५]

जिसने कर्मफल त्याग दिया है, वही सच्चा संन्यासी एवं योगी है। त्यागी वही है जिसने कर्मफल का त्याग कर दिया है—

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।

गीता में त्याग के तीन प्रकारों का वर्णन है—तामस, राजस और सात्त्विक। अज्ञान के कारण नियत कर्म का किया गया त्याग तामस है। कर्म दुःखरूप है। इनसे देह को कष्ट होता है, इस भाव से तथा भय के कारण किया गया त्याग राजस है। जो नियत कर्मों को अनिवार्यतः करता है, आसक्ति व फल का त्याग करता है, उसका त्याग सात्त्विक है। वही सच्चा त्यागी है। गीता का त्याग संसार से पलायन नहीं है। वह सामाजिक दायित्वों तथा शास्त्रविहित कर्मों को छोड़कर संन्यास धारण करने की बात नहीं करती। कर्मफल का त्याग अपेक्षित है। गीता कर्म के त्याग को त्याग नहीं कहती बल्कि कर्म में त्याग के लिए कहती है। अतः आसक्ति-त्याग ही सच्चा, सही निवृत्ति और सत्य अपरिग्रह है।

गीतोक्त दैवी सम्पत्तियों में शान्ति का चौदहवाँ स्थान है। शान्ति प्राप्ति जीवन का चिर लक्ष्य है। यह आत्मा में चित्त की उपरति है—आत्मनि चित्तोपरतिः शान्तिः। विषयों में आसक्त होने पर चित्त चंचल और अशान्त होता है। उसकी वृत्ति जब आत्ममुखी होती है, तब वह विषयों से विरत होकर आत्मधाम में विश्राम करता है, आत्मतृप्ति तथा आत्म-आप्यायिति की इसी अवस्था का नाम शान्ति है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि जिस व्यक्ति का हृदय सद्भावनाओं से भावित नहीं है; आस्था, श्रद्धा, विश्वास तथा आस्तिकता से परिपूर्ण नहीं है, उसे शान्ति की अनुभूति नहीं होती। वह अशान्त रहता है और जो अशान्त है, उसे सुख कहाँ है? नचाभावयतः शान्तिः अशान्तस्य कुतः सुखम्।[३६] गीता के अनुसार शान्ति के अधिकारी में निम्नांकित योग्यताएँ होनी चाहिए—

(अ) **यः पुमान् कामान् विहाय चरति**—जो व्यक्ति एषणाओं का परित्याग कर विहित कर्मों का आचरण करता है।

(ब) **यः पुमान् निःस्पृहः चरति**—जो व्यक्ति बिना किसी स्पृहा के कर्मरत है।

(स) **यः पुमान् निर्ममः चरति**—जो निर्मम है अर्थात् जो आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है।

(द) **यः पुमान् निरहंकारः चरति**—और जिस व्यक्ति ने अहंकार का विसर्जन करके दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया है। जो एकमात्र परमात्मा को ही कर्ता और भोक्ता मानता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है।[३७]

गीता में प्रदर्शित शान्ति प्राप्ति के कुछ उपाय निम्न हैं—

(१) **अकामः शान्तिमाप्नोति**—जो अकाम है, जिसने कामनाओं का सर्वथा त्याग कर दिया है। जिस प्रकार ऊपर तक भरे हुए अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार जिसमें समस्त कामनाएँ प्रविष्ट होकर एकाकार हो गई हैं, उसी को शान्ति मिलती है, न कि उसे जो कामनाओं को चाहता है—

आपूर्यमाणमअचलप्रतिष्ठम् समुद्रमापः प्रविशान्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशान्ति सर्वे स शान्तिमाआप्नोति न कामकामी॥[३८]

(२) **काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर**—ये छह चित्त के विकार हैं जिनसे चित्त अशान्त रहता है। इस पर नियन्त्रण पा लेने से शान्ति की प्राप्ति सरलता से हो सकती है।

(३) **त्यागात् शान्तिः अनन्तरम्**—त्याग से शान्ति मिलती है।[३९] त्याग का अर्थ है आन्तरिक परिग्रह—रूप, राग, द्वेष आदि भावों का और बाह्य परिग्रह रूप सांसारिक पदार्थों का संग्रह न करना। गीता में कर्मफल की आसक्तियों के त्याग पर बल दिया गया है। ऐसा त्यागी योगी है और ऐसे ही योगी को नैष्ठिकी शान्ति मिलती है।[४०] प्रसन्नता और शान्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

(४) **ज्ञानं लब्धवा परां शान्तिम् अचिरेण अधिगच्छति**—जीवात्मा ज्ञान को प्राप्त करके अतिशीघ्र परमशान्ति को प्राप्त कर लेता है।[४१] शान्ति प्राप्ति का मुख्य साधन है—ज्ञानोपासना, ज्ञानभोग।

(५) **ज्ञात्वा मां शान्तिम् गच्छति**—भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं सभी प्राणियों का मित्र हूँ, जीव मुझे जानकर शान्ति प्राप्त करता है।[४२] मैं सबमें समानरूप से रहता हूँ। जो मुझे भजते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें निवास करता हूँ। दुराचारी भी मेरे भजन से धर्मात्मा साधु बनकर चिर शान्ति पाता है।[४३]

ऊपर निष्कामता, अपरिग्रह, अनासक्त कर्म, ज्ञान तथा भक्तियोगों का उल्लेख है। शान्ति चाहे भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक, वैयक्तिक या सामाजिक हो, उसकी प्राप्ति इन्हीं मार्गों से सम्भव है।

'अपैशुनम्' अर्थात् दूसरे की निन्दा या चुगली न करना भी एक दैवी गुण है। पिशुनता या चुगलखोरी एक ऐसा अवगुण है जिससे मानव का व्यक्तित्व दूषित और कलंकित हो जाता है। देखी या सुनी हुई बुराई का विज्ञापन या कानाफूसी भी चुगली है—

पर-रन्ध्र-प्रकटीकरणं पैशुनं तदभावः अपैशुनम्।

चुगली मानसिक हिंसा है। यह मनुष्य की एक बड़ी कमजोरी, बुराई और न्यूनता है। यह आसुरी वृत्ति है। इसके त्याग से असुरत्व की पराजय, देवत्व का उदय और मनुष्यत्व का बोध होता है।

दैवी सम्पत्तियों में एक दैवी सम्पत्ति दया है। दया या करुणा परदुःखकातरता से प्रेरित वाचिक तथा कार्मिक अभिव्यंजना है, जिसमें दयापात्र के कल्याण की भावना सन्निहित है। जिसके हृदय में दया नहीं है वह पशु से भी निकृष्ट है। जो मनुष्य दूसरे के दुःख से दुःखी नहीं होता, उसके निवारण का उपाय नहीं करता, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। एक बार युधिष्ठिर से यक्ष ने पूछा—''को धर्मः—धर्म क्या है?'' युधिष्ठिर का उत्तर था—'भूतदया—जीवधारियों पर दया।' एक श्लोक में कहा गया है कि क्षमा से बढ़कर तप, सन्तोष से अधिक सुख, लोभ से अधिक व्याधि और दया से श्रेष्ठ धर्म नहीं है—

क्षमापरं तपो नास्ति, न सन्तोषात् परं सुखम्।
न च लोभात् परो व्याधिर्नच धर्मो दयापरः॥

अलोलुपत्वम् या अलोलुपता सत्रहवीं दैवी सम्पत्ति है। अलोलुपता का अर्थ है—लोभ का अभाव।

आचार्य शंकर के अनुसार विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग होने पर भी चित्त में किसी प्रकार का आकर्षण उत्पन्न न होना ही अलोलुपता है—इन्द्रियाणां विषयसन्निधौ अविक्रिया। (गीता शांकर भाष्य) गीता में कहा गया है कि लोभ रजोगुण से उत्पन्न होता है।[४४] गीता में लोभ को नरक का तीसरा द्वार निरूपित किया गया है।[४५] काम, क्रोध और लोभ से मुक्त होने पर ही व्यक्ति श्रेय और प्रेय का आचरण कर सकता है।[४६] कहा गया है 'जो पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान देखता है वह ज्ञानी है—मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।'

मार्दव या मृदुता दैवी सम्पत्ति है। यह जीवन कला का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। इसका अर्थ है जीवमात्र के प्रति अन्तर तथा आचरण में निष्कारण कोमलता होना। दु:ख देने वाले तथा बैर रखने वालों के प्रति भी कठोरता का भाव न रखना। क्रूरता का सर्वथा परित्याग मानवीय मृदुता का सच्चा रूप है। कठोरता के सन्दर्भ में ही मृदुता का मूल्य है। मृदुता के अनेक रूप हो सकते हैं—शारीरिक मृदुता, मानसिक या आन्तरिक भावों की मृदुता, वाणी की मृदुता, व्यवहार की मृदुता आदि। महाभारत में वेदव्यास की एक उक्ति है—

मृदुना दारुणं हन्ति, मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किंचित तस्मात् तीव्रतमा मृदुः॥

मृदुता से कठोरता समाप्त हो जाती है। मृदुता के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है, इसलिए मृदुता ही सर्वाधिक तीव्र प्रभावशालिनी है।

गीतोक्ति दैवी सम्पदाओं में एक सम्पदा ह्री अर्थात् लज्जा है। ह्री के पर्याय हैं—मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा ब्रीडा लज्जा। लज्जा को दैवी गुण मानने में व्यक्ति एवं समाज के धर्म की रक्षा का भाव समाहित है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने सुरासुर प्रवृत्तियों के अनुक्रम में लज्जाशीलता सुरों की और निर्लज्जता को असुरों की प्रवृत्ति निरूपित किया है। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—लज्जा क्या है? उन्होंने उत्तर दिया—'ह्रीः अकार्य-निवर्तनम्'—अनुचित कार्य का आवर्तन—रोकने वाला मानसिक भाव लज्जा है। जब व्यक्ति में समाज की मर्यादा के विपरीत कार्य करने की इच्छा जागृत हो और वह समाज की जिस मर्यादा के भय से उसे करने से रुके, वही लज्जा है। लज्जा अनीति पर चलने से रोकती है। महाभारत में धर्म के अंगों में लज्जा का समावेश है। लज्जा धर्मरूप है और इस लज्जा धर्म की प्राप्ति सदाचरण से होती है, जो सभी का कल्याण करता है। जिसके मन में ग्लानि नहीं है, जिसका मन और वाणी नित्य शान्त है, वह लज्जाशील है—

कल्याणं कुरुते बाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित्।
प्रशान्तवाङ्मनो नित्यं ह्रीरस्तु धर्माद् अवाप्यते॥[४७]

आचार्य शंकर ने लज्जा को सात्त्विक भाव कहा है। (गीता शांकर भाष्य) लज्जा दो प्रकार की होती है—(१) व्यक्तिगत लज्जा और (२) समाजगत लज्जा। व्यक्तिगत लज्जा एक तरह की ग्लानि या नैतिक चेतना है; और लोकलज्जा-लोकनिन्दा एवं सामाजिक दण्ड का भय है। पाराशर गीता में लज्जा को सुखावह कहा गया है। लज्जा मनुष्य का गुण है। यह ब्रह्मप्राप्ति के मार्गों में से एक है। इसके द्वारा जीव परमब्रह्म को पा लेता है।

'अचापलम्' अर्थात् चपलता या चंचलता का अभाव बीसवीं दैवी सम्पत्ति है। श्रीधरी टीका में बेकार की क्रियाओं का अभाव अचापल कहा गया है—अचापलं व्यर्थ-क्रियाराहित्यम्। आचार्य शंकर के अनुसार बिना किसी प्रयोजन के वाणी, हाथ, पैर आदि का संचालन चपलता और उसे न करना 'अचपलता' है। महाभारत में धर्मरूप यक्ष ने अचपलता को अपना देह बताया है और मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म के प्रमुख लक्षणों में परिगणित होने का उल्लेख किया गया है। यह अचपलता योग ही हमारे लिए परम उत्तम आत्मज्ञान है और परम श्रेय है—

आकिंचन्यं सुसन्तोषो निराशित्वम्—अचापलम्।
एतदेव परं ज्ञानं सदात्म-ज्ञानमुत्तमम्॥ (महा. वनपर्व ११३.३५)

तेजस् (तेजः) इक्कीसवीं दैवी सम्पत्ति है। शंकराचार्य ने इसका अर्थ दीप्ति, प्रकाश, प्रगल्भता और चैतन्यात्मक ज्योति बताया है। (आचार्य शंकर, गीता भाष्य) तेज की विभिन्न अवधारणाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **तद्रेतस्तदेव शुक्रम्**—वह तेजस् ही रेतस् और शुक्र अर्थात् वीर्य है।

(२) **तेजोऽग्निः**—अग्नि पाँच तत्त्वों में से एक है। ऋग्वेद के २०० सूक्त इन्हें समर्पित हैं।

(३) **तेजः सूर्यः**—वह तेज सूर्य रूप है। गायत्री मन्त्र में इसी सवितादेव के वरेण्य तेज की आराधना की जाती है। यह तेजोराशि व विश्व का पति है।

(४) **तेजश्चन्द्रः**—चन्द्रमा भी तेजस् का रूप है।

(५) **तेजोराशि-समुद्भवा दुर्गा**—भगवती दुर्गा तेजस् का रूप हैं। ये भगवती दुर्गा अग्निवर्णा और दीप्तिमती हैं। वे रुद्र, वसु, इन्द्र, अग्नि और युगल अश्विनी कुमार हैं। जो उन्हें इस प्रकार शक्तिशाली जानता है, वही दैवी सम्पत्तियों को प्राप्त करता है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि।
अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ।
य एवं वेद स दैवी सम्पदमाप्नोति —श्री देव्यथर्वशीषम्—दुर्गासप्तशती।

(६) **तेजो ब्रह्म**—तेजस् ब्रह्म है, इसलिए ऋषि कहते हैं—तेजोऽसि तेजो मयि धेहि—हे परमात्मा, तू तेजोरूप है, मुझमें तेजस् का संचार कर।

महाभारत में कहा गया है—दमस्तेजो वर्धयति—दम तेज को बढ़ाता है और तेजो दमेनध्रियते—तेज की धारणा करने वाला दम है।[४८] ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, आर्जव, ह्री, क्षमा, शौच, आचार-संशुद्धि और इन्द्रियों के निग्रह से तेज बढ़ता है और इनके अभाव में पापी का पतन होता है—

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः॥
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति।[४९]

तेज का विस्तार बिना तप के नहीं होता और बिना तेज के रूप का भी अस्तित्व नहीं हो सकता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर तेजस्विता के प्रतिरोधक तत्त्व हैं। तेजस् की दैवी सम्पदा ज्ञान,

कर्म तथा भक्ति का त्रिवेणी-संगम है।

बाइसवीं दैवी सम्पत्ति क्षमा है। धर्म के दस लक्षणों में इसका समावेश है। शंकर के अनुसार क्षमा वह भाव है, जिसमें कोई व्यक्ति अपमानित करे, गाली दे या मारे; फिर भी उसके प्रति मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, व्यवहार में परिवर्तन न आये।[५०] यह क्रोध का प्रतिबन्धक है। क्षमा एक आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक मूल्य है। बिना क्षमा के समाज नहीं चल सकता। इससे समाज का धारण होता है। क्षमाशील होना मनुष्य का मूलभूत गुण है। क्षमा सात्त्विक भाव है। विनम्रता एवं मृदुता इसकी सहचरी है। महाभारत में कहा गया है कि क्षमा तेजस्वियों का तेज और तपस्वियों का ब्रह्म है। वह सत्यव्रतियों का सत्य, याज्ञिकों का यज्ञ तथा योगियों का शम है—

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम।
क्षमा सत्यवतां सत्यं क्षमा यज्ञः क्षमा शमः॥[५१]

क्षमा वीर का आभूषण है—क्षमा वीरस्य भूषणम्। क्षमा वशीकरण मन्त्र है। उससे क्या सिद्ध नहीं होता। क्षमा से उर्ध्वगति एवं ब्रह्म के समान लोकों की प्राप्ति होती है।

धृति या धैर्य तेईसवीं दैवी सम्पत्ति है। इसका अर्थ है, जिससे धारण किया जाए—ध्रियते धार्यते वा अनया इति धृतिः। आचार्य शंकर के अनुसार देह और इन्द्रियों का अवसाद प्राप्त होने पर उसका प्रतिषेध करने वाली अन्तःकरण की वृत्तिविशेष धृति है, जिससे उत्तेजित इन्द्रियाँ और देह खिन्न नहीं होती—

धृतिः देहेन्द्रियेषु अवसादं प्राप्तेषु तस्य प्रतिषेधकः अन्तःकरणवृत्तिविशेषो येन उत्तम्भितानि कारणानि देहश्च न अवसीदन्तु।[५२]

गीता के अनुसार किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में विचलित न होकर अपनी प्रकृत स्थिति में कायम रहने की शक्ति का नाम धृति है।[५३]

गीता में आश्रय भेद से इसके तीन रूप निरूपित हैं—

(१) **सात्त्विकी धृति**—वह शुद्ध धृति जिसके द्वारा मन, प्राण व इन्द्रियों की क्रियाएँ योगपूर्वक धारण की जाती हैं।

(२) **राजसी धृति**—जिसके द्वारा धर्म, काम एवं अर्थ की धारणा होती है। प्रसंग से ही फल की आकांक्षा होती है।

(३) **तामसी धृति**—जिससे स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद की दुष्ट बुद्धि नहीं छोड़ती।

गीता में कहा गया है कि यह योग धृतिगृहीता बुद्धि से साध्य होती है। (गीता, ६/२५) धृति के बिना योग की साधना असम्भव है, तो बिना योग के धृति की धारणा भी कठिन है—'योगेन धारयते'।[५५] महाभारत में कहा गया है कि जो बुद्धिमान अपना कल्याण चाहता है, उसे धैर्य धारण करना चाहिए—

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम्।
तां भजेत् सदा प्राज्ञो य इच्छेद भूतिमानसः॥[५८]

गीता के अनुसार शौच चौबीसवीं दैवी सम्पत्ति है। दैवी प्रकृति के व्यक्ति इसके स्वामी होते हैं। ऐसा कोई धर्म, सम्प्रदाय, पन्थ या समाज नहीं जिसमें शौच की अवधारणा न हो। गीता के तेरहवें अध्याय

में इसे ज्ञान कहा गया है क्योंकि यह ज्ञानसाधना का एक अंग है। शुचि का भाव शौच है—शुचेर्भाव: शौचम्। स्वच्छता, निर्मलता, शुद्धता, पवित्रता, निष्कलुशता और निष्पापता जैसे शब्द इसके आशय को स्पष्ट करते हैं। पतञ्जलि ने अपने योग दर्शन में शौच को योग के आठ अंगों में से द्वितीय अंग 'नियम' के अन्तर्गत रखा है। यहाँ शौच बाह्यशुद्धि अर्थात् शारीरिक शुद्धि जैसे स्नान और पवित्र भोजन के द्वारा तथा आभ्यन्तर शुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता आदि के द्वारा है। मनु ने उसी को शुद्ध माना है, जिसकी आजीविका के साधन पवित्र हों—योऽर्थ शुचि: स शुचि:। शौच के विषय में गीता का अभिमत शास्त्र सम्मत है। शास्त्रों में शुचि के विधि निषेधात्मक पक्षों का विवेचन तथा अशुद्धि से शुद्धि के उपायों का निरूपण है।

परमात्मा के नाम का स्मरणमात्र जीव को भीतर और बाहर दोनों ओर पवित्र कर देता है, भले वह पवित्र हो या अपवित्र, अथवा किसी भी दशा में क्यों न हो।

अपवित्र: पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
य: स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तर: शुचि:॥[५७]

अद्रोह अर्थात् किसी से द्रोह, द्वेष या शत्रुता न करना दैवी गुण है। गीता की दैवी सम्पदाओं में इसकी गणना है। यह अहिंसा का भाव है। इसमें किसी दूसरे को किसी भी प्रकार से चोट या क्षति पहुँचाने का भाव नहीं होता—अद्रोह: परजिघांसाभाव: अहिंसनम्। (शांकर भाष्य) द्रोह क्रोध का स्थायी भाव है, जब किसी के प्रति हमारा क्रोध स्थायी हो जाता है और अवसर पाते ही मन प्रतिशोध को उद्धत रहता है, तब हमारा वह भाव द्रोह कहलाता है। द्रोह में अपकार का भाव होता है—द्रोहोऽपकार:।

द्रोह का पर्याय द्वेष है। मनुष्य द्वेष क्यों करता है? क्योंकि उसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का निवास है। जब कोई व्यक्ति कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा करता है, उसमें किसी के बाधक बनने की आकांक्षा होती है, तो उसके प्रति वह द्वेष करता है।

युद्ध की प्रेरणा देने पर भी गीता का मूलस्वर अद्रोह है। गीता कहती है कि समता के अंकुश से उस पर नियन्त्रण हो सकता है। जिनका मन साम्य में स्थित है, वे किसी से द्वेष नहीं करते। जो परमात्म-भाव को प्राप्त हो गया, वह 'समभाव' में स्थित है। महाभारत में कहा गया है कि जिसने मन, वाणी तथा कर्म से द्रोह का परित्याग कर दिया है, वही शीलवान है और समस्त जीवों के प्रति मैत्री एवं करुणापूर्ण व्यवहार ही शील है—

अद्रोह: सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते॥[५८]

नातिमानिता-गीतोक्त दैवी सम्पदाओं में अन्तिम सम्पदा है। आचार्य शंकर ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—''अत्यन्त मान का नाम अतिमान है और वह जिसमें हो, वह अतिमानी है; उसका भाव अतिमानिता है, उसका अभाव नातिमानिता है अर्थात् अपने में अतिशय पूज्य-भावना का न होना—अत्यर्थं मान: अतिमान:, स यस्य विधते स: अतिमानी, तद्भाव: अतिमानिता, तदभावो नातिमानिता, आत्मन: पूज्यतातिशय—भावनाभाव इत्यर्थ:।[५९]

अतिमान, अभिमान और अहंकार—प्राय: समान भाव की व्यंजना करते हैं। अतिमान-अहंकार-दर्पादि आसुरी भाव मोह या अज्ञान के कारण होते हैं और अज्ञान वा मोह असत् हैं, अत: अतिमान आदि भी असत् है। अनासक्ति, निर्ममत्व, संन्यास या वैराग्य के शस्त्र से ही मान, मोह एवं अहंकार के कल्पित वृक्ष का उन्मूलन होता है। जब आसक्ति-अनुरक्ति का केन्द्र सीमित 'स्व' होता है तब अहंकार आदि वृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। जब हमारी अनुरक्ति का प्रवाह विश्वातीत ब्रह्म की ओर होने लगता है, तब उसे भक्ति का रूप मिल जाता है और जब वही अनुरक्ति विश्वोन्मुखी होती है, विराट् स्व को केन्द्र मानती है तब वह महापुरुषों की करुणा का रूप धारण कर लेती है। गीता में कहा गया है कि मान-अहंकार की जो वृत्तियाँ हैं, जिनमें अन्धकाराच्छन्न द्वारों से मनुष्य को नरक में जाना पड़ता है, उनसे मुक्त होकर आत्मकल्याण हेतु दैवी वृत्तियों का आचरण करता है, वह परमगति—परमकल्याण को प्राप्त करता है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥[६०]

उल्लेखनीय है कि यदि दैवी सम्पदाओं में अमानित्व अन्तिम सम्पदा है, तो ज्ञान प्राप्ति के साधनों में यह प्रथम साधन है क्योंकि ज्ञान की साधना, विनम्रता एवं विनयशीलता के बिना सम्भव नहीं है।

वर्तमान समय में भी जीवन के कुरुक्षेत्र में खड़ा मानव रूपी अर्जुन समस्या रूपी कौरवों से घिरा है। उनसे जूझने का साहस उसमें नहीं है। वह पूर्णत: टूटकर क्लीव बन चुका है, विषाद में डूबा है, मोह में आसक्त है, अहंकार से ग्रस्त एवं अनिश्चय से परिवृत्त है, तथापि मिथ्यावाद का कवच पहने हुए है। वह जीवन की सच्चाई से पलायन करने को आमादा है। आज मानव आत्मघाती प्रयत्नों में जुटा है और असुरत्व की निम्नाभिमुखी धारा में शववत् प्रवाहित है। इस स्थिति में गीता रूपी अचूक औषधि-मन्त्र-सम्बल या शक्ति ही उसे इस भीषण संकट से उबारने में सक्षम है। वही इसे जीवन संघर्ष के लिए पौरुष दे सकती है, उसके विषाद-हताशा को योग के रसायन में रूपान्तरित कर उसमें जिजीविषा के अपराजेय विश्वास का संचार कर सकती है जिससे वह उन समस्यारूपी कौरवों पर विजय प्राप्त कर आजीवन परमसुख-ब्राह्मीभाव का आस्वाद कर सकता है। गीता मोह व आसक्ति से उत्पन्न असन्तुलन के विपरीत अन्त:करण की शुद्धता और साधनों की शुचिता के साथ कर्तव्य की प्रेरणा देती है। आज के परम भौतिकवादी युग में इसकी प्रासंगिकता महाभारत काल से अधिक है।

सन्दर्भ :

१. श्रीमद्भगवद्गीता, १६/३
२. श्रीमद्भगवद्गीता, ८/२३-२७
३. श्रीमद्भगवद्गीता, १६/४-५
४. श्रीमद्भगवद्गीता, १६/२१-२२
५. श्रीमद्भगवद्गीता, ६/२९-३०
६. अथर्ववेद, १२/१५/१
७. श्रीमद्भगवद्गीता, १७/७-१०

८. छान्दोग्योपनिषद्, ७/२६/२१
९. श्रीमद्भगवद्गीता, ६/२५
१०. श्रीमद्भगवद्गीता, २/२७-२८
११. श्रीमद्भगवद्गीता, ५/१०-११
१२. श्रीमद्भगवद्गीता, ९/३
१३. श्रीमद्भगवद्गीता, ११/५४
१४. श्रीमद्भगवद्गीता, १४/२०-२६
१५. श्रीमद्भागवत, ११/१४/१८
१६. श्रीमद्भागवत, १४/१४/१९
१७. श्रीमद्भगवद्गीता, ४/३६
१८. श्रीमद्भगवद्गीता, ४/३८
१९. श्रीमद्भगवद्गीता, ४/३९
२०. श्रीमद्भगवद्गीता, १७/२०-२२
२१. श्रीमद्भगवद्गीता, १७/२१
२२. श्रीमद्भगवद्गीता, १७/२२
२३. श्रीमद्भगवद्गीता, १८/४२
२४. श्रीमद्भगवद्गीता, १०/२५
२५. श्रीमद्भगवद्गीता, १७/११-१३
२६. श्रीमद्भगवद्गीता, ४/२८
२७. श्रीमद्भगवद्गीता, ६/१०-१५
२८. श्रीमद्भगवद्गीता, १७/१४-१९
२९. श्रीमद्भगवद्गीता, १७/२७-२८, १५/५-६ तथा ५/२९
३०. श्रीमद्भगवद्गीता, १४/१७
३१. श्रीमद्भगवद्गीता, २/३१
३२. महाभारत शान्तिपर्व, अ २५९
३३. श्रीमद्भगवद्गीता, २/६२
३४. श्रीमद्भगवद्गीता, २/६३
३५. श्रीमद्भगवद्गीता, १८/२
३६. श्रीमद्भगवद्गीता, २/६६
३७. श्रीमद्भगवद्गीता, २/७१
३८. श्रीमद्भगवद्गीता, २/७०
३९. श्रीमद्भगवद्गीता, १२/१२
४०. श्रीमद्भगवद्गीता, ५/२
४१. श्रीमद्भगवद्गीता, ४/३९
४२. श्रीमद्भगवद्गीता, ५/२९
४३. श्रीमद्भगवद्गीता, ९/३०-३१
४४. श्रीमद्भगवद्गीता, १४/१२; १४/१७

४५. श्रीमद्भगवद्गीता, १६/२१
४६. श्रीमद्भगवद्गीता, १६/२३
४७. महाभारत शान्तिपर्व, १६/१५
४८. महाभारत शान्तिपर्व, २२०.४ तथा ६
४९. महाभारत शान्तिपर्व, २४०, १०-११
५०. गीता अध्याय १६, श्लोक ३ पर आचार्य शंकर का भाष्य
५१. महाभारत शान्तिपर्व, २५/३६
५२. भगवद्गीता शांकर भाष्यम्, १६/३
५३. श्रीमद्भगवद्गीता, १८/३३
५४. श्रीमद्भगवद्गीता, १८/३३-३५
५५. श्रीमद्भगवद्गीता, १८/३३
५६. महाभारत शान्तिपर्व, १६२/१२
५७. वायु पुराण, ३३.६
५८. महाभारत शान्तिपर्व, १२४/६६
५९. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १६, श्लोक ३ पर शांकर भाष्य
६०. श्रीमद्भगवद्गीता, १६/२७

□

जैन दर्शन

—डॉ. रामप्रीत मिश्र

जैन शब्द 'जिन्' शब्द से बना है। 'जिन्' शब्द का अर्थ है 'विजेता' या जीतने वाला अर्थात् राग-द्वेष आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला मुक्त पुरुष जिसे 'वीतराग' भी कहते हैं। 'जिनों' द्वारा उपदिष्ट धर्म को ही जैन धर्म कहते हैं। जैन अपने धर्म प्रचारक सिद्धों को 'तीर्थंकर' कहते हैं और इनकी संख्या चौबीस बताते हैं। ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं। भागवत पुराण में ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन है, किन्तु यह कहना कठिन है कि ये ऋषभदेव जैन तीर्थंकर ही हैं या उनसे भिन्न व्यक्ति। इसके अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों के नाम निम्नलिखित हैं—अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुब्रत, नेमिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, वर्द्धमान महावीर।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का काल निर्धारण कठिन है। यह कहना भी कठिन है कि प्रारम्भ के बाईस तीर्थंकर ऐतिहासिक व्यक्ति थे या नहीं, किन्तु इनमें से कुछ तीर्थंकरों के ऐतिहासिक होने की सम्भावना है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ निःसन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति थे जो आठवीं या नवीं शती ई.पू. में हुए थे। अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं है। ये छठीं शती ई.पू. में हुए और ये महात्मा बुद्ध के समकालीन थे तथा उनसे आयु में काफी बड़े थे। राग-द्वेष आदि पर विजय प्राप्त करने के कारण ये वीतराग एवं महावीर हैं।

जैन ईश्वर को नहीं मानते हैं। वे तीर्थंकरों की ही उपासना करते हैं। तीर्थंकर का अर्थ है मोक्ष मार्ग का संस्थापक। तीर्थंकर मुक्त होते हैं। मोक्ष पाने के पूर्व ये भी बन्धन में थे, किन्तु साधना के द्वारा ये मुक्त, सिद्ध, सर्वज्ञ हो गये हैं। जैनों का यह विश्वास है कि बन्धनग्रस्त सभी जीव जिनों के दिखलाए मार्ग पर चल सकते हैं और उनकी तरह पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति तथा पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। तीर्थंकरों के द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि प्रत्येक जीव अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

जैन साहित्य—जैन दर्शन का साहित्य अत्यन्त ही समृद्ध है, परन्तु यह अधिकांश प्राकृत भाषा में

ही है। आगे चलकर अन्य दर्शनों ने जब जैन मत की आलोचना की तब जैनों ने अपने मत संरक्षण के लिए संस्कृत भाषा को अपनाया। इस प्रकार संस्कृत में भी जैन साहित्य का विकास हुआ है। प्राचीनतम जैन धर्मग्रन्थों में चतुर्दशपूर्व एकादश अंग गिनाये जाते हैं। लेकिन पूर्व ग्रन्थ इस समय लुप्त हो गये हैं। उसके बाद उपांग प्रकीर्ण, सूत्र आदि अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये हैं। संस्कृत में उमास्वामी का तत्त्वार्थ अधिगम सूत्र जैन दर्शन का सर्वाधिक लोकप्रिय आगम है। दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस पर भाष्य लिखा है। सिद्धसेन दिवाकर का 'न्यायावतार', हरिभद्रकृत 'षड्दर्शन समुच्चय', कुन्दकुन्दाचार्यकृत 'पञ्चास्तिकायसार', विद्यानन्दकृत 'जैनश्लोकवार्तिक', नेमिचन्द्रकृत 'द्रव्य संग्रह', मल्लिसेनकृत 'स्यादवादमंजरी' आदि जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

जैन दर्शन के दो सम्प्रदाय—कालान्तर में जैनों के दो सम्प्रदाय हो गये—(१) श्वेताम्बर और (२) दिगम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का नेतृत्व स्थूलभद्र एवं दिगम्बर सम्प्रदाय का नेतृत्व भद्रवाहु ने किया। इन सम्प्रदायों में मूल सिद्धान्तों का भेद नहीं है, बल्कि भेद आचार-विचार सम्बन्धी कुछ गौण बातों को लेकर है। दोनों ही सम्प्रदायों के लोग तीर्थंकरों के उपदेशों को अवश्य मानते हैं, किन्तु श्वेताम्बर की अपेक्षा दिगम्बर में अधिक कट्टरता पायी जाती है। यहाँ तक कि दिगम्बर संन्यासी वस्त्रों को भी नहीं धारण करते किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। दिगम्बर के अनुसार पूर्णज्ञानी महात्माओं को भोजन करने की भी आवश्यकता नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि स्त्रियाँ जब तक पुरुष रूप में जन्म न ग्रहण कर लें तब तक उन्हें मुक्ति नहीं मिल सकती, किन्तु श्वेताम्बर इन विचारों को नहीं मानते। श्वेताम्बर उदारवादी प्रवृत्ति के हैं एवं दिगम्बर कट्टर प्रवृत्ति के हैं।

जैन दर्शन का ज्ञान सम्बन्धी विचार—जैन दर्शन में ज्ञान के दो भेद माने गये हैं—प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान एवं केवल ज्ञान। परोक्ष ज्ञान के दो भेद हैं—मति ज्ञान एवं श्रुत ज्ञान। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जैन दर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का भेद जैनेतर दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शनों में यह भेद निर्विकल्प एवं सविकल्प के आधार पर किया गया है; प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्विकल्प एवं परोक्ष ज्ञान को सविकल्प माना गया है। जो ज्ञान आत्म सापेक्ष है अर्थात् जिस ज्ञान को आत्मा स्वयं जानता है और जिसके लिए आत्मा को इन्द्रिय या मनरूपी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती उस ज्ञान को जैन दर्शन प्रत्यक्ष ज्ञान मानता है; तथा जिस ज्ञान के लिए आत्मा को इन्द्रिय या मन या दोनों की आवश्यकता होती है वह परोक्ष ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं—अवधि ज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान एवं केवल ज्ञान।

अवधिज्ञान—जब मनुष्य अपने कर्म को अंशतः नष्ट कर लेता है तो वह एक ऐसी शक्ति प्राप्त करता है जिसके द्वारा वह अत्यन्त दूर स्थित, सूक्ष्म तथा अस्पष्ट द्रव्यों को भी ज़ान सकता है। इसके द्वारा सीमित वस्तुओं का ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। अतः ऐसे ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते हैं।

मनः पर्याय ज्ञान—जब मनुष्य राग-द्वेष आदि मानसिक बाधाओं पर विजय पाता है, तब यह अन्य व्यक्तियों के वर्तमान तथा भूत विचारों को जान सकता है। ऐसे ज्ञान को मनः पर्याय कहते हैं, क्योंकि इससे दूसरे के मन में प्रवेश हो सकता है।

केवल ज्ञान—जब आत्मा के सभी आवरणीय कर्मों का आत्यन्तिक नाश कर दिया जाता है तब आत्मा अपने शुद्ध सर्वज्ञ रूप में प्रकाशित होता है। इसे केवल ज्ञान कहते हैं। परोक्ष ज्ञान के दो भेद होते हैं—मतिज्ञान एवं श्रुत ज्ञान।

मति ज्ञान—मतिज्ञान उसे कहते हैं जो इन्द्रिय तथा मन के द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार मति के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान सभी आ जाते हैं।

श्रुत ज्ञान—श्रुत ज्ञान शब्द ज्ञान को कहते हैं। सर्वज्ञ तीर्थंकरों के उपदेश सर्वश्रेष्ठ श्रुत ज्ञान हैं। साधारणत: जैन दर्शन भी अन्य दर्शनों की भाँति तीन ही प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

स्याद्वाद—यह जैन दर्शन का सर्वाधिक विलक्षण सिद्धान्त है। स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है। 'स्यात्' पद का सामान्य अर्थ सम्भवत: या शायद है, जिसमें सन्देह झलकता है। किन्तु जैन दर्शन में 'स्यात्' पद का अर्थ सन्देह नहीं है। जैन दर्शन में 'स्यात्' पद का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है, जो ज्ञान की सापेक्षता का सूचक है। अत: 'स्यात्' का अर्थ 'सापेक्षतया' करना उचित होगा।

वस्तुओं के सम्बन्ध में हमारे जो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष या परोक्ष ज्ञान हैं उनसे यह स्पष्ट है कि उनके अनेक धर्म होते हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं—'अनन्त धर्मकं वस्तु'[१]। केवली केवल ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अनन्त धर्मों का प्रत्यक्ष ज्ञान पाता है। किन्तु साधारण मनुष्य किसी वस्तु को किसी समय एक ही दृष्टि से देख सकता है। इसलिए वह उस वस्तु का एक ही धर्म जान सकता है। वस्तुओं के इस आंशिक ज्ञान को जैन दार्शनिक 'नय'[२] की संज्ञा देते हैं। इस आंशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श होता है उसे भी 'नय'[३] कहते हैं।

किसी भी विषय के सम्बन्ध में हमारा जो परामर्श होता है वह सभी दृष्टियों से सत्य नहीं होता। उसकी सत्यता उसके 'नय' पर निर्भर करती है। 'नय' का अर्थ है आंशिक दृष्टिकोण। अर्थात् जिस दृष्टि तथा विचार से किसी विषय का परामर्श होता है, उसकी सत्यता उसी दृष्टि तथा उसी विचार पर निर्भर करती है। हमारे मतभेद का कारण यह है कि हम उपर्युक्त सिद्धान्त को भूल जाते हैं और अपने विचारों को सर्वथा सत्य मानने लगते हैं। उदाहरण के लिए कुछ अन्धे हाथी का आकार जानना चाहते हैं। कोई उसका पैर पकड़ता है तो कहता है हाथी खम्भे के आकार का है; कोई सूँड़ को पकड़ता है तो कहता है कि हाथी शाखा के आकार का है; कोई पूँछ पकड़ता है तो कहता है कि हाथी रस्सी के आकार का है; कोई कान पकड़ता है तो कहता है कि हाथी सूप के आकार का है। इसका परिणाम यह होता है कि उन अन्धों में हाथी के आकार के सम्बन्ध में मतभेद हो जाता है। प्रत्येक अन्धा सोचता है कि उसी का ज्ञान ठीक है। जैसे ही उन्हें यह विश्वास दिलाया जाता है कि प्रत्येक ने हाथी का एक-एक अंग ही स्पर्श किया है, उनका मतभेद दूर जो जाता है। दार्शनिकों के बीच भी मतभेद इसीलिए होता है कि वे किसी विषय को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखते हैं। दृष्टि साम्य होने पर मतभेद की सम्भावना नहीं रह जाती।

भिन्न-भिन्न दर्शनों में संसार के भिन्न-भिन्न वर्णन मिलते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें एक दृष्टि नहीं हैं। दृष्टिभेद के कारण उनमें मतभेद पाया जाता है; किन्तु कोई दर्शन यह नहीं सोचता कि उसका विचार किसी दृष्टि विशेष पर ही निर्भर करता है। हो सकता है अन्य दृष्टि से उसका मत तर्क संगत न हो।

ऊपर दिये हाथी एवं अन्धों के दृष्टांत में प्रत्येक अन्धे का हाथी सम्बन्धी ज्ञान उसकी दृष्टि से बिल्कुल ठीक है। उसी तरह भिन्न-भिन्न दार्शनिक मत अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हो सकते हैं।

अत: जैन दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक 'नय' के प्रारम्भ में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। स्यात् शब्द इस बात का सूचक है कि उसके साथ प्रयुक्त वाक्य की सत्यता प्रसंग विशेष पर ही निर्भर करती है। अन्य प्रसंगों में वह मिथ्या भी हो सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में यह कहना ठीक नहीं है कि हाथी एक खम्भे के आकार का होता है। किन्तु हम यह कह सकते हैं कि स्यात् हाथी खम्भे के आकार का होता है। इसके अतिरिक्त इस उक्ति में स्यात् शब्द से यह बोध होता है कि किसी विशेष दृष्टि से अर्थात् पैरों की दृष्टि से हाथी खम्भे के आकार का है। इस तरह हम देखते हैं कि विचार को त्रुटिरहित रखने के लिए 'स्यात्' का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। घर के अन्दर किसी लाल रंग के घड़े को देखकर हमें यह नहीं कहना चाहिए कि 'घड़ा' लाल है। बल्कि यह कहना चाहिए कि स्यात् घड़ा लाल है। स्यात् से इस बात का ज्ञान होगा कि घड़े का रंग वर्तमान समय में लाल है। अर्थात् किसी विशेष रूप रंग का घड़ा वर्तमान समय में लाल है।

जैन दार्शनिकों का यह मत स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद का अर्थ यह है कि साधारण बुद्धिवाला मनुष्य किसी विषय में जो भी परामर्श करता है वह एकदेशीय होता है। अर्थात् उस परामर्श की सत्यता उसी प्रसंग के अनुसार होती है जिसके साथ उसकी कल्पना हुई रहती है।

कुछ पाश्चात्य तार्किकों के विचारों के साथ भी स्याद्वाद की बड़ी समानता है। ये तार्किक भी कहते हैं कि प्रत्येक विचार का अपना-अपना प्रसंग होता है। उसे हम विचार प्रसंग कह सकते हैं। विचारों की सार्थकता उनके विचार प्रसंगों पर ही निर्भर होती है। विचार प्रसंग में स्थान, काल, दशा, गुण आदि अनेक तार्किक बातें सम्मिलित रहती हैं। शिलर जैसे आधुनिक तार्किक ऐसे विचार से सहमति रखते हैं।

स्याद्वाद सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि कितनी उदार है। जैन अन्य दार्शनिक विचारों को नगण्य नहीं समझते, बल्कि अन्य दृष्टियों से उन्हें भी सत्य मानते हैं, वे किसी दर्शन की इस हठोक्ति को नहीं मानते कि केवल उसी के विचार सत्य हैं।

सप्तभंगी नय—सामान्यत: पाश्चात्य दर्शन में परामर्श के दो भेद किये जाते हैं—भावात्मक एवं निषेधात्मक। किन्तु जैन दर्शन में परामर्श के सात भेद किये जाते हैं। पाश्चात्य दर्शन के परामर्श के दोनों भेद भी इसमें समाहित हैं। अत: जैन दार्शनिक सात प्रकार के नय का 'सप्तभंगी नय' नामक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

(१) स्यात् अस्ति—यह भावात्मक नयों का सामान्य रूप है। उदाहरण के लिए 'स्यात् कलम लाल है।' इसका अर्थ यह है कि कलम किसी विशेष स्थान, समय में लाल है।

(२) स्यात् नास्ति—यह साधारण निषेधात्मक वाक्य है। उदाहरण के लिए 'स्यात् कलम लाल नहीं है।' इससे यह पता चलता है किसी विशेष स्थान एवं समय में कलम लाल नहीं हैं।

(३) स्यात् अस्ति च नास्ति च—यह भावात्मक एवं निषेधात्मक दोनो नयों का संयुक्त रूप है। इस प्रकार के नय से पता चलता है कि एक दृष्टिकोण से किसी वस्तु का अस्तित्व है और दूसरे दृष्टिकोण से उसका अस्तित्व नहीं है। उदाहरण के लिए 'स्यात् कलम लाल है और लाल नहीं भी है।' इससे स्पष्ट

होता है कि किसी विशेष परिस्थिति में समय और स्थान के दृष्टिकोण से कलम लाल है और अन्य दृष्टिकोण से यह लाल नहीं है। इस वाक्य में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। एक महिला विभिन्न दृष्टिकोणों से माता, बहन, पत्नी है।

(४) स्यात् अवक्तव्यम्—किसी वस्तु में जब परस्पर विरोधी गुण दिखाई पड़ते हैं तो उसे स्यात् अवक्तव्यम् कहा जाता है। उदाहरण के लिए कलम लाल, पीली, काली आदि रंगों की होती है। अब यदि कलम का रंग सभी कालों एवं स्थानों के दृष्टिकोण से एक साथ पूछा जाए तो इसे स्यात् अवक्तव्यम् कहा जा सकता है।

(५) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च—प्रथम एवं चतुर्थ नयों को क्रमशः जोड़ देने से पाँचवाँ नय बनता है। उदाहरण के लिए किसी विशेष दृष्टि से हम कलम को लाल कह सकते हैं। किन्तु जब दृष्टि का निर्देशन हो तो कलम के रंग का वर्णन करना असम्भव हो जाता है।

(६) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च—दूसरे एवं चौथे नयों को क्रमशः जोड़ देने से छठाँ नय बनता है। यह स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च है।

(७) स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च—तीसरे एवं चौथे नयों को क्रमशः जोड़ देने से सातवाँ नय बन जाता है। यह 'स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च' हो जाता है।

जैन दर्शन के स्याद्वाद की तुलना पाश्चात्य दार्शनिकों के व्यवहारवाद के साथ की जाती है। यह सत्य है कि शिलर जैसे व्यवहारवादी मानते हैं कि यदि प्रसंग एवं उद्देश्य को ध्यान में न रखा जाए तो कोई भी परामर्श सत्य झूठ सिद्ध नहीं हो सकता। जैन स्याद्वाद वस्तुवादी है।

जैन स्याद्वाद की तुलना कभी-कभी पाश्चात्य सापेक्षवाद से भी की जाती है। सापेक्षवाद दो प्रकार का होता है—विज्ञानवादी एवं वस्तुवादी। विज्ञानवादी सापेक्षवाद के प्रवर्तक प्रोटागोरस, बर्कले तथा शिलर आदि हैं। वस्तुवादी सापेक्षवाद के समर्थक ह्वाइट हेड, बोदाँ आदि हैं। जैन मत को यदि सापेक्षवाद माना जाए तो वह वस्तुवादी सापेक्षवाद होगा। क्योंकि जैन दार्शनिक मानते हैं कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है, फिर भी यह केवल मन पर निर्भर नहीं है बल्कि वस्तुओं के धर्मों पर भी निर्भर हैं—

आलोचना—स्याद्वाद के प्रधान आलोचकों में, बौद्ध, मीमांसक अद्वैत वेदान्ती दार्शनिकों को जाना जाता है। स्याद्वाद के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप किये गये हैं—

१. आचार्य शंकर ने स्याद्वाद को संशयवाद एवं अनिश्चिततावाद की संज्ञा दी है। इसे कभी-कभी अज्ञेयवाद भी कहा जाता है। वस्तुतः जैन दर्शन पर ये आरोप 'स्यात्' शब्द के शाब्दिक अर्थ के आधार पर लगाये जाते हैं किन्तु स्याद्वाद संशयवाद, अज्ञेयवाद नहीं है। जैन दर्शन में स्यात् शब्द ज्ञान की सापेक्षता की ओर संकेत करता है।

२. आलोचक स्याद्वाद के सप्तभंगी नय के तृतीय नय को आत्मविरोधी घोषित करते हैं। इनके अनुसार कोई वस्तु एक साथ 'है' और 'नही है' कैसे हो सकती है? धर्मकीर्ति का कथन है कि 'ये निर्लज्ज जैन दार्शनिक, पागल मनुष्य के समान परस्पर विरोधी कथन करते हैं।'

शंकराचार्य के अनुसार 'स्याद्वाद जो कि यथार्थ-अयथार्थ, अस्तित्व-अनस्तित्व, एक-अनेक, सामान्य-

विशेष आदि का मिश्रण करता है, पागल व्यक्ति के क्रन्दन एवं उन्मत्त के प्रलाप के समान प्रतीत होता है।' रामानुज कहते हैं कि भाव एवं अभाव परस्पर विरोधी गुण हैं। वे किसी वस्तु में उसी प्रकार एक साथ नहीं रह सकते जिस प्रकार प्रकाश एवं अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते। किन्तु जैनी इसके उत्तर में कहते हैं कि हम ऐसा नहीं कहते। हमारा तो केवल यही कहना है कि वस्तु के अनन्त धर्मों में कोई विरोध नहीं दिखाई देता। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु में एकता, नित्यता आदि का विधान किया जा सकता है तो पर्याय की दृष्टि से अनेकता और अनित्यता आदि का। अत: स्याद्वाद में कोई विरोध नहीं है।

३. सप्तभंगी नय की परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि उसके अन्तिम तीन नय, अनावश्यक एवं व्यर्थ हैं। कुमारिल के अनुसार इस आधार पर सात ही क्यों, सैकड़ों नय बनाए जा सकते हैं।

४. जैन दर्शन के अनुसार हमारे सभी ज्ञान सापेक्ष एवं आंशिक हैं। वे निरपेक्ष ज्ञान को अस्वीकार करते हैं। किन्तु निरपेक्ष को स्वीकार किये बिना सापेक्ष की अवधारणा को स्वीकार करना असम्भव है। पुन: जैन दार्शनिक केवल ज्ञान को पूर्ण शुद्ध परमार्थ ज्ञान मानते हैं। यद्यपि जैन दार्शनिक स्वयं इसके लिए 'निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग नहीं करते, तथापि यह न चाहते हुए भी निरपेक्ष तत्त्व की स्वीकृति है।

जैन दर्शन का तत्त्व सम्बन्धी विचार

अनेकान्तवाद—जैन तत्त्वमीमांसा वस्तुवादी एवं सापेक्षतावादी बहुतत्त्ववाद है। इसे अनेकान्तवाद कहते हैं। इस शब्द में 'अन्त' पद का अर्थ वस्तु और धर्म दोनों है, अर्थात् इस लोक में अनेक वस्तुएँ हैं और इनमें से प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म हैं। तत्त्व को अनन्त धर्मात्मक माना गया है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं।[४] जैन दर्शन के अनुसार धर्म धर्मी में पाया जाता है। धर्मी को द्रव्य कहा जाता है। प्रत्येक द्रव्य के दो प्रकार के धर्म होते हैं—स्वरूप धर्म या नित्य धर्म तथा आगंतुक या परिवर्तनशील धर्म। स्वरूप धर्म वे हैं जो द्रव्य में सदैव विद्यमान रहते हैं। ऐसे धर्मों के बिना द्रव्य का अस्तित्व ही असम्भव है। उदाहरण के लिए चैतन्य आत्मा का स्वरूप धर्म है। आगन्तुक धर्म द्रव्य में सदैव विद्यमान नहीं रहते। वे आते-जाते रहते हैं। इच्छा, संकल्प, सुख-दु:ख—ये आत्मा के आगंतुक धर्म हैं। इन्हीं धर्मों से द्रव्य का परिवर्तन होता है। जैन दार्शनिक स्वरूप धर्मों को 'गुण' एवं आगन्तुक धर्मों को पर्याय कहते हैं। गुण अपरिवर्तनशील एवं पर्याय अपरिविर्तनशील होते हैं। इस प्रकार द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—'द्रव्य वह है जिसमें गुण एवं पर्याय हों।[५] तत्त्व में एकता और अनेकता नित्यता, अनित्यता दोनों साथ-साथ रहती हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि द्रव्य दृष्टि से अनेकता, अनित्यता सिद्ध होती है।[६] इस प्रकार जैन धर्म एवं दर्शन में वैदिक दर्शन की एकता, नित्यता, विभुता तथा हीनयान बौद्ध धर्म की अनेकता, अनित्यता विशेषता का समावेश हुआ है। वस्तु के एक अंश को ही उसका सम्पूर्ण स्वरूप मान लेना 'एकान्तवाद' है जो असत्य एवं भ्रामक है। जैन दर्शन वस्तु के अनन्त गुण पर्याय स्वीकार करता है; अत: वह स्वयं को अनेकान्तवादी कहता है।

साधारण मनुष्य के लिए सारी वस्तुओं को जानना या एक वस्तु के ही सारे धर्मों को जानना असम्भव है। हम कुछ वस्तुओं को और उनके कुछ धर्मों को ही जान सकते हैं। एक वस्तु के सारे धर्मों को जान लेना

सर्वज्ञ होना है। जो एक वस्तु के सारे धर्मों को जानता है, वह सारी वस्तुओं के सारे धर्मों को जानता है।[७] हमारा सारा ज्ञान एकांगी, आंशिक, अपूर्ण, सीमित एवं सापेक्ष होता है तथा हमारे समस्त परामर्श, कथन और न्यायवाक्य भी एकांगी, सीमित एवं सापेक्ष होते हैं; इस ज्ञानमीमांसीय एवं तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त को स्याद्वाद कहते हैं। इस लोक में अनन्त वस्तुएँ हैं और इनमें से प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं, इस तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त का नाम 'अनेकान्तवाद' है। वास्तव में ये दोनों वाद एक ही सिद्धान्त के दो रूप हैं; यह सिद्धान्त है बहुतत्त्ववादी सापेक्षिक वस्तुवाद। सत्ता की दृष्टि से इसे अनेकान्तवाद और ज्ञान की दृष्टि से स्याद्वाद कहा जाता है।

द्रव्यों के भेद—जैन दर्शन में द्रव्यों के दो भेद माने गये हैं—अस्तिकाय एवं अनस्तिकाय। अस्तिकाय द्रव्य विस्तृत द्रव्य है। चूँकि इसकी सत्ता है (अस्ति) एवं काय या शरीर की भाँति आकाश में विस्तृत है[८]—इसलिए इसे अस्तिकाय दव्य कहते हैं। अस्तिकाय द्रव्य के दो भेद हैं—जीव एवं अजीव। जीव आत्मा का ही दूसरा नाम है। जीव के दो भेद हैं—मुक्त जीव एवं बद्ध जीव। मुक्त जीव वे हैं, जिन्होंने मोक्ष पा लिया है। बद्ध जीव वे होते हैं जो अभी तक बन्धन में हैं। बद्ध जीव के पुन: दो भेद हैं—त्रस एवं स्थावर। त्रस जीव गतिशील होते हैं एवं स्थावर जीव गतिहीन होते हैं। स्थावर जीव का शरीर सबसे अपूर्ण है। स्थावर जीव पृथ्वी, जल, वायु या वनस्पति रूप शरीरों में रहते हैं।[९] स्थावर जीव को केवल स्पर्शेन्द्रिय होता है। अत: उसे केवल स्पर्श ज्ञान ही हो सकता है। त्रस जीवों में न्यूनाधिक विकास पाया जाता है। उनमें क्रमश: दो, तीन, चार एवं पाँच इन्द्रिय पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, सींप, घोंघा आदि को दो इन्द्रिय होते हैं—त्वचा, जिह्वा। पिपीलिका (चींटी) को तीन इन्द्रिय होते हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका। मक्खी, मच्छर, भौंरे आदि को चार इन्द्रिय होते हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका, चक्षु। उच्च पशुओं, पक्षियों तथा मनुष्यों को पाँच इन्द्रिय होते हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका, चक्षु तथा कर्ण।

अस्तिकाय अजीव के चार भेद हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल। अनास्तिकाय के अन्तर्गत केवल काल आता है।

जीव—चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं।[१०] जीव में चेतना सदैव वर्तमान रहती है। किन्तु भिन्न-भिन्न जीवों में इसका स्वरूप एवं इसकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। मात्रा के अनुसार जीवों में एक तारतम्य है जिसमें सिद्ध आत्माओं का स्थान सबसे ऊँचा है। सिद्ध उन्हें कहा जाता है जो कर्मों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं एवं पूर्णज्ञानी हो जाते हैं। सबसे नीचे स्थान में एकेन्द्रिय जीव हैं जो पृथ्वी, जल, वायु या वनस्पति में वास करते हैं।[११] वैसे तो इन जीवों में चेतना का सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है, लेकिन वास्तव में इनमें भी स्पर्श ज्ञान वर्तमान रहता है। हाँ, यह अवश्य है कि इनकी चेतना कर्मजनित बाधाओं के कारण अत्यन्त सीमित एवं अस्पष्ट रहती है। जिन्हें दो से पाँच इन्द्रिय होते हैं उनका स्थान जीवों में मध्यम है; जैसे कृमि, पिपीलिका, मक्खी, मनुष्य आदि।

जीव की विशेषताएँ—जैन दर्शन के अनुसार जीव की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. जीव या आत्मा का प्रधान लक्षण चेतना है। इसे अन्य वस्तुओं के साथ अपनी चेतना भी रहती है।

२. आत्मा ज्ञाता है। यह ज्ञान का विषय कभी नहीं बन सकता।

३. जीव कर्ता है। अपने कर्मों के द्वारा यह अपना भाग्य विधाता स्वयं है।

४. जीव भोक्ता है। अपने कर्मों का फल यहीं भोगता है।

५. आत्मा का स्वरूप सदैव अपरिवर्तित रहने के कारण इसे नित्य कहा जाता है और इसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहने के कारण इसे परिवर्तनशील कहा जाता है, इस प्रकार यह नित्य है।

६. जीव एक नहीं बल्कि अनेक हैं।

७. जीव या आत्मा स्थान घेरती है। यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। भौतिक पदार्थ जिस रूप में स्थान घेरते हैं उस रूप में आत्मा स्थान नहीं घेरती। किसी विशेष स्थान को एक समय एक ही भौतिक द्रव्य ग्रहण कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि मेज पर सन्दूक रखा है तो उस स्थान पर कोई अन्य वस्तु नहीं रखी जा सकती। किन्तु स्थान घेरने का यह ढंग आत्मा के ऊपर नहीं लागू होता है। एक ही समय एवं एक ही स्थान में एक से अधिक आत्माएँ रह सकती हैं। जिस प्रकार किसी एक ही कमरे में विभिन्न दीपक एक साथ प्रकाश फैला सकते हैं उसी प्रकार दो या दो से अधिक आत्माएँ एक ही समय एक ही स्थान को घेर सकती हैं। इस प्रकार आत्मा के स्थान घेरने का तरीका भौतिक पदार्थों से सर्वथा भिन्न है।

आत्मा का आकार अनिश्चित होता है। यह जिस शरीर में रहती है, उसी का आकार ग्रहण कर लेती है। हाथी के शरीर में हाथी के आकार की हो जाती है तथा चींटी के शरीर में चींटी के आकार की हो जाती है। आत्मा का आकार उसी प्रकार अनिश्चित है जिस प्रकार तरल पदार्थों (जैसे—पानी, तेल आदि) का आकार। तरल पदार्थ जिस बर्तन में रखा जाता है उसी का रूप धारण कर लेता है। यदि पानी को गिलास में रखें तो गिलास का आकार ग्रहण कर लेता है। कटोरी में रखें तो कटोरी का आकार ले लेता है।

जीव या आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण—जैन दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित प्रमाण दिये गये हैं—

१. गुणों के प्रत्यक्ष द्वारा हमें उनके धारण करने वाले पदार्थ का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। चीनी के गुणों (मिठास, रवापन आदि) के प्रत्यक्ष होने पर इन गुणों के आधार के रूप में चीनी का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार जब हमें आत्मा के गुणों (सुख, दुःख, हर्ष, राग, द्वेष आदि) का प्रत्यक्ष होता है तो इनके आधार के रूप में आत्मा का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व साक्षात् ज्ञान द्वारा होता है।

२. शरीर सदैव सक्रिय नहीं रहता। कभी चलता है तो कभी स्थिर रहता है। शरीर एक मशीन की तरह है। जिस प्रकार बिना संचालक के मशीन कार्य नहीं कर सकती, उसी प्रकार बिना आत्मा रूपी संचालक के शरीर के व्यापार नहीं हो सकते। अतः शरीर के संचालन के लिए आत्मा की सत्ता में विश्वास आवश्यक है।

३. इन्द्रिय एवं वस्तु के बीच सम्पर्क होने से ज्ञान प्राप्त होता है। जीभ का आम के साथ सम्पर्क होने से आम के स्वाद का ज्ञान मिलता है। प्रश्न यह उठता है कि इन्द्रिय एवं वस्तु के बीच सम्पर्क होने से 'ज्ञान' किसे मिलता है। जैन दर्शन के अनुसार यह ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है। इस प्रकार आत्मा की सत्ता ज्ञाता के रूप में सिद्ध होती है।

४. केवल उपादानों से ही किसी वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता। मिट्टी, चाक, दण्ड होने से घड़ा नहीं बन सकता। इसके लिए घड़ा बनाने वाले कुम्हार की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ कुम्हार निमित्त कारण है। इसी प्रकार केवल पुद्‌गलों के संयोग से शरीर नहीं बन जाता और न ही विकास होता है। इसके लिए निमित्तकरण के रूप में आत्मा की सत्ता होना आवश्यक है।

अजीव द्रव्य—जीवों का निवास यह जगत् है। यह जड़ द्रव्यों से बना हुआ है। जड़ द्रव्य के अन्तर्गत धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्‌गल आते हैं। अतः इनका विवेचन आवश्यक है।

धर्म—जैन दर्शन में धर्म को विशेष अर्थ में लिया गया है। साधारणतः 'धर्म' का अर्थ पुण्य माना जाता है। किन्तु जैनियों के अनुसार धर्म वह है जो किसी वस्तु की गति में सहायक हो। उदाहरण के लिए मछली जल में तैरती है। मछली का तैरना जल के कारण ही सम्भव हो पाता है। अतः जल 'धर्म' है क्योंकि वह मछली के तैरने की क्रिया में सहायक है। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि धर्म केवल गतिशील द्रव्यों की गति में ही सहायक हो सकता है; स्थिर द्रव्यों को यह गति नहीं दे सकता।

अधर्म—साधारणतः अधर्म का अर्थ है पाप। किन्तु जैनियों ने अधर्म शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। यहाँ अधर्म उसे कहा गया है जो किसी वस्तु की स्थिरता या विराम में सहायक हो। जिस प्रकार वृक्ष की छाया पथिक के विश्राम या स्थिरता में सहायक है। उसी प्रकार अधर्म किसी वस्तु के विराम में सहायक है। वृक्ष की छाया यहाँ अधर्म है।

आकाश—धर्म, अधर्म, जीव, पुद्‌गल, जैसे अस्तिकार्य द्रव्यों को स्थान देने वाला आकाश है।[१२] आकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका अस्तित्व अनुमान से सिद्ध होता है। द्रव्यों का कायिक विस्तार आकाश के कारण ही हो सकता है। यह स्थान ही आकाश है। यह सत्य है कि जिसका स्वाभाविक गुण विस्तार नहीं है उसे आकाश विस्तृत नहीं कर सकता, लेकिन जिसका वह स्वाभाविक गुण है उसके विस्तार के लिए स्थान आकाश ही देता है। अस्तिकाय द्रव्यों का विस्तृत होना आकाश के बिना असम्भव है।

जैन दार्शनिक आकाश के दो भेद मानते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश।

लोकाकाश वह है जो जीवों तथा अन्य द्रव्यों का निवास स्थान है। अलोकाकाश उस आकाश को कहते हैं जो लोकाकाश के परे है।

पुद्‌गल—जैन दार्शनिक जड़ तत्त्व को पुद्‌गल की संज्ञा देते हैं। पुद्‌गल शब्द पुद् एवं गल शब्दों को मिलाकर बना है। पुद् का अर्थ है संयोग एवं गल का अर्थ है विभाग अर्थात् 'जिसका संयोग एवं विभाग हो सके'[१३]। अर्थात् उन्हें जोड़कर एक बड़ा आकार दिया जा सकता है या उन्हें तोड़कर छोटा भी किया जा सकता है। पुद्‌गल के दो भेद हैं—अणु एवं संघात। पुद्‌गल का वह सबसे छोटा भाग जिसका और विभाग नहीं हो सकता-अणु कहते हैं। दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग से संघात या स्कन्ध बनता है। हमारा शरीर और अन्य जड़ द्रव्य अणु के संयोग से ही बने हुए संघात हैं। मन, वचन, प्राण, जड़ तत्त्वों से ही निर्मित हैं।[१४]

पुद्‌गल के चार गुण होते हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण। ये गुण अणुओं एवं संघातों में भी पाये जाते हैं।[१५] अन्य दार्शनिक मानते हैं कि शब्द भी एक मौलिक गुण है। परन्तु जैन इसे नहीं मानते। वे मानते हैं कि

चन्द्र-प्रकाश ताप, छाया, तम, बन्ध (संयोग) भेद, सूक्ष्मता, स्थूलता संस्थान (आकार) आदि के समान शब्द भी पुद्गल के आगन्तुक परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होता है।[१६]

काल—उमास्वामी के अनुसार द्रव्यों की वर्त्तना, परिणाम क्रिया, नवीनता, प्राचीनता काल के कारण ही सम्भव होता है।[१७] काल दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए आकाश की भाँति इसका भी अस्तित्व अनुमान से ही सिद्ध होता है। वर्त्तना के लिए काल आवश्यक है क्योंकि भिन्न-भिन्न क्षणों में वर्तमान रहना ही वर्त्तना कहलाती है। परिणाम अथवा अवस्थाओं का परिवर्तन भी काल के बिना सम्भव नहीं है। बिना काल परिवर्तन के एक ही वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण नहीं आ सकते। इसी प्रकार गति की व्याख्या के लिए भी काल को मानना आवश्यक है। प्राचीन, नवीन, पूर्व तथा पश्चात् के भेद भी काल के बिना सम्भव नहीं है।

जैन दर्शन में काल के दो भेद माने गये हैं—पारमार्थिक काल तथा व्यावहारिक काल। व्यावहारिक काल को समय भी कहते हैं। समय का प्रारम्भ एवं अन्त होता है। व्यावहारिक काल का विभाजन क्षण, मुहूर्त, प्रहर आदि में होता है। पारमार्थिक काल अनादि एवं अनन्त है। यह नित्य एवं अमूर्त है। इसका विभाजन सम्भव नहीं है।

जैन आचार मीमांसा

बन्धन—जैन दर्शन ने जीव को एक चेतन पदार्थ माना है जो स्वभावत: पूर्ण एवं अनन्त है। अपने पूर्व जन्म अर्जित कर्मों के फलस्वरूप जीव अनेक योनियों से सम्बद्ध होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। जीव के इस कर्म सम्बन्ध[१८] को ही जैन-दार्शनिक 'बन्ध' कहते हैं। इसके विपरीत जब जीव के समस्त कर्मों का नाश हो जाता है एवं उसका देहादि से आत्यन्तिक वियोग होता है तब उसकी यह अवस्था 'मोक्ष' कहलाती है। अन्य शब्दों में जीव का कर्म पुद्गल से संयोग बन्धन है तथा जीव का कर्म पुद्गल से वियोग मोक्ष है।

प्रश्न उठता है कि जीव का कर्मपुद्गल से संयोग होता ही क्यों है? इसके उत्तर में जैन दार्शनिकों का कहना है कर्म सम्बन्ध का मुख्य कारण 'अविद्या' है जिसका जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है तथा जिसके प्रभाव में पड़कर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। जीव का अविद्या से सम्बन्ध कब हुआ? इसका ज्ञान किसी भी व्यक्ति को नहीं है। जिस प्रकार जीव अनादि है उसी प्रकार अविद्या और उसका जीव से सम्बन्ध अनादि है।

अविद्या के कारण सर्वप्रथम जीव को अपने वास्तविक स्वरूप के विपरीत ज्ञान का बोध होता है जिसे मिथ्या दर्शन कहते हैं। इस मिथ्या दर्शन अथवा मोह के कारण जीव में दोषों से असम्बद्ध रहने की क्षमता नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में जीव आत्मा को वास्तविक स्वरूप के ज्ञान एवं उचित और अनुचित के ज्ञान के विषय में निष्क्रिय हो जाता है। इस स्थिति को जैन दर्शन में 'अविरति' एवं प्रमाद की संज्ञा दी गई है।

अनादि अविद्या के सम्पर्क से मिथ्या दर्शन, अविरिति एवं प्रमाद की उपलब्धि करते हुए जीव को क्रोध, मोह, लोभ, गर्व इन चार कषायों की उत्पत्ति होती है जो 'योग' द्वारा जीव को 'पाप' की उपलब्धि कराते हैं। यहाँ 'योग' शब्द उन कायिक, वाचिक एवं मानसिक स्पन्दनों के लिए प्रयोग किया गया है जिनके

द्वारा जीव को कर्मपुद्गलों की प्राप्ति होती है। कर्मपुद्गल जड़ रूप होने के कारण स्वयं जीव में प्रवेश नहीं कर सकते, अत: इनके लिए एक ऐसे क्रियाशील तत्त्व की आवश्यकता है जो इन्हें सम्बद्ध कर सके। जैन दर्शन में इस कमी की पूर्ति 'योग' नामक तत्त्व की कल्पना करके की गई है। इस प्रकार 'योग' उस तत्त्व को कहा गया है जिससे चेतन जीव एवं जड़ कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार जैन दर्शन में मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कशाय एवं योग ये पाँच तत्त्व बन्धन के कारण माने गये हैं।[१९]

जैन दर्शन के अनुसार कर्म ही बन्धन का कारण है। जैन दर्शन में कर्म भी भौतिक एवं पौद्गलिक है। कर्म जीव से संयुक्त होकर उसके स्वरूप को दूषित कर देता है जिसके कारण जीव अपनी शुद्धता से च्युत होकर बन्धन की अवस्था में आ जाता है। जीव एवं कर्म का सम्बन्ध अनादि है। जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्म माने गये हैं—ज्ञानावरणीय कर्म अर्थात् ज्ञान को नष्ट करने वाले कर्म; दर्शनावरणीय कर्म-विश्वास को नष्ट करने वाले कर्म; मोहनीय कर्म—मोह पैदा करने वाले कर्म; वेदनीय कर्म—सुख-दु:ख की अनुभूति उत्पन्न करने वाले कर्म; गोत्र कर्म—अर्थात् वे कर्म जो यह निश्चित करते हैं कि जीव का जन्म किस गोत्र में होगा; आयुष्कर्म—जीव की आयु का निर्धारण करने वाले कर्म। नाम कर्म—वह कर्म जिससे व्यक्ति के नाम का निश्चय होता है; और अन्तराप कर्म—बाधाएँ पैदा करने वाले कर्म। कर्म जीव के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। जैसे ताप लोहे से संयुक्त होता है, वैसे ही कर्म जीव से संयुक्त होता है। इस प्रकार जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता है। जीव के अतीत कर्मों से जीव में वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। वासनाएँ तृप्त होना चाहती हैं, परिणामस्वरूप वे कर्मपुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करके जीव को शरीर से सम्बद्ध कर देती हैं।

जीव की ओर कर्मपुद्गलों के प्रवाह को आश्रव कहा जाता है। आश्रव बन्धन का कारण है क्योंकि आश्रव के अभाव में कर्मपुद्गल जीव में प्रवेश नहीं कर सकते। जैन दर्शन में आश्रव के दो भेद हैं—'भावाश्रव' और 'द्रव्याश्रव'। जब जीव में कशायों से प्रभावित होकर कायिक, वाचिक, मानसिक स्पन्दनों के द्वारा भावात्मक क्रिया की उत्पत्ति होती है जिसके द्वारा वह कर्मपुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होता है तब उसे 'भावाश्रव' कहते हैं। लेकिन जिस समय इस 'भावाश्रव' के फलस्वरूप कर्म पुद्गलों का जीव में प्रवेश हो जाना 'द्रव्याश्रव' है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन के अनुसार बन्धन का एक विशिष्ट अर्थ है। कशायों के कारण कर्मानुसार जीव का पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्धन है।[२०] चूँकि दूषित मनोभाव ही बन्धन का मूल कारण है और पुद्गल का आस्रव मनोभाव का परिणाम है इसलिए जैन दार्शनिक कहते हैं कि जीव का बन्धन मानसिक प्रवृत्तियों के कारण ही होता है। वे बन्धन के दो भेद मानते हैं—भाव बन्ध एवं द्रव्य बन्ध। मन में दूषित भावों का होना भाव बन्ध कहलाता है। जीव का पुद्गल से आक्रान्त हो जाना द्रव्य-बन्ध कहलाता है।

मोक्ष—जैन दर्शन में जीव के कर्मपुद्गल से संयोग को बन्धन माना गया है तथा जीव का कर्मपुद्गल से वियोग मोक्ष है। कर्मपुद्गलों से जीव का वियोग होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—नये कर्मपुद्गलों का जीव की ओर आस्रव बन्द हो जाए तथा जीव में प्रविष्ट हुए पुराने कर्मपुद्गलों का विनाश हो जाय। इनमें

से प्रथम अवस्था को 'संवर' कहा गया है और द्वितीय अवस्था को 'निर्जरा' कहा गया है। संवर से जीव में नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश बन्द हो जाता है। जैन दर्शन में संवर के दो भेद माने गये हैं—भाव संवर एवं द्रव्य संवर। भाव संवर द्रव्य संवर की पूर्व अवस्था है जिसमें जीव के राग-द्वेष मोह आदि विकारों का निरोध होता है। द्रव्य संवर में जीवात्मा में नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश बन्द हो जाता है।

संवर की अवस्था में जीव में नये कर्मपुद्गलों का प्रवेश तो बन्द हो जाता है, किन्तु जीव में पहले से ही प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का निरोध 'संवर' से नहीं होता। अत: इसके लिए 'निर्जरा' का होना आवश्यक है। जीवात्मा में पहले से प्रविष्ट कर्मपुद्गलों का विनाश 'निर्जरा' है। अर्जित कर्मों के नाश को निर्जरा कहते हैं। जैन दर्शन में निर्जरा के दो भेद माने गये हैं—भाव निर्जरा एवं द्रव्य निर्जरा। भाव निर्जरा में साधक में कर्मों का विनाश करने की भावना उत्पन्न होती है। द्रव्य निर्जरा में जीव में प्रविष्ट हुए कर्मपुद्गलों का वास्तविक विनाश होता है। इसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता होती है। इसमें दर्शन, ज्ञान, चरित्र के अभ्यास जीव में प्रविष्ट हुए पुद्गलों का विनाश किया जाता है। जब कर्मपुद्गल का अन्तिम कण भी जीव से अलग हो जाता है तब वह अपनी स्वाभाविक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वह सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा एवं पूर्ण आनन्दमय हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है। इस प्रकार जीव के सभी कर्मों का क्षय मोक्ष है।[२१] जीव मुक्त हो जाने पर उर्ध्वगति को प्राप्त करता है। वह सिद्धशिला पर पहुँचता है और वहाँ अनन्त काल तक वास करता है।

जैन दर्शन में मोक्ष के दो भेद हैं—भाव मोक्ष एवं द्रव्य मोक्ष। भाव मोक्ष की अवस्था में साधक सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर सर्वज्ञ एवं पूर्ण आनन्दमय हो जाता है। इसमें चार प्रकार के घातीय कर्मों का अर्थात् 'ज्ञानावरणीय', 'दर्शनावरणीय', 'मोहनीय' एवं 'अन्तराप' का नाश हो जाता है। लेकिन केवल इतने से ही पूर्ण मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष हेतु 'आयु', 'नाम', 'गोत्र' तथा 'वेदनीय' इन चार प्रकार के 'अघातीय' कर्मों के नाश की भी आवश्यकता है। जिस समय जीव के 'अघातीय' कर्म भी नष्ट हो जाते हैं उस समय उसे द्रव्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्ष के साधन—जैन दर्शन में सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र को मोक्ष की प्राप्ति का साधन माना गया है;[२२] इन्हें जैन दार्शनिक त्रिरत्न कहते हैं। इन तीनों के सम्मिलित होने पर ही मोक्ष मिलता है। इन तीनों का वर्णन निम्नलिखित रूपों में किया गया है—

१. सम्यक दर्शन—उमा स्वामी के अनुसार यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना सम्यक दर्शन कहलाता है। सम्यक दर्शन का अर्थ अन्धविश्वास नहीं है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि हमें तीर्थंकरों के उपदेशों को आँख मूँद कर नहीं मानना चाहिए। श्रद्धा पूर्णतया युक्तिसंगत है।

२. सम्यक ज्ञान—सम्यक ज्ञान में जीव एवं अजीव के मूलतत्त्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।[२३] यह तत्त्वों का असन्दिग्ध एवं दोषरहित ज्ञान है तथा ज्ञानावरणीय कर्मों के विनाश से सम्यक ज्ञान के लिए आवश्यक है।

३. सम्यक चरित्र—अहित कार्यों का परित्याग और हितकर कार्यों का आचरण ही सम्यक चरित्र है।[२४] सम्यक चरित्र के द्वारा जीव अपने कर्मों से मुक्त हो सकता है, क्योंकि कर्मों के कारण ही बन्धन और दु:ख होते हैं। नये कर्मों को रोकने के लिए तथा पुराने कर्मों को नष्ट करने के लिए निम्नलिखित क्रियाएँ

आवश्यक हैं—

१. पंच महाव्रत का पालन करना चाहिए।

२. चलने, बोलने, शिक्षा ग्रहण करने में समिति या सतर्कता आवश्यक है।

३. मन, वचन, कर्म में गुप्ति या संयम का अभ्यास करना चाहिए।

४. दस प्रकार के धर्मों का आचरण करना चाहिए। अर्थात् क्षमा, मार्दव (कोमलता) आर्जव (सरलता), सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

५. जीव एवं जगत् के यथार्थ तत्त्व के सम्बन्ध में भावना करनी चाहिए।

६. सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि को सहन करना चाहिए।

७. समता, निर्मलता, निर्लोभता, सच्चरित्रता प्राप्त करनी चाहिए।

पंच महाव्रत—अनेक जैन दार्शनिक उपर्युक्त सभी आदेशों को आवश्यक नहीं मानते। कुछ तो पंच महाव्रतों का पालन ही सम्यक चरित्र के लिए पर्याप्त समझते हैं। पंच महाव्रत का महत्त्व उपनिषद् के ऋषि, बौद्ध दार्शनिक भी मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक इसे पंचशील के रूप में मानते हैं। किन्तु जैनी इन व्रतों का पालन जितनी कठोरता से करते हैं वैसी कठोरता कहीं और नहीं मिलती।

अहिंसा—अहिंसा का साधारण अर्थ है किसी जीव की हत्या न करना। किन्तु जैनियों ने अहिंसा की कठोर व्याख्या की है। सभी परिस्थितियों में सभी प्राणियों की हिंसा का मनसा, वाचा, कर्मणा परित्याग। जैन दर्शन सभी जीवों की एकता का समर्थक है। अत: किसी भी जीव को किसी भी प्रकार कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है।

सत्य—सत्य का तात्पर्य है मिथ्या वचन का परित्याग। सत्यवादिता का आदर्श है सुनृत। जो सत्य सबका हितकर हो और प्रिय हो उसे सुनृत कहते हैं। जैनियों के अनुसार अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। सत्य व्रत पालन करने के लिए मनुष्य को क्रोध, लोभ एवं भय से रहित होना चाहिए।

अस्तेय—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। अर्थात् बिना दिये हुए किसी दूसरे की वस्तु को ग्रहण न करना ही अस्तेय है। जैन दर्शन के अनुसार धन-सम्पत्ति मनुष्य का बाह्य जीवन है। अत: धन-सम्पत्ति का अपहरण मानो उसके जीवन का ही अपहरण है। अत: किसी व्यक्ति के धन को नहीं चुराना चाहिए।

ब्रह्मचर्य—जैन दर्शन के अनुसार ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रिय सुखों का ही नहीं बल्कि सभी प्रकार की कामनाओं का परित्याग है। ब्रह्मचर्य के व्रत का पालन मन, वाणी एवं कर्म तीनों से करना चाहिए।

अपरिग्रह—अपरिग्रह का अर्थ है विषयासक्ति का परित्याग। इस व्रत के लिए उन सभी विषयों का त्याग करना पड़ता है जिनसे इन्द्रिय सुख की उत्पत्ति होती है। ऐसे विषयों के अन्तर्गत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं। मनुष्य विषयों में आसक्त होने के कारण बन्धन में पड़ जाता है। परिणामस्वरूप उसे बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है और वह तब तक मोक्ष नहीं पा सकता जब तक विषयों से अनासक्त नहीं हो जाता।

सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान एवं सम्यक चरित्र में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक की उन्नति या अवनति से दूसरे की उन्नति या अवनति होती है। जब तीनों की पूर्णता होती है तभी मनुष्य अपने नये एवं पुराने कर्मों एवं राग-द्वेषों पर विजय प्राप्त करता है। पुद्‌गल से उत्पन्न बाधाओं से मुक्त होकर अपने वास्तविक

स्वरूप को जान लेता है। मोक्ष की अवस्था में जीव को अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनन्द प्राप्त होता है।

सन्दर्भ :

१. षडदर्शन समुच्चय, पृ. ५५ तथा उस पर गुणरत्न की टीका द्रष्टव्य।
२. एकदेश-विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मत:।
३. न्यायवतार-विवरण श्लोक २९।
नयति प्रापयति संवेदनम् आरोहयतीति
नय: प्रमाण प्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्श:।
४. अनन्त धर्माकं वस्तु। अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्। अन्य योग, पृष्ठ २२
५. तत्त्वार्थ अधिगम सूत्र, ५/३८, ''गुणपर्यायवद् द्रव्यम्''
६. अन्य योग, २३, २५
७. एकोभाव: सर्वथा येन दृष्ट: सर्वे भावा: सर्वथा तेन दृष्ट:। —''गुण रत्न (षडदर्शन समुच्चय टीका) २''
८. नेमिचन्द, द्रव्यसंग्रह २४
९. मल्लिसेन, स्याद्वाद मंजरी (२९)
१०. चेतना लक्षणो जीव:; षडदर्शन समुच्चय ४७
११. वनस्पत्यन्तानाम् एकम्—तत्त्वार्थ अधिगम सूत्र २/२२
१२. नेमिचन्द, द्रव्यसंग्रह १८
१३. पूरयन्ति गलन्ति च, सर्वदर्शन संग्रह ३
१४. उमा स्वामी, तत्त्वार्थ अधिगम सूत्र ५/१९
१५. वही ५/२३
१६. वही ५/२४
१७. वही ५/२२, ''वर्त्तना-परिणाम क्रिया: परत्वापरत्वे च कालस्य।''
१८. द्वयोरपि जीवकर्मणो: सम्बन्ध: संयोग: सबन्ध नाम।
षडदर्शन समुच्चय पर गुणभद्र की टीका पृ. ४६
१९. मिथ्या दर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा: हेतव: पापस्य कारणानि।
षडदर्शन समुच्चय पर गुणभद्र की टीका पृ. ४५
२०. ''सकषायत्वात् जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बान्धव:।''
तत्त्वार्थ अधिगम सूत्र, ८/२
२१. कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्ष:, उमा स्वामी, तत्त्वार्थ सूत्र १०/३
२२. 'सम्यक दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्षमार्ग:' उमा स्वामी तत्त्वार्थ सूत्र १/१
२३. द्रव्य संग्रह, श्लोक ४२
२४. द्रव्य संग्रह, श्लोक ४५।

□

श्रमण दर्शन में कर्म का स्वरूप

—डॉ. निर्मला कौशिक

भारतवर्ष दर्शनों की जन्मस्थली है, क्रीड़ा भूमि है। यहाँ की पुण्य भूमि पर आदिकाल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की विचारधारा बहती चली आ रही है। न्याय, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध और जैन प्रभृति अनेक दर्शनों ने यहाँ जन्म ग्रहण किया, वे खूब फूले और फले। उनकी विचारधाराएँ हिमालय की चोटी से भी अधिक ऊँची, समुद्र से भी अधिक गहरी और आकाश से भी अधिक विस्तृत हैं।

भारतीय दर्शन जीवन-दर्शन है। केवल कमनीय कल्पना के अनन्त गगन में विहरण करने की अपेक्षा यहाँ के मनीषी दार्शनिकों ने जीवन के गम्भीर व गहन प्रश्नों पर चिन्तन, मनन, विमर्श करना अधिक उपयुक्त समझा। एतदर्थ यहाँ आत्मा, परमात्मा, लोक, कर्म आदि तत्त्वों पर गहराई से चिन्तन, मनन व विवेचन किया गया है वह भारतीय सभ्यता व धर्म का मेरुदण्ड है। इस विराट् विश्व में भारत के मुख को उज्ज्वल-समुज्ज्वल रखने में तथा मस्तिष्क को उन्नत रखने में ब्रह्मवेत्ताओं की यह आध्यात्मिक सम्पदा सर्वथा व सर्वदा कारण रही है। मानसिक पराधीनता के पंक में निमग्न आधुनिक भारतीय पाश्चात्य सभ्यता के चाकचक्य के समक्ष इस अनुपम विचार-राशि की भले ही अवहेलना करें, किन्तु उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत अतिप्राचीन काल से गौरवशाली देश रहा है तो अपने दार्शनिक चिन्तन के कारण ही। वस्तुत: तत्त्वज्ञान से ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की प्रतिष्ठा है।

दार्शनिकों की दुनिया में कर्मवाद का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कर्मवाद के मर्म को समझे बिना भारतीय दर्शन विशेषत: आत्मवाद का यथार्थ परिज्ञान नहीं हो सकता।

कर्म का स्वरूप—व्याकरण दर्शन के अनुसार 'क्रिया' का परिणाम अथवा फल 'कर्म' कहा जाता है। 'कृ' धातु अपने अर्थ विकास में विविधता को प्रस्तुत करती है और विभिन्न विभक्तियों में परिवर्तित होती हुई किसी परिणाम (फल) को प्रस्तुत करती है जो संज्ञा रूप में कर्म कहा जाता है। इसी कर्म को किया हुआ कार्य कृत कार्य, सम्पादित कार्य का स्वरूप भारत के विभिन्न दर्शनों में 'कर्मवाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया जिसे माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृश्य, संस्कार,

दैव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वेदान्त दर्शन में माया, अविद्या और प्रकृति शब्दों का प्रयोग हुआ है। मीमांसा दर्शन में अपूर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध दर्शन में वासना और अविज्ञप्ति शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सांख्यदर्शन में 'आशय' शब्द विशेष रूप से मिलता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट, संस्कार और धर्माधर्म शब्द विशेष रूप से प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनों में हुआ है। भारतीय दर्शनों में एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है जिसका कर्मवाद में विश्वास नहीं है, क्योंकि वह आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं मानता, इसलिए कर्म और उसके द्वारा होने वाले पुनर्भव, परलोक आदि को भी वह नहीं मानता है, किन्तु शेष सभी भारतीय दर्शन किसी-न-किसी रूप में कर्म की सत्ता मानते ही हैं।

श्रमण दर्शन में कर्म— श्रमण शब्द का उल्लेख वैदिक संहिताओं में किया गया है जिसकी मूल धातु श्रम है। श्रम का अर्थ प्रयत्न, पुरुषार्थ, परिश्रम, श्रम तथा तप किया गया है।[१] श्रमण के लिए प्राकृत साहित्य में 'समन' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रमण शब्द का सामान्य अर्थ जैन सूत्रों में साधु अर्थ प्रयोग किया गया है। श्रमण शब्द के समान और रूप प्राप्त होते हैं। श्रमण शब्द 'श्रम' धातु से बनता है। श्रम का अर्थ होता है परिश्रम करना। तपस्या का दूसरा नाम परिश्रम भी है।[२] जो व्यक्ति अपने ही श्रम से उत्कर्ष की प्राप्ति करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं। समन का अर्थ होता है समानता और शमन का अर्थ होता है शान्त करना अर्थात् जो भी प्राणियों को समान दृष्टि से देखता है और सभी विकारों को शान्त करता है वह श्रमण कहा जाता है। जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों में श्रमण शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रोफेसर लासेंन, प्रो वेबर तथा प्रो. याकोबी आदि ने जैन और बौद्ध धर्मों को समान मानते हुए भी जैन धर्म को प्राचीन माना है।[३]

श्रमण दर्शन का तात्पर्य जैन एवं बौद्ध दर्शन से माना जाता है। यद्यपि जैन दृष्टि से 'कर्मणा बध्यतेजन्त:' की उक्ति ठीक है लेकिन जैनाचार दर्शन में सभी कर्म अथवा क्रियाएँ समान रूप से बन्धनकारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये हैं; एक को कर्म कहा गया है दूसरे को अकर्म। समस्त साम्परायिक क्रियाएँ कर्म की श्रेणी में आती हैं और इर्यापथिक क्रियाएँ अकर्म की श्रेणी में आती हैं। यदि नैतिक दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो प्रथम प्रकार के कर्म ही नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे हैं। उन्हें अतिनैतिक कहा जा सकता हैं लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले सभी कर्म भी एक समान नहीं होते हैं। उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य कर्म और पाप कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन विचारणा के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं—

१. अकर्म, २. कर्म (कुशल कर्म) और ३. विकर्म (अकुशल कर्म)

जैन विचारणा का इर्यापथिक कर्म बौद्ध दर्शन का अव्यक्त या अकृष्ण, अकुशल और अशुक्ल कर्म तथा गीता का अकर्म है। इसी प्रकार जैन विचारणा का पुण्य कर्म बौद्ध दर्शन का कुशल (शुक्ल) कर्म तथा गीता का सकाम सात्विक कर्म या कुशल कर्म और जैन विचारणा का पाप कर्म बौद्ध दर्शन का अकुशल (कृष्ण) कर्म तथा गीता का विकर्म है।

पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से भी कर्म तीन प्रकार के होते हैं—

१. अतिनैतिक, २. नैतिक और ३. अनैतिक

जैन विचारणा का इर्यापथिक कर्म अतिनैतिक कर्म हैं, पुण्य कर्म नैतिक कर्म है और पापकर्म अनैतिक कर्म हैं। गीता का अकर्म अनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म को क्रमशः अकुशल, कुशल और अव्यक्त कर्म अथवा कृष्ण, शुक्ल और अकुशल कर्म कहा गया है।

पाप-कर्म—जैन दर्शन के आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्म शक्तियों का क्षय करे वह पाप है।[४] सामाजिक सन्दर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण हो वह पाप है (पापाय परपीडन)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट प्राप्त हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किए जाते हैं पाप कर्म हैं। मात्र इतना ही नहीं सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण—जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म १८ प्रकार के हैं—

१. प्राणातिपातहिंसा
२. मृषावाद—असत्य भाषण
३. अदत्तादान—चौर्य कर्म
४. मैथुन—काम विकार या लैंगिक प्रवृत्ति
५. परिग्रह—ममत्व, मूर्छा, तृष्णा या संचय वृत्ति
६. क्रोध—गुस्सा
७. मान—अहंकार
८. माया—कपट, छल, षड्यन्त्र और कूटनीति
९. लोभ—संचय या संग्रह की वृत्ति
१०. राग—आसक्ति
११. द्वेष—घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि
१२. क्लेश—संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि
१३. अभ्याख्यान—दोषारोपण
१४. पिशुनता—चुगली
१५. परपरिवाद—परनिंदा
१६. रति-अरति—हर्ष और शोक
१७. माया मृषा—कपट सहित असत्य भाषण
१८. मिथ्यादर्शनशल्य—अयथार्थ श्रद्धा या जीवन दृष्टि।[५]

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर निम्न प्रकार के पापों

या अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है[६]—

(अ) कायिक पाप—१. प्राणातिपात—हिंसा, २. अदन्नादार—चोरी या अस्तेय, ३. कामेसु—भिच्छाचार, कामभोग सम्बन्धी दुराचार।

(ब) वाचिक पाप—४. मृषावाद-असत्य भाषण, ५. पिसुनावाचा-पिशुन वचन, ६. परूसा वाचा—कठोर वचन, ७. सम्फलाप—व्यर्थ आलाप।

(स) मानसिक पाप—८. अभिज्जा—लोभ, ९. व्यापाद—मानसिक हिंसा या अहित चिन्तन, १०. मिच्छादिट्ठी—मिथ्या दृष्टिकोण।

अभिधम्म संगाहों में निम्न १४ अकुशल चैतसिक बताए गये हैं—१. मोहचित्त का अन्धापन, मूढ़ता २. अहिरिक—निर्लज्जता, ३. अनोत्तपयं—अभीक्ता (पाप कर्म में भय न मानना), ४. उद्धच्चं उद्धतपन, चंचलता, ५. लोभोतृष्णा, ६. दिट्ठि—मिथ्यादृष्टि, ७. मानो—अहंकार, ८. मच्छरियं—मात्स्पर्य (अपनी सम्पति को छिपाने की प्रवृत्ति) ११. कुक्कुच्चकौकृत्य (कृत-अकृत के बारे में पश्चाताप), १२. थीनं, १३. मिद्धं, १४. विचिकिच्छा-विचिकित्सा (संशयालुपल)।

पाप के कारण—जैन विचारकों के अनुसार पापकर्म उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—१. राग या स्पर्श, २. द्वेष या घृणा और ३. मोह या अज्ञान। प्राणी राग, द्वेष और मोह से ही पाप कर्म करता है। बुद्ध के अनुसार भी पाप कर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं—१. लोभ (राग), २. द्वेष और ३. मोह। गीता के अनुसार काम (राग) और क्रोध ही पाप के कारण हैं।

पुण्य (कुशल कर्म)—पुण्य वह है, जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश के मध्य सन्तुलन बनाना, यह पुण्य का कार्य है।[८] पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थ सूत्रकार कहते हैं—शुभास्त्रय पुण्य है।[९] लेकिन जैसा कि हमने देखा पुण्य मात्र आश्रव नहीं है वरन् वह बन्ध और विपाक भी है। दूसरे वह मात्र बन्धन या हेय ही नहीं है वरन् उपादेय भी है। अत: अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—पुण्य अशुभ कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।[१०] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांग सूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[११] आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशील कुमार 'जैन धर्म' नामक पुस्तक में लिखते हैं—पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार कर देती है। जैन कवि बनारसीदासजी कहते हैं जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा ऊर्ध्वमुखी होता है अर्थात् आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक-समृद्धि और सुख मिलता है वही पुण्य है।[१२]

जैन तत्त्व ज्ञान के अनुसार पुण्य कर्म के अनुसार पुण्य कर्म के शुभ पुद्गल परमाणु हैं जो शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ

अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी जो शुभ पुद्गल परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पति एवं सम्यक श्रद्धा ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृतियाँ भाव पुण्य हैं और शुभ पुद्गल परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।

पुण्य (कुशल) कर्मों का वर्गीकरण—भगवती सूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण माना है[१३]। स्थानांग सूत्र में नव प्रकार के पुण्य बताए गये हैं[१४]—

१. अन्न पुण्य : भोजनादि देकर क्षुधार्त्त की क्षुधा निवृत्ति करना।

२. पान पुण्य : तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।

३. लयन पुण्य : निवास के लिए स्थान देना, धर्मशालाएँ आदि बनवाना।

४. शयन पुण्य : शय्या, बिछौना आदि देना।

५. वस्त्र पुण्य : वस्त्र का दान देना।

६. मन पुण्य : मन से शुभ विचार करना। जगत के मंगल की शुभ कामना करना।

७. वचन पुण्य : प्रशस्त एवं सन्तोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।

८. काय पुण्य : रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।

९. नमस्कार पुण्य : गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

बौद्ध आचार दर्शन में भी पुण्य के इस दानात्मक स्वरूप की चर्चा मिलती है। संयुक्त निकाय में कहा गया है—अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन एवं चादर के दानी पण्डित पुरुष में पुण्य की धाराएँ आ गिरती हैं। अभिधम्मत्य संगहों में (१) श्रद्धा, (२) अप्रमत्तता (स्मृति), (३) पाप कर्म के प्रति लज्जा, (४) पाप कर्म के प्रति भय, (५) अलोभ (त्याग), (६) अद्वेष-मैत्री, (७) समभाव (८-९) मन और शरीर की प्रसन्नता, (१०-११) मन और शरीर का हल्कापन, (१२-१३) मन और शरीर की मृदुता, (१४-१५) मन और शरीर की सरलता आदि को भी कुशल चैतसिक कहा गया है।[१५] जैन और बौद्ध विचारणा में पुण्य के स्वरूप को लेकर विशेष अन्तर यह है। जैन विचारणा में संवर, निर्जरा और पुण्य में अन्तर किया गया है। जबकि बौद्ध विचारणा में ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं है। जैनाचार दर्शन में सम्यक दर्शन (श्रद्धा), सम्यक ज्ञान (प्रज्ञा), और सम्यक चरित्र (शील) को संवर और निर्जरा के अन्तर्गत माना गया है। जबकि बौद्ध आचार दर्शन में धर्म, संघ और बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा को भी पुण्य (कुशल कर्म) के अन्तर्गत माना गया है।

समाज जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार—यद्यपि यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किए गये व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ में होता है। लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौन-सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौन-सा व्यवहार या दृष्टिकोण अशुभ होगा इसका निर्णय किस आधार पर किया जाए? भारतीय चिन्तन में इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की गयी है, वह यही है कि जिस प्रकार का व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल

समझते हैं वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना यही शुभाचरण है; और इसके विपरीत जो व्यवहार हमें प्रतिकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल हैं वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियों मात्र का यही सन्देश है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां मा समाचरेत' जिस आचरण को तुम अपने लिए प्रतिकूल समझते हो वैसा आचरण दूसरों के प्रति मत करो। संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

जैन दृष्टिकोण—जैन दर्शन के अनुसार जिसकी संसार के सभी प्राणियों के आत्मवत् दृष्टि है वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है।[१६] दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता है।[१७] सूत्रकृतांग में धर्माकर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरों को समझना यही दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है।[१८] सभी को जीवित रहने की इच्छा है, कोई मरना नहीं चाहता, सभी को प्राण प्रिय है, सुख शान्तिप्रद है, दुःख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है जिसके द्वारा किसी भी प्राण का हनन नहीं हो।[१९]

बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण—बौद्ध विचारणा में भी सर्वत्र आत्मवत् दृष्टि को ही कर्म के शुभत्व का आधार माना गया है। सुतनिपात में बुद्ध कहते हैं—जैसा मैं हूँ वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार सभी को अपने समान समझकर, किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए।[२०] धम्मपद में भी बुद्ध ने यही कहा है कि—सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, सबको जीवन प्रिय है। अतः सबको अपने समान समझकर न मारें और न मारने की प्रेरणा करें। सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह में जो दुःख देता है वह मर कर सुख नहीं पाता। लेकिन जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह में दुःख नहीं देता। वह मर कर सुख को प्राप्त होता है।[२१]

शुभ और अशुभ—जैन विचारणा में शुभ और अशुभ अथवा मंगल-अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गई है। उत्तराध्यायनसूत्र में नव तत्त्व माने गये हैं जिसमें पुण्य और पाप को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में गिना गया।[२२] जबकि तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन सातों को ही तत्त्व कहा है। वहाँ पर पुण्य और पाप का स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में स्थान नहीं है।[२३] लेकिन यह विवाद अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानती है वह भी उनको आश्रव व बन्ध तत्त्व के अन्तर्गत तो मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आश्रव नहीं हैं वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक भी होता है। अतः आश्रव के दो विभाग शुभाश्रय और अशुभाश्रव करने से काम पूर्ण नहीं होता वरन् बन्ध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे। इस वर्गीकरण की कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एवं पुण्य को दो स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में मान लिया है।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण मार्ग के साधन के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है क्योंकि दोनों ही बन्धन का कारण है। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है नैतिक पूर्णता नहीं आती है। अशुभ पर पुण्य विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है।

जैन दृष्टिकोण—ऋषिभासित सूत्र में ऋषि कहता है पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार-सन्तति के मूल हैं।[२४] आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य और पाप दोनों को बन्धन का कारण मानते हुए भी दोनों को बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार ग्रन्थ में वे कहते हैं अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं। फिर भी पुण्य कर्म भी संसार (बन्धन) का कारण होता है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लौह बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है, उसी प्रकार जीव कृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन का कारण होते हैं।[२५] आचार्य दोनों को ही आत्मा की स्वाधीनता में बाधक मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुण्य स्वर्ण बेड़ी है और पाप लौह बेड़ी। फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण बेड़ी कहकर उसकी पाप से किंचित् श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं।[२६] इसी प्रकार पं. जयचन्द्रजी ने भी कहा है—

पुण्य पाप दोऊकरम, बन्धरूप दुई मानि।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, वंदू चरन हित जानि॥[२७]

अनेक जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण के लक्ष्य, दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को छोड़ना होता है फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन, वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना जिस प्रकार अनावश्यक है उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है। उसे भी क्षय करना होता है। लेकिन जिस प्रकार साबुन मैल को साफ करता है ओर मैल की सफाई होने पर स्वयं अलग हो जाता है, वैसे ही पुण्य भी पाप रूपी मल को अलग करने में सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वयं भी अलग हो जाता है। जिस प्रकार एरण्ड बीज या अन्य रेचक औषधि मल के रहने तक रहती है और मल के निकल जाने पर वह भी निकल जाती है। वैसे ही पाप की समाप्ति पर पुण्य भी अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। वे किसी भी नव कर्म सन्तति को जन्म नहीं देते हैं। अत: वस्तुत: व्यक्ति को अशुभ कर्म से बचना है। जब वह अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है उसका शुभ कर्म भी शुद्ध कर्म बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है। अत: राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निसृत होते हैं वे शुद्ध (इर्यापथिक) होते हैं।

पुण्य (शुभ) कर्म के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुण्योपार्जन की उपरोक्त क्रियाएँ जब अनासक्त भाव से की जाती हैं तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इस प्रकार संवर और निर्जरा के कारण संयम और तप जब आसक्तभाव फलाकांक्षा (निदान अर्थात् उनके प्रतिफल के रूप में किसी निश्चित फल की कामना करना) से युक्त होते हैं तो वे कर्म क्षय अथवा निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का ही कारण बनते हैं। चाहे वह सुखद फल के रूप में क्यों नहीं हों। जैनाचार दर्शन में अनासक्त भाव या राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्ति से किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का कारण समझा

गया। यहाँ पर गीता की अनासक्त कर्म योग की विचारणा जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाती है। जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य आत्मा को अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभ से शुद्ध कर्म (वीतराग दशा) को प्राप्ति है। आत्मा का शुद्धोपयोग ही जैन नैतिकता का अन्तिम साध्य है।

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध दर्शन भी जैन दर्शन के समान नैतिक साधना की अन्तिम अवस्था में पुण्य और पाप दोनों से ऊपर उठने की बात कहता है और इस प्रकार समान विचारों का प्रतिपादन करता है। भगवान् बुद्ध सुत्तनिपात में कहते हैं जो पुण्य और पाप को दूर कर शान्त (सम) हो गया है, इस लोक और परलोक के यथार्थ स्वरूप को जानकर (कर्म) रज रहित हो गया है, जो जन्म-मरण से परे हो गया है, वह श्रमण स्थिर, स्थितात्मा कहलाता है।[२८] सभिय परिव्राजक द्वारा बुद्ध वन्दना में पुनः इसी बात को दोहराया गया है। वह बुद्ध के प्रति कहता है "जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरीक कमल पानी में लिप्त नहीं होता उसी प्रकार शुभ पुण्य और पाप दोनों में लिप्त नहीं होते।[२९] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध विचारणा भी अन्तिम लक्ष्य शुभ और अशुभ से ऊपर उठना है।

शुद्ध कर्म (अकर्म)—शुद्ध कर्म का तात्पर्य उस जीवन व्यवहार से है जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालता है। अबन्धक कर्म ही शुद्ध कर्म है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते हैं कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन के मध्य क्या सम्बन्ध है? क्या 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति सर्वांश सत्य है? जैन, बौद्ध एवं गीता की विचारणा में यह युक्ति कि कर्म से प्राणी बन्धन में आता है सर्वांश या निरपेक्ष सत्य नहीं है। प्रथमतः कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं हैं फिर भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त ही कठिन है। गीता कहती है कि कर्म (बन्धक कर्म) क्या है? और अकर्म क्या है? इसके सम्बन्ध में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।[३०] कर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त गहन विषय है। यह कर्म समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें बताया गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं होता है कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समानरूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर वह अशुद्ध है और कर्म बन्धन का कारण है, परंतु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।[३१] कर्म का बन्धन की दृष्टि से विचार उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर नहीं किया जा सकता है, उसमें कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्ता के प्रयोजन को जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता है।

लेकिन फिर भी कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है यह आवश्यक है कि कर्म

और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जावेगा।[३२] वास्तविकता यह है कि नैतिक विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बन्धकत्व की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में समालोच्य आचार दर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है।

जैन दर्शन में कर्म-अकर्म विचार—कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—(१) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (२) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। कर्म का बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं जबकि कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन विचारणा में कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप की विवेचना सर्वप्रथम आचरांग एवं सूत्रकृतांग में मिलती है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कुछ कर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं, कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।[३३] जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं—'प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।'[३४] प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता की अवस्था नहीं, वह तो सतत जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म जागृति की दशा में सक्रियता अकर्म होती है जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुत: किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय भावों एवं राग-द्वेष की स्थिति पर निर्भर है।

जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष एवं कषाय जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा है किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं। लेकिन कषाय एवं आसक्ति से रहित किया हुआ कर्म-अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आश्रव या बन्धनकारक क्रियाएँ है वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती हैं।[३५] इस प्रकार जैन विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं। जैन की विचारणा में बन्धकत्व की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बाँटा गया है। (१) इर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतराग दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धनकारक नहीं है जबकि साम्परायिक क्रियाएँ (कर्म या विकर्म) इर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतराग दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धनकारक हैं। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएँ जो आश्रव एवं बन्ध का कारण हैं अकर्म हैं। जैन दृष्टि से अकर्म या इर्यापथिक कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तृत्व अथवा शरीर निर्वाह के लिए किये जाने वाले कर्म। जबकि कर्म का अर्थ है राग-द्वेष और मोह सहित क्रियाएँ। जैन दर्शन के अनुसार जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से युक्त होता है, बन्धन में डालता है और इसलिए वह कर्म है; जो क्रिया-व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर

कर्तव्य निर्वाह या शरीर-निर्वाह के लिए किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं है अत: अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन में इर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है उन्हें बौद्ध परम्परा अनुपचित, अव्यक्त या अकृष्ण, अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हें जैन परम्परा साम्परायिक क्रियाएँ या कर्म कहती है, उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती है।

बौद्ध दर्शन में कर्म-अकर्म का विचार—बौद्ध विचारणा में भी कर्म और उनके फल देने की योग्यता के प्रश्न को लेकर महाकर्म विभंग में विचार किया गया है, जिसका उल्लेख श्रीमती सूमादास गुप्ता ने अपने प्रबन्ध 'भारत में नैतिक दर्शन का विकास' में किया है।[३६] बौद्ध दर्शन का प्रमुख प्रश्न यह है कि कौन से कर्म उपचित होते हैं। कर्म के उपचित से तात्पर्य संचित होकर फल देने की क्षमता के योग्य होने से है। दूसरे शब्दों में कर्म के बन्धनकारक होने से है। बौद्ध परम्परा में अनुपचित कर्म जैन परम्परा के प्रदेशोदयी कर्म (इर्यापथिक कर्म) से तुलनीय है। महाकर्म विभंग में कर्म की कृत्यता और उपचितता के कर्म का एक चतुर्विद वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है—

१. वे कर्म जो कृत (सम्पादित) नहीं हैं लेकिन उपचित (फल प्रदाता) हैं—वासनाओं के तीव्र आवेग से प्रेरित होकर किये गये ऐसे कर्म संकल्प जो कार्य रूप में परिणित न हो पायें, इस वर्ग में आते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने क्रोध या द्वेष के वशीभूत होकर किसी को मारने का संकल्प किया हो, लेकिन वह उसे मारने की क्रिया को सम्पादित न कर सका हो।
२. वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित भी हैं—वे समस्त ऐच्छिक कर्म जिनको संकल्पपूर्वक सम्पादित किया गया है, इस कोटि में आते हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अकृत उपचित कर्म और कृत उपचित कर्म दोनों शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के हो सकते हैं।
३. वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित नहीं हैं—अभिधम्मकोश के अनुसार निम्न कर्म कृत होने पर उपचित नहीं होते हैं अर्थात् फल नहीं देते हैं—(अ) वे कर्म जिन्हें संकल्पपूर्वक नहीं किया गया है अर्थात् जो सचिन्त्य नहीं हैं, उपचित नहीं होते हैं। (ब) वे कर्म जो सचिन्त्य होते हुए भी सहसाकृत हैं, उपचित नहीं होते हैं। इन्हें हम आकस्मिक कर्म कह सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इन्हें विचार-प्रेरित कर्म कहा जा सकता है। (स) भ्रान्तिवश किया गया कर्म भी उपचित नहीं होता। (द) शुभ का अभ्यास करने से तथा आश्रय बल से भी पाप कर्म उपचित नहीं होता।
४. वे कर्म जो कृत भी नहीं हैं और उपचित भी नहीं हैं—स्वप्नावस्था में किए गये कर्म इसी प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रथम दो वर्गों के कर्म प्राणी को बन्धन में डालते हैं लेकिन अन्तिम दो प्रकार के कर्म प्राणी को बन्धन में नहीं डालते हैं। बौद्ध आचार दर्शन में भी राग-द्वेष और मोह से युक्त होने पर कर्म को बन्धन कारक माना जाता है जबकि राग-द्वेष और मोह से रहित कर्म को बन्धनकारक नहीं माना जाता है। बौद्ध दर्शन भी राग-द्वेष और मोह से रहित अर्हत के क्रिया व्यापार को बन्धनकारक नहीं मानता है। ऐसे कर्मों को अकृष्ण-अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है।

सन्दर्भ :

१. राजवीर शास्त्री, वैदिक कोश, पृ. ९५९, दिल्ली, सम्वत् २०३२।
२. दश वैकालिक वृत्ति १/३ श्राम्यन्ती श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः।
३. Sacred Books of East, Vol. XXII Introduction PP. 18-19
४. अभिधान, राजेन्द्र खण्ड ५, पृ. ८७६।
५. बोल संग्रह, भाग ३, पृ. १८२।
६. बौद्ध भा.व. पृ. ४८०।
७. अभिधम्मत्थ संगहो, पृ. १९-२०।
८. तत्त्वार्थ., पृष्ठ ६/४।
९. तत्त्वार्थ., पृष्ठ ६/४।
१०. योगशास्त्र ४/१०७।
११. स्थानांग टी १/११-१२।
१२. जैन धर्म, पृ. ८४-१०।
१३. भगवती, ७/१०/१२।
१४. स्थानांग ९।
१५. अभिधम्मत्थ संगहो (चैतसिक विभाग)
१६. अनुयोगद्वार सूत्र १२९।
१७. दशवै. ४/९।
१८. सूत्रकृतांग २/२/४ पृ. १०४।
१९. दशवै. ६/११
२०. सुत्तनिपात ३७/२७
२१. धम्मपद १२९-१३१-१३३
२२. उत्तराध्ययनसूत्र २८/१४।
२३. तत्त्वार्थसूत्र १/४
२४. इसि. ९/२
२५. समयसार १४५-१४६
२६. प्रवचनसार टीका १/७२
२७. समयसार टीका पृ. २०७
२८. सुत्तनिपात ३२/११
२९. सुत्तनिपात ३२/३८
३०. गीता ४/१६
३१. सूत्र कृतांग १/८/२२-२४
३२. गीता ४/१६
३३. सूत्र कृतांग १/८/१-२
३४. सूत्र कृतांग१/८/३
३५. आचरांगसूत्र १/४/२/१
३६. डेवलपमेंट आफ मारल फिलासफी इन इंडिया, पृष्ठ १६८-१७४।

□

अनेकान्तवाद का तात्त्विक मूल्य

—डॉ. अंजनी कुमार सिंह

भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों में जैन-धर्म की दार्शनिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन और समृद्ध है। इस परम्परा ने अनेकान्तवाद के रूप में वास्तविकता, सत्ता तथा द्रव्य के सम्बन्ध में अनेक उत्कृष्ट दार्शनिक विचार दिये हैं। जैसे आचार के क्षेत्र में भगवान् महावीर की अपूर्व देन अहिंसा है वैसे ही विचार के क्षेत्र में उनकी अपूर्व देन एकान्तवाद और स्याद्वाद है।

जैन दर्शन वस्तुवादी और सापेक्षतावादी बहुतत्त्ववाद में विश्वास करता है।[१] उसकी तत्त्वमीमांसा का आधारभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद है।[२] इस सिद्धान्त के द्वारा हमें वस्तु-सत्ता के वास्तविक और यथार्थ स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। साधारणतया हम चेतन द्रव्य (जीव) और अचेतन द्रव्य (अजीव) के रूप में वस्तु-सत्ताओं को समझने का प्रयास करते हैं। जैन दर्शन में इन सत्ताओं का विभाजन अस्तिकाय द्रव्य और अनस्तिकाय द्रव्य के रूप में हुआ है। उनके अनुसार काल ही एकमात्र अनस्तिकाय द्रव्य है। शेष सभी द्रव्य यथा आत्मा के रूप में जीव द्रव्य और धर्म, अधर्म, आकाश तथा पुद्गल[३] के रूप में अजीव द्रव्य अस्तिकाय द्रव्य हैं। इन्हें अस्तिकाय कहने का तात्पर्य है कि ये हैं (अस्ति) और काय या शरीर की भाँति स्थान या आकाश में व्याप्त अर्थात् विस्तृत हैं। जैन दर्शन द्रव्यों की इस समष्टि को अनेकान्तवाद के द्वारा समझने की बात करता है किन्तु इसके पहले कि जैन मत के अनुसार अनेकान्तवाद के अर्थ और प्रयोग को समझने का प्रयास किया जाए हमारे लिए यह जानना भी आवश्यक है कि जैन दर्शन द्रव्य को किस अर्थ में ग्रहण करता है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य सत् है। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को सत् का लक्षण मानता है। अर्थात् जिसमें सब समय उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता पायी जाती है वही सत् है।[४] इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु-सत्ता के अनुसार दो अंश होते हैं। एक को हम नित्यांश और दूसरे को अनित्यांश कह सकते हैं। नित्यांश के कारण प्रत्येक वस्तु-सत्ता नित्य या ध्रुव (ध्रौव्यात्मक) है और अनित्यांश के कारण उत्पत्ति-विनाशशील (उत्पादव्ययात्मक) है। इस तरह जैनों के अनुसार द्रव्य में सत्ता के तीनों लक्षण (उत्पत्ति, स्थिति और विनाश) विद्यमान होते हैं। किन्तु सत् या सत्ता के सम्बन्ध में बौद्धों के विचार जैनों से पर्याप्त

भिन्न हैं जिसकी जैन मत के अनुसार आलोचना की गयी है और उसका खण्डन करते हुए प्रकारान्तर से उनके क्षणभंगवाद के विरुद्ध युक्तियाँ भी प्रस्तुत की गयी हैं।[५]

जैन दर्शन द्रव्य का एक दूसरा लक्षण भी प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार द्रव्य गुण पर्याय वाला होता है।[६] अर्थात् द्रव्य वह है जिसके गुण और पर्याय हों। तत्त्व में एकता और अनेकता, जातित्व और व्यक्तित्व, नित्यता और नित्यता, दोनों साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। उनमें कोई विरोध नहीं होता क्योंकि द्रव्य की दृष्टि से एकता, जाति और नित्यता की सिद्धि होती है तथा पर्याय की दृष्टि से अनेकता, विशेषता और अनित्यता की सिद्धि होती है।[७] इस प्रकार जैन दर्शन में वैदिक धर्म-दर्शन की एकता, नित्यता और विभुता का समावेश हुआ है और हीनयान बौद्ध धर्म-दर्शन की अनेकता, अनित्यता और विशेषता का समावेश हुआ है। जैन-दर्शन वस्तु के एक अंश को ही उसका सम्पूर्ण स्वरूप मान लेना असत्य और भ्रामक मानता है। उसके अनुसार यह एकान्तवाद है। जैन मत वस्तु के अनन्त गुण और पर्याय स्वीकार करता है। इसीलिए वह स्वयं को अनेकान्तवादी कहता है।

अनेकान्तवाद में 'अन्त' पद का अर्थ वस्तु और धर्म दोनों है अर्थात् इस लोक में अनेक वस्तुएँ हैं और इनमें से प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म हैं। जैन-दर्शन तत्त्व को अनन्त धर्मात्मक मानता है क्योंकि उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं।[८]

वस्तु सत्ता की अनन्त धर्मात्मकता सामान्य दृष्टि से गोचर नहीं होती किन्तु जब हम दार्शनिक दृष्टि से किसी वस्तु-सत्ता के विषय में विचार करते हैं अथवा उसकी विश्लेषणात्मक मीमांसा करते हैं तो उसके अनन्त धर्म दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इसलिए जैन दर्शन जब यह कहता है कि प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं तो उसके तात्त्विक अभिप्राय को समझना आवश्यक हो जाता है।

किसी भी द्रव्य के गुण उसके नित्य विद्यमान धर्म होते हैं किन्तु उसके पर्याय आकस्मिक रूप से उसमें विद्यमान रहने वाले या उसके अन्दर आते-जाते रहने वाले उसके सांयोगिक या आगन्तुक धर्म होते हैं। यदि नित्य विद्यमान गुणों की दृष्टि से किसी भी वस्तु-सत्ता के अन्दर सीमित गुण हैं तो आकस्मिक और सांयोगिक धर्मों अर्थात् पर्यायों की दृष्टि से दो प्रकार के धर्म होते हैं—एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक। जैन दार्शनिकों ने भावात्मक धर्मों को 'स्वपर्याय' और अभावात्मक धर्मों को 'परपर्याय' कहा है। उदाहरण के लिए हम किसी मनुष्य को ले सकते हैं। उसके आकार, रंग, रूप, गोत्र, कुल, जाति, व्यवसाय, जन्म-स्थान, जन्म-तिथि, वास-स्थान, आयु आदि प्रथम प्रकार के धर्म हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अभावात्मक धर्म भी उस मनुष्य में हैं जो अन्य वस्तुओं से उसका भेद सूचित करते हैं। हमें यदि उस मनुष्य के सम्बन्ध में पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करना है तो हमें जानना होगा कि वह अन्य सभी वस्तुओं से किस प्रकार भिन्न है। हो सकता है कि किसी एक व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में हमें जानना पड़े कि वह यूरोपियन, चीनी, निग्रो, ईसाई, मुसलमान, पारसी, मूर्ख, धूर्त, स्वार्थी आदि नहीं है। अभावात्मक धर्मों की संख्या भावात्मक धर्मों से बहुत अधिक है, क्योंकि अन्य सभी वस्तुओं से जो भेद होते हैं वे ही अभावात्मक धर्म कहे जाते हैं।[९]

इसी तरह यदि किसी वस्तु का विचार उसके भावात्मक तथा अभावात्मक धर्मों के अनुसार हो, तो

इससे यह स्पष्ट है कि वह कोई साधारण पदार्थ नहीं है बल्कि अनन्त है क्योंकि हम पहले ही यह देख चुके हैं कि विशेषत: अभावात्मक धर्मों की संख्या बहुत अधिक होती है।

इन धर्मों के साथ-साथ यदि काल का विचार किया जाए तब उसकी अनन्तता और भी अधिक बढ़ जायेगी क्योंकि काल-क्रम के अनुसार उसके धर्मों में परिवर्तन होता रहता है और उसमें नये-नये धर्मों की उत्पत्ति होती रहती है। अत: अनन्तधर्मकं वस्तु का विचार बिल्कुल उपयुक्त है।

इस प्रकार जैन दार्शनिक द्रव्य के नित्य धर्मों (गुण) और आगन्तुक या परिवर्तनशील धर्मों (पर्याय)[१०] के आधार पर ही उसके स्वरूप को समझने पर बल देते हैं और इसी अर्थ में वह प्रत्येक वस्तु-सत्ता को अनन्त धर्मों वाला मानते हैं।

तत्त्व की यह दृष्टि सत्ता या द्रव्य के स्वरूप को बहु आयामी बना देती है। वह नित्यता और अनित्यता दोनों से मुक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए जब हम अपने जगत् के स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हैं तो देखते हैं कि यह जगत् भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यों के संयोग से बना है। यदि हम जैन दृष्टि के अनुसार यह मानते हैं कि द्रव्य के गुण परिवर्तनशील नहीं होते हैं तो इस दृष्टि से जगत् हमें नित्य दिखाई देता है और यदि हम उपरोक्त दृष्टि के अनुसार यह मानते हैं कि द्रव्य के पर्याय बदलते रहते हैं तो इस दृष्टि से जगत् हमें अनित्य और परिवर्तनशील दिखाई देने लगता है। इस तरह हम जैन दृष्टि के अनुसार इस जगत् को एक दृष्टि से नित्य और दूसरी दृष्टि से अनित्य दोनों मान सकते हैं। इसीलिए जैन-दर्शन बौद्ध-दर्शन के क्षणभंगवाद और अद्वैतवाद के नित्यवाद दोनों को एकांगी मानता है। बौद्ध-दर्शन किसी भी वस्तु की सत्ता को एक क्षण से अधिक विद्यमान नहीं मानता, उसके लिए परिवर्तन ही सत्य है और अद्वैत वेदान्त परिवर्तन को माया मानता है और केवल ब्रह्म को ही नित्य तथा सत्य मानता है।[११] इस तरह दोनों दर्शनों में जैन मत के अनुसार एकान्तवाद का दोष पाया जाता है। यथार्थत: उसके मत में नित्यता और परिवर्तन दोनों सत्य हैं। यदि हम कहें कि जगत् नित्य तथा परिवर्तनशील है तो इस कथन में कोई विरोध नहीं होगा क्योंकि यह कथन जगत् की दो दृष्टियों पर आधारित है। एक दृष्टि से जगत् की नित्यता सत्य है और दूसरी दृष्टि से उसका परितर्वन भी सत्य है। अत: अनेकान्तवाद के ज्ञान के विचारों का विरोध समाप्त हो जाता है और उनके सापेक्षिक सत्य की पुष्टि होती है। सत्ता के सत्य को हम उसके निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों अर्थों में ग्रहण करने में सक्षम हो जाते हैं।

किसी भी दर्शन की तत्त्वमीमांसा उस दर्शन की ज्ञानमीमांसा के स्वरूप और प्रकृति की दिशा का निर्धारण करती है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद जैन दर्शन की दिशा और उसके स्वरूप का निर्धारक सिद्धान्त है। इसका प्रभाव न केवल हमारे ज्ञान के स्वरूप पर पड़ता है बल्कि ज्ञान के निर्वचन के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया पर भी पड़ता है जिससे जैन दर्शन की ज्ञानमीमांसा भी उसकी तत्त्वमीमांसा की भाँति एक उत्कृष्ट और सर्व समन्वयात्मक ज्ञानमीमांसा बन जाती है।

जैन दार्शनिक यह मानता है कि किसी वस्तु-सत्ता के अनेक धर्म होने के कारण उसके विषय में किया जाने वाला कथन या उसके विषय में दिया जाने वाला परामर्श सर्वांग रूप से परिपूर्ण नहीं होता। केवल केवली पुरुष ही केवल-ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अनन्त धर्मों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

किन्तु साधारण मनुष्य किसी वस्तु को किसी समय एक ही दृष्टि से देख सकता है। इसलिए वह उस वस्तु का एक ही धर्म जान सकता है।[१२] वस्तुओं के इस आंशिक ज्ञान को जैन दार्शनिक 'नय'[१३] कहते हैं। इस आंशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श होता है उसे भी 'नय' कहते हैं।[१४] किसी भी विषय के सम्बन्ध में जो हमारा परामर्श होता है वह सभी दृष्टियों से सत्य नहीं होता। उसकी सत्यता उसके 'नय' पर निर्भर करती है; अर्थात् जिस दृष्टि तथा जिस विचार से किसी विषय का परामर्श होता है, उसकी सत्यता उसी दृष्टि तथा उसी विचार पर निर्भर करती है। हमारे मतभेद का कारण यह है कि हम उपर्युक्त सिद्धान्त को भूल जाते हैं और अपने विचारों को सर्वथा सत्य मानने लगते हैं।

जैन आगमों में महावीर को विभज्यवादी[१५] कहा गया है। इसका अर्थ पृथक्करण पूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण व सत्यों का यथावत समन्वय करना है। बुद्ध भी अपने को विभज्यवादी कहते हैं।[१६] विभज्यवाद में एकान्तवाद का परित्याग अन्तर्निहित है। विभज्यवाद का ही दूसरा नाम अनेकान्त है क्योंकि विभज्यवाद में एकान्त दृष्टिकोण का त्याग है किन्तु बौद्ध-परम्परा में विभज्यवाद के स्थान पर मध्यम-मार्ग शब्द विशेष रूप से रूढ़ है।

अनेकान्त दृष्टि से ही नयवाद[१७] तथा सप्तभंगी विचार[१८] का जन्म हुआ है। नयवाद तथा स्याद्वाद परस्पर पूरक हैं। दोनों का मुख्य संकेत इसी ओर है कि सत्ता का ज्ञान सापेक्षात्मक है।

जैन दर्शन कहता है कि जब प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का समूह है तो उस अनेक धर्मात्मक वस्तु को जानना उतना कठिन नहीं है जितना शब्दों के द्वारा उसे कहना कठिन है; क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मों को एक साथ जान सकता है, किन्तु एक शब्द एक समय में वस्तु के केवल एक ही धर्म का आंशिक व्याख्यान कर सकता है। इस पर भी शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है। वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का मुख्य रूप से कथन (वचन में व्यवहार) करता है; जैसे, देवदत्त को एक ही समय में उसका पिता भी पुकारता है और उसका पुत्र भी पुकारता है। पिता उसे पुत्र कहकर पुकारता है, उसका पुत्र उसे पिता कहकर पुकारता है किन्तु देवदत्त न केवल पिता ही है और न केवल पुत्र ही है किन्तु पिता भी है और पुत्र भी है। इसलिए पिता की दृष्टि से देवदत्त का पुत्रत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण हैं तथा पुत्र की दृष्टि से देवदत्त का पितृत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण हैं; क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु में जिस धर्म की विवक्षा होती है वह धर्म मुख्य कहलाता है और इतर धर्म गौण होता है। अत: जब वस्तु अनेक धर्मात्मक प्रमाणित हो चुकी है और शब्द में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह उसके पूरे धर्मों का कथन एक समय में कर सके और जब प्रत्येक वक्ता अपनी-अपनी दृष्टि से वचन का व्यवहार करता हुआ देखा जाता है तब वस्तु के स्वरूप को समझने में श्रोता को कोई भ्रम (धोखा) न हो, इसलिए जैन धर्म ने स्याद्वाद के सिद्धान्त का आविष्कार किया।

स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार विवक्षित धर्म से इतर धर्मों का द्योतक या सूचक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ गुप्त रूप से सम्बद्ध रहता है। स्यात् शब्द का अभिप्राय 'कथंचित' या 'किसी अपेक्षा' से है। अत: संसार में जो कुछ भी है वह किसी अपेक्षा से नहीं भी है। इसी अपेक्षावाद का सूचक 'स्यात्' शब्द के बिना अनेकान्त का प्रकाशन सम्भव नहीं है। अत: एक ही वस्तु के सम्बन्ध में उत्पन्न हुए विभिन्न

दृष्टिकोणों का समन्वय स्याद्वाद के द्वारा किया जाता है।

इस प्रकार जैन दार्शनिक वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता के कारण स्याद्वाद के माध्यम से सप्तभंगी नय के रूप में वस्तु विषयक सापेक्षिक कथनों का परामर्श देते हैं। उनका स्याद्वाद न तो संशयवाद है, न कदाचित्वाद है, न सम्भववाद है और न अभीष्टवाद है, अपितु खरा अपेक्षायुक्त निश्चयवाद है। स्यात् शब्द वस्तु के सुनिश्चित दृष्टिकोण से उस धर्म का वर्णन करके भी अन्य अविलक्षित धर्मों का अस्तित्व भी वस्तु में द्योतित करता है। अकलंक के शब्दों में स्याद्वाद वस्तु के यथार्थ रूप का निश्चय करने के कारण सद्वाद है।[१९] वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य कहना भी असद्वाद है क्योंकि इस दशा में अवक्तव्य यह वचन भी नहीं बोल सकेंगे जैसे कि मौनव्रती 'मैं मौन हूँ' यह भी नहीं बोल सकता। अतः स्यात् से संयुक्त वक्तव्यवाद ही सत्य है और हित-अहित विवेक भी इसी से होता है।

आचार्य शंकर ने तर्कपाद में बादरायण के सूत्र नैकस्मिन्नसम्भवात् (२.२.३३) की व्याख्या करते हुए अनेकान्तवाद पर अनिश्चितता का आरोप लगाया है। उनके अनुसार कोई वस्तु है भी और नहीं भी है। ऐसा कहना अनिश्चितता का द्योतक है। एक ही वस्तु में दो परस्पर विरुद्ध कोटिक धर्मों का कथन असंगत है। किन्तु यदि अनेकान्तवाद को ठीक प्रकार से और ठीक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया जाए तो यह आक्षेप उचित प्रतीत नहीं होगा। हम व्यवहार में एक वस्तु में दो परस्पर विरोधी धर्मों की उपस्थिति पाते हैं। जैसे भारत स्वदेश भी है और विदेश भी, देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी। अतः महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि किसी वस्तु में दो परस्पर विरोधी धर्म हो सकते हैं या नहीं अथवा उनका कथन किया जा सकता है या नहीं; बल्कि महत्त्वपूर्ण यह है कि किसी भी वस्तु के अन्दर विद्यमान अनन्त धर्मों की उपस्थिति को जो परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाली भी हो सकती हैं, उनका कथन करने के लिए हमें उसे आपेक्षिक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करना होगा और उसका कथन या परामर्श भिन्न-भिन्न दृष्टियों के आधार पर करने के लिए या उन्हें उनके उपयुक्त सन्दर्भों में समझने के लिए स्यात् शब्द से युक्त करके अनेकान्तवादी दृष्टि से सप्तभंगी नय के रूप में प्रस्तुत करना होगा। इसलिए अनेकान्तवाद या स्याद्वाद अनिश्चितता का सूचक न होकर एक निश्चित अपेक्षावाद का सूचक है।

आचार्य शंकर की दूसरी आपत्ति चौथे भंग स्यात् अवक्तव्य पर है। उनके अनुसार पदार्थ अवक्तव्य नहीं हो सकते। यदि वे अवक्तव्य हैं तो उनका कथन नहीं किया जा सकता। कथन भी किया जाए और अवक्तव्य भी कहा जाए ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं किन्तु यदि जैन वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य कहते तब तो आचार्य शंकर की यह आपत्ति ठीक हो सकती थी किन्तु जैन अपेक्षाभेद से वस्तु को अवक्तव्य कहते हैं इसलिए आचार्य शंकर की आपत्ति उचित नहीं है। अवक्तव्य के साथ स्यात् शब्द लगाने का तात्पर्य यही है कि वस्तु सर्वथा अवक्तव्य नहीं है किन्तु किसी एक दृष्टिकोण से अवक्तव्य भी है।[२०]

जैनों के अनुसार अद्वयब्रह्मवाद संग्रहाभास है[२१] क्योंकि इसमें भेद का सर्वथा निराकरण कर दिया गया है। संग्रह नय में अभेद मुख्य होने पर भी भेद का निराकरण नहीं किया जाता। वह गौण अवश्य हो जाता है किन्तु उसके अस्तित्व से इंकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार अनेकान्तवाद अपनी महत्त्वपूर्ण तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय स्थापनाओं के कारण

जैन-दर्शन और भारतीय दर्शन-परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है[२२] जिसके तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय महत्त्व तथा प्रभाव को समाहार की दृष्टि से संक्षेप में प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा—

(१) जैन दर्शन में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त जैन चिन्तन की समग्रता को प्रस्तुत करता है। यह उसकी ज्ञानमीमांसा, उसके आचारशास्त्र का आधारभूत सत्य है।

(२) स्याद्वाद के सिद्धान्त को मानस अहिंसा का प्रतीक माना जा सकता है। जब हम जैन मत के अनुसार वस्तु के स्वरूप को अनन्त धर्मात्मक परिप्रेक्ष्य में देखने और समझने का प्रयास करते हैं और उसकी अभिव्यक्ति सापेक्षिक सत्य से सम्बन्धित कथनों के आधार पर करते हैं तो उससे हमारे विचारों की वैचारिक सहिष्णुता का परिचय मिलता है। हम अन्य दार्शनिक मतों की सत्यता को भी उनकी विशेष दृष्टियों के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न करते हैं। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की दृष्टियों का पालने करने से हमारे मानसिक विवादों, द्वेषों और हिंसात्मक आचरणों की व्यर्थता स्पष्ट होती है। इसीलिए जैन दार्शनिक कहते हैं कि जिसने किसी एक भाव को सर्वथा देख लिया है उसने सभी भावों को सर्वथा देख लिया है और जिसने सभी भावों को सर्वथा देख लिया है उसने ही किसी एक भाव को सर्वथा देखा है।[२३]

(३) जैन मत के अनेकान्तवाद के प्रयोग से जैन दार्शनिकों के तीन उद्देश्यों की पूर्ति होती है—

पहला—इससे यह प्रमाणित होता है कि सत्य या सत्ता विषयक अन्यान्य दार्शनिक मतों के सिद्धान्त एकान्तिक हैं। उन्होंने सत्य या सत्ता की जो अभिव्यक्ति की है वह अपूर्ण है।

दूसरा—अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के द्वारा जैन दार्शनिकों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त सहिष्णु है क्योंकि सभी सिद्धान्त अपनी-अपनी दृष्टि से अपना एक औचित्य रखते हैं तथा उनके अन्दर भी किसी सीमा तक सत्य का अंश विद्यमान है।

तीसरा—जैन मत यह मानता है कि संशयवाद और अज्ञेयवाद को जीता जा सकता है क्योंकि सभी वैकल्पिक दृष्टियों में कुछ सत्य अवश्य विद्यमान है। इसलिए विभिन्न सन्दर्भों के मूल्य को समझकर हम पूर्ण सत्य को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार अन्ततः निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तरण नहीं है बल्कि वह जैन दर्शन की एक बहुमूल्य देन है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी :

श्री प्रमहा खोमसन खेमकीर्ति के संयोजकत्व में कुशीनगर के थाई मन्दिर में सम्पन्न हुए भारत दर्शन परिषद् के २३वें अधिवेशन में यह लेख प्रस्तुत किया गया है।

१. (क) रियलिस्टिक एण्ड रिलेटिविस्टिक प्ल्यूरलिज्म। रियलिज्म के लिए वास्तवाद और यथार्थवाद जैसे शब्दों का प्रयोग भी प्रचलित है।

(ख) पाश्चात्य सापेक्षतावाद की दृष्टि से जैन अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को वस्तुवादी सापेक्षतावाद कहा जा सकता है क्योंकि जैन दार्शनिक मानते हैं कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है तथापि यह केवल मन पर निर्भर नहीं है बल्कि वस्तुओं के धर्मों पर भी निर्भर है।

२. डॉक्ट्रिन ऑफ दि मेनीनेस ऑफ रियलिटी ऑर दि डाक्ट्रिन ऑफ मल्टीपुल मॉडलिटी।

३. पुद्‌गल जड़-तत्त्व को कहते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार पुद्‌गल का अर्थ है जिसका संयोग और विभाग हो सके—पूरयन्ति गलन्ति च। (सर्वदर्शन संग्रह, ३)। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भौतिक जड़ द्रव्य के लिए पुद्‌गल शब्द का प्रयोग केवल जैन दर्शन में ही मिलता है, अन्य दर्शन इसे परमाणु प्रधान, प्रकृति, अचित, माया आदि नाम देते हैं। पुनः यह भी ध्यातव्य है कि जहाँ जैन दर्शन ने भौतिक जड़ द्रव्य को पुद्‌गल कहा है वहाँ इसके विपरीत बौद्ध दर्शन ने चेतन जीव को पुद्‌गल नाम दिया है।

४. उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तं सत्। (तत्त्वार्थ सूत्र, ५.२९)

५. अन्य योग., २३-२५

८. अनन्तधर्मकं वस्तु। अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्। (अन्य योग., पृ. २२)

९. स्तोकाः स्वपर्यायाः परपर्यायास्तु व्यावृत्तिरूपाअनन्ता, अनन्तेभ्यो द्रव्येभ्यो व्यावृत्तित्वात्। षड्दर्शन-समुच्चय, श्लोक ५५, गुणरत्न की टीका।

१०. जैन दार्शनिक स्वरूप धर्मों को 'गुण' और आगन्तुक धर्मों को 'पर्याय' कहते हैं। स्वरूप धर्म वे हैं जो द्रव्य में सदैव विद्यमान रहते हैं। इन धर्मों के अभाव में किसी भी द्रव्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए चैतन्य आत्मा का स्वरूप धर्म है। आगन्तुक धर्म द्रव्य में सदैव विद्यमान नहीं रहते। वे आते-जाते रहते हैं। इच्छा, संकल्प, सुख-दुःख आदि आत्मा के परिवर्तनशील धर्म हैं। इन्हीं धर्मों से द्रव्य में परिवर्तन लक्षित होता है।

११. स्याद्वादमंजरी, श्लोक २६

१२. इस विषय में जैन परम्परा के अन्दर एक हाथी और कुछ अन्धों की कथा प्रसिद्ध है। प्रत्येक अन्धा अपने द्वारा बताये गये हाथी के विवरण को ही सत्य समझता है जो किसी दृष्टि से सत्य होते हुए भी अन्य अन्धों के परामर्श की दृष्टि से असत्य है। अतः हमें यहाँ यह समझना है कि दृष्टि-भेद हमारे विचार-भेद का कारण बनता है और इस दृष्टि-भेद का कारण हमारा आंशिक ज्ञान होता है जिसे हम पूर्ण ज्ञान और पूर्ण सत्य समझते हैं।

१३. एकदेश-विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः। (न्यायावतार, श्लोक २९)

१४. नयति प्रापयति संवेदनम् आरोह्यतीति नयः, प्रमाणप्रवृत्तेरूत्तरकालभावी परामर्शः। (न्यायावतार-विवरण, श्लोक २९)

१५. सूत्र कृतांग, १.१४.२२

१६. मज्झिम निकाय, सूत्र ९९

१७. अकलंक देव ने सात भंगों को सकलादेश और विकलादेश कहा है। स्याद्वाद सकलादेश तथा नय विकलादेश है। सकलादेश को प्रमाण तथा विकलादेश को नय कहते हैं—

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ—स्याद्वादानय संज्ञितौ।
स्यादवाद सकलादेशो नयो विकलसंगथा॥ ३२॥ (लघीयस्त्रय)

सातो भंग जब सकलादेशी होते हैं तब प्रमाण और जब विकलोदशी होते हैं तब नय कहे जाते हैं। इस तरह सप्तभंग भी प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी के रूप में विभाजित हो जाते हैं। एक धर्म के द्वारा समस्त धर्म को अखण्ड रूप से ग्रहण करने वाला सकलादेश है और उसी धर्म को प्रधान तथा शेष धर्म को गौण करने वाला विकलादेश है।

१८. सत् विषयक सप्तभंगी नय का प्रथम भंग (१) स्यात् अस्ति घटः है, इसका प्रतिपक्ष (२) स्यात् नास्ति घटः (३) तीसरा भंग युगपद कहने से असमर्थ होने से स्यात् अस्ति च नास्ति च घटः, (४) स्यात् अवक्तव्यो घटः, (५) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यो घटः च, (६) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यो घटः च (७) स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यो घटः च—इस प्रकार जैन दर्शन परामर्श के लिए सात भंगों का अनुमोदन करता है।

१९. स्याद्वादो निश्चितार्थः।

२०. न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्यं सम्भवति। अवक्तव्वश्चेन्नोज्येरत्। उच्यन्ते चावाक्तश्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्।

(ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, २.२.३३)

२१. नैगम नय (यूनिवर्सल-कम-पर्टिकुलर स्टैण्डप्वाइंट) दो धर्मों में, दो धर्मियों में तथा धर्म तथा धर्मी में एक ही प्रधान तथा अन्य को गौण मानता है, संग्रह नय (क्लास व्यू) केवल अभेद को ही प्रमुख मानता है और व्यवहार नय मात्रा भेद को ही प्रमुख मानता है।

अन्य नयों यथा ऋजु सूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय और एवंभूत नय में यदि हम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय मिला दें तो नयों की कुल संख्या सात हो जाती है। इनके अतिरिक्त तीन उपनय भी हैं। इनका विस्तृत विवरण यहाँ उपेक्षित नहीं है। केवल संग्रहाभास को स्पष्ट करने के लिए ही नैगम नय, संग्रह नय और व्यवहार नय का उल्लेख किया गया है।

२२. (१) स्वर्गीय महामहोपाध्याय डॉक्टर गंगानाथ झा, हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक श्रीफणिभूषण अधिकारी आदि विद्वानों ने जैन मत के खण्डन को और उसके सिद्धान्तों को गलत रूप से समझने के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ की हैं।

याकोबी जैसे विद्वान् भी जो आरम्भ में जैन तत्त्वमीमांसा के आलोचक रहे उन्होंने बाद में जैन चिन्तन के समग्र स्वरूप को स्वीकार कर लिया था।

(कृपया एस.गोपालन की पुस्तक 'जैन-दर्शन' की रूपरेखा देखें।)

(२) अनेकान्तवाद और सप्तभंगवाद का विकास दार्शनिक क्षेत्र में हुआ था इसलिए उसका उपयोग भी वहीं हुआ। उपलब्ध जैन वाङ्मय में दार्शनिक क्षेत्र में सप्तभंगवाद को चरितार्थ करने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र को ही प्राप्त है। उन्होंने अपनी आप्तमीमांसा (कारिका मं. ९-२०) में सांख्य को सदैकान्तवादी, माध्यमिक को असदैकान्तवादी, वैशेषिक को सद्सैदकान्तवादी और बौद्ध को अवक्तव्यैकान्तवादी बतलाकर मूल चार भंगों का उपयोग किया और शेष तीन भंगों का उपयोग करने का संकेत मात्र कर दिया। उनके पश्चात् आप्तमीमांसा पर अष्टशती (अष्टसहस्री, पृ. १३८-१४२) नामक भाष्य के रचयिता श्री अकलंकदेव ने शेष तीन भंगों का उपयोग करके उस कमी को पूरा कर दिया। उनके मत से शंकराचार्य का अनिर्वचनीयवाद सदवक्तव्य, बौद्धों का अन्यायोहवापद असद्वक्तव्य कोटि का भंगवाद है। इस तरह उन्होंने सभी मतें में सातों भंगों का उपयोग दिखाया है।

२३. एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टः एकोभावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

२४. प्रो. पी.टी. राजू, स्ट्रक्चरल डेप्थ्स ऑफ इण्डियन थॉट, पृष्ठ ११३-११४।

□

वेदों में आगम-तन्त्र-परम्परा के सूत्र

—प्रो. माता प्रसाद त्रिपाठी

यह सर्वज्ञात तथ्य है कि आगम-परम्परा निगम-भिन्न-परम्परा है। यह विचारधारा निगम-परम्परा के समानान्तर ही भारतवर्ष में अपनी न्यूनाधिक विशेषताओं के साथ चलती आई है। यद्यपि भ्रान्तिवश विद्वज्जन भी आगम-तन्त्र की धारा को पश्चाद्वर्ती मान लेते हैं। यह भ्रान्ति वस्तुत: अज्ञानतावश है। भारत के प्राचीनतम वाङ्मय वेद हैं; उनके समग्र पर ध्यान दें तो यह धारा निगम (वेद) के समानान्तर सूत्र-संकेत रूप में ही सही, निश्चय ही, विद्यमान रही है बल्कि आगम-तन्त्र के कतिपय तत्त्व तो पुरा-वैदिक सिद्ध हो सकते हैं। हाँ, अथर्वाङ्गिरस-परम्परा अथवा भृग्वाङ्गिरा-परम्परा अर्थात् अथर्ववेद के अनेक सांस्कृतिक सूत्र प्राक् ऋग्वेदीय भी हो सकते हैं।[१]

आगम-तन्त्र की महत्ता का संकेत मात्र इस बात से ही मिल जाता है कि एक तरफ इस अति पुरातन परम्परा के लक्षण सुदूर अतीत काल से ही भारत से इसकी सीमा के बाहर अनेक देशों में फैलते रहे और मनीषियों के बीच संवाद, चिन्तन व प्रयोग के आधार बने तो आधुनिक युग में उन्नीसवीं शताब्दी से ही आगम-तन्त्र पर न केवल भारतीय विद्वान् अपितु पाश्चात्य मनीषी भी आकृष्ट हुए। भारत में तो इस धारा की महिमा कतिपय ऐसी विभूतियों द्वारा व्यक्त की गयी, जिनकी मनीषा स्थूल भौतिक ज्ञान से ऊपर परम् आध्यात्मिक भाव से अनुप्राणित थी। महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज एक ऐसे ही सिद्ध साधक मनीषी थे। कविराजजी का कृतित्व आगम-तन्त्र-ज्ञान के सैद्धान्तिक विमर्श के लिए तो उपादेय है ही, उनकी स्वयं की सतत साधना के बिम्ब भी उनकी अभिव्यक्ति में अनुस्यूत हैं। इस महती परम्परा को हृदयङ्गम करने के लिए अन्तत: एक आधार पर अप्रतिम मनीषी ने भी दिया है कि इस धारा में गुरु का स्थान सर्वोपरि है—

किमत्र बहुनोक्तेन कोटिशास्त्रशतेन वा।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम्॥

(अर्थात् अधिक कुछ कहने से क्या लाभ, कहने को तो करोड़ों शास्त्र हैं, परन्तु चित्त को विश्रान्ति मिलती है गुरु-कृपा से ही! और यह अनुकम्पा 'परा' अनुकम्पा है जो दुर्लभ है!!)।

आगम-तन्त्र-परम्परा को उपलक्षित करते हुए कहा जा सकता है कि ज्ञान का आधार-स्रोत शास्त्र नहीं अपितु 'गौरव' है। गुरुत्व की इस महिमा का प्रथम संकेत भी वेदों में प्राप्त है। संहिताओं—मन्त्रों-ब्राह्मणों में सम्भव है कि इस तरह के संकेत छान्दसी भाषा में व्यंजना में हों पर उत्तर-वैदिक वाङ्मय और वेदों के ज्ञान-काण्ड के प्रतिपादक उपनिषद् : श्वेताश्वतरोपनिषद् (६.२३) का एक वचन इस सन्दर्भ में उद्धरणीय है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

यहाँ 'परा भक्ति' की चर्चा पहली बार हुई है और कहा गया है कि जैसी आस्था 'देव' में हो, वैसी ही होनी चाहिए 'गुरु' में भी।

सतत गुरु-शिष्य-संवाद एवं गहन चिन्तन-विमर्श से सुदूर अतीत-काल से चली आ रही आगम-तन्त्र-परम्परा आध्यात्मिक ज्ञान के स्तर पर एक असाधारण चिन्तन-धारा है। वेदों में आगम-तन्त्र-परम्परा के सूत्र और इन सूत्रों के आधार पर यह स्वीकार करना समीचीन होगा कि—(१) वैदिक आर्यों की मुख्य धारा (निगम-परम्परा) के समानान्तर ही आगम-परम्परा भी प्राचीन भारतीय समाज में किसी-न-किसी रूप में प्रचलित अवश्य थी तथा (२) शास्त्रावतरण और अध्यास (लोक-व्यवहार) के स्तर पर आगम-तन्त्रों का ऐतिहासिक युगों में जो उत्कर्ष या कि जो अभ्युदय-विकास हुआ, उसके प्राग्रूप, निश्चय ही, वेदों में ही प्राप्य हैं।[२]

ध्यातव्य है कि तन्त्रों की मूलभूत पाँच विशेषताएँ हैं—१. यन्त्र, २. मन्त्र, ३. मण्डल, ४. कुण्डलिनी-जागरण तथा ५. पंच मकार (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन)। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये तान्त्रिक विशेषताएँ उपलक्षित हैं ऐतिहासिक युगों में, ऐतिहासिक युगीन आगम-तन्त्र-परम्परा के अभ्युदय-विकास में, स्पष्टतः क्रमशः कुषाण, गुप्त-गुप्तोत्तर एवं पूर्व मध्य युग के किंवा इन ऐतिहासिक काल-खण्डों के शिल्प में-साहित्य में, संगीत में, सर्वत्र, यहाँ तक कि ब्राह्मण-परम्पराओं में ही नहीं अपितु श्रमण (बौद्ध-जैन-आजीवक) और अन्य अनेक लोक-परम्पराओं में भी—क्योंकि आगम-तन्त्र-परम्परा का प्रभाव विराट् ब्रह्मवर्चस् की भाँति सर्वत्र और समस्त (जड़-चेतन) पर पड़ा। साक्षी है इतिहास! समग्र का मूल्यांकन करें तो इन युगों का इतिहास-बोध और तदनुरूप प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास!

और मेरा मन्तव्य जुड़ा है उपर्युक्त विवेचन की पृष्ठभूमि से, स्पष्टतः वैदिक पृष्ठभूमि से जहाँ आगम-तन्त्र-परम्परा की सुविकसित विशेषताएँ ढूँढ़ना अनावश्यक है और गलत भी—क्योंकि वेदों में अभिव्यक्त है भी तो इस महती परम्परा के कतिपय पक्ष, वह भी सूत्र-संकेत रूप में। उदाहरण के लिए उपर्युक्त मूल विशेषताओं में यन्त्र, मन्त्र तथा पंच मकारों के सूत्र तो वेदों में उपलक्षित हैं और 'मण्डल' सम्बन्धी वैदिक सामग्री का संकलन और गहन विवेचन एक अलग एवं गम्भीर शोध का विषय है, किन्तु वेदों में 'कुण्डलिनी जागरण' के सिद्धान्त ढूँढ़ना सूरज की रोशनी में चाँद की तलाश करना है।

इसके पूर्व कि हम उपलब्ध वैदिक साक्ष्यों के आलोक में आगम-तन्त्र-परम्परा के कतिपय अर्थात् तत्कालीन तान्त्रिक प्रवृत्तियों का निदर्शन करें, आगम-तन्त्रशास्त्र के एक पाश्चात्य मनीषी का सादर स्मरण

करें-जिनके विशद एवं अप्रतिम कृतित्त्व ने लगभग एक शताब्दी पूर्व ही विश्वस्तरीय मनीषियों को चमत्कृत एवं अभिभूत कर दिया था। मैं उल्लेख करना चाहूँगा सर जॉन ऊड्रफ का, (जो 'आर्थर एवलान' नाम से भी सुविख्यात थे)। तन्त्रशास्त्र के अनेक ग्रन्थों के यशस्वी सम्पादक और सारे विश्व को आगम-परम्परा की महिमा से चकित कर देने वाले दर्जनों विशिष्ट ग्रन्थों के रचयिता सर जॉन ऊड्रफ पहले प्राच्य विद्याविद् थे जिन्होंने 'तन्त्रशास्त्र एवं वेद' विषय पर सर्वप्रथम विचार किया और उसकी सारगर्भित व्याख्या की। एतद्विषयक उनके विचार-सूत्र तो उनके अनेक ग्रन्थों में मिल सकते हैं, किन्तु उनकी महान् कृति 'शक्ति एण्ड शाक्त' में इन सूत्रों का किंचित् विस्तार है। यह कृति वस्तुतः ऊड्रफ के व्याख्यानों का संग्रह है। आड्यार मद्रास से सन् १९१८ में पहली बार प्रकाशित इस ग्रन्थ के १९५९ तक पाँच संस्करण छप चुके थे। सात सौ से अधिक पृष्ठों में इस बृहद् ग्रन्थ के चार खण्ड हैं और यदि इसके प्रथम खण्ड से तेरह परिच्छेदों पर दृष्टिपात करते हुए एक नाम दिया जाए तो मेरे विचार से यह होगा—भारत-धर्म और तन्त्रशास्त्र। 'भारत-धर्म' अंग्रेजी के इण्डियन-रेलिजन का अनुवाद नहीं, अपितु सर जॉन ऊड्रफ का ही दिया हुआ नाम है।

सच बात तो यह है कि भारतीय तन्त्र-शास्त्र से जुड़कर, दो दशकों से अधिक समय तक अध्ययन-अनुसन्धान-प्रकाशन करने के उपरान्त प्रौढ़ मनीषी ऊड्रफ के एतद्विषयक व्याख्यान जब 'शक्ति एण्ड शाक्त' शीर्षक से प्रकाशित हुए तो इसके संस्करण-दर-संस्करण (तीन संस्करणों तक) उनके ही द्वारा संशोधित-परिवर्धित होते रहे, मनीषियों की प्रतिक्रिया से भी वे अवगत होते रहे। 'भारत-धर्म' नामकरण और अन्ततः अपने ग्रन्थ के आरंभिक २५ पृष्ठ इसी शीर्षक (इण्डियन रेलिजन एज भारत धर्म) में अंकित कर देने का उनका आशय विशेष था।[3] तन्त्रों की मूल स्रोत 'शक्ति' का मूलार्थ ऊड्रफ की दृष्टि में था 'विश्व-सामर्थ्य'! वेद अलग नहीं हैं, ऊड्रफ के विचार में आगम-तन्त्र से—किंवा आगम-तन्त्र वेद से! वेदों में तन्त्र-शास्त्र के सूत्र देखना इसीलिए सर्वथा प्रासंगिक एवं ज्ञान-सापेक्ष्य है।

मैंने प्रस्तुत विषय-सन्दर्भ में सर जॉन ऊड्रफ की एक कृति और उसके पहले ही परिच्छेद में 'भारत-धर्म' की चर्चा इसलिए भी कर दी क्योंकि इसके पच्चीस पृष्ठ उन सभी की आँखें खोलने वाले साबित हो सकते हैं जो 'परम्परा' के मर्म को जाने बिना, अज्ञानतावश, भारतीय होकर भी भारतीयता को नकारते हैं और अपने कुतर्क से इसकी अभेदपरक समन्वित दृष्टि से वंचित रह जाते हैं। काश! वे पृष्ठ राष्ट्र भाषा तथा अन्य सभी भारतीय भाषाओं में भी उपलब्ध हो जाते। तन्त्रशास्त्र एवं वेद का क्या सम्बन्ध था, इसका निराकरण कुछ हद तक निश्चय ही हो सकता है वेदों में व्यक्त आगम-तन्त्र के कतिपय सूत्रों द्वारा ही।

यन्त्र—आगम-तन्त्रों में कुछ आकृतियों का विशेष महत्त्व है, जिन्हें कहा जाता है यन्त्र। ये यन्त्र विविध रूपों में हैं। विभिन्न प्रकारों एवं रूपों में विनिर्मित यन्त्रों के विविध उद्देश्य हैं। इनमें एक अत्यन्त लोकप्रिय है—वर्ग के भीतर त्रिकोण। इसे ही शतपथ ब्राह्मण (VI.1.1.6) में कहा गया है अग्नि-क्षेत्र। ध्यान दें, वेदिका-निर्माण दोनों ही परम्पराओं में होता है। वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही परम्पराओं में वेदिका-निर्माण में पाँच पशुओं के शीर्ष के प्रयोग विहित हैं। (विस्तार के लिए देखिये शतपथ ब्राह्मण VI.2.1.5-8) वैदिक एवं तान्त्रिक कर्मकाण्डों में अनेक बिन्दु हैं जो इन दोनों भिन्न धाराओं में अनोखे सादृश्य के बोधक

हैं। यथा आगमों में 'लिंगम्' की उपासना का शास्त्रीय विधान है। इसके सूत्र वैदिक देवता 'विष्णु' में उपलक्षित हैं। जहाँ उन्हें कहा गया 'विष्णु शिपिविष्ट' (ऋग्वेद VII.100.1 आदि)। क्या यह लिंगम् का प्राग्रूप नहीं? इसी तरह शतपथ ब्राह्मण में 'सार्पराज्ञी' का उल्लेख है। कहा गया है वाग्वै सार्पराज्ञी अर्थात् वाक् ही सार्पराज्ञी है। ध्यान दें तन्त्रों की सार्पराज्ञी पर, तो क्या ऐसा नहीं लगता कि वैदिक 'सार्पराज्ञी' उसी का प्राग्रूप है?

तन्त्रों में कहा गया है कि देवत्व की अनुभूति किसी भी पदार्थ में हो सकती है—यह अनुभूति केवल मन्त्रों, यन्त्रों, घंटों, प्रतिमाओं अथवा पूजा के अन्य कर्मकाण्डीय तत्त्वों में ही नहीं।[४] कौलावलि तन्त्र में कहा गया है—

यन्त्र मन्त्रमयं प्रोक्तं मन्त्रात्मा देवतैव हि।
देहात्मनोर्यथा भेदो यन्त्रदेवतयोस्तथा॥

इस अभिव्यक्ति के अनुसार यन्त्र 'शक्ति' का प्रतीकात्मक रेखांकन या कि आकृति रूप है। इसे मन्त्र प्राणवन्त करते हैं। प्रतीकार्थ को समझें तो कुण्डलिनी-योग का स्मरण करें। सहस्रार में शिव-शक्ति-सम्मिलन तन्त्रों के अनुसार साधक की समाधि का फलागम है। वेदों में 'शक्ति-शिव' के समन्वित रूप का संकेत अनेक पदों में अभिनिविष्ट है। उन पदों के विश्लेषण से अनायास ही इस टिप्पणी का विस्तार हो जायेगा। अस्तु मैं ध्यानाकृष्ट करता हूँ उन वैदिक वचनों पर जहाँ बार-बार कहा गया—'त्वं स्त्री त्वं पुमान्' अथवा 'त्वं कुमार उत वा त्वं कुमारी'। तान्त्रिक पद 'एवम्' क्या लाक्षणिक रूप से इन वचनों में प्रतिबिम्बित नहीं है? यदि आप ऐतिहासिक लिपि ब्राह्मी के अक्षर 'ए' और 'व' पर ध्यान दें और उन्हें मिला दें तो वह हो जाएगा 'एवम्'-प्रतीकात्मक भाषा में अभिव्यक्त यह 'एवम्' क्या सुदूर अतीतकालीन यन्त्र नहीं? क्या प्रतीक-पूजा के पुरातन चिह्नों मे 'योनि' एवं 'लिंग' का यह यन्त्रमय संयोग नहीं? वैदिक कर्मकाण्ड के विहित मन्त्रों में विशेषकर ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस संयोग को उपलक्षित करने वाले सन्दर्भों की वस्तुतः भरमार है।

जहाँ तक यन्त्र की पवित्रता एवं महिमा की बात है, सर जॉन ऊड्रफ कहते हैं 'यन्त्र' विभिन्न आड़ी-तिरछी या घुमावदार रेखाओं से बनाये जाते हैं और यन्त्र को तन्त्रों में मन्त्र का शरीर माना जाता है।[६]

मन्त्र—वैदिक एवं तान्त्रिक दोनों ही परम्परा में कृत्यों का आरम्भ आचमन से होता है।[७] यह एक तरह की आत्म-शुद्धि की क्रिया है। इसमें पवित्र जल से शरीर के कतिपय भागों का अभिसिंचन होता है। आत्म-शुद्धि के इस कृत्य में कुछ बीज मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है।[८] आराधक प्रत्येक देव की अभ्यर्चना उसके विशिष्ट मन्त्र से करता है।[९] तैत्तिरीय आरण्यक के परिशिष्ट भाग में ऐसे मन्त्रों का संकलन है। इतना ही नहीं, तन्त्रों की भाँति वेदों में भी अशुद्ध अस्तु अशुभ आत्माओं से मुक्ति हेतु विशेष प्रकार की ध्वनियों के विधान हैं, यथा—खट्, फट्, हुम्।[१०] ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण (II.5.5) में कहा गया है कि प्रत्येक वर्ण (अक्षर) के लिए मन्त्र में एक देव की अभिव्यक्ति है। आचमन सम्बन्धी विधान एवं कृत्य और इसी तरह स्नान-विधि वेदों में वही हैं जो प्रचलित रहे हैं आगम-तन्त्रों में भी। इस सन्दर्भ में महानिर्वाण-तन्त्र के पाँचवें अध्याय से गोभिल सूत्र की तुलना की जा सकती है।

सादृश्य 'ॐकार' में भी है। आगम-तन्त्रों में अभिव्यक्त और प्रचलित 'ॐकार' वेदों में अनेकत्र ध्वनित हैं। जहाँ 'ॐ' को परम बीज-तत्त्व माना गया है। ॐकार की भाँति 'हिंकार' में भी समरूपता है। तन्त्रों में जो हिंकार है, वही है वेदों में हुम्! एक बात और, तन्त्रों में वेदों की भाँति बड़े मन्त्र-विधान नहीं हैं। सम्भवतः इसी विचार से मात्र एक 'अक्षर' के भी मन्त्र होते हैं। एक अक्षर एक पद है।

आगम-तन्त्र-परम्परा में देवत्व का मूल निहित है शक्ति में। उसे जगज्जननी या आम्बा शक्ति, कुछ भी मान लें—यह पद 'शक्ति' वैदिक है और इसके मूलार्थ[११] त्रिविध हैं—(१) प्रजनन या उत्पादन-सामर्थ्य, (२) मन्त्र में निहित सामर्थ्य तथा (३) आमुध। यहाँ अभिप्रेत है दूसरा अर्थ, जिसकी अभिव्यंजना प्रमाणित है वेदों में। आर्थर एवलान (सर जॉन ऊड्रफ) ने 'शक्ति' को मन्त्रमयी शक्ति रूप में तन्त्रों ही नहीं वेदों में भी देखा है। इस सन्दर्भ में वे कुछ विशेष अथर्ववेदीय मन्त्र भाग को तन्त्रशास्त्र से सम्बद्ध मानते हैं। तन्त्रशास्त्र का दूसरा नाम मन्त्रशास्त्र भी है और मन्त्र निश्चय ही एक गूढ़ पद है।[१२]

पंच 'म'कार-वैदिक सूत्र संकेत-कतिपय पक्ष

तन्त्रों में पंच 'म'कार है—मत्स्य, मांस, मुद्रा, मद्य और मैथुन। प्रथमतः इनमें अन्तिम दो के वैदिक सन्दर्भों की ओर ध्यानाकृष्ट करना समीचीन होगा।

मद्य—वैदिक आर्य अपने सोमयज्ञों और हविर्यज्ञों में मद्य का भी प्रयोग करते थे।[१३] अनेक श्रौतसूत्र-ग्रन्थों में तथा शतपथ ब्राह्मण में ऐसे संकेत हैं। शतपथ ब्राह्मण (XII.1.16) में कहा गया है कि सुरा यज्ञकर्ता को परिशुद्ध करती है और वह स्वयमेव परिशुद्ध है। एक ऋग्वेदीय ऋषि कक्षीवान् सुरा के गीत गाते हैं। (ऋग्वेद I.116.7) अन्यत्र ऋग्वेद में ही कहा गया कि यह एक इच्छित वस्तु (X. 107.9; VII.2.12)। शत. (VI.6.3.7) में सोम को कहा गया परमाहुतिः। इतना तो क्या, सोम वहाँ अमृत तत्त्व भी है। देखें (IX.4.4.8)

अब प्रश्न यह है कि यह अमृत तत्त्व है क्या? 'मद्य' यदि शराब नहीं तो फिर वह कौन-सा तत्त्व—द्रव या रसायन अथवा रसानुभूति है जिसे तान्त्रिकों ने प्रतीक भाषा में नाम दिया है मद्य। तन्त्रों में कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्र में जो सहस्रदल कमल है उससे चूने वाला जो अमृत है, उसी का नाम मद्य है।

व्यामपंङ्कजनिःस्यन्दसुधापानरतो नरः।
मधुपायी सम्यः प्रोक्तः इतरे मद्यपायिनः॥

उक्त गूढ़ार्थप्रकाश को दूसरे शब्दों में भी व्यक्त किया गया है तदनुसार उच्च साधना के बल पर जो साधक कुण्डलिनी तथा परम शिव के साथ सम्मिलित होने पर मस्तक में स्थित इन्दु से चूने वाले अमृत का पान करता है उसी को तान्त्रिक भाषा में 'मद्यप' कहते हैं—शराब पीने वालों को नहीं।

कुण्डल्याद् मिलनादिन्दोः स्रवते यत् परामृतम्।
पिबेत् योगी महेशानि! सत्यं सत्यं वरानने॥

मैथुन—आगम-तन्त्र में प्रचलित पंच 'म'कारों में सर्वाधिक रहस्यपूर्ण वैशिष्ट्य है मैथुन। स्थूल रूप में स्त्री-पुरुष के शारीरिक तादात्म्य अथवा सम्भोग-क्रिया को मैथुन समझा जाता है। वे मिथुन

(युगल) हैं। अतः उनके सम्यक् योग (सं-योग) को मैथुन संज्ञा देना स्वाभाविक ही है। अज्ञानतावश अथवा तान्त्रिक रहस्य को जाने बिना सामान्यतया इस प्र-क्रिया को स्थूल सम्भोग ही माना जायेगा। इतना तो क्या, कतिपय ज्ञानी (तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न) मनीषी भी अपने कौशल अथवा वाक् जाल में जन-जन में अन्यार्थव्यावर्तक भाव ही जगाते हैं क्योंकि मूलार्थ के सम्प्रेषण की उनमें कोई निष्ठा नहीं। इतना तो क्या मिथक बनाकर ख्याति अर्जित करते हुए वे उत्तर आधुनिक भाषा में 'सेलेब्रिटी' तो बन जाते हैं पर यथार्थ-बोध से वे कोसों दूर हैं। आगम-तन्त्र परम्परा में अन्य जीवों की भाँति मनुष्य की 'प्रवृत्तिगत' विशेषता का अभिज्ञान है ही। वहाँ कहा गया—

न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

हाँ, माँस-भक्षण, मद्य-पान और स्त्री-सहवास, ये तो समस्त जीवों की प्रवृत्ति है ही—एषा भूतानां प्राणीनां प्रवृत्तिः। यदि इनसे 'निवृत्ति' हो तो फिर क्या कहने? वस्तुतः 'मनुष्य' समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए निवृत्तिभाव की अपेक्षा 'मनुष्य' से ही सम्भव है।

यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि आगम-तन्त्रों में 'मैथुन' का यथार्थ अभिप्राय क्या है? वहाँ सुषुम्ना और प्राण के समागम को तान्त्रिक भाषा में मैथुन कहते हैं। यह अन्तर्योग और स्त्री-पुरुष-संयोग वस्तुतः बहिर्योग है—स्थूलतः भोग। जो सामान्य सुरति-क्रिया है, जिसमें स्त्री-सहवास से वीर्यपात के समय जो सुख होता है या कि जो सुखानुभूति होती है, उससे करोड़ों गुना आनन्द सुषुम्ना में प्राणवायु के स्थित होने पर होता है। इसी को प्रकृत मैथुन कहते हैं और देवताओं ने इसी को 'सुरत' नाम दिया है।[१४]

मेरु-तन्त्र में कहा गया है कि—

इलापिङ्गलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्नां शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयन्तु परः शिवः॥
तयोस्तु संगमो देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्॥

वैदिक आर्य-परम्परा का केन्द्रीय बिन्दु है यज्ञ-कर्म और सभी यज्ञ, वस्तुतः इस विचार पर आधृत हैं कि मिथुनीकरण ले जाता है आध्यात्मिक आनन्द की ओर।[१५] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—मिथुन है अग्निहोत्र।[१६] शतपथ में भी कहा गया है कि यह कृत्य रहस्यपूर्ण है; अतः यह गुह्य है।[१७] अन्यत्र कहा गया कि एक अनुष्टुप के दो पद या चरण बेतरतीब ढंग से पढ़े जाते हैं, जबकि दो अन्तिम इस तरह उच्चरित होते हैं मानो वे मैथुन-क्रिया का अनुकरण कर रहे हों। यह सन्दर्भ ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण का है।[१८] ऐतरेय में ही कहा गया है कि वे किसी एक स्त्री देवता की उपासना तब तक नहीं करते, जब तक कि वह देवी एक पुरुष देव के साथ जुड़ी न हो।[१९] यह भी कि वे छन्दों का प्रयोग करते हैं—एक 'पुरुष' और दूसरा 'स्त्री' मानकर और दोनों के साथ-साथ उच्चारण को मैथुन माना जाता है। इस तरह का मैथुन-कर्म यज्ञ से अभिप्रेत फलागम प्रदान करता है।[२०] ध्यातव्य है कि आहनस्या मन्त्र का पाठ स्वर्ग प्रदान करने वाला कहा गया है।[२१] इस तरह के मैथुन-कर्म अग्निहोत्रियों द्वारा सम्पादित होते थे। सर जॉन ऊड्रफ का कहना है कि मैथुन कर्मकाण्ड धार्मिक कर्मकाण्ड थे।[२२]

अन्य मकार

पंच 'म'कारों में जो भी क्रम हो, प्रथमतः 'मद्य' और 'मैथुन' जैसे दो मकारों का विश्लेषण इसलिए भी किया गया क्योंकि सामान्य ही नहीं, अपितु असामान्य व्यक्ति भी भी 'मद्य' और 'मैथुन' के स्थूल अर्थ में खो जाता है। जैसा कि पहले ही संकेत किया गया है—एषाभूतानां प्रवृत्तिः—क्योंकि यह प्राणिजगत् का स्वभाव ही है। अन्य मकारों में परिगणित हैं—मत्स्य, मांस और मुद्रा। अच्छा हो कि पहले हम इनके तान्त्रिक अभिप्राय को समझ लें, फिर देखें कि वेदों में इनके सूत्र हैं या नहीं? ध्यातव्य है कि सभी मकार योग-साधना के तत्त्व हैं। साधना करने वाला ही साधक होता है—तन्त्र की भाषा में भक्षक (भक्षण करने वाला या ग्रहण करने वाला)। ऊपर मद्य-साधक और मैथुन साधक की चर्चा हुई और अब देखें कौन है मत्स्य-साधक, मांस साधक और मुद्रा साधक?

मत्स्य—शरीर में इड़ा और पिंङ्गला नाड़ियों को तान्त्रिक भाषा में गंगा और यमुना कहते हैं। इसके योग से सर्वदा प्रवाहित होने वाले श्वास और प्रश्वास (निःश्वास) ही दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास बन्द करके कुम्भक द्वारा सुषुम्ना मार्ग में प्राण वायु का संचालन करता है, वही यथार्थ में मत्स्य-साधक (मत्स्य-भक्षक) है।[२३] आगम-सार में कहा गया है कि—

गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद्यस्तु स भवेद् मत्स्यसाधकः॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि वेदों के ज्ञान-काण्ड उपनिषदों में प्राणोपासना के तत्त्व भरे पड़े हैं, बल्कि संहिताओं-ब्राह्मणों में भी इसके बीज प्रकीर्ण हैं।

मुद्रा—कितने ही शास्त्रोक्त सुभाषित-वचन उपलब्ध हैं, जिसके अनुसार सत्संग के प्रभाव से मुक्ति होती है और बुरी संगति से बन्धन होता है। तन्त्रों के अनुसार असत्संगति के मुद्रण का ही नाम मुद्रा है।[२४] अर्थात् बुरी संगति को छोड़कर सत्संगति के प्राप्त करना ही मुद्रा-साधन है—

सत्संगेन भवेद् मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम्।
असत्संगमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता॥

(विजय तन्त्र)

मांस—मांस और मांसाहार आगम-तन्त्र की परम्परा में एक विशिष्टार्थ की अभिव्यक्ति करने वाले पद हैं। कुलार्णव तन्त्र में कहा गया है कि जो साधक पुण्य और पापरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग से मारता है; अपने चित्त को ब्रह्म में लीन करता है, वही मांसाहारी है[२५]—

पापपुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेच्चित्तं मांसासी स निगद्यते॥

आगमसार में मांस साधक का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

मा शब्दात् रसना ज्ञेया, तदंशान् रसनाप्रियान्।
सदा यो भक्षयेद् देवी, स एव मांससाधकः॥

अर्थात् जो व्यर्थ की बकवाद नहीं करता, यानी अपनी वाणी पर संयम रखता है वही सच्चा

मांसाहारी है।[२६] स्पष्ट है कि वाक्संयम साधना का एक प्रबल पक्ष है और वेदों में वाक्सिद्धि के कितने ही बिम्ब आर्ष-प्रज्ञा की धरोहर हैं। इतना तो क्या, वेदों में एक तरफ आर्यों की मूल धारा—निगम-परम्परा प्रवाहित है जहाँ याज्ञिक कर्मकाण्ड ही सब कुछ है, जिसमें पशुओं की ही नहीं, मनुष्यों की भी बलि का विधान था, दूसरी तरफ वेदों में यत्र-तत्र या प्रकीर्ण रूप में स्पष्ट संकेत इस बात के हैं कि आर्यों का ही एक वर्ग (विशेषतः कोशल-मगध के आर्यों) के बीच अहिंसामूलक सदाचार प्रचलित थे[२७]—आगम-तन्त्र-परम्परा के बीज उन्हीं विचारों में अनुप्राणित हैं। यहाँ सूत्र-संकेत ही पर्याप्त हैं।

सन्दर्भ :

१. द्रष्टव्य, पाठक, विश्वम्भरशरण—ऐंसिएण्ट हिस्टोरिएन्स ऑफ इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६६; शर्मा, गोवर्धन राय-भारतीय संस्कृति—पुरातात्त्विक आधार, नेशनल पब्लिशिंग, नई दिल्ली, १९८५; तथा विस्तार के लिए द्र. त्रिपाठी, माता प्रसाद—कोशल-मगध-क्षेत्र के पुरावैदिक सूत्र (विशेष व्याख्यान)—भारतीय इतिहास-लेखन समस्याएँ एवं परिप्रेक्ष्य, सं. अजय कुमार पाण्डेय, २००४

२. महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज का समग्र कृतित्व ही पठनीय है—विशेषतः द्रष्टव्य—तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि तथा भारतीय संस्कृति और साधना (दो भागों में)—सभी बिहार राष्ट्रभाषा प्रकाशन, पटना से प्रकाशित।

३. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, सर जॉन ऊड्रफ—शक्ति एण्ड शाक्त, मद्रास (पाँचवाँ संस्करण), १९५९

४. ऊड्रफ, तत्रैव, पृष्ठ-४९०

५. तत्रैव, पृष्ठ-४९० एवं आगे

६. तत्रैव, पृष्ठ-४३१

७. गोभिल गृह्यसूत्र १.२.५, तैत्तिरीय आरण्यक-II.११; महानिर्वाण तन्त्र, अध्याय-५;

८. ऐतरेय आरण्यक, II.२.१.२; II.२.५.२; गग्विधान ब्राह्मण-II.१६

९. ऋग्वेद.III.६२.१०

१०. तैत्तिरीय आरण्यक IV.२७; शतपथ ब्राह्मण I.५.२.-१८; I.३.३.१४; I.७.२.११.१४; I.७.२.२१; XI.२.२.३ एवं ५; महानिर्वाण तन्त्र, अध्याय-३; अन्य प्रयोजनों के लिए द्रष्टव्य ऐतरेय ब्राह्मण II.३.६; तथा II.५.५

११. त्रिपाठी, माता प्रसाद—ऋग्वेद में शक्ति—विविध रूपों में प्रसार-अभिव्यक्ति गतावरी, अंक-४ (२००३) गोरखपुर, पृष्ठ १.१३

१२. ऊड्रफ के ग्रन्थ 'शक्ति एण्ड शाक्त' का चौबीसवाँ अध्याय, 'शक्ति एज मन्त्र' के विश्लेषण हेतु 'मन्त्रमयी शक्ति' रूप में उद्घाटित है।

१३. लाट्यायन श्रौतसूत्र, ५.४.११; कात्यायन श्रौतसूत्र, १९.१; शांखायन श्रौतसूत्र-१५.१५; २४.१३.४; शतपथ ब्राह्मण—५.१.२.१२; ५.१.५.२८; १२.७.३.१४ इत्यादि। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र-१८.१.९

१४. द्रष्टव्य, उपाध्याय, आचार्य बलदेव-बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृष्ठ ३१५-३१७, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०

१५. ऊड्रफ, तत्रैव, पृष्ठ ९८ एवं आगे।

१६. शतपथ ब्राह्मण-XI.६.२.१०; शतपथ ब्राह्मण के कतिपय अन्य सन्दर्भ भी द्रष्टव्य हैं। यथा-III.२. १.२ आदि।

१७. शतपथ ब्राह्मण, VI.५.३.५

१८. ऐतरेय ब्राह्मण, II.५.३

१९. तत्रैव, III.५.४

२०. तत्रैव, V.३.१

२१. शाखायन श्रौतसूत्र, XII.२४.१-१०; अथर्ववेद, XX.१३६; ऐतरेय ब्राह्मण, VII.२-९;

२२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, शक्ति एण्ड शाक्त, पृष्ठ-१००;

२३. उपाध्याय, बलदेव, वही

२४. तत्रैव

२५. तत्रैव

२६. तत्रैव उद्धृत।

२७. पाठक, विश्वम्भरशरण—ब्राह्मण समाज—एक ऐतिहासिक अनुशीलन (लेखक—देवेन्द्रनाथ शुक्ल) की भूमिका।

□

श्री-सम्प्रदाय, रामानुज-मत या विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त

—पं. गोपीनाथ कविराज

तत्त्व

श्री-सम्प्रदाय की दृष्टि में चित्, अचित् एवं ईश्वर—ये तीन मूल तत्त्व हैं। इनमें ईश्वर विशेष्य या अंगी हैं, बाकी दो उनके विशेषण या अंग। ईश्वर नित्य ही चित् और अचित् के द्वारा विशिष्ट है। सृष्टिकाल में चित् और अचित् स्थूल, प्रलयावस्था में सूक्ष्म हैं। चित्-तत्त्व आत्मा है। यह देह आदि से पृथक्, स्वप्रकाश, अर्थात् स्वभावतः अनुकूल, नित्य अणु, अव्यक्त या अतीन्द्रिय, अचिन्त्य, निरवयव—सदा एकरूप और निर्विकार है। ज्ञानस्वरूप होते हुए भी आत्मा ज्ञान का आधार या ज्ञाता ईश्वर का नियम्य, धार्य एवं अंगभूत है। आत्मा अणु होते हुए भी उसका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है, इसीलिए वह भोग का कोई प्रतिबन्धक नहीं होती। ज्ञान की व्याप्ति के द्वारा ही एक आत्मा एक ही समय में अनेक देह ग्रहण कर सकती है। क्रिया और भोग ज्ञान के ही प्रकारभेद हैं, इसलिए वह आत्मा के ज्ञातृत्व के साथ-साथ उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व सिद्ध होता है। सांसारिक प्रवृत्ति में आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं, गुणसंसर्ग-कृत है। जीव का कर्तृत्व ईश्वर-परतन्त्र है, उसके ज्ञान से क्रियारूप अवस्था के विकास के लिए ईश्वर की अनुमति आवश्यक है। जीव की आद्य स्वातन्त्र्य-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है, इसलिए उसकी स्वाधीनता भी भगवदधीन है। अतएव, भगवद्दास्य या कैंकर्य ही जीव के लिए यथार्थ स्वातन्त्र्य या परम पुरुषार्थ है, इसे स्वीकार करना पड़ेगा। विशिष्टाद्वैतवादियों की मुक्ति का स्वरूपलक्षण इससे ही स्पष्ट प्रतीयमान होता है। जीव के आद्य प्रयत्न के अनुसार भगवान् उसे कर्म-विशेष में प्रवर्तित करते हैं। इसलिए, भगवान् का प्रेरकत्व साधारणतया अनुमोदकता के सिवा और कुछ नहीं। परन्तु स्थानविशेष में वह निरपेक्ष भाव से भी जीव को प्रयोजित करते हैं। आत्मा को प्रकाशित करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं, यह स्वयं प्रकाशमान है।

बद्ध, मुक्त और नित्य—इन तीन प्रकार की आत्मा का विवरण मिलता है। प्रत्येक कोटि की ही आत्मा संख्या में अनन्त है। प्रकृति से ही संसर्गनिबन्धन आत्मा में अविद्या, कर्म, वासना और रुचि उत्पन्न होती है। अचित्-सम्बन्ध के निवृत्त होने से अविद्या आदि की निवृत्ति होती है। अविद्या-अज्ञान—यह

अनेकविध है। पाप-पुण्य आदि क्रियाएँ ही कर्म हैं। पहले के किये कर्म में पुररभिनिवेश—हेतु संस्कार को वासना कहते हैं। रुचि आदर है। आत्मा के स्वरूप की भाँति ज्ञान भी नित्य, द्रव्यात्मक, अजड़ और आनन्दरूप है। आत्मा में संकोच और विकास नहीं—परन्तु ज्ञान का संकोच और विकास है। प्रकृति के सम्बन्ध से ही ज्ञान का संकोच होता है। सुतरां, मुक्तावस्था में सब आत्मा का ही ज्ञान पूर्णतया विकसित और विभु होता है। बद्धावस्था में संकोचवशतः ज्ञान परिच्छिन्न होता है। आत्मा आप अपना प्रकाश करती है—ज्ञान स्वप्रकाश नहीं है, केवल परप्रकाशक है। आत्मा अपने-आप प्रकाशमान है, ज्ञान ऐसा नहीं। ज्ञान नित्य है—इन्द्रियद्वार में प्रसृत होकर यह विषयग्रहणपूर्वक प्रतिनिवृत्त होता है। निद्रा में ज्ञान का प्रसार नहीं होता। क्रिया और गुण का आश्रय एवं अजड़ होने से ज्ञान द्रव्यात्मक है। प्रकाश की अवस्था में अनुकूल होता है, इसलिए ज्ञान स्वभावतः आनन्दरूप है। देहात्मक भ्रम ही प्रतिकूल ज्ञान या दुःख का हेतु है। जगत् के सारे ही पदार्थ ईश्वरात्मक हैं, अतएव स्वभावतः अनुकूल हैं। प्रतिकूल भाव औपाधिक-मात्रा हैं।

अचित् या जड़तत्त्व में विकार आता है। शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और काल—रामानुजानुयायी ये तीन जड़ पदार्थ मानते हैं। शुद्धसत्त्व में रज और तमोगुण का सम्बन्ध नहीं, इसलिए यह नित्य, निर्मल एवं ज्ञान और आनन्द का जनक है। मात्र भगवदिच्छा से ही यह सत्त्व परिणत होकर कर्मनिरपेक्ष भाव से नित्य धाम के यावतीय पदार्थों का आकार ग्रहण करता है। समस्त वैकुण्ठधाम, विमान-गोपुर आदि, नित्यमुक्त जीव और भगवान् की देह आदि सारी वस्तुएँ इस विशुद्ध उपादान से घटित हैं। यह अनन्त तेजोमय अद्भुत पदार्थ है। ईश्वर और नित्यमुक्त जीव भी इसकी सीमा ढूँढ़कर नहीं पाते। इसका स्वरूप बता सकना बड़ा ही कठिन है। किन्हीं के अनुसार यह जड़ है, किन्हीं के मत से अजड़। जो इसे अजड़ मानते हैं, वे कहते हैं, नित्यमुक्त जीव या ईश्वर के ज्ञान बिना ही यह अपने-आप प्रकाशित होता है, परन्तु संसारी या बद्ध जीव के पास यह प्रतिभात नहीं होता। शुद्धसत्त्व 'मैं' रूप में प्रकाशित नहीं होता, पर शरीर आदि के रूप में परिणत होता है और विषय-संस्पर्श बिना प्रतिभात होता है। शब्द आदि इसके धर्म हैं। मिश्रसत्त्व रज और तमोमिश्र है, बद्ध जीव के ज्ञान और आनन्द का आवरक, नित्य एवं ईश्वर की जगत्-सृष्टि आदि व्यापार का परिकर। मिश्रसत्त्व ही विपरीत ज्ञान का हेतु है। इसी से प्रदेशभेद और कालभेद से सदृश और विसदृश सभी विकार उत्पन्न होते हैं। प्रकृति, अविद्या, माया आदि इसी के नामान्तर हैं। यह ज्ञानविराधी एवं विचित्र सृष्टिसाधक है। यह बढ़कर क्रमशः चतुर्विंशति तत्त्व में परिणत होता है। सत्त्वशून्य, त्रिगुण रहित अचिद् वस्तु काल है। यह प्रकृति और प्राकृत वस्तु का परिणामसाधक है। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत—सभी प्रकार के प्रलय काल के अधीन है। कलाकाष्ठा आदि रूप में परिणत काल ईश्वर का लीला—परिकर और देहस्वरूप है। लीलाविभूति में ईश्वर कालाधीन होकर कार्य करते हैं, किन्तु नित्यविभूति में काल का अस्तित्व रहने पर भी स्वातन्त्र्य नहीं है। कोई-कोई उस अवस्था में काल की सत्ता को स्वीकार नहीं करते और कोई षडिन्द्रियवेद्य कहकर वर्णन करते हैं। जीवात्मा और परमात्मा का भोग्य, भोगस्थान और भोगोपकरण इन्द्रिय शुद्ध और मिश्रसत्त्व से घटित होते हैं। विशुद्ध सत्त्व चारों ओर और ऊर्ध्वप्रदेश में अनन्त हैं। मलिनसत्त्व चारों ओर और निम्नप्रदेश में अनन्त हैं।

ईश्वर-तत्त्व ही मूल तत्त्व है। आत्मा और जड़ ईश्वराश्रित है, इसलिए ईश्वर आश्रयस्वरूप हैं। वह

जैसे अचित् की आत्मा हैं, वैसे ही आत्मा की भी आत्मा हैं। चित् और अचित् उनकी देह हैं; ईश्वर से अलग चित् और अचित् का अवस्थान सम्भव नहीं। ईश्वर अनन्तज्ञान और आनन्दस्वरूप ज्ञानसत्त्वादि-अनन्तकल्याणगुण-मण्डित, जगत् की सृष्टि आदि के विधाता, भक्त के आश्रयदाता, कर्मफलप्रदाता, विकार आदि सभी दोषों से रहित परम तत्त्व हैं। लक्ष्मी, त्रभू और लीला उनकी शक्ति है। उनकी देह अत्यन्त सुन्दर, नित्य एकरूप, शुद्धसत्त्वमय है। यह उनके स्वरूप और गुण के अनुरूप-असीमतेजो विशिष्ट, सुकुमार, अलौकिक सौन्दर्यमय, सुगन्धि, यौवनशाली एवं योगिध्येय है। उनकी देह बद्ध जीव जैसे स्वरूप का आच्छादन नहीं करती, बल्कि प्रकाश करती है। माणिक्य का पात्र जैसे भीतर के सोने को प्रकाशित करता है, भगवद्विग्रह भी वैसे ही भगवत्स्वरूप को प्रकट करता है। भगवान् का रूप विश्वविमोहन है, उसके दर्शन से सभी भोगों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, त्रिताप दूर होता है। यह नित्यमुक्तों के आस्वादन की वस्तु है। धर्म-संस्थापन आदि कार्य के लिए जगत् में जब किसी अवतार का उदय होता है, तब उसका आविर्भाव भगवद्देह से ही होता है।

ईश्वर का पंचविध स्वरूप

(१) **अमानित्वम्**—अभि

१. पर, या वासुदेव। यह नित्योदित रूप है। इसका आविर्भाव-तिरोभाव नहीं। इसमें काल की कलना नहीं, परिणाम नहीं, अनन्त आनन्द सदा विराजमान रहता है। यह परम रूप ही भगवान् का षाड्गुण्यविग्रह है। वैकुण्ठ में नित्यमुक्त जीव इसका अनुभव करते हैं।

२. व्यूह, या संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। यह उनका शान्तोदित रूप है; क्योंकि इसका उदय-अस्त है। सृष्टि आदि व्यापार की निष्पत्ति, जीवरक्षा एवं उपासक का अनुग्रह-सम्पादन व्यूह की अभिव्यक्ति के लिए है।

३. विभव या प्रादुर्भाव। यह दो प्रकार का है—मुख्य और गौण। मुख्य विभव भगवान् का अंश और अप्राकृतदेहविशिष्ट है। दीप से दीपान्तर की भाँति इसकी उत्पत्ति होती है। मुख्य विभव मुमुक्षुओं का उपास्य है। गौण विभव साहंकार जीव में अधिष्ठित होती है, इसकी उपासना नहीं होती।

४. अन्तर्यामी—यह अन्त:प्रवेशपूर्वक प्रकृति के नियामक हैं। भगवान् का यह रूप सभी अवस्था में सभी जीवों का साथी और शुभदेहयुक्त है। जीव के ध्यान के लिए, जीव की रक्षा करने के लिए परमात्मा बन्धु होकर जीव के हृदय-कमल में रहते हैं। यही उनका अन्तर्यामी रूप है।

५. अर्चावतार—यह घर या मन्दिर में स्थित उपास्य मूर्ति है।

संकर्षण जीवतत्त्व के, प्रद्युम्न मन:सृष्टि के, अनिरुद्ध कालसृष्टि और मिश्रसृष्टि के अधिष्ठाता हैं। संकर्षण जगत् के संहारक और शास्त्रप्रवर्त्तक, प्रद्युम्न प्रकृति के जीव के विवेचक और शुद्धसृष्टि के विधाता तथा अनिरुद्ध काल एवं मिश्रसृष्टि के सम्पादक हैं। चार वर्णों की मिथुन सृष्टि प्रद्युम्न से ही होती है।

'पांचरात्ररहस्य' नामक ग्रन्थ में है कि भगवान् उपासक के भाव या प्रकृति के अनुसार अर्चा आदि पंचविध-मूर्ति-परिग्रह करते हैं। अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामी—इन पाँच प्रकार के रूपों में पूर्व-पूर्व रूप की उपासना द्वारा मल की निवृत्ति होने से उत्तरोतर मूर्ति की उपासना में अधिकार उत्पन्न होता है। क्रमशः इस प्रकार उपासना करके जीव जब क्षीणपाप होता है, तब भगवान् प्रसन्न होकर उसकी कर्मसंघात-रूपी अविद्या का नाश करते हैं। तब जीव के स्वाभाविक सर्वज्ञत्व आदि सारे मंगल-गुण अनावृत्त रूप से प्रकाशित होते हैं। ये सारे गुण ऐश्वरिक गुण से भिन्न नहीं। सर्वज्ञत्व आदि गुण मुक्तजीव और ईश्वर—दोनों के समान हैं। परन्तु, सर्वकर्तृत्व चूँकि केवल ईश्वर में ही होता है, इसलिए ईश्वर का जो यह असाधारण धर्म है, वह जीव में कदापि सम्भव नहीं। ईश्वर के अंगभूत मुक्त जीव ईश्वर के साथ परमानन्द का उपभोग करते हैं। उस अंश में, दोनों में कोई विषमता नहीं होती।

उपासना-क्रमः जिस उपासना की बात पहले कही गई, उसी का नाम निदिध्यासन या योग है। विशिष्टाद्वैतवादियों के मत से इसी को ज्ञान और भक्ति कहते हैं। भक्ति ज्ञानविशेष है, ज्ञान से अतिरिक्त नहीं। तेल की धार के समान अविच्छिन्न स्मृति-प्रवाह को ध्यान कहा जाता है, यही ध्रुवा स्मृति और मोक्ष का साक्षात् साधन है। भावना के प्रकर्षवश स्मृति ही दर्शन-रूप में परिणत होकर अपरोक्षत्व-लाभ करती है। बन्धन पारमार्थिक होने के नाते ब्रह्म से आत्मा के अभेद-ज्ञान के द्वारा यह निवृत्त नहीं हो सकता। कर्म के निमित्त देह-प्रवेश होता है, देह में प्रविष्ट होने से ही सुख-दुःख का अनुभव अनिवार्य है। यह सुख-दुःख प्रतीति ही बन्धन है, इसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। उपासना जब भक्ति का रूप ले लेती है, तब परमात्मा प्रीत और प्रसन्न होते हैं। उनके प्रसाद से ही बन्धन कट जाता है। बन्धन की निवृत्ति का दूसरा उपाय नहीं है। अभेदज्ञान मिथ्या है, इसलिए उससे बन्धन बढ़ता ही है। जीव भोक्ता, प्रकृति भोग्य और ईश्वर प्रेरक हैं—यह स्वरूपगत भेद अवश्य ही स्वीकार्य है; श्रुति, स्मृति आदि इसी के समर्थक हैं। अभेदज्ञान से यह पारमार्थिक भेद उपेक्षित होता है, इसलिए वह मिथ्याज्ञान है।

ध्रुवानुस्मृति-रूप ध्यान अथवा उपासना को ही रामानुजानुयायी भक्ति कहते हैं। ज्ञान इसी का नामान्तर है। इस प्रकार की भक्ति का जब तक उदय नहीं होता, तब तक ब्रह्मप्राप्ति और संसार-बन्धन से छुटकारा पाने की आशा दूर की कौड़ी है। भक्ति के बहुत प्रकार के साधन या उपाय की बात शास्त्रकार बता गये हैं। उनमें से विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष—ये प्रधान हैं। आहारशुद्धि[१] का पारिभाषिक नाम विवेक है। काम्य विषय में अनासक्ति विमोक है। किसी काम को करने के बार-बार प्रयत्न का नाम अभ्यास है। शक्ति के अनुसार पंचमहायज्ञ का अनुष्ठान क्रिया है। सत्य, सरलता, दया आदि गुण कल्याण है। चित्त की एकान्तिक प्रसन्नता है अनवसाद। अति सम्भोग का अभाव अनुद्धर्ष है। इससे समझ में आता है कि रामानुज-मत से वर्ण एवं आश्रमोचित कर्म के अनुष्ठान से ही चित्त विशुद्ध होता है और फलस्वरूप भक्ति या ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। ये सब कर्म चित्तशुद्धि के सहायक हैं, इसलिए ज्ञान के अनुकूल हैं। परन्तु, पुण्य और पाप ज्ञान की उत्पत्ति के विरोधी कर्म हैं; क्योंकि वे रज और तमोगुण को बढ़ाकर सत्त्वगुण को घटाते हैं। ये सब सर्वथा त्याज्य हैं।[२]

वर्णाश्रम-विहित कर्म के द्वारा ज्ञान के उदय के प्रतिकूल सभी प्राक्तन कर्म या पुण्य-पाप जब नष्ट

होते हैं, तब अबाधित भाव से ज्ञान का विकास हो सकता है। उस कर्म के निरन्तर अभ्यास से उसमें एक प्रकार का आतिशय्य या वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है। मृत्युकाल तक उसकी अनुवृत्ति होने से ज्ञानोदय और मरने पर ब्रह्मलाभ अवश्यम्भावी है।

भगवान् बोधयन, टंक, द्रमिड़, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि आदि प्राचीन आर्यों ने भगवत्प्राप्ति के जिस क्रम का प्रदर्शन किया है, श्रीमान् यामुन, रामानुज आदि ने उसका अनुसरण-मात्र किया है। आलोचना की विशदता के लिए हमने फिर उसका निर्देश किया।

१. प्रथमत:, शास्त्र से परोक्ष भाव से कर्मतत्त्व जानकर प्रतिदिन-निरन्तर-वर्णाश्रम-विहित कर्म या स्वधर्म का अनुष्ठान करना चाहिए और तदनुगृहीत भाव से भक्तियोग का अभ्यास करना चाहिए। यहाँ ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनों का ही उल्लेख पाया जाता है। उनमें भक्ति ही उपाय है। ज्ञान और कर्म, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म का अनुष्ठान, चित्तशुद्धि का द्वारमात्र।[३]
२. भक्ति योग का अभ्यस्त होने पर क्रमश: पराभक्ति का उदय होता है। पराभक्ति वास्तव में ध्यान की ही परिपक्व अवस्था विशेष है। इससे चित्त में अपार प्रीति उपजती है, दूसरी किसी वस्तु में प्रयोजन-बोध नहीं रहता और दूसरे सभी विषयों में वैराग्य उत्पन्न होता है। यह अवस्था ज्ञान की ही भूमिका है; क्योंकि भक्ति प्रीतिविशेष है और प्रीति या सुख भी एक प्रकार की विशिष्टता से सम्पन्न ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं। ध्यान या उपासना की गाढ़ता से स्मृत्यात्मक ज्ञान जिस समय प्रीतिमय या अनुकूल एवं अत्यन्त स्पष्ट प्रत्यक्ष आकार धारण करता है, उस समय की अवस्था ही पराभक्ति है।[४]
३. यह पराभक्ति ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन है। पराभक्ति के बाद परज्ञान या साक्षात्कार का उदय होता है।
४. ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद उस पराभक्ति से ही परमभक्ति का आविर्भाव होता है। यह परमभक्ति ही प्रकृत रूप में भगवत्प्राप्ति है।

लोकाचार्य ने पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रापत्ति और आचार्याभिमान—इन पाँच प्रकार के योगों का उल्लेख किया है। कर्मयोग के दो अंश हैं—पहला यज्ञ, दान आदि के द्वारा देहशुद्धि। देह के शुद्ध होने से इन्द्रिय-प्रणाली द्वारा जो ज्ञानधारा साधारणत: बाहर निकलकर विषय को ग्रहण करती है, वह निरुद्ध और अन्तर्मुख होती है। उस समय कर्मयोग का दूसरा अंश प्रारम्भ होता है। यह आदि अष्टांगयोग-साधन ही कर्मयोग का दूसरा अंश है। कर्मयोग ऐश्वर्यप्रधान साधन है, इससे अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। ज्ञानयोग द्वारा कैवल्य-मुक्ति तक मिल सकती है। कर्मयोग के अनुष्ठान से जिस ज्ञान का विकास होता है, उसे देह के भीतर या देह के बाहर स्थान-विशेष में श्रीभगवान् का विग्रह में प्रयोग करके उसका अनुभव होता है। उसके बाद अनुभवयोग के अभ्यास द्वारा अनुभव के स्थितिकाल को बढ़ाते-बढ़ाते निरन्तर अखण्ड अनुभव-लाभ होता है। यही ज्ञानयोग है—यह भक्तियोग का सहकारी है। प्रारब्ध कर्म के अवसान तक बार-बार अभ्यासयोग द्वारा अनुभव का उत्कर्ष करके तेल की धारा की भाँति अविच्छिन्न स्मृति-प्रवाह की अपरोक्षता सम्पन्न करना—यही भक्तियोग है। ऐसे ज्ञानयुक्त भक्तियोग

का जिसमें सामर्थ्य नहीं, उसके लिए प्रपत्तियोग शीघ्र फलप्रद होता है। प्रपत्ति अथवा भगवान् की शरण लेना, श्रेष्ठ भागवत-धर्म माना जाता है। यही वास्तविक संन्यास है। और-और योग में सबका अधिकार नहीं, सामर्थ्य भी नहीं। सभी पथों पर चलने के लिए न्यूनाधिक परिणाम के पुरुषकार या आत्मचेष्टा की आवश्यकता है। किन्तु, प्रपत्तियोग में पुरुषकार की अपेक्षा नहीं, इसलिए वर्ण, आश्रम आदिनिर्विशेष सभी इसके अधिकारी हैं। 'प्रभु, मैं बहुत ही दीन-हीन हूँ, बहुत ही दुर्बल, मुझमें कोई सामर्थ्य नहीं—मैंने तुममें आत्मसमर्पण किया, तुम मेरा भार लो।' जीव जब सरल भाव से, व्याकुल हृदय से एक बार भी इस प्रकार भगवान् के चरणों में शरण लेता है, तभी भगवान् उसे ग्रहण करते हैं, अपना बना लेते हैं। उसके बाद से जीव का सारा भार साक्षात् रूप से उन्हीं के हाथों रहता है। वह आश्रितवत्सल हैं, शरणागत के पालक हैं—प्रपन्न का उद्धार करना ही उनका व्रत है। भगवत्प्रपत्ति स्वतन्त्र रूप से ही मोक्ष का साधन है, रामानुजानुयायियों ने इसे बहुत-बहुत शास्त्रप्रमाणों से सिद्ध किया है। ब्रह्मपुराण में है कि ध्यानयोगरहित होकर भी केवल प्रपत्ति के बल से मृत्यु के अतीत विष्णुपद प्राप्त किया जा सकता है। अहिर्बुध्न्य कहते हैं—सांख्य, योग यहाँ तक कि भक्ति के द्वारा जो सिद्ध नहीं होता, वह अनावर्त्य परमधाम एकमात्र प्रपत्ति से ही प्राप्त होता है।[५]

प्रपत्तियोग के दो भेद हैं—आर्त्त और दृप्त। जो भगवान् की अहेतुक कृपा प्राप्त करके सद्गुरु के आश्रय और उपदेशग्रहण-पूर्वक, सत्-शास्त्र के अभ्यास और श्रवण आदि द्वारा यथार्थ ज्ञान लाभ करते हैं एवं परमानन्द-रूप भगवत्-अनुभव का विरोधी स्थूलदेह-सम्बन्ध असह्य मानकर एकमात्र भगवदनुभव के अनुकूल रूप और देह आदि की वांक्षा से सदा भगवान् की खोज में रहते हैं, वह आर्त्त प्रपन्न है। और, जो बार-बार जन्म-मरण, सुख-दुख, गर्भवास, स्वर्ग-नरक आदि से विरक्त होकर उन सबकी निवृत्ति एवं भगवत्प्राप्ति के लिए सद्गुरु के उपदेश के अनुसार वर्णाश्रम-विहित धर्म का अनुष्ठान तथा कायिक, वाचिक और मानसिक भगवत्कैंकर्य का अवलम्बन करते हैं, जो भगवान् से अपने 'अंगांगी' पिता-पुत्र, भर्त्ता-भार्या, नियन्ता-नियम्य, शरीरी-शरीर, धारक-धार्य, रक्षक-रक्ष्य, भोक्ता-भोग्य आदि नित्यसम्बन्ध की खोज करके उनकी सर्वज्ञता और अपनी अकिंचनता का बोध करते हैं और अपना सारा शरीर उन्हीं को देकर निश्चिन्त हो उनके आश्रित रूप में अवस्थान करते हैं, वह दृप्त प्रपन्न है।

लोकाचार्य के निर्देशानुसार पुरुषार्थ-लाभ का पंचम उपाय आचार्याभिमान है। यह प्रपत्ति की अपेक्षा भी सुलभ उपाय है। प्रपत्ति भी बहुतों के लिए सम्भव नहीं होती; क्योंकि भगवान् में दृढ़ विश्वास तथा तद्भाव से अभिनिवेश नहीं होने से प्रपन्न नहीं हुआ जा सकता। प्रत्यक्ष भाव से भगवत्सत्ता का अनुभव नहीं कर पाने से उनका आश्रय कैसे ग्रहण किया जा सकता है? आचार्य या गुरु ही भगवान् के प्रेरित प्रतिनिधि हैं। माता जैसे रुग्ण स्तनपायी शिशु का रोग दूर करने के लिए स्वयं ही रोगनिवर्त्तक औषध का सेवन करके शिशु को चंगा करती है, भगवान् भी वैसे ही दुर्बल, असहाय और अपनी शक्ति के उत्थान में असमर्थ जीव के उपकार की कामना से किसी सेवक को गुरु के रूप में भेजते हैं। गुरु एक ओर जिस प्रकार शिष्य का भार स्वयं वहन करके शिष्य का उद्धार करते हैं, दूसरी ओर उसी प्रकार उसे श्रीभगवान् की दयादृष्टि के सामने अवस्थापित करते हैं। शिष्य के उद्धार के निमित्त ही गुरु को क्लेश सहन करना पड़ता

है, बहुत त्याग स्वीकार करना होता है। जीव का उद्धार ही उनके देहधारण का एकमात्र उद्देश्य है। गुरु का आश्रय ग्रहण करके उनके आदेश का पालन करना—यही आचार्याभिमान है। यह स्वतन्त्र रूप से भी पुरुषार्थ-लाभ का उपाय है और अन्यान्य उपायों के सहकारी भाव से भी इसका उपायत्व है।

मुक्ति का स्वरूप—सांख्याचार्य जिसे कैवल्य कहते हैं, विशिष्टाद्वैतवादियों के द्वारा ही वही स्वीकृत हुआ है। लोकाचार्य ने अपने 'अर्थपंचक' नाम के ग्रन्थ में 'आत्मानुभव' नामक जिस मुक्ति का वर्णन किया है, वह वास्तव में कैवल्य के अलावा और कुछ नहीं। उन्होंने स्पष्ट कहा है, उस अवस्था में यद्यपि प्रकृति और प्रकृत भाव से सम्बन्ध नहीं रहता, यद्यपि वह दुःखहीन और जन्म-मरणचक्र के अतीत विषय के सम्बन्ध में रहित आत्मा का विशुद्ध भावमात्र है, तथापि वह परम पुरुषार्थ नहीं भगवदनुभव ही यथार्थ मोक्ष या परम पुरुषार्थ है। कैवल्य में भगवत्स्फूर्ति के अभाव के कारण आनन्द का विकास नहीं होता। वास्तव में, वह आत्मा के लिए प्रार्थनीय अवस्था नहीं। स्थूल देह ही भोगायतन है। इसी को आश्रय करके शुभ-अशुभ सारे कर्मों का उदय एवं सुख-दुःख का भोग होता है। यही विपरीत ज्ञान और संसार-भ्रमण का मूल कारण है। स्थूल देह से सम्बन्ध के कारण ही भगवत्स्वरूप तिरोहित हो जाता है। भक्त कहते हैं, कैवल्य में यद्यपि स्थूल देह नहीं रहती, तथापि फिर से उसके ग्रहण की सम्भावना नष्ट नहीं होती। सांख्याचार्य जो भी कहें, भक्त कैवल्य-प्रार्थना नहीं करते।[६]

भक्त की प्रार्थनीय वस्तु भगवदनुभूति या मोक्ष है। जीव और भगवान्, दोनों ही जब नित्य पदार्थ हैं, तब दोनों का सम्बन्ध भी नित्य—यह कहना व्यर्थ है। इस नित्य सम्बन्ध का आविष्कार ही साधना आदि का लक्ष्य है। जीव नित्य ही अणु और भगवान् विभु हैं; जीव अंग और आश्रित, भगवान् अंशी और आश्रय हैं, अतएव जीव जो नित्य ही भगवदाश्रित हैं, उसे अस्वीकार करने का उपाय नहीं। यह आश्रितभाव ही दास्य या कैंकर्य है—इसी का पूर्ण विकास मोक्ष है। इस अवस्था में प्रकृति-सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए ज्ञान की संकीर्णता नहीं रहती। मुक्तों के ज्ञान, आनन्द आदि गुण अपरिच्छिन्न हैं, इस अंश में मुक्तपुरुष का भगवान् से कोई भेद नहीं।[७] रामानुजाचार्य ने स्पष्ट कहा है—'निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निव्यजिब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम्।' (ब्रह्मसूत्रभाष्य, ४/४/१७), 'अकर्मप्रतिहातज्ञानो मुक्तो विकारलोकान् ब्रह्मविभूतिभूताननुभूय यथाकामं तृष्यति।' (४/४/१८), लेकिन याद रखना है, ब्रह्मज्ञ होने से भी जीव ब्रह्म नहीं होता, उसका जीवभाव सदा अक्षुण्ण रहता है। अतएव, भोगमात्र से ही ब्रह्मसाध्य रहते हुए भी जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार, नियमन आदि व्यापार में जीव का कभी कोई अधिकार नहीं रहता (दृष्टव्य—ब्रह्मसूत्र, ४/४/१७)। ईश्वरत्व-लाभ करने पर भी जीव की परमेश्वर या भगवान् की अधीनता अवश्य ही अव्याहत रहती है। यहाँ तक कि, निर्मलता, सत्यसंकल्प आदि जो सारे ऐश्वरिक गुण मुक्त जीव में स्वभावतः आविर्भूत होते हैं, वह भी मूलतः भगवदधीन हैं।[८]

प्रश्न हो सकता है, सभी तो स्वाधीनता चाहते हैं, अधीनता किसी को भी सुखदायी नहीं। ऐसी स्थिति में भगवदधीनता को जीव का परम पुरुषार्थ समझने का हेतु क्या है? इसके उत्तर में रामानुज कहते हैं—ऐसा प्रश्न देहाभिमान से उठता है, जिनमें देहातिरिक्त आत्मबोध जगा है, वे ऐसा प्रश्न कभी नहीं कर सकते। जिन्हें जैसा देह में आत्माभिमान है, उनका पुरुषार्थ-बोध भी वैसा ही है। बाघ को जिसमें जो

पुरुषार्थ-प्रतीति उत्पन्न होती है, ऊँट को उसमें नहीं उत्पन्न होती। राम जो पाकर सुखी होता है, श्याम उससे सुख नहीं मानता—इसका एक ही कारण है, देहभेद से आत्माभिमान का वैचित्र्य। वास्तव में, बात यह है कि आत्मस्वरूप, देह से पृथक् और चिन्मय है। आत्मा परमात्मा का अंग अथवा विशेषण तथा नित्य ही उनके आश्रित है। जब आत्मा के यथार्थ स्वरूप में ही अभिमान होता है, अर्थात् आत्मा जब बन्धन से छुटकारा पाती है, तब स्वभावतया पुरुषार्थबोध भी उसका अनुसरण करता है। उस अवस्था में ज्ञानमयत्व एवं परमात्मा के अंगत्व के अलावा और किसी प्रकार से आत्मा का प्रकाश नहीं होता, इसलिए पुरुषार्थ प्रतीति भी उस समय वैसी ही होती है। मुक्त पुरुष भगवत्! पारतन्त्र्य को ही जो परम पुरुषार्थ के रूप में सोचते हैं, उसका यही हेतु है। मुक्तात्मा के स्वातन्त्र्याभिमान नहीं होता; क्योंकि वैसा अभिमान देह-सम्बन्धमूलक है, वह कर्मजन्य विपरीतज्ञान के सिवा और कुछ नहीं। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ, अर्थात् विषय की सुखात्मकता कर्मजन्य है। अत: विषयमात्र ही परिच्छिन्न एवं अस्थायी है। जब तक कर्म है, तभी तक विषय सुखमय या दु:खमय लगता है। क्योंकि, कर्म ही सुख-दु:ख का असाधारण हेतु है—स्वरूपत: विषय सुखमय नहीं है। इसीलिए, एक किसी को जिससे सुख होता है, उससे दूसरे को भी सुख होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु कर्म की निवृत्ति हो जाने से वैसी प्रतीति और नहीं हो सकती। एकमात्र परब्रह्म अथवा परमात्मा ही स्वत: सुखमय, अतएव नित्यानन्द-स्वरूप है। विषय की सुखमयता या दु:खमयता कर्मसापेक्ष है, स्वाभाविक नहीं। कर्म के क्षय से जगत् ब्रह्म की ही विभूति जैसा प्रतिभात होता है, इसलिए वह नित्यानन्दमय-रूप में प्रकाश पाता है। पारतन्त्र्य को जो दु:ख कहा जाता है, वह भगवत्-पारतन्त्र्य नहीं। भगवान् को छोड़कर दूसरे किसी पदार्थ की अधीनता जीव के लिए स्वभावसिद्ध नहीं, इसलिए दु:खकर है। शास्त्रों में पारतन्त्र्य का निन्दावाद उसी को लक्ष्य करके है। भगवत्-पारतन्त्र्य भगवत्-अंगभूत आश्रित जीव के लिए स्वाभाविक अवस्था है। वह पूर्णानन्दमय मुक्तभाव एवं साधनमात्र का चरम लक्ष्य है।

जैसे जीव नित्य है, वैसे ही भगवान् के प्रति दास्यभावमूलक भक्ति भी नित्य है। जिसे मोक्ष कहा जाता है, वह वस्तुत: भक्ति का ही अबाधित स्वाभाविक स्फूर्ति-मात्र है। प्रकृति-सम्बन्ध से जीव में जो सब कृत्रिम अभिमान का उदय होता है, वह सब ब्रह्मविद्या की प्राप्ति से तिरोहित हो जाता है। तब उसका स्वाभाविक दास्याभिमान अभिव्यक्त होता है—वह नित्य ही वर्तमान रहकर जीव के हृदय में परमानन्द का विधान करता है।[१] भक्तों के मत से जो मुक्ति में भी 'मैं' बोध का विनाश नहीं होता—यह कहना ही बाहुल्य है। किन्तु, निर्वाण आदि मुक्ति में 'मैं' का बोध नहीं रहता, पर भक्त इन सबकी उपेक्षा करते हैं।

बृहद्ब्रह्मसंहिताकार (२/१२) कहते हैं कि यह सेवकभाव द्विविध है। यद्यपि भक्तमात्र ही भगवान् का सेवक होकर रहने की इच्छा करते हैं, तथापि सभी एक ही प्रकार की सेवा की अभिलाषा नहीं करते। गन्ध-माल्य आदि सम्पादन एक कोटि की सेवा है—इसे कैंकर्य कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'रूपसेवा' नाम की और एक प्रकार की सेवा है। कोई-कोई भक्त स्वाभाविक रुचि के अनुसार सर्वदा रूप-सेवक होकर भगवान् के सन्निहित रहना पसन्द करते है। श्रीभगवान् सर्वसौन्दर्य के आधार हैं, अतुलनीय लावण्यशाली, अनन्त प्रेम-पारावार, नित्यकिशोरवयस्क, ऐश्वर्य, माधुर्य आदि अनन्त गुणों के एकमात्र आश्रय, सभी रसों

की खान और विज्ञानघन सच्चिदानन्दविग्रह-भक्त उन्हीं के श्रीचरणों के आश्रित तन्मय प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं।[१०] भक्त प्रेम से प्रेममय के मुखड़े की ओर केवल ताकते रहते हैं—ताकते हुए उस श्री-अंग की नित्य नूतन अपूर्व सुषमा का निरीक्षण करते हैं। उस कोटिसूर्यसमुज्ज्वल एवं कोटिचन्द्रसुशीतल अनिर्वचनीय मधुर वदन-कमल का निरन्तर निरीक्षण करके उन्हें तृप्ति नहीं होती। जितना ही देखते हैं, उतना ही लगता है, कुछ भी नहीं देख सका, अनन्त सौन्दर्य का नव-नव उन्मेष अनन्त भाव से आँखों के सामने निखर पड़ता है, किन्तु उससे प्यास बढ़ती ही है, मिटती नहीं। उस समय पलक मारने में भी कष्ट होता है—उस पल-भर का रूपदर्शन-विच्छेद भी उस समय दीर्घ युग के समान और असहनीय लगता है। इसी को 'रूपसेवा' कहते हैं।[११] 'उज्ज्वलनीलमणि' (काव्यमाला-संस्करण, पृ. ३८१) में श्रीमद्रूपगोस्वामी ने इसे रूढ़ भाव का अनुभव मानकर वर्णन किया है।

उत्क्रमण-रहस्य

विशिष्टाद्वैतवादियों के मतानुसार जीव का महाप्रयाण निम्नांकित क्रम से सम्पन्न होता है :

पहले मुमूर्षु भक्त की आत्मा सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश करके मस्तक पर उठती है। उसके बाद शिरःकपाल भेद करके ब्रह्मरन्ध्र से उत्क्रमण करके केवल सूक्ष्म शरीर के सहारे अर्चिः आदि पथों में जाती है। उत्क्रम-काल में किसी-किसी ज्ञानी के सारे ही कर्मों का क्षय हो जाता है। किन्तु, उस समय कर्म के नहीं रहने पर भी देवयान-मार्ग पर चलने योग्य कर्मरचित सूक्ष्म शरीर ज्ञान के प्रभाव से वर्तमान रहता है। यद्यपि ज्ञान के सूक्ष्म शरीर उत्पन्न नहीं हो, तथापि ज्ञान से ही वह प्रतिष्ठित रहता है। सूक्ष्म शरीर के नहीं रहने से एक ओर जैसे प्राकृतिक सुख-दुख-साधन स्थूल शरीर का एवं सारे कर्मों का निरवशेष भाव से क्षय नहीं किया जा सकता, दूसरी ओर जैसे ही ज्ञाननिमित्तक ब्रह्मलोक-प्राप्ति के लिए देवयान-गति नहीं लाभ करते। क्योंकि उनका कर्मफल अभुक्त रहता है, इसलिए उस कर्मफल का भोग करने के लिए उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ती है। भोग के अन्त में कर्म के क्षीण होने पर वे भी भवचक्र से छुटकारा पाते हैं। अर्चिः आदि पथों से जाने को ही देवयान-गति कहते हैं। इस रास्ते में विश्रामभूमि अनेक हैं। उन सबको पार करके आगे बढ़ना होता है। फिर, सूर्यमण्डल भेद करके, प्रकृति को पर करके विरजा-प्राप्ति होती है। विरजा में अवगाहन करने से सूक्ष्मदेह और उससे संलग्न 'वासना-रेणु', दोनों ही धुल जाते हैं और तब विशुद्ध सत्ता की अवस्था प्राप्त होती है। अवगाहन के बाद आत्मा रजोविहीन या कुण्ठारहित होकर संकल्प करते ही विरजा पार करके भगवत्-धाम में प्रवेश करती है।[१२] वहाँ अमानव दिव्य पुरुष उसका स्वागत करते हैं, उसके अनन्त जन्मों की सारी क्लान्ति, ताप और अवसाद उन दिव्य पुरुषों के मधुर करस्पर्श से पल में तिरोहित हो जाते हैं। मुक्त आत्मा उस समय ज्योतिर्मय पंचोपनिषदात्मक, अर्थात् त्रिगुणातीत शुद्धसत्त्वमय भागवती तनु प्राप्त करती है। यह अनन्त तेजोमय दिव्यदेह है। यह मन्त्रवपु आदि अनेक आख्याओं से अभिहित होती है। इस देह के जरा नहीं, जन्म-मरण नहीं, किसी प्रकार का विकार नहीं—यह भावमय एवं नित्य एकरूप होती है। यह आवरण नहीं करती, वरन् ज्ञानानन्द आदि आत्मशक्ति-समूह के विकास में सहायता करती है एवं भगवान् के स्वरूप, गुण, विभूति आदि का प्रकाश करती है। यह एकमात्र भगवत्सेवा

के उपयोगी है। ऐसा लावण्यमय दिव्य शरीर प्राप्त करके आत्मा भगवान् के समीप पहुँचती है, अपने दास्य और उनके प्रभुत्व—दोनों में जो स्वाभाविक सम्बन्ध है, उसे समझती है तथा उनके एकनिष्ठ परिचारक-रूप में परिगृहीत होने के लिए प्रार्थनापूर्वक प्रणाम करके उनके श्रीचरणों में आत्मनिवेदन करती है। तब भगवान् स्वयं प्रेमपूर्ण नेत्र से उसकी ओर कटाक्षपात करते हैं एवं उसे देश, काल और अवस्थोचित सेवकभाव से वरण करते हैं। भक्त संजीवित होकर, विनयपूर्वक कृतांजलि होकर प्रभु के आदेश-पालन की प्रतीक्षा करते हुए सदा उनके समीप रहता है। फलस्वरूप, आत्मा भाव के आत्यन्तिक विकास के कारण निरतिशय प्रीतिलाभ करके अन्य विषय का अनुष्ठान, दर्शन, यहाँ तक कि स्मरण करने में भी असमर्थ होकर फिर सेवकभाव से ही पहले की भाँति निर्निमेष नयन से, अविच्छिन्न दृष्टि से भगवान् के मधुर रूप का ही दर्शन करती रहती है। उसके बाद भगवान् उसकी ओर निहारकर हँसते हुए उसे बुलाते हैं और सभी क्लेशों को मिटानेवाले परमानन्दमयी अपने श्रीचरण-कमल उसके माथे पर रखते हैं—तब भक्त पूरी तरह अमृत-समुद्र में डूबकर चिरसुख में रहता है।

आचार्य-परम्परा का सम्प्रदाय-भेद

प्रसंगवश, हमने विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के किसी-किसी मत की चर्चा की। अधिक विस्तार से आलोचना का यह स्थान नहीं। किंवदन्ती है कि यह मत बहुत ही पुराना है। पहले पराशर ने विष्णुपुराण में इसका प्रतिपादन किया है।[१३] बाद में, व्यासदेव ने शरीरकसूत्र और महाभारत में इसका वर्णन किया है। बोधयान से वृत्तिग्रन्थ[१४] में इसी का विस्तार किया। टंक (सुदर्शनभट्ट और वेदान्तदेशिक के मत से इनका दूसरा नाम ब्रह्मनन्दी है), द्रमिड आदि आचार्यों ने द्रमिडभाष्य आदि में इसका सार-संकलन किया है।[१५] कलियुग में श्रीपरांकुशमुनि ने अपने द्रविडोपनिषद में बीस से अधिक गाथाओं में इसका संग्रह और प्रवर्तन किया है। उसके नाथमुनि ने न्यायतत्त्व, योगरहस्य आदि ग्रन्थों में इसका निरूपण किया। यामुनमुनि ने आगमप्रमाण्य, सिद्धित्रय आदि ग्रन्थों में इसका विवरण किया और रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य आदि में स्थापन किया। अतएव, रामानुज विशिष्टाद्वैत-मत के प्रतिष्ठाता-मात्र हैं, आदि प्रवर्तक नहीं। भर्तृहरि, भर्तृप्रपंच, भर्तृमित्र आदि के वेदान्तसूत्रों का भाष्य भी किसी हद तक विशिष्टाद्वैत मत का समर्थक था, ऐसा लगता है। गुहदेव कपर्दी, भारुचि आदि प्राचीन आचार्यों के नाम भी इस प्रसंग में मिलते हैं।

प्राचीन काल में दक्षिण देश में, एक जातीय भक्तिसिद्ध महापुरुष प्रादुर्भूत हुए थे। तमिल-भाषा में 'अलवार' नाम से उनका उल्लेख है। ऐसे बारह अलवारों का पता और परिचय वैष्णव-साहित्य के इतिहास में मिलता है। उनमें से बहुत ही प्राचीन काल में जो चार जीवित थे, उनके नाम हैं—सरयोगी, भूतयोगी, महद्योगी और भक्तिसार। मध्ययुग में पाँच सिद्धों का पता चलता है; यथा: शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त और गोदा (विष्णुचित्त की कन्या)।[१६] आधुनिक युग में भक्तांघ्रिरेणु, योगिवाह एवं परकाल, इन तीन का उल्लेख मिलता है। इन बारह भक्तों में शठकोप ने ही सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई थी। ये शुद्र जाति के थे। इनके पिता का नाम था कारि। इसलिए, बहुत ग्रन्थों में शठकोप[१७] को 'कारिसूनु' कहा गया है। परांकुश, वकुलाभरण, शठारि या शठद्वेषी आदि नामों से भी इनकी ख्याति थी। प्रवाद यह है कि

जन्मावधि इन्होंने कभी भोजन नहीं किया, कभी रोये नहीं। कम उम्र में ही माँ-बाप इन्हें एक सूने मन्दिर में त्याग गये थे। वहीं मन्दिर के निकट स्थित एक इमली के पेड़ के नीचे यह सोलह वर्ष तक अखण्ड योगमुद्रा में आसीन रहे, बाद में क्रमश: ऐश्वरिक कृपा प्राप्त करके इन्होंने सिद्धि पाई।

तृणवल्ली जिले के अधिवासी मधुरकवि नाम के एक सामवेदीय ब्राह्मण पण्डित अपने अध्ययन आदि समाप्त करके तीर्थयात्रा में अयोध्या गये। कहा जाता है, एक दिन सन्ध्या समय वहाँ से स्वदेश की ओर निहारते ही एक विराट् ज्योति:स्तम्भ उन्हें दिखाई पड़ा। उसका अनुसरण करके आते हुए वह पूर्वोक्त इमली के पेड़ के पास पहुँचे और उन्होंने उसके नीचे समासीन शठकोप के दर्शन किये और यथासमय उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। शठकोप के सारे तत्त्वोपदेशों को उन्होंने लिपिबद्ध किया। उन उपदेशों के नाम हैं 'तिरुवायमोलि' अथवा मुँह से निकली वाणी। ये उपदेश दक्षिण में द्रविडवेद[१८] या तमिलवेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कुलशेखर नाम के सिद्ध भक्त त्रावणकोर के राजा थे। उनके द्वारा रचित 'मुकुन्दमाल' नामक ग्रन्थ का पता चलता है। योगवाह जाति के पारिया या चाण्डाल थे।[१९]

वैष्णव-पद संग्रह में इनके कुछ पद मिलते हैं। परकाल चोल-राज्य के एक कर्मचारी थे। इन्होंने बहुत-से ग्रन्थों की रचना की थी। शठकोप के उपदेश की व्याख्या इन्हीं के द्वारा की गई है। कहा जाता है कि एक विवाह के बरातियों पर दस्युवृत्ति करते समय इन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हुई।

इन बारह अलवारों के बाद जिन्होंने वैष्णव-धर्म के प्रचार का भार लिया, वे आचार्य नाम से विख्यात हैं। वे आचार्य पण्डित थे और नाना प्रकार से विचार करके भक्तिमूलक भागवत-धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर गये हैं। आचार्य परम्परा में गौरव और प्राचीनता की दृष्टि से नाथमुनि ही सर्वप्रथम गणनीय हैं। इनकी जीवन-कथा बहुत ही अद्‌भुत है। प्रसिद्ध है कि यह पाँच सौ वर्षों तक जीवित रहे। यह वीरानारायणपुर ग्राम के निवासी थे। यह तीर्थयात्री पर्यटक वैष्णवों के मुँह से शठकोप के दस पदों का गान सुनकर एकबारगी विमोहित हो गये थे। उस शमय शठकोप के सारे ही ग्रन्थ एक प्रकार से लुप्त हो चुके थे। नाथमुनि उसी समय से उन लुप्त ग्रन्थों के उद्धार के लिए बद्धपरिकर हुए। किन्तु, कुम्भकोण, शठकोप के जन्मस्थान आदि अनेक स्थानों में निरन्तर खोज-बीन करके भी उन्हें सफलता नहीं मिली। परन्तु, इस सिलसिले में शठकोप के विषय पर अवलम्बित मधुरकवि-विरचित केवल ग्यारह पद उन्हें मिले। नाथमुनि विशिष्ट पाण्डित्य-सम्पन्न महापुरुष थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। उनके न्यायतत्त्व और योगरहस्य का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। वेदान्तदेशिक के 'न्यायसिद्धांजन' में न्यायसत्त्व का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि नाथ मुनि ने मधुरकवि के शिष्य परांकुशपूर्ण से सुना था कि एकान्त भाव से शठकोप का ध्यान करके, नियमपूर्वक एकासन में बैठकर उनके प्रबन्ध का बारह हजार बार चिन्ता करने से शठकोप प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। यह सुनकर उन्होंने यथाविधि उपासना करके सचमुच ही प्रत्यक्ष रूप में शठकोप का दर्शन किया था। शठकोप ने उनके प्रति कृपा करके उन्हें दिव्यचक्षु प्रदान किया, चित्-अचित् और ईश्वर-तत्त्व का रहस्य समझा दिया, सभी दर्शनों का तात्पर्य बताकर अष्टांगयोग के गुह्य रहस्य की शिक्षा दी और स्वप्न में उन्हें उनके भावी गुरु की मूर्ति भी दिखा दी। एक प्रकार से, नाथमुनि से ही विशिष्टाद्वैत-

दर्शनप्रणाली का सूत्रपात माना जा सकता है। नाथमुनि के पुत्र ईश्वरमुनि पिता जैसी ख्याति तो अवश्य अर्जित नहीं कर सके, परन्तु ईश्वरमुनि के पुत्र यामुनमुनि ने महापण्डित का सम्मान प्राप्त किया था। यामुन विवाहित और गृहस्थ थे। नाथमुनि के प्रधान शिष्य पुण्डरीकाक्ष के छात्र राममिश्र के प्रोत्साहन और प्रेरणा से ईश्वरमुनि ने अपने पुत्र यामुन को उपनयन के तुरंत बाद वेद की शिक्षा दी थी। यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य, गीतार्थसंग्रह, महापुरुषनिर्णय, काश्मीरागमप्रामाण्य, स्तोत्ररत्न आदि विविध ग्रन्थों की रचना की थी। रामानुज ने बहुत स्थानों में यामुनाचार्य के पदांक का अनुसरण करके अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है—यामुन के विद्यावैभव और प्रतिभा का यह प्रकृष्ट प्रमाण है।

यामुन के बाद स्वनामख्यात रामानुजाचार्य (सन् १०१७-११३७ ई.) का नाम ही उल्लेख योग्य है। रामानुज यामुन की पौत्री के पुत्र थे। यामुन मुनि ने रामानुज को तीन काम करने का आदेश दिया। यह आदेश अलौकिक भाव से रामानुज को ज्ञापित हुआ। पहला आदेश—वैष्णवमत से ब्रह्मसूत्र की भाष्य-रचना और दूसरा तथा तीसरा आदेश सहस्रनाम का भाष्य एवं शठकोप की सहस्रगीतिका की भाष्य-रचना। रामानुज ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य की स्वयं रचना की तथा श्रीभाष्य नाम से उसे प्रकाशित किया। अपने शिष्य कुरेश के पुत्र पराशरभट्ट से उन्होंने सहस्रनाम के भाष्य की रचना कराई। यह ग्रन्थ 'भगवद्गुणदर्पण' नाम से प्रसिद्ध है। तीसरे भाष्य की रचना के लिए उन्होंने अपने मामा श्रीशैलपूर्ण के पुत्र कुरुकेश को नियुक्त किया। पूर्ण होकर इस ग्रन्थ ने षट्सहस्रश्लोकात्मक आकार ग्रहण किया। श्रीभाष्य के अलावा रामानुज ने वेदान्तसार और वेदान्तप्रदीप नामक ब्रह्मसूत्रवृत्ति, गीताभाष्य, वेदार्थसंग्रह, नित्याराधनविधि तथा गद्यत्रय (शरणागतिगद्य, श्रीरंगगद्य और श्रीवैकुण्ठगद्य—इन तीनों ग्रन्थों की समष्टि) ये कतिपय ग्रन्थ रचे।

रामानुज के बाद उनके सम्प्रदाय में 'तत्त्वमुक्तावली' के रचियता गौड़ पूर्णानन्द कविचक्रवर्ती तथा पिल्लई लोकाचार्य वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक (या वेदान्ताचार्य) ने आविर्भूत होकर दार्शनिक साहित्य की विशेष पुष्टि की। लोकाचार्य वेंकटनाथ के समकालीन होते हुए भी उम्र में बड़े थे। उनका जन्मकाल क्रम से सन् १२१३ और १२६८ ई. है। लोकाचार्य टेंगलइ और वेंकटनाथ बड़गलइ-शाखा के थे। लोकाचार्य १८ रहस्यग्रन्थों की रचना करके सुधी-समाज में आशातीत यश और गौरव से विभूषित हुए थे। इन ग्रन्थों में तत्त्वत्रय, अर्थपंचक, तत्त्वशेखर, श्रीवचनभूषण, प्रमेयशेखर आदि अग्रगण्य हैं। इनमें 'श्रीवचनभूषण' बहुत ही उत्कृष्ट तत्त्व-ग्रन्थ है। कहना न होगा, ऐसा दुर्लभ गुह्यतत्त्व प्रतिपादक ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह होगा। परन्तु, इसका आदर सभी सम्प्रदाय के वैष्णव करते हैं।

तत्त्वांश में, वेंकटनाथ से लोकाचार्य बहुत उन्नत थे, परन्तु दार्शनिक विचार-कौशल तथा वाक्पटुता में वेंकटनाथ भारतवर्ष के एक बहुत ही उज्ज्वल नक्षत्र थे। यहाँ उनके जीवनचरित की चर्चा का अवसर नहीं, पर वह एक असाधारण तीक्ष्णधीशक्ति-सम्पन्न पुरुष थे, यह निस्सन्देह है। वह प्रसिद्ध शांकरवैदान्तिक विद्यारण्यस्वामी तथा माध्व-सम्प्रदाय के आचार्य अक्षेभ्य मुनि के समसामयिक थे और दोनों के शास्त्रार्थ-विचार में मध्यस्थ हुए थे। संस्कृत और तमिल में उनके रचे विभिन्न विषय के बहुतेरे ग्रन्थ हैं।[२०] प्रत्येक ग्रन्थ ही उनकी लोकोत्तर प्रतिभा का परिचायक है। उन्होंने शतदूषणी में, शांकरमत में एक सौ दोषों का

उद्‌भावन कर अपनी बुद्धिमता का निदर्शन उपस्थित किया है। श्रीभाष्य की 'तत्त्वटीका' नाम की जो बृहत टीका उन्होंने संकलित की थी, उसका अब कुछ ही अंश मिलता है। पंचरात्ररक्षा, सिद्धान्तरत्नावली, यामुन-कृत स्तोत्ररत्न की टीका, स्वकृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका-सह तत्त्वमुक्ताकलाप, न्यायसिद्धांजन, रामानुज-कृत गीताभाष्य की टीका तातर्यचन्द्रिका, प्रपत्तिविषयक निक्षेपरक्षा और न्यायदशक, रहस्यत्रयसार, परमतभंग, अधिकरणसारावली, वेदान्तकौस्तुभ, वादित्रयखण्डन आदि उनके बड़े उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थ हैं। संकल्पसूर्योदय प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर रचित होते हुए भी रूपक के छल से श्रीवैष्णव-सिद्धान्त का प्रतिपादक है। उनकी सेश्वरमीमांसा जैमिनि के कर्ममीमांसासूत्र की सेश्वर-पक्ष में व्याख्या है। यादवाभ्युदय, हंससन्देश, सुभाषितनीवी, पादुकासहस्र, दयाशतक, यतिराजसप्तति आदि सुन्दर काव्य हैं। उनके ग्रन्थों की आलोचना से लगता है, वह जो 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र', 'कवितार्किकसिंह' आदि उपाधियों से विभूषित हुए थे, वह निर्मूल नहीं है।

वेदान्तदेशिक के बाद हम श्रीशैलेश के शिष्य वरवरमुनि या रम्यजामातृमुनि या मनबल महामुनि का नामोल्लेख कर सकते हैं। ये सन् १३७० ई. में आविर्भूत हुए थे और ७३ वर्ष तक जीवित रहे। इनके रचे ग्रन्थों में श्रीवचनभूषण तथा तत्त्वत्रय की टीकाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। यह यदि श्रीवचनभूषण की टीका नहीं रचते, तो सम्भवतः बहुत पहले ही वह ग्रन्थ लुप्त हो गया होता। इन्होंने बीस श्लोकों में 'यतिराजविंशति' नाम से रामानुज की प्रशस्ति लिखी थी। इनकी उपदेशरत्नमाला और अर्थिप्रबन्ध[२१] तमिल-भाषा में हैं। रामानुज के शिष्य वरदविष्णु के पौत्र वरदाचार्य महापण्डित थे। उनका 'तत्त्वसार'[२२] प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रामानुज के दूसरे शिष्य प्रणतार्त्तिहर के प्रपौत्र आत्रेय रामानुज वरदाचार्य के शिष्य थे। वेदान्तदेशिक इसी आत्रेय रामानुज के शिष्य थे। वरदाचार्य के गुरुदेव विष्णुचित्त (सन् १२२५ ई.) कुरुकेश के शिष्य थे, ऐसा पता चलता है। उनकी रची विष्णुपुराण की टीका प्राचीन विद्वत्समाज में बहुत आदृत था और आज भी उसका प्रचार है। वरदाचार्य के दूसरे शिष्य कुरेश के प्रपौत्र वेदव्यास नाम सुदर्शनभट्ट ने श्रीभाष्य पर 'श्रुतप्रकाशिका' नामक टीका एवं वेदार्थसंग्रह की व्याख्या का संकलन करके वैष्णव-समाज का प्रभूत उपकार किया था। उनकी उपनिषद् की टीका भी कुछ-कुछ मिलती हैं। श्रीमद्‌भागवत की शुकपक्षीय नाम की जो टीका पण्डित-मण्डली में प्रचलित है, बहुतों का विश्वास है, यह इन्हीं सुदर्शनभट्ट द्वारा रचित है। अप्पय्यदीक्षित (सन् १५५२-१६२४ ई.) ने बहुत से वैष्णवग्रन्थों, विशेषतः वेंकटनाथ-कृत ग्रन्थ की टीका लिखी थी। शैव होते हुए अप्पय्यदीक्षित का वैष्णवधर्म में असाधारण पाण्डित्य था। चण्डमारुताचार्य रचित शतदूषणी की टीका 'चण्डमारुत' (सन् १६०० ई.) एवं श्रीनिवास की यतीन्द्रमत दीपिका (सन् १६५० ई.) ने वर्तमान वैष्णव-समाज में ख्याति लाभ की है। रंगरामानुज (सन् १८०० ई.) ने विशिष्टद्वैत-मत से उपनिषद् की व्याख्या की थी—आज भी उसका पठन-पाठन होता है।

दक्षिण देश में, श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में दो प्रधान भेद दिखाई पड़ते हैं। ये दो शाखाएँ टेंगलइ (दक्षिण पथ) और बड़गलइ (उत्तर पथ) नाम से प्रसिद्ध हैं।[२३] किसी-किसी विषय में इनमें मतवैषम्य दिखायी देता है। बड़गलइ-शाखा की अपेक्षा टेंगलइ-शाखा में कृपा अथवा प्रपत्ति की प्रधानता अधिक है। बड़गलइ-शाखावालों के मत से भगवत्कृपा-लाभ में कर्म आदि की सापेक्षता है। इनका कहना है, कर्म

और ज्ञान भगवत्प्राप्ति का साक्षात् उपाय नहीं है; इनकी उपयोगिता केवल भक्ति के अंग के रूप में है। भगवान् साक्षात् रूप से एकमात्र भक्ति द्वारा ही मिलते हैं। टेंगलइ-शाखावालों का कहना है, भगवत्कृपा अहेतुक है—यह क्यों होती है, कब होती है, कोई नहीं कह सकता। वस्तुतः इसका कोई मूल नहीं। इनके अनुसार कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि जिन किन्हीं उपायों से मोक्षलाभ हो सकता है, उनमें किसी की प्रधानता और किसी की गौणता मानने का कोई हेतु नहीं। बड़गलइ-शाखावालों के मत से प्रपत्ति भगवत्प्राप्ति का उपाय-विशेष है, परन्तु टेंगलई-मत से यही एकमात्र उपाय है। प्रपत्ति से दूसरे किसी उपाय की तुलना नहीं हो सकती। फलतः बड़गलइ-मतावलम्बियों का कहना है, दूसरे उपाय का सहारा लेने का सामर्थ्य या अधिकार न हो, तो प्रपत्ति ग्रहण करना उचित है। परन्तु, टेंगलइ-मतवालों की धारणा है, जीवमात्र को पूर्ण भाव से भगवान् का शरणापन्न होना ही होगा। इसमें सबलता और दुर्बलता का विचार नहीं। उनका आश्रय किये बिना दूसरा कोई उपाय फल नहीं दे सकता। विशुद्ध प्रपत्ति ही श्रेष्ठ उपाय है। इसके साथ दूसरे उपाय का मिश्रण युक्तिसंगत नहीं है। बड़गलइवालों के मत से कैवल्यमुक्ति स्थायी नहीं है, टेंगलइवालों के सिद्धान्त के अनुसार कैवल्य नित्य अवस्था है। इस अवस्था में जैसे जड़ जगत् में पतन की सम्भावना नहीं रहती, वैसे ही भगवत्-धाम में जाने का भी कोई उपाय नहीं। मोक्षावस्था में भगवदानन्द का विकास होता है, इस सम्बन्ध में भी दोनों शाखाओं में कुछ-कुछ मतानैक्य देखा जाता है। बड़गलइ-शाखावाले मुक्ता आत्मा की आनन्द-उपलब्धि में वैचित्र्य स्वीकार नहीं करते। टेंगलइ-शाखावाले कहते हैं, यद्यपि भगवदानन्द में न्यूनाधिक्य नहीं, तथापि जीवमात्र के ही स्वभावगत वैचित्र्य के अनुरूप सेवाभेद अवश्यम्भावी है, इसलिए भगवदानन्द का आस्वादन सभी जीव के लिए एक-सा नहीं होता।

श्री अथवा शक्तितत्त्व के सम्बन्ध में भी दोनों शाखाओं में मतभेद है।[२४] बड़गलइ शाखावाले कहते हैं, नारायण की भाँति श्री का भी मोक्षदान का सामर्थ्य है, टेंगलइ शाखावाले इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मत से श्रीकेवल मध्यवर्त्तिनी होकर जीव को भगवान् का कृपा-पात्र बनने में सहायता करती है। व्यापकता के सम्बन्ध में भी दोनों में कुछ-कुछ मतभेद मिलता है। बड़गलइ-शाखावाले श्री की स्वरूप-व्याप्ति को स्वीकार करते हैं, टेंगलइ-शाखावाले केवल विग्रहव्याप्ति और गुणव्याप्ति को मानते हैं। टेंगलइ-मत से जीव में केवलमात्र गुणमात्र गुणव्याप्ति है, श्री में गुणव्याप्ति एवं विग्रहव्याप्ति दोनों हैं। भगवान् में गुण और विग्रहव्याप्ति के अतिरिक्त स्वरूप-व्याप्ति भी है। भगवान् के वात्सल्य तथा दयालुता के बारे में भक्तमात्र ही अवश्य एकमत है, परन्तु उस विषय में सब की धारणा एक जैसी नहीं। बड़गलइ-शाखावाले कहते हैं, वात्सल्यवश भगवान् जीव का दोष नहीं देख पाते। किन्तु, टेंगलइ-शाखावाले कुछ और आगे जाते हैं। उनका मत है, भगवान् जीव के केवल दोषदर्शी ही नहीं, दोष के भोक्ता भी हैं। उत्तर-सम्प्रदाय कहते हैं, पर दुःख-निराकरण की इच्छा ही दया है, परन्तु दक्षिण-सम्प्रदाय कुछ और आगे बढ़कर उस लक्षण का परिवर्तन करते हुए कहते हैं, पर दुःख में दुःख का अनुभव ही दया है। ऐसे ही अन्य अनेक विषयों में भेद है। यह शाखा-भेद कब हुआ था, इसका पता नहीं चलता। किन्तु, लोकाचार्य एवं वेदान्तदेशिक के समय से ही इस साम्प्रदायिक कलह ने तीव्र रूप धारण किया, यह ऐतिहासिक सत्य है। ('भारतीय साधना की धारा' पुस्तक से संकलित)

सन्दर्भ :

१. जाति, आश्रय और निमित्त—इन तीन कारणों से खाद्यद्रव्य दूषित हो सकता है। जातिदोष का उदाहरण: कलंज (विषाक्तबाण से हत पशु-पक्षी का मांस); आश्रयदोष का उदाहरण—पापी का अन्न; निमित्तदोष का उदाहरण: केशादिमिश्रित अन्न। इन सब दोषों से मुक्त भोज्य वस्तु का ग्रहण ही शुद्धाहार है। शुद्धाहार सत्त्वशोधन के लिए एकान्त आवश्यक है। देह शुद्धि हुए बिना चित्तशुद्धि की सम्भावना कहाँ? रामानुज-मत से यही उपनिषद् में प्रोक्त अविद्या है।

२. पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य भी पाप में ही गणनीय है; क्योंकि दोनों ही ब्रह्मज्ञान के प्रतिबन्धक तथा अनिष्टफलक हैं।

३. श्रीयामुनाचार्य कहते है—''उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्य:।'' 'उभय' शब्द से ज्ञानयोग और कर्मयोग समझना चाहिए। वेदान्तदेशिक ने अपने 'निक्षेपरक्ष' नामक प्रतिपत्ति-विषयक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ में मोक्षलाभ के उपायों के वर्णन के प्रसंग में कहा है—''कर्मज्ञानानुगृहीतो वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्यो दर्शनसमानाकृतिनिरतिशयप्रीतिरूपतया भक्ति-शब्दाभिलाप्योऽसकृदावृत्त आप्रयाणाहनुवृत्तो निरन्तरस्मृतिसन्तान एव नि:श्रेयसनिश्रेणिका।''

४. रामानुज ने बहुत से ग्रन्थों में, अनेक प्रसंगों में भक्ति का लक्षण किया है। साधारणत:, ''निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजन सकलेतरवैतृष्ण्यावहज्ञानविशेष:।'' यह लक्षण 'वेदार्थसंग्रह' में है। अन्यान्य लक्षण भी पाये जाते हैं। तात्पर्य में कोई भेद नहीं। परभक्ति, परज्ञान एवं परमभक्ति-विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के ग्रन्थों में बहुत स्थानों में ये तीन पारिभाषिक नाम मिलते हैं। इनका पारस्परिक भेद नहीं ज्ञात रहने से बहुत बार गड़बड़ी की सम्भावना रहती है। वेंकटनाथ ने 'शरणागतिगद्य' की टीका (पृ. १४-१५) में कहा है कि उत्तरोत्तर साक्षात्कार की इच्छा ही 'परभक्ति'-रूप ज्ञानावस्था है। यह विषयस्वभावजन्य है। यहं इष्टसाधनता बोध से उत्पन्न नहीं होता। उत्तरोत्तर साक्षात्कार ही 'परज्ञान' है। साक्षात्कार हो जाने पर उसे निरन्तर अनुभव या आस्वादन करने के लिए जो इच्छा उत्पन्न होती है, वही 'परमभक्ति' है। सुदर्शन सूरि ने 'वेदार्थसंग्रह' की 'तात्पर्यदीपिका' (पृ. १४७) में भी बहुत कुछ यही कहा है।

५. निक्षेपापरपर्यायो न्यास: पंच्चागसंयुत:।
संन्याससत्याग इत्युक्त: शरणागतिरित्यपि॥
यहाँ प्रपत्ति और संन्यास तुल्यार्थवाचक ही उल्लिखित हुआ है।

६. यही विदेह-कैवल्य है। बृहद्ब्रह्मसंहिताकार (२/१३) कहते हैं कि कैवल्य में देह नहीं रहती। परन्तु, भक्तिशास्त्र में जिस कैवल्य का वर्णन मिलता है, उसमें स्थूलदेह, वासना आदि रहती है, ऐसा लगता है। सांख्योक्त कैवल्य आत्मा की स्वरूप-अवस्थिति है—उस समय लिंग शरीर और उससे संलग्न वासना आदि नहीं रहतीं। इस प्रसंग में सांख्य और रामानुज-मत से प्रकृति का स्वरूप-लक्षण आलोच्य है। सांख्य की त्रिगुणात्मिकामूला प्रकृति रामानुज-मत से कार्य है। इसकी कारणावस्था ही वास्तविक प्रकृति या अचित्-तत्त्व है। वही प्रलयावस्था है। उस समय प्रकृति नामरूपहीन, अव्याकृत, तमोभूता, ब्रह्म की देहस्वरूपा तथा ब्रह्मभवापन्ना होती है।

७. दृष्टव्य: ब्रह्मसूत्रभाष्य, ४/४/२१।

८. इस सम्बन्ध में बड़गलइ और टेंगलइ-शाखाओं में कुछ अवान्तर भेद दिखाई पड़ता है। बड़गलइ-शाखावालों का कहना है, जीव में सृष्टि-सामर्थ्य नहीं, यहाँ तक कि नित्य और मुक्त आत्मा भी सृष्टि आदि करने में असमर्थ है। टेंगलइ-शाखावाले इस प्रकार के शक्ति-संकोच को स्वीकार नहीं करते। उसके अनुसार, उनकी शक्ति में भागवत आदेश अनुप्राणित होने से नित्य और मुक्त आत्मा भी सृष्टि आदि कर सकती है।

९. दृष्टव्य: वेदार्थसंग्रह, पृ. २५१-२५२।

१०. इस प्रसंग में भक्तप्रवर हनुमान की एक उक्ति याद आती है—

भवबन्धच्छिदे तस्यै प्रार्थयामि न मुक्तये।

भगवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥

जिस मुक्ति में जीव और भगवान् का परस्पर दास-प्रभु-सम्बन्ध विलुप्त हो जाता है, वह केवल चिदेकरस ही हो या शून्यमय ही हो, भक्त उसका प्रार्थी नहीं।

११. 'पक्ष्मपातासहप्रेमवीक्षणं रूपसेवनम्।' (बृ. ब्रह्मसंहिता, २/१३)।

१२. बृहद्ब्रह्मसंहिता (३/१/४२-४४) में है कि घोर अन्धकारमय अविद्या या माया या प्रकृति के ऊपर की ओर सीमाहीन विरजा नदी है। नदी एक पार में जड़ प्रकृति या त्रिगुणात्मक प्रधान है, जो श्रीभगवान् की एकपादविभूति है। दूसरे पार में चिन्मय पाव्योम है, जिसे शास्त्र में भगवान् की त्रिपादविभूति कहा गया है। विरजा विश्व का आवरणभूत है। यह वेदान्तस्वेदजनित जल से प्रस्रावित है, ऐसा विवरण अनेक स्थलों में पाया जाता है। श्रीकृष्णयामलतन्त्र में भी विरजा का वर्णन है। उसका भी सारांश ऐसा ही है। वहाँ है कि ब्रह्माण्ड के ऊपर महाविष्णुलोक है, उसके ऊपर देवीलोक, देवीलोक के बाद शिवलोक। 'देवी' शब्द से यहाँ दुर्गा या त्रिपुरसुन्दरी समझना होगा। शिवलोक सदाशिव का धाम है। सदाशिव योगपीठ या महायोनि-संयुक्त ज्योतिर्लिंग-स्वरूप है, इन्हीं की प्रकाशमूर्ति अर्द्धनारीश्वर है। श्रीकृष्णयामल-मत से यह शिवलिंग ही श्रीकृष्ण का लिंगात्मक तेज एवं देवी स्वयं राधिका हैं—माया-सम्पर्कवश योनिरूप में प्रकाशमान। इस लोक तक ही गुण की सीमा है। इसके बाद ज्योतिर्मयी अपार, अनन्तगुण-समन्वित विरजा नदी है। इस नदी में अवगाहन करने से प्रकृति और पुरुष का स्वभाव विपर्यस्त हो जाता है; स्त्री पुरुष और पुरुष स्त्री होता है। इसके ऊपर जाने से निर्मल, निराधार भगवत्तत्व में मग्न हुआ जा सकता है।

१३. श्रीवैकुण्ठपद्य (रामानुज-कृत), अर्थपंचक (लोकाचार्य-कृत) तथा बृहद् ब्रह्मसंहिता।

१४. शारीरकसूत्र और महाभारत एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नहीं माने जा सकते। पराशरपुत्र व्यास ही ब्रह्मसूत्रकार बादरायण है, इसका भी निःसंशय प्रमाण नहीं है। हाँ, पाराशर्य-कृत भिक्षुसूत्र की कथा का उल्लेख पाणिनि ने किया है, यह सत्य है। हमने ऊपर सिर्फ किंवदन्ती का उल्लेख किया। ऐतिहासिक विचार यहाँ अनावश्यक है।

१५. द्रमिडाचार्य ने ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषद् का भाष्य किया। उपनिषद्-भाष्य बड़ा विस्तृत था। श्रीवत्सांक मिश्र ने इस भाष्य की टीका की थी।

१६. ये नाम तमिल-नाम के संस्कृत-अनुवाद-मात्र हैं।

१७. काशी-संस्कृत-कॉलेज के पुस्तकालय में 'रामानुजीय गुरु-परम्परा' नाम की एक छोटी-सी हस्तलिखित पोथी है। उसमें श्रीनिवास-रचित 'दिव्यसूरिचरित्र' नाम के ग्रन्थ में शठकोप के जन्म एवं पूर्वपुरुषों का संक्षिप्त वृतान्त लिखा हुआ है। उस ग्रन्थ के चतुर्थ सर्ग में है कि पूर्वसमुद्र के पश्चिम तट पर पाण्ड्यवंशीय राजा के राज्य में कुरूकाकपा नाम की एक नगरी थी। वहाँ पल्ली नाम का एक शूद्र रहता था। शठारि उसी के वंशधर हैः पल्ली का पुत्र धर्मधर, उसका पुत्र चक्रपाणि, चक्रपाणि का पुत्र रत्नदास, उसका पुत्र पाटललोचन, पाटललोचन का पुत्र पार्कारि और पार्कारि का पुत्र कारि। शठकोप इसी कारि के औरस पुत्र थे। वेदान्तरामानुज-कृत 'दिव्यसूरिप्रभादीपिका' में भी शठकोप के बारे में कुछ-कुछ चर्चा मिलती है।

१८. शठकोप या परांकुश-प्रोक्त चार सहस्र संख्यक 'प्रबन्धचतुष्टय' द्रविडवेद के नाम से विख्यात है। उसके सम्बन्ध में परकाल नाम के सिद्ध ने जो छह प्रबन्ध लिखे थे, वही द्रविडवेद का षडंग नाम से विख्यात है। अन्यान्य सूरियों द्वारा रचित चौदह प्रबन्ध उसके उपांगभूत हैं। 'मार्कण्डेयपुराण' में इसी द्रविडवेद के बारे में यह उक्ति पाई जाती है—'संस्कृतश्रुतयो यद्वद् द्राविडश्रुतयस्तथा। नित्यास्तद्वत् प्रणीयन्ते मुनिभिश्च कलौ युगे॥' इस प्रबन्ध चतुष्टय

को 'वेद' कहने का तात्पर्य यह है कि यह अपौरुषेय रचना है, शठकोप इसके रचयिता नहीं हैं। आर्यज्ञान एवं दिव्यज्ञान—ये दोनों ज्ञान ही अलौकिक हैं। किन्तु, आर्यज्ञान में वक्ता का दोष, भ्रम-प्रमाद आदि की सम्भावना है, दिव्यज्ञान सम्पूर्णतया निर्दोष है। इसका कारण यह है कि आर्यज्ञान योग से अभिव्यक्त होता है, दृष्टान्त पराशर। दिव्यज्ञान-लाभ के लिए योग आदि व्यक्तिगत किसी प्रकार की चेष्टा की आवश्यकता नहीं। यह अहेतुक भगवत्प्रसाद से आविर्भूत है, दृष्टान्त शठकोप। कहना नहीं होगा, दिव्यज्ञान का माहात्म्य योगज्ञान से अनन्तगुना अधिक है।

१९. किंवदन्ती है कि यह भक्त अन्त्यज थे, इसलिए रंगनाथ-मन्दिर में नहीं जा सकते थे। वह प्रतिदिन सवेरे कावेरी में स्नान करके वहीं रंगनाथ का भजन करते थे। उनकी भक्ति से सन्तुष्ट होकर रंगनाथ ने भार्गव नाम के एक ब्राह्मण को यह आदेश दिया कि उन्हें (योगवाह को) कन्धे पर उठाकर मन्दिर में लायें। (दृष्टव्य—'कॉण्ट्रिब्यूशन्स ऑव साउदर्न इण्डिया टु इण्डियन कल्चर' : एस.के. आयंगर, पृ. २६७-२६८)।

२०. उनके अन्यान्य ग्रन्थों के नाम हैं—अर्चिरादि, प्रपन्नपरित्राण, सारसंग्रह, संसारसाम्राज्य, नवरत्नमाला, नवविधसम्बन्ध, मुमुक्षुप्पडि, यादृच्छिकप्पडि, परन्दप्पडि, तनिद्वयम, तनिचरमन्, तनिप्रणवम् और श्रिय:पतिष्पडि।
काशी-संस्कृत-कॉलेज-पुस्तकालय में इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि संगृहीत है। कई साल हुए, यह बँगला में अनुवाद-सहित प्रकाशित हुआ है। उनके रचे ग्रन्थों की संख्या सौ से भी अधिक होगी। राममिश्र शास्त्री १२६ कहते हैं। इस विषय में वेदान्तदेशि अप्पय्यदीक्षित से तुलनीय हैं।

२१. ये दो ग्रन्थ तमिल-भाषा में हैं। परमतभंग में विरुद्ध दार्शनिक मतों का खण्डन करके विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त स्थापित हुआ है। भरद्धाजवंशीय श्रीनिवासार्चा ने 'रहस्यत्रयसार' के अन्तर्गत तमिला-गाथा की एक विशद संस्कृत-टीका की रचना की थी। 'रहस्यत्रयसार' बत्तीस अध्यायों का एक बृहत ग्रन्थ है। 'रहस्यत्रयसाराधिकसंग्रह' उसी का संक्षेप हैं। इस पर वेदान्तरामानुज के एक शिष्य ने व्याख्या लिखी थी।

२२. इसका दूसरा नाम वेदान्ततत्वसार है। राममिश्र शास्त्री ने वेदार्थसंग्रह की भूमिका (पृ.६) में तत्वसार को सुदर्शनभट्ट-कृत बताया है। बहुतेरे इसे रामानुज-कृत ही मानते हैं। किन्तु, रेवेरेण्ड जॉन्सन ने अंगरेजी अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ का एक संस्करण 'पण्डित' पत्र में प्रकाशित किया था। उसकी भूमिका में उन्होंने दिखाया है कि यह रामानुज-कृत नहीं है। राजगोपाल चारियर ने अपने 'वैष्णवाइट रिफॉर्मर ऑव इण्डिया' (पृ. ८०) में तत्वसार को वरदाचार्य-रचित बताया है।

२३. गोविन्दाचार्य ने अष्टादशविषय में दोनों शाखाओं में मतभेद दिखाया है। दृष्टव्य: 'The Astadasa bhedas, or the eighteen points of Doctrinal differences between the Tengalais of the Vadgalais of the Vishishtadvait Vaishnava School South India:' G.A. Govindacharya (J.R.A.S, 1910, pp. 1103-1112).

२४. (क) कैवल्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की धारणा ही इस मत-वैषम्य का हेतु है। बड़गलइ-मतवाले जिसे कैवल्य कहते हैं, वह एक प्रकार की प्रकृतिलीन अथवा भाव में लीन अवस्था है। उसमें अचित-सम्बन्ध तिरोहित नहीं होता। अतएव, उस अवस्था से व्युत्थान अवश्यम्भावी है। किन्तु, टेंगलइमतवाले कहते हैं, कैवल्य भगवत्-धाम में स्थित नहीं होने पर भी प्रकृतिवियुक्त रूप में आत्मा की स्वरूपावस्थिति है। इसीलिए, जैसे वहाँ से ऊर्ध्वगति रूद्ध होती है, वैसे ही अधोगति या विच्युति भी रूद्ध होती है।
(ख) वेदान्तरामानुजमुनि ने 'श्रीतत्त्वसिद्धांजन' नामक ग्रन्थ में आलोचना करके दिखाया है कि श्री और भगवान् परस्पर मिलित रूप से ही जगत् के कारण तथा मोक्षदायक एवं आश्रयण्यीय हैं—'श्रीश्रीशै मिलितावेव जगद्धेतुविमुक्तिदौ प्रपत्तव्यौ च।' पर, इस विषय में भाष्यकार का स्पष्ट मत व्यक्त नहीं है, इसलिए बहुतों ने बहुत

प्रकार की कल्पना का आश्रय लिया है। किसी का विश्वास है, रामानुज श्री के ब्रह्मत्व को स्वीकार करते थे, और कोई-कोई कहते हैं, भाष्यकार ने श्री की जगत्कारणता तक स्वीकार नहीं की है, पर जितना-भर स्वीकार किया है, वह सृष्टि आदि व्यापार में अनुमन्तृता या प्रेरकता आदि हेतु से। किन्हीं का मत है, पुरुषकार-रूप में ही श्री ज्ञान के विषयीभूत होती हैं—उनके अणुत्व या विभुत्व की समालोचना निरर्थक है। वेदान्तरामानुज वेंकटनाथ के अनुवर्ती थे। वेंकटाचार्य ने अपने 'लक्ष्म्युपायत्वदीप' नामक निबन्ध में इसी सिद्धान्त को स्थापित किया है—श्री के कारणतत्त्व व्यापकत्व, निरन्तृत्व आदि का प्रदर्शन किया है, और जो श्री की पुरुषकारता मात्र को स्वीकार करते हैं, उनके मत का खण्डन करते हुए श्री के उपायत्व को श्रुति, स्मृति और शास्त्र-सम्प्रदाय के अनुसार सिद्ध किया है। अतएव, उनके मत से भी 'लक्ष्मीविशिष्टभगवच्चरणारविन्द शरणागति' ही मोक्ष का एकमात्र साधन है।

□□□

पूज्य महाराजजी ने इस हिन्दू-राष्ट्र, धर्म-संस्कृति और समाज की जैसी रक्षा और सेवा की है, सन्तों में भी मिलना अत्यन्त कठिन है। गोरक्षपीठ उनके कर्तृत्व से धन्य हो गया। राष्ट्रीयता-राष्ट्रभक्ति के अति पवित्र उज्ज्वल देदीप्यमान प्रकाश से युक्त उनका विराट् व्यक्तित्व लाखों-लाखों धर्मप्रेमियों को मार्ग दिखा रहा है और दिखाता रहेगा। मेरा स्वयं का जीवन उनके साथ अभिन्न रूप से जुड़ा रहा है। कभी ऐसा भी समय आया जब सन्तों में परस्पर मतभेद भी हुए, यह तो पूज्य अवेद्यनाथजी की कृपा थी कि उनके व्यक्तित्व के कारण वे देखते-देखते उलट गये। इस दृष्टि से हिन्दू समाज उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा। वे न होते तो यह जन्मभूमि का आन्दोलन विराट् रूप धारण नहीं कर सकता था। समय के साथ यह आन्दोलन बढ़ता और बढ़ता ही गया और १९८९ के कुम्भ में शिलापूजन के माध्यम से भारत का सबसे व्यापक जन आन्दोलन खड़ा हुआ और १० नवम्बर, १९९० को शिलान्यास का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जहाँ मन्दिर का निर्माण होना है वहीं पर सम्पन्न हुआ। उस समय के गृहमन्त्री श्री बूटा सिंह पूज्य महाराजजी के आगे हार मान गये।

—अशोक सिंहल

सामाजिक समरसता में महन्तजी की रुचि सर्वविदित है, वे जहाँ भी होते हैं, सामाजिक समरसता के पक्ष में कुछ-न-कुछ सोचते, बोलते और करते रहते हैं। उनकी दृष्टि में सामाजिक समरसता राम मन्दिर से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए वे कहा करते हैं कि राम को रावण पर विजय प्राप्त ही तब हुई जब उन्होंने समाज के सभी वर्गों के भेद को दूर कर अपने साथ जोड़ा। शबरी, निषाद, भील, वानर, भालू सभी राम के साथ थे, इसीलिए वे सफल हुए। हमें भी राम जन्मभूमि पर मन्दिर निर्माण में तभी सफलता मिलेगी, जब हिन्दू समाज एक होगा।

—स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती

पं. कमलापति त्रिपाठीजी के मुख्यमन्त्रित्व काल में पी.ए.सी. के जवानों का पूरे उत्तर प्रदेश में विद्रोह हो गया। शासन ने जवानों को हथियार समर्पण करने का निर्देश दिया। गोरखपुर में बिछिया में स्थित पी.ए.सी. की छावनी में जवानों ने परिसर में रह रहे अधिकारियों तथा उनके परिवारवालों को बन्धक बना लिया, तथा हथियार डालने से इनकार कर दिया। पी.ए.सी. के जवानों को आत्मसमर्पण कराने के लिए सेना बुलाई गयी। सेना तथा पी.ए.सी. के जवान आमने-सामने बन्दूक ताने खड़े थे। स्थिति बहुत ही नाजुक एवं तनावपूर्ण थी। गोरखपुर के जिलाधिकारी ने महाराजश्री से स्थिति सुलझाने की प्रार्थना की। महाराजश्री एक खुली जीप में, जिस पर भगवाध्वज लगा था, पी.ए.सी. की छावनी की ओर चले। उनकी जीप देखते ही जवानों ने महाराजजी की जय-जयकार शुरू कर दी। सभी पक्षों से उनके वार्त्तालाप के फलस्वरूप बन्धक अधिकारी मुक्त हुए तथा एक सम्मानजनक समझौता हो सका। उस समय प्रकाशित होने वाली एक प्रतिष्ठित पत्रिका 'माया' ने इस घटना का विवरण देते समय लिखा था कि महाराजजी हिन्दू महासभा के लोकसभा में अकेले सांसद हैं। लोग प्रश्न करते हैं कि मात्र एक सांसद का राजनीति में क्या योगदान हो सकेगा? गोरखपुर तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों में सांसदों, विधायकों तथा अन्य राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं की संख्या सैकड़ों में होगी। सभी चुपचाप अपने घरों में बैठे थे। हिन्दू महासभा के इस अकेले सांसद ने ही अपने जीवन को संकट में डालकर इस विषम परिस्थिति का समाधान किया।

—प्रो. यू.पी. सिंह

एक व्यक्ति से किसी ने पूछा कि आप ने कभी भगवान् को देखा है। उसने उत्तर दिया—हजारों बार देखा है। पूछने वाले को थोड़ा आश्चर्य हुआ, पूछा कब और कहाँ? उसने उत्तर दिया कि अपने घर पर देखा है माता-पिता के रूप में, अपने विद्यालय में देखा है अपने गुरु के रूप में; और अपने जीवन में देखा है उस रूप में जिसने जीवन का ध्येय और उचित मार्गदर्शन दिया। मेरे विचार से उत्तर सर्वथा उपयुक्त था। आज के युग में धरती पर यदि भगवान् हैं तो इसी रूप में हैं और महन्तजी का दर्शन मैंने इसी रूप में किया है।

—न्यायमूर्ति के.डी. शाही

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2008 प्रकाशक
www.prabhatbooks.com